संस्कृति

संस्कृति

डा० आदित्य नाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ

डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ
संयोजन-समिति
द्वारा
प्रकाशित

(प्रथमाव[illegible])
मूल्य [illegible]
(तीन खण्ड)

चैत्र शुक्ल चतुर्दशी
शक संवत् १८९१
बुधवार, २ अप्रैल, सन् १९६९

श्यामसुन्दर गर्ग, हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
१४९९, शिवाश्रम, क्वींस रोड
दिल्ली
द्वारा मुद्रित

सर्वस्याऽऽप्त्यै सर्वस्य जित्यै
सर्वमेव तेनाऽऽप्नोति सर्वं जयति ।

तैत्तिरीय संहिता ५।४।१२

विषयानुक्रम

व्यक्तित्व

(शुभाशंसाएँ)

कृतित्व

(डॉ० झा के कुछ लेख)

कला

प्रकीर्ण

फलक

रेखाचित्र

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ

शून्या गोकुलमण्डली, पशुकुलं शष्पाय न स्पन्दते,
मूकाः कोकिलपङ्क्तयः, शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति ।
इत्थं त्वद्विरहेण कृष्ण ! भगवन् ! सर्वेऽपि दैन्यं गताः
किन्त्वेका यमुना कुरङ्गनयना नेत्राम्बुभिर्वर्धते ॥

—

उद्धव ! मथुरानाथो गोकुलनगरस्य वृत्तमावेद्यः ।
अधुना नयनजलौघैः कति कति यमुनासमा नद्यः ॥

—

नदीयं कालिन्दी बहुविततशाखस्तरुरयं
समीपे घोषोऽयं व्रजपथिक ! वृन्दावनमिदम् ।
इति श्राव्यो नाथो मधुपुरगतो, नैवमथवा
पुरोपेक्षाज्ञाने स्मरणमपि नोद्बोधकशतैः ॥

आदित्यनाथझा
१९६९

राजपुरुष और संस्कृति

जगदीशचन्द्र माथुर

श्री आदित्यनाथ झा मेरे गुरुभाई भी हैं और गुरु के भाई भी। स्वर्गीय प्रोफेसर अमरनाथ झा के अनुज होने के नाते वे मेरी दृष्टि में आदरणीय और स्तुत्य रहे हैं और चूँकि मेरी भाँति उनके शिष्य रह चुके हैं इसलिए हम दोनों के बीच सौहार्द का उदय भी स्वाभाविक था। यह कड़ी उस दूसरे सम्बन्ध से कहीं अधिक स्थायी है जो एक ही सर्विस के सदस्य होने के कारण सामान्यतः हम लोगों के बीच स्थापित है।

जब १९३५ में मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भरती हुआ तो आदित्यनाथ जी आई० सी० एस० के लिए विदेश जा चुके थे। उनकी ख्याति नए छात्रों के बीच चर्चा का विषय रहती थी। चर्चा इस बारे में भी होती थी कि दोनों भाइयों—अमरनाथ जी और आदित्यनाथ जी में कितना साम्य है और साथ ही कितना पार्थक्य। आयु का पार्थक्य तो था ही, क्योंकि महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा के सुपुत्रों में सबसे बड़े शायद अमरनाथ जी ही थे, और सबसे छोटे आदित्यनाथ जी। दोनों अँग्रेज़ी साहित्य के एम० ए० थे और परीक्षाओं में शीर्षस्थ स्थान पा चुके थे। दोनों संस्कृत और हिन्दी के उद्‌भट विद्वान् रहे और उर्दू काव्य और साहित्य के भी मर्मज्ञ। अपने बड़े भाई से आदित्यनाथ जी ने सांस्कृतिक उदारहृदयता की सीख ली। कला-प्रेम और सुरुचि-सम्पन्नता भी उन्हीं के प्रभाव में प्राप्त की। लेखन-शैली का नुकीलापन, साहित्य की गहराइयों में सहज पहुँच, आधुनिकता और परम्परा का अनायास संतुलन—ये सभी गुण दोनों भाइयों की सामान्य उपलब्धियाँ थीं।

इन समानधर्मा भ्राताओं में अन्तर भी कम न था। आदित्यनाथ जी के व्यक्तित्व में वे तत्त्व निखरे जो अमरनाथ जी के अंतस् में ऐसी उनींदी कलिकाओं की भाँति छिपे पड़े थे जिन्हें खिलने का अवसर ही नहीं मिला। १९१६-१७ में जब अमरनाथ जी ने यूनिवर्सिटी की परीक्षा पास की तब भारतीयों को आई० सी० एस० परीक्षा के लिए इंग्लैंड जाना होता था, भारत में परीक्षा देने की सुविधा १९२२-२३ के बाद ही दी गई। अमरनाथ जी को विदेश जाने की अनुमति अपने पिता से नहीं मिली। लगभग बीस बरस बाद जब आदित्यनाथ जी का नम्बर आया तो युग बदल चुका था और उन्हीं

पिताजी ने सहज ही अनुमति दे दी। स्थूल रूप से यों अमरनाथ जी को अपने छोटे भाई की सफलता में अपनी व्यक्तिगत आकांक्षा की पूर्ति मिली। किन्तु इस स्थूल तुष्टि के अतिरिक्त आदित्यनाथ जी की ज़िन्दादिली मानो बड़े भाई के गाम्भीर्य-मंडित दर्प के नीचे अनभिव्यक्त और बहुत-कुछ दमित मस्ती का प्रस्फुटन है। यूनिवर्सिटी में अपने समकालीन छात्रों में आदित्यनाथ जी की ख्याति उनके मेधावी और अध्यवसायी होने तक ही सीमित न थी। वे तो उन छात्रों में भी अग्रगण्य थे जो अपनी हाज़िरजवाबी, कोलाहल, चांचल्य और थोड़ी-बहुत शरारत के पुट से उस ज़माने के पठनशील विश्वविद्यालय में चहल-पहल का वातावरण भी पैदा कर लेते थे। शायद इसीलिए आदित्यनाथ जी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध म्योर होस्टल से सम्बद्ध नहीं रहे जिसका प्रशासन उनके बड़े भाई के हाथ में था। उन्होंने हालैण्ड हाल नामक होस्टल के उन्मुक्त वातावरण को वरण किया।

जब सरकारी नौकरी में आये और अंग्रेज़ी हुकूमत के समय मजिस्ट्रेट बने तब भी आदित्यनाथ जी ने मानो काज़ी के चोगे के साथ रसिक की रंगीन पगड़ी भी पहने रखी। यह ज़िन्दादिली ही उनकी शासन-पद्धति पर नौकरशाही के तंग और एकांगी दृष्टिकोण को हावी नहीं होने देती। समस्याओं को सुझाते उन्हें देर नहीं लगती; विकट परिस्थितियों में निश्चय की राह वे बेखटके खोज लेते हैं। फ़ाइलों में पिष्टपेषण करने के बजाय, समस्याओं की चुनौती का सीधे मुक़ाबिला करना उन्हें पसंद है।

वस्तुतः आदित्यनाथ जी नौकरशाही युग के शासक नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व की छाप दफ्तर की फाइलों और शासन की कार्यपद्धति तक ही सीमित नहीं रहती। उनके रुचि-वैचित्र्य और कला-प्रियता का असर भी जहाँ कहीं वे रहे हैं वहां स्पष्ट लक्षित रहा है। आठवीं शताब्दी में काश्मीर में जयापीड के मन्त्री दामोदर गुप्त ने राजपुत्रों के कुछ रोचक लक्षण दिये हैं:

संग्रामादनपसृतिः प्रेक्षाभिज्ञा सुभाषिताभिरतिः।
आच्छोटनाभियोगः कुलविद्या राजपुत्राणाम्॥

अर्थात् राजपुत्रों की कुलविद्या में संग्राम में पीठ न दिखाना, प्रेक्षागृह (नाटकादि) का ज्ञान, सुभाषितों में रुचि तथा आखेट का शौक—ये सभी शामिल हैं। यदि राजपुत्र की जगह राजपुरुष कहा जाय तो आदित्यनाथ जी पर कुछ हेरफेर के साथ ये लक्षण लागू होते हैं।

उनके अभिनन्दन के अवसर पर उनके विषय में अपने निजी संस्मरणों का उल्लेख न करके मैं राजपुरुषों यानी सरकारी कर्मचारियों और शासकवृन्द के सांस्कृतिक क्षेत्र में योगदान और कर्त्तव्य पर कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ, क्योंकि झा साहब के व्यक्तित्व का अनूठापन शासक के इसी रूप में निखरा है।

आजकल शासन के संस्कृति पर आरूढ़ होने के खतरे के ऊपर अक्सर चर्चा होती रहती है। कहा जाता है कि राज्य द्वारा सहायता के माने हैं स्वच्छन्द कलात्मक अभिव्यक्ति में रुकावट, और नाटक, संगीत, काव्य तथा अन्य कलाओं का राजकीय अधिकारों को बढ़ाने और जमाने के लिए दुरुपयोग। अक्सर यह भी शिकायत की जाती है कि सरकार कलाकारों की प्रतिभा को खरीद लेती है और इसलिए कलाकारों और लेखकों की सहायता करना भी कला और साहित्य के बुनियादी सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

संस्कृति में राज्य की दिलचस्पी के विषय में इस तरह की शंकालु प्रवृत्ति कुछ तो उस ज़माने के खुमार की सूचक है जबकि देश एक विदेशी सत्ता के विरुद्ध आज़ादी की लड़ाई के नशे में झूम रहा था और जब तत्कालीन राज्य का प्रमुख उद्देश्य था कानून और व्यवस्था को कायम रखना तथा अंग्रेज़ी सत्ता के स्वार्थ के लिए कर इत्यादि वसूल करना। सारा राज-काज उस ज़माने में इन्हीं दो धुरियों पर आधारित था। आज़ादी आने के बाद विदेशी सत्ता द्वारा शोषण तो दूर हो गया किन्तु राज्य तथा सत्ता के प्रति शंका की भावना बराबर जारी रही। यह रवैया बहुत-कुछ उसी भांति यन्त्रवत् चालू रहा है जैसे कई दशक पहले जो नारे अर्थपूर्ण थे उनका आजकल भी उसी ज़ोर-शोर से उठाया जाना यद्यपि अब उनके कोई माने नहीं रह गए हैं।

फिर भी यह मानना होगा कि इस तरह की शंकायें बिल्कुल निर्मूल नहीं हैं। देश में अनेक मनस्वियों को चिन्ता सताती है कि कहीं भारतवर्ष को युद्ध से पहले के यूरोप की भांति तानाशाही का शिकार न होना पड़े। विश्व के इस भाग में भारतवर्ष के चारों ओर ऐसे प्रयोग हो रहे हैं जिनमें गणतन्त्र को तिलाञ्जलि देकर एकसत्तावाद के आधार और जनहित के नाम पर शासन की प्रगति की योजना की जा रही है। इसके अतिरिक्त कलाकारों और मनीषियों के मन पर वामपंथी आदर्शों का विशेष प्रभाव हमेशा पड़ता आया है, यद्यपि यह भी सही है कि एक बार वामपंथी तानाशाही कायम होने पर कलाकार और मनीषिवृन्द की आज़ादी ही वामपंथ का पहला शिकार होती है।

शंका और संदेह के इस वातावरण में, कुछ तो बेबुनियाद है और कुछ सही, भारतीय सरकारी अधिकारियों द्वारा सांस्कृतिक कार्यकलाप में दिलचस्पी लेना शायद एक असामयिक और उद्धत चेष्टा समझी जाये। परन्तु असलियत तो यह है कि अधिकारियों को तो प्रायः निजी दिलचस्पी न होते हुए भी सांस्कृतिक कार्यवाहियों में उलझना पड़ जाता है। विशेषतः ज़िलों और क्षेत्रों के अधिकारियों पर यह बात लागू है। अगर ज़िले में घोड़ों और पशुओं की वार्षिक प्रदर्शनी है तो नए ज्वाइंट मजिस्ट्रेट को उसका उत्तरदायित्व सम्हालना होगा। और फिर आजकल की जनता तो केवल पशु-प्रदर्शनी से संतुष्ट होने से रही। प्रायः ऐसे अवसरों पर व्यवस्था करनी होती है 'कल्चरल कान्फ्रेंस' की। 'कल्चरल कान्फ्रेंस' ऐसी करामाती खिचड़ी है जिसका आजकल बहुत

चलन हो गया है और जिसमें कवि-सम्मेलन व मुशायरों से लेकर भरतनाट्यम और पंच-वर्षीय योजना-सम्बन्धी नाटक—सभी कुछ शामिल किये जा सकते हैं। इन प्रदर्शनियों की विषयवस्तु जो भी हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि संगीत, नाट्य, नृत्य इत्यादि के लिए जनसाधारण के बीच जितनी विस्तृत और अटूट मांग है उतने साधन उन्हें प्राप्य नहीं होते। इसीलिए लोग अधिकारी-वर्ग को किसी-न-किसी रूप में इन आयोजनों में शामिल करना चाहते हैं, क्योंकि इस बहाने अधिकारियों के प्रभाव से कुछ-न-कुछ सुविधाएं और साधन आजकल भी उपलब्ध हो जाते हैं। यों ज़िले का कलक्टर तो वैसे भी चतुर्मुखी, चतुर्भुजी' पौराणिक देवताओं की भाँति बहुधंधी होता है, और सांस्कृतिक आयोजनों का भी विधाता बनने पर मजबूर हो जाता है। मुमकिन है कि स्वतन्त्र भारत में ज़िलाधिकारी के मत्थे सांस्कृतिक नेतृत्व का यह सेहरा उसी समय तक अस्थायी तौर से लगा रहे जब तक कि गैरसरकारी संस्थाओं को इस तरह के आयोजनों के लिए साधन उपलब्ध नहीं होते। बड़े नगरों में गैरसरकारी संस्थाओं की खासी अभिवृद्धि हुई है और महोत्सवों की व्यवस्था करने का उन्हें अभ्यास हो गया है। लेकिन दिल्ली तक में उन्हें सरकारी अनुदान पर निर्भर रहना होता है। छोटे नगरों में तो सांस्कृतिक आयोजकों के लिए ज़िलाधिकारी को न केवल आर्थिक व्यवस्था करनी पड़ती है वरन् कार्यक्रम के ब्यौरे, सजावट, यहाँ तक कि निर्देशन में भी सुझाव और निर्णय देने होते हैं।

परिस्थितिवश सांस्कृतिक नेतृत्व ग्रहण करने वाले सरकारी अधिकारी के लिए पहली अनिवार्यता यह है कि वह सुरुचिसम्पन्न बने। ऐसा कोई मंत्र नहीं है कि मनुष्य झट से सुरुचिसम्पन्न हो सके। पुराने समय में तो राजा-महाराजा और ज़मींदार संगीत और कलाओं के संरक्षक ही नहीं ज्ञाता और विशारद भी होते थे। यह विद्या और कला एवं सौंदर्य की परख बरसों के अभ्यास के बाद आती थी और अक्सर आनुवंशिक होती थी। रजवाड़ों, रियासतों और ज़मींदारियों के हटाये जाने के बाद सबडिविज़नल आफ़िसरों और कलक्टरों को पुराने राजाओं और ज़मींदारों की भाँति थोड़ा-बहुत कला-मर्मज्ञ होना ज़रूरी हो गया है। यह सही है कि ज़मींदारों और राजा-महाराजाओं को तो बेहिसाब फ़ुरसत थी। इसीलिए सरायकेला के राजा स्वयं छाउ नृत्य के वार्षिक महोत्सव का आयोजन तो करते ही थे, अनेक दृश्यों के लिए रचना भी करते, मुखौटे भी बनाते और संगीतविधान भी करते। उत्तर प्रदेश में दरयाबाद के ज़मींदार और बिहार में देव-उमगा, सूरजपुरा और बेतिया एवं बनैली के ज़मींदार स्वयं कवि, लेखक और कलाकार रहे थे।

वर्तमान एस० डी० ओ० अथवा कलक्टर के लिए रचनाएं तैयार करना अथवा मंच पर स्वयं उतरना तो सम्भव नहीं है। किन्तु सहृदय और मर्मज्ञ होने का प्रयास उसे अवश्य करना चाहिए। उसे अपनी अनुभूतियों और संस्कारों को इस भांति परिष्कृत

करना है कि कलात्मक वातावरण का सान्निध्य उसे सजग कर सके। उसे इतनी समझ, इतनी सहिष्णुता, इतने शिष्टाचार का अभ्यास होना चाहिए कि किसी कलाकृति को देखकर उसमें थोड़ा-बहुत रम सके। स्वतन्त्रता के बाद सरकारी अधिकारियों की नियुक्तियों का क्षेत्र पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत हो गया है। परिणामस्वरूप जहां विभिन्न वर्गों के परिवारों के लड़के — (और लड़कियाँ) अधिकार-पदों पर पहुंच रहे हैं, वहां यह भी सच है कि उनमें से अनेकों को ऐसे पारिवारिक और सामाजिक वातावरण का सुयोग नहीं मिलता जहां कला और सौंदर्य-प्रेम के संस्कारों का स्वभावतः विकास हो सके। छोटे नगरों के विद्यालयों और शिक्षा-संस्थानों में भी ऐसे अवसर कम ही मिलते हैं। इसलिए नई पीढ़ी के ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट को स्वयं ही अपने सांस्कृतिक प्रशिक्षण और सुरुचि-संवर्धन की व्यवस्था करनी है। उदाहरणतः उसे यह न समझ लेना चाहिए कि जो भी संगीत उसके अबूझ कानों को भला लगता है, वही उसके काम का है और उसके परे जो शास्त्रीय अथवा लोकसंगीत है, वह विद्वानों और विशेषज्ञों के ही लिए है। सुरुचि और परख की उपलब्धि किसी को भी हो सकती है, बशर्ते कि उसके लिए चेष्टा और अभ्यास किये जायें। जो लोग शासन और समाज के अगुआ हैं, उन्हें चाहिए कि यदाकदा उत्कृष्ट संगीत को ध्यान से सुनें, उच्च कोटि के नाटकों का अभिनय देखें, देश के विभिन्न भागों में जिन कलाकारों का नाम ऊंचा है उनकी रचनाओं की थोड़ी-थोड़ी जानकारी प्राप्त करें, रेडियो के कतिपय शास्त्रीय और साहित्यिक प्रोग्रामों को सुनते रहें, उच्च मासिक और साप्ताहिक पत्रों में तद्विषयक लेख पढ़ते रहें। इस तरह वे अपनी रुचि का परिष्कार और सांस्कृतिक जानकारी का संवर्धन कर सकेंगे।

सुरुचि की अभिव्यक्ति छोटी वस्तुओं में भी होती है और बड़ी में भी। मान लीजिए कि स्थानीय क्लब में (जिसकी मैनेजिंग कमेटी का अध्यक्ष प्रमुख शासनाधिकारी ही प्रायः होता है) नाटक खेला जा रहा है। उस अवसर पर मंच-व्यवस्था से लेकर प्रोग्राम-पत्रिका के प्रकाशन तक, सभी में सावधानी और सुरुचि बरतनी होगी। क्या प्रोग्राम-पत्रिका में मुखपृष्ठ पर कमेटी के सरकारी सदस्यों के नाम खुशामदी ढंग से छापे गए हैं? राज्यचिन्ह का डिज़ाइन भद्दा और बेडौल तो नहीं है? हाल की सजावट में भारतीयता और सूफ़ियानापन है या भड़कीलापन? कहीं बिजली की बत्तियों और निअन-लैम्पों की भरमार तो नहीं है? क्या माइक्रोफोन के बिना काम नहीं चल सकता और अगर उसकी उपस्थिति अनिवार्य ही है तो उसका स्वर कर्कश तो नहीं है? क्या मंच की ड्राप-यवनिका पर बेढंगे और गैर-ज़रूरी चित्र तो नहीं हैं? क्या इतने सारे विंगों की ज़रूरत है और क्या आधे खुले रंगमंच का प्रयोग नहीं किया जा सकता? उद्घाटन-भाषणों और धन्यवाद-भाषणों के बिना क्या काम नहीं चल सकता? ऐसे ही ज़िलों में कभी-कभी संगीत-सम्मेलन (म्यूज़िक कान्फ्रेंस) का आयोजन किया जाता है और ज़िला-

धिकारी ही कमेटी का अध्यक्ष होता है। इन 'कान्फ्रेन्सों' के लिए क्या बम्बई के फ़िल्म-'प्लेबैक' गायकों को बुलाना लाज़िमी है चाहे वे अच्छे हों या बुरे ?

इस तरह के अनेक छोटे-बड़े मामलों में यदि उच्च अधिकारी की ओर से सुरुचि-सूचक सुझाव दिये जायें तो निश्चय ही परिमार्जित कलात्मकता का कुछ तो वातावरण फैलेगा ही। लेकिन परिमार्जित रुचि ही ज़िलों में काम करने वाले अधिकारियों के लिए यथेष्ट नहीं है। वस्तुतः जिन अफ़सरों को छोटे नगरों, ग्रामीण अंचलों और आदिवासियों के बीच काम करना होता है वे यदि शुद्ध नागरिक कला और संस्कृति में ही मंजे हुए हों तो उन्हें ग्रामीण और वन्य वातावरण में सौन्दर्य और कला की झलक भी न दीखेगी। संस्कृति के क्षेत्र में इस तरह का उच्चस्तरीय दम्भ जिसे अंग्रेज़ी में 'हाइब्राउ टेस्ट' कहा जाता है, शासकीय अधिकारी के दृष्टिकोण को सीमित कर देता है। उसे तो ग्राम-गीतों की मधुर किन्तु सरल तानों, लोकनृत्य की आदिम किन्तु मनोमोहक लय-ताल, लोकनाटक के उच्छृंखल किन्तु चुस्त संवादों में रस लेने की क्षमता होनी चाहिए। वस्तुतः आजकल के शासकीय अधिकारी के लिए शास्त्र-सम्मत और नागरिक कलाओं की जानकारी की अपेक्षा यह कहीं अधिक ज़रूरी है कि वह लोक और ग्रामीण कलाओं के सौन्दर्य के प्रति भी जागरूक हो। प्रायः क्षेत्रों में भी अब फिल्मों और फिल्मसंगीत का प्रदर्शन करके जनता को एकत्र करने का तरीका अफ़सर अपनाने लगे हैं। निस्संदेह जनसाधारण के दैनिक, एकरसमूलक जीवन में ये प्रदर्शन थोड़ी-बहुत रंगीनी और आनंद का संचरण कर देते हैं और यों सरकारी अफसर की बात सुनने और उसका संदेश ग्रहण करने के लिए उनकी मनोभूमि तैयार हो जाती है। परन्तु एक पहलू पर शायद ही किसी की निगाह गई हो—और वह यह कि ये सब आधुनिक बहुजन-सम्प्रेषण-साधन (मास-मीडिया) इकतरफा करतब ही दिखा पाते हैं; गांववाले स्वयं इनमें भाग नहीं लेते—वे तो मात्र निष्क्रिय श्रोता और प्रेक्षक बने रहते हैं। क्या यह ज़रूरी नहीं है कि ये लोग स्वयं भी गीत और नृत्य द्वारा उल्लास और थिरकन-सहित सक्रिय हों जैसा कि गांवों के सामुदायिक जीवन में हमेशा होता आया है और जिसके लिए लोक-गीत-नृत्य इत्यादि की परम्परा अब तक बराबर उपलब्ध रही है ? लोक-संस्कृति की ये परम्पराएं न केवल कलात्मक हैं वरन् सांस्कृतिक धरोहर हैं जैसी कि शास्त्रीय संगीत और नृत्य अथवा प्राचीन साहित्यिक नाट्य इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि यदि ज़िले अथवा ग्रामीण अंचल में काम करने वाला सरकारी अफ़सर स्थानीय जनता से अपने परम्परागत मनोरंजन माध्यमों का समीचीन उपयोग करा सके तो एक ओर तो वह ग्रामीण समाज की सामुदायिक भावना को परिपुष्ट कर सकेगा और दूसरी ओर लोक संगीत-नृत्य-नाट्य की बहुमूल्य विरासत के संरक्षण और संवर्धन में योगदान दे सकेगा। इस विरासत को सिनेमा का महादानव

निर्ममतापूर्वक ग्रामीण अंचल के घरों और मेलों और हाटों से निर्वासित कर रहा है। शायद देखते-ही-देखते ये मनोरम विधाएं जिनमें एक विकासशील समाज अपनी कलात्मक प्रेरणाओं को साकार कर सकता है, तिरोहित हो जायें। कुछ ऐसे विचारक भी हैं जो ग्रामीण लोक-संस्कृति की इन विधाओं के अवसान को सामाजिक और आर्थिक प्रगति का एक अनिवार्य परिणाम मानते हैं। ऐसे लोग फैशनेबल और भ्रामक बुद्धि-विलासी हैं। भ्रामक इसलिए कि यद्यपि आर्थिक विकास के क्षेत्र में जनसाधारण द्वारा सामुदायिक कार्यप्रणाली को ये लोग अनिवार्य मानते हैं, तथापि कला और मनोरंजन के क्षेत्र में उसकी महत्ता को नहीं स्वीकारते। फैशनेबल इसलिए कि शहरों में अपने अत्याधुनिक ड्राइंगरूमों और संग्रहालय में जनसाधारण की ग्रामीण लोककला के नमूनों को बड़े ठाट और सजावट से रखने में यकीन करते हैं किन्तु उस कला को जीवित रखने के प्रयास को दकियानूसी मानते हैं। बड़े नगरों के शानदार थियेटर-हालों में ये लोग अपने एमेचर क्लबों द्वारा नाटकों का अभिनय कराते हैं, ज़ोरशोर से संगीत-सम्मेलनों का आयोजन करते हैं, कला-प्रदर्शनियां प्रस्तुत करते हैं। इन लोगों को इससे क्या सरोकार कि ग्रामवासी का गीत, उसके लोकनाटक और लोकनृत्य—सब नष्ट हो जायें और इन निधियों के बदले उसे प्राप्त हो बम्बइया फिल्म की भदेस भंगिमाएं ?

ज़िले अथवा क्षेत्रीय अधिकारी की नियुक्ति होती है उस इलाके के जनसाधारण समाज की सेवा के लिए। अतः अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि जिस जनता की सेवार्थ उसे तैनात किया जाता है उसकी आत्माभिव्यक्ति के परम्परागत माध्यमों की जानकारी प्राप्त करे, उन अपरिष्कृत विधाओं की उच्छृंखल अभिव्यंजना से नाक-भौं न सिकोड़े, और उनके आंतरिक सौन्दर्य को पहचाने।

इस क्षेत्र में स्वतन्त्र भारत के शासकीय अधिकारियों को अंग्रेज़ी राज्य के उन कतिपय विदेशी अफ़सरों का उदाहरण याद रखना चाहिए जिन्होंने आदिवासी और तथाकथित पिछड़ी जाति के लोगों के बीच काम करते हुए उनके नृत्य, उत्सवों और गीतों को न सिर्फ सराहा वरन् उनपर खोज की, और ज़रूरत पड़ने पर उनमें शामिल भी हुए। सबसे बड़ी बात यह है कि अफ़सर के मन में अपने क्षेत्र की लोक-कलाओं और लोक-संगीत इत्यादि के प्रति सच्ची सहृदयता का उदय हो। अक्सर देखा गया है कि पिछड़े इलाकों में नियुक्त कुछ अफ़सरों में वहां की स्थानीय लोक-विधाओं के प्रति आदर की भावना का अभाव होता है। ऐसे व्यक्ति नहीं जानते कि वस्तुतः अनेक अर्ध-विकसित कही जाने वाली जातियों का कलात्मक पक्ष नगरों में रहने वाली जातियों की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जित और मनोरम होता है। लोककला और संगीतनृत्य की बाह्य एक-रसता और यदाकदा कर्कशता के नीचे जो कलात्मक सौन्दर्य प्रवहमान है उसकी पहचान के लिए विशेष दृष्टि की आवश्यकता है। वे संस्कार जो ऐसी दृष्टि देते हैं, अभ्यास और

सहृदयता से प्राप्त किये जा सकते हैं। जिस सरकारी अफ़सर के व्यक्तित्व में ऐसे संस्कार घर कर लेते हैं वह निश्चय ही अपने क्षेत्र में लोकप्रिय और जनसाधारण की बात समझने और उन तक अपनी बात पहुंचाने में अधिक सफल हो सकता है।

ज़िलों के प्रमुख नगर में प्रायः प्रदर्शनी और वार्षिक जलसे सरकारी तौर से आयोजित किये जाते हैं। मैंने अवसर देखा है कि इन मौकों पर बाहर से कलाकारों को बुलाकर जलसे में चार चांद लगाने की होड़ तो होती है किन्तु ग्रामीण जनता की कलाओं को प्रदर्शित करने और उन्हें प्रोत्साहन देने का विचार बहुत कम मन में आता है। इसके लिए कुछ हिम्मत तो चाहिए ही, क्योंकि शहर के निवासी जो प्रायः इन सम्मेलनों और उत्सवों के समीक्षक होते हैं उनकी तो मांग बाहरी कलाकारों के लिए ही होती है। फिर भी यह सर्वथा सम्भव है कि नागरिक और ग्रामीण दोनों ही प्रकार के नृत्यसंगीत का प्रोग्राम प्रस्तुत किया जाय। पहले तो ग्रामों और ब्लाकों में प्रतियोगिताएं हों जिनके लिए समस्त अंचल के कलाकारों की फेहरिस्तें तैयार की जायें। इस तरह उस क्षेत्र के कलाकारों का एक छोटा-मोटा सर्वेक्षण ही हो जायेगा और कुछ अपरिचित प्रतिभाओं के नाम भी सामने आ जायेंगे। नई दिल्ली में गणतन्त्र महोत्सव के सिलसिले में लोकनृत्य समारोह से क्षेत्रीय उत्सवों के लिए प्रेरणा और मॉडल मिल सकते हैं। जवाहरलाल नेहरू ने इस समारोह का सूत्रपात करके जनपदीय संस्कृति को बढ़ावा दिया और लाखों गांवों और जनपदों में रहने वाले असंख्य समुदायों की अपनी परम्पराओं और अभिव्यंजना-शैलियों में लुप्त होती हुई आस्था को सहारा दिया। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में जातीय आत्मविश्वास का यह एक पुष्ट और सशक्त आधार माना जायेगा।

चाहे ग्रामीण और लोकसंस्कृति, चाहे नागरिक और शास्त्र-सम्मत सांस्कृतिक कार्यकलाप—शासकीय अधिकारी के लिए दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। उसके व्यस्त और कभी-कभी त्रस्त जीवन में ये सम्मोहक क्षण मरहम का काम करते हैं। दफ्तर की कोरी दीवारों पर यदि अफ़सर कलापूर्ण चित्र टंगवा दे तो इस में केवल उसकी सुरुचि झलकेगी वरन् फाइलों और बेचैन करने वाली मुलाकातों के थपेड़ों से आहत उसके मानस को शीतलता मिलेगी। पी० डब्ल्यू० डी० के व्यक्तित्वहीन स्थापत्य में यदि कुछ भारतीय अलंकरण शामिल करने के लिए इंजीनियर को राज़ी कर सके तो ज़िलाधिकारी अपने क्षेत्र के वातावरण में परम्परा की सजगता और सुरुचि का सलोनापन उत्पन्न कर सकेगा। लेकिन अफ़सर के सांस्कृतिक नेतृत्व का एक और भी पहलू है जिसका प्रयोजन उसकी 'अफ़सरीयत' से है। हर ज़िले और क्षेत्र में कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनमें ज़रूरत से ज़्यादा शक्ति होती है। उनका यदि किसी ऐसे रचनात्मक कार्य में उपयोग न हो जिसमें वाहवाही मिलती हो, तो उनकी मुस्तैदी और काम करने की क्षमता ऐसी दिशाओं में चली जाती है जो और लोगों के लिए सिरदर्द हो जाय। अनुभवी शासक इन

'सरप्लस इनर्जी' वाले व्यक्तियों को ऐसे कामों में लगा सकते हैं जहां उन्हें नाम भी मिले और कुछ कर दिखाने की उनकी इच्छा की पूर्ति भी हो। सांस्कृतिक आयोजनों में ऐसी गुँजायश अक्सर हो सकती है।

निष्कर्ष यह हुआ कि शासकीय अधिकारी का सांस्कृतिक पक्ष केवल व्यक्तिगत शौक की चीज़ ही नहीं है। उसे अपने सरकारी उत्तरदायित्व को पूरा करने में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से कला की परख, सुरुचि का विस्तार, स्थानीय लोक-विधाओं का प्रोत्साहन और विभिन्न प्रकार के उत्सवों का आयोजन करना पड़ सकता है। ये सब साधन उसकी 'अफ़सरीयत' को घटाते नहीं वरन् उसे जनसाधारण की सेवा के लिए अधिक समर्थ बनाते हैं।

मैं मानता हूँ कि जो तस्वीर मैंने ऊपर प्रस्तुत की है वह 'नौकरशाही' या 'ब्यूरोक्रेसी' कही जाने वाली संस्था की बदनाम परम्पराओं से सर्वथा भिन्न है। 'नौकरशाही' शब्द में जो भर्त्सनात्मक ध्वनि है उसका एक कारण यह भी माना जाता है कि नौकरशाही के सदस्य यानी सरकारी अधिकारी और कर्मचारी, कल्पनाशून्य, संवेदनाशून्य, नियमों में जकड़े और यन्त्रवत् परिचालित होने वाले व्यक्ति-खण्ड होते हैं। ऐसे लोगों का कला, सौंदर्य और संस्कृति से क्या नाता ? बर्ट्रैण्ड रसेल ने तो यह तक लिखा है कि कलाकार और नौकरशाही में हमेशा गहरा पारस्परिक द्वंद्व रहना लाज़िमी है—युग-युगान्तर तक जारी रहने वाला युद्ध जिसमें बाहरी तौर से पराजित होने पर भी कलाकार की अंततः जीत होती है, क्योंकि मानवमात्र के जीवन में आनन्द का संचार करके कलाकार उसकी कृतज्ञता का पात्र बन जाता है।

बीसवीं सदी के पाश्चात्य चिंतक के लिए यह फ़तवा देना कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि संघर्ष और द्वन्द्व पश्चिम के अनुभव के तथ्य हैं। किन्तु एशिया की परम्परा नितान्त भिन्न रही है। भारत, चीन, जापान तथा अन्य पूर्वी देशों में राजपुरुष का स्वरूप नौकरशाही के विद्रूप से मेल नहीं खाता। यौगंधरायण और विष्णुगुप्त से लेकर असम के चिलाराय, उड़ीसा के रामानंदराय, तथा मैसूर के हेलबीड मंदिर का निर्माता, तथा अनेक मन्त्रियों और राजपुरुषों का सामान्य पंथ था। दामोदर गुप्त के 'कुट्टनीमत काव्यम्' में नाटक का अभिनय देखने के बाद राजकुमार अभिनय के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए इस बात से असंतोष प्रकट करता है कि सरकारी कामकाज (यातायात और ग्राम की समस्याओं) में व्यस्त रहने के कारण उस जैसों की बुद्धि नाट्य के प्रयोग में नहीं प्रवेश करती :

नाट्यप्रयोगतत्वे मतयो न विशन्ति मादृशां प्रायः।
वाहनयानपदातिग्रामादिककार्यदत्तहृदयानाम् ॥

यह असंतोष न केवल उस राजकुमार के विनयभाव का द्योतक है वरन् इस बात

का भी प्रमाण है कि प्राचीन भारतवर्ष के राज्याधिकारियों में सामान्य सरकारी काम-काज से घिरे रहने पर भी संस्कृति का स्फुलिंग सर्वदा विद्यमान रहता था।

आदित्यनाथ जी ने इसी स्फुलिंग की धरोहर को पाया है और इसीलिए मैं उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

हे शिल्पी महान !

डॉ० शम्भुनाथ सिंह

इस अमर देववाणी के मन्दिर के कल्पक शिल्पी महान,
हैं प्रणत तुम्हारे वन्दन में साहित्य-कला विज्ञान-ज्ञान।

जो धूल-धूसरित रत्न यहाँ बिखरे थे पथ में निराधार,
उनको तुमने ही पहिचाना हे रत्नपारखी, हे उदार!
मणिमाल बना कर उनको तुमने सहज शीश पर लिया धार।
हे अद्भुत पारस-मणि जिसको भी तुमने केवल देख लिया,
वह ईंट और पत्थर क्षण में बन गया स्वर्ण-सा प्रभावान।

रूढियों, अन्ध विश्वासों के कण्टकाकीर्ण वन के भीतर,
हे अग्निपुरुष, यह राजमार्ग तुमने निर्मित कर दिया अमर,
आशीष तुम्हें देता जायेगा भावी युग का रथ जिस पर।
हो गया दूर युग-युग से संचित मानस का सब अन्धकार,
हे नव युग के आदित्य, चलाया तुमने ऐसा किरन-बान।

हे विज्ञ, कला के आराधक, भारत के हे भारती-दूत।
हे विद्याओं के नित्य पुरोधा, गुणग्राही, हे मंत्रपूत।
हो गंगानाथ-तनय, इससे इतने अवढरदानी प्रभूत।
हे सत्य और शिव-सुन्दर के आदर्श समन्वय अद्वितीय,
कवि-हृदय करेगा जन्म-जन्म में देव तुम्हारा यशोगान।

विद्याकुल के उपेन्द्र तुम थे जिनके कुबेर दाहिने हाथ।
हे सहज सिद्ध, क्या शक्ति तुम्हारी, इसे जानते सभी नाथ।
क्षेत्रेश जानते थे केवल क्या कभी कि जब आदित्य साथ,
पर एक और वह रूप तुम्हारा मैं केवल जिसका द्रष्टा।
इस स्वार्थ-घृणा की धरती पर तुम मनुष्यत्व हो मूर्तिमान।

जिन परम्पराओं का तुमने है किया यहाँ पर शिलान्यास,
उनको न कभी मिटने देंगे, दिन-दिन होगा उनका विकास,
कवि की इस वाणी के साक्षी हों सूर्य-चन्द्र, ये दिशाकाश।
अभिनव यह वाणी का मन्दिर हो देव तुम्हारा कीर्ति-स्तम्भ,
जिसमें आकर जग पायेगा अपने प्रश्नों का समाधान।

विद्यावाचस्पति डाक्टर आदित्यनाथ झा पारिवारिक झाँकी और जीवनी

श्री रमानाथ झा

महामहिम विद्यावाचस्पति डाक्टर आदित्यनाथ झा जी स्वयं भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उनका सारा पर्यावरण ज्ञान-गरिमा, सहज गाम्भीर्य, स्नेह एवं कलात्मकता से ओत-प्रोत है। वे सर्वतोमुखी प्रतिभावान हैं। अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा, कार्यकुशलता और सहजात दक्षता से उन्नति के शिखर पर आगे बढ़ना ही उनका धर्म है।

अर्जित सत्त्वों का परिचय गीता में भगवान् ने 'मम तेजोंऽशसम्भवम्' कहकर दिया है। माननीय डॉ० झा महोदय में उस तेज का अंश भी निश्चय ही अधिकतम मानना होगा। उनका प्रादुर्भाव मैथिल ब्राह्मणों के एक ऐसे महाकुल में हुआ है जिसकी सामाजिक प्रतिपत्ति, नैष्ठिकता और निर्मल वैदुष्य ख्याति युगयुगों से पूज्य रही है।

इधर सौ वर्षों से आपके विशिष्ट परिवार में इतने मनीषी-मूर्धन्यों का प्रादुर्भाव हुआ है कि उनका संक्षिप्त परिचय भी एक ग्रन्थ हो सकता है। पच्चीस पुरुषों से आपके वंश का परिचय संगृहीत-सुरक्षित है और केवल जाति की रक्षा ही नहीं, नैष्ठिकता, धर्माचरण और विद्या के व्यवसाय में भी आपके पूर्वजों ने ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त की कि ऐसा दूसरा महोच्च कुल कम से कम मैथिल ब्राह्मणों में नहीं मिलेगा। परन्तु उस परिचय को लिपिवद्ध करने से पूर्व मैथिल ब्राह्मणों के सामाजिक आदर्शों का कुछ दिग्दर्शन आवश्यक प्रतीत होता है जिसके बिना सभी बातें—कम से कम अमैथिलों को प्रायः स्पष्ट नहीं होंगी।

भारत में मिथिला की अपनी एक प्रतिष्ठा है, सम्मान है, आदर है और यह सब राजनीतिक कारणों से नहीं प्रत्युत मिथिला के सामाजिक उन मूल्यों के कारण जो बहुत अंशों में अक्षुण्ण हैं।

भगवान् बुद्ध ने जिन वृज्जियों के संघ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है वे 'अष्टकुल' (आठ जातियों के संघ) थे। उनमें राजनीतिक गरिमा से लिच्छवियों के नाम इतिहास में प्रसिद्ध हैं, पर आज उनके नाम मात्र ही अवशिष्ट हैं। लिच्छवियों का लोप हो गया, वैशाली खँडहर है। और छः जातियों के नाम प्रायः प्राचीन साहित्य में ही मिलेंगे, पर

लिच्छवियों के साथी वैदेह अभी भी मैथिल नाम से वर्तमान हैं। मैथिलों की स्वतन्त्र सत्ता अभी भी सुरक्षित है। इसका कारण एक ही है, मैथिलों का सामाजिक सुसंगठन और सांस्कृतिक परम्परा पर उनकी अटल आस्था। मैथिलों ने राजनीतिक प्रतिष्ठा को कभी भी महत्त्व नहीं दिया, अधिकार की कभी भी लिप्सा नहीं की, धन को कभी भी अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाया। इनके लिये जाति की रक्षा, धर्म का आचरण, विद्या का व्यवसाय साधन के रूप में नहीं, साध्य-रूप में, धर्मबुद्धि से और योजनाबद्ध सुसंगठित समाज के नियमों का धार्मिक नियमों से भी अधिक दृढता से परिपालन— यही मैथिल जाति की सांस्कृतिक परम्परा रही है। इनके जीवन धर्म के गुण हैं त्याग, संयम और मर्यादा—इन्हीं कारणों से मैथिल जाति पिछड़ी हुई अवश्य है, पर है जीवित, और सनातन धर्म के रक्षक के रूप में अभी भी आदृत है।

मैथिलों का अन्तिम योजनाबद्ध सामाजिक संगठन शाके १२४८ में हुआ था जबसे इस जाति का क्रमबद्ध इतिहास सुरक्षित है। उस समय तक उत्तर-भारत मुसलमानों के अधीन हो चुका था, केवल मिथिला में ही क्षत्रियों का राज्य था, पर आशंका थी कि किसी दिन मिथिला भी विजित हो जायगी और इसी आतंक से समाज के पुनर्निर्माण की योजना बनी और कार्यान्वित हो गई। धर्म की रक्षा जाति से होगी और जाति निर्भर करती है जन्म की शुद्धि पर इसलिये मैथिलों ने सभी परिवार के समस्त परिचय संगृहीत कर लिये और उन परिचयों को प्रतिष्ठित पण्डितों के हाथों में दे दिया कि वे लोग परिचय देखकर शास्त्रीय नियमों के अनुसार सिद्धान्त कर दें कि अमुक व्यक्ति को अमुक कन्या से विवाह का अधिकार है। इससे पहले सभी कुलीन व्यक्ति इन परिचयों को स्वयं रखा करते थे जिसका प्रमाण मीमांसा के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तन्त्र वार्तिक' में मिलता है। शाके १२४८ के प्रबन्ध के समय जो व्यक्ति अपना जितना परिचय जानते थे लिखित करा दिये और आज तक उन लोगों के सभी वैवाहिक सम्बन्ध वे ही पण्डित लोग रखा करते हैं जिन्हें पञ्जीकार कहते हैं और परिचयों का संग्रह पञ्जी कहलाता है।

परिचयों के साथ-साथ उन लोगों ने अपने पूर्वजों के निवास-स्थानों के भी नाम दे दिये। इन्हीं ग्रामों के नाम पर कुलों का नामकरण हुआ। किसी कुल के आदि ज्ञान पुरुष उस कुल का बीजी-पुरुष कहलाया, आदिम निवास स्थान उस कुल का मूल हुआ और उस समय वे लोग जहाँ रहते थे उस मूल का नाम ग्राम कहलाया। इस तरह अभी भी मैथिल लोग अपने मूल का परिचय दो ग्रामों के नाम से देते हैं, एक मूलग्राम, दूसरा आवासग्राम अथवा डेरा।

परिचय संगृहीत करने के बाद देखा गया कि शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के अनुयायी पञ्चप्रवर वत्स्य गोत्र की एक विशाल शाखा है। इस शाखा के लोग उस समय भिन्न-भिन्न कोई एक सौ दस ग्रामों में बसते थे, परन्तु सभी एक कुल के थे और

उपलब्ध संग्रह के आधार पर इस कुल के कोई ग्यारह पुरुषों का परिचय उपलब्ध था। इस कुल के बीजी पुरुष निर्णीत हुए कपिलदेव नाम के एक महापुरुष, जिनसे पाँचवें अर्थात् कपिलदेव के वृद्ध प्रपौत्र थे 'भृगु' जिनके नाम के साथ एक विशेषण है 'राउल' जिससे इनकी प्रतिपत्ति सूचित होती है। इन्हीं राउल भृगु के समय से इस कुल का सर्वाङ्गीण संगृहीत परिचय उपलब्ध है। इन लोगों का आदिम निवास-स्थान स्थिर हुआ 'पाली' और यही महाकुल का मूल हुआ। पाली का विशेषण रूप होता है 'पलिवाड़' और इनकी सन्तान अभी भी 'पलिवाड़' कहलाती है। मैथिली के सर्वप्रथम लेखक कविशेखर ज्योतिरीश्वराचार्य जिनका 'वर्णरत्नाकर' ग्रन्थ है और जो १२४८ शाके में वर्तमान थे, अपने धूर्तसमागम प्रहसन में अपने को 'महाशासन-श्रेणीशिखर श्रीमत् पल्ली जन्मभूमि' का कहा है जिसमें 'पल्ली' पाली का संस्कृत रूप है और वे इसी कुल के थे। यह पाली दरभंगे से कोई तीस मील उत्तर वेनीपट्टी थाने के अन्तर्गत अभी भी एक विशाल ग्राम है।

शाके १२४८ में इस महाकुल की एक शाखा 'महिसी' में बसती थी। महिसी अभी भी मिथिला का एक अत्यन्त प्रसिद्ध ग्राम है जो सहर्षा जिले के मुख्य नगर सहर्षा से कोई पाँच मील नैऋत्य कोण में तिलयुगा नदी के पश्चिम-तट पर अवस्थित है। इस शाखा के प्रधान पुरुष उन दिनों में एक सिद्ध पुरुष थे, दुर्गादित्य। ये दुर्गादित्य राउल भृगु से आठवें अर्थात् उनके प्रपौत्र के प्रपौत्र के पुत्र थे। दुर्गादित्य से चार पुरुष ऊपर अर्थात् उनके प्रपितामह, चन्द्रकर, चन्दौत नाम के ग्राम में वसते थे, ऐसा परिचय दुर्गादित्य ने दिया। चन्द्रकर की सन्तान चन्दौतपाली कहलाती है जिसकी एक शाखा, और प्रमुख शाखा, दुर्गादित्य की सन्तान महिसी-पाली या पलिवाड़-महिसी कहलाती है। इन्हीं सिद्ध दुर्गादित्य की सन्तान, उनसे चौदहवें अर्थात् दुर्गादित्य के प्रपौत्र के प्रपौत्र के प्रपौत्र के प्रपौत्र के पुत्र हैं विद्यावाचस्पति श्री आदित्यनाथ झा, जो इस महिसी-पाली वंश के मौलि-मुकुट हैं। छः सौ वर्षों में चौदह पुश्त बीते हैं; अतएव एक पुश्त चालीस से कुछ अधिक वर्षों का हुआ। इसके अनुसार दुर्गादित्य से आठ पुश्त पहले के राउल भृगु का समय अनुमानतः शाके ९०० होता है और उनसे पाँच पुश्त पहले के कपिलदेव जिन्हें इस कुल का बीजीपुरुष कहा जाता है अनुमानतः शाके ७०० के लगभग थे। इस प्रकार इनके वंश का परिचय कोई १२०० वर्षों का उपलब्ध है जिसमें हजार वर्षों के परिचय सर्वाङ्गीण सुरक्षित हैं।

पञ्जीप्रवन्ध के समय में ही उपलब्ध परिचयों के आधार पर व्यक्तियों की प्रतिष्ठा श्रेणीवद्ध हो गयी और कुछ दिनों तक वह प्रतिष्ठा वैयक्तिक रही, पर पीछे वह वंशानुगत हो गयी। उनमें जन्मना, कर्मणा और विद्यया सभी अंशों में जो अवदात थे वे कहलाये 'श्रोत्रिय'। कहा गया है कि :

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

और ऐसे ही अवदात महापुरुष थे दुर्गादित्य जो श्रोत्रिय मान्य हुए तथा उनकी सन्तान आज चौदह पुश्तों से मैथिलों में सर्वोच्च श्रोत्रिय सम्मानित है। श्रोत्रियों में भी ऐसा महान और शुभ्र दूसरा कुल नहीं है। ऐसे ही अवदात कुल के कमल हैं डॉ० झा।

आदित्यनाथ झा जी का जन्म प्रयाग में हुआ है। जहाँ इनके पूज्यपाद पिताजी ने इनके जन्म से कितने दिन पूर्व ही अपना निवास-स्थान बना लिया था। फिर भी इनका पैत्रिक निवास-स्थान—जहाँ इनकी कुलदेवता प्रतिष्ठिता हैं—मिथिला के मध्य में दरभंगे जिले के मधुबनी सब-डिवीजन के सुप्रसिद्ध सरिसव ग्राम के पूर्वीय भाग पाहीटोल है। कहा जाता है कि कृष्ण से रूठकर बलराम ने कई वर्ष मिथिला में बिताये थे। जहाँ आकर दुर्योधन ने उनसे गदा की शिक्षा ली थी वह यही सिद्धार्थ-क्षेत्र है और सिद्धार्थ सरसो के पर्यायवाची होने से इस ग्राम का नाम सरिसब पड़ा। बलराम की ही प्रतिष्ठापिता उनकी कुलदेवता सिद्धेश्वरी इस क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी आज भी इस प्रान्त में प्रसिद्ध हैं। आज हजारों वर्षों से इस ग्राम की महिमा समस्त मिथिला में विख्यात है। चौदहवें शक-शताब्द के अन्त में इस ग्राम के आदर्श श्रोत्रिय श्री अयाची मिश्र के सम्बन्ध में उनके महापाण्डित पुत्र सन्मिश्र शङ्कर की यह गर्वोक्ति वस्तुतः सरिसब की महिमा को

यस्यान्तेवासिभिः प्राज्ञैरासमुद्रं वसुन्धरा।
विद्याविनोदव्यसनव्यापारैक-परा कृता॥

द्योतित करती है। इसके दो सौ वर्ष के बाद कवीन्द्र गङ्गानन्द ने सरिसब को 'ग्राम राज' कहा है और कहा है कि यहाँ के "अमल मतिमतः कोविदस्यास्य रंगे भावा सङ्केरितबहुरसा-भारती नृत्यनीव।" वस्तुतः इस ग्राम की जलवायु में विद्या के बीज हैं और आज हजार वर्षों से कोई ऐसा समय नहीं हुआ है जब इस ग्राम में एक न एक ऐसे मूर्धन्य पण्डित न हों जिनकी प्रतिष्ठा भारतवर्ष में व्याप्त हो।

पर सरिसब में इन लोगों का निवास कोई सात पुश्तों से ही है; इनके प्रपितामह के प्रपितामह के पिता ही सरिसब आये, सोलहवीं शक शताब्दी के उत्तरार्ध में आज से कोई तीन सौ वर्षों से कुछ ही अधिक दिन पहले। इसके पहले ये लोग महिसी में बसते थे जहाँ १२४८ शाके में पञ्जी प्रबन्ध के समय सिद्ध दुर्गादित्य वर्त्तमान थे। महिसी शब्द महिष्मती का तद्भव रूप कहा जाता है और इसकी गणना मिथिला के उन इने गिने सिद्धपीठों में होती है जो तीर्थ के रूप में आज सदियों से प्रख्यात हैं। कहा जाता है कि मण्डनमिश्र इसी महिष्मती के वासी थे और शङ्कराचार्य से उनका शास्त्रार्थ यहीं हुआ था। दर्शनकाननपञ्चानन वाचस्पति मिश्र भी इसी महिसी प्रान्त के वासी माने जाते हैं। महिसी की ख्याति पलिवाड़ों की ही निवास-भूमि होने के कारण है और इस ग्राम को सिद्धपीठ बनाया है इन्हीं पलिवाड़ों की आराध्य कुलदेवता उग्रतारा ने, जिनकी विलक्षण मूर्ति महिसी में पलिवाड़ों की प्रतिष्ठापिता बतलाई जाती है। इसी मन्दिर का सन्निहित भू-भाग डॉ० झा के

पूर्वजों की वासभूमि कहा जाता है। पञ्जी के आधार पर यह प्राय: सिद्ध है कि महिसी में पलिवाड़ों का निवास शाके १००० से कोई छ: सौ वर्षों तक था इसमें कोई सन्देह नहीं कि पलिवाड़ों ने उग्रतारा की उपासना अङ्गीकार कर ली और आश्चर्य नहीं कि मूर्ति की स्थापना इन्होंने ही की हो।

इस प्रसङ्ग में बड़े महत्त्व की यह बात ज्ञातव्य है कि समस्त मैथिल ब्राह्मण समाज में पलिवाड़ों की यही एक शाखा है जो कुल-देवता के रूप में उग्रतारा की उपासना करती आ रही है। और इष्ट देवता के रूप में भी उग्रतारा ही की साधना करती रही है। प्राय: देखा जाता है कि कुलदेवता सभी कुलों के भिन्न-भिन्न होते हैं और कबसे उनकी अराधना हो रही है यह मालूम नहीं है, पर पञ्जी सम्बन्ध के पूर्व से ही यह परम्परा वर्त्तमान है। इष्ट देवता की लोग दीक्षा लेते हैं और उनकी साधना अपना वैयक्तिक कर्त्तव्य समझते हैं। यह दीक्षा कई कुलों में कुलक्रमागत होती है अर्थात् उस कुल की सभी सन्तान उसी एक देवता की दीक्षा लेते हैं और यह कौलिक दीक्षा फिर भी कुल-देवता की उपासना से भिन्न होती है। डा० झा महोदय के कुल की यह विशेषता है कि यहाँ इष्ट देवता कुलक्रमागत उग्रतारा हैं और कुलदेवता भी वही उग्रतारा हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एकान्तभाव से ये लोग उग्रतारा के उपासक हैं। यह प्रसङ्ग बड़ा ही रोचक है और कुलदेवता एवं इष्टदेवता की परम्परा से हम उस कुल की उपासना-पद्धति और साधनाक्रम को जान सकते हैं और इसके आधार पर प्रत्येक कुल की सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि की कल्पना कर सकते हैं।

उग्रतारा की उपासना तन्त्रों में चीनाचार के अनुसार होती है। कहा गया है कि वसिष्ठ तारा की उपासना को महाचीन से ले आए। महाचीन तिब्बत है। इस प्रकार तारा की उपासना तिब्बत से आई प्रतीत होती है। पालराजाओं के समय में विक्रमशिला से तिब्बत का घनिष्ठ सम्बन्ध था और अनुमान किया जा सकता है कि आरम्भ में ही महिसि में उग्रतारा की उपासना का एक पीठ स्थापित हुआ जिसे पलिवाड़ों ने यहाँ आकर अपनाया तथा उनकी उपासना एकान्त भाव से करने लगे। डॉ० झा के पितामह ने जब अपने नये निवासस्थान का पुनर्निर्माण करवाया तो उन्होंने भी जैसी महिसी में थी वैसी ही परन्तु उससे बहुत छोटी मूर्ति को अपने आलय में प्रतिष्ठापित किया जिसकी उपासना का भार डॉ० झा महोदय के ही परिवार के भाग में पड़ा है। इसी से यह बात भी सिद्ध है कि डॉ० झा का कुल आज हजारों वर्षों से तान्त्रिक उपासना में लीन रहा है और उसी के प्रसादात् ऐहिक सिद्धि प्राप्त करता रहा है।

पलिवाड़ों की यह शाखा महिसी कब आई और क्यों? इसे तो जानने का साधन भी नहीं है परन्तु महिसी त्यागकर सरिसब आने के कारण ज्ञात हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है डॉ० झा महोदय के प्रपितामह के प्रपितामह के पिता थे अच्युत झा, जिन्हें लोग

घोंघे झा कहा करते थे। ये बड़े ही प्रतिभावान् और प्रभावशाली महापुरुष थे। जाति में भी ये अपने समय में सबसे बड़ों में एक थे। सामाजिक विषयों में उनकी बड़ी प्रतिपत्ति थी। उन दिनों मिथिलाराज्योपार्जक म० म० महेश ठाकुर के सबसे छोटे पुत्र महाराज शुभङ्कर ठाकुर मिथिलेश थे, पर उनकी माता जाति में नीच थी और इसलिए समाज में शुभङ्कर ठाकुर की प्रतिष्ठा नहीं थी और कितने लोग उन्हें नीच कहा करते। महाराज को प्रयोजन था लोकसंग्रह का। ऐसे लोगों का संग्रह जो जाति में उच्च हों और मिथिलेश की प्रतिष्ठा करें। घोंघे झा से अधिक उपयुक्त दूसरे व्यक्ति नहीं थे जो मिथिलेश के पक्ष का नेतृत्व करें। पर घोंघे झा रहते थे महिसी में और मिथिला की राजधानी भौर वहाँ से कोई तीस मील पश्चिम थी। इतनी दूर से नेतृत्व करना कठिन था, अतएव घोंघे झा सरिसब चले आये जहाँ उनका विवाह था। घोंघे झा ने अपनी एक कन्या मिथिलेश के पुत्र से व्याह दी और स्वयं मिथिलेश की कन्या से व्याह कर मिथिलेश की प्रतिष्ठा को उठा दिया। तीन पुश्तों तक सरिसब में रहने के पश्चात् मिथिलेश महाराज राघवसिंह के समय में मुसलमानों के उपद्रव से डॉ० झा महोदय के पिता के प्रपितामह अमृतनाथ झा वहाँ से हट कुछ पूरब की ओर पाहीरोल जा बसे। डॉ० झा महोदय के परिवार का वर्तमान निवास स्थान तो इनके पूज्यपाद पितामह का ही निर्मिति है।

डॉ० झा के पितामह तीर्थनाथ झा जो धरानाथ झा के नाम से प्रख्यात थे अपने समय के अत्युच्च श्रोत्रियों में अन्यतम थे और आजन्म गायत्री की उपासना में एकान्त रूप में रत रहे। नित्य खड़े होकर सहस्र गायत्री का जप करना इनका नियम था और कितने वर्षों तक तो वे प्रतिदिन तीन हजार जप करते रहे। कहा जाता है कि अपने जीवन में वे तीन कोटि जप कर सके जिसके प्रसाद से उन्होंने ऐहिक और पारलौकिक दोनों सिद्धि प्राप्त कर लीं (इन्होंने काशी में गङ्गा के तट पर ज्ञान पुरस्सर प्राणत्याग किया) तथा उनकी सन्तान असाधारण प्रतिभावान् और धीमान् वृद्धिमान हैं। जन्मतः ये वित्तहीन थे पर जाति में, नैष्ठिकता में, साधुता में और चारित्रिक चारुता में इतने पवित्र और प्रसिद्ध थे कि मिथिलेश महाराज छत्रसिंह वहादुर के दूसरे पुत्र महाराजकुमार वावू वासुदेवसिंह अपनी मृत्युशय्या पर यह आदेश दे गये कि उनकी कुमारी कन्या का पाणिग्रहण यदि धरानाथ झा स्वीकार करें तो उनके ही हाथों किया जाय। मिथिला राजकुल से इस सम्बन्ध से महात्मा धरानाथ झा की स्थिति ही पलट गयी, उन्हें पाँच पुत्ररत्न हुए जिन्होंने अपनी गुणगरिमा से ऐसा शुभ्र यश प्राप्त किया जो किसी भी दूसरे मैथिल परिवार को आज नहीं है। आप ही के तृतीय पुत्र थे स्वर्गीय विद्यासागर महामहोपाध्याय डाक्टर सर गङ्गानाथ झा जिनका नाम विश्व के कोने-कोने में जहाँ कहीं भी संस्कृत-विद्या का प्रचार है, सर्वत्र श्रद्धा में पूजित है और जो अपनी अमूल्य कृतियों में ही नहीं अपने आत्मजों में भी अमर हैं। इन्ही महामनीषी,

यथार्थ अर्थ में महामहोपाध्याय के कनिष्ठ आत्मज हैं हमारे विद्यावाचस्पति श्री आदित्य-नाथ झा जी।

महापुरुष धरानाथ झा के पाँच पुत्र थे। दरभंगा के महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह बहादुर के ये सभी फुफेरे भाई लगते थे। भारतवर्ष के स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रवर्त्तकों में दरभंगे के महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह का नाम अमर है। उन्होंने ही मिथिला में अङ्गरेजी शिक्षा का आरम्भ किया। अपने इन फुफेरे भाइयों की प्रतिभा को पहचान कर महाराज बहादुर ने दरभंगे में एक अंगरेजी स्कूल स्थापित किया जो इस जिले का सबसे पुराना स्कूल है और वहीं इन भाइयों ने शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ किया। सबसे ज्येष्ठ बाबू विन्ध्यनाथ झा पहले मैथिल ग्रेजुएट् थे और अङ्गरेजी, संस्कृत एवं दर्शनशास्त्र में उनकी विद्वत्ता बड़ी प्रखर थी। वे आगे पढ़ने नहीं पाये; बी० ए० पास करके ही आप महाराज के विश्वासपात्र सचिव और प्रबन्धक के रूप में यावज्जीवन दरभंगा-राज की सेवा में निरत रहे। आप अल्पायु हुए, केवल ४५ वर्ष की आयु में आपका देहान्त हो गया, पर उतने ही दिनों में आप विश्वस्तता, कुशलता, बुद्धिमत्ता और कर्त्तव्यनिष्ठा सभी दृष्टियों में राज के ही कर्मचारियों में नहीं परन्तु समस्त बङ्गाल के राजनीतिक क्षेत्रों में भी अपनी एक प्रतिष्ठा सुदृढ़ कर ली थी। आप ही के आदर्श को सामने रख कर आपके द्वितीय अनुज स्वर्गीय महामहोपाध्याय गङ्गानाथ झा जी ने अपना जीवनक्रम बनाया था और अपने संस्मरणों में उन्होंने लिखा है कि नित्य जो पाठ ग्रहण करें उसे उसी दिन अङ्गरेजी में लिख डालें, यह नियम जो उनके अध्ययन-जीवन का मूल सूत्र था, इसे उन्होंने अपने बड़े भाई बाबू विन्ध्य-नाथ झा जी से सीखा था। यजुर्वेद संहिता और नैषधीयचरित महाकाव्य का अङ्गरेजी में अनुवाद बाबू विन्ध्यनाथ झा जी ने किया था, पर विद्या के क्षेत्र से राजनीति के क्षेत्र में चले जाने से और अल्पायु होने के कारण वे अनुवाद प्रायः अधूरे रह गये और प्रकाश में नहीं आये। सत्य तथा स्पष्ट और निर्भीकता से बोलने के लिये ये विख्यात थे और रियासत के कर्मचारी होते हुए उन्होंने इस व्रत को कैसे निभाया, यह आश्चर्य की बात है। पर इसका कारण था इनकी विश्वासपात्रता और ऐसी अनेक घटनाएँ जिनसे विदित होता है कि महाराज बहादुर का आप पर कितना विश्वास था और आपने उस विश्वास की किस खूबी से रक्षा की। बाबू विन्ध्यनाथ झा शिवजी के अनन्य भक्त थे और मैथिली में गीतों की रचना करते थे जो प्रकाशित व प्रसिद्ध हैं।

दूसरे बाबू गणनाथ झा आँखों के खराब हो जाने के कारण पढ़ तो आगे नहीं सके, पर लौकिकता में मिथिला की संस्कृति और इतिहास की विचक्षणता में एवं वाक्चतुरता में आप बेजोड़ थे। ज्योतिष के फलित भाग पर आपका पूरा अधिकार था; मैथिली साहित्य के आप मर्मज्ञ ज्ञाता थे और स्वयं भी ग्राम काव्य की रचना करते थे; पर सबसे अधिक आप तान्त्रिक-उपासना पद्धति के अद्वितीय पण्डित थे। अपना सारा जीवन आपने

उग्रतारा की उपासना में बिताया और तान्त्रिक साधना में आप योगी की भाँति निर्लिप्त भाव से संलग्न रहे। जीवन के अन्तिम कई वर्ष आप काशी में रहे और साधना छोड़ कोई दूसरा काम नहीं करते थे। लोगों ने आश्चर्य से देखा कि इनके जीवन के अन्तिम दिनों में इनके गुरु भी इनसे आ मिले और जब इन्होंने देह त्याग किया तो इनका एक हाथ अपने गुरु के पैर पर था और दूसरा हाथ उग्रतारा की उस धातुमयी विग्रहमूर्त्ति के पैर पर जिसकी प्रतिष्ठा अपने पूजागृह में आपने काशी जाकर की थी। इन दिनों ऐसा सिद्ध महापुरुष निश्चय ही बहुत विरल है।

डॉ० झा के तृतीय पितृव्य, इनके पूज्यपाद पिता के अनुज थे बाबू विजयनाथ झा जी। आपने पढ़ा तो अधिक नहीं पर अङ्गरेजी पर आपका भी पूरा अधिकार था। आप पारिवारिक कामों में दक्ष थे और बड़े ही प्रतापी थे। जीवन का उत्तरार्ध आपने भी दरभंगा राज की सेवा में बड़ी योग्यता से बिताया और साहस एवं पराक्रम के कामों में आप सबसे आगे रहते थे। वस्तुतः आप पुरुषसिंह थे, पुरुषार्थ के प्रतीक और व्यावहारिक क्षेत्र में आपकी कर्मठता ही श्लाघनीय थी, यही नहीं, आपकी सूझ भी बड़ी पैनी थी। विद्या में सभी भाइयों में हीन होकर भी प्रतिपत्ति में, प्रतिष्ठा में, मर्यादा यह भी भाई के सदृश सम्मान्य थे और सामाजिक कामों में सबों के दाहिने हाथ के रूप में उपकारी थे।

सबसे छोटे थे बाबू वैद्यनाथ झा जो बी० ए० पास कर दरभंगा राज की सेवा में लग गये और अन्तिम दिनों तक उसी सेवा में लगे रहे। जमींदारी के प्रबन्धक के रूप में काम करते हुए आपने ऐसी लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। राज के हित के कामों से महाराज का आपने ऐसा विश्वास प्राप्त कर लिया कि आप प्रबन्ध-विभाग में राज के व्यवसाय-विभाग के अध्यक्ष बना दिये गये और इनकी अध्यक्षता में दरभंगा-राज व्यवसाय के क्षेत्र में भारत से बाहर भी ख्यात होने लगा। इस विषय में इनकी सूझ बेजोड़ थी और यह इन्हीं की कर्मठता, कुशलता, दूरदर्शिता एवं तत्परता का फल था कि जमीन्दारी होकर भी दरभंगा-राज देश के समृद्ध व्यवसायियों में गिना जाने लगा। उसी बुद्धिमत्ता से आपने स्वयं भी बहुत अर्थसञ्चय किया और मिथिला में इनकी गणना धनियों में होने लगी। मनस्विता के लिये ये प्रसिद्ध थे; किसी कार्य के सञ्चालन करने की आपकी क्षमता और दक्षता श्लाघनीय थी; मितभाषी थे, परन्तु अत्यन्त मधुरभाषी और लोगों को अपने गुणों से विमुग्ध करने की आपकी क्षमता आश्चर्यजनक थी। सुख से जीवन बिताना आपका एक-मात्र ध्येय था और धन का उपार्जन कर ये महापुरुष उसे दान और भोग में उपयोग करते रहे।

डॉ० झा के स्वनामधन्य पिता, जो पाँच भाइयों में तीसरे थे, अपनी गुणगरिमा से, चरित्रचारुता से, पाण्डित्य के प्रकर्ष से और अमर कृतियों से इतने बड़े थे और इतने प्रख्यात थे कि उनके प्रसङ्ग में थोड़ा भी लिखना इस छोटे लेख में सम्भव नहीं है। इनका

प्रादुर्भाव १८७१ ई० में हुआ था और सातवें वर्ष में ये अपने दोनों अग्रजों के साथ राज-स्कूल में भरती कर दिये गये। १८८६ ई० में एन्ट्रेन्स पास कर आप काशी क्वीन्स कालेज पढ़ने गये और १८९२ में वहीं से एम० ए० पास करके भी आप काशी में ही रह गये और संस्कृत शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह की आप पर अपूर्व कृपा थी और महाराज बहादुर के आदेश से आप काशी में साथ-साथ पण्डित शिवकुमार मिश्र, पण्डित गङ्गाधर शास्त्री, पण्डित कैलाशशिरोमणि भट्टाचार्य एवं पण्डित जयदेव मिश्र से पढ़ते रहे। १८९४ में आप दरभंगा वापस आये और महाराज के पुस्तकालय के अध्यक्ष नियुक्त हुए। वहीं आप दरभंगा राज के प्रसिद्ध पण्डित पीछे महामहोपाध्याय चित्रधर मिश्र से मीमांसा दर्शन पढ़ गये। १९०२ में आप म्योर सेन्ट्रल कालेज प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त होकर प्रयाग गये वहाँ इन्होंने अपना निवास स्थान बनवा कर जीवन-यापन किया। १९०९ के अन्त में आपने डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की और १९१० में आप महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किये गये। १९१९ में आप क्वीन्स कालेज के प्रिन्सिपल नियुक्त हुए तथा १९१९ में काउन्सिल आफ स्टेट के सदस्य मनोनीत किये गये। १९२३ में आप प्रयाग विश्वविद्यालय के नव संगठन होने पर प्रथम वाइसचान्लर हुए और तीन बार लगातार चुने जाते रहे। १९३२ में आपकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया और चौथी बार आप उस पद के लिये खड़े नहीं हुए। १९४१ में आपको नाइटहुड की उपाधि मिली, पर इसी वर्ष १८ नवम्बर को आपका देहान्त हो गया।

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा अन्तःप्रज्ञ होना अथवा इतनी ऊँची प्रतिष्ठा तथा ऐसा निर्मल यश प्राप्त करना प्राक्तन संस्कार के ही प्रसाद से सम्भव है फिर भी महामहोपाध्याय में यथार्थ कुछ ऐसे गुण थे जिनके बल से इतर व्यक्ति भी बिना उन्नति किए नहीं रह सकता है।

महामहोपाध्याय जी से जो कोई भी व्यक्ति परिचित थे सभी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करेंगे कि इनकी उन्नति के प्रधान साधन थे, इनकी कार्यक्षमता और इनका दृढ़ सङ्कल्प। किसी भी काम को आरम्भ करके समाप्त करने पर ही इन्हें शान्ति होती थी, जो आज का कर्त्तव्य है या जो आज कर सकते हैं उसे कल के लिये छोड़ना ये जानते ही नहीं थे। समय कैसी मूल्यवान् वस्तु है और उसका सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिये यह सीखने के लिये इनका जीवन आदर्श था। अठारह वर्ष की अवस्था में जब ये छात्र थे तभी से इन्होंने लिखना आरम्भ किया और जीवन के अन्तिम दिनों तक लिखते ही रहे। कुल साठ के करीब इनके ग्रन्थ हैं। दरभंगा में पुस्तकालयाध्यक्ष के पद से लेकर प्रयाग विश्वविद्यालय में कुलपति-पद तक जिस किसी पद को आपने सुशोभित किया सभी श्रमसाध्य थे, सभी उत्तरदायित्त्व से पूर्ण। पैर उन सभी कामों को सफलता के साथ सुचारु रूप से सम्पादन करते हुए सांसारिक और पारिवारिक सभी कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए ये इतना अध्ययन कर सके और फिर इतना

लिख सके यह सर्वथा आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। इसी अलौकिक कार्यक्षमता से आप जीवन में उन्नति के चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर आपने ऐसा निर्मल यश प्राप्त किया कि जहाँ कहीं भी हिन्दू सभ्यता और संस्कृत शास्त्रों की मर्यादा है, सर्वत्र आपका नाम अमर है और रहेगा। सङ्कल्प में आप इतने दृढ़ थे कि आपको जिद्दी कहना भी अत्युक्ति नहीं होगा। अपने नियमों से आप तनिक भी विचलित नहीं होते थे। छात्रावस्था में ही आपने नियम बना लिया था कि आज का पढ़ा हुआ विषय आज ही अँगरेजी में लिख डालें। कभी-कभी इस नियम को पालन करने में आपको नित्य अस्सी पृष्ठ लिखना पड़ता था और रात बारह बज जाय, पर जब तक लिखना सम्पन्न नहीं हो आप विश्राम नहीं करते थे। छोटे से छोटे कामों में भी आपकी यह दृढ़ता स्पष्ट होती रहती थी। इनका नियम था कि पत्र का उत्तर तुरत दे दें और जिस पत्र का उत्तर इन्हें देना होता ये पत्र पाते ही दे देते। सङ्कल्प की इसी दृढ़ता के कारण इनके यहाँ कामों का ढेर कभी नहीं देखा गया। सङ्कल्प की इस दृढ़ता के बिना आप इतना काम कर सकते इसकी सम्भावना नहीं। सङ्कल्प की दृढ़ता के विषय में आप कितने कठोर थे इसकी एक कथा बड़ी ही रोचक है। जब आप दरभंगा में थे उस समय आप बहुत मोटे हो गये थे। किसी भी प्रतीकार से जब यह स्थूलता कम नहीं हुईतो डाक्टरों की सलाह से आपने भोजन अत्यल्प कर दिया और इनका स्वास्थ्य इसलिये बिगड़ भी गया पर जब तक स्थूलता कम नहीं हुई आप नित्य केवल चार पूड़ियाँ खाकर ही रहे।

किन्तु इससे यह समझना भ्रम होगा कि इनके जीवन में विनोद का स्थान ही नहीं था तथा इनके दिन केवल काम ही करते बीतते थे। समय का सदुपयोग उसे नहीं कहते। इनकी वार्त्ताएँ कितनी सरस होती थीं और ये कितने विनोदप्रिय थे इसे वे जानते हैं जो इनसे परिचित थे। यह बात सही है कि इनके सभी काम नियमबद्ध थे। काम के समय यदि आप इनसे मिलने जाते तो ये अपना काम नहीं छोड़ते। आपकी बात सुन लेते उसका समुचित उत्तर दे देते, गप्प कहते तो उसे भी सुनते जाते, पर साथ ही साथ अपना काम करते ही रहते। लेकिन जब काम का समय नहीं रहता लोगों के साथ बैठ कर विनोद करना इनका नियम था तथा और कोई नहीं तो छोटे बच्चों के ही साथ आप मिलकर विनोद किया करते।

व्यसन यदि इन्हें कोई था तो वह लिखने का था। इससे अधिक आनन्द आपको और किसी दूसरे काम में नहीं होगा। १९२७ ई० में पटना यूनिवर्सिटी में रामदीन व्याख्या-माला देते हुए अपने परिचय में इन्होंने कहा था, 'लाखों पेजों के मुँह काले किये।' यह कथा अक्षरशः सत्य है। जीवन के अन्तिम घड़ी तक आप लिखते ही रहे और आपके तीन ग्रन्थ आपके परोक्ष हो जाने पर प्रकाश में आए। लिखने के श्रम को आप श्रम नहीं विनोद समझते थे। इनके प्रकाशक यदि इन्हें किसी ग्रंथ का संशोधन करने के लिए कहते तो ये उसे फिर लिख ही देते, संशोधन से इन्हें लिखना ही सुलभ मालूम पड़ता। यह बात केवल

कर्त्तव्यवुद्धचा नहीं हो सकती। इसके लिए उस काम के प्रति आन्तरिक प्रेम चाहिए। और इनके लेख की स्पष्टता, गम्भीरता और संक्षिप्तता के प्रमाण इनके ग्रन्थ ही वर्त्तमान हैं। इनके अधिक ग्रन्थ अनुवाद हैं किन्तु वे अनुवाद उन ग्रन्थों के हैं जिनके आशय समझना वड़े-वड़े पण्डितों के लिए भी कठिन होता है तथा अनुवाद मूल के शब्दों के ही नहीं अपितु मूल का तात्पर्य किस विलक्षणा से भाषान्तर में आ गया है यह सर्वथा आश्चर्यजनक प्रतीत होगा। स्पष्ट है कि उन कठिन ग्रन्थों के आशय ही आपके हृदयङ्गम नहीं थे प्रत्युत अंगरेज़ी भाषा पर भी आपका ऐसा अधिकार था कि गूढ़ से गूढ़ विषयों की भी सुस्पष्टतया मूल लेखक की शैली पर थोड़े से थोड़े शब्दों में सरल रीति से समझाकर लिख सकते।

किन्तु जन्मना और क्रियया सर्वथा इतने बड़े होने पर भी आपको देखकर कोई ऐसा नहीं समझता। आपके वेष और भूषा, रहने की परिपाटी और व्यवहार सभी आडम्बर से शून्य थे। इतने बड़े और कार्यासक्त व्यक्ति से मुलाकात कठिन होती है, पर आप के यहाँ सबों का प्रवेश अप्रतिषिद्ध था और आपसे मिलने के लिए किसी को कभी कार्ड नहीं भेजना पड़ता तथा दर्शन होने पर आपकी ऋषितुल्य कान्ति को छोड़कर कोई भी लक्षित नहीं कर सकता कि आप इतने महान् हैं। जैसे आप पहले रहते थे अन्त तक वैसे ही रहे। यह आडम्बरशून्यता, यह सरलता, यह एकरूपता आपके चरित्र का उत्कर्ष था।

परन्तु यह गुणराशि जिसके प्रसाद से, इतना वैभव जिसके वल से वह थी महामहोपाध्याय जी की आस्तिकता, परमात्मा में अटल विश्वास, अपने पूर्व पुरुष में श्रद्धा, वस्तुतः जिन महापुरुष ने समस्त दर्शनों के तत्त्वों को जान लिया था, धर्मशास्त्रों के मर्मों को आत्म-सात कर लिया था। उपनिषदों को मथ कर उनके रहस्यों को हृदयङ्गम कर लिया था, उनके लिए यह कौन आश्चर्य ! संसार के सभी कामों को करते हुए फिर कर्मजाल से निर्लिप्त, दुःख में अनुद्विग्न और सुख में विगतस्पृह, राग, भय और क्रोध सबों से अस्पृष्ट। यथार्थ आत्मज्ञानी के जो लक्षण हैं, पूर्व समय में जिन्हें "मुनि" कहा करते और जिनकी परिभाषा गीता में भगवान् ने 'स्थितधी' कहा है, आप वही थे। परन्तु साथ ही साथ ब्राह्मणोचित सकल क्रियाकलाप को भी आप जिस निष्ठा से करते रहे वैसा इस युग में शायद ही कोई दूसरा करता है। इतना अवश्य कि उस विषय में भी आपने आडम्बर कभी नहीं किया। प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में शय्या त्याग कर नित्यकर्म सम्पन्न करके ही आप बाहर निकलते, त्रिकाल के लिए जो कृत्य आवश्यक हैं उन्हें भी आप जहाँ रहते वहीं सम्पन्न कर लेते, वर्ष में जितने पार्वण विहित हैं आप सबों को नियमपूर्वक किया करते, एकोद्दिष्टि की तो वात ही क्या। परन्तु सबसे बड़ा गायत्री का सहस्र जप आप अपने पिता की ही भाँति उपनयन के दिन से लेकर अपने अन्तिम दिनों तक नित्य करते रहे, पिता से आपके अनुष्ठान में अन्तर इतना ही था कि आपके पिता नित्य खड़े होकर जप किया करते परन्तु अस्वास्थ्य प्रयुक्त आप वैसा नहीं करते रह सके, आप बैठकर ही जप कर लेते थे। इसी के प्रभाव से

आप में वह ब्राह्मण्य तेज था। आप यथार्थ धीमान् थे। मेधाशक्ति आपकी लोकोत्तर चामत्कारिक थी। अपने मन पर आपका अधिकार योगियों के सदृश था। जब जो काम आप करते तल्लीन होकर किया करते। समीप में लोग नाना प्रकार की बातें कर रहे हैं, चारों ओर बच्चे हल्ला करते हुए खेल-कूद कर रहे हैं परन्तु आप शान्तिपूर्वक पद्मासन लगाए कठिन से कठिन ग्रन्थ को लिख रहे हैं। निश्चय ही यह उसी गायत्री की एकान्त उपासना का फल था, उसी गायत्री की उपासना का यह भी परिणाम था कि जीवन में उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त कर, देश और विदेश सर्वत्र ऐसा निर्मल यश लाभकर महापुरुष आप एक से एक योग्य पाँच पुत्ररत्नों को देश के गौरव के लिए छोड़ गए जिनसे भारत का मुख उज्ज्वल रहा है।

डॉ० झा का मातृकुल भी सद्ब्राह्मणों का एक महोच्च कुल है। जो शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के अनुयायी त्रिप्रवर काश्यपगोत्र के अन्तर्गत संकराटी मूल के परहट शाखा के नाम से परिचित है। डा० झा साहब के मातामह पण्डित प्रवर हर्षनाथ झा अपने समय के दुर्धर्ष पण्डितों में एक थे। महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह बहादुर की सभा के वे रत्न थे। थे तो वे वैयाकरण परन्तु शास्त्रीय सूझ उनकी इतनी गहरी और प्रखर थी कि शास्त्रार्थ में उनका जोड़ मिलना दुर्लभ था। कई बार दरभंगे के महाराज की ओर से वे शास्त्रार्थ करने काशी प्रभृति स्थानों में गए थे और सर्वत्र विजय प्राप्त करके मिथिला के पण्डितों की प्राचीन प्रतिष्ठा की रक्षा की थी। पर महाराज के दरबार में आकर उन्होंने पीछे धर्मशास्त्र का विशेषतः कर्मकाण्ड का अध्ययन किया और उस विषय में आपकी प्रतिष्ठा अद्वितीय थी। उनके रचित चातुश्चरणयागपद्धति और संस्कार-दीपक मुद्रित हैं। इस संस्कार-दीपक में पण्डित प्रवर ने माध्यन्दिनशाखीय वाजसनेयियों के लिए वही काम किया है, जिसे सामवेदीय छन्दगों के म० म० मुरारि मिश्र कोई तीन सौ वर्ष पहले अपने शुभकर्मनिर्णय में किया था अर्थात् सभी संस्कारों के कर्त्तव्यकर्मों का प्रामाणिक विचार उपस्थित कर उन्होंने इतिकर्त्तव्यता का सिद्धान्त सरल शब्दों में कर दिया है। साथ ही साथ आप बड़े ही प्रतिभावान और व्युत्पन्न कवि थे तथा संस्कृत, मैथिली एवं ब्रज भाषा में आपकी रचनाएँ मुद्रित एवं उपलब्ध हैं। विद्यापति के सम्प्रदाय के अन्तिम महाकवि पण्डितप्रवर हर्षनाथ झा ही माने जाते हैं। वस्तुतः पण्डितों के समाज में आपका सुयश अभी भी शास्त्रार्थ में दिग्विजयी और कर्मकाण्ड के पारदृश्वा रूप में प्रख्यात हैं परन्तु समस्त मिथिला भाषा-भाषी क्षेत्र में आप एक महाकवि और सफल नाटककार के रूप में परिचित हैं और अमर रहेंगे। ऐसे ही महापण्डित और महाकवि की ज्येष्ठा कन्या हमारे डा० झा साहब की माता थी।

डॉ० झा पाँच भाइयों में सबसे छोटे हैं और इनकी पाँच बहनें थीं जिनमें एक ही बहन आप से छोटी हैं। भाइयों में सबसे बड़े थे भवनाथ झा जी। आप बड़े ही कुशल

और अनुभवी डाक्टर थे और दरभंगा के राज अस्पताल के प्रधान के रूप में बड़ी ही ख्याति पाई। सैनिक शिक्षण प्राप्त कर आप कप्तान की श्रेणी में बहुत दिनों तक काम करते रहे। उनसे छोटे थे स्वनामधन्य डॉ० अमरनाथ झा जी। इनके परोक्ष हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं और ये इतने बड़े थे। इतने विख्यात थे कि इनके प्रसङ्ग थोड़े में कुछ लिखना असम्भव है और उसका प्रयोजन भी नहीं है। इनकी ख्याति भारतवर्ष में तो सर्वत्र थी ही भारत के बाहर भी प्रायः सभी देशों में साहित्य-सम्राट् के रूप में, अद्‌भुत लेखक के रूप में, ओजस्वी वक्ता के रूप में, निर्भीक शासक के रूप में, कुशल शिक्षक के रूप में, उत्कृष्ट शिक्षा-विशेषज्ञ के रूप में, पुरुष नहीं, महापुरुष के रूप में व्याप्त थी। ऐसी अलौकिक प्रतिभा, ऐसी अपूर्व मेधाशक्ति, ऐसी अद्‌भुत कर्त्तव्यनिष्ठा, ऐसा प्रताप और ऐसा वैभव, सबसे बढ़ कर ऐसा आत्मविश्वास और आत्म गौरव—डॉ० अमरनाथ झा जी की गुण-राशि को कौन गिना सकता है। जहाँ कहीं भी आप रहे, सबसे ऊपर रहे; हर किसी पद को आपने अपने व्यक्तित्व से सुशोभित किया। अपने पिता के अध्युषित प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर के पद को आपने पिता के समक्ष ही प्राप्त कर लिया और प्रायः सबसे कम वयस के वाइसचान्सलर आप ही थे तथा अपने पिता ही की भाँति आपने भी तीन वार उस पद को सुशोभित किया। वस्तुतः प्रयाग विश्वविद्यालय इन्हीं पिता-पुत्रों द्वारा संवर्धित होकर इतना प्रशस्त हुआ है। समस्त भारतवर्ष में आपके शिष्य भरे पड़े हैं जो इनके नाम को पूजते हैं। भारत की क्या वात, आप प्रायः समस्त विश्व भ्रमण कर चुके थे और आप के मित्रों की संख्या यदि अनगिनत कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। पिता को यदि लिखने का व्यसन था तो पुत्र को पढ़ने का और कितनी पुस्तकें आपने पढ़ी थीं इसका अनुमान भी करना कठिन है। आपका पुस्तकालय, आपकी और चीजें यथा कपड़े, कलम, जूते, छड़ियाँ—कोई भी चीज आपके पास उत्तमोत्तम से हीन नहीं थी। इतने विद्याव्यसनी, इतने मिलनसार, इतने विनोदी, इतने लोकप्रिय, इतने मेधावी, तेजस्वी, मनस्वी, मनीषी-मानवता के आप गौरवस्तम्भ थे। एक क्षण भी आपसे मिलकर लोग कुछ प्रकाश और कुछ मिठास लेकर लौटते थे। हमारे डॉ० झा साहब को आप प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। १६३४ के ७ मई की अपनी डायरी में आपने लिखा है कि झा साहब के आई० सी० एस० में सर्वप्रथम आने की वर्त्ता को सुनकर यह वार्त्ता आपको प्रयाग रेलवे स्टेशन पर मिली जब आप पहली वार लण्डन की यात्रा को चले थे। आपको इतनी प्रसन्नता हुई थी कि वहाँ जो छात्र उपस्थित थे सभी आपस में बात करने लगे कि इनका आनन्द तो देखो जैसे स्वयं आई० सी० एस० में सर्वप्रथम आये हों। अत्यन्त खेद की बात है कि आप साठ वर्ष भी न जी सके; अकाल में आपने देहत्याग कर दिया। अपने प्रिय अनुज और शिष्य को आपने राज्यपाल के गरिष्ठ पद पर आसीन नहीं देखा। कितना उन्हें आनन्द होता, कितने उल्लसित होते।

डॉ० अमरनाथ झा जी के प्रसङ्ग में संस्कृत कवियों की भाँति कह सकते हैं कि उनके गुणों के वर्णन के लिये शेषनाग की दो सहस्र जिह्वा चाहिये, पर इतना अवश्य है कि उनकी अलौकिक प्रतिभा, क्षमता, विद्वत्ता, तेजस्विता प्रभृति गुणों को देखते हुए मानव-जाति के लिये वे जो छोड़ गये वह अत्यन्त अल्प प्रतीत होता है। परिवार को, देश को, विश्व को उनसे बड़ी-बड़ी आशायें थीं वैसे तो मालूम पड़ता है कि इतने भाग्यवान् व्यक्ति विरल होते हैं, पर यथार्थ में उनका जीवन दुःखान्त था, अपनी असाधारण प्रतिभा को विश्वकल्याण के लिये कार्यरूप में परिणत करने का आपको अवसर नहीं मिला।

डॉ० झा के तीसरे अग्रज थे पण्डित शिवनाथ झा। आप अङ्गरेजी साहित्य में एम० ए० थे और उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग में अनेक पद अलंकृत कर अवकाश ग्रहण करते ही चल बसे। इतने प्रतिभावन् और प्रभावशाली भाइयों के बीच आपकी गुणराशि चमकने न पाई, पर आप बड़े ही सहृदय साधु सज्जन थे और अपने घर की, कुल की, परिवार की मर्यादा को रखते हुए बड़ी ही योग्यता से अपने जीवन को निभाया।

आपके चौथे भाई, अव्यवहित अग्रज थे विभूतिनाथ झा जी। अपने पिता की मर्यादा को निभाने के लिए आपने संस्कृत में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ एम० ए० पास किया और विहार सिविल सर्विस में प्रवेश किया। अत्यन्त खेद की बात है कि आप बड़े ही अल्पायु हुए। मुजफ्फरपुर के जिला मजिस्ट्रेट के विशिष्ट पद को बड़ी ही योग्यता से सम्हाले हुए आप सहसा चल बसे। विभूतिनाथ जी विनोद की मूर्ति थे और बिहार सिविल सर्विस में आपसे अधिक लोकप्रिय शायद ही कोई दूसरा अफसर था। यह लोकप्रियता आपके अपने वर्ग में उसी प्रकार की थी जैसी आम जनता में। खेल-कूद, नाटक, संगीत, कवि-सम्मेलन, मुशायरा, उत्सव मात्र में आपको अद्भुत रुचि थी। पर अपने काम में आप वैसे ही दक्ष थे और तत्पर रहते थे। लोगों के उपकार करने को आपकी प्रवृत्ति श्लाघनीय थी। पर अपने अधिकार का आपने कभी दुरुपयोग नहीं किया। आपकी मृत्यु से मुजफ्फरपुर में जो शोक का प्रदर्शन हुआ, उसी से आपकी असाधारण लोकप्रियता का सच्चा परिचय होता था।

डा० झा ऐसे ही विशिष्ट परिवार के लाड़ले हैं, ऐसे प्रतिभाशाली भाइयों के छोटे, ऐसे महापुरुष के सबसे छोटे पुत्र।

डा० आदित्यनाथ झा का जन्म १९११ ई० के १८ अगस्त को हुआ। इससे पूर्व वर्ष १९१० ई० के नव वर्ष के उपलक्ष्य में जो उपाधि-वितरण हुआ था उसमें आपके पूज्यपाद पिताजी को महामहोपाध्याय की उपाधि मिली थी। उससे कुछ ही दिन पहले १९०९ के अन्त में उनको प्रयाग विश्वविद्यालय की विशिष्ट उपाधि 'डी० लिट्' प्रदत्त हुई थी। अतएव डा० झा साहब के जन्म को परिवार के लोगों ने बड़ा ही शुभ माना और लोग इन्हें 'पण्डित' कहने लगे। परिवार के लोगों के लिए, आत्मीयों के लिए, परिवार से

धनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध दरभंगे के या प्रयाग के लोगों के लिए भी आदित्यनाथ झा जी अभी भी 'पण्डित' ही हैं। और कैसा यह अन्वर्थ नाम हुआ ! वैसे तो डा० अमरनाथ झा जी ही बड़े प्रतिभावान थे, प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में उन्होंने ऐसी मान्यता उपलब्ध की थी कि जभी आप युनिवर्सिटी के प्राध्यापक नियुक्त हो गए और एम० ए० परीक्षा में भी आप सर्वोच्च रहे, परन्तु श्री आदित्यनाथ झा की प्रतिभा उनसे भी प्रखर थी और आपने तो कभी किसी परीक्षा में सर्वोच्च से नीचा स्थान नहीं पाया है, सदा प्रथम रहे।

आपकी शिक्षा काशी के क्वीन्स कालेज में आरम्भ हुई जहाँ आपके पिताजी प्रिन्सिपल थे। फिर जब वे वाइस-चान्सलर होकर प्रयाग आये तो आप प्रयाग के गवर्नमेण्ट कालेज में प्रविष्ट हुए और वहीं से आपने प्रयाग विश्वविद्यालय की एम० ए०परीक्षा अंग्रेजी साहित्य में और कानून की एल-एल० बी० परीक्षा पास की। १९३४ में आप आई० सी० एस० परीक्षा में सम्मिलित हुए और प्रथम ही प्रयत्न में आप प्रथम निकले। फिर प्रशिक्षण के लिए आप आक्सफोर्ड गये और दो वर्षों तक वहाँ रहने के बाद प्रशिक्षण के अन्त की परीक्षा में फिर सर्वप्रथम रहे तथा सबसे अधिक अङ्क आपको घुड़सवारी की जाँच में मिले। १९३६ के अक्तूबर में आप फैजाबाद से कार्यारूढ हुए।

पिता के कनिष्ठ पुत्र होने के कारण आप जन्म से ही परिवार के असीम स्नेह के भाजन रहे। जिसमें आपकी ज्वलन्त प्रतिभा से बराबर वृद्धि ही होती गई। छात्रावस्था में आपकी तेजस्विता सचमुच अद्वितीय रही और आदि से अन्त तक विश्वविद्यालय में आप सदा सर्वोच्च रहे। उन दिनों किसी भी प्रतिभाशाली छात्र के लिए आई० सी० एस० में प्रवेश से बड़ी उपलब्धि नहीं थी और उस आई० सी० एस० परीक्षा में आपने प्रथम ही बार सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया तथा शास्त्रीय विषयों के साथ घोड़े की सवारी के परीक्षण में भी आप सबसे आगे ही रहे।

तीन वर्षों तक फैजाबाद के ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट और काशी के सिटी मजिस्ट्रेट के भार को अपूर्व कुशलता से वहन कर आप भारत सरकार के राजनीतिक एवं परराष्ट्र विभाग में बुला लिए गये। १९४२ में आप पुनः उत्तरप्रदेश, उन दिनों संयुक्त प्रान्त वापस आये। क्रमशः आपने कानपुर में एडिशनल कलक्टर, जमींदारी उन्मूलन समिति के अर्थ-सचिव, कृषि, योजना और विकास विभाग के सचिव, खाद्य-उत्पादन के कमिश्नर, और विकास कमिश्नर के कामों को दक्षता, कुशलता एवं सफलता के साथ देखते हुए १९५४ में वहाँ के प्रधान सचिव नियुक्त हुए। १९५८ में वाराणसी में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर आप स्वेच्छा से वहाँ उपकुलपति होकर विश्वविद्यालय को स्थापित करने चले गए। इसी मध्य में आप मसूरी के शासन-प्रशिक्षण-संस्थान (National Academy of Administration) में निदेशक के पद को भी गौरवान्वित किया।

१९६२ में आप दिल्ली बुला लिए गये और योजना समिति के सचिव नियुक्त किये गये। अग्रिम वर्ष आप वहाँ से सुरक्षा-उत्पादन विभाग के सचिव हुए और फिर अगले वर्ष आप सूचना और प्रसारण विभाग के सचिव हुए। १९५६ के मार्च में आप दिल्ली के चीफ कमिश्नर के वरिष्ठ पद पर नियुक्त हुए और दिल्ली के शासन के नये संविधान बनने पर आपका पद चीफ कमिश्नर से बदलकर उपराज्यपाल कर दिया गया। अभी आप उपराज्यपाल हैं और आशा ही नहीं विश्वास है कि अचिर भविष्य में आप पूरे राज्यपाल के महामहिम पद को प्राप्त कर शासन सेवावृत्ति के उच्चतम प्राप्य गौरव के पद को सुशोभित करेंगे।

यों डा० झा की असाधारण प्रतिभा, प्रगाढ़ विद्वत्ता, कुशलशासनदक्षता, आकर्षक सहृदयता—इनके पूर्ण व्यक्तित्व को आँकना, इनके अवदात्त चरित्र का चित्र उतारना एक छोटे निवन्ध में असम्भव है। आपकी प्रतिभा में सबसे चमत्कारकारी है आपकी मेधाशक्ति, जिसे अलौकिक कहना भी अत्युक्ति न होगी। आपके पिताजी भी अद्भुत मेधावी थे, आपके अग्रज डा० अमरनाथ झा जी अद्भुत मेधावी थे। पर डा० झा ने उन लोगों को भी मात दिया है और इसके एक नहीं अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते। जब ये स्कूल के ही छात्र थे, डा० अमरनाथ झा जी को आपने यमक से भरे हुए छः श्लोकों को—जिसे षट्पदी कहते हैं—इतनी शीघ्रता से अभ्यास कर सुना दिया कि इसलिए आपको मुँहमाँगा पुरस्कार दिया गया। हाल ही में वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय में एक सभा में किसी छात्र का एक लेख देखकर कालिदास के श्लोकों का पाठ करते देख आपने बड़ा ही खेद प्रकट किया था और स्वयं तीस वर्ष पूर्व पढ़े रघुवंश के तेरहवें सर्ग के श्लोकों को मल्लिनाथ की संजीवनी टीका के साथ सुनाना आरम्भ कर दिया। सभा में उपस्थित छात्र ही नहीं, प्राध्यापक गण भी सम्मिलित हो गये।

दूसरी बात जो इनके व्यक्तित्व के प्रसंग में बहुत विशिष्ट है—वह है इनकी सहजात महत्ता। इतने बड़े घर में आपका प्रादुर्भाव हुआ है और जन्म से ही इतने बड़े-बड़े लोगों के साथ सहवास रहा है कि महत्ता तो आपके शोणित में है, नस-नस में घुल गई है। अतएव किसी भी उच्च पद से आपकी महत्ता बड़ी नहीं हैं, आप उसे सहज भाव से वहन करते रहे हैं और उस उच्च पद को ही आप-जैसे व्यक्ति को पाकर गौरव की रक्षा हुई, अपने ही घर में, अपने ही परिवार में, अपने ही आत्मीय बन्धुओं में आपने ऐसी प्रतिष्ठा देखी है और परिवार में सबसे कनिष्ठ होने के कारण आपको उन विभूतियों के प्रति नतमस्तक रहने का ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि अभिमान तो आपको छू भी नहीं सका है और अपने घर की मर्यादा रखने में ही आपकी महत्ता ज्यों-ज्यों आप उन्नति के पथ पर बढ़ते गए हैं बढ़ती गई है। जीवन के आदर्श आपको कहीं खोजने नहीं पड़े। अपने पिता और अपने अग्रज के ही जीवन-क्रम से आपने जीवन की सफलता की कुञ्जी

प्राप्त कर ली। एक ही दृष्टान्त यहाँ प्राप्त होगा। हाल ही में जब आप कुछ अस्वस्थ हो गये थे तथा डाक्टरों ने आपको भोजन में संयम करने को कहा तो मासों तक आपने अन्न नहीं खाया तथा चीनी और नमक दोनों त्याग दिये। संकल्प की यह दृढ़ता आपने अपने पिता से ही प्राप्त की है। प्रतिभा आपमें लोकोत्तर है और इसीलिए जीवन के जिस पथ पर आपने पैर रखे अथवा यों कहिये कि पैर रखने का आपको अवसर मिला उसी पथ पर आप उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गये।

डा० अमरनाथ झा जी की भाँति आपका भी यही सिद्धान्त है कि जीवन की सार्थकता अच्छी तरह रहने में है और जीवन में काम करना उतना ही जरूरी है जितना विनोद। डा० झा फूलों के कितने शौकीन हैं, संगीत में आपको कितनी रुचि है, कितने मिलनसार हैं, मित्रता की आपमें कितनी क्षमता है! ये ही तो मानवता के गुण हैं और इन्हीं गुणों के बाहुल्य से और प्राचुर्य से आप नर नहीं नर-रत्न हैं।

और आपका पारिवारिक जीवन कितना सुखमय है! आपके पिता ने ही एक बड़े घर की शुभलक्षण कन्या को खोज कर आपके लिये पत्नी ला दी जो विदुषी ही नहीं यथार्थ अर्थ में धर्मपरायणा धर्मपत्नी हैं। आपकी पत्नी स्वर्गीय बदरीनारायण जी की कन्या हैं जिन्होंने विहार जुडिशिल सर्विस में सब-जज होकर अवकाश ग्रहण किया था। इस सुघर गृहिणी श्रीमती आद्या झा से आपके चार प्रतिभावान् पुत्र और एक कन्या हैं जो सभी कुलक्रमागत तेजस्विता से अपने घर की मर्यादा रखने में निश्चय ही समर्थ होंगे। आपके सबसे बड़े पुत्र आयुष्मान् श्री प्रकाशनाथ झा जी इंजीनियर हैं और भारत सरकार के सुरक्षा विभाग में विशिष्ट पद पर हैं। शेष सभी छात्र हैं, पर सबों में प्रतिभा है, विनय है, आत्मविश्वास है, आत्म गौरव है। ये ही तो इस कुल के सहज धर्म हैं और इन्हीं कौलिक सद्‌गुणों से मण्डित ये भविष्णु किशोर बच्चे इस पुराने महाकुल की गरिमा को अक्षुण्ण रखेंगे, कुल के कमल सिद्ध होंगे।

डॉ० झा को अपने कुल का गौरव है, अपने पूर्वजों के प्रति असीम श्रद्धा है और उस उग्रतारा में अचल विश्वास और भक्ति है जिसकी उपासना इस कुल में आज हज़ार वर्षों से होती आई है। वही उग्रतारा इस पलिबाड़ कुल के मौलिमुकुट को चिर दिन पर्यन्त स्वस्थ, सबल और समृद्ध रखें। इन्हें धन, जन, तन और मन से प्रपूर्ण बनाये रहें, सपरिवार इनकी रक्षा करें।

卐

भारतीय संस्कृति का उत्तराधिकारी

श्री हरिश्चन्द्र पति त्रिपाठी

मिथिला की पुण्य-भूमि प्रागैतिहासिक काल से ही संस्कृत-वाङ्मय और भारतीय संस्कृति की केन्द्रस्थली रही है। स्व० महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा संस्कृत साहित्य, प्राच्य और प्रतीच्य दर्शन के अप्रतिम विद्वान् थे। उनका पवित्र निश्छल वैयक्तिक जीवन इस देश के प्राचीन ऋषियों की गौरवमयी परम्परा का स्मरण दिलाता है और उनके लिखे हुए ग्रन्थ प्रकाशस्तम्भ के समान भारतीय वाङ्मय को आज भी भास्वर कर रहे हैं।

आदित्यनाथ जी को संस्कृत-विद्या और भारतीय संस्कृति का प्रेम अपने पूज्य पिता से उत्तराधिकार में मिला है। आई० सी० एस० की परीक्षा में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त करने के अनन्तर वे शासन-तन्त्र में प्रविष्ट हुए और उच्चतम पदों पर आसीन रहकर उन्होंने देश और समाज की अमूल्य सेवा की है। झा जी जिस पद पर भी रहे उसे आपने अपनी प्रखर प्रतिभा, अगाध विद्वत्ता एवं असाधारण गुणों के कारण चमकाया और अपनी लोकरंजनी क्षमता के द्वारा वहाँ की जनता का आदर प्राप्त किया। संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रथम उपकुलपति के रूप में आपने देववाणी के उपासकों की गरिमा के उन्नयन के लिए जो श्लाघ्य प्रयत्न किये हैं उनकी अमिट छाप उस विश्वविद्यालय के इतिहास में बनी रहेगी। झा जी की लोकसंग्रही भावना शासन के संचालकों के लिए अनुकरणीय है।

आदित्यनाथ जी संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के विशिष्ट विद्वान् हैं। आप श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित भारतीय सनातन संस्कृति के अनन्य उपासक हैं। आपने इस देश के शास्त्रीय ज्ञान को निखारा है, सांस्कृतिक चेतना को उद्बुद्ध किया है और कतिपय क्षेत्रों में समाज की स्पृहणीय सेवा की है। आदित्यनाथ जी शतायु होकर भारत देश और उसकी संस्कृति की उत्तरोत्तर सेवा करते रहें—यही मेरी कामना उस अनन्त के चरणों में है।

卐

विद्वत्ता तो इनकी पैतृक सम्पत्ति है

श्री वियोगी हरि

काशी, नवद्वीप, मिथिला और पूना ये संस्कृत-विद्या के विश्व-विख्यात केन्द्र रहे हैं। मिथिला में पूर्वमीमांसा-दर्शन के प्रकाण्ड पंडितों की परम्परा रही है। इसी मिथिला प्रदेश के दरभंगा ज़िले में अत्यन्त मेधावी पंडित गंगानाथ झा का जन्म सन् १८७२ में हुआ था। संस्कृत के वे पारंगत विद्वान् थे, और इस प्रकार अंग्रेज़ी, मैथिली और हिन्दी के भी। किशोरावस्था में ही उन्होंने 'कतिपयदिवसोद्गमप्ररोह' नामक संस्कृत पद्यात्मक-ग्रन्थ की रचना की थी। उसके पश्चात् पूर्वमीमांसा के 'प्रभाकर मत' पर अनुसन्धान लिखकर प्रयाग-विश्वविद्यालय से डी-लिट् की उपाधि प्राप्त की। पांडित्य बड़ा व्यापक और अगाध था उनका। महामहोपाध्याय, विद्यासागर, एल० एल० डी० इन उपाधियों से विभूषित होकर डॉ० गंगानाथ झा विश्वविख्यात हो गए। संस्कृत के विविध दुरूह दर्शन-ग्रन्थों का अंग्रेजी में उन्होंने साधिकार भाषान्तर एवं सम्पादन किया। 'झा कमेमोरेशन वाल्यूम' में प्रो० ऑटो स्ट्रास ने लिखा है, "हम सबके लिए, जो प्राचीन भारत के दर्शन-शास्त्रों को हृदयंगम करना चाहते हैं, डॉ० गंगानाथ झा सच्चे उपाध्याय हैं। मीमांसा, न्याय और वेदान्त पर डॉ० झा की कृतियों की सहायता के बिना मैं अपनी रचनाएँ नहीं कर सकता था। इसी प्रकार सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी डॉ० झा की विद्वत्ता का लोहा माना और कृतज्ञता प्रकट की है इन शब्दों में कि, "डॉ० झा का जितना आदर मैं करता हूँ उससे अधिक कोई दूसरा नहीं, और न मुझसे अधिक अन्य कोई उनके लेखों के लिए, जिनसे मैंने बहुत-कुछ सीखा, कृतज्ञ हैं।"

संस्कृत-साहित्य के साथ-साथ पाश्चात्य साहित्य का गम्भीर ज्ञान होते हुए भी डॉ० गंगानाथ झा तथा महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ इन दोनों उद्भट विद्वानों ने भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का परिपालन किया है।

डॉ० गंगानाथ झा सच्चे अर्थ में 'ब्राह्मण' थे। उन्होंने ज्ञान का असीम उपार्जन किया, एवं उसका सात्त्विक दान सैकड़ों शिष्यों को दोनों हाथों से दिया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वे प्रथम निर्वाचित उप-कुलपति थे। ९ वर्ष तक इस दायित्वपूर्ण पद पर रहकर कुशलतापूर्वक अपने कर्तव्य का उन्होंने पालन किया था। आज तो यह पद जैसे कंटकाकीर्ण हो गया है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध आज वैसा कहीं देखने में नहीं आता। यह राष्ट्र के लिए दुर्भाग्य की बात है।

पं० गंगानाथ झा अपने पुत्रों को विश्वविद्यालय की जहाँ उच्चतम शिक्षा दिलाई, वहाँ अपने परम्परा-प्राप्त संस्कारों का ज्ञानपूर्वक 'दायाद' प्रदान किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अबोहर (पंजाब)-अधिवेशन के अवसर पर उसके मनोनीत सभापति डॉ० अमरनाथ झा का परिचय देते हुए राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने कहा था कि, 'विद्वत्ता तो इनकी पैतृक सम्पत्ति है'। स्व० अमरनाथ झा का विद्वत्समाज में एवं साहित्य-जगत् में एक ऊँचा स्थान था। अंग्रेजी साहित्य के उत्कृष्ट विद्वान् होते हुए भी डॉ० अमरनाथ झा संस्कृत, हिन्दी और उर्दू साहित्य के भी अच्छे मर्मज्ञ थे।

श्री आदित्यनाथ झा ने अपने पूज्य पिता से वैसी ही ज्ञान-सम्पदा प्राप्त की, जैसी कि उनके अग्रज ने की थी। सरकारी उच्च अधिकारियों का हाकिनामा रंग-ढंग देखकर प्रायः ऐसा मत बना लिया गया है, जो कुछ हद तक सही भी है, कि संस्कृत-साहित्य एवं भारतीय संस्कृति से ये लोग बहुत दूर रहते हैं। कुछ हद तक ऐसा मत बना लेने के पक्ष में एक प्रसंग याद आ रहा है। जब राष्ट्रपति-भवन में प्राचीन मूर्तियों और चित्रों का कई वर्ष पहले प्रदर्शन हुआ था, तब वहाँ के उद्‌घाटन-समारोह से लौटने पर हमारे स्व० मित्र श्री एन० सी० मेहता ने एक बड़ी मज़ेदार बात सुनाई थी। कहने लगे, "शकुन्तला के पत्र-लेखन का चित्र देखकर हमारी 'बिरादरी' के एक आई० सी० एस० बन्धु ने दूसरे आई० सी० एस० बन्धु से अपने ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय देते हुए बताया कि, 'क्या ही बढ़िया पेन्टिंग है यह! तुलसीदास ने इस पर बड़ा सुन्दर काव्य लिखा है।' मैंने उनका हाथ दबाते हुए, कान में कहा कि, क्यों ऐसी मूर्खता की बात कहते हो? कालिदास के प्रसिद्ध 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक के आधार पर यह सुन्दर चित्र बनाया गया है।'

श्री आदित्यनाथ झा पहले भारतीय परम्परा के संस्कार-सम्पन्न पंडित हैं, और बाद में संयोगवश एक उच्च अधिकारी हैं। 'स्वधर्म' उनका अध्ययन और अध्यापन है, जिसे वे कभी भूलते नहीं। उनके सामने अपने पूज्य पिता के समय का सारा इतिहास है, और उसी काल के छोटे-मोटे अनेक चिरस्मरणीय प्रसंग भी, जिनको वे श्रद्धा और गर्व के साथ सुनाया करते हैं।

उस दिन एक समारोह के अवसर पर मुझसे बन्धुवर आदित्यनाथ झा ने कहा था कि, "अवकाश ग्रहण करने के बाद मैं किसी महाविद्यालय में या अपने घर पर ही अध्यापन का कार्य करूँगा, ताकि पितृ-ऋण को जीवन के सन्ध्याकाल में कुछ तो चुका सकूँ।" यह बड़ी बात है कि वे अपने स्वधर्म को, स्वकर्तव्य को भूले नहीं हैं। यही वह बात है कि जिससे भारत अपनी भारतीयता का अस्तित्व अक्षुण्ण रख सकेगा। इसी बात की तरफ महाकवि इकबाल ने इशारा किया था कि,

'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।'

卐

प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के साथ (१९४९-५०)

सर्वांगीण व्यक्तित्व

श्री अक्षयकुमार जैन

हमारे देश में हिमालय पर्वत ही नहीं हिमालय जैसे ऊँचे महापुरुष भी हुए। विशेषकर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी बड़ी भाग्यशाली रही, जब हर क्षेत्र में महापुरुषों का जन्म इन शताब्दियों में हुआ। एक ओर देश पर विदेशी शासन था और यहाँ के कुशाग्र-बुद्धि युवकों को अपनी योग्यता दिखाने का पूरा अवसर प्राप्त नहीं होता था तो दूसरी ओर बिना अवसर प्राप्त किये भी जिस क्षेत्र में उन्हें अवसर मिला अपनी योग्यता दिखाई। व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे परिवार भी हैं जो अपनी योग्यता और विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं, उनमें से एक परिवार है स्वनामधन्य स्वर्गीय डॉ० गंगानाथ झा का। शिक्षा, विद्वत्ता और प्रशासन दक्षता में यह परिवार अग्रणी रहा है। इसी परिवार के वपु, वेष, वैभव और विद्या में निष्णात डॉ० आदित्यनाथ झा हैं जिनसे मेरी पहली भेंट उस समय हुई जब वे भारत सरकार के सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय में सचिव बन कर दिल्ली आये थे। उनके परिवार के सम्बन्ध में तो मैं ही क्या कौन ऐसा भारतीय होगा जो जानता न हो।

१९६५ में भारत-पाकिस्तान संघर्ष हुआ और समाचार-पत्रों पर विशेष दायित्व आ गया। भारत का कोई सम्पादक ऐसा नहीं जो देशभक्त न हो, किन्तु अज्ञान और असावधानी में कभी ऐसा हो सकता है कि अप्रामाणिक समाचार-पत्र में चला जाय, जिसका प्रभाव गलत पड़ जाय और जो देशहित में न हो। उन दिनों इन पंक्तियों का लेखक अखिल भारतीय समाचार-पत्र सम्पादक सम्मेलन का अध्यक्ष था और उस सिलसिले में झा साहब से प्रायः प्रतिदिन मिलना होता था। तब प्रथम बार झा साहब के मानवोचित गुणों का प्रभाव मुझ पर पड़ा। समाचार-पत्रों को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के वे पूरे हामी हैं। संकट-काल में भी किस प्रकार नियन्त्रण हो, यह सुझाव उन्होंने स्वयं अपनी ओर से कभी नहीं दिया बल्कि वरिष्ठ पत्रकारों से ही राय माँगी और वैसा ही किया। बड़े सरकारी अफसर के रूप में उनका पांडित्य अभूतपूर्व बात है। संस्कृत के वे प्रकांड पंडित हैं, साथ ही अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू के भी बड़े विद्वान् हैं। एक ओर जहाँ उन्होंने ब्राह्मणों के परम्परागत सत संस्कार पाये हैं वहाँ उनमें आधुनिकता का सामंजस्य भी ऐसा है कि

आश्चर्य होता है। शरीर से स्थूल होते हुए भी कार्य करने की फुरती उनमें है और निर्णय करने में उन्हें देर नहीं लगती।

प्रशासनिक क्षेत्र में उन्होंने कीर्तमान स्थापित किया है। जहाँ भी रहे और जिस विभाग का दायित्व उन्हें सौंपा गया झा साहब ने पूरी योग्यता और लगन से उसे सम्भाला। आजकल वे दिल्ली के उप-राज्यपाल के पद पर आसीन हैं और दिल्ली को भारत की सुन्दरमयी राजधानी बनाने के लिए कृत-संकल्प हैं। उनकी यह धारणा है कि दिल्ली आदर्श नगरी बने। इसीलिए हमें आशा और विश्वास है कि वैसा होकर रहेगा।

राजधानी में शायद ही कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम होता हो जिसे उनका स्नेह और आशीर्वाद प्राप्त न हो। शिक्षाविद् और शिक्षा शास्त्री होने के कारण शिक्षा संस्थाओं से तो उनका निकट का सम्बन्ध है ही रंगमंच, सांस्कृतिक और धार्मिक आयोजन भी उनके सत्परामर्श से सफल होते हैं। अभी पिछले दिनों गालिब शताब्दी के समय गालिब पर उनके विचार सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। उससे पता चला कि उर्दू काव्य के तो वे विद्वान् हैं ही अन्य सम-सामयिक साहित्य के भी वे मर्मज्ञ हैं। ऐसे विद्वान् मनीषा और कुशल प्रशासक चिरकाल तक रहें, यही मेरी कामना है।
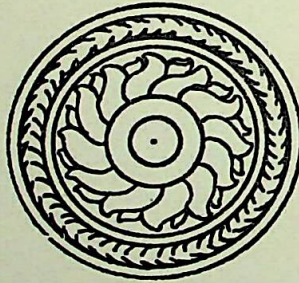
पंडित आदित्यनाथ झा

श्री नरेन्द्र शर्मा

पंडित आदित्यनाथ झा हमारे देश के पद-प्रतिष्ठा-प्राप्त उन विशिष्ट उच्चाधिकारियों में से हैं, जिन्होंने अपने सहज गुण-सम्पन्न व्यक्तित्व पर पद-प्रतिष्ठा और उच्चाधिकारी की बड़ी उपलब्धियों को कभी हावी नहीं होने दिया। उनका व्यक्तित्त्व पद-प्रतिष्ठा से गुरुतर और ऊँचे अधिकारों से अधिक और ऊपर उठा हुआ रहा है। उनके विद्यार्थी-काल में भी मैंने उनके व्यक्तित्त्व को इसी रूप में देखा था।

आज से पैंतीस-छत्तीस वर्ष पहले की बात है। तब मैं प्रयाग विश्वद्यालय में पढ़ता था। विश्वविद्यालय का वातावरण विद्या और विनय, प्रतिभा और सहृदयता, अभ्यास और अवधान, स्वतन्त्र चेतना और व्यवस्था से सौम्य, सरस, सम्पन्न और समुज्ज्वल था। शिवस्वरूप इसके केन्द्र थे महामहोपाध्याय पंडित गंगानाथ झा।

प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर पंडित गंगानाथ झा जैसे विद्या-वारिधि, वैसे ही निष्कलंक चारित्र्य के सूर्य थे। उनके स्वभाव में सौम्यता थी और दृढ़ता भी। मेरे छात्र चाहे जैसा और चाहे जितना उत्पात कर बैठें, किन्तु पुलिस मेरे विश्वविद्यालय में पाँव नहीं दे सकती, अपने इस सिद्धान्त को उन्होंने कठिन परिस्थिति में भी चरितार्थ कर दिखाया था। छात्र और प्राध्यापक शायद ही कोई ऐसा रहा हो, जो बड़े पंडितजी के प्रति श्रद्धावान न रहा हो। उनके सुपुत्र और यशस्वी सहृदय विद्वान पंडित अमरनाथ झा स्वयं अपनी योग्यता और स्वतन्त्र सत्ता से विश्वविद्यालय के प्रधान स्तम्भों में से थे। अनन्तर वह विश्विद्यालय के वाइस चांसलर भी बने। पंडित आदित्यनाथ झा महामहोपाध्याय पंडित गंगानाथ झा के पुत्र और पंडित अमरनाथ झा के अनुज हैं। किन्तु विद्यार्थी-जीवन में मैंने कभी इस हैसियत से उन्हें बड़े बनते हुए नहीं देखा। वह अपने विद्याबल, अपने परिश्रम और प्रतिभा-धन से सदा प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी रहे और अपनी मिलनसारी अपनी हँसमुख सौम्यता, अपने व्यक्तित्त्व के कारण मित्रों के स्नेहभाजन बने।

पंडित आदित्यनाथ झा का व्यक्तित्त्व निश्चय ही सहज गुण-सम्पन्न रहा कि दो विशाल वट-वृक्ष की छाया में पल कर भी वह इतने बढ़ सके। या यों कहना चाहिए कि पंडित आदित्यनाथ झा का व्यक्तित्त्व अपनी वंश-परम्परा की प्रतिभा और पुन्याई का ही फल है।

प्रयाग विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों और प्राध्यापकों के पारस्परिक सम्बन्ध आदर और स्नेह का समन्वय सिद्ध करते थे। संयोग की ही बात है कि स्वर्गीय श्री भवानी शंकर, जो मेरे शिक्षक भी थे और आदरणीय मित्र भी, एक ऐसी सुहृद-मंडली के केन्द्र बने, जिसमें पंडित आदित्यनाथ झा भी सम्मिलित होते थे। पंडित आदित्यनाथ झा के सहपाठी और मित्र श्री रवीन्द्रनाथ देव से भी मेरी मित्रता हुई, जो मेरे सौभाग्य से अक्षुण्ण रही है। मैं इस मित्र-मण्डली में सबसे छोटा था, कद में भी उम्र में भी। कद में छोटा होना जिस्म तक ही सीमित न था। छोटा मैं केवल उम्र में ही न था। लेकिन छोटा होते हुए भी, मैं वाचाल कम न था। उदीयमान कवि तो मैं बन ही गया था।

इंदौर में आयोजित साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन से लौटा, तो लगा मैं इन्दौर के और इन्दौर की सुन्दरियों का कवि-सुलभ वर्णन करने। मालवा मुझे यों भी बहुत अच्छा लगता है। फिर "शबे मालवा" की कल्पना ने मालवा को और भी मधुर बना दिया था और इन्दौर नगरी तो मालवा की इन्द्रपुरी ही ठहरी। प्राचीन काल में मालवा के सौन्दर्य का वर्णन कविकुलगुरु कालिदास ने कितनी रुचि लेकर किया था। फक्कड़ कवि कबीर ने भी कहा था, "देश मालवा गहन गम्भीर, पग-पग रोटी डग-डग नीर।"

ऐसे मालवा की नगीना जैसी नगरी में भ्रमण करके मैं लौटा था। वहाँ के राज-परिवार के भी दूर से दर्शन कर चुका था, बस मैंने यह दावा किया कि इन्दौर की सन्नारियाँ बहुत ही सुन्दर होती हैं। मेरी बातें सुनकर, मुझसे बड़े और ज्यादा समझदार मित्र मन ही मन मुस्कराते थे। लेकिन मेरी वाग्धारा में उन्होंने रोड़ा कभी न अटकाया था। एका-एक सब मित्र गम्भीर मुद्रा बना कर बोले—"भई, ठीक ही कहा था तुमने। श्रीमती अमुक, जो इन्दौर की हैं, उनसे मिलकर हमने तुम्हारी बात को ठीक समझा।" मेरी बात बड़ों के बीच प्रामाणिक मानी गई, इससे मुझे गर्व हुआ। मैं मन ही मन फूला न समाया बस उपयुक्त अवसर जानकर, मेरे सामने मन-मोदक परोसे गये, यानी न्योता दिया गया कि आगामी शनिवार को श्री और श्रीमती अमुक के स्वागत में दावत दी जाएगी, मैं आना न भूलूँ।

यहाँ मैं यह कह दूँ कि उन दिनों मैं भुलक्कड़ इतना था कि दावत का दिन मैं अक्सर भूल ही जाता था। इसलिए लगातार तीन दिन तक मुझे ठोक-बजाकर ठीक किया गया कि मैं ऐन वक्त पर बेताला न हो जाऊँ।

दावत का दिन आया। मित्र-मण्डली श्री भवानी शंकर के घर पर जमा थी। मैं भी साफ-सुथरे कपड़े पहन कर उपस्थित हुआ। जिनकी सबको उत्कण्ठा थी, वह श्रीमतीजी आनेवाली ही थीं जब उनकी गाड़ी नीचे आई, मुझे प्रबन्ध की देख-रेख के लिए अन्दर भेज दिया गया। मैं वापस आया, तो इन्दौर की सुन्दरी श्रीमतीजी से मेरा परिचय कराया गया। मेरी सिट्टी गुम, किसी भद्र महिला को कैसे कुरूप कहूँ। लेकिन बेडौल

कुरूपता की भी एक हद होती है। और ऊपर से आवाज़ ऐसी जैसे महिषि मठारे। परिचय को प्रगित देते हुए श्री भवानीशंकर ने कहा—"श्रीमती जी, नरेन्द्र आपके शहर के बड़े प्रशंसक हैं। यह कवि हैं, इसलिए आपके शहर की सुन्दरता का वर्णन बड़ी ही तन्मयता के साथ करते हैं।" श्रीमती जी ने गद्गद होकर अपनी भारी आवाज़ में मानो रँभाते हुए कहा—"ऐसा!"

कहना न होगा कि मैं कई दिनों तक वाचाल से मूक बन गया था। वर्षों के बाद बात आई-गई हुई। लेकिन नहीं, तीन वर्ष पहले की बात है कि इलाहाबाद में संयोगवश मैं एक ऐसी दावत में सपत्नीक उपस्थित था, जिसमें पंडित आदित्यनाथ झा मुख्य अतिथि के रूप में सपत्नीक अभ्यागत थे। मेरी पत्नी को उन्होंने मेरे कुमार-काल की वह कहानी सुनाई। तीस साल पहले की कहानी और तीस साल पहले का ही उनका मुक्त हास; वह ठहाका प्रयाग में बिताए सुख के दिनों को पुनर्जीवित कर गया।

पंडित आदित्यनाथ झा जॉर्ज टाउन में अपने घर से यूनिवर्सिटी तक पैदल ही आते-जाते थे। ऊँचे-तगड़े, हँसमुख, स्वस्थ युवा। पोशाक साहबी, बूट-सूट-फेल्ट हेट और कभी-कभी मुँह में पाईप। वेष-भूषा में वह अपने पूज्य पिता जी से विपरीत ध्रुव पर स्थित थे। किन्तु पांडित्य की धुरी दोनों ध्रुवों को जोड़ती थी। वात्सल्य-श्रद्धा की धुरी की बात करना आवश्यक है।

भारतीय दर्शन पर पंडित आदित्यनाथ झा ने संस्कृत में छोटे-छोटे व्याख्यान किये थे। हिन्दी में उनका अनुवाद भी साथ ही उपलब्ध है। मैंने वह पुस्तिका देखी। आनन्द तो हुआ ही, यह इच्छा भी बलवती हुई कि पंडित आदित्यनाथ झा भारतीय विद्या को उजागर करने में अपनी शक्ति और समय का उपयोग कर पायें तो कितना अच्छा हो। भारतीय विद्या और पाश्चात्य अभिव्यक्ति का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। पंडित आदित्यनाथ झा का हृदय विशाल, बुद्धि कुशाग्र और स्वाभाव मानवीय है। वर्तमान युग में ऐसे पांडित्य की बड़ी आवश्यकता है जो अनुचान भी हो और सहज संवेदनशील भी, जिसमें आभिजात्य भी हो और समीचीनता भी। पंडित आदित्यनाथ झा का व्यक्तित्व और पांडित्य हमारे युग की आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है। प्रयाग विश्वविद्यालय में वह फ्राइडे क्लब में प्रमुख सदस्यों में से थे। क्या ही अच्छा हो कि दिल्ली के उपराज्यपाल ऐसी संस्थाओं के निर्माण के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन के केन्द्र बनें।

卐

मीठे अँगूर

श्री शिवसागर मिश्र

चौदह नम्बर अकबर रोड।

लगा, जैसे समय से पहले पहुँच गया हूँ। घड़ी देखी। मन का भ्रम दूर हुआ। उल्टे, पाँच मिनट देर से पहुँचा था। ड्राइंग-रूम में लाकर बिठा देने वाला आदमी किसी दरवाजे से (वहाँ कई दरवाजे थे) भीतर जाकर अन्तर्धान हो चुका था। सभी दरवाजों पर पुष्ट पर्दे झूल रहे थे। भीतर की एक कोठरी के दरवाजे की ओर पीठ किए मैं वहीं रखे सोफा पर बैठकर मध्यवर्गीय परिवार के संस्कार के वशीभूत हो ड्राइंग-रूम की हर चीज की कीमत का अन्दाजा लेने लगा।

सामने मोरनुमा दीवान पर रेशम का भड़कीला गद्दा लगा हुआ था। कुर्सियाँ और सोफे सामान्य से कुछ अच्छे, किन्तु पुराने थे। मूल्य का अन्दाजा लगा कर दूसरे भ्रम का भी निवारण कर लिया। मकान में रहने वाले की रुचि परिष्कृत थी और फिजूलखर्ची या दिखावे का वहाँ आभास तक न था। नई दिल्ली के बड़े बंगलों के ड्राइंग-रूम में पुस्तकें नहीं होतीं। आलमारियाँ और रैकों में तरह-तरह के देशी-विदेशी खिलौने शोभायमान होते हैं। किन्तु, यहाँ तो चारों ओर किताबें ही किताबें अंटी पड़ी थीं। आश्चर्य की बात कि पिछड़े लोगों की भाषा—'हिन्दी' की पुस्तकें भी काफी संख्या में दिखाई दे रही थीं। सोचता रहा, मकान में रहने वाला क्या हम लोगों जैसा ही कोई सामाजिक प्राणी है?

कुछ देर में एक हृष्ट-पुष्ट किशोर आकर कह गया—"अभी आते हैं। आफिस में थोड़ी देर हो गई थी।" मैंने अनुमान लगाया, शायद यह किशोर श्रीमान का पुत्र हो।

मेरे साथ एक इंजीनियर भी था; टेप चलाकर सुनाने की दो मशीनें भी थीं। इंजीनियर ने ड्राइंग-रूम में घुसते ही पावर-प्लग लगाने का स्थल ढूंढ़ लिया था। सो उसने प्लग-वगैरह लगाने के बाद टेप चलाकर जांच-पड़ताल कर ली थी, और आश्वस्त होकर एक कुर्सी पर दुबक कर बैठ गया था। आफिसर का घर ठहरा—वह भी मंत्रालय के सचिव का। दुबक कर बैठना अनुशासित होने की निशानी है।

अफसरशाही से मुझे आरम्भ से ही वितृष्णा रही है। राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों प्रशासनिक यन्त्र की जो तसवीर मन पर अंकित हो गई, सो दिन-प्रतिदिन के संसर्ग और सम्पर्क के फ्रेम में कसकर स्थायी ही होती गई, फीकी नहीं पड़ी। इस धारणा का धरा-

तल मेरे मन का पूर्वाग्रह या 'खट्टे अंगूर' की झेंप नहीं है। यह धारणा सर्वमान्य सत्य से उद्भुत है कि अफसरशाही आज के युग पर सर्वोपरि सत्ता के रूप में विराजमान है। यह सत्ता गरीब देश की राजनीतिक (विशुद्ध) चेतना के ऊपर लम्ब रूप से मात्र अस्तित्वमय तो है ही, मानवीय उद्वेगों से भी अछूती है। आज के विजातीय युग में जाति-विशेष और संस्कार-विशेष का परिचायक यह वर्ग अपने अहं की चोटी से खड़ा होकर नीचे की हर चीज को नीची नज़र से देखता है।

जिन अफसर महोदय के घर में मैं उस समय बैठा था, उनके बारे में थोड़ा-बहुत जानता था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का स्नातक होने के नाते मैं उनके अग्रज से परिचित था। उनके पिता भारत-विख्यात ही नहीं, विश्व-विख्यात मनीषी के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। इसलिए, मन का सद्भाव समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाने की ओर प्रवृत्त कर रहा था। किन्तु, उस दिन की मेरी मनःस्थिति किंचित् प्रतिकूल थी।

भारत के एक महान व्यक्तित्व पर रूपक लिखने और उसे प्रसारित करने का हुक्म मिला था। रूपक के आलेख में बहुत से संशोधन-परिवर्तन का सुझाव भी ऊपर से ही आया था। जानिए कि सरकारी विभाग में ऊपर के सुझाव का अर्थ आदेश से भी कुछ अधिक ही होता है। मैं दुःख से तिलमिला उठा था। कोई भी सृजनशील, चेतन और स्वाभिमानी साहित्यकार सृजनात्मक कार्य में अन्धी प्रशासनिक प्रवृत्ति के हस्तक्षेप पर तिलमिला उठता। किन्तु, मेरे आलेख में किए गए सभी संशोधन और परिवर्तन, मेरे विरोध के बाद, वापस ले लिए गए थे। मेरा अनुमान है कि जिन अफसर महोदय के यहाँ मैं रूपक का टेप सुनाने गया था, उन्हीं के साहित्य-प्रेम और न्यायप्रियता के कारण ऐसा सम्भव हो सका था। इसलिए अफसरशाही के प्रति वितृष्णा के बावजूद मन में श्रद्धा के अंकुर भी फूट रहे थे।

अधिक देर तक द्विधाग्रस्त नहीं रहना पड़ा। पीठ पीछे के दरवाजे से अति विनम्र स्वर गूँज उठा—"नमस्कार।"

उठकर देखा विशालकाय, किन्तु सहज स्नेह और स्निग्धता से आप्लावित व्यक्तित्व। भरे-पूरे क्षमाशील चेहरे पर मुस्कराते-हँसते होंठों के भीतर दाँतों तले दबा पाइप। अफसर जैसा कहीं कुछ नहीं। भ्रम, वितृष्णा और हीन-भाव का अन्धकार उनके आगमन के चमत्कार से ही छँट गया। भेद अभेद में बदल गया। यही थे हमारे मंत्रालय के सचिव—नहीं, विद्याभूषण, पंडित शिरोमणि डॉ० आदित्यनाथ 'झा'। मेरा भ्रम चकनाचूर होता जा रहा था। उनके नमस्कार का जवाब हम लोगों ने दिया भी नहीं था कि वे बोले—"माफ कीजिएगा, थोड़ी देर हो गई। शुरू कीजिए।" और वे दीवान पर आराम से बैठ गए। टेप चलने लगा। लगभग ५० मिनट तक लगातार ध्यानस्थ होकर वे रूपक का टेप सुनते रहे। समाप्त होने पर बोले—"बहुत अच्छा है।"

कोई शिकायत नहीं, कोई सुझाव नहीं। मैंने सोचा, कहीं मेरा मन रखने को तो यह रुख नहीं अपनाया गया है ? लेकिन नहीं। उनकी आँखों और होंठों की सहज सरलता सिद्ध कर रही थी कि जो उनके दिल में है वही उनकी ज़बान पर। अफसरशाही की बू तक नहीं थी वहाँ। अतिशयोक्ति नहीं होगी, यदि कहूँ कि पण्डित झा के हाव-भाव और कथन में मुझे इतना वात्सल्य मिला जितने कि शायद मैंने कल्पना भी नहीं की थी। इस घटना के बाद तो मुझे कई बार पण्डित आदित्यनाथ झा के सान्निध्य में बैठने और उनसे बातें करने का स्वर्ण अवसर मिला और हर बार मैंने महसूस किया कि मैं कुछ अधिक आयु और बल लेकर उनके पास से लौटता हूँ।

परेशानी हुई या समस्या आई, सीधे 'झा साहब' को फोन किया। बीच के अफ-सरों से क्यों मिलें, जब सर्वोच्च अधिकारी सहज ही उपलब्ध हैं ? हम सस्ते लोगों ने उस महान को भी सस्ता बना दिया। वे भी कैसे ? तुरन्त उसी वात्सल्यपूर्ण स्वर में उत्तर देते—'कल अमुक समय पर आइए।' और कल होकर मैं उनके पास बैठा होता। बहुत से दुःख तो उन्हें सुनाने मात्र से दूर हो जाते। मन हलका हो जाता। अच्छा था, वे अकबर रोड पर मुक्त थे—उपलब्ध थे। अब तो उप-राज्यपाल होने के बाद सरकारी शिष्टाचार आदि की प्रणालियों ने उन्हें (सम्पर्क की दृष्टि से) हमसे दूर कर दिया है। बेशक, अनु-भूति स्वार्थ की है। लेकिन, स्वार्थी कौन नहीं है ?

आधुनिक युग के बड़े-बड़े नेता-पुरोधा के सम्पर्क में आने का मुझे मौका मिला है। श्रद्धा, आदर और संकोच के साथ-साथ लघुता की सिहरन भी महसूस की है। किन्तु मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि अब तक के जीवन में ऐसे दो व्यक्ति ही मिले जिनके निकट जाकर मैं सचमुच ही निर्णय या निस्संकोच हो पाया हूं। एक थे डा० राजेन्द्रप्रसाद और दूसरे हैं डा० आदित्यनाथ झा। मेरे विचार में महान् वह है जो पास आने वाले को सहज बना दे—सामने बैठे व्यक्ति के मन से दूरी या लघुता-महानता का तुलनात्मक बोध मिटा दे। झा जी का व्यक्तित्व ऐसा ही है।

भारत में संस्कृति और राजनीति की धाराएँ समानान्तर होकर बहती चली आई थीं—स्वाधीनता-प्राप्ति के कुछ वर्षों बाद तक। यहाँ कभी भी राजनीतिक सत्ता ने सांस्कृतिक धारा पर हावी होने का प्रयत्न नहीं किया। यहाँ के ईसामसीह को कभी सूली पर नहीं चढ़ाया गया। यहाँ के बिम्बसार और प्रसेनजित गौतमबुद्ध के आश्रम में जाते रहे हैं। संस्कृति और राजनीति के सहअस्तित्व की यह परम्परा भारत की अपनी विशेषता है, जो दुर्भाग्यवश पिछले चन्द वर्षों से धूमिल-सी होती जा रही है। पण्डित आदित्यनाथ झा जैसे मनीषियों का ही एकमात्र भरोसा है कि वह परम्परा फिर से जीवित हो उठे।

आम धारणा है कि अफसरशाही का संस्कार आदमी को भी फाइल समझता है—शंका को प्रशासन का पाथेय मानता है। इस संस्कार के अन्तर्गत आदमी को कानून और

नियम के लिए है, कानून और नियम आदमी के लिए नहीं हैं। किन्तु जो लोग श्री आदित्य नाथ झा को जानते हैं उनकी धारणा कुछ और है। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जब 'झा साहब' ने कानून को नज़रअन्दाज़ कर केवल आदमी को देखा। उनकी इस उदारता का यह आशय न निकाला जाय कि वे लोगों को खुश करने के विचार से नियम-कानून का उल्लंघन किया करते हैं। ऐसा उन्होंने कभी नहीं किया। वे तो लोगों के सत्य, शुद्धता, आवश्यकता और हित में विश्वास करते हैं। इसीलिए व्यक्ति या उसके गुणों के अनुरूप निर्णय लेने में उन्हें पल-भर भी विलम्ब नहीं होता।

शायद ही कोई प्रशासन का मारा व्यक्ति मिले जो झा जी के पास से निराश लौटा हो। इस सिलसिले में एक घटना याद हो आई है। एक बार स्वर्गीय रफी अहमद किदवई के पास एक व्यक्ति रोता-गिड़गिड़ाता हुआ आया। कहने लगा, 'मुझे अपनी लड़की की शादी करनी है, लेकिन पास में एक फूटी कौड़ी भी नहीं है।' रफी साहब ऐसे मौके पर स्वभाववश पिघल जाते थे। उन्होंने पूछा, 'कितने पैसे चाहिए ?' वह व्यक्ति बोला, 'तीन हजार रुपये से काम चल जाएगा।' रफी साहब ने तत्काल तीन हजार रुपये का चैक काट कर दे दिया। पास में ही हिन्दी के एक मूर्द्धन्य साहित्यकार—जो उनके अभिन्न मित्र और सहकर्मी भी थे, उस व्यक्ति के जाने के बाद बोले—'यह तुमने क्या बेवकूफी की ? उस आदमी की तो शादी भी नहीं हुई है, लड़की कहाँ से आएगी ?' रफी साहब बोले, 'तुम भी अजीब आदमी हो। मैं क्या इस बात को नहीं जानता हूँ ? अरे वह किसी बड़ी मुसीबत में होगा, तभी तो इतना बड़ा झूठ बोलने आया था ?'

लोग कहते हैं कि काम निकालने वालों ने डा० आदित्यनाथ झा की क्षमाशीलता, उदारता और करुणा का भी इसी प्रकार फायदा उठाया है। हो सकता है, उठाया हो। लेकिन, यह आशंका आदित्यनाथ झा की महानता को ही सिद्ध करती है। जान-बूझकर जो ठगा जाय, वह या तो सन्त है या शिशु। झा जी दोनों ही हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है—'महापुरुष जन्मसिद्ध शिशु होता है। जब वह मरता है, तब अपना शिशुत्व संसार को प्रदान कर जाता है।'

पण्डित आदित्यनाथ झा, अपने जीवन-काल में ही, मेरे जैसे न जाने कितने अहंकारी, भ्रमित व्यक्ति को सहजता, निश्छलता और निरहंकार के मन्त्र से अभिषिक्त कर शिशुत्व प्रदान करते जा रहे हैं।

卐

स्मृतियों के स्मरण से मन में ताज़गी आ गई है

श्री रामप्रताप मिश्र

यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि किसी भी व्यक्ति को जितने समीप से उसकी पत्नी जान सकती है, उतना और कोई नहीं। मुझे लगा कि डा० झा को देखा-सुना तो बहुत है पर उसके अधिक निकट और अति निकट तक पहुँचने के लिए श्रीमती आद्या झा से उपयुक्त और कौन हो सकता है। विचार आते ही दूरभाष का सहारा लिया तो उत्तर मिला, 'इतने निकट से देख रहे हो, साथ में उठते-बैठते हो फिर भी कुछ जानना शेष रह गया है? यदि ऐसा समझते हो तो कल शाम को छः बजे आ जाओ, जो कुछ पूछोगे बताऊँगी।'

शाम के छः बजे पहुँचा तो पता चला कि आपकी प्रतीक्षा हो रही है, सीधा अन्दर की बैठक में चला गया। देखते ही लगा किसी अधिकारी का घर नहीं, यह तो एक भारतीय संस्कृति के पुजारी और उसके अनुयायी के घर की बैठक है। एक भी चिह्न पाश्चात्य नहीं दिखा। सामने लगे चित्र की ओर देख ही रहा था कि श्रीमती झा ने मुस्कराते हुए प्रवेश किया—प्रणाम करने के लिए उठा तो कहने लगीं बैठिए, यह तो पता है आज कुछ पूछने के विचार से आए हो, पर इसके लिए कागज-पेंसिल की क्या आवश्यकता? वैसे ही जो कुछ पूछोगे बता दूँगी बाद में लिख लेना। मेरे मन में बहुत दिनों से जिस बात ने एक जिज्ञासा का रूप धारण कर रखा था उसी को मैंने अपनी बातचीत का सिलसिला आरम्भ करने के लिए पहले चुना और उनके बैठते ही पूछ बैठा—

इतने व्यस्त रहने पर भी झा साहब घर की तरफ कितना ध्यान दे पाते हैं? चाय की व्यवस्था करते-करते ही वे बोलीं—'वे कितने ही व्यस्त रहते हों, घर का ध्यान उनको बराबर बना रहता है, किसी न किसी तरह समय निकाल ही लेते हैं। झा साहब जहाँ कहीं भी रहे, कार्यालय का काम कार्यालय में ही निबटा देने की उनकी आदत रही है, घर पर फाइल लेकर शायद ही कभी आए हों। कार्यालय से आते ही टेनिस खेलने चले जाते है। आने पर परिवार के लोगों की पूछताछ के अलावा, नौकरों के परिवारों की भी पूछताछ करते हैं। उन्हें पता लग जाय कि कोई नौकर या उसके परिवार का कोई सदस्य बीमार है या और कुछ, तुरन्त उसके लिये उपचार का इन्तजाम कराते हैं। फिर परिवार एक प्रकार से संयुक्त ही रहा है, क्योंकि इनके बड़े भाई, बहन आदि सभी प्रायः हमारे

डॉ० आदित्यनाथ झा की धर्मपत्नी—सौभाग्यवती श्रीमती आद्या झा
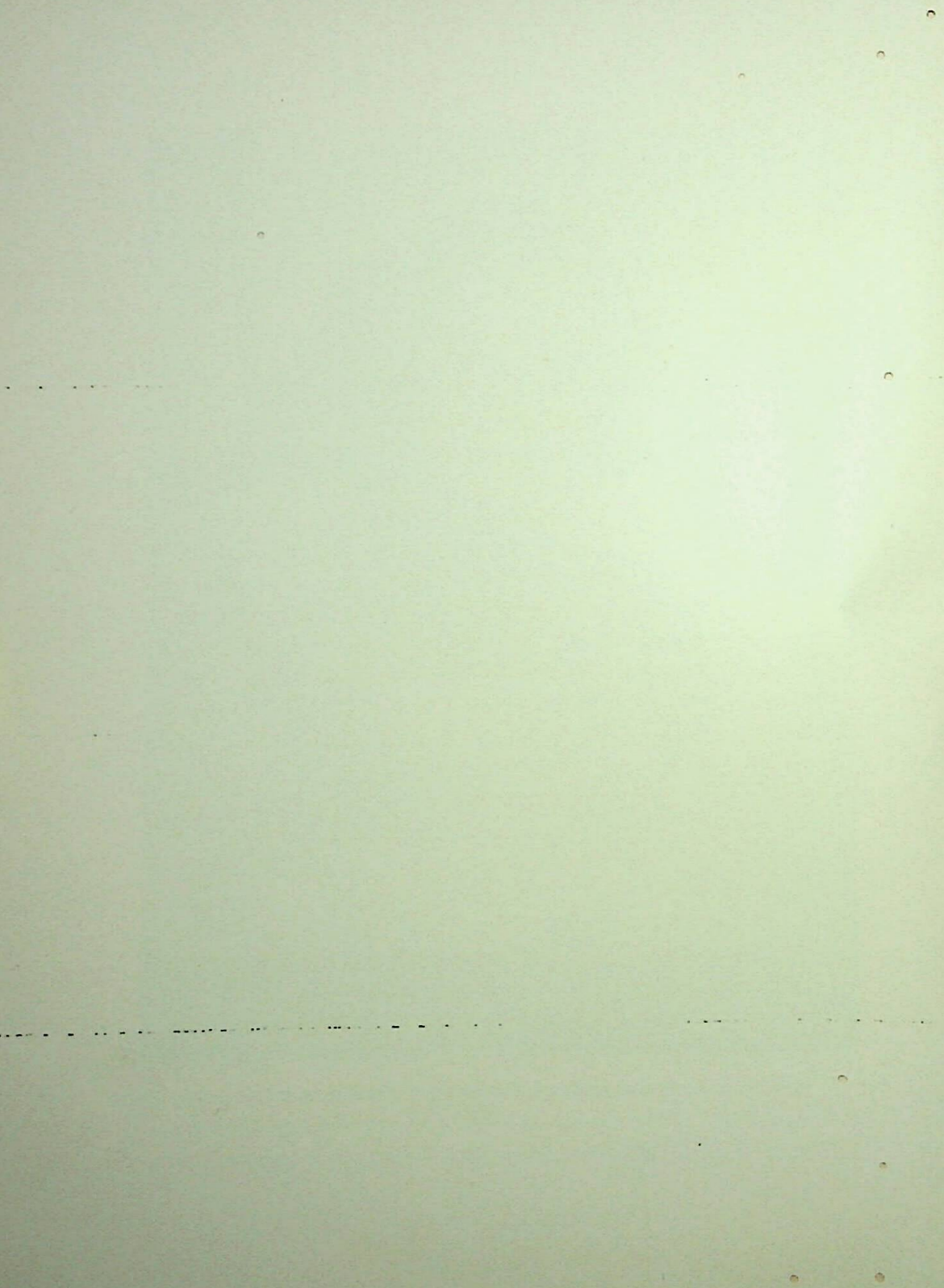
पास ही रहे हैं। उत्तरप्रदेश में चीफ सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त होने पर कार्यभार अधिक बढ़ गया, फिर भी वे समय से ही कार्यालय से उठ आते थे। बल्कि उन्होंने अपने सभी कार्यालयों को आदेश दिया कि ५ बजे बाद कोई क्लर्क या अन्य कर्मचारी कार्यालय में न बैठे। इस पर मंत्रिमण्डल के सदस्यों में बड़ी कानाफूसी हुई कि काम कैसे पूरा होगा? उस समय झा साहब ने बड़ी गम्भीरता से कहा था कि काम में कोई बाधा नहीं आएगी और उन्होंने यह कर भी दिखाया। मंत्रिमण्डल के सदस्य आश्चर्यचकित रह गए। झा साहब धुन के धनी हैं, जो एक बार निश्चय कर लेते हैं, उसे करके ही रहते हैं। उनके उच्चाधिकारी ही नहीं, विरोधी भी उनकी इस गम्भीरता और दृढ़ता की सराहना करते हैं।

चाय के साथ कुछ खाने का प्रसंग आते ही स्वाभाविक रूप से पूछ बैठा, 'झा साहब को भोजन कैसे और कौन से अधिक पसन्द हैं?'

'सभी चीजें, जो प्रेम और श्रद्धा से बनाई गई हों, मीठा, कचौड़ी, पूड़ी, पकवान— चाहे शाकाहारी हो या मांसाहारी। अचार और मीठा अधिक पसन्द है।'

झा-परिवार पाश्चात्य शिक्षा को अपनाकर भी पुरानी परम्परा का अनुयायी रहा है, बचपन में शादी और पर्दा-प्रथा भी रही है, इसी प्रसंग में अपने वैवाहिक जीवन के कुछ संस्मरण सुनाती हुई श्रीमती झा ने बताया कि—मेरा विवाह बचपन में ही हो गया था, किन्तु इतना बचपना भी नहीं था कि मैं कुछ समझती ही नहीं रही हूँ। मैं उस समय आठवीं कक्षा में पढ़ती थी। झा साहब मुझसे १२ साल बड़े हैं। मेरे पिता तथा श्वशुर दोनों धर्म-प्राण व्यक्ति थे। श्वशुर इतने विद्वान होते हुए भी, पर्दा-प्रथा के अनुयायी थे। मेरी सभी जेठानियाँ पर्दा करती थीं। उन दिनों हम लोगों के यहाँ लड़कियों को शिक्षा दिलाने में बड़ी कठिनाई थी। स्कूलों में शिक्षिकाओं के अभाव में बड़ी लड़कियों को स्कूल भेजना कोई सम्भ्रान्त परिवार उचित नहीं समझता था। पिताजी शहर में रहते थे, इसीलिए मैं इतना भी पढ़ सकी। शादी के बाद झा साहब इंग्लैण्ड चले गए तो श्वशुर जी ने मुझे आगे पढ़ने की अनुमति दे दी। घर में मैं ही पहली बहू थी जो पर्दे के बाहर आई। मेरे पर्दा न करने पर पहले तो बड़ी कानाफूसी हुई, स्वयं श्वशुरजी को यह बात अच्छी नहीं लगी, किन्तु उन्होंने किसी से कुछ कहा नहीं।। उससे मेरा साहस बढ़ा, मैं उनके तथा अपने जेठ के सामने आने-जाने लगी। मेरी देखादेखी जेठानियों ने भी धीरे-धीरे पर्दा करना बन्द कर दिया। इस प्रकार हमारे परिवार से पर्दा-प्रथा का अन्त हुआ। अब तो पर्दे की बात करना दकियानूसीपन समझा जाता है, किन्तु उस समय पर्दा उच्च-कुल की निशानी माना जाता था।

जीवन के कुछ कड़वे-मीठे अनुभवों में डूबती हुई श्रीमती झा ने बताया—डा० झा सिद्धान्तवादी से अधिक क्रियात्मक हैं। नौकरी में जब से आए हैं, हमारे घर पर कार्यालय का कोई आदमी काम के लिए नहीं लगाया गया। मैं अन्य अफसरों के यहाँ

सरकारी चपरासियों तथा अन्य कर्मचारियों को घर का काम करते देखती थी, उनसे छोटे-छोटे अफसर भी अधिक ठाठ से रहते थे और पैसा भी अधिक बचा लेते थे। कभी-कभी मुझे लगता कि इनसे भी कहा जाए, किन्तु हिम्मत नहीं हुई कहने की। फिर झा साहब के परिवार के लोग इन्हीं के पास रहने में अधिक सुख अनुभव करते थे। हमारे और जेठ आदि भी थे, पर उन लोगों के पास कम रिश्तेदार जाते थे। इससे, उन लोगों की सेवा में लगे रहने से छोटे-छोटे बच्चों की देखभाल करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। नौकर-चाकर भी अपनी आय के अनुसार सीमित ही रखने पड़ते थे। फिर भी बागबानी के लिए दो माली, रसोइया, अर्दली और घर का काम करने, सामान आदि लाने वाला एक नौकर और धोबी आदि को रखना ही पड़ता था। ऐसे में घर पर अन्धे जेठ की सेवा करना, बच्चों को देखना और फिर झा साहब के कार्यक्रम के अनुसार उनके साथ सामाजिक एवं अन्यान्य कामों में भाग लेना, बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इससे मैं कई बार बड़ी दुःखी होती थी और अपने मन में सोचती थी कि जब इनसे छोटे-छोटे अफसरों के घर कई-कई सरकारी नौकर काम करते हैं तो यह भी एक-दो आदमी क्यों नहीं रख लेते, जिससे कुछ तो काम हल्का हो जाय। किन्तु म्याऊँ का ठौर कौन पकड़े! जिस बात को यह उचित नहीं समझते, उसे कभी स्वीकार नहीं कराया जा सकता। इसी कारण उस समय और आज भी, कठिनाइयों से हँस कर निकलना मेरे स्वभाव का अंग-सा बन गया है। फिर अब तो बच्चे भी बड़े हो गए हैं, अपनी देखभाल खुद कर लेते हैं, बहू के आने से तो मुझे बहुत ही आराम मिल गया है।

जिस कमरे में मैं बैठा था उस कमरे में एक ओर वाद्ययन्त्र रखे हुए थे और दीवारों पर सुन्दर, सुरुचिपूर्ण चित्र टँगे थे, जो झा साहब के कलात्मक रुझान का परिचय दे रहे थे। मेरी दृष्टि का अनुसरण करते हुए श्रीमती झा ने मेरे मन के भाव को समझ लिया और स्वयं मेरी जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहा—संगीत में झा साहब की बहुत रुचि है। पहले तो स्वयं भी गाते थे, अब भी कभी-कभी गाते हैं, पर अब प्रायः गवैयों को बुलाकर ही सुनते हैं। बच्चों को भी संगीत की शिक्षा दिलवाई है, उनसे भी कभी-कभी गाना सुनते हैं, कभी तबले पर ताल और कभी वायलिन पर बच्चों को ताल-लय, स्वर का ज्ञान स्वयं भी देते रहते हैं। इनकी माताजी की भी संगीत में विशेष रुचि थी, इसलिए सभी भाई-बहिनों की संगीत में रुचि रही है। हमारा बड़ा लड़का बहुत अच्छा तबला बजाता है, छोटा वायलिन में अच्छी गति रखता है, लड़की को भी संगीत की शिक्षा दी जा रही है।

चित्रकला में उनकी विशेष रुचि है। अच्छे चित्रों को महँगे मूल्य पर भी लेना पड़े तो भी खरीद लेते हैं। कई बार ऐसा भी हुआ कि चित्र पसन्द आ गया, पर उतना पैसा पास में नहीं है। चित्र उधार ले आए और बाद में तुरन्त पैसा भिजवाया। यदि

इनके चित्र-संग्रह की प्रदर्शनी की जाए तो कुछ ऐसे दुर्लभ चित्र मिलेंगे जो शायद अन्यत्र न मिल सकें।

बच्चों की शिक्षा पर बात आई तो कहने लगीं—झा साहब बच्चों की शिक्षा में पूरी रुचि लेते हैं। बच्चों का यथासमय अपना विचार और पढ़ाई के सम्बन्ध में मदद भी देते रहते हैं। यहाँ तक कि किसी-किसी समय तो अध्यापक का काम भी कर लेते हैं।

झा साहब मैथिल हैं, पर मैथिली के अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी के भी साधक हैं। उनकी मातृभाषा मैथिली है इस विषय पर विचार आने पर श्रीमती झा ने बताया, मैथिली तो अपनी मातृभाषा है, इस तरफ ध्यान जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु यह भाषा इतनी बूढ़ी हो गई है कि लोग इसे पहचानते ही नहीं। फिर भी परिवार के सभी लोग मैथिली में वार्तालाप करते हैं, अपने व्यक्तिगत पत्र आदि भी मैथिली में ही लिखते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि मैथिली लिपि का प्रयोग न के बराबर होता है, हम सब देवनागरी लिपि का ही प्रयोग करते हैं। यों तो अंग्रेजी भाषा का ज्ञान सबको ही है, पर हमारे परिवार में अभी अंग्रेज़ियत का प्रभाव नहीं आया है। हमारे बच्चे मम्मी, डैडी का प्रयोग नहीं करते।

संस्कृत में लिखने की बात चलने पर श्रीमती झा ने बताया कि 'वे संस्कृत में लिखते रहे हैं, आज भी लिखते और उन अनछुए विषयों पर लिखना चाहते हैं जिन पर आज तक किसी ने नहीं लिखा। वैसे उनके लिखने का समय प्रायः रात को ही होता है, जब वह शान्ति से अपने कमरे में सोने जाते हैं। आजकल झा साहब गणेश पर एक ग्रन्थ लिख रहे हैं, वह संस्कृत और अंग्रेजी दो भाषाओं में प्रकाशित होगा। उनके विचार से हिन्दी का पाठक गम्भीर रचनाओं को कम पढ़ता है, इसलिए अभी हिन्दी में नहीं लिख रहे हैं। संस्कृत और अंग्रेजी में गणेश पर शायद यह पहली पुस्तक होगी। संस्कृत में लिखने-पढ़ने के साथ ही भारतीय संस्कृति के मूल आधार धर्म पर बात आ गई तो मैंने झा जी के धार्मिक विश्वास और आस्था की चर्चा करनी चाही। श्रीमती झा ने उत्तर में कहा—'धर्म के प्रति पूर्ण विश्वास तथा आस्था है। परिवार ही तान्त्रिक है। हमारे पिता के घर तथा यहाँ भी देवी की पूजा होती है। पिताजी के यहाँ तो नवरात्र में भैंसा कटता था। पर यहाँ यह सब नहीं होता, बलि अवश्य चढ़ाई जाती है। तान्त्रिक परम्परा में अष्टमी की रात को जागकर सिद्धि प्राप्त करने का विशेष महत्त्व माना जाता है। हमारे चाचा बहुत बड़े और प्रसिद्ध तांत्रिक थे, वे राय साहब के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके पास दूर-दूर से लोग आते थे और अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिए भभूत तथा यन्त्र आदि बनवा कर ले जाते थे। मैंने देखा है कि उससे बहुतों को वास्तव में लाभ होता था। लोगों को उन पर बहुत विश्वास और श्रद्धा थी।

पिता तथा श्वशुर के परिवार में मैंने भी कुछ घरेलु औषधियाँ सीखी थीं, जिनका

मैं अब भी प्रयोग करती आ रही हूँ। इसके माध्यम से कुछ सेवा करने का अवसर मिल जाता है।

औषधियों की बात आई तो यह जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक थी कि आप किन-किन रोगों का इलाज करती हैं?

वे बोलीं, मैं डाक्टर तो हूँ नहीं, पर जैसा कि आपको बताया कुछ घरेलू चीजें हैं। जिनको लोग पुरानी बात कह कर टाल देते हैं, पर उनमें बहुत अधिक सार है। मैं बच्चा पैदा होने अर्थात् बाँझपन को दूर करने की, तथा जिन माताओं के बच्चे नहीं जीते, पैदा होते ही या कुछ दिन बाद मर जाते हैं, उनके लिए दवा देती हूँ। परमेश्वर की कृपा से बहुतों को लाभ हुआ है। एग्जिमा के लिए भी मैं एक दवा देती हूँ, जिनका लोहा अनेक ऐसे लोगों ने माना है जिन्हें पुराने इलाजों पर कोई विश्वास नहीं और डाक्टरी को ही सब कुछ मानते हैं। किन्तु मैं इसे एक सेवा का अवसर और दैवी की कृपा मानती हूँ।

सेवा की बात आते ही विचार आया कि अब तो आपके बच्चे बड़े-बड़े हो गए हैं, बहू भी आ गई हैं। काफी समय मिलता होगा, क्या आप भी सामाजिक जीवन में निजी तौर पर भाग लेती हैं?

उत्तर में श्रीमती झा ने बताया कि वैसे तो १९३९-४० में जब झा साहब कलकत्ता में पोलिटिकल एजेन्ट थे और लड़ाई का जमाना था, तभी से मैं रेडक्रास तथा गर्ल गाइड्स में सक्रिय भाग लेती रही हूँ। जहाँ भी झा साहब गए वहाँ जो कुछ हो सका सेवा करती रही हूँ। अपने काम के बारे में अपने-आप कहना अच्छा नहीं लगता, किन्तु फिर भी झा साहब के काम के अतिरिक्त जो समय मिलता है, उसमें कुछ सेवा-कार्य अवश्य कर लेती हूँ। नारी-निकेतन आदि कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनका मुझ पर भार है। स्त्री-शिक्षा तथा समाज-कल्याण के कामों में मेरी अधिक रुचि है, उसी से सम्बन्धित जो कुछ बन पड़ता है, करती रहती हूँ। कभी-कभी मैथिली (पटना से प्रकाशित होने वाली पत्रिका) में छोटी-छोटी कहानियाँ लिखती हूँ। हिन्दी में भी लिखती हूँ, पर मैथिली के लिए इसलिए विशेष रूप से लिखती हूँ कि उसमें लिखने वालों की संख्या कम है, और जो बड़े लोग हैं, ऐसे छोटे पत्रों में कम लिखते हैं। मैं समझती हूँ, ऐसे पत्रों में लिखने से उनको प्रोत्साहन मिलता है और धीरे-धीरे यह पत्र चल पड़ते हैं। ऐसे पत्रों को मरने से बचाना, हम लोगों का कर्तव्य होना चाहिए, ऐसा मैं मानती हूँ।

पिछले दिनों छात्र आन्दोलन की बड़ी चर्चा रही। पूरा का पूरा झा परिवार शिक्षा से सम्बन्धित रहा है। अतः मैंने इस विषय पर डॉ० झा की प्रतिक्रिया जाननी चाही।

श्रीमती झा ने बताया कि वे छात्र-आन्दोलन तो क्या, किसी भी आन्दोलन से कभी भी प्रभावित और विचलित नहीं हुए, बल्कि उसे गम्भीरता से समझा और सुलझाया है।

वह इस बात में विश्वास करते हैं कि यदि गुरु-शिष्य परम्परा को निभाया जाय तो आन्दोलन की नौबत न आए। अध्यापक, वाइस चान्सलर अपने को अफसर समझते हैं, छात्रों से उनका निजी सम्बन्ध नहीं है और न वे रखना चाहते हैं। आखिर छात्रों की कठिनाइयों को कौन सुने ? घर में माता-पिता बच्चों की बात नहीं सुनेंगे तो क्या होगा ? उसी तरह छात्रों की बात है। यदि छात्रों-अध्यापकों का व्यवहार सौमनस्यपूर्ण हो, आपस में एक-दूसरे को समझने और उनकी समस्याओं के हल करने की बात हो तो आपस में स्नेह-पूर्ण वातावरण बढ़ेगा। आज अध्यापक छात्रों से बदला लेने की भावना रखता है, छात्र का मन तो चंचल होता ही है, अगर वह बदला लेने की भावना रखता है तो किसका दोष माना जाय, आखिर को वह बच्चे ही तो हैं। ऐसी आयु में उनका उद्दंड हो जाना अस्वाभाविक नहीं। डॉ० झा मानते हैं कि जब किसी समाज या देश में मानदंड अथवा परम्परा नहीं रहती तो उसका पतन अवश्यम्भावी है। हमारे शिक्षकों में इस ओर अभाव आता जा रहा है। आज से केवल दो-तीन दशक पहले शिक्षकों में गुरुत्व का गौरव था, वे अल्प-साधन होते हुए भी अपने जीवन की सबसे बड़ी सफलता इसी में मानते थे कि उन्होंने अपने शिष्यों को किसी योग्य बनाया है या नहीं। उनका दृष्टिकोण ठीक उसी प्रकार के साधन-हीन पिता की तरह होता था, जो अपने मेधावी बालक के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहता था। गुरुकुलों में हमारे पूर्वजों ने अपने जीवन की आहुति इस ध्येय को रखने के लिए दी। अपने-आप अभाव में रह कर, कष्ट सह कर, ज्ञानार्जन किया और शिष्यों को विद्यादान दिया।

आज के भौतिक युग में हम अपने चारों ओर के वातावरण से अलग नहीं रह सकते, इसका प्रभाव हमारे अध्यापकों और छात्रों, दोनों पर पड़ता है। आज का छात्र और अध्यापक, जीवन में आदर्श की परम्परा होते हुए भी, बदलते हुए युग की आवश्यकताओं के लुभाव से अपने-आप को बचा नहीं सकता। फिर भी, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के मुकाबले, शिक्षक-वर्ग से ऐसी आशा की जाती है कि वे अपनी परम्पराओं का मान रखें और छात्रों का सही मार्गदर्शन करें। यह कठिन अवश्य है, किन्तु शिक्षक-वर्ग जिस उत्तरदायित्व को लेकर शिक्षा के क्षेत्र में आता है, उनकी अपनी परम्परा है, और वह अतुलनीय है। सभी कार्यक्षेत्रों के मानदंड एक से नहीं हो सकते। उनमें भिन्नता होगी और होनी भी चाहिए, यही भिन्नता मनुष्य जीवन की सार्थकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि बड़े-बड़े राष्ट्रों के निर्माण में गुरुओं का सबसे अधिक योगदान रहा है। प्लेटो, अरस्तू और एथेन्स तथा स्पार्टो का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। उसी परिवेश में यदि गुरु-शिष्य रहें तो शिक्षा के क्षेत्र में हड़ताल की बात तो दूर, हड़ताल शब्द का ही लोप हो जायेगा।

अब जो प्रश्न मेरे मन में उभर रहा था वह बड़ा कठिन था। मैं श्रीमती झा से

डॉ० झा की चारित्रिक विशेषताएँ जानना चाहता था, किसी की चारित्रिक विशेषता, वह भी पत्नी की प्रतिक्रिया ! मैंने उनसे पूछा, झा साहब की कोई ऐसी बात आपने नहीं बताई जो आपको बहुत अधिक प्रभावित करती हो या जिससे आप उनको अन्य लोगों की अपेक्षा अलग पाती हैं ?

श्रीमती झा ने बताया कि उनकी बहुत-सी विशेषताएँ हैं, मैं क्या कहूँ ? पर एक बात जो मैं नहीं समझ पाई, वह यह कि झा साहब अपने बड़े से बड़े शत्रु से, वह भी ऐसा, जो अवसर आने पर जान भी ले सकता हो, उसके भी प्रति कभी मन में कोई वैर नहीं पालते। वही व्यक्ति जब कभी झा साहब के पास आया है, या उनके हाथ के नीचे आया है तो उन्होंने उसे बड़े संकट से बचाया है। और उसे कानोंकान खबर नहीं लगने दी। कई व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें झा साहब ने बड़े आड़े वक्त में बचाया या यों कहिए उबारा है और उस व्यक्ति-विशेष को आज तक पता नहीं लग सका। जिस किसी को बाद में पता लग भी जाता है और कृतज्ञता प्रकट करने आता है तो झा साहब उसे हंस कर टाल देते हैं, बेचारा अपने मन की बात भी नहीं कह पाता। मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ कि इतने उच्चादर्श, अधिकार-सम्पन्न, आत्मबल और दया तथा प्रेम वाला पुरुष शायद ही कोई मिले, जो मुझ-जैसी साधारण गृहिणी को सस्नेह अपनाए।

बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा—यह तो आप मानते ही हैं कि झा साहब स्पष्टवक्ता हैं, अपनी बात पूरे बल से कहते और मनवाते हैं। किन्तु वे दुराग्रही नहीं हैं, दूसरों की बात सुनते और उचित होने पर अपना मत बदलने को भी सदैव तत्पर रहते हैं। जहाँ तक नेताओं के सम्बन्ध में जानती हूँ, उन्हें बड़े लोगों ने सराहा है। औरों की बात तो विशेष रूप से नहीं कह सकती पर पं० जवाहरलाल नेहरू और शास्त्रीजी के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कह सकती हूँ कि नेहरूजी और शास्त्रीजी ने इन्हें इसीलिए विशेष पसन्द किया था। जब ये उत्तर प्रदेश में मुख्य सचिव (चीफ सेक्रेटरी) थे, तब डॉ० सम्पूर्णानन्द जी इन्हें व्यक्तिगत सलाहकार ही नहीं अनुज-तुल्य आदर देते थे।

विनोदप्रियता की बात आते ही श्रीमती झा ने कहा कि वे स्वभावतः विनोदी हैं, सदैव हँसते-हँसाते रहते हैं। जैसा कि मैंने कहा जिसका स्वभाव ही विनोदी हो उसकी एकाध घटना का वर्णन करना क्या आप कठिन नहीं मानते। और दूसरी बात आपने यात्रा के सम्बन्ध में जो पूछी तो मैं आपसे ही पूछना चाहती हूँ कि यात्रा न सही जो एक दिन भी उनके साथ रह जाता है, उसके पास भी इतना कुछ कहने को हो जाता है कि अपनी पूरी बात नहीं सुना पाता, तो जो जीवन के इतने लम्बे समय तक साथ रहा हो उसके पास कितना होगा, इस विषय में इतना ही कह सकती हूँ कि कोई सुनने और लिखने वाला होना चाहिए। हाँ, यह बात अवश्य है कि जिस प्रकार उनकी हँसने-हँसाने की रुचि है उसी प्रकार उन्हें फूलों से भी विशेष प्रेम है। जब सिटी मजिस्ट्रेट थे, तभी से घर पर माली है, किन्तु]

फिर भी इन्हें अपने हाथ से बागबानी करने का शौक है। गुलाब से इन्हें अधिक प्रेम है। कोई पौधा जरा सा मुर्झा जाए तो बड़ी परेशानी अनुभव करते हैं। यहाँ तक कि फूलों की देख-रेख अपने सामने करवाना पसन्द करते हैं, समय न मिले तो अलग बात है।

इसी प्रकार, झा साहब को सुरुचिपूर्ण, सौन्दर्यवर्धक आभूषण पहनना तो अच्छा लगता ही है, किन्तु दिखाने के लिए लादे फिरना उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं। झा साहब ने हमारे लिए तो आभूषण खरीदे ही हैं और अब अपनी बहू-बेटियों के लिए भी खरीदते हैं।

प्रातःकाल उठने और रात को सोने की बात आई तो श्रीमती झा ने बताया कि झा साहब जीवन में समय बाँधकर चलने के आदी हैं। पहले तो रात को दो बजे तक पढ़ते रहने के बाद ही सोते थे और सुबह आठ बजे उठते थे, लेकिन अब ग्यारह-बारह बजे तक सो जाते हैं और सुबह पाँच-छः बजे तक उठ जाते हैं। सोकर उठते ही वह ठंडा पानी पीकर अपने बगीचे में फूलों से बात करना अधिक पसन्द करते हैं। और फिर तो दिन-भर दम मारने की फ़ुरसत नहीं मिलती। दफ्तर का काम, सामाजिक-आयोजन, समय मिला तो शाम को टेनिस खेलना, फिर बच्चों से पढ़ाई-लिखाई की बातें और दूसरी चर्चा, यों ही रात गहरी हो जाती है। फिर थोड़ा पढ़ने-लिखने के बाद सो जाते हैं।

सेवा से अवकाश लेने पर उनका क्या करने का विचार है? इस पर चर्चा उठी तो वे हँसकर बोलीं—सेवा से अवकाश मिले तभी कुछ विचार किया जाएगा। वैसे कोई विशेष योजना तो नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि अधिक समय मिलने पर अधिक पढ़ना और अधिक लिखना हो सकेगा, जिसकी कमी उन्हें आज की व्यस्तता में प्रायः खलती है।

अधिक समय होता देखकर मैंने विदा लेनी चाही और कष्ट के लिए क्षमा-याचना की तो उत्तर मिला—आज तो आपने मुझे आनन्दित कर दिया मैंने समझा था यों ही बात टल जाएगी, पर स्मृतियों के स्मरण से मन में ताजगी आ गई है। इस विषय में मुझे ही आपका धन्यवाद करना चाहिए। इसी बीच देखता हूँ कि पुत्रवधू अपनी पुत्री को गोद में लिए उनसे कुछ कहने या बुलाने आ गई हैं, मैं प्रणाम कर बाहर आ गया।

卐

झा-दम्पती—एक पारिवारिक झलक

श्रीमती निर्मला वाजपेयी

दिल्ली के उप-राज्यपाल डॉ० आदित्यनाथ झा से लोगों का परिचय साहचर्य, सम्बन्ध एवं सम्पर्क विविध रूप से बहुत ही विस्तृत है तथा सेवाओं और प्रार्थनाओं के हेतु आवागमन का घेरा वृहत्तर—उनका विदेशी लिबास एवं संस्कृत में पाण्डित्यपूर्ण धारा-प्रवाह बोल सकने की क्षमता जीवन के दो पहलू विभिन्न होते हुए भी कितने अभिन्न हैं।

यही नहीं, भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती हुई श्रीमती आद्या झा, पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सभ्यता एवं संस्कृति की सीमारेखा अथवा मध्यविन्दु पर स्थित एक सम्पन्न परिवार की अधिष्ठात्री। वह प्राचीना नहीं हैं, आधुनिक मात्र भी नहीं हैं। पुरातन भारतीय आदर्शों का मन लेकर भी श्रीमती झा पति से सम्बन्धित वातावरण के अनिवार्य के देय को निभाकर ही चली हैं। बाल-बच्चों तथा सम्बन्धियों से भरे विशाल राज-निवास की दीवारें भी उत्फुल्लता की प्रतीक हैं। वह कहती हैं—

"देखो, मेरे चार बहुएँ हैं।"

"जी ?" मैं असमंजस में पड़ गई हूँ, एक बेटे का विवाह चार बहुएँ···? लेकिन क्षण-भर में ही शंका-समाधान हो जाता है। क्या उनके परिवार की अन्य बहुएँ उनकी बहुएँ नहीं हैं!

आज भारतवर्ष जब सम्मिलित परिवार की प्रथा से दूर भागता जा रहा है, ऐसे समय झूठे परिष्कार, औपचारिक सभ्यता तथा अहं की दीवार उन्होंने अपने निकट अथवा दूर के सम्बन्धियों के बीच में नहीं खड़ी की है। कितना सुकुमार भावबोध, कितना स्तुत्य और श्लाघ्य कृत्य, साथ ही कैसा शुद्ध और प्रबुद्ध मन···।

ऊँच-नीच के झूठे बन्धन नहीं, अपूर्व अनिर्वचनीय, सरल एवं सौम्य जीवन, पुलकित और प्रफुल्लित विषमताओं और मान्यताओं के बीच एक भी क्षण उसका अपना नहीं है। अपने पति के जन्म दिवस पर वह यज्ञकर्ताओं को भोजन कराती हैं, वही ब्राह्मण परिवार के कम्बल और पट्टे—वह स्वयं दौड़-दौड़कर ब्राह्मणों को भोजन परोसती हैं। पति के स्वास्थ्य और आयु के लिए मंगल-कामना करती हैं।

मेरी नौकरानी दो दिवस से छुट्टी पर है, पैर में कांटा चुभ गया है। मैं सोचती रह गई हूँ, उनके पैर में भी तो कांटा चुभा है, किन्तु ब्राह्मणों को भोजन करा लेने के प्रति

जो सतर्कता है उनकी गति-विधि में, वही सतर्कता उन्होंने लोगों के आधी रात तक आने-जाने, खाने-पीने और हँसने-खिलखिलाने के बीच भी कायम रखी है। सच ही तो, वह क्षण काँटे के लिए कैसे दे डालें वह···उनके जीवन का उतना मधुर दिन वर्ष-भर में एक वार ही तो आता है। यही नहीं, उन्हीं क्षणों के बीच पारिवारिक तथा अन्य आवागमन के मध्य एक खान साहब तबलावादन करते हैं। समय बीत रहा है। वह अपने में व्यस्त हैं और सुनने के लिए बैठे हुए लोग अपने में। इसी व्यस्तता के बीच तबले की थापें रुक जाती हैं। एक क्षणिक-सी शान्ति और झा साहब का स्वर सुनाई पड़ा है। "खान साहब ! इस उम्र में भी आपके हाथों में कितनी जान है !" सोचती हूँ कि उस विशेष क्षण में यदि उन्होंने इतना सदय ध्यान न दिया होता, जैसा कि हर सुनने वाले ने अपने सुनने और बोलने की व्यस्तता के बीच नहीं दिया था। कितना कष्ट होता उस कलाकार को, कितना कचोटता वह भाव उसे। उन चार शब्दों में क्या पुस्तक-भर प्रशंसा नहीं मिल गई होगी उन्हें। झा दम्पती, अपने प्रति केवल अपेक्षा लेकर ही नहीं चले हैं, दूसरे के प्रति उनके अन्तर में गहन आग्रह है। पारिवारिक जीवन सरल एवं सौम्य है, ऐसा लगता है कि अपूर्व और अनिर्वचनीय सुख क्षणिक उल्लास का माध्यम नहीं है—वह चिर है, शाश्वत है। दोनों ही अतुल स्नेही और उदार हैं।

बात-बात में मैं कहती हूँ—

"भय के कारण भविष्य के प्रति मेरा आग्रह नहीं है, इसीलिए अपने ग्रहों की जाँच पड़ताल मैं नहीं कराती।"

और श्रीमती झा तर्क रखती हैं। "यदि कठिनाइयों का पूर्वाभास मिल गया हो तुम्हें, तो मनोबल, पूजापाठ, जपतप की निष्ठा में क्या बल ही नहीं है ?"

लगता है कि आस्तिकता और ईश्वर में अपरिमित विश्वास ही सम्भवतः उन्हें कठिन-से-कठिन चिन्ताओं और कठिनाइयों से उबारे ले जाता होगा।

भारत जैसे जड़ी-बूटी वाले देश में डाक्टरी दवाओं का प्रचलन वैद्यों, हकीमों और उनसे सम्बन्धित दवाइयों को सदैव के लिए नष्ट करता गया है, किन्तु श्रीमती झा ने कितने ही लोगों को इन्हीं दवाइयों के बल से रोगमुक्त किया है। देशी दवाइयों के प्रति कठिन आग्रह है उनके मन में।

भारतवर्ष की सभ्यता, सुरुचि, शालीनता एवं विशेष त्योहारों की महत्ता का प्रतिनिधित्व करता है यह परिवार। इसी सन्दर्भ में होली का अवसर याद आता है। एक बार भारतीय किन्तु आपादमस्तक विदेशी प्रतीत होने वाली एक सुन्दरी, गुलाल लगते ही एलर्जी की गिरफत में आ गई थी, फिर वह नखरे, वह हाव-भाव, दयनीयता का प्रदर्शन, घबड़ाहट और गालों पर फैले अबीर के नीचे उभर आए दो-एक निशानों का प्रदर्शन तत्पश्चात् अल्टीकेरिया का प्रकोप सीक्वेल का इन्जेक्शन, और न जाने क्या-क्या—

किसी विदेशी महिला को समझाया जा सकता है कि भारत की रीति है यह, शुभ त्योहार है, गुलाल स्वास्थ्य और मैत्री का प्रतीक है, किन्तु उस महिला को कौनस मझाता जो जन्म से देशी, किन्तु कर्म से विदेशी थी, जो रंग का छींटा पड़ते ही कराह उठी थी। कहावत सच ही है "अधजल गगरी छलकत जाय"

मेरी कालोनी भर की साथिनें थी। श्रीमती झा से होली खेलने जाने का प्रोग्राम था। मैंने चुपके से पुड़िया बदल ली। सन्दल पाउडर और थोड़ा सा सिन्दूर, गुलाल का नाम भी नहीं। रिएक्शन की कथा यहाँ अधिक प्रलयंकारी हो सकती थी क्योंकि उप-राज्यपाल के प्राप्य एवं सौख्य की भागीदार श्रीमती झा के चेहरे की स्किन यदि गुलाल से रियेक्ट कर गई तो······

किन्तु यह क्या ? पहुँचकर कल्पना कल्पना ही रह गई। सत्य बड़ा ही मोहक था, अविस्मरणीय उससे भी अधिक पूल में रंग, घर में रंग, वातावरण में रंग, और हर चेहरा गुलाल से रंगीन। ननद-भौजाई, बहन-सखियाँ, साली, समधिन, सभी रिश्ते होली के रंग से सराबोर—

"ब्रज मैं उड़त गुलाल आई रे होरी······"

राज निवास में सभी नाते-रिश्ते, भारतीय लोकगीतों जैसे ही दिखाई पड़ते हैं। कैसा भी बोझिल अथवा उदास वाताधरण हो, इन्हीं रिश्तों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के बीच घुलकर स्वच्छ एवं हल्का हो उठता है। ऊँच-नीच के झूँठे बन्धन नहीं, थोथी मान्यताएं भी नहीं हैं। सब कुछ स्वतः सुकुमारता से बँधा है।

नारी होकर श्रीमती झा नारी जति के उत्थान, उसकी स्वच्छ मनोवृत्ति के निर्माण तथा उसे काँटों की राह से बचकर सघन छायादार आश्रय देने के प्रयत्न में लगी हुई हैं। वह ऐसी कई संस्थाओं के निर्माण में पूर्णरूप से प्रयत्नशील हैं तथा 'यंग वीमेन एसोसिए-शन' की प्रेसीडेन्ट हैं। उन्होंने एक होस्टल खोल रखा है, जिसमें कम मासिक वेतन पाने वाली महिलाओं के निवास के लिए उचित प्रबन्ध किया गया है।

जिस प्रकार झा साहब ने दिल्ली के अनेक उजाड़ और गँदे स्थानों की सुरुचिपूर्ण ढँग से व्यवस्था करवाई है, उसी प्रकार अपने क्षेत्र में श्रीमती झा भी उनसे कदम मिलाकर ही चली हैं।

卐

अनुकरणीय व्यक्तित्व

श्री सीतारामशरण निगम

संसार में कई प्रकार के मनुष्य होते हैं। अपने पुरुषार्थ के बल पर प्रसिद्ध होने वाले उत्तम कहे जाते हैं। पिता की प्रतिष्ठा के सूर्य से अपनी कीर्ति के चाँद को चमकाने वाले मध्यम माने जाते हैं। नाना-मामा की बदौलत मान बटोरने वालों को इस देश में निकृष्ट गिना गया है। ससुराल की सुयश की नींव पर अपनी प्रशंसा का महल खड़े करने वाले अधम समझे जाते हैं। एक प्रतिष्ठित परिवार में उत्पन्न होकर भी डॉ० आदित्यनाथ झा अपने प्रकाण्ड विद्वान् लोकमान्य पिता महामहोपाध्याय डॉ० सर गंगानाथ झा तथा अपने अद्‌भुत शक्ति एवं व्यक्तित्व के जेष्ठ भ्राता पद्म विभूषण डॉ० अमरनाथ झा के नाम और ख्याति के आश्रय से ऊँचे नहीं उठे। उन्होंने अपने ही बल और बुद्धि पर विश्वास किया। अपने ही साहस, सहनशीलता, प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा उच्चकोटि की कर्त्तव्य-परायणता से उन्होंने अपने लिये अपने देश में तथा अपने देशवासियों के हृदयों में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है और अपने परिवार की उज्ज्वल कीर्ति को और आगे बढ़ाया है।

उनके जीवन की कुछ स्मृतियाँ बड़ी मार्मिक और हृदयग्राही हैं जिनमें से कुछ इस अवसर पर बरबश जागृत हो उठती हैं।

एक घटना तो उस समय की है जब बी० ए० की परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण होने पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर एक युवक स्नातक के रूप में श्री आदित्यनाथ जी अपनी बी० ए० की उपाधि लेने के लिए सिनेट हाउस के मन्च की ओर बढ़े थे। वाइस चान्सलर, इनके पूज्य पिता डॉ० गंगानाथ झा स्नातकों को चान्सलर सर मालकम हेली के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे थे। डिगरी और पदक चान्सलर से प्राप्त करने पर इन्होंने प्रदेश के गवर्नर से तो हाथ मिलाया और वाइस चान्सलर के पैरों पर अपना माथा टेक दिया। गवर्नर के चेहरे पर जो विस्मय के चिह्न दिखाई पड़े और दर्शक-समूह के करतल-ध्वनि से जो सेनेट हाउस गूंज उठा, वह अनुभव भुलाया नहीं जा सकता।

इनके विद्यार्थी-जीवन की इसी प्रकार की एक और घटना है जो इनके सहिष्णुता और गुरुओं के प्रति आदर का अपूर्व परिचय देती है। जब श्री झा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम० ए० पास करने के उपरान्त एल-एल० बी० परीक्षा की तैयारी कर रहे थे और आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठ चुके थे, एक दिन वे लॉ डिपार्टमेन्ट के बरामदे

से निकल रहे थे। उसी समय लॉ डिपार्टमेन्ट के एक उच्च प्रवक्ता ने यह समझकर की श्री झा बरामदे से कक्षा में बैठे हुए किसी छात्र से बात कर रहे हैं, अकस्मात इनके गाल पर एक थप्पड़ मार दिया। इस अचानक प्रहार से श्री झा स्तम्भित हो गए। वह यह न समझ सके कि यह हुआ क्या। फिर भी वह शान्त रहे और बिना यह जाने कि उनका अपराध क्या था जिसके कारण उन्हें यह दन्ड मिला, उन्होंने अपने गुरु से क्षमा-याचना की। बाद को यह पता लगा कि अपराधी कोई और था और केवल भ्रमवश सम्बन्धित प्रवक्ता ने श्री झा को दण्ड दिया। श्री झा घर वापस गए, परन्तु इस घटना की चर्चा न तो उन्होंने अपने वाइस चान्सलर पिता से की और न अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष अपने भाई से।

उत्तर प्रदेश में उनके मुख्य सचिव के कार्यकाल की यों तो बहुत-सी घटनाएँ हैं जो उनकी उदारता और न्यायप्रियता का परिचय देती हैं। परन्तु एक मेरा अपना निजी अनुभव है जिसका मैं इस अवसर पर उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता।

एक बार जब मैं लखनऊ सचिवालय में इनके कमरे में बैठा था। एक सज्जन बिना किसी पूर्व-सूचना या अनुमति के आँसुओं से विह्वल इनके कमरे में यकायक आ गए। श्री झा का ध्यान बरबश उनकी ओर चला गया और उन्होंने तुरन्त उनसे पूछा कि आप कौन हैं और क्या चाहते हैं ? आगन्तुक ने बड़े कातर स्वर से उन्हें बताया कि वह एक डिस्ट्रिक्ट सप्लाई आफिसर थे और उन्हें ४०० रुपये प्रतिमास वेतन मिलता था। उनका यह पद समाप्त कर दिया गया है और वह सेवा से पृथक् कर दिए गए हैं। इनका अपना एक परिवार है और साथ ही उनके मृत भाई का भी एक परिवार है जिनका भरण-पोषण इन्हीं पर निर्भर है और अब वह स्वयं बेरोजगार हो गए हैं। श्री झा पर इसका बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ा और उन्होंने तुरन्त सचिवालय के सम्बन्धित अधिकारी को टेलीफोन किया और उनसे कहा कि शासन का ध्येय यह कदापि नहीं है कि कर्मचारी बेरोजगार होकर सड़कों पर मारे-मारे फिरें और यदि इनका पद समाप्त कर दिया गया है तो इन्हें कोई दूसरा स्थान दिया जाए ताकि अपने परिवार के प्रति वह अपना दायित्व निभा सकें। उन सज्जन से भी झा ने कहा कि यदि दूसरे दिन तक उन्हें कोई नियुक्ति नहीं मिलती तो वह तुरन्त उनसे मिलकर फिर बताएँ।

श्री झा के ऐसे ही व्यवहारों ने इस पीढ़ी के सरकारी कर्मचारियों के हृदयों में एक अमिट स्थान कर लिया है।

श्री आदित्यनाथ झा की सज्जनता और उदारता सर्वथा सराहनीय है। उनका जीवन दया, नम्रता, शील और दृढ़ता से ओत-प्रोत है। उनके उदार चित्त तथा निर्मल हृदय से निष्काम कर्म की जो धारा प्रवाहित हुई वह देश-सेवा के क्षेत्र में एक नई गति का संकेत है। श्री झा का सम्मान मानवता और सज्जनता का सम्मान है।

卐

कृतित्व

विज्ञान और ज्ञान का समन्वय आवश्यक

एक बार शौनकजी ने अंगिराजी से पूछा कि वह क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ विदित हो जाता है ? अंगिराजी ने कहा—"ऐसी दो विद्याएँ हैं। एक परा और दूसरी अपरा। अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र तथा ज्योतिष हैं और परा वह विद्या है जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है।" आज के विद्वानों से यदि विद्याओं के भेद के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाए तो वे 'परा' और 'अपरा' न कहकर 'प्राच्य-विद्या' और 'पाश्चात्य-विद्या' कहेंगे। यहाँ पाश्चात्य विद्या से तात्पर्य होगा उन विविध विज्ञान-विद्याओं से जिनकी विविध शाखाओं एवं प्रशाखाओं का विकास पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया है और जिनसे अर्वाचीन विविध सुख-साधनों की उपलब्धि तथा प्रलयंकर परमाणु अस्त्र आदि जैसे चमत्कारपूर्ण आविष्कार हो सके हैं। प्राच्य विद्या से तात्पर्य होगा उस भारतीय विद्या से जिसकी वाल्मीकि, भरद्वाज आदि ने उद्भावना की: शंकराचार्य, शौद्धादनि, महावीर आदि ने यथासमय विकास किया, देश के प्राचीन परिपाटी के पंडितों ने आज तक सुरक्षित रखा और जिसके अंशमात्र का आश्रय लेकर महात्मा गांधी ने देश को स्वतन्त्र किया तथा जिसकी विधिवत् उपासना से सम्पूर्ण लोक-सम्पत्ति और अन्त में परमात्म-प्राप्ति सुनिश्चित है। वस्तुतः जीवन तथा लौकिक अभ्युदय के लिए जैसे विज्ञान-विद्याओं का अध्ययन आवश्यक है वैसे ही विश्व में सुख एवं शान्ति की स्थापना के लिए प्राच्य विद्याओं का अध्ययन भी आवश्यक है।

ऐसा ही एक प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् में भी आता है जिसमें नारदजी ने सनत्कुमार से कहा कि मैं आपसे शिक्षा प्राप्त करना चाहता हूँ। इस पर सनत्कुमार ने कहा कि जितना आप जानते हैं पहले वह बतलाइए, फिर उसके आगे मैं आपको शिक्षा दूँगा। नारदजी ने कहा कि मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्ववेद, पाँचवें इतिहास-पुराण, व्याकरण, पित्र्य (श्राद्धकल्प), राशि (गणित), दैव (उत्पत्ति-विज्ञान), निधि (भूगर्भ विज्ञान), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीति शास्त्र), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या, भूतविद्या (पदार्थ विज्ञान), क्षत्रविद्या (शस्त्रास्त्रविद्या), नक्षत्रविद्या (ज्योतिष) तथा तन्त्रशास्त्र का अध्ययन किया है। इस प्रकार मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता

गोरखपुर विश्वविद्यालय की प्राच्य-भारती परिषद का शुभारम्भ करते हुए दिया गया भाषण।

नहीं, क्योंकि मैंने आप जैसे सर्वज्ञों से सुना है कि आत्मवित् को शोक नहीं होता और मुझे अब तक शोक का अनुभव होता है। अतः आप मुझे वह ज्ञान दें जिससे मेरा शोक से उद्धार हो जाए। सनत्कुमार ने कहा कि जो कुछ भी आपने अब तक अध्ययन किया है इतने मात्र से वास्तविक सुख का लाभ असम्भव है।

ऐसी ही अथवा इससे भी अधिक शोचनीय स्थिति आज भी देखी जाती है। आज विविध विज्ञान-विद्याओं का अध्ययन एवं विकास होते हुए भी न केवल वास्तविक सुख की प्राप्ति असम्भव है वरन् विनाशकारी भीषण शस्त्रास्त्रों के आविष्कार से प्रतिक्षण विश्वसंहार की आशंका उपस्थित हो गई है।

क्या आज भी पाश्चात्य विद्या से कठोपनिषद् कथा के नायक नचिकेता-जैसी पक्की लगन के निर्भय और स्थिर बुद्धि बालकों का निर्माण हो सकता है, जिसने अपने विवेकपूर्ण उत्तरों से यमराज को भी आश्चर्यचकित कर दिया और यमराज के मनमोहक प्रलोभनों की निःसारता सिद्ध करते हुए उन्हें ठुकराकर आत्मविज्ञान का ही वरण किया?

क्या आज की वैज्ञानिक शिक्षा बालिकाओं में बृहदारण्यक उपनिषद् की मैत्रेयी के जैसे संस्कार डाल सकती है जिसने संन्यास लेने के समय अपने पति याज्ञवल्क्य के ही विचारों के अनुकूल लौकिक सम्पत्ति के प्रति अपनी अरुचि और अनिच्छा प्रकट करते हुए उनसे यही कहा था कि मुझे भी आप अपने आत्मज्ञान से कृतकृत्य करें?

छान्दोग्योपनिषद् में भी एक ऐसा ही कथानक मिलता है जहाँ आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु अपने पिता से शिक्षा प्राप्त कर पांचाल-नरेश प्रवाहरण की सभा में गया। प्रवाहरण ने श्वेतकेतु से उसके ज्ञान के परीक्षण के निमित्त अनेक प्रश्न किए जिनका उत्तर देने में वह असमर्थ रहा और अन्त में अपने पिता के पास वापस गया और उनसे अपनी बात बतलाते हुए आगे शिक्षा देने के लिए कहा। पिता उस विषय को अपने सीमित ज्ञान की परिधि से परे देखकर उन्हीं पांचाल-नरेश की सभा में गए और उनसे कहा कि आपने जो प्रश्न मेरे पुत्र श्वेतकेतु से पूछे हैं उनका रहस्य मुझे बतलाइए। पांचाल-नरेश ने आरुणि का आतिथ्य करके उन्हें विपुल लौकिक-सम्पत्ति देने की इच्छा प्रकट की, किन्तु ज्ञान के पिपासु आरुणि ने उन सबका तृणवत् परित्याग करके अपने अपूर्ण ज्ञान की पूर्णता की कामना की।

क्या वर्तमान विज्ञान-विद्या भी ऐसे त्यागी तत्त्वजिज्ञासु गृहस्थों को उत्पन्न कर सकती है जो ज्ञानार्जन के हेतु अकारण प्राप्त विपुल सम्पत्ति का परित्याग कर सकें?

इस सन्दर्भ में जो कुछ मैंने कहा है उसका यह तात्पर्य नहीं है कि आधुनिक विज्ञान विद्या की उपेक्षा करके कोई भी राष्ट्र जीवित रह सकता है। हमारे देश में भी कभी इस विज्ञान-विद्या की उपेक्षा नहीं की गई। कतिपय विगत शताब्दियों में हमारे देश में जो कुछ वैज्ञानिक चिन्तन की प्रगति अवरुद्ध हुई है, उसके अनेक ऐतिहासिक कारण

हैं। हमारे पूर्वजों का विचार यही है कि 'या लोकद्वयसाधनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी' अर्थात् पाण्डित्य वही है जो लोक और परलोक दोनों का साधक हो। इसी दृष्टिकोण से हमारे यहाँ जनजीवन का काल-विभाग भी किया गया था। जो रघुवंश में महाकवि कालिदास के कथन से स्पष्ट है—

शैशवे भ्यस्तविद्यानां
यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां
योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

अर्थात् जीवन के प्रारम्भ में विविध ज्ञान-विज्ञान-विद्याओं का अध्ययन, यौवन में गृहस्थाश्रम, यौवनोपरान्त ऋषियों की वृत्ति से प्राच्य विद्याओं के परिशीलन द्वारा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति तथा अन्त में समाधि आदि योगक्रियाओं द्वारा सद्गति की प्राप्ति।

भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में मन्त्र-विज्ञान, तन्त्र-विज्ञान, योग-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान आदि विज्ञान की अनेक शाखाओं का वर्णन भी इस बात का प्रमाण है कि विचारधारा में भौतिक जीवन की उपेक्षा नहीं की गई थी। यंत्र-विज्ञान प्रसंग में रघुवंश का एक श्लोक उदाहरण के रूप में द्रष्टव्य है—

वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात् प्रभावाद्
उदन्वदाकाशमही धरेषु।
मरुत्सखस्येव वलाहकस्य
गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य॥

जिसमें वशिष्ठ के द्वारा अभिमन्त्रित रघु के रथ की मेघ के समान सर्वत्र अप्रति-हत गति बतायी गयी है।

तन्त्र-विज्ञान का संकेत तो प्रायः समस्त वेदों में उपलब्ध होता है किन्तु उनमें भी विशेष स्पष्ट रूप से अथर्ववेद में तथा पुराण, जैन-ग्रन्थ और बौद्धों के महायान, मन्त्रयान वज्रयान आदि अवान्तर सम्प्रदायों के ग्रन्थों में प्रचुरता से इसका वर्णन मिलता है। योग-विज्ञान के निमित्त तो 'योगदर्शन' एक पृथक् शास्त्र ही निर्मित हुआ है। योगसूत्र के विभूतिपाद में अनेक लौकिक चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इसी प्रकार पदार्थ-विज्ञान का भी वर्णन दर्शन और आयुर्वेद ग्रन्थों में अधिक मिलता है। वर्तमान युग के मुख्य विज्ञान का प्रसंग भी हमारी प्राच्य विद्या में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के षष्ठ अंक में राजा दुष्यन्त अपने मन्त्री का पत्र पढ़ते हुए विस्मित होकर कहते हैं—अरे, समुद्री व्यापारी धनमित्र नाव-दुर्घटना में मर गया। उस सत्पुरुष के कोई सन्तान भी नहीं है अतः उसका धन राज्यकोष में संगृहीत होगा। 'दशकुमार चरित' की पूर्वपीठिका के प्रथम उच्छ्वास में भी जहाज के द्वारा समुद्रयात्रा

का वर्णन है। 'न्यायकुसुमांजलि' के द्वितीय स्तवक में भी परमाणु स्वातन्त्र्य के प्रसंग में ब्रह्माण्ड के परमाणुमय हो जाने पर परमाणुओं की पृथक्-पृथक् स्थिति की दशा में ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जो जीवसमूह थे उनकी क्या दशा होगी, ऐसा प्रश्न कर उत्तर में कहा गया है कि प्रलयवन से उल्लसित वड़वानल में पड़े हुए जहाज के यात्रियों की जो दशा होती है वही दशा ब्रह्माण्ड के उन प्राणियों की भी होगी। इन उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट है कि लोग वड़े जलपोतों द्वारा समुद्र की यात्रा किया करते थे। अस्तु, अभिज्ञान शाकुन्तल के सप्तम अंक में राजा दुष्यन्त इन्द्र के रथ द्वारा स्वर्ग से लौटते हुए दिखाए गए हैं। कवि ने रथ के वेग का जो वर्णन किया है—

शैलानामवरोहतीव शिखरा
दुन्मज्जतां मेदिनी,
पर्यस्वान्तरलीनता विजहति
एकन्यौक्रमाद् पादपाः।
सन्तानैस्तनुभावनष्ट सलिला
व्यक्तीभवन्त्यापगाः,
केनाप्युत्थियतेव पश्य भुवनं
यत्पांर्श्वमानीयते॥

इसमें कवि-कल्पना ठीक उस स्थिति को चित्रित करने में सफल हुई है जिसका अक्षरशः अनुभव आज के वायुयान-यात्री को आकाश से विमान उतरते समय होता है। संस्कृत ग्रंथों में वर्णित अश्वरथों के प्रकार से यह कल्पना की जा सकती है कि भूमिगामी और आकाशगामी इस प्रकार के दो तरह के रथ होते थे। भूमिगामी अश्वों के द्वारा परिचालित होते थे और आकाशगामी यन्त्रों के द्वारा। आकाशगामी रथों में भी अश्वयोजना सम्भवतः उन रथों में अश्वशक्ति की द्योतक होगी जैसा कि आधुनिक युग में किसी मशीन की शक्ति अश्वशक्ति (हार्सपावर) द्वारा बताई जाती है।

रामायण, महाभारत, भागवत् आदि ग्रन्थों में राम-रावण, कौरव-पाण्डव और कृष्ण तथा शिव के मध्य हुए युद्धों में भीषणतम एवं विचित्र-विचित्र अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोगों के वर्णन पदार्थ-विकास और अन्त्र-विज्ञान के क्षेत्र में हमारी पुरातन अभिरुचि की पुष्टि करते हैं। ग्रन्थों में वर्णित यह सब ऐतिहासिक तथ्य है अथवा इस विषय में तत्कालीन जन-रुचि की ओर संकेत करने के लिए कविकल्पना-मात्र है—इस पर विद्वानों को विचार करना होगा। हाँ, यदि इसे ऐतिहासिक तथ्य मान लिया जाए तो यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि प्राचीन भारत में भी वर्तमान युग के समान ही विविध वैज्ञानिक वाहन और संहारकारक अस्त्र-शस्त्र वर्तमान थे तो फिर आधुनिकतम पाश्चात्य विज्ञान के प्रति यह आक्रोश और उपक्रोश कैसा? इस युक्तियुक्त प्रश्न के उत्तर में मेरा कथन यही है कि

श्राज का वैज्ञानिक श्रात्मवाद, ईश्वरवाद, पुनर्जन्मवाद श्रौर कर्मफलवाद में श्रास्थाशून्य है। श्राज का वैज्ञानिक इस जगत् को श्रविनाशी सत्य से शून्य, निराधार, ईश्वरहीन तथा सत्व, रज, तम श्रादि के परस्पर सम्मिश्रण श्रथवा प्रकृति-पुरुष के सहयोग से उत्पन्न न मानकर उसे केवल कामवासना की प्रतृप्ति के फलस्वरूप विकसित मानता है। भगवान कृष्ण ने श्रासुरी वृत्ति की उक्त विचारधारा के ऐसे ही लोगों को नष्टात्मा, श्रल्पबुद्धि, उग्रकर्मा तथा संसार के विनाश के कारण श्रौर श्रमंगलकारी बताया है :

श्रसत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
श्रपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतो हिताः ।।

यदि श्राधुनिक विज्ञान प्राच्यविद्याश्रों के श्राधारभूत श्रध्यात्मज्ञान से श्रनुप्राणित होकर विश्व के दृष्टिकोण में परिवर्तन उत्पन्न कर सके तो निश्चय ही वह श्रभिशाप न रहकर समस्त विश्व के लिए मंगलमय वरदान सिद्ध हो। ज्ञान श्रौर विज्ञान के इस वांछनीय समन्वय के लिए ही विश्वविद्यालयों में प्राच्यविद्यालयों में प्राच्यविद्याश्रों के शिक्षण का प्रबन्ध होना श्रत्यन्त श्रावश्यक है। श्राजकल तो पाश्चात्य प्रमुख दार्शनिक श्रौर वैज्ञानिक की भी प्रवृत्ति श्रध्यात्मज्ञान की तरफ बढ़ रही है।

भगवान् मनु ने लिखा है :

श्रव्रतानाममन्त्राणां
जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां
परिषन्त्वं न विद्यते ।
एकोपि वेदविद् धर्मेयं
व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परां धर्मा
नाज्ञानामुदितो युतैः ।।

परमार्थज्ञानी एक व्यक्ति भी जिस धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करता है वही धर्म है। किन्तु सहस्र-सहस्र श्रज्ञानी श्रज्ञानवश जिसे धर्म कहें वह धर्म नहीं है।

卐

विद्यापति का काव्य-वैदग्ध्य

मिथिला के घर-आँगन, गली-गली, मन्दिर-मन्दिर में कहाकवि विद्यापति के पद गूँजते रहते हैं। वयःसन्धि की आयु से लेकर जरावस्था तक के नर-नारी इन पदों को अपने जीवन के क्षण-क्षण के मधुर-कोमल-सजल चित्रों के रूप में देखते हैं और युग बीत जाने पर भी इन पदों का अमरत्व बढ़ता जाता है। विद्यापति के पद लोक कंठ-हार हैं। आगंग-हिमाचल भूमि में बसा लोक-मानस इनके प्रत्येक पद को कंठ में बसाकर जीवन्त रखता आया है। वयःसन्धि की बेला में चकित कन्या, रूप गर्व से इठलाती तरुणी, पति की भुजाओं में बन्धी कामिनी और प्रौढावस्था के दीप्त रूप से आलोकित महिला, सभी इन पदों के स्वर-शब्द स्पर्श से आज तक उसी प्रकार रोमांचित-कंटकित हो उठती है जैसे राजा शिवसिंह की अतिरूपा रानी, राजरानी लखिमा होती होगी। काव्य की सबसे बड़ी सिद्धि यही है कि लोक-मानस और जन-जीवन उसे किस प्रकार प्राणनिधि बनाकर सँजोता है। महाकाल का निर्जर रथ-चक्र अपने घर्घर से युग पर युग को ध्वस्त करता चला गया है किन्तु इस मैथिल-कोकिल की वाणी अविच्छिन्न और अनाहत मिथिला के गगन में गुंजित रह गयी है। यह वाणी काल-विजयिनी है।

इस लोकप्रियता का कारण कवि के काव्य की सर्वांगीण सामर्थ्य है। अपने काव्य की प्रशंसा करते हुए इस अहंकारी कवि ने महाकवि कालिदास के समान ही दर्पोक्ति की है :

"बालचन्द विज्जावइ भाषा।
दुइ नहि लागइ दुज्जन हासा।।"

यह आत्म-बोध केवल वर्ण्य, (Subject) और रूप (Form) की श्रेष्ठता को ही नहीं, वरन् इनके काव्य के निहित (Content) सौन्दर्य (Beauty) और मर्म (Sentiment) श्रेष्ठता का द्योतक है।

महाकवि ने जीवन को सम्पूर्ण मनुष्य की सम्पूर्ण दृष्टि से निहारा था। इसी कारण विद्यापति के काव्य का वर्चस्व तीक्ष्ण है। अनुभूतियों को वैयक्तिक धरातल पर लाकर, उनमें योगी-भोगी और द्रष्टा को निर्वैयक्तिकता का निर्वाह करने में जो कवि समर्थ होता है, उसी का श्रृंगार-राग देह का गान होकर भी अविनश्वर रूप का गान हो

जाता है। जब ग्रियर्सन ने मिथिला की नारियों के कण्ठ से ये पद सुने थे तो इसी अविनश्वरता की अनुभूति से आकुल होकर वे कह बैठे थे—

Even, when the sun of Hindu-religion is set , belief & faith in Krishna and in that medicine of "desease of existence"—the hymns of krishna's love, is extinct, still the love borne for songs of vidyapati in which he sings of Krishna & Radha will never de diminished

"Grearson"

चाहे हिन्दू धर्म के सूर्य का अस्त हो जाए···राधा और कृष्ण के प्रति आस्था समाप्त हो जाए···फिर भी विद्यापति ने जिन पदों में राधा-कृष्ण के प्रेम-भोग का वर्णन किया है उसके लिए लोक का अनुराग क्षीण नहीं होगा।

यह स्तुति साधारण नहीं है। विश्व में सम्भवतः गिन-चुनकर कुछ ही कवि होंगे जिन्हें जनता के हृदय में इतना ऊँचा मयूर-सिंहासन मिला हो।

किसी मैथिल के लिए विद्यापति की प्रशंसा करने का शब्दों का अभाव हो जाना सहज ही है। क्योंकि बालपन से ही इसी कवि के उत्तान-शृंगार-पद भी रक्त में घुल-मिल जाते हैं। चरवाहों के कण्ठ से, परिवेश की कन्या, तरुणी, युवती के कण्ठ से, सिद्ध गायकों से या मन्दिरों में भक्ति के आवेश से उन्माद बने भक्तों से शृंगार-गान सुनते-सुनते ये पद व्यक्तित्व के अंश हो जाते हैं। भाषा को यहाँ पर अनिर्वचनीयता की वेदना होने लगती है। रति के किलोल को, वाणी में शुद्ध सौन्दर्य के रूप में मुखरित करने के लिए, चाहे वह किसी भी युग में रची जाए, भीषण क्षमता, दारुण सिद्धि और अटूट विश्वास चाहिए। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास इसी शक्ति से जन-मन हारी हो गए। सूर को यही क्षमता मिली थी। किन्तु परवर्ती रीतिकाल के रचयिताओं में इसका अभाव था। उनकी रूप-आसक्ति सहज और तन्मय नहीं थी। उन्होंने मन के सहज स्फोट से नहीं लिखा—मन को चिन्तन के दवाव से पीड़ित किया और लिखा। इस कारण रीतिकाल का शृंगार या तो कलुषित लगता है अथवा कृत्रिम-ध्येय दूषित हो गए तो सारा परवर्ती कृष्ण-काव्य दूषित और अश्लील हो गया। किन्तु विद्यापति के जो पद अश्लीलता की परिधि में भी आते हैं—जैसे वयःसन्धि की कन्या के उरोजों का वर्णन, विपरीत रति, या संयोग के चित्र, उन पदों को भी कन्याओं और स्त्रियों की भीड़ में भी, वयस्क गायक तन्मय होकर गाता है और उसे कहीं भी संकोच, कुण्ठा या लज्जा नहीं सताती। यह विद्यापति के काव्य का श्रेष्ठत्व है जिसने निर्वसन विहार-रत देहों के रूप को दिव्य और गेय बना डाला है।

शृंगार के गान को दैविकता और भगवद्लीला के मोटे वस्त्रों में लपेटने का प्रयास तो बाद में आरम्भ हुआ। पहले तो, इसे बिल्कुल सहज और जीवन का निरन्तर अनिवार्य अंश माना जाता रहा। काव्य, चित्र कला, भित्ति-चित्र, संगीत और मूर्ति-कला कहीं भी

आर्यावर्त्त के किसी भी ऋषि या मनीषी ने काम, शृंगार रति के सरस-सजल अंकन के लिए कोई वर्जना नहीं बनाई। दक्षिण के और उड़ीसा के मन्दिरों में अंकित मिथुन-लीलायें इसकी साक्षी हैं और मानना होगा कि महाकवि जयदेव को भी प्रेरणा उन्हीं अंकित छवियों से मिली। भारत के जातीय जीवन में आरम्भ से ही शृंगार और धर्म दोनों क्षीर-नीर की तरह मिले हुए हैं। वेदों की ऋचाओं में भी शृंगार के उन्मुक्त गान हैं? वहाँ भी ऐहिक सौन्दर्य का और मिथुन-व्यापारों का स्वच्छन्द वर्णन हुआ है। प्रकृति को भी उन्हीं उपमानों में निहारा गया है और नारी ऋषियों ने भी ऐसी ऋचायें रची हैं जिसमें उन्मुक्त कण्ठ से देह के सौन्दर्य और देह की भोग···सामर्थ्य को द्विगुणित करने के लिए देव वरुण से आकुल निवेदन किया गया है। हमारे धर्म में यह स्वीकृति सत्य है कि मनुष्य-जन्म बड़े तप से मिलता है। उसपर सौन्दर्य तो न जाने कितने दारुण तप से मिलता है। निरुपमाएँ और अनुपमाएँ सहस्र में एक गढ़ी जाती हैं। इस कारण, ईश्वर को भी इस "अपरुव के विहि आनि मिलावल, छितितल लावनि सार या धनि, धनि रमनि जनम धनि तोर" के रूप में ही देखा जाता रहा है। इसमें भारतीय चिन्ता-धारा को कभी भी, कहीं भी, कुण्ठा को बोध नहीं हुआ है। इस धर्म के मूल में आनन्दवाद है। इन्द्र को जब से वेदों में देव की प्रतिष्ठा मिली है, ऐहिकता का रूप निखरता गया है। विद्यापति ने इसी कारण वैष्णव-गान में रति-भोग-लीला को आधार बनाया और अमर हो गए।

सभी विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि कृष्ण-काव्य की गंगा पूर्वी लोकभाषाओं में ही सर्वप्रथम अवतरित हुई है। गंगा पश्चिम से पूर्व जाती है किन्तु कृष्ण-काव्य की गंगा भी पूर्व से पश्चिम को आई है। भक्ति द्रविड देश में उपजी, रामानन्द प्रभृति उसे प्राच्य-देश में लाये तब इस कृष्ण-राधा की यमुना-गंगा में भक्ति की सरस्वती का समाहार हुआ। जयदेव-चंडीदास-विद्यापति की राधा प्रेम की पुतली है, बिल्कुल हाड़-मांस-रक्त की नारी है, उसमें दिव्यता है किन्तु सहजता उससे बड़ी है। जयदेव को कृष्ण-राधा गान की प्रेरणा पुरी—कोणार्क के उत्कीर्णों से मिली होगी, किन्तु सबसे अधिक जो उन्होंने पाया, वह लोक-भाषा से। राधा और कृष्ण लोक गीतों में रसे-बसे थे। सामान्य जनता के प्राण में थे। लोकवाणी उनके शृंगार और उत्तान-शृंगार को तन्मय होकर गाती थी। कृष्ण-धमाली और शुक्ल-धमाली के पद, जिनमें राधा कृष्ण के घोर अश्लील वर्णन हैं, बंगाल, उड़ीसा और बिहार की गलियों, अमराइयों और तरुण-तरुणियों के मन में गुंजित होते थे। जयदेव के विलासी कृष्ण और कामपीड़िता राधिका के चित्र इन्हीं गीतों के परिष्कृत रूप हैं, और विद्यापति के गीतों में बहने वाली सहज मानवीय वासना की छवि राधिका इसी लोकवाणी की रमणीय राधिका है। सारी वैष्णव पदावली इसी का सहज विकास है। विद्यापति के प्रति इस उक्ति के पोषण के लिए अन्य मैथिल कवियों, जैसे उमापति के गानों का हवाला देना पर्याप्त होगा।

साहित्यिक दृष्टि से विद्यापति ने उपमा, उपमान, दृश्य, दृष्टि का ग्रहण जयदेव से किया जिस कारण इन्हें अभिनव जयदेव की उपाधि दी गयी। किन्तु महाकवि कालिदास का प्रभाव नगण्य नहीं है। विद्यापति के निरावरण केलि-वर्णन से कालिदास के 'कुमार-सम्भवम्' के चित्र कहीं अधिक बढ़े-चढ़े हुए हैं। जयदेव, विद्यापति, सूर कोई भी कालिदास के इन महिम उपमाओं से रंजित उत्तान-श्रृंगार के प्रभावों से वंचित नहीं रह सके। साहित्यिक दृष्टि से विद्यापति के काव्य का उत्स कुमारसम्भवम् के परिवेशों में ही ढूँढ़ा जा सकता है, क्योंकि जयदेव का उत्स भी कालिदास के काव्य में ही है।

उस युग में शिव-पार्वती का जन-मन में वही स्थान था जो जयदेव-विद्यापति के युग में राधा-कृष्ण का हो चला था। लोकमानस अपने प्रेम, श्रृंगार, रति और विलास की प्रेरणा शिव-पार्वती की केलि-कथा से ही लेता था। यदि शिव-पार्वती कालिदास के युग में उस तरह वन्द्य होते जैसे, विद्यापति के युग में हो गये तो सम्भवतः कालिदास को कुमारसम्भवम् में उमा-शंकर के ऐसे घोर श्रृंगार-वर्णन करने का साहस नहीं होता। पार्वती-युग में पार्वती जगज्जनी हो गयी और शिव देवाधिदेव, और जनता ने वहाँ प्रेम-देव और इष्ट के रूप में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा कर दी। विद्यापति शिव-पार्वती में सम्भ्रमित हैं, किन्तु राधा-कृष्ण की लीला में अकुंठित। पहले संकेत दिया गया है कि इस धर्म का मूल आनन्दवाद है। यह हमारी ही विशेषता है। मुस्लिम धर्म में ईश्वर सर्वसत्तावान अधीश्वर और शासक है, उसके आगे झुका जाता है। ईसाई धर्म का ईश्वर दुःख का त्राता है, परोपकारी है, किन्तु इस धर्म के मूल में दुःख की वेदना है—इसका भक्त सलीब पर टाँगा जाता है। किन्तु आर्य-धर्म या हिन्दू धर्म का ईश्वर पति है, पत्नी है, प्रिय है, सहज है, लीलामय है। उससे वात्सल्य, रति, भोग, मित्रता, समता किसी भी बात की माँग की जाती है। वैष्णव-भक्ति धारा में यही बात अधिक से अधिक सहज हो उठी है।

कालिदास का विद्यापति पर कितना प्रभाव है, इसकी पुष्टि के लिए कुछ प्रसंगों के उल्लेख पर्याप्त होंगे।

"शूलितः करतल युगेन सा सन्निरुध्यनयने हृतांशुका।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयित्वा विधुरा रहस्यभूतः।।"

विद्यापति ने इसे ग्रहण किया है, किन्तु अधिक लोकगम्य, अधिक सुन्दर और प्रभविष्णु रूप में—

"जखन लेल हरि कंचुअ अछोड़ि
कत परजुगति कयल अंग मोड़ि
कर न मिझाय दूर जप दीप !
लाज न मरय नारि कंठ जीव !"

राधा ने कृष्ण के लोचन तो नहीं मूँदे वरन और अधिक मानवीय रीति से जलते

दीप को बुझाने की चेष्टा करने लगी कि कृष्ण उसकी नग्न देह देख न पायें। या तुनक कर बोली—

"बिहर से रहसि हेरने कौन काम
से नहि सहवहिहमर परान!
कहूँ नहिं सुनय यहन परकार
करये विलास दीप लय जार!"

तुम रति तो करो, मगर मुझे निहारने का क्या काम? यह मुझ से सहा नहीं जाता। बाप रे, कहीं नहीं सुना, कि विलास करे तो दीप जला कर! चित्र का साम्य है, किन्तु मानव-स्पर्श विद्यापति में अधिक है!

विद्यापति ने कालिदास की उपमाओं से प्रत्यक्ष प्रेरणा ली है!

"तासां मुखैरासवगन्धधूमैव्याप्तन्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रे भ्रमरे गवाक्षाः सहस्रपत्रा भरणेइवासन।।"

और विद्यापति ने लिखा है—

"भमर भरम मुख लोटयरे, जनुकमल-तरास"। नववधू वासगृह में जाती है तो अनुभवहीना होने से सम्भोग-भय से काँपती है। कालिदास ने अत्यन्त सुन्दर उपमा दी है—

"एष चारुमुखी योग्य तारगा युज्यैते ते तरलबिम्बया शशि।
साध्वसादुपगत प्रकम्पया कन्यैयेव नवदीक्षयावरः।।"

चन्द्रमा के पास जाती हुई तारायें थर-थर काँप रही हैं जैसे कोई नव-वधू कन्या प्रथम बार सम्भोग के लिए जाती हुई थर-थर काँप रही हो।

"सुन्दरि चलहहु पहुधर ना!
चहु दिस सखि सब कर घर ना!
जइतहु लागु परम डर ना!
जइसे ससि काँप राहु डर ना!"

यहाँ चन्द्रमा और तारा की उपमा बदल कर चन्द्रमा और राहु की हो गयी है। यह अधिक व्यंजित होता है।

या—

"फिर-जइसे डगमग नलिनिक नीर!
तइसे डगमग धनिक शरीर!"

इसका भी चित्र-भाव वही है!

विद्यापति ने पारवर्ती काव्य को भी अत्यधिक प्रभावित किया है। सूर जैसे महारथी भी विद्यापति के प्रभाव से वंचित नहीं हो सके। एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

विद्यापति का पद है—

"दुहुदिसि दाह दहन जइसे दगधइ ग्राकुलकीट परान।
ऐसन कल्लभ हेरिसुधामुखि, कवि विद्यापति भान।।"

सूर ने उपमा रची है—

"उभय उग्रदव दारुकीट ज्यों शीतलताहि चहै।
सूरदास ग्रति विकर विरहनी, कैसहु सुखन लहै।।"

पुनः—

"सारंग नयन वयन पुनि सारंग सोरंग तसु समदाने।
सोरंग उपुर उगल दस सारंग केलि करथि मधुपाने।।"

यह पद विद्यापति का है।

उसका ठीक समकक्ष सूर का 'सारंग नयन' कूट पद है। सूर ने विद्यापति के ग्रनेकानेक उपमान, उपमा ग्रौर रूप ग्रहण किये हैं जिसका उल्लेख करना प्रसंगान्तर होगा। कृष्ण ने राधिका को प्रथम बार देखा तो विद्यापति के शब्दों में कृष्ण में कामद-संचार कितना कठिन ग्रौर भारण हुग्रा है—

"ससन परस खस ग्रम्बर रे, देखल धनिदेह।
नवजलधर तर संचर रे जनु दामिनि देह।।
ग्राजु देखल धनि जाइतरे, मोहि उपजल रंग।
कनक लता जनि संचर रे, महि निर ग्रवलम्ब।।"

इसकी उपमायें बेजोड़ है, मर्म प्राण को बेध देता है ग्रौर भाव प्रत्येक तरुण के ग्रपने भाव हैं। यही सहजता विद्यापति का प्राण है। सूर ने भी प्रथम दर्शन की झाँकी ऐसी ही दी है। किन्तु उस झाँकी में तरुण-वासना की गन्ध नहीं, किशोर कामुकता का विस्मय है—

"ग्रौचक हि देखि तहँ राधा नैन विसाल माल दिये रोली।
नीलवसन फरिया कटि पहिरे, बेनी रुतिर पीठ झकभोरी!
सूर श्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिली परी ठगोरी।।"

दोनों ही चित्र महान् ग्रौर पूर्ण हैं। एक युवती का विदग्ध करने वाला चित्र, एक किशोरी का हृदय हर लेने वाला चित्र। विद्यापति की यह उपमा 'नव जलधरतर संचररे' कालिदास की एक महान् उपमा का स्मरण दिला देती है—

"नील मेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेही तपस्विनी।।"

इसके ग्राशय भिन्न हैं, किन्तु उपमा के चित्र कितने समान ग्रौर प्रभावशाली हैं। विद्यापति ग्रौर तुलसीदास के श्रृंगार-वर्णनों में भी ग्रद्भुत् साम्य मिल जाता है! विद्या-

पति ने राधा-रूप निहारल माधव के मुख से यह पंक्ति कहलाई है—

"जहाँ-जहाँ पग-युग धरई। तहिं तहिं सरोरुह झरई।"

तुलसी के राम ने सीता को फुलवारी में देखा है और फिर—

"जहँ विलोक मृगशावक नयनी, मनुतहं वरस कमलसित श्रेनी।"

उपमा की कोटि में अन्तर है किन्तु वर्ण्य यहाँ एक ही है।

विद्यापति की यह कामललिता, रूपगर्विता अथवा विरह-विधुरा राधिका विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। जयदेव से सीधी प्रेरणा लेकर कृष्ण-कथा-कार वर्णन करने वाला यह राजकवि जयदेव को कई क्षेत्रों में पीछे छोड़ कर आगे निकल गया। जैसे जयदेव के काव्य में भी मात्र वासकसज्जा, अभिसारिका, मुग्धा नायिकाओं, संयोग के नग्न, उत्तान चित्रों और वियोग के प्राकृत चित्रों को देखकर उसे भी लोक-काव्य मानने की भावना उठती है किन्तु उन्होंने कृष्ण का देव-रूप सुरक्षित रखने का बारम्वार प्रयास किया है। विद्यापति ने ऐसा प्रयास नहीं किया है कि इस कारण विद्यापति का गान अधिक सहज, और मानवीय हो गया है। इस दृष्टि से जो अन्तर वाल्मीकि और तुलसीदास में है, वही अन्तर विद्यापति और जयदेव में है। इनके पदों में विलास का वैदग्ध्य जयदेव जैसा ही है, किन्तु राधिका के पछतावे में ये जयदेव को पीछे छोड़ गये। नारी जब पुरुष के छल से व्यथित हो जाती है तो उसके जो उद्‌गार निकलते हैं, उसमें विद्यापति बेजोड़ हैं। राधा की सखी कहती है—

"जेकर एहन धनि काम कला सन से किये करु व्यभिचार।"

जिसको ऐसी त्रिया मिली, वह परस्त्री से व्यभिचार क्यों करता है?

व्यथित राधा उत्तर देती है—

"कुलकामिनी छलों कुलटाभय गेलों कानु से प्रीति लगाई!"

फिर कहती है—

"तिरिया जनम नहि देह है विधाता
तिरिया जनम नहि देह!
तिरिया जनम यदि दीन्ह हे विधाता
जनि कुपुरुष से नेह!

यह राधिका सामान्य मैथिल-कन्या लगती है। सूरदास की राधा के समान कृष्ण के प्रति देव-भाव का या जयदेव की राधिका सा, या चंडीदास की राधा सा कोई भी करुणामिश्रित आदर भाव नहीं है। सहज मानवी का गुण है। पुरुष अगर गलत काम करता है, तो यह काममयी रमणी अपना अधिकार भी पहचानती है। अन्त में खीझकर राधा सखी से यहाँ तक कह डालती है—

"सजनी दूर करू ओ परसंग
दैवक दोस सनेह यदि उपजय
लम्पट सन जनु होय।।"

विद्यापति की राधा को कृष्ण को लम्पट पुकारने में भी तनिक भी व्रीडा नहीं लगती।

जयदेव की कोमलकान्त पदावली में लोक-रस हैं किन्तु अलौकिक हैं, भौतिक परिवेश किसी काल्पनिक धरातल के लगते हैं जहाँ कोई भय नहीं। किन्तु विद्यापति की राधा और कृष्ण का मिलन-वियोग धरातल इसी लोक में है, उसी परिवेश में, जो आज भी मिथिला के गाँव-गाँव में वर्तमान है। लोक-जीवन जैसे रस का भोग करता है वैसे ही विद्यापति के राधा-कृष्ण भी करते हैं। रति लम्पट कान्ह, मार्ग में धनि को जाते देखा है, तो उसके मन में रंग उपजता है और वह उस 'अपुरुब वाला' से छल-वल से देव देयासनी बनकर 'लाख परकारे' मिलता है, और इस भाँति इनके पद में मिथिला को तात्कालिक लोक परिस्थिति स्पष्ट हो जाती है। इनमें यमुना-तट, वृन्दावन, वंशी-नाद, रास नहीं है, वय:सन्धि की वेला में ठिठकी कन्या के 'पहली वदुर सम पुन नवरंग' कुचों के उठान से लेकर कनक—शम्भु या कनक-कटोरा बनकर पूर्ण होते जाने वाले उरोजों वाली तरुणी का वर्णन है जो वासगृह में पहले तो लज्जा से दीप बुझाना चाहती है फिर इतनी प्रगल्भ हो जाती है कि 'प्रति अंग चुम्बन रस अनुमोदन थर-थर काँपये राधे।' और फिर ढीठ बन कर वह विपरीत-रति रचा करती है इस वेग से कि लगता है—

"अम्बर खसल धराधर उलटल।
धरनी डगमग डोले।।
खरतर वेग समीरन संचरनु।
चैंचरिगन करु रोले।।

रीतिकाल के कवियों ने इस विपरीत-रति को, अपना विषय बनाकर इसे मात्र कलुषित घृणास्पद रूप से नग्न और जुगुप्सा उपजाने वाला बना डाला। किन्तु विद्यापति के ये विपरीत-रति के चित्र विश्व-काव्य की अद्भुत निधि हो गये।

"पिय-मुख सुमखि चूमितज ओज।.
चाँद अधोमुख पिवये सरोज।।"

जयदेव की राधिका भी इस विदग्ध विलास में अप्रतिम है, 'रति विपरीते तड़िदिवभीते घनइवतरलवलाके' किन्तु विद्यापति का चित्रण देखिये—

"आकुल चिकुर बेढ़लि मुख सोभ।
राहु कयल ससि-मंडल लोभ।

विपरितरति कामिनी करि लेल।
किंकन रटत नितम्बिनी छाज।
मदन महारथ वाजन वाज।
फूजल चिकुर माल धरू ग्रंग।
जनु जामुन मिलि गंग-तरंग!"

यह रूप-शोभा ऐसे ग्रश्लील को भी मन्दिरों में गाये जाने योग्य बना गयी है।

"विगलित चिकुर मिलत मुखमंडल
चाँद वेढ़ल घन माला
मनिमय कुंडल स्रवन दुलित मेल
धाम तिलक वहि गाला!
सुन्दरि तव मुख मंगल दाता-
किंकिनी किकिनी कंकन कनकन
घन-घन नूपुर वाजे
रति रन मदन पराभव मानल
जय-जय डिमडिम वाजे।"

इन पंक्तियों को विद्यापति के श्रेष्ठतम पदों में से एक मानना होगा। उपमा, व्यंग्यार्थ, नाद, ध्वनि ग्रौर संगीत सब दृष्टि से यह ग्रभूत-पूर्व रचना है। तुलसीदास ने भी ऐसे नाद-सौन्दर्य का प्रयोग किया है—

"कंकन किंकिनी नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभि दीन्हा।"

लेकिन मनिमय कुंडल......ग्रादि की ग्रनुप्रास-योजना ग्रौर किंकिनी, कन कनि...घनघन नूपुर, डिमडिम डमरू का नाद-सौन्दर्य, जिस चित्र को जगाते हैं, उसकी उपमा दुर्लभ हैं, इन्हीं उपमाग्रों के ग्राधार पर विद्यापति कालिदास को कभी-कभी चुनौती देने लगते हैं।

ग्रौर यह नारी-शक्ति कवि को इस कारण मिली है कि वह देह के रूप का ग्रकुण्ठित उपासक है। रूप के वर्णन में विद्यापति को विशेष सिद्धि मिली है। नारी के देह-सौन्दर्य ने विद्यापति को पूर्णरूपेण ग्रभिभूत किया था। इस देह के रूप को इसी कारण विद्यापति ने ऐसे धरातल पर रख दिया है जहाँ से उसे नीचे उतारना सम्भव नहीं रहा!

"तोहर बदन सम चाँद होग्रय नहि
कैयो जतन विधि केला

कय बेरि कटिट बनावल फेरिकय
तैयो तुलित नहीं मेला।"

उपमा और उपमान के इस परिवर्तित चित्र में असम्बद्धता नहीं लगती है, वरन् रूप मन को घेर लेता है। राधा का रूप ऐसा कि मानो—

"अपरुव के विहि आनि मिलावल
छिति तल लावनि सार।"

यह उपमा 'छवि गृह दीप शिखा जनु बरई' से अधिक भारी पड़ती है।

"माधव की कहव सुन्दरि रूपे
कतेक जतन विधि आनि समारल
देखल नयन सरूपे।"

इनके पद की नारी में मानव-रूप है, सद्यःस्नाता का रूप वर्णन करते समय सहजोक्ति और काव्य का ऐसा संगम दुर्लभ है—

"कामिनी करये सताने
हेरइत हृदय हनये पंचबाने!
चिकुर गरय जलधारा,
जनि ससिमुख डर रोअये अधियार
तितल वसन तनुलागु
मुनिहिक मानस मन्मथ जागु"

या प्रति प्रभात मिथिला के घाटों पर दर्शित यह चित्र—

"केस निगारइत बह जल-धारा।
चमर गरय जनु मोतिम हारा॥"

ऐसी राधा को देख कान्ह क्यों न मूर्च्छित हो—

"ससनपरसखस अम्बर रे, देखल धनिदेह
नवजल धर तर संचर रे, जनु दामिनी रेह।
सहजहि सुन्दर-जानन रे
मोह-सुरेखलि आँखि।"

इतने सहज भाव से सौन्दर्य का चित्र उकेरना कितने कवि की शक्ति होगी?
विद्यापति को पुरुष का रूप भी उतना ही प्रिय है—
कृष्ण को देखकर राधा को लगता है—

"कमल जुगल पर चांदक माला।
तापर उपजल तरुन तमाला॥"

इसी से राधा के नयन बंध जाते हैं—

"मधुप मातल उड़येन पारये।
तइग्रश्रो पसारये पाँखी ।।"

सखी से कहती है—

"सामर सुन्दर ए, बाट ग्रायेल।
ते मोर लागत ग्राँखि ।।"

विद्यापति ने स्त्री की सारी ग्रवस्थाग्रों का चित्र उतारा। रीतिकाल का जन्म विद्यापति में ही पूर्णता ग्रौर सुन्दरता से हुग्रा। वय:सन्धि से विरहिणी युवती तक की नारी का ऐसा रूप निजी ग्रनुभव के विना सम्भव नहीं था। मानव-स्वभाव का जैसा चित्र विद्यापति ने वाला से युवती की मध्य ग्रवस्थाग्रों से गुजरती नारी में उतारा है, वह दुर्लभ है।

"सैसव यौवन दुहु मिली गेल।
स्रवनकपथ दुहु लोचन लेल ।।
मुकुर लई ग्रव करइ श्रृंगार।
सखि पूछइ कइसे सुरत विहार ।।
सुनइत रस-कथा थापय चित्त।
जइसे कुरंगिनी सुनय संगीत ।।
खन-खन दसन छटा छूट हास।
खने-खने ग्रधर ग्रागे गहु वास ।।" ग्रादि-ग्रादि।

विद्यापति का संयोग-श्रृंगार जितना विलक्षण है, उतना ही हृदयग्राही है विप्रलम्भ श्रृंगार, विरह-वेदना से मुरझाई राधिका का चित्र विश्व-साहित्य में ग्रतुलनीय-सा लगता है।

"एकसर ठाढ़ि कदम तर रे, पथ हेरय मुरारी।
हरि विनु हृदय दगध मेल रे, झामर मेल सारी ।।"

यह राधिका ही नहीं, ग्रनन्त काल से खड़ी विरहिणी समग्र नारी-जाति का चित्र है जिसकी व्याकुलता की व्याख्या को शब्द समर्थ नहीं। पथ हेरती राधिका का हृदय दग्ध है ग्रौर साड़ी झामर हो गयी है। इसमें काल का वहता हुग्रा सारा विस्तार समा गया है। विरह की विराटता के इस चित्र को विद्यापति के पदों का गौरव मानना होगा।

सामान्य नारी की भाँति राधिका ग्रनुनय करती है—

"माधव तोहे जनु जाइ विदेश,
हमरा रंग-रभस लय जयव लयब कौन सन्देश।"

तुम जाग्रोगे तो मेरा तो रंग-रभस, हँसी खुशी लेते चले जाग्रोगे, मगर मेरे लिये

क्या लाओगे। ऐसा काव्य-वैदग्ध्य उपमा-उपमानों के जाल में व्यक्त नहीं हो सकता था। यह लोकवाणी की वेदना ही है।

कृष्ण के बिछुड़ जाने पर जो राधा पर बीतती है, उसको इस उपमा में कवि ने कितनी सशक्त अभिव्यक्ति दी है—

"गोकुल चान चकोरल रे,
चोरी गेल चन्दा।
बिछुड़ि चलल दुई जोरी रे,
जीव दइ गेल धन्धा।"

राधा मिथिला की मामूली स्त्री की तरह काग को चुमकारती है कि वह शगुन करे—

"काक भाख निज भाखह रे
पहु आओत मोरा !
खीर खांड भोजन देव है,
भरि कनक कटोरा।"

वह उसे सोने के कटोरे में भोजन देगी।

दुखिता राधा की यह अभिव्यक्ति—

"सरसिज विन सर, सर बिन सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे।
जीवन विनु तन, तन बिनु यौवन कि यौवन पिया दूरे।।"

एक ओर तो सहजता और ग्रामीण उपमा की पराकाष्ठा लाँघ जाती है, दूसरी ओर यह काव्य की बेजोड़ उपमा हो गयी है। किन्तु परिणाम कुछ नहीं निकला—

"लोचन धाय फेधायल, हरि नहीं आयल रे।"

वाट जोहते-जोहते राधा के लोचन में कीच आ गये। उसके पछताने में जो स्वर है, उसकी उपमा अन्यत्र नहीं—

"यौवन रूप अछल दिन चारि
से देखि आदर देल मुरारी।"

अब राधा को कृष्ण क्यों पूछे ?

चारों ओर को घेर-घेर कर जब बादल उठते हैं तो राधा की वेदना प्रचंड हो जाती है। इस पद को संगीतकारों ने मेघ-मल्लार में रस-रसकर लाखों बार गाया होगा—

"सखि है, हमर दुखक नहि ओर
इभर बादर माह भादर सून मन्दिर भोर
झँपि घन बरजन्ति सन्तति भुवनभर बरसंतिया
तिमिर दिगभर घोर यामिनी अथिर बिजरिक पाँतिया

एक ओर इसकी विरह-व्यंजना काव्य-शक्ति का अतिक्रमण करती है दूसरी ओर नाद-सौन्दर्य और छन्द-शक्ति की पराकाष्ठा तक जाती है : भाव और भाषा, रूप और विषय इतना नीर-क्षीर संगम स्तुत्य है। विरह का धरातल विद्यापति में इसी ज़मीन पर है कहीं कल्पित लोक में नहीं।

"के पतिया लय जायतरे मोश पीतम पासे।"

कृष्ण-सखा ने राधा की इस व्याकुलता का इस भाँति वर्णन किया है—

"माधव देखल वियोगिनी वामे।
अधर न हास विलास सखि संग
अहोनिसि जप तुम नामे।"

ऊधो कहते हैं—

माधव, कत परवोधव राधा।
हाहरि, हाहरि कहितहि वेरि-वेरि
अव जीव करव समाधा·········

विद्यापति के कृष्ण भी देवता नहीं हैं—सामान्य मनुष्य हैं। उन्होंने राधिका को योग-ज्ञान का सन्देश नहीं भेजा, सुधि लेने को मित्र को भेजा। उनकी व्यथा को भी कवि नहीं भूला है—

"रामा से किये विसरलजाई।"

उन्हें याद आता है कि जव वे चलने लगे थे तो राधा कैसे मूर्च्छित हो गयी थी—

"कर धरि मथुरा अनुमति मंगइत
ततये परलि मुरछाई
से विनु राति दिवस नहिं भावय
ताहि रहय मन लागी।

यह अभिव्यक्ति देवत्व नहीं जगाती, कृष्ण की विवशता के प्रति पाठक के मन में वेदना जगाती है। प्यार की पराकाष्ठा का चित्र विद्यापति ने वहाँ खींचा है जब राधा 'कृष्ण-कृष्ण' रटते-रटते माधव-रंग में रँग जाती है—

"अदुखन माधव माधव रटइत
राधा भेल मधाई।"

कैसा है यह रूप का अप्रतिम चित्र, वासना का वर्णन !

जव रानी लखिमा चिता में भस्म हो गयी तो कवि के नयनों में वसा रूप का दर्पण चूर-चूर हो गया। उन्होंने सौगन्ध खाई कि "अव न लिखव शृंगार।" और. तव उनके मन का भक्त जागा और मिथिला की गली-गली भक्ति की तरंग में डूव गयी। विद्यापति को रूप की क्षणभंगुरता पर घोर निराशा हुई—

"माधव हम परिनाम निरासा
तातल सैकत वारि बिन्दु सम सुत मित रमनि समाजा
तोहे बिसारी मन ताहि समरपल मोहे मन होव कोनकाजा
निवुवन रमनि रमसरंग मातल, तोहे मजब कोन बेला।

शायद इतने स्पष्ट शब्दों में आत्मस्वीकृति करने का साहस विरले ही व्यक्ति में होगा।

विद्यापति ने जब भगवान में अपने को समर्पित किया तो उसी तल्लीनता के साथ—

"तुहें जगतारन दीन दयामय अतय तोहर विसवासा

और इसी विश्वास के बल पर महाकवि ने दर्शन, धर्म, भक्ति, पूजा की गंगा अपनी नचाड़ियों में बहा दी—

"केत चतुरानन मरिमरि जाओत, न तुअ आदि अवसाना।"

भगवान् शिव की यह नचारी—

"अमिय जे चुअत ललार बघम्बर जागत है।
होयत बधकर बाघ बसह धरि खायत है।
जटा सय जे छिटकत गंग भूमि-भरि पाटत है।
होयत सहस्रमुख धार समेटलोने जायत है।
मुंडमाल टुटि खसत, मसानी जागत है।
तोहे गौरी जयबा पलाई नाचकेहि देखत है।

शिव के विराट्-वेश का अतुल्य वन्दन है। देह को थर्रा देने वाला, जैसा वर्णन गीता में कृष्ण का किया गया है, यह वर्णन विराटत्व में कुछ उसी के समकक्ष है। रूप का आराधक शिव जागे तो रूप-मयी स्त्री उस विराटत्व को सहन न कर सकेगी, भाग जाएगी, इस अभिव्यंजना में जीवन के सहस्र मुखर हैं।

अत: विद्यापति के काव्य-वैदग्ध्य की इस विस्तृत समीक्षा के उपरान्त कुछ निचोड़ हाथ लगते हैं। मानना होता है कि विदग्ध विलास से विद्यापति का काव्य परिपूर्ण है, रूप, शृंगार, देह का भोग, लोकजीवन में स्त्री-पुरुष के कामद ग्राह्य-अग्राह्य आचार, विरह, विरह की वेदना और भोग का दैवत्व—विद्यापति ने किसी भी क्षेत्र को अधूरा नहीं छोड़ा है। इन्होंने उपमा-उपमाओं में जगह-जगह कालिदास को छू लिया है। उपमाओं के क्षेत्र में विद्यापति में एक विचित्रता दीख पड़ती है। विशेषकर 'बाला या तरुणी' के कुचों के सौन्दर्य का वर्णन करने में विद्यापति ने उनकी उपमायें शिव के पिंडों से बेझिझक दी है। कारण क्या था, ज्ञात नहीं। वे स्वयं प्रचंड शिव-भक्त थे। किन्तु, ये उपमायें,

यदि कोई सजग होकर सोचे, तो उस युग विशेष में आधुनिकता की सारी सीमायें लाँघती दीख पड़ती हैं।

कृष्ण विलास के वाद सो गये हैं—

"सुरत समापि सुतल वर नागर पीन पयोधर झाँपि
कनक-संभु जनि पूजि पुजारि घयल सरोरुह झाँपि।"

इसकी उपमा का सौन्दर्य जितना चित्ताकर्षक है, उपमान उतना ही चौंकाने वाला। पूर्ववर्ती-पश्चवर्ती किसी कवि को ऐसा साहस नहीं हुआ।

दूसरी उपमा देखिये—

"चन्दन चरचु पयोधर रे, ग्रिम गज मौतिहार
भसम भरल जनु शंकर रे, सिर सुरसरि धार।"

स्त्री के देह में देवत्व की स्थापना यह सिद्ध करती है कि कवि रूप को दैवी मानता था—पयोधरों के चन्दन वैसे लगते हैं जैसे शिव-पिंडी पर भस्म भरी हो, मोतीहार लगता है जैसे उस पर गंगाधार गिर रही हो।

मिथिला के शिव-मन्दिरों में शिवलिंग के ऊपर कलश में जल भरकर उसमें छेद कर देते हैं जहाँ से बूँद-बूँद जलधारा शिव-लिंग को मोतीहार सी सिंचित करती रहती है। अन्य उपमायें भी हैं—

"अम्बर विघटु अकामिक कामिनी
कर कुच झाँपु सुछन्दा
कनक संभु सम अनुपम सुन्दर
दुहु पंकज दस चंदा।

टाल्स्टाय ने एक वहुत ही सुन्दर प्रतिमान दिया है—समय के नयन "Eyes of Time". मैं कहने को विवश हूँ कि विद्यापति को यही समय के नयन प्राप्त थे, इस कारण इनके किसी भी पद में, चाहे उसका वर्ण्य जो भी हो, अस्वाभाविकता नहीं लगती। उन्होंने अनमेल विवाह (जो मिथिला में रोग की भाँति फैला था) जैसे बड़ी रमणी, अल्पवयस्क पति, उस पर भी छींटाकशी नहीं छोड़ी—"मदन वेदन बड़ पिय मोर बलछड़" जैसे पदों में इसी की व्यंजना है। विद्यापति के अप्रस्तुत विधान मन को उद्दीप्त करते हैं, पुरानी वातें रमणीय ढंग से कहकर चौंका देने का इस कवि को वर प्राप्त है। यौवन के प्रति विद्यापति में उद्दाम भोग-लालसा है, रूप के प्रति असाधारण आसक्ति है और सब कुछ को समाहार के शब्दों में कहने पर यही कहना होगा कि विद्यापति को सर्वांगीण काव्य-दृष्टि मिली थी जिसने जीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा और सारे क्षेत्रों में उनकी कविता "जय-जय डिमडिम वाजे" की ध्वनि उपस्थित करती है।

卐

शंकर-अकादेमी, दिल्ली की ओर से आयोजित शंकराचार्य-जयन्ती-समारोह पर

अध्यक्षीय-भाषण

दिनाङ्क २५-४-१९६६ ई०

शंकर-अकादेमी की ओर से आयोजित शंकराचार्य-जयंती के इस पुण्य समारोह में आपने मुझे यहाँ आमन्त्रित कर उस दिव्यात्मा के स्मरण का जो सौभाग्य प्रदान किया है—उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

आचार्य शंकर हमारे राष्ट्र की वह दिव्य विभूति थे—जिसके प्रकाश से इस राष्ट्र को एक नवीन चेतना और जागृति मिली है। उनका जीवन एक अद्‌भुत घटना-क्रम का रोमांचकारी इतिहास है—जिसकी प्रत्येक घटना अलौकिक चमत्कार से परिपूर्ण है। भगवान् शिव के आशीर्वाद के रूप में उनके जन्म, आठ वर्ष की अवस्था में वैदिक वाङ्मय पर उनके अधिकार, माता से संन्यास की अनुमति और अद्‌भुत दैवी साधना के साथ-साथ उनके जीवन के प्रत्येक प्रसंग इस राष्ट्र के इतिहास के स्वर्णिम प्रसंगों के रूप में स्मरणीय हैं। उनके जीवन में ही हमें एकमात्र ऐसा चित्र देखने को मिलता है कि एक संन्यासी के जीवन की कथा भी कितनी रोमांचकारी और रुचिकर हो सकती है। उनका जीवन सर्वथा त्यागी जीवन होते हुए भी एक समृद्ध जीवन प्रतीत होता है। त्याग, पवित्रता, कर्मठता और तपश्चर्या का एक विशिष्ट समन्वय उनके जीवन-दर्शन में हमें प्रतीत होता है।

उनके उद्‌भव और जीवन के सम्बन्ध में निम्नलिखत पद सुप्रसिद्ध हैं, जिनका उल्लेख इण्डियन एन्टक्यूरी में किया गया है:—

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एव शंकराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः।
निधिनागेभवन्ह्यब्दे विभवे शंकरोदयः॥
अष्टवर्षे सर्ववेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रभृत्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशेमुनिरभ्यगात्॥
कल्यब्दे चन्द्रनेत्रांकवन्ह्यब्दे प्राविशद्‌गुहाम्।
वैशाखे पूर्णिमायां तु शंकरश्शिवतामगात्॥

इन पद्यों तथा अन्य प्रमाणों के अनुसार आचार्य शंकर का जन्म ८वीं शताब्दी में माना जा सकता है और दुष्टाचार के विनाश के लिए उनके प्रादुर्भाव का स्पष्ट निर्देश हमें प्राप्त हो जाता है। यह केवल उन्हीं की दैवी शक्ति की देन है कि उन्होंने इस राष्ट्र में सनातन आस्तिकता की पुनः प्रतिष्ठापना की। यदि हमारे इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों से आचार्य शंकर की देन को हम निकाल दें—तो मैं मानता हूँ कि हमारे राष्ट्र का जीवन एक प्रकार से शून्य प्रतीत होगा।

शंकराचार्य जी का जीवन बहुमुखी प्रवृत्तियों का एक समृद्ध भाण्डागार है। एक समर्थ और विद्वान् आचार्य के रूप में उनके प्रस्थानात्रयी-भाष्य संस्कृत वाङ्मय के बहुमूल्य रत्न हैं। उनके ब्रह्मसूत्र भाष्य पर भामती टीका लिखते हुए वाचस्पति मिश्र ने निम्नलिखित मंगलाचारण किया है :—

"नत्वा विशुद्धविज्ञानं, शंकरं करुणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते ॥
आचार्यकृतिनिवेशनमप्यधूतं वचोस्मदादीनाम्।
रथ्योदकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति ॥

श्री मिश्र जैसे प्रौढ दार्शनिक ने अपने इस मंगलाचरण में शंकर के भाष्य को प्रसन्न गम्भीर होने के साथ गंगाजल के समान पवित्र भी बताया है। वस्तुतः शंकर की रचनाएँ इतनी सरल, सुबोध, प्रौढ, मधुर और कोमल हैं कि उन्हें पढ़कर मन मन्त्रमुग्ध हो जाता है। गीता और उपनिषद् भाष्यों के अतिरिक्त दो दर्जन से अधिक अन्य ग्रन्थों पर भी उनके भाष्य उपलब्ध होते हैं। उनके स्तोत्र और तन्त्र-ग्रन्थ इतने प्रभावपूर्ण हैं कि उनके उच्चारण मात्र से निश्चय ही मनुष्य अपने-आपमें अद्भुत शान्ति और दैवी शक्ति का साक्षात्कार पाता है। केवल लेखक और आचार्य के रूप में ही विमर्श किया जाए तो आचार्य शंकर निश्चय ही भारत के इतिहास में अपना एक अनुपम स्थान रखते हैं।

उनके स्तोत्रों में 'चर्पट पंजरिका' इतनी लोकप्रिय है कि छोटे-छोटे बालक तक उसके रस का पान करते हैं। उसके कुछ अंशों का पाठ इस प्रसंग के लिए भी मंगलकारक होगा :—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते,
बालस्तावत्क्रीड़ासक्तः, तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः,
वृद्धस्तावच्चिन्ता-मग्नः परे ब्रह्मणि कोपि न लग्नः,
अंगंगलितं पलितं मुण्डम्, दशनविहीनं जातं तुण्डम्,
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुंचत्याशापिण्डम् ॥

वस्तुतः इतनी सरल और सरस पद्धति पर सम्पूर्ण अद्वैत का सार आचार्य शंकर जैसे परिपक्व साधक ही रख सकते हैं।

उनकी 'प्रश्नोत्तररत्न-मालिका' के कुछ ही पद्यों में जीवन का सर्वस्व हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देती है। उसके मार्मिक प्रभाव को केवल हम निम्नलिखित दो पदों में देख सकते हैं :—

क: साधुः ? सद्वृत्तः। कमधममाचक्षते ? असद्वृत्तम्।
केन जितं जगदेतत् ? सत्यतितिक्षावता पुंसा।
कस्य क्रिया हि सफला ? यः पुनराचारवान् शिष्टः।
कः शिष्टः ? यो वेदप्रमाणवान्।
को हतः ? क्रियाभ्रष्टः।
किं शोच्यम् ? कार्पण्यम्।
अति विभवे किं प्रशस्तम् ? औदार्यम्।
कः पूज्यो विद्वद्भिः ? स्वभावतः सर्वदा विनीतो यः।

इनकी 'षट्पदी' का निम्नलिखित पद उनके सारे प्रतिपादनों के सार के रूप में बहुत लोकप्रिय है :—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

उनके वैदुष्य और दिव्य दर्शन की जितनी चर्चा की जाए, उतनी ही थोड़ी है। हमारा वाङ्मय इन चर्चाओं से सर्वथा ओत-प्रोत है और इस चिन्तन ने समस्त उत्तरवर्ती साहित्य को प्रभावित किया है।

इसके अतिरिक्त उनके जीवन का दूसरा पक्ष संगठन और नेतृत्व का पक्ष है। वे इस प्रकार के संन्यासी नहीं थे जिनका समाज के उद्धार से साक्षात् सम्बन्ध न हो—उनका तो अवतार ही लोक-कल्याण के लिए हुआ था। वे वस्तुतः ज्ञानयोग के आचार्य थे, पर उनके जीवन में पूर्ण ऊर्जस्विता और कर्मयोग का सुन्दर समन्वय था। वे एक महान् तत्त्व-वेत्ता और कुशल समाज-सुधारक थे। केवल ३२ वर्ष की आयु में यात्रा के साधनों के अभाव में भी उन्होंने राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से सारे भारत की यात्रा कर इस देश को एक समर्थ सांस्कृतिक नेतृत्व प्रदान किया। उनने वर्णाश्रम-व्यवस्था को पुनर्गठित किया और संन्यास आश्रम को भी प्रथम बार सुनियोजित बनाया। उनके द्वारा भारत के कोने-कोने में की गई मठों की स्थापनाएँ उनकी दिव्य व्यावहारिक दृष्टि का परिचय कराती हैं। संस्कृत के माध्यम से उन्होंने सारे भारत में अपना सन्देश पहुँचाया। दक्षिण में जन्म लेकर दक्षिण के साथ-साथ समस्त उत्तर भारत को उनने अपनी दिव्य ज्योति से प्रकाशित किया।

वस्तुतः आज हम जिस राष्ट्रीय एकता की चर्चा करते हैं—आचार्य शंकर उसके सफल उद्भावक और प्रत्यक्ष मूर्ति थे। उनका जीवन आज भी इस राष्ट्र की एकता और

अखण्डता का एक देदीप्यमान निदर्शन है। यदि हम उनके जीवन-चरित का अधिक से अधिक प्रचार करें तो राष्ट्रीय एकता के लिए वह एक वरदान सिद्ध हो सकता है।

दार्शनिक दृष्टि से आचार्य शंकर का प्रतिपादन विश्व-दर्शन की चरम उपलब्धि कहा जा सकता है। उनका दर्शन अत्यन्त पारदर्शी है। जीव, जगत् और ब्रह्म के विषय में उनकी दृष्टि इतनी स्पष्ट है कि उनके पूर्ववर्ती या पारवर्ती प्राच्य अथवा पाश्चात्य कोई भी आचार्य उतनी गहराई तक नहीं पहुँच सके। इन तत्त्वों को समझने के लिए, पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता—इन तीन सत्ताओं की उनकी उद्भावनाएँ अत्यन्त मौलिक हैं। तत्व-ज्ञान मूलक किसी भी जिज्ञासा का उत्तर इन तीन सत्ताओं द्वारा जिज्ञासु को मिल जाता है। उनका दर्शन हमें ज्ञान की उच्च से उच्च सीमा तक पहुँचाता है, लेकिन कर्म से विमुख नहीं रहता।

उनका तत्त्वज्ञान समस्त वेदान्तों की चरम प्राप्ति और समस्त प्रश्नों का समाधान है। यही कारण है कि हम विश्व के तत्त्वज्ञों में उनको मूर्धन्य स्थान पर देखते हैं। वस्तुतः भारतीय जीवन में वेदों के प्रति जो श्रद्धा, पुराणों के प्रति जो प्रेम, रामायण महाभारत के प्रति जो आस्था एवं भारतीय संस्कृति के प्रति जो आदर की भावना हम देखते हैं उसके वर्तमान स्वरूप के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर ही हैं। यह राष्ट्र उनके इस ऋण से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता।

वे केवल दार्शनिक ही नहीं थे, अपितु उन्होंने प्रयोग में भी उन विचारधाराओं को अवतरित कर दिखाया। वे पहले कट्टर सनातन धर्मी थे—जिनने 'पुनः संस्कारमर्हति' इस वाक्य की विस्तृत व्याख्या कर हिन्दू धर्म की विशालता को समाज के समक्ष रखा। वे शुद्धि के समर्थक थे। वे महा विद्वान् और सशक्त आचार्य थे, यही कारण है कि रूढियाँ उनको मार्ग से विचलित नहीं कर सकीं। संन्यासी होते हुए भी प्राचीन रूढियों को तोड़कर अपनी माता की दाहक्रिया में सम्मिलित होकर उनने रूढिवाद को तोड़ने की महति शक्ति का परिचय दिया।

अतएव हम उनके समग्र जीवन को एक धर्मवीर का जीवन कह सकते हैं। उनकी वाणी में दृढ विश्वास है—जिसकी स्पष्ट अनुभूति पाठक को उनके श्रद्धा-सम्पन्न एक-एक शब्द से होती है। उनका प्रत्येक कार्य एक बलवान् महापुरुष का कार्य है—किसी संसार से त्रस्त व्यक्ति का नहीं। संस्कृत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर उनने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि संयुक्त भाषा के द्वारा सारे देश को समान रूप से किस प्रकार एक सूत्र में बाँधा जा सकता है।

उनसे अधिक विश्व-बन्धुत्व का सन्देश कौन दे सकता है?

जाति-नीति-कुल-गोत्र-दूरगं, नाम-रूप-गुण-दोष-वर्जितम्।
देश-काल-विषयातिवर्ति यद्, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि॥

इस एक ही पद्य में उसने जाति, कुल, गोत्र, देश और काल से ऊपर उठने का सन्देश विश्व को दिया है। सब दिशाओं में उनके द्वारा प्रदर्शित ये चमत्कृतियाँ ही उन्हें दैवी विभूति सिद्ध करती हैं। यही कारण है कि हम भारतीय संस्कृति के अनुयायी उन्हें 'भगवान्' या 'भगवत्पाद' जैसे विशेषणों से सम्बोधित करते हैं।

यह प्रसन्नता की बात है कि शंकर अकादेमी ने गत वर्ष अपने स्थापना-काल से ही राजधानी में शंकर जयन्ती समारोह का आयोजन प्रारम्भ किया है। लेकिन उस महान् आत्मा को श्रद्धांजलि देने के लिए ये संक्षिप्त आयोजन पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि बुद्ध-जयन्ती के समान राजकीय एवं सार्वजनिक स्तर पर विशाल पैमाने पर शंकर-जयन्ती का आयोजन किया जाए। भगवान् शंकराचार्य के सन्देश सारे ब्रह्माण्ड के लिए कल्याणकारी हैं। यह निश्चित है कि उनकी जयन्ती के आयोजन से राष्ट्र की एकता और विश्वबन्धुत्व की भावना को बल मिलेगा और उनके विचारों का प्रचार विशेषकर हमारे राष्ट्र के लिए शाश्वत उपकारक सिद्ध होगा।

अन्त में भगवत्पाद द्वारा रचित 'शिवानन्द लहरी' की इस प्रार्थना के साथ मैं अपना भाषण समाप्त करता हूँ—धन्यवाद।

त्वत्पादांबुजमर्चयामि सततं त्वां चिन्तयाम्यन्वहं,
त्वामीशं शरणं व्रजामि वचसा त्वामेव याचे विभो।
वीक्षां मे दिश चाक्षुषीं सकरुणां दिव्यैश्चिरं प्रार्थितां,
शंभो लोकगुरो मदीयमनसः सौख्योपदेशं कुरु ॥

श्री महावीर जयन्ती समारोह

जिन महापुरुष की पुण्यस्मृति में हम आज एकत्रित हुए हैं उनके उपदेशों और सिद्धान्तों का महत्त्व वैसे तो युगों से सर्वविदित है, किन्तु आज उन समन्वयात्मक सिद्धान्तों की महत्ता सर्वोपरि है। जैन धर्म के उदार विचार इस युग की जनतन्त्रवादी भावनाओं के सर्वथा अनुरूप हैं, और उनके साथ हमारे संविधान का बहुत सामंजस्य है। भारतीय संविधान में समस्त नागरिकों को वर्ण, जाति, धर्म, वंश, लिंग आदि के भेद के बिना समानाधिकार की घोषणा जिस उदारता के साथ की गई है, वही श्रमण-संस्कृति का भी मूल रही है। श्रमण-संस्कृति में भी जन्मतः सभी व्यक्ति समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार अपने भावी जीवन के मार्ग का निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र है।

अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति जैन-दर्शन के भी दो पक्ष हैं। एक साधना या धर्म और दूसरा दर्शन। इस प्रसंग में मैं भारतीय दर्शन के विषय में एक मिथ्याभ्रम का उल्लेख करना चाहूँगा। कुछ काल से लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की दो शाखाएँ हैं, जिनमें वैदिक-दर्शन 'आस्तिक-शाखा' तथा बौद्ध, जैन जैसे दर्शन 'नास्तिक-शाखा' के अन्तर्गत हैं। किन्तु इस वर्गीकरण का कोई यथार्थ आधार नहीं है। सत्य तो यह है कि जैन तथा बौद्ध दर्शनों के बीज वैदिक-विचारधारा में ही विद्यमान हैं। कर्मफल की अनिवार्यता ही आस्तिकता का आधार है और वह जैन-बौद्ध दर्शनों को उसी प्रकार मान्य है जैसे वैदिक-दर्शनों को। इस स्थिति में उन्हें आस्तिक और नास्तिक नाम की दो विरुद्ध शाखाओं में विभक्त करना सर्वथा असंगत और अत्यन्त भ्रामक है। वास्तविकता तो यह है कि वैदिक काल में दो समानान्तर विचारधाराएँ चल रही थीं। इनमें से एक यज्ञ की 'हिंसा' से सम्बन्धित थी तो दूसरी का सम्बन्ध 'अहिंसा' से था। आगे चलकर ये दोनों विचारधाराएँ एक-दूसरे को अधिक प्रभावित करने लगीं और उसका फलितार्थ हुआ उपनिषदों का जीवन। यही जीवन देश-काल की परिस्थिति के अनुसार परिष्कृत और विकसित होता हुआ जैन तथा बौद्ध संस्कृति के रूप में पल्लवित हुआ।

ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार बौद्धधर्म के उद्‌गम से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही जैन-धर्म के साथ श्रमण संस्कृति अवतरित हो चुकी थी। ये दोनों ही धर्म सम्प्रदाय-मात्र तक सीमित न रहकर व्यापक रूप से देश तथा विदेशों में मानव-जीवन के पथ-प्रदर्शक बने थे।

भारत में भी वैदिक-धर्म के साथ साथ इनके व्यापक रूप से जनता द्वारा अपनाए जाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'नैषधीय चरित' में 'सम्यक् चारित्र्य' के अन्तर्गत सतीत्व का वर्णन करती हुई दमयन्ती कहती है :

न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः,
स धर्म-चिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालि-कोपानल-भस्मनः कृते,
तदेव भस्म स्वकुले स्तुतं तया ।।

स्पष्ट है कि उस समय घर-घर की स्त्रियाँ तक वैदिक-धर्म के साथ-साथ जैन एवं बौद्ध-धर्मों के सिद्धान्तों से केवल परिचित ही नहीं थीं, वरन्, व्यवहार में भी उनकी दैनिक-चर्या एवं विचारों पर 'सम्यक्-दर्शन', 'सम्यक्-ज्ञान', 'सम्यक्-चारित्र्य' आदि सिद्धान्तों का पूर्ण प्रभाव था।

विचार की दृष्टि से भी जैन-दर्शन की विचारधारा को वैदिक विचारधारा की विरोधिनी कदापि नहीं कहा जा सकता। इन दोनों में जो कुछ भी अन्तर आपाततः प्रतीत होता है वह सर्वथा स्वाभाविक ही है। क्योंकि किसी भी इन्द्रियातीत तत्त्व के परीक्षण में व्यक्ति-विशेष की स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति अथवा अधिकारिता के भेद से जो तात्त्विक दृष्टिभेद होता है, वही दर्शनों के वैविध्य का मूल है। किसी भी तात्त्विक विचार-विमर्श का महत्त्व इस बात में होना चाहिए कि प्रकृत वास्तविक समस्याओं पर वस्तुतः उन्हीं की दृष्टि से विचार किया जाय और उस पर किसी पूर्वग्रह का प्रभाव न हो।

भारतीय वैदिक दर्शनों में 'शब्द-प्रमाण' को विशेष महत्त्व दिया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उन दर्शनों में विचारधारा की मौलिक रूप-रेखा का अंकन तो 'शब्द-प्रमाण' कर देता है और विविध दर्शन केवल उसमें अपने रंग भरने का ही काम करते हैं। किन्तु जैन-दर्शन में परम्परा निमित्त पूर्वग्रहों के प्रभाव से मुक्त रहकर स्वतन्त्र विचारधारा की भित्ति पर विचारों के निर्माण की शैली अपनाई गई है। दार्शनिक-चिन्तन के लिए इस दृष्टि का अपनाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना विशुद्ध दार्शनिकता का विकास सम्भव नहीं है। आज के वैज्ञानिक युग में तो इस दृष्टि की सर्वाधिक आवश्यकता है। इसके बिना आज के बुनियादी मानव को अच्छे-से-अच्छे विचारों से भी प्रभावित नहीं किया जा सकता।

जैन-दर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के अनुसार सैद्धान्तिक आग्रही से मुक्त होकर ही सत्य का दर्शन किया जा सकता है। 'अनेकान्तवाद' का आदर्श सत्य को अनेक दृष्टिकोणों से देखना है। इसी विचारधारा के अनुसार प्रत्येक तत्त्व में स्वभावतः अनेकरूपता हो सकती है। अतः कोई भी दृष्टि उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। यही सिद्धान्त जैन-दर्शन की परिभाषा में 'अनेकान्त-दर्शन' कहा गया है।

वस्तुतः यह सिद्धान्त प्रत्येक दार्शनिक-विचारधारा के लिए आवश्यक है, क्योंकि बौद्धिक-स्तर में इस सिद्धान्त को मान लेने से मनुष्य के नैतिक और लौकिक व्यवहार में एक महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। स्पष्ट है कि जो अपने स्वरूप को समझता है अथवा आत्म-गौरव का ध्यान रखता है और साथ ही दूसरे के भी व्यक्तित्व को उतना ही सम्मान देता है, वही अपने को अभिमान से बचा सकता है। यही चारित्र्य का मूल है। इसीलिए नैतिक समुत्थान में व्यक्तित्व का समादर एक महत्त्व रखता है।

जहाँ व्यक्तित्व का समादर होता है वहाँ स्वभावतः साम्प्रदायिक-संकीर्णता, संघर्ष, छल-छद्म आदि जैसे दूषित उपायों से प्रतिद्वन्द्वी के पराजय की प्रवृत्ति नहीं रह सकती। व्यावहारिक जीवन में भी खण्डन के स्थान पर समन्वयात्मक निर्माण की प्रवृत्ति ही प्रधान हो जाती है। इस प्रकार 'अनेकान्त-दर्शन' नैतिक-उत्कर्ष के साथ-साथ व्यवहार-शुद्धि के लिए जैन-संस्कृति की एक महान् देन है।

आज विश्व में सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि अपने-अपने परम्परा-गत वैशिष्ट्य को रखते हुए भी विभिन्न मनुष्य-जातियाँ एक-दूसरे के समीप आवें और उनमें एक व्यापक मानवता की दृष्टि का विकास हो। जैन-दर्शन की अनेकान्त-दर्शन-मूलक समन्वय की दृष्टि इस आवश्यकता की पूर्ति में बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती है।

जैन-धर्म की 'अहिंसा' केवल हिंसा का निषेध ही नहीं है। वह व्यापक अर्थ में सार्वभौम प्रेम है, जो विध्यात्मक है। अहिंसा के द्वारा यह बताया गया है कि सार्वभौम-प्रेम ही प्राणिमात्र का वास्तविक आधार है। इसी दृष्टि से इस सार्वभौम धर्म की परिधि में 'स्थावर-जंगम' समस्त प्राणि-वर्ग को सम्मिलित किया गया है और उनके साथ आत्म-वत् व्यवहार करने पर विशेष बल दिया गया है। जिस व्यक्ति के दृष्टिकोण में अहिंसा की इतनी उदात्त भावना होगी, वह दूसरे व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की पीड़ा के प्रति कदापि उदासीन नहीं रह सकता।

समाजवादी समाज की रचना के लिए जैन-धर्म का अपरिग्रह-सम्बन्धी सिद्धान्त विशेष अनुकरणीय है। 'परिमित परिग्रह' उनका आदर्श वाक्य रहा है। जैन धर्म के अनु-सार परिमित परिग्रह का सिद्धान्त प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य-रूप से आचरणीय था। एक सच्चे समाजवादी समाज की रचना की दृष्टि से ही जैन-आचार्यों ने इस सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया था।

आज हमारे देश के समक्ष राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी एक जटिल समस्या है। इस दिशा में यदि हम तीर्थंकर महावीर के भाषा-सम्बन्धी समन्वयात्मक मार्ग का अनुसरण करें तो सारी कठिनाइयाँ आसानी से दूर हो सकती हैं। तीर्थंकर की उपदेश भाषा 'अर्ध-मागधी' थी। उनकी भाषा में आधे शब्द मागधी के और आधे अन्य गणतन्त्र की भाषाओं के थे। इस प्रकार वह सच्चे अर्थ में राष्ट्रभाषा और जनभाषा थी। ऐसे ही आज भी

समन्वयात्मक दृष्टि से विविध प्रदेशीय-भाषाओं के शब्दों को अपनाकर एक सर्वभाषामय राष्ट्रभाषा बनाई जा सकती है।

हमारे देश की वर्तमान स्थिति प्रजातन्त्र की उदार भावनाओं के विकास से ही सुधर सकती है। इतने बड़े देश की विशाल जनसंख्या, विविधमतों, वादों और सम्प्रदायों को एक मानवीय एवं राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित करने का कार्य चारित्र्य और उदार-विचारों के बिना कदापि सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से जैन-धर्म के परिष्कृत सिद्धान्त व्यापक रूप से अनुकरणीय हैं।

अन्त में जैन आचार्यों की उदार-मनोवृत्ति केवल दो उद्धरण देकर मैं इस समारोह का सहर्ष उद्घाटन करता हूँ।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

(हेमचन्द्र)

भव बीजांकुर-जलदा रागाद्याः क्षयम् उपगता यस्य।
ब्रह्म वा, विष्णुर्वा, हरो, जिनो वा नमस्तस्मै॥

श्री गुरु गोविन्दसिंह जी की जयन्ती पर भाषण

कर्म-भूमि भारत को यह फख्र है कि हर युग में कोई न कोई महापुरुष यहाँ पैदा होता है और अपने लोगों की रहनुमाई करता है। १७वीं शताब्दी में गुरु गोविन्दसिंह जी गुलामी में जकड़े हुए और छोटे-छोटे घरेलू झगड़ों में उलझे हुए भारतीयों की रहनुमाई के लिए आए। जात-पाँत का भेद-भाव और ऊँच-नीच का बर्ताव देश की एकता को खाए डाल रहा था। ऐसे समय में गुरु गोविन्दसिंहजी महाराज ने हिन्दू जाति में एक नया जोश पैदा किया और एक ऐसी जाति पैदा की जिसने उस समय की लड़खड़ाती हिन्दू जाति में एक नया जोश पैदा कर दिया और उन्होंने जहाँ सब धर्मों की इज्जत रखने का पाठ पढ़ाया वहाँ अपने धर्म पर और उसूलों पर मर मिटने की एक परम्परा कायम की, उन्होंने पंज प्यारे बनाकर बलिदान और वीरता का रास्ता दिखाया। उनकी दूर-दर्शिता बेमिसाल है। वे जानते थे कि आगे आने वाले ज़माने में मनुष्य के स्वभाव के अनुसार पद के लिए लालसा और कशमकश होना आवश्यक है। इसलिए उन्होंने सिखों के लिए किसी व्यक्ति-विशेष को गुरुपद न देकर श्री गुरु ग्रन्थ साहिब को ही सिखों का गुरु बना दिया।

इन्सान अपने ही दायरे में रहकर आगे तरक्की नहीं कर पाता इसलिए सबसे बड़ा काम जो उन्होंने किया वह तो हर सिख को एक नाम दे दिया और एक विश्वास दे दिया। नाम में उन्हें सिंह की उपाधि मिली और विश्वास में श्री गुरु ग्रन्थ साहिब। जो भी जमात एक साथ मिलकर रह सकती है उसमें अनुशासन के और अपने उद्देश्य की भावना आ जाती है। मुझे फख्र है कि मेरी जन्मभूमि में ही इस महापुरुष का जन्म हुआ और मेरे ऊपर बचपन से ही गुरु महाराज जी की शिक्षा का, जो कि मैं अपने गुरुजनों से सुनता रहा हूँ बहुत असर पड़ा।

सदियों से लोग महागुरु को श्रद्धांजलि अर्पित करते आए हैं और उन्होंने जो सुधार किए तथा अपने अनुयायियों को जो एक नया धार्मिक अनुशासन सिखाया उसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। यदि सच पूछा जाए तो इन दोनों क्षेत्रों में उनको शानदार सफलता मिली। समाज-सुधार के क्षेत्र में उन्होंने अपने अनुयायियों में जाति-पाँति का भेदभाव मिटाया और खालसा की नींव डालकर देश को उन्होंने ऐसा समाज दिया जिसकी बहादुरी ने एक मिसाल का रूप ले लिया है। इस समाज के लिए उन्होंने कहा, "आज से

आपकी कोई जाति नहीं रही, आपके इस नये रूप में जो सबसे छोटा है वह सबसे बड़े के बराबर होगा और सब आपस में भाई-भाई होंगे। अब आपको किसी तीर्थ-यात्रा की ज़रूरत नहीं रही। और न किसी प्रकार की साधना की ज़रूरत है परन्तु एक ऐसा पवित्र गृहस्थ जीवन आवश्यक है जिसे धर्म की पुकार पर त्यागने के लिए आपको तैयार रहना होगा। आपको हिन्दू और मुसलमानों के बीच एकता बनाए रखने का काम करना है और जाति, देश या धर्म का भेदभाव छोड़कर गरीबों की सेवा करनी होगी।"

उनके जीवन-काल में देश परेशानियों और संघर्षों से होकर गुज़रा, किन्तु फिर भी देश ने सब कुछ सहा, क्योंकि जैसा समय आये उसे स्वीकार कर लेना भारत-वासियों के जीवन का अंग बन गया है। इन सब हालात में महान् गुरु ने खालसा की नींव डाली और मानव की प्रतिष्ठा तथा परमात्मा की पूजा में मार्गदर्शन के लिए लोगों की प्रबल इच्छा को एक नया और शक्तिशाली रूप देते हुए रास्ता दिखाया। इस बारे में एक मुसलमान इतिहासकार का कहना है कि "उन्होंने जाति-पाँति के भेद-भाव तथा पुराने रीति-रिवाजों, मान्यताओं और अन्ध विश्वासों का अन्त किया और सभी को भाईचारे के एक ऐसे रिश्ते में बाँधा जिस में न कोई बड़ा है और न कोई छोटा—यद्यपि धर्मपरायण लोगों में उनकी खिलाफत हुई, फिर भी पहले ही दिन लगभग बीस हजार पुरुषों और स्त्रियों ने उनके हाथ से लोहे का पवित्र निशान धारण किया। जो सारे समाज के आन्दोलन को तेज़ी से चलाना चाहते थे तथा केवल आत्मा की शान्ति या किसी व्यक्ति विशेष की सांसारिक भलाई में ही सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने कमज़ोर और असंगठित लोगों में से एक ऐसे समाज का निर्माण किया जो काफी शक्तिशाली था और जिसने पूरी तरह से सभी लोगों की भलाई के लिए काम किया जिससे समाज का प्रत्येक व्यक्ति त्याग का जीवन बिता सके।"

अतः गुरु गोविन्द सिंह जी के कार्यों से राष्ट्रीयता की विचारधारा को नया जन्म मिला। उन्होंने मुगल-साम्राज्य की शक्ति का अकेले सामना किया और अनेक ऐसे हिन्दू समुदायों की खिलाफत भी की जिनमें एकता न थी और जो आपस में लड़ रहे थे। उनके अनुयायियों द्वारा एक नयी शक्ति के रूप में खालसा को जन्म मिला। उन्होंने लोगों में मौजूद मानव के सम्मान की भावना और इस विश्वास को बढ़ाया कि किसी एक व्यक्ति का सम्मान दूसरे लोगों से न अधिक है और न कम। वैसाख के पहले दिन जब गुरु गोविन्द सिंह जी ने इसकी नींव डाली तो उन्होंने उस अमृत की प्रार्थना की जो उनके द्वारा अपने अनुयायियों को दिया गया था। ऐसा करते हुए उन्होंने कहा, "इस दिन से मैंने एक नयी व्यवस्था की नींव डाली है जहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं होगा। मैं समानता के आधार पर यह भाईचारा कायम करना चाहता हूँ।"

यह व्यवस्था किसी सीमित राजनीतिक उद्देश्य से नहीं की गई। गुरु गोविन्द सिंह जी एक धार्मिक नेता थे। उन्होंने कहा, "खालसा का सम्बन्ध भगवान से है। इसलिए

हर क्षेत्र में जीत भी भगवान की है। उनकी अन्तिम प्रार्थना थी, "हे ईश्वर, मुझमें अपना कुछ नहीं है, मैं जो कुछ भी हूँ सब आपका ही हूँ। जो कुछ आपका है वह मैं आपको समर्पित करता हूँ तो उसमें मेरा क्या है।"

अपने धार्मिक ज्ञान और अपने लोगों की मुसीबतों की पूरी जानकारी के कारण गुरुजी ने खालसा की नींव डाली। उन्होंने इस समाज को इसका सही रूप दिया और हथियारों के उपयोग के प्रशिक्षण को एक सच्चे खालसा के अनुशासन का ज़रूरी अंग बनाया। क्योंकि इसके द्वारा ही उन्होंने लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को फिर से प्रबल किया।

महान् गुरु ने खालसाओं में प्रजातन्त्र व समानता के एक महान् सिद्धान्त की स्थापना की। उनके विचार में किसी राष्ट्र की शासन-व्यवस्था नीति द्वारा निश्चित की जानी चाहिए न कि ताकत के बल पर। और राष्ट्र समस्त लोगों की एक इकाई के रूप में होना चाहिए जिसमें जाति, रँग और धर्म के भेद-भाव या ऊँच-नीच की भावना से ढका हुआ समाज न हो। खालसा लोगों में महान् गुरु द्वारा जो प्रजातन्त्र की भावना भरी गई, जिसमें सबसे बड़ा और सबसे छोटा एक समान थे और जहाँ स्त्री और पुरुषों ने अच्छी प्रकार संगठित होकर समस्त समाज के नाम पर और सभी लोगों के लिए कार्य किया, उसने सदियों पहले आज के विचारों का अनुमान लगा लिया था। अपने दिव्य ज्ञान द्वारा उन्होंने जो धार्मिक उपदेश दिये हैं वे हम लोगों के लिए बहुत कीमती विरासत के रूप में हैं। उस समय जबकि केवल हिन्दू और मुसलमान ही आपस में बँटे हुए न थे बल्कि एक हिन्दू दूसरे हिन्दू का और एक मुसलमान दूसरे मुसलमान का विरोध करता था, महान् गुरु ने लिखा, "मन्दिर और मस्जिद एक ही हैं। भगवान् की पूजा चाहे हिन्दुओं के तरीके से की जाये चाहे मुसलमानों के तरीके से बात एक ही है।

क्योंकि लोग सभी जगह एक ही हैं केवल रूप या आकार का अन्तर है।

> "वही आँखें, वही कान, वही शरीर, वही बनावट, मिट्टी, वायु, अग्नि और जल का सम्मिलित रूप। अल्लाह वही है जो अभेख है। पुराण कुरान की तरह है। सभी लोग एक से बनाये गये हैं उनमें मुझे कोई भेद नहीं दिखायी पड़ता।"

गुरु गोविन्दसिंह जी के धार्मिक उपदेश हमें कुछ बहुत ही बढ़िया कविताओं में मिलते हैं। कवि के रूप में उनका स्थान सबसे महान् है और आज उनकी कृतियों के अवलोकन से उनकी कल्पना की गहराई तथा उनकी काव्यात्मक कल्पना और दिव्य प्रकाश के संयोग का पता चलता है।

> आग से बेशुमार चिनगारियाँ पैदा होती हैं और फिर उसी आग में मिल जाती हैं।

धूल से बेशुमार कण पैदा होते हैं और फिर उसी में एकाकार हो जाते हैं।

समुद्र से बेशुमार लहरें उठती हैं और फिर गिरती हैं तथा पानी में ही मिल जाती हैं।

इसी तरह सभी रूपों। सजीव और निर्जीव की उत्पत्ति का मूल भगवान् ही है और फिर उन सब का मिलन भगवान् में ही हो जाता है।

आज इस देश में हमारे सामने परीक्षा की घड़ी है। हमारे प्रजातन्त्र को जिसमें हमें दृढ विश्वास है और जिससे बड़ी आशायें हैं, अनेक दिशाओं से कई खतरे हैं। विघटन की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं तथा अनुशासन-हीनता तथा दूसरे के अधिकारों की परवाह किये बिना अपने अधिकारों की ज़ोरदार माँग करने की प्रवृत्ति उन नवयुवकों तक में फैल गई है जिन्हें एकता और सेवा के उन आदर्शों को सीखना चाहिए था जो हमने अपने सामने रखे हैं। खासकर ऐसे समय में महान् गुरु गोविन्दसिंह के उपदेशों पर ध्यान देने में हमारी भलाई है। इसी प्रकार के संकटकाल में जबकि इस देश के लोगों में भय फैल गया था और उनका मनोबल कमज़ोर पड़ गया था, उन्होंने राष्ट्रीयता को नया रूप दिया और अपने अनुयायियों में केवल देश-भक्ति की भावना ही नहीं भरी बल्कि उस एक परमात्मा के नाम पर त्याग और सेवा की भावना भी भरी। गुरु ने अपने कुछ अनुयायियों को बहुत ही साधारण लोगों में से लिया जो कि छोटी जाति और छोटे घरों में जन्मे थे। उनकी इस धारणा ने कि मनुष्य सभी जगह एक ही हैं लोगों को नयी शक्ति दी। त्याग और पूरे समाज की सेवा से सम्बन्धित उनके विचार तथा उनका यह सिद्धान्त कि मनुष्य तभी पूर्ण कहा जा सकता है जबकि वह योद्धा और किसान भी हो तथा साथ ही मानवता का सेवक हो, आज हमारे लिए खासतौर पर महत्त्वपूर्ण है।

मैं चाहूँगा कि हम सब इस अनमोल विरासत को ध्यान में रखकर उनके महान् उपदेशों का अध्ययन करें। इससे हमारा देश बना रहेगा और यह हमें ऐसा मार्ग दिखलायेगा जो हमें विकास की एक ऐसी अवस्था पर आगे बढ़ायेगा जिससे हमारा देश एक महान् राष्ट्र बने।

हमें इस बात पर गर्व है कि हमारे देश ने एक महान् सन्त को जन्म दिया जिन्होंने हमारे समाज की काया पलट दी और इतिहास ही बदल डाला। सैयद मुहम्मद लतीफ़ ने लिखा है, "वे व्याख्यान-मंच पर एक नियम-निर्माता, कार्य-क्षेत्र में एक विजेता, अपने तख्त पर एक राजा और खालसा समाज में एक फ़कीर थे।" अन्त में मुझे महान् गुरुजी के ये शब्द ही उपयुक्त जान पड़ते हैं जो कि उन्होंने उस समय कहे थे जब वे समाधि

लगाने ही वाले थे, "जो भी मुझे यहाँ (ग्रन्थ साहिब में) खोजता है मुझे पा लेता है। इसके बाद आप इसे गुरुओं का साकार रूप मानेंगे। मैं इस धरती पर भगवान् की स्थापना करने आया था और इसीलिए आपको उनकी शरण में सौंप रहा हूँ। जब तक आप उनके मार्ग पर चलेंगे वह सदा आपका मार्ग-दर्शक, रक्षक और सहारा रहेगा।"

سر شنکر لال مشاعرے کی افتتاحی تقریر

عِشقِ صادِق کا کہیں ذکر ہوا تھا شاید
اُس نے محفل میں میرا نام لیا آپ ہی آپ

اُدھر میں ہٹا تھا نشیمن بنا کر
اِدھر بجلیاں گِر پڑیں مُسکرا کر

آخر میں میں منتظمینِ مُشاعرہ کو مبارک باد دیتا ہوں کہ وہ ہر سال اِس مُشاعرہ کا اہتمام کرکے اُردو ادب کی بیش بہا خدمت سرانجام دیتے ہیں۔ میں اُن کا مشکور ہوں کہ اُنھوں نے مجھے اِس بزمِ مُشاعرہ کے افتتاح کرنے کی عزت بخشی۔

سر شنکر لال مشاعرے کی افتتاحی تقریر

میں طبع آزمائی کی ہے لیکن زندگی اور اس سے متعلق بہت سے اہم مسائل نظر انداز ہو گئے ہیں۔ ضرورت ہے کہ شعراء حضرات اس کمی کو پورا کریں تاکہ اردو شاعری نہ صرف جذبات بلکہ زندگی کی بھی ترجمان ہو۔

اردو زبان ہندوستان اور اس کی راجدھانی دہلی میں پیدا ہوئی۔ اس کے پروان چڑھانے میں سارے ملک نے حصہ لیا پھر بھی دہلی اور اس کی ادبی محفلوں کا ہاتھ جتنا اس میں رہا ہے دوسروں کا نہیں رہا۔ راجدھانی کی انھیں محفلوں میں سے یہ محفل بھی ہے جو اپنی ایک مستقل تاریخ رکھتی ہے۔ اس محفل کے بانی سر شری رام کو اردو زبان سے بڑا لگاؤ تھا اور اسی لگاؤ کے نتیجے میں اس بزم مشاعرہ کا آغاز ہوا۔ ان کے بعد سر شنکر لال شنکر نے اس سلسلے کو جاری رکھا۔ وہ ایک با اخلاق اور غزل گو شاعر تھے۔ ان کے کلام سے ثابت ہے کہ ایک اچھا انسان ہی اچھا ادب پیش کر سکتا ہے۔ ان کے مجموعۂ کلام "دیر و حرم" کے چند اشعار ملاحظہ ہوں:۔

ہمارے پاؤں کی لغزش نہ ہو سکی شنکر
پیے ہوئے تھے مگر ہوشیار ہو کے چلے

سرِ منزل کبھی پہنچا ہی دے گا
میرا عزمِ سفر ہے اور میں ہوں

میسر عشق میں صبر و قرارِ دل نہیں ہوتا
جہاں طوفان ہوتا ہے وہاں ساحل نہیں ہوتا

اس بزم مشاعرہ کی تاریخ مرلی دھر شاد مرحوم کے ذکر کے بغیر نامکمل ہے۔ شاد مرحوم سر شری رام کے فرزند اور سر شنکر لال کے بھتیجے تھے۔ فخر خاندان ہی نہیں بلکہ فخر زبانِ اردو بھی تھے۔ افسوس کہ مرحوم کی عمر نے وفا نہ کی۔ شاد اپنی خاندانی روایتوں میں اپنے بزرگوں سے بھی کچھ آگے ہی تھے۔ بڑے ادب نواز اردو زبان کے محسن اور ایک تیکھے شاعر تھے۔ ان کا مجموعۂ کلام "گل و انجم" نہ صرف غزلوں کا ایک حسین مرقع ہے بلکہ اس میں مختلف مضامین پر نظمیں اور رباعیات بھی ہیں۔ چند اشعار ملاحظہ فرمائیے:۔

لاتا ہے خبر ہوش کی دیوانہ تمھارا
کیا پوچھنا ہے عشق کی آشفتہ سری کا

شنکر لال مشاعرے کی افتتاحی تقریر

ڈاکٹر آدتیہ ناتھ جھا

جناب صدر حاضرین بزم مشاعرہ

اس دور میں زندگی کی تمام سرگرمیاں بڑی حد تک اپنی ذات اور شکم پروری کی حد تک محدود ہو کر رہ گئی ہیں اور ایک ایسا ماحول پیدا ہو گیا ہے جس میں اخلاقی قدریں مشینوں کی دھن گرج میں کھو گئی ہیں اور انسانیت کے چراغ بجھے جا رہے ہیں۔ ایسے عالم میں شمعِ سخن بھٹکے ہوئے مسافروں کو راستہ دکھاتی ہے اور صرف فرد کا ہی نہیں بلکہ قوموں کا مزاج بدل دیتی ہے۔

ہماری تمام زبانیں کلاسکی ادب شعری تاثر سے مالا مال ہیں اور اس چمن کا ہر پھول اپنی خوشبو اور رنگت رکھتا ہے۔ انھیں پھولوں میں گلِ اردو ہے جس نے ہندوستان کے کونے کونے کو معطر کر رکھا ہے۔ گلِ اردو کشمیر کی تازگی، پنجاب کی شوخی، دہلی کی سرمستی، اودھ کی نزاکت، بہار کی رنگینی اپنے اندر جذب کئے ہوئے ہے اور اپنی خوشبو سے تمام ہندوستان کو مہکا رکھا ہے۔

مشاعرے کو ہماری سماجی اور ادبی زندگی میں بڑی اہمیت حاصل ہے۔ علم و ادب جو جدید تمدن کی روشنی سے پہلے صرف امرا اور رؤسا کی میراث سمجھے جاتے تھے۔ مشاعروں کی بدولت عوام تک پہنچے۔ مشاعرے بادشاہوں کے محلوں اور درباروں سے نکل کر عام لوگوں کے گھروں تک پہنچے جس سے نہ صرف عوام کے ذوقِ سلیم کی تربیت ہوئی بلکہ ادب کو مقبول اور مروّج کرنے میں بھی بڑی مدد ملی۔

جیسا کہ میں نے ابھی عرض کیا اردو زبان کی ترویج اور اشاعت میں مشاعروں نے بڑی اہم خدمت سر انجام دی ہے لیکن شعراء حضرات سے معذرت چاہتے ہوئے یہ ضرور عرض کروں گا کہ ان مشاعروں میں شعراء نے عام طور پر اپنے کلام کو زیادہ تر عشق و محبت کی داستان تک محدود رکھا ہے۔ اس سے انکار نہیں کہ آپ نے مختلف اصنافِ سخن
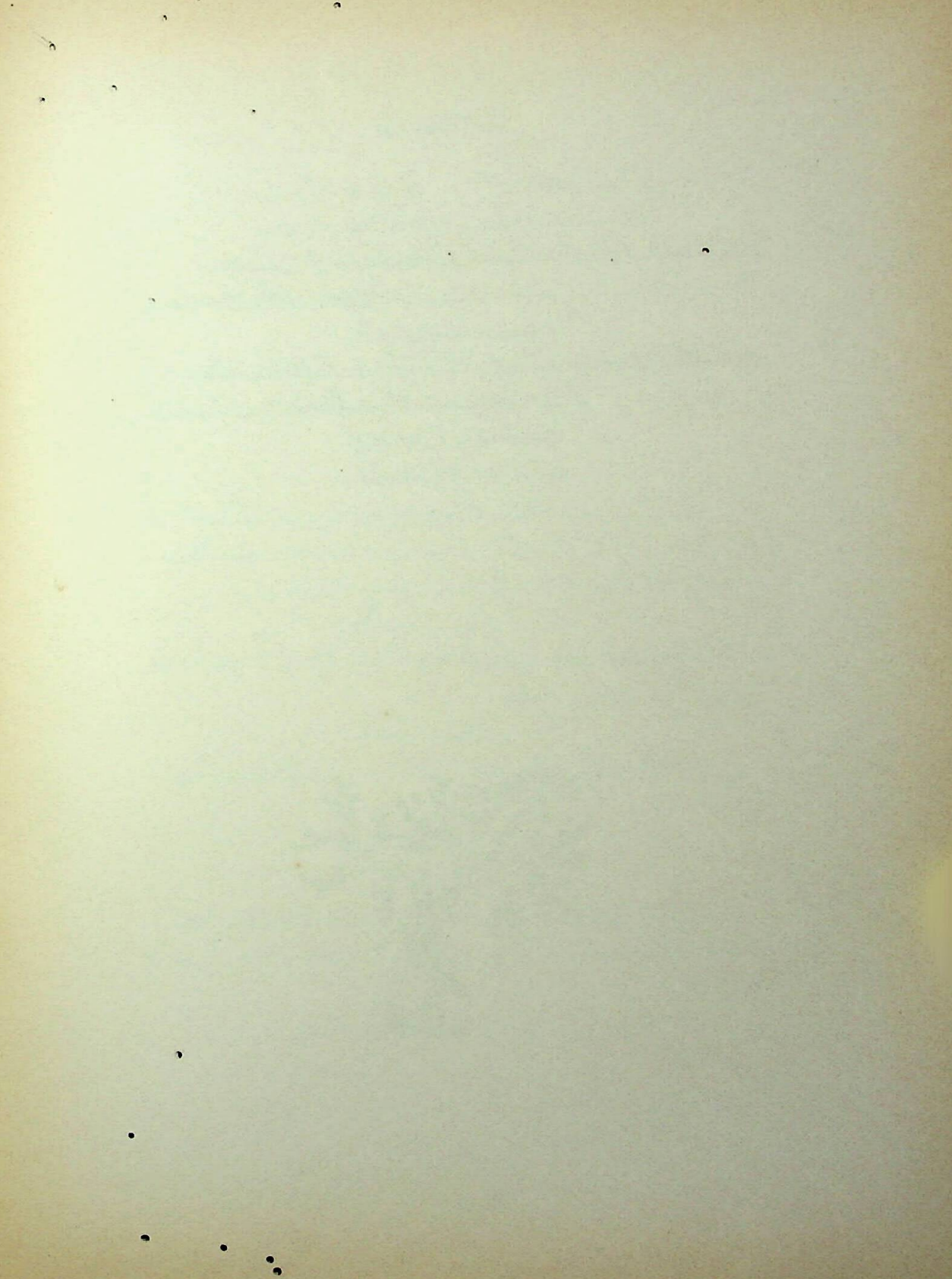
ریڈیو پر تبصرۂ غالبؔ

روک لو گر غلط چلے کوئی　　بخش دو گر خطا کرے کوئی
کون ہے جو نہیں ہے حاجت مند　　کس کی حاجت روا کرے کوئی

ان خیالات کے بیچ عشق اور محبت کا بیان موتی کی مانند غالبؔ کے کلام کو اور بھی نکھار دیتا ہے۔ غالبؔ انسانی جذبات کی ایسی جیتی جاگتی اور سچی تصویر کھینچتے ہیں کہ پڑھنے والا کہہ اٹھتا ہے کہ:۔

"گویا یہ بھی میرے دل میں ہے"

غالبؔ تو بالمیکیؔ، کالی داسؔ، ہومرؔ، شیکسپیرؔ، گوئٹےؔ، فردوسیؔ، سعدیؔ ایسی ہستیوں میں شمار کیے جاتے ہیں اور سچ تو یہ ہے کہ ادبی دنیا میں غالبؔ ایک ایسا چمکتا ستارہ ہے کہ بقول انھیں کے:۔

پوچھتے ہیں وہ کہ غالبؔ کون ہے
کوئی بتلاؤ کہ ہم بتلائیں کیا

ریڈیو پر تبصرہ غالب

انسان کو کام لینا ضروری ہے:۔

ہوس کو ہے نشاط کار کیا کیا

نہ ہو مرنا تو جینے کا مزا کیا

ہر ایک کو کامیابی اس کی اپنی کوششوں اور ہمت سے ہی حاصل ہو سکتی ہے اور سچ تو یہ ہے کہ:۔

"دیتے ہیں بادہ ظرف قدح خوار دیکھ کر"

انسانی زندگی حسرتوں اور تمناؤں کے بیچ دن گزارنے کا نام ہے۔ حقیقت تو یہ ہے کہ ہر ایک جانتا ہے کہ ان سے بچ کر نکلنا ہی اصل کامیابی ہے مگر پھر بھی ایک عام انسان کیسی ہی زندگی بسر کرے آخر میں کچھ حسرتیں لے کر جاتا ہے:۔

"آتا ہے داغ حسرت دل کا شمار یاد

مجھ سے میرے گناہ کا حساب اے خدا نہ مانگ"

اس انسانی کمزوری میں بھی انسان بخشش کی تمنا کو نہیں چھوڑتا اور اس امید میں جیتا ہے کہ بخشنے والا اس کی بیکسی کی شرم رکھ لے گا۔ حسرتوں اور تمناؤں کے بیچ رہ کر انسان لگاتار مشکلات اور سختیاں جھیلتا ہے، مگر قدرت نے انسانی فطرت کو ایسا بنایا ہے کہ رنج کی زیادتی ہی رنج کو مٹاتی ہے اور یہ انسان ہی کی کیفیت ہے کہ:۔

"مشکلیں اتنی پڑیں مجھ پر کہ آساں ہو گئیں"

زندگی ان ہی سب گردشوں اور پریشانیوں، کوششوں کا نام ہے اور غمِ ہستی کی انتہا یا یوں کہیئے کہ علاج موت ہے۔ ظاہر ہے ایسی حد تک پہنچنے کے لئے:۔

"شمع ہر رنگ میں جلتی ہے سحر ہونے تک"

انسانی ہما ہمی، آپسی کشمکش ایک دوسرے سے مقابلہ، لڑائی سب کچھ زندگی کے کھیل ہیں اور زندگی ہی تک محدود ہیں:۔

"زندگی میں تو وہ محفل سے اٹھا دیتے تھے

دیکھوں اب مر گئے، پر کون اٹھاتا ہے مجھے"

غرض کہ غالب کا فلسفہ زندگی کی اصلیت، دنیاوی کشمکش، انسانی رنج اور تکلیف، مشکلات، خواہشات اور تمناؤں کی حسرتوں کے ہوتے ہوئے انسانیت کے رتبہ کو اونچا کر کے انسانی ہمدردی اور دوستی و پیار کی زندگی کا مقصد قرار دیتا ہے:۔

نہ سنو گر برا کہے کوئی   نہ کہو گر برا کرے کوئی

ریڈیو پر تبصرۂ غالب

ڈاکٹر آدتیہ ناتھ جھا

غالب کی وفات کو اس پندرہ فروری کو سو سال ہو جائیں گے، مگر ان کی یاد اب بھی دلوں میں ایسی ہی تازہ ہے جیسے کل کی بات ہو۔ غالب کوئی مذہبی لیڈر یا ریفارمر نہیں تھے اور نہ ہی ان کا کوئی مشن تھا جس کی وسعت کے لئے انھوں نے کوشش کی ہو۔ حقیقت تو یہ ہے کہ ان کے دل اور دماغ ایک ایسی روشنی سے جگمگاتے تھے جس نے انسان کے جذبات و احساسات، درد و غم، فکر اور خوشی کی اصلی تصویر ان کے سامنے لاکر رکھ دی تھی۔ انسان کی انسانیت، خودداری اور ہمدردی کی برتری ان کے سامنے روشن تھی۔ ان خوبیوں کے ساتھ قدرت نے ان کو ان حالتوں کے بیان کرنے اور دوسروں کو بتانے کی وہ قدرت دی ہوئی تھی کہ ان کے بیان کو لوگ کچھ نہیں تو زبان کی لطافت اور مٹھاس کے لئے عزیز رکھتے ہیں اور ہر ایک کہتا ہے :۔

"غالب کا ہے اندازِ بیاں اور"

اس شاعر کو انسانیت سے پیار تھا اور وہ ایسی دنیا کا خواب دیکھ رہا تھا جہاں پھوٹ اور نفرت کا نام و نشان نہ ہو اور ہر ایک سچے دل سے کہتا ہو :۔

"ملّتیں جب مٹ گئیں اجزائے ایماں ہو گئیں"

اگرچہ ان کو بھی اس کا احساس تھا کہ ایسی دنیا کے بنانے میں کافی دقتیں ہیں اور ایسے کام کا آسان ہونا مشکل ہے اور سب سے بڑی الجھن تو یہ ہے کہ :۔

"آدمی کو بھی میسّر نہیں انساں ہونا"

غالب کے سامنے انسانیت کی ایسی رنگین تصویر تھی جہاں ان کے خواب کے مطابق مذہبی، قومی، نسلی فرق کوئی معنی نہ رکھتا تھا۔ دنیا میں جد و جہد و صحیح کام کے کرنے کے انسانی فرض کو انھوں نے نظر انداز نہیں کیا تھا۔ امنگ اور لاگ ہی سے

डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ

गिरि विहगिनी

सुमित्रानन्दन पन्त

कितने रंगों के पंखों से हो तुम भूषित
ओ गिरि विहगिनी, रश्मि-ज्वाल शोभा से वेष्टित !
रंग-कुवेर बनाया लगता विधि ने तुमको
सुरधनुओं की रत्न-तूलि से कर तन चित्रित !

वर्ग-चयन में या तुमने ही, कला-दृष्टिमयि,
वर्णों का वैभव अपनाया दीप्त चमत्कृत—
यह जो भी हो, ओ निर्जन तरु-वन की वासिनि,
तुम मेरे उर को प्रिय छवि से करती मोहित !

कहते, रंगच्छाया भावों की प्रतीक भर,
तुम धनाढ्य हो मन की संपद् में भी निश्चय,
नील, हरित, सित, रक्त, पीत, धूमिल, पाटल तन
स्वप्न कल्पना-लोक-तुल्य लगता शोभामय !

विहगिनि, एकाकी मैं, बैठा तरु-छाया में
देख रहा हूँ ग्रीवा-भंगि तुम्हारी सुन्दर,
चपल पंख फड़का, तुम कुदक-फुदक डालों पर
अस्फुट स्वर भरती, संभव, मुझसे मन में डर !

तुम विश्वास अगर कर सकती मेरा रंगिणि,
और उतर आती नीचे मेरी गोदी पर,
मैं कितना पुलकित होता तुमसे बातें कर
तुम्हें मधुर पुचकार, अंक भर, ले जाता घर।

दाने तुम्हें चुगाता, मेवे मींज-मींज कर
पानी पी आश्वस्त, सहज कंधे पर सिर धर

सो जाती जब तुम—मैं दिन - भर बैठा रहता
मौन प्रतीक्षा में—रक्षा करने हित तत्पर !

तुम्हें पींजड़े में क्या मैं बंदिनी बनाता ?
तुम जब भी चाहे उड़ कर वन में जा सकतीं,
कूक-कूक जब तुम्हें बुलाता स्नेही सहचर
मधुर रंग संगिनियां बाट तुम्हारी तकतीं !

आत्म-विजय का मुक्त गीत तुम गाती तरु से
प्रीति-गीति लहरी में बँधता निखिल दिगंतर,
प्रातः फिर तुम आती—मैं उठ करता स्वागत
मौन प्रीति का करते हम उपभोग परस्पर !

कभी गोद ही पर बैठी तुम गाने लगती
वाणी से भी अधिक अर्थ-गर्भित होते स्वर—
ओ वन-शोभा की प्रतिनिधि, प्रिय रंग-अप्सरे,
बिना कहे भी सहज खोल देते हम अंतर !

उपचेतन के अवबोधों से परिचालित तुम
मन को करती सहज उड़ानों से नित हर्षित,
रोमिल ज्वाला के पंखों को फैला नभ में
अंग - भंगिमा से कर शतशः सुरधनु निर्मित !

तुम मनाल डफिया की वंशज-कुल दीपक भी
सूर्य - रश्मियों के रंग अंगों में रुचि-वितरित—
जो भी हो, निष्काम प्रेम पशु - पक्षी - जग का
मनुज - चेतना को अनजाने करता विस्तृत !

मूक प्रेम यह, मुखर प्रीति से कहीं गहनतर,
होता है अज्ञात हर्ष का उर को अनुभव
भाव प्रबोधिनि, कभी बधिक नर जब हो संस्कृत
गोदी में उड़ तुम उसके सँग खेलो संभव !

विविध योगों का समन्वय

काका कालेलकर

हमारे देश में जब-जब योग की चर्चा होती है, तब ज़्यादातर पातंजल योग की ही विचारणा होती है और वह भी विवरणात्मक। 'पातंजल योग-दर्शन' में जो फल-सिद्धियाँ बताई हैं (आसन से लेकर प्राणायाम, ध्यान, संयम और समाधि तक) उनका अनुभव कहाँ तक है इसकी चर्चा तो कहीं मिलती ही नहीं। 'योगियों के चमत्कारों' की बात काफी सुनने में आती है। उनमें ज़्यादातर अतिशयोक्ति, श्रद्धा-जड़ता और इष्ट योगी का माहात्म्य बढ़ाने का हेतु ही होता है। उसे हम छोड़ दें। प्रयोग के द्वारा फल-सिद्धि की बातें 'सिद्ध', 'असिद्ध' या 'शंकास्पद' बतानी चाहिए। लेकिन मैं तो एक दूसरी ही बात यहाँ करना चाहता हूँ।

(१) 'पातंजल योग-दर्शन' का विस्तार बहुत है। उसके अलावा (२) बौद्ध-दर्शन का भी अपना योगशास्त्र है।

इसमें भी २ (अ) हीनयानियों का योगशास्त्र और २ (आ) महायानियों का योगशास्त्र अलग-अलग लेना अच्छा।

योग में ध्यान का महत्त्व सबसे अधिक है। उसीको लेकर जापानियों ने (३) 'झेन बुद्धिजम' चलाई है।

बौद्ध-दर्शन में 'आनापान स्मृति' का जो महत्त्व और विस्तार है उसकी तुलना 'पातंजल योग-दर्शन' के प्राणायाम और संयम के साथ करने लायक है।

पातंजल और बौद्ध योग के साथ (४) जैन दर्शन की योग-पद्धति भी अपनी निजी है। उसकी भी 'पातंजल योग-दर्शन' के साथ तुलना होनी चाहिए।

भारत के अनेकानेक सन्तों ने भक्तिमार्ग के साथ (५) नामकीर्तन, ध्यान आदि योग का एक अलग आविष्कार किया है। केवल भक्तियोग कहने से सन्तों की ध्यान-पद्धति का पूरा बोध नहीं होता।

अब वेदान्त के असर से अथवा स्वतन्त्र रूप से (६) सूफीमार्गी लोगों ने भी अपना एक योगमार्ग निश्चित किया है, जिसको वे 'तसौव्वुफ़' कहते हैं। यह भी योग का ही एक प्रकार है।

(७) पश्चिम के (यूरोप-अमरीका के) गोरे लोगों ने गूढ़वाद का अनुशीलन

करके अपने अनुभव लिख रखे हैं। उस साहित्य में से हम उनकी योग-साधना पा सकते हैं।

इस तरह दुनिया में प्रचलित अनेक योग-पद्धतियाँ हैं। उन सबको एकत्र लाकर उनमें से हम एक 'सार्वभौम और अनुभवसिद्ध योग-पद्धति' संगृहीत कर सकते हैं।

यहाँ तुलना के लिए एक उदाहरण ले लूँ। हर एक देश में प्रचलित कानूनों का तुलनात्मक अभ्यास आज हो रहा है। रोमन लॉ, जर्मन लॉ, डच लॉ, इंग्लिश लॉ आदि विशिष्ट कानून-मीमांसाओं को लेकर एक सर्व-सामान्य ज्युरिस्-प्रूडन्स् निकाला गया, जिसका प्रभाव अब सारी दुनिया पर पड़ रहा है।

इसी तरह पातंजल, बौद्ध (हीनयानी, महायानी और झेन), जन, भक्ति, सूफ़ियों का तसौव्वुफ़ और ईसाइयों का गूढ़ चिन्तन हमारे सामने तुलना के लिए खड़े हैं।

यह काम 'खंडन-मंडनात्मक' न हो। केवल दार्शनिक मतभेद बताकर समाप्त न किया जाए, किन्तु सब में से जो ग्राह्यांश दीख पड़े उसका समन्वय करने की दृष्टि हो, क्योंकि योगविद्या केवल चिन्तन का विषय नहीं है। 'जीवन को शुद्ध, समर्थ, समृद्ध और कृतार्थ करने का वह एक शास्त्र है'। जीवन-कला है। जीवन-साधना को प्रेरित करती है। इसलिए सारी दुनिया के सामने हम रख सकें और सबको रास्ता दिखा सकें, ऐसी एक सार्वभौम योगविद्या हमें पेश करनी होगी।

जिस तरह 'हरएक दर्शन-विद्या का अपना योगशास्त्र होना ही चाहिए' उसी तरह 'हरएक योग-पद्धति का एक दर्शन भी हो सकता है'।

और जब हम 'अनेकानेक योग-पद्धतियों का समन्वय' करके एक सार्वभौम-योग-पद्धति तक पहुँच जाएँगे, तब ढूंढ़ना होगा कि ऐसी 'सार्वभौम, समन्वित-योग-पद्धति' का अपना कोई 'सार्वभौम-समन्वित-तत्त्वदर्शन' हो सकता है या नहीं?

मैं मानता हूँ कि आज का युग समन्वय-युग है। तत्त्व-जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे अपने-अपने मानस को समन्वय की शिक्षा-दीक्षा दे दें, ताकि हमें विश्व-समन्वय का दर्शन भी प्राप्त हो और समन्वित योग-पद्धति भी।

आशा करता हूँ कि दर्शन परिषद् के द्वारा इस महान् युग-कार्य का ठोस प्रारम्भ होगा। प्रारम्भ होने के बाद विद्वान् अनुभवी योगियों की मदद से उसे आगे बढ़ाना होगा। दुनिया में इस विद्या की ओर अभिरुचि बढ़ रही है।

उपनिषदों का दार्शनिक स्वरूप

चन्द्रबली त्रिपाठी

मनुष्य तथा पशु-पक्षी सभी जीव संसार को देखते हैं। यह भी दर्शन है। परन्तु बुद्धिमान पुरुष पदार्थों को देखकर उनकी बाह्य और आभ्यन्तरिक परीक्षा करके उनके मूल में निहित तत्त्व को ढूंढ़ने के लिए जिस दृष्टि से काम लेता है वही सच्चा दर्शन है। हम कहाँ से आए तथा यह चारों ओर फैला हुआ संसार कैसे उत्पन्न हुआ, इसकी उत्पत्ति आप-से-आप हो गई अथवा उसका कोई सिरजनहार है इस प्रकार के अनेकविध प्रश्न सदा से दर्शन के विषय रहे हैं। इसके सिवाय चिन्तनशील मनुष्य का यह भी शाश्वत प्रश्न है कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है, तथा सुख-दुःखादि द्वंद्वों से वह अपने को आबद्ध पाता है। उनसे उसे मुक्ति किस प्रकार मिल सकती है और वह अमरत्व अथवा शाश्वती शान्ति कैसे पा सकता है। संक्षेप में, जीव, जगत् और परमेश्वर-विषयक जिज्ञासा दर्शन-शास्त्र का विषय है। इस परिप्रेक्ष्य में हमें उपनिषदों के दार्शनिक स्वरूप की समीक्षा करनी है।

उपनिषदों के दार्शनिक स्वरूप का निरूपण करने के पूर्व भारत के अन्य प्राचीन दार्शनिक विचारों का संक्षिप्त विवेचन औपनिषदिक सिद्धान्तों के तात्पर्य एवं महत्त्व को हृदयंगम करने में सहायक होगा। सर्वप्रथम हमारा ध्यान देहात्मवादी चार्वाक की ओर जाता है, जो शरीर से पृथक् आत्मा और परमात्मा किसी नित्य-तत्त्व के अस्तित्व को अस्वीकार करके निरे आधिभौतिक सुख को जीवन का परम लक्ष्य मानकर कहता है—"ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्—ऋण लेकर और चाहे जिस प्रकार हो संसार में रहकर मौज उड़ाओ। यह उस आसुर मत[1] का ही सारांश है जिसकी गीता में भरपूर भर्त्सना की गई है और जो वास्तव में दर्शन-शास्त्र की कोटि में नहीं आता और उसका उल्लेख ही उसका खण्डन है।

किन्तु गहरे पैठकर दार्शनिक तत्त्व निकालने वाले काणाद और सांख्य-दर्शनों की समीक्षा महत्त्वपूर्ण है। अत्यन्त प्राचीन काल में कणाद ने सृष्टि-तत्त्व की छानबीन करके यह सिद्धान्त स्थिर किया कि जगत् के किसी पदार्थ को विभाजित करते जाइए, अन्त में उसके मूल में परमाणु का पता लगेगा और इस प्रकार विश्व में, जिस प्रकार नाना पदार्थ हैं उसी प्रकार परमाणु भी असंख्य हैं। और उनके अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व, आत्मा अथवा ईश्वर भी नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार मन और आत्मा भी विभाज्य हैं और

१—श्रीमद्भगवद्गीता १६, ८

अन्य पदार्थों की भाँति उनके भी आद्य परमाणु हैं। परमाणुओं के संघात से सृष्टि का आरम्भ होता है। अतः इस सिद्धान्त को आरम्भवाद अथवा परमाणुवाद कहते हैं। परन्तु यह मत अत्यन्त दुर्बल है, क्योंकि कणाद के मत वाले इस बात का कोई कारण नहीं बतला सकते कि परमाणुओं का संघात क्योंकर होता है अर्थात् वह कौन-सी शक्ति है जो सृष्टि के आरम्भ होने के लिए एक परमाणु को दूसरे परमाणु से मिलाती है। और यदि यह कहा जाय कि यह संयोग आप-से-आप हो जाया करता है तो यह कथन वैसा ही हुआ जैसा यह कहना कि सृष्टि आप-से-आप हो गई। इस मत को न्याय-वैशेषिक भी कहते हैं और कुछ नैयायिक ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हैं, जैसे घट का रचयिता कुंभकार। परन्तु चेतन-स्वरूप ईश्वर अपनी सृष्टि से सम्यक् प्रकार से पृथक् हो तो सृष्टि में चेतन कहाँ से आया इसका यथोचित समाधान वे नहीं कर सकते। सभी परमाणु समान गुणधर्म के होने के कारण उनसे निर्मित सभी पदार्थ एकरूप होने चाहिए, परन्तु हम पदार्थों में विविध श्रेणियों और वर्गों का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, एवं परमाणु चाहे कितने सूक्ष्म हों उनके मध्य में किसी तत्त्व का होना, आवश्यक है, ऐसा न हो तो परमाणुओं की पृथक् सत्ता नहीं मानी जा सकती, और यदि उनके बीच में कोई तत्त्व अथवा पदार्थ विद्यमान हो तो वह क्या है इसे परमाणु-वादी बतला नहीं सकते। इस मत का बादरायणाचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' के द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद के ११ से १७ सूत्रों में तथा शंकराचार्य ने उनके शारीरिक भाष्य में युक्तियुक्त खण्डन करके उसे अत्यन्त उपेक्षणीय बतलाया है।

जहां काणाद मत अनेक तत्त्ववादी है, कपिल का सांख्य मत द्वैतवादी है जो दो स्वतन्त्र, अनादि और स्वयंभू, मूल तत्त्व—प्रकृति और पुरुष—का प्रतिपादन करता है। पुरुष यद्यपि अनेक हैं परन्तु मूल में समानधर्मा होने के कारण उनके समुदाय की एक इकाई मानकर इस मत को द्वैतवादी कहते हैं। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष तत्त्वतः एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं; प्रकृति जड़ है, और पुरुष चेतन है, प्रकृति में कर्तृत्वादि गुण हैं। पुरुष अकर्ता, उदासीन तथा प्रकृति के खेल का द्रष्टा-मात्र है। सांख्यों के दो प्राथमिक सिद्धान्त हैं, एक यह कि शून्य से अर्थात् जिसका सर्वथा अभाव है उससे कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और दूसरा यह कि कारण में जो गुण वर्तमान होते हैं उन्हीं के न्यूनाधिक विकसित होने से कार्य बनता है। इन सिद्धान्तों के सहारे सृष्टि का विश्लेषण करके सांख्य मत ने यह निश्चय किया है कि समस्त व्यक्त पदार्थों में न्यूनाधिक मात्रा में सत्त्व गुण, रजोगुण और तमोगुण वर्त-मान रहते हैं और उनके मूल में अव्यक्त और सूक्ष्म रूप में ये तीनों गुण एक ही तत्त्व में साम्यावस्था में वर्तमान रहते हैं। इस तत्त्व को वे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति की साम्यावस्था भंग होने अर्थात् इन गुणों में न्यूनाधिक्य आ जाने से सृष्टि का आरम्भ होने लगता है और गुणोत्कर्ष के सिद्धान्त के अनुसार क्रमपूर्वक् सारी सृष्टि की रचना पूर्ण हो जाती है। अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल रूप में उत्कर्ष और विकास होकर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हो जाता

है, और जब प्रलय का समय आता है प्रतिलोम की विधि से स्थूल से सूक्ष्म की ओर विलय होते-होते अन्त में भूत मात्र का प्रकृति में लय हो जाता है और प्रकृति अपनी मूल साम्यावस्था को प्राप्त हो जाती है। इस मत को गुणोत्कर्षवाद भी कहते हैं, जिसके अनुसार प्रकृति और पुरुष को छोड़कर सृष्टि का अन्य कोई कारण अथवा ईश्वर नाम का तत्त्व नहीं है। मूल प्रकृति से ही १ महत्तत्त्व, १ अहंकार, ५ तन्मात्राएं, १ मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पंच महाभूत अर्थात् कुल २३ तत्त्व उत्पन्न होते हैं जो उसके विकार हैं। प्रकृति स्वयं जड़ होने के कारण सृष्टि की रचना नहीं कर सकती, और पुरुष भी सचेतन होते हुए भी उदासीन होने के कारण सृष्टि की रचना में असमर्थ है, परन्तु दोनों का संयोग होने से प्रकृति में कर्तृत्व आता है और सृष्टिचक्र चल निकलता है। प्रकृति से संयोग के कारण अहंकार में फँसकर पुरुष अपने को कर्ता, भोक्ता आदि मानकर सुख-दुःखादि द्वंद्वों में पड़ा हुआ प्रकृति का बन्दी बना रहता है और जब वह यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि सारा तमाशा प्रकृति का है और वह उससे भिन्न त्रिगुणातीत है तब वह मुक्त हो जाता है। सांख्यों के मतानुसार मोक्ष का यही स्वरूप और पुरुष का परम पुरुषार्थ है।

किन्तु जिस प्रकार कणाद के परमाणुवाद को इसका समाधानकारक उत्तर देते नहीं बनता कि सृष्टि के आरम्भ के लिए परमाणुओं को गति कहाँ से मिलती है उसी प्रकार सांख्य मत के सामने यह अनुल्लंघनीय बाधा है कि जड, अतएव अन्धी, प्रकृति और उदासीन, अतएव लंगड़े, पुरुष की जोड़ी कौन बैठाता है कि जिससे सचेत सृष्टि का व्यापार चालू हो। सांख्यों का यह उत्तर है कि 'यह प्रकृति और पुरुष का स्वभाव ही है' निराधार है और यहीं पर प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त एक तीसरे तत्त्व की आवश्यकता आ पड़ती है।

इन दोनों मतों—कणाद के अनेकवाद और कपिल के द्वैतवाद—का विहंगावलोकन करने के उपरान्त हम उपनिषदों के दार्शनिक स्वरूप का, जिसे वेदांत[२] कहते हैं, विवेचन करेंगे। यहीं पर यह भी कह दें कि उक्त वादों के विपरीत यह मत अद्वैतवाद का है और वह आध्यात्मिक है। इस प्रसंग में उस अद्वैतवाद का उल्लेख असंगत न होगा जिसका अर्वाचीन काल में शास्त्रीय ढंग से योग्यतापूर्वक यूरोपीय देशों में प्रतिपादन किया गया है। इसे आधिभौतिक जडाद्वैत कहते हैं जिसका सर्वश्रेष्ठ पुरस्कर्ता हेकल कहता है कि जिस प्रकार सत्कार्यवाद और गुणविकासवाद के अनुसार एक ही जड़ प्रकृति से मन, अहंकार और बुद्धि आदि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार चेतना भी प्रकृति का विकार है तथा पुरुष और परमेश्वर कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं; सृष्टि में जो चेतनता दिखाई देती है वह जड़ प्रकृति का धर्म है। पश्चिम में ही—इस मत की जड़ वहाँ के दार्शनिकों ने काट दी है

२. मुंडक उपनिषद् ३।२।६

तथा प्रस्तुत विषय से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने से इसे यहीं छोड़ देते हैं।

अस्तु, 'मुक्तिकोपनिषद्' के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ है, यद्यपि नारायण, नृसिंह, रामतापनी और गोपाल इन चार उपनिषदों के पूर्व और उत्तर-भेद से पृथक्-पृथक् प्रवचन के कारण यह संख्या वास्तव में ११२ है। इनमें से प्रत्येक किसी-न-किसी वेद की शाखा से सम्बद्ध है। सब उपनिषदों का सार-तत्त्व ब्रह्म है और आत्मा तथा ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन उनका प्रधान विषय है। जगत् अविद्या के कारण सत्य भासित होता है, किन्तु नित्य परिवर्तनशील होने के कारण मिथ्या है। इसे ही एक प्रसिद्ध श्लोक में इस प्रकार कहा गया है :

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

पिंड और ब्रह्मांड के मूल में वर्तमान नित्य-तत्त्व को ही उपनिषदों में ब्रह्म कहा जाता है। इस एक ही सत्य को, जैसा 'ऋग्वेद' में कहा गया है 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति'[३] अर्थात् एकमात्र सत्य (ब्रह्म) का ज्ञानी लोग विविध रूपों में वर्णन करते हैं, इन उपनिषदों में नाना प्रकार से निरूपित किया गया है और इसी बात को भगवान् कृष्ण ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि 'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्'[४]—ऋषियों ने इसका निरूपण विभिन्न छन्दों में और विविध प्रकार से किया है।

आरम्भ में मनुष्य के मन में उठने वाले जिन प्रश्नों का उल्लेख हमने किया है वे प्रायः सभी उपनिषदों में किसी-न-किसी रूप में देखे जा सकते हैं। इनका सर्वोत्कृष्ट रूप सत्यान्वेषण है जिसे हम सर्वप्रथम 'ईशावास्योपनिषद्' में पाते हैं जहाँ सत्यान्वेषी इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका है कि वह जो कुछ देखता है वह सत्य नहीं है, सत्य तो कोई दूसरा ही तत्त्व है जो एक ऐसे आवरण से ढका हुआ है, जो बड़ा ही मोहक है और उसे खोलने के लिए प्रार्थना करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥[५]—पूषन !

सत्य के मुख को सुवर्ण पात्र ने ढक रखा है, मुझ सत्यधर्मा के देखने के लिए तुम इसे उघाड़ दो। विस्तृत रूप से इसी प्रश्न को विविध प्रकार से 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के आरम्भ में इन शब्दों में उठाया गया है कि क्या ब्रह्म कारण है? यदि ब्रह्म कारण है तो किस प्रकार का? अथवा काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, पुरुष अथवा इनका संघात इस विश्व का कारण है? हम कहाँ से आए, किसके आधार पर ठहरे हुए हैं और हमें सुख-

३. ऋग्वेद १. १६४. ४६
४. गीता १३. ४
५. ईशावास्योपनिषद् १५

दुःखादि की प्रवृत्तियों में कौन नियोजित करता है[६] ? इन प्रश्नों के उत्तर में इस उपनिषद् का मत है कि यह कहना भयंकर भूल है कि इस सृष्टि का कारण प्रकृति है; जो यह कहते हैं कि यह सब-कुछ प्रकृति का खेल है, वे इस सत्य को नहीं जानते कि यह एक ब्रह्मचक्र है जो ब्रह्म की महिमा से संचालित हो रहा है। इस तथ्य को इन इन्द्रियों और तर्क से यथावत् नहीं जान सकते, किन्तु ध्यान योग से समाधिस्थ योगियों ने स्वानुभव से देख लिया है कि काल, स्वभाव, इत्यादि जितने भी सृष्टि के कारण बतलाए जाते हैं स्वयं उनका अधिष्ठाता परमात्मा है और उसी की अपने गुणों से आच्छादित शक्ति का यह सब प्रसार है।[७] सांख्य मत में जिसे प्रकृति कहा गया है उससे यह 'देवात्मशक्ति' भिन्न नहीं है किन्तु सांख्य की प्रकृति स्वतन्त्र है और उपनिषद् में उसे परमेश्वराधीन माना गया है। इस भेद को व्यक्त करने के लिए यहाँ माया शब्द का प्रयोग करके कहा गया है कि :

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्[८]॥

अर्थात् प्रकृति को माया मानो और परमेश्वर को मायावी अथवा उसका अधिपति महेश्वर, उसी के कार्य-कारण संघात से समस्त जगत् व्याप्त हो रहा है। सांख्य-शास्त्र का यह सिद्धान्त उपनिषदों को मान्य है कि शून्य से कुछ उत्पन्न नहीं होता, जो 'छान्दोग्य-उपनिषद्' में इन शब्दों में व्यक्त है कि 'कथमसतः सञ्जायेत्'[९] अर्थात् जिसकी कोई सत्ता न हो उससे सत्तावान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? और इसी प्रकार सांख्य के गुणोत्कर्ष का सिद्धान्त भी उपनिषदों में इस सीमा तक स्वीकृत है कि जब सृष्टिक्रम एक बार आरम्भ हो जाता है तो उसका क्रम उसके नियमों के अनुसार ही अन्त तक चलता है। सांख्य और उपनिषदों में महत्त्व का यह अन्तर ध्यान में रखने योग्य है कि जहां सांख्य जड़ प्रकृति की क्रियात्मकता और सृष्टि में चेतनता का समाधान नहीं कर पाता उपनिषदों में प्रकृति को चिद्रूप परमेश्वर की शक्ति मानकर इस असमंजस को दूर कर दिया गया है।

प्रकृति को परमेश्वर की शक्ति मान लेने पर जगत् की उत्पत्ति का वर्णन परमेश्वर से करना तर्कसंगत है और ऐसा ही उपनिषदों में किया गया है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में जगत् की उत्पत्ति के विषय में यह वर्णन है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायंते, येन जातानि जीवंति। यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म'[१०] ब्रह्म वह है जहां से भूतमात्र उत्पन्न होते, जिसके आश्रय से उत्पन्न होकर जीते और जहां लौटकर लीन हो जाते हैं, तथा 'मुंडक-

---

६. श्वेताश्वतरोपनिषद् १. १-२
७. वही ६. १, १. ३
८. वही ४. १०
९. छान्दोग्योपनिषद् ६. २
१०. तैत्तिरीय उपनिषद् ३. १

उपनिषद्' में ब्रह्म के अद्रेश्य, अग्राह्य इत्यादि निर्गुण स्वरूप को बतलाकर उसे सब भूतों की योनि[११] कहा गया है और भूतों का संक्षिप्त विवरण देकर उसी से प्राण, मन, समस्त इन्द्रियों, आकाश, वायु, ज्योति (अग्नि अथवा तेज), जल और सबको धारण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति का निदर्शन है[१२] एवं कोई शंका कर बैठे कि सूर्य और चन्द्रमा इत्यादि आप-से-आप हो गए अथवा उनकी उत्पत्ति परमेश्वर के सिवाय अन्य किसी तत्त्व से हुई तो इस उपनिषद् का उत्तर है कि अग्नि ब्रह्म की मूर्धा, सूर्य और चन्द्र उसके नेत्र, दिशाएँ उसके कान, वेद उसकी वाणी, वायु उसका प्राण तथा सारा विश्व उसका हृदय है और पृथ्वी उसके चरणों से उत्पन्न हुई है और वह सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा है।[१३] ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति के विषय में 'छान्दोग्य उपनिषद्' का कथन है कि मूलारम्भ में एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत् था, उसने इच्छा की कि एक से बहुत हो जाऊँ, और उसने तेज, जल, अन्न (पृथ्वी) का सृजन किया[१४] और इसी प्रकार 'ऐतरेय', 'प्रश्न' तथा कई अन्य उपनिषदों में भी ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति का विवेचन पाया जाता है।

किन्तु उपनिषदों में कहीं यह नहीं कहा गया है कि सब भूतों की उत्पत्ति युगपद् हो गई, अपितु उनमें सृष्टि की क्रमोत्पत्ति ही मानी गई है। जैसे 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में कहा गया है कि जो ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है उससे आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।[१५] यह क्रम पिंड अर्थात् मनुष्य-देह एवं ब्रह्मांड दोनों के विषय में सत्य है। क्रमविकास के विचार से ही 'गर्भोपनिषद्' में देह को 'पंचात्मक'[१६] कहा गया है और आकाशादि पाँच महाभूतों की क्रमोत्पत्ति बतलाई गई है और इसी प्रकार 'प्रश्न'[१७] और 'बृहदारण्यक' उपनिषदों[१८] में भी पंच महाभूतों से जगत् की रचना का सिद्धान्त निरूपित पाया जाता है। जगत् की उत्पत्ति के मूल कारण के विषय में सब उपनिषदों का मतैक्य है कि वह ब्रह्म है, परन्तु कई अन्य स्थानों में जहाँ ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बतलाई गई है वहाँ इस क्रम को ध्यान में नहीं रखा गया, क्योंकि वहाँ उत्पत्ति का क्रम दिखाना विवक्षित नहीं है, केवल ब्रह्म को जगत् का कारण बतलाना ही उद्दिष्ट है। यह बात ऊपर दिए गए वाक्यों से ही स्पष्ट झलकती है। परन्तु 'छान्दोग्य उपनिषद्'

---

११. मुंडक उपनिषद् १. १. ५-६
१२. वही २. १. ३
१३. वही २. १. ४
१४. छान्दोग्य उपनिषद् ६. ३-४
१५. तैत्तिरीयोपनिषद् २. १
१६. गर्भोपनिषद्
१७. प्रश्नोपनिषद् ४. ८
१८. बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ४. ५

के इस कथन से कि ब्रह्म ने तेज, जल और अन्न (पृथ्वी) को उत्पन्न किया और 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के निम्नलिखित मन्त्र से कुछ विद्वान् यह अर्थ निकालते हैं कि उपनिषदों में पाँच महाभूतों की नहीं, केवल तेज, जल और पृथ्वी इन्हीं तीन महाभूतों की उत्पत्ति बतलाई गई है।

उक्त मन्त्र

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः[१९] ॥

अर्थात् अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण की अजा (बकरी—प्रकृति) को एक अज (बकरा—जीव) सेवन करता हुआ उसी में लिप्त रहता है और दूसरा अज उसका भोग करके त्याग कर देता है। इस मन्त्र में प्रकृति को लोहित अर्थात् तेजोरूप, अग्नि, शुक्ल (जल) और कृष्ण (पृथ्वी) इन तीन तत्त्वों से युक्त बतलाया गया है और इन्हीं तीन का 'छान्दोग्य उपनिषद्' में उल्लेख किया गया है जिससे आकाश और वायु को महाभूत न मानकर इन्हीं तीन महाभूतों को कुछ विद्वान् ग्रहण करते हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर कह चुके हैं इन वाक्यों में सृष्टि-क्रम विवक्षित न होने से यह निष्कर्ष ही समीचीन है कि सृष्टि आकाशादि पाँच महाभूतों के संयोग से बनी है और 'ब्रह्म सूत्र' अध्याय २, पाद ३ के सूत्र १-७ के भाष्य में शंकराचार्य ने इसी मत को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं 'श्रुति प्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादि महाभूतोत्पत्ति क्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते' अर्थात् श्रुतियों के प्रमाणों से यह निश्चित किया जाता है कि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति आकाशादि महाभूतों की क्रमोत्पत्ति के अनुसार हुई है।

ब्रह्म की इच्छा से जगत् की उत्पत्ति के वर्णन से उसे एक प्रकार से जगत् का निमित्त कारण कह सकते हैं, परन्तु यह एक अपूर्ण कथन है, क्योंकि कुम्भकार से जैसे घट का पृथक् निर्माण होना है उस प्रकार जगत् ब्रह्म से पृथक् नहीं उत्पन्न होता। बल्कि ब्रह्म से ही उत्पन्न होने के कारण वह जगत् का उपादान कारण भी है। ब्रह्म से जगत् के इस प्रकार उत्पन्न होने के सम्बन्ध में 'मुंडक उपनिषद्' में यह वर्णन आता है कि :

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्या ओषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥

जिस प्रकार मकड़ी जाले को अपने में से ही बनाती और उसे निगल जाती है,

१९. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४. ५

जैसे पृथ्वी में से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुष के शरीर से केश और लोम निकलते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह विश्व भी उत्पन्न होता है।[२०]

ब्रह्म का स्वरूप

ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति के निरूपण के उपरान्त उपनिषदों के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रधान विषय ब्रह्म के लक्षण और स्वरूप का विवेचन उपयुक्त है। सृष्टि के सतत परिवर्तनशील पदार्थों और भूतमात्र के मूल में वर्तमान कभी न बदलने वाले नित्य सत्त्व को उपनिषदों में ब्रह्म कहा जाता है। कोई भी सत्ता अथवा तत्त्व हो उसके तीन रूप हो सकते हैं; वह सगुण हो सकता है, अथवा निर्गुण या सगुण-निर्गुण उभयात्मक। ब्रह्म के ये तीनों प्रकार के वर्णन उपनिषदों में पाए जाते हैं। किन्तु उनमें आध्यात्मिक चिन्तन से ब्रह्म का सच्चा और अन्तिम स्वरूप निर्गुण ही निश्चित हुआ है। उनमें ब्रह्म के इस स्वरूप का जो निरूपण हुआ है वह केवल तर्क से नहीं जाना जा सकता, जैसा कि 'कठ उपनिषद्' के इस कथन से प्रकट है कि 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[२१]— यह बोध तर्क से नहीं प्राप्त होता, क्योंकि तर्क की गति नामरूप तक अर्थात् वहीं तक है जहाँ मन और बुद्धि की गति है। परन्तु जो तत्त्व इनसे परे हो वह अतर्क्य है और उसका स्वरूप ध्यान योग से ही सम्यक् रूप से जाना जा सकता है। इस प्रकार समाधिस्थ होकर जिन महात्माओं ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया उसका मानवीय भाषा में जितना सम्भव हो सकता है उन्होंने उपनिषदों में वर्णन किया है। इसलिए उपनिषदों को 'ब्रह्मविद्या' कहा जाता है। जिससे ब्रह्म को जाना जाता है; इसे ही उपनिषदों में 'परा विद्या' कहते हैं और शेष सभी शास्त्र अथवा तथाकथित ज्ञान को अपरा विद्या कहा गया है। 'मुंडक उपनिषद्' में निर्दिष्ट विद्या के ये दोनों भेद, परा और अपरा,[२२] 'छान्दोग्योपनिषद्' में सनत्कुमार-नारद[२३] संवाद में भी मिलते हैं।

'छान्दोग्य' और 'मुंडक' उपनिषदों में सृष्टि के सभी पदार्थों को नामरूप[२४] कहा गया है और उसी के अन्तर्गत ब्रह्म के वे विशेषणयुक्त वर्णन भी आ जाते हैं जिन्हें कुछ नाम दिए जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का लक्षण सत्य, ज्ञान और अनन्त[२५] कहकर अन्त में कह दिया है 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् वहाँ न हमारी वाणी पहुँच सकती है, न उसका हम वर्णन कर सकते, और न मन से ही उसे पा सकते हैं।

२०. मुंडक उप० १. १. ७
२१. कठ उप० १. २. ९
२२. मुंडक उप० १. १. ४. ५
२३. छान्दोग्य उप० ६. १. ४
२४. छान्दोग्य उप० ६. १. ४, मुंडक उप० ३. २. ८
२५. तैत्तिरीय उप० २. १. १, ३. ४. १.

'ईशावास्योपनिषद्' में उसे सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, अस्नायु, अपापहत, सर्व-द्रष्टा, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंभू[२६] तथा 'कठ उपनिषद्' में अनादि, अनन्त, महत्तत्व से परे ध्रुव बतलाकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित, इन्द्रियों का अविषय तथा अव्यक्त प्रकृति से भी परे वह तत्त्व निर्दिष्ट किया गया है जो ज्ञान की पराकाष्ठा-है और जिसके आगे कुछ नहीं है। 'कठ उपनिषद्' में ही ब्रह्म को अत्यन्त विलक्षण बतलाने के लिए कहा गया है कि वह धर्म से पृथक् और अधर्म से भी पृथक् है, एवं कार्य-कारण रूप प्रपंच तथा भूत, और भविष्यत से व्यतिरिक्त कालातीत है।[२७] 'मुंडक उपनिषद्' में ब्रह्म के अतीन्द्रिय स्वरूप का यह वर्णन करके कि वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अगम्य और कर्मेन्द्रियों द्वारा अग्राह्य अगोचर है, उसे अवर्ण, कान और नाक, आँख तथा हाथ और पैर से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म, अव्यय और दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षर से भी परे कहा है।[२८] 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में ब्रह्म को निष्फल, निष्क्रिम, शान्त, निरवद्य, निरंजन और अमृत का सेतु[२९] कहकर उसके निर्गुण स्वरूप को शब्दों में बाँधने का प्रयास बताया है, एवं 'केन उपनिषद्' में ब्रह्म को मन और इन्द्रियों को अज्ञेय कहकर उसे उनका प्रेरक बतलाते हुए प्रतिपादित किया है कि ब्रह्म विदित और अविदित, व्याकृत और अव्याकृत सबसे परे है।[३०] इसी प्रकार ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में अस्थूल और अनणु तथा अनन्त, अपार, विज्ञानघन, और नेति-नेति[३१] शब्दों से व्यक्त किया है। एवं 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में एक अन्य स्थान पर ब्रह्म के निर्विशेष रूप को जहाँ यह कहकर निर्देश किया है कि वह न सत् है और न असत् है, केवल शिव है,[३२] 'मैत्रायणी उपनिषद्' में ब्रह्म को सर्व कार्य-कारण से निर्मुक्त अर्थात् न वह कार्य है, न कारण है, निर्वचन, अनौपम्य और निरूपाख्य बतलाकर जिज्ञासु को उसकी अनिर्वचनीयता को 'किं तदंग वाच्यम्'[३३]—प्यारे ! क्या वह कहने की चीज़ है, कितने भव्य शब्दों में उच्चरित किया है !

'मैत्रायणी उपनिषद्' में जहाँ ब्रह्म के निरतिशय निर्गुण स्वरूप का उक्त निरूपण हुआ है वहीं मनुष्य की कल्पना में आने वाले ब्रह्म के सगुण रूप के लिए

---

२६. ईशावास्य उप० ८, कठ उप० १. ३. १५, १. ३. १०-११
२७. कठ उप० १. २. १४
२८. मुंडक उप० १. १. ६, २. १. २
२९. श्वेताश्वतर उप० ६, १९
३०. केन उप० १. १. २-३
३१. बृह० उप० ३. ८. ८, २. ४. १२ और ३. ९. २६
३२. श्वेताश्वतर उप० ४. १८
३३. मैत्रायणी उप० ५. ७

उसे ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, विष्णु, नारायण, सविता, धाता, सम्राट्, इंद्र इत्यादि विशेषणों से विभूषित किया है, और कहा है कि वही अपने तेज से आच्छादित होकर सहस्र नेत्रों से तप रहा है[३४]। ब्रह्म के इसी विराट्-सगुण रूप का वर्णन 'मुंडकोपनिषद्' के उक्त मन्त्र में हुआ है जिसमें सूर्य और चन्द्रमा उसके नेत्र बतलाए गए हैं, तथा 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में जहाँ यह वर्णन है कि वह सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर भुजाओं वाला और सब ओर पैरोंवाला है, एवं वह सहस्र सिर और सहस्र आँखों वाला तथा सहस्र पैरों वाला है[३५] वह सब ब्रह्म के सगुण रूप की कल्पना है। कहाँ तक कहूँ, उपासना के निमित्त अथवा निर्विशेष ब्रह्म का बोध कराने के लिए उसके सगुण अथवा सविशेष स्वरूप के वर्णन से उपनिषद् भरे हुए हैं और इसी प्रकार जो ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, जो सब प्राणों का प्राण है जिसके सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है, उसे छोटा कहें अथवा बड़ा, दूर कहें या समीप इत्यादि जो कुछ भी कहें सब उपयुक्त ही है, अतएव इस प्रकार के सगुण-निर्गुण उभयात्मक वर्णन भी उपनिषदों में बहुतेरे पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ 'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है कि वह चलता है, नहीं भी चलता है; वह दूर है, वह समीप भी है; वह सबके अन्तर है, वह सबके बाहर भी है[३६]; 'मुंडकोपनिषद्' में वह बड़ा है, पर अचिंत्य-रूप है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और दूर-से-दूर है और जो देखना चाहे अपने हृदय ही में उसे देख सकता है[३७] 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का यह व्याख्यान कि उसके हाथ-पैर नहीं हैं, फिर भी उसमें तेज गति और पकड़ है; उसके नेत्र नहीं हैं तथापि वह देखता है और कान नहीं है किन्तु सुनता है[३८] इत्यादि। उभयात्मक वर्णन के थोड़े से उदाहरण हैं। 'वृहदारण्यक' और 'मैत्रायणी' उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूपों को व्यक्त और अव्यक्त अथवा मूर्त तथा अमूर्त नाम देकर मूर्त रूप को असत्य[३९] की श्रेणी में रखा है। क्योंकि वह नाम-रूप से आच्छन्न है, परन्तु उपनिषदों का अन्तिम सिद्धान्त यही है कि ब्रह्म निर्विशेष और अनिर्वचनीय है।

जीव अथवा आत्मा

हम पहले ही कह आए हैं कि तत्त्वतः आत्म और ब्रह्म में अभेद है। देखना यह है कि उपनिषदों के किन वाक्यों से यह निष्कर्ष निकलता है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में ब्रह्म

---

३४. मैत्रायणी उप० ५. ८

३५. श्वेताश्वतरोपनिषद् ३. ११, ३. १४, ३. १६

३६. ईशावास्योपनिषद् ५

३७. मुंडक उप० ३. १. ७

३८. श्वेताश्वतर उप० ३. १९

३९. वृह० उप० २. ३. १, मैत्रायणी उप० ५. ३.

से जगत् की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि 'इदं सर्वमसृजत् यदिदं किंच, तत्सृष्ट्वा-तदेवानु-प्राविशत्'[४०], अर्थात् यह जो कुछ है उस सब का उसने सृजन किया और उसे रचकर उसमें प्रवेश कर गया। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में यह वर्णन है कि तेज और जल आदि महाभूतों की उत्पत्ति करने के पश्चात् 'अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत—इसी जीव-रूप से उनमें प्रवेश करके नामरूप जगत् को व्यक्त और विभक्त किया'[४१]। वह कहीं एक स्थल में प्रविष्ट नहीं हुआ बल्कि 'वृहदारण्यक उपनिषद्' के अनुसार 'सः एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः'[४२] अर्थात् इसमें वह नखों के अग्र भाग तक में प्रवेश कर गया और नखाग्र के साथ लोमों को भी जोड़कर 'कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्' ने इस मत को और भी पक्का किया। उसमें कथन है कि 'आत्मेदं शरीरमनुप्रविष्ट आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः'[४२], अर्थात् उस आत्मा ने इस शरीर में सम्पूर्ण लोमों और सम्पूर्ण नखाग्रों तक प्रवेश किया। यदि इन वाक्यों के सिवाय आत्मा और ब्रह्म के अभेद दिखानेवाले दूसरे वाक्य न होते तो इतने ही उपनिषदों के मत निर्देशन के लिए पर्याप्त थे, किन्तु नीचे दिए उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उनमें ब्रह्मात्मैक्य सिद्धान्त का प्रतिपादन निःसंशय है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म है उसमें इतना कहकर तुरन्त शांडिल्य ने आत्मा और ब्रह्म को तत्त्वतः एक बतलाने के लिए इन शब्दों को जोड़ दिया है 'एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्म'[४३] यह आत्मा जो मेरे हृदय में है वह ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त 'एकमेवा ऽद्वितीयम्'[४४], —एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है; तथा 'नेह नानास्ति किंचन मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'[४५],—यहाँ नाना नाम की कोई चीज़ नहीं है, यहाँ जिसे नानात्व दिखाई देता है वह आवागमन से मुक्ति नहीं पा सकता, और इसी प्रकार 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'[४६], 'आत्मैवेदं सर्वं'[४७], वाक्य तत्त्वतः आत्मा और ब्रह्म की एकता स्थापित करते हैं और अधिक खुले शब्दों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों में प्रथम परिगणित 'ईशावास्योपनिषद्' में सत्यधर्मा साधक सत्य का दर्शन करके ब्रह्मानन्द में विभोर होकर बोल पड़ता है कि 'यो ऽसावसौ पुरुषः सो ऽहमस्मि'[४८],—अर्थात् वह पुरुष जो कुछ है, वही मैं हूँ। अब आइए

४०. तैत्ति० उप० २. ६. १.
४१. छां० उप० ६. ३. २-३
४२. वृह० उप० १. ४. ७. तथा कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ४. १९
४३. छां० उप० ३. १४. ४
४४. छां० उप० ६. २. १.
४५. कठ, २. १. १०-११, वृह० उप० ४. ४. १९
४६. मुं० उप० २. २. ११
४७. छां उप० ७. २५. २
४८. ईशावास्योपनिषद् १६

उपनिषदों के उस महावाक्य पर विचार करें जिसे लेकर वेदान्त के विभिन्न मतों में पर्याप्त विवाद है। विस्तार-भय से यहाँ उनकी पूरी समीक्षा नहीं हो सकती, तथापि उस पर यहां जो विचार प्रस्तुत किए जाते हैं उनसे उपनिषदों का तात्पर्य निकालने में सन्देह नहीं रह जाता। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में श्वेतकेतु के पिता ने उसे ब्रह्म का ज्ञान कराने के हेतु कई प्रकार से यह समझाकर कि 'स य एषोऽणि मैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेत-केतो'[४९], अर्थात् यह जो कुछ है वह आत्मस्वरूपी तत्त्व है, यही सत्य है श्वेतकेतु! तुम वही हो इसे बार-बार दोहराया है। इस तत्त्वमसि महावाक्य से जहाँ अद्वैतवादी ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन करते हैं इस सीधे-सादे संस्कृत पद का कुछ लोग यह अर्थ लगाकर कि तुम उसके हो, वही नहीं हो, दूसरे वाद खड़ा करते हैं। परन्तु अन्य उपनिषदों में ही इस वाक्य का तात्पर्य बहुत स्पष्ट रीति से कर दिया गया है। उदाहरण के लिए 'कैवल्य उपनिषद्' में 'यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनम् महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम् स त्वमेव त्वमेव तत्'[५०], अर्थात्, "जो परं ब्रह्म, सर्वात्मा, विश्वमात्र का परम स्थान तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और नित्य तत्त्व है वह तुम हो और तुम ही वह हो; एवं 'मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्' में इस उद्घोष के उपरान्त कि 'ब्रह्माहमस्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, यह वचन कि 'त्वमेवाहं न भेदोस्ति पूर्णत्वा-त्परमात्मनः'[५१]—'तुम्हीं मैं हूँ, परमात्मा से भेद नहीं है, तत्त्वमसि महावाक्य का सम्पूर्ण खुलासा है।

मृत्यु

आत्मा और ब्रह्म के अभेद पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि मृत्यु क्या है। इस पर 'कठोपनिषद्' कहती है :

> न जायते म्रियते वा विपश्चि-
> न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
> अजो नित्यः शाश्वतो ऽयं पुराणो
> न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥[५२]

यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होती है, न मरती है, यह न तो किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुई है और न स्वतः ही कुछ बन गई है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है और शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरती। तो मृत्यु किसकी होती है इस पर आत्मा को अविनाशी और अनुच्छित्ति-धर्मा बतलाकर 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में

---

४९. छां० उप० ६. ९. ४
५०. कैवल्योप० १. १६.
५१. मंडल ब्राह्मणोप० ३. २
५२. कठ उप० १. २-१८

बतलाया गया है कि जरा और मृत्यु[५३] शरीर की होती है और यही बात 'छान्दोग्योपनिषद्' में इन शब्दों में निर्दिष्ट की गयी है कि 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति'[५४] अर्थात् जीव से रहित होकर यह शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता।

उपनिषदों के अनुसार जो नित्य-तत्त्व पिंड में वही ब्रह्मांड में एक रस विद्यमान है; उसकी अतर्क्य माया से विमोहित जीव अपने को शरीरी और संसारी मानकर शुभाशुभ कर्मों को भोगता हुआ उनके फलों को भोगने के लिए संसार-रूपी ब्रह्मचक्र में आवागमन करता रहता है और जब उपनिषदों में निर्दिष्ट उपासना और योग-साधन से उसे ब्रह्मात्मैक्य अर्थात् अपने स्वरूप का अनुभवात्मक ज्ञान हो जाता है तब उसे मुक्ति मिल जाती है। बिना इस ज्ञान के इस संसार-चक्र से कदापि छुटकारा नहीं हो सकता। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का कहना है कि 'नान्यः पंथा विद्यतेऽनाय'[५५] इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है और इस सिद्धान्त को अकाट्य बतलाने के लिए नहीं कहा गया है कि जिस समय लोग चमड़े के समान आकाश को लपेट लेंगे तभी परमात्मा के ज्ञान के बिना भी वे दुःख से छुटकारा पा सकेंगे। उपनिषदों का कहना है कि उक्त ज्ञान जिसको हो जाता है वह ब्रह्म हो जाता है 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'[५६] जो उस परम् ब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही हो जाता है। उस स्थिति में वह अपने में सब भूतों को और सब भूतों में अपने को देखता है, उसके ईर्ष्या-द्वेष, शोक-मोह छूट जाते;[५७] हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ टूट जातीं, सभी संशय मिट जाते, और शुभ-अशुभ समस्त कर्मों के भले-बुरे फलों से मुक्त होकर[५८] जिस प्रकार इधर-उधर बहकर नदियाँ समुद्र में जाकर मिल जाती हैं उसी तरह नामरूप से विमुक्त होकर ज्ञानी परात्पर पुरुष में एकाकार[५९] हो जाता है।

नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः।

---

५३. बृ० उप० ४. ५. १४
५४. छां० उप० ६. ११. ३
५५. श्वेताश्वतरोपनिषद् ३. ८, ६. २०
५६. मुंडक उप० ३. २. ९, तै० उप० २. १. १
५७. ईशावास्योपनिषद् ६, ७
५८. मुंडकोपनिषद् २-२. ८
५९. वही ३. २. ८.

तंत्र और धर्म्म

डॉ० सम्पूर्णानन्द

वैदिक वाङ्मय को निगम कहते हैं और तंत्र को आगम कहते हैं। इसलिए उचित तो यह था कि हिन्दू धार्म्मिक वाङ्मय को निगमागम कहते। परन्तु प्रायः ऐसा चलन नहीं है। आगम छोड़ दिया जाता है। अतः इस बात को दिखलाने की आवश्यकता पड़ी है कि आगम उतना ही अध्यात्म विषय से परिपूर्ण है जितना कि निगम। उसमें भी मोक्ष-विषयक चर्चा है और उतना ही धर्म का। धर्म की यही परिभाषा है :

यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिसमें इस लोक और परलोक में कल्याण की चर्चा हो उसको धर्म कहते हैं। इस कसौटी पर तंत्र की पुस्तकें किन्हीं और पुस्तकों से पीछे नहीं हैं। इस काम के लिए मुझे कई अवतरण देने पड़ेंगे। ये अवतरण मैं उन पुस्तकों से लूँगा जो तंत्र के विषय में प्रमाण मानी जाती हैं। ये पुस्तकें या तो तंत्र के मौलिक आधार हैं या ऐसी हैं जिनकी मान्यता आधारवत् है। ऐसी पुस्तकें भी संख्या में बहुत हैं परन्तु सबको सामने रखने में तो गिनती बहुत प्रचुर हो जाएगी इसलिए मैं सात ही आठ को लूँगा। किसी भी सम्प्रदाय को जिसके मूल और आधार-ग्रन्थ धर्म का इस प्रकार प्रतिपादन करते हों आध्यात्मिक माना जाना चाहिए।

मैं सबसे पहले 'महानिर्वाण तंत्र' कोलेता हूँ। इसकी एकाध विशेषताएँ हैं। इसके तंत्र होने में कोई सन्देह नहीं है। ग्रन्थ के आरम्भ के ही निम्नलिखित पृष्ठ द्रष्टव्य हैं :

आमनन्ति च ते सर्वे मत्पदं लोकपावनम्।
मन्मार्गविमुखा लोकाः पाषण्डा ब्रह्मघातिनः ॥११॥

अतो मन्मतमुत्सृज्य यो यत् कर्म्म समाचरेत्।
निष्फलं तद्भवेद्देवि कर्त्ताऽपि नारकी भवेत् ॥१२॥

मूढो मन्मतमुत्सृज्य योऽन्यन्मतमुपाश्रयेत्।
ब्रह्महापितृहा स्त्रीघ्नः स भवेन्नात्र संशयः ॥१३॥

कलौ तन्त्रोदिता मंत्राः सिद्धास्तूर्णफलप्रदाः।
शस्त्राः कर्म्मसु सर्वेषु जपयज्ञक्रियादिषु ॥१४॥

निर्वीर्याः श्रौतजातीया विषहीनोरगा इव।
सत्यादौ सफला आसन् कलौ ते मृतका इव ।।१५।।

(पृष्ठ १८)

इसमें शंकर पुकार-पुकार कर कहते हैं कि कलियुग में वैदिक क्रियायें और वैदिक मंत्र निर्विघ्न हैं। उन कर्मों में लगे हुए लोग पाखण्डी हैं। देव, पितर आदि की सत्ता भले ही हो परन्तु उनकी जप-पूजा व्यर्थ है। कैलाश पहाड़ पर यह सब उपदेश शंकर के शिव-मुख से अवगत हुआ था। यदि किसी को कलियुग में मोक्ष की आकांक्षा हो तो इस मार्ग का अवलम्बन करना होगा और वैदिक मार्ग का परित्याग। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विशेष रूप से यह मार्ग उन लोगों के लिए है जिनका जन्म कलियुग में हुआ है। इसमें बताए हुए मार्ग को छोड़कर सब पाखण्ड है।

पाञ्चालिका यथा भित्तौ सर्वेन्द्रियसमन्विताः।
अमूरशक्ताः कार्येषु तथान्ये मन्त्रराशयः ।।१६।।

अन्यमन्त्रैः कृतं कर्म्म वन्ध्यास्त्रीसङ्गमो यथा।
न तत्र फलसिद्धिः स्यात् श्रम एव हि केवलम् ।।१७।।

(पृष्ठ १९)

अन्य मंत्र आदि से किए हुए कर्म वैसे ही होंगे जैसे वन्ध्या स्त्री के पुत्र-जन्म की चेष्टायें।

जो मनुष्य इस मार्ग का त्याग कर अन्य किसी मार्ग से धर्म की खोज करता है वह गंगा के किनारे कुआँ खोदता है।

'महानिर्वाण तंत्र' भी अन्य तंत्रों की भाँति तंत्र है। वह अद्वैतवादी है। उसके अद्वैतवाद में और दूसरे ग्रन्थों के अद्वैतवाद में विशेषतः वेदान्त के वाक्य में अन्तर है परन्तु अन्ततोगत्वा है वह भी अद्वैतवादी ही। वह भी एक पारमार्थिक सत्ता का प्रतिपादन करता है और उसीको दोहराता है। यह बात निम्न मंत्रों से सिद्ध होती है :

वेदानामागमानाञ्च तन्त्राणाञ्च विशेषतः।
सारमुद्धृत्य देवेशि तवाग्रे कथ्यते मया ।।२९।।

यथा नरेषु तन्त्रज्ञाः सरितां जाह्नवी यथा।
यथाऽहं त्रिदिवेशानामागमानामिदं तथा ।।३०।।

किं वेदैः किं पुराणैश्च किं शास्त्रैर्बहुभिः शिवे।
विज्ञातेऽस्मिन् महातन्त्रे सर्वसिद्धीश्वरो भवेत् ।।३१।।

यतो जगन्मङ्गलाय त्वयाऽहं विनियोजितः।
अतस्ते कथयिष्यामि यद्विश्वहितकृद् भवेत् ।।३२।।

कृते विश्वहिते देवि विश्वेशः परमेश्वरि।
प्रीतो भवति विश्वात्मा यतो विश्वं तदाश्रितम् ॥३३॥

स एक एव सद्रूपः सत्योऽद्वैतः परात्परः।
स्वप्रकाशः सदापूर्णः सच्चिदानन्दलक्षणः ॥३४॥

निर्विकारो निराधारो निर्विशेषो निराकुलः।
गुणातीतः सर्वसाक्षी सर्वात्मा सर्वदृग्विभुः ॥३५॥

गूढः सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी सनातनः।
सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥३६॥

लोकातीतो लोकहेतुरवाङ्मनसगोचरः।
स वेत्ति विश्वं सर्वज्ञस्तं न जानाति कश्चन ॥३७॥

तदधीनं जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
तदालम्बनतस्तिष्ठेदवितर्क्यमिदं जगत् ॥३८॥

तत्सत्यतामुपाश्रित्य सद्वद्भाति पृथक्-पृथक्।
तेनैव हेतुभूतेन वयं जाता महेश्वरि ॥३९॥

कारणं सर्वभूतानां स एकः परमेश्वरः।
लोकेषु सृष्टिकरणात् स्रष्टा ब्रह्मेति गीयते ॥४०॥

(पृष्ठ २१, २२, २३)

ऊपर के वाक्यों में बहुत-सी ऐसी बातें मिलेंगी जो अन्य वेदान्त अर्थात् एकत्व प्रतिपादक ग्रन्थों में दीख पड़ेंगी। फिर भी शैव वेदान्त और साधारण वेदान्त में अन्तर है। इन वाक्यों में कई ऐसे वाक्य आए हैं जो वैदिक ईश्वर के लिए भी व्यवहार में आते हैं। परन्तु कई बिलकुल ही भिन्न हैं। एक तो परमेश्वर और परमेश्वरी के ऐक्य की बात खटकती है और यह कहना कि यह जगत् परमेश्वरी का स्वरूप है :

विष्णुः पालयिता देवि संहर्त्ताऽहं तदिच्छया।
इन्द्रादयो लोकपालाः सर्वे तद्वशवर्त्तिनः ॥४१॥

स्वे स्वेऽधिकारे निरतास्ते शासति तदाज्ञया।
त्वं परा प्रकृतिस्तस्य पूज्याऽसि भुवनत्रये ॥४२॥

तेनान्तर्यामिरूपेण तत्तद्विषययोजिताः।
स्वस्वकर्म्म प्रकुर्वन्ति न स्वतन्त्राः कदाचन ॥४३॥

यद्भयाद्वाति वातोऽपि सूर्यस्तपति यद्भयात्।
वर्षन्ति तोयदाः काले पुष्पन्ति तरवो वने ॥४४॥

कालं कालयते काले मृत्योर्मृत्युर्भयो भयम् ।
वेदान्तवेद्यो भगवान् यतच्छब्दोपलक्षितः ।।४५।।

सर्वे देवाश्च देव्यश्च तन्मयाः सुरवन्दिते ।
आब्रह्मस्तम्वपर्यन्तं तन्मयं सकलं जगत् ।।४६।।

तस्मिंस्तुष्टे जगत्तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत् ।
तदाराधनतो देवि सर्वेषां प्रीणनं भवेत् ।।४७।।

तरोर्मूलाभिषेकेण यथा तद्भुजपल्लवाः ।
तृप्यन्ति तदनुष्ठानात् तथा सर्वेऽमरादयः ।।४८।।

(पृष्ठ २३, २४, २५)

विष्णु पालन और मैं उसकी आज्ञा से संहार करता हूँ ।

इन्द्र आदि दिक्पाल और दूसरे देवगण उसकी इच्छा से अलग-अलग काम करने के लिए नियुक्त होते हैं। तुम तो उसकी परम प्रकृति हो और तीनों लोकों में पूज्य हो। जिस-जिस विषय के योग्य होता है उस-उस विषय के अनुकूल अवतार लेते रहते हो। मेरी इच्छा से हवा वहती है। मेरी इच्छा से पेड़ अपनी जगह पर रहते हैं। मेरी इच्छा से सूर्य तपते हैं। मेरी इच्छा से वादल वरसते हैं। मेरी इच्छा से समय पर पेड़ फूलते हैं। काल का भी काल होता है और मृत्यु भी उसके भय से काम करती है। वेदान्त से जानने योग्य जिस भगवान् के सम्वन्ध में कहा गया है, हे देवि, वन्दित देव और देवगण मेरी इच्छा से रहते हैं। उसके प्रसन्न होने पर सब देवगण प्रसन्न होते हैं। उसकी आराधना से सब देवगण प्रसन्न होते हैं जैसे वृक्ष की जड़ को जल से तृप्त करने से उसके लाल पत्ती आदि तृप्त होते हैं वैसे ही उस भगवती को प्रसन्न करने से अन्य देवगण प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं। आगे चलकर मांस, मद्य आदि की शुद्धि और फिर वलि की विधि वताई गई है। यह सव तो अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वहीं द्रष्टव्य है। इस प्रकार इन सवको शुद्ध करके ही देवता को चढ़ाना चाहिए। विना शुद्ध किए मद्य पीने में वहुत से दोष हैं और वह एक कल्प तक साधक को क्षति पहुँचाती है। अपनी इच्छा से इन चीजों का सेवन करने वाला निर्विघ्न होता है। माँस आदि से जो पूजा की जाती है वह कल्याणकारी होती है। जो आदमी विना शुद्ध किए तुमको चढ़ाता है वह नरक जाता है। यहाँ से विस्तार के साथ देवी-पूजन की विधि वताई गई है। सारी विधि करने के वाद क्या होना चाहिए वह एक श्लोक में यों कहा गया है :

ब्रह्मार्पणम् ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम् ब्रह्मकर्म समाधिना ।।

अर्थात् ब्रह्म-रूपी अग्नि में ब्रह्म आरोपित करके स्वयं ब्रह्म-रूप होकर जो हवन

करता है वह इस प्रकार ब्रह्म-कर्म करता हुआ ब्रह्म-कर्म-समाधि पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

इस मन्त्र की व्याख्या करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है । इसमें देखने की बात तो यह है कि ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसको आगम ग्रन्थों में प्रायः प्रयुक्त नहीं किया जाता । और कई बातें हैं । मैंने 'महानिर्वाण तन्त्र' से इतने अवतरण इसलिए लिए हैं कि कहीं-कहीं तो इसमें वाक्य निगम वाङ्मय से मिलते हैं । यह एक प्रकार से आगम और निगम के बीच के पुल जैसा स्थान रखती है । आरम्भ में निश्चय ही अपने आगम-रूप, वेद के निषेध-रूप को स्पष्ट कर देती है । थोड़े में इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि और चाहे कई वैदिक कृत्य किये जाएँ परन्तु मुख्य पूजा—मोक्ष के लिए पूजा—की जाए, वह तभी फलवती हो सकती है जब तन्त्र के अनुसार हो ।

प्रसंगवशात् ब्राह्मण आदि धर्मों का उल्लेख है । पढ़ने में किसी पुराण या स्मृति का आनन्द मिलेगा । भेद यह होगा कि स्थान-स्थान पर जहाँ न्यास या अन्य मुख्य वैदिक क्रियायें होंगी उन्हें छोड़ देने का उपदेश दिया गया होगा । यही बात न्यूनाधिक अन्य तन्त्र-ग्रन्थों में है । हाँ, भेद यह है कि उनमें भाव तथा भाषा में इतना सादृश्य न दीख पड़े । इस विषय में यह तन्त्र निराला है । भारतीय संस्कृति की वही अटूट धारा सबमें बहती है। देवी का जीवन-चरित्र ही इतना क्षणभंगुर है कि शिष्य और भक्त जमा होने का उनको समय नहीं था।

ऐसी पुस्तकों में यह आक्षेप करना कि उनमें धार्मिक पुस्तक जैसे विषय नहीं हैं अपनी नासमझी दिखाना है । किसी का उनके साथ स्वारस्य न हो परन्तु पुस्तकें ठीक वैसी ही धार्मिक हैं जैसी कि निगम से सम्बद्ध पुराण आदि । इस लेख का आरम्भ एक सज्जन की शव-साधना के प्रयोग से हुआ था । उसमें उन्होंने शव पर बैठ कर देवी की आराधना का यत्न किया था और कुछ देर के लिए षोडशी के दर्शन प्राप्त किए थे । यह सोलह मातृकाओं में से एक है । प्रश्न यह है कि क्या ऐसा अब भी हो सकता है या होता है ? मनुष्य की वासनाओं का अन्त नहीं है । वह कब क्या चाहेगा, न इसका अन्त है न इस बात का कि वह अपनी इच्छाओं की ऐसी पूर्ति के लिए कब कैसा प्रयत्न करेगा । हाँ, यह निश्चित है कि उन उपायों से मोक्ष कदापि नहीं मिलेगा । किसी उपाय विशेष के यथार्थ होने-न-होने की सबसे बड़ी कसौटी यथाविधि किया जाना है । तन्त्र में बताये हुए कठिन-से-कठिन प्रयोग की सत्यता या झूठ की तो यही परख है कि उसका सहारा लेकर स्वयं वह काम किया जाय और देखा जाय कि जो फल उसका बताया जाता है वह मिलता है या नहीं ? यहाँ यह तर्क काम नहीं दे सकता कि इस प्रयोग से क्यों फल हुआ ? जो प्रयोग, कुछ लोगों के कहने के अनुसार सैंकड़ों वर्षों में सिद्ध किए गये हैं, सम्भवतः जिनके पीछे सैंकड़ों मनुष्यों के प्राण गये होंगे उनको तर्क के बल पर सिद्ध या असिद्ध नहीं कहा जा सकता ।

जो साधारण लौकिक पूजा है वह तर्क से सिद्ध या असिद्ध नहीं हो सकती। अमुक देव या देवी को अमुक फूल क्यों चढ़ाया जाय ? वह अमुक मन्त्र से क्यों प्रसन्न होती हैं ? ये बातें किस तर्क से सिद्ध की जा सकती हैं ? ऐसी बातों के सम्बन्ध में प्रमाण-बुद्धि से ही काम लेना होगा कि ऐसा होता है या नहीं होता है। और होने या न होने के प्रश्न का निबटारा साहस करके प्रत्यक्ष के द्वारा ही हो सकता है। हाँ, यह बात कही जा सकती है कि यह प्रयोग कभी ठीक उतरता था तो अब भी ऐसा होना चाहिए। जिस देवता को आराध्य मानकर वह किया गया था और जिस उपाय का आलम्बन लेकर प्रयोग किया गया था वह अब भी है तो फिर प्रयोग सिद्ध नहीं होगा ऐसा मानने का कारण तभी मिल सकता है जब यथाविधि प्रयोग करके यह देखा जाय कि परिणाम कुछ नहीं निकलता। मैं अपना विश्वास ही लिख सकता हूँ और वह विश्वास यह है कि जो प्रयोग दिये गये हैं वे ठीक हैं। यह अवश्य लिख देता हूँ कि उनमें से कोई भी प्रयोग मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। जहाँ उनकी चर्चा है वहाँ यह बात स्पष्ट कर दी गयी है परन्तु तन्त्र का यह दावा है कि वह भोग और मोक्ष दोनों की सिद्धि करता है। मोक्ष का द्वार भी खोलता है और भोग का भी। मोक्ष के साथ-साथ सभी भोगों का मार्ग बताता है। उसके भोगों की प्राप्ति के लिए बताये हुए मार्ग कठिन हैं। उनके पीछे न पड़ना अच्छा है। परन्तु यदि कोई साहस करके इनमें से किसी द्वार में प्रवेश करना ही चाहता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह द्वार खुलेगा और यथावत् फल देगा। फल के सम्बन्ध में साधक को यह सोच लेना चाहिए कि यह फल वाँछनीय है या नहीं। यदि ऐसा प्रतीत होता है तो तन्त्र वहाँ भी सहायता देने को तैयार है। इसी से यह बात स्पष्ट होती है कि इन बातों को शिव के शब्दों में :

गोप्यं गोप्यं पुनः गोप्यं स्वयोनिरिव पार्वति !

हे पार्वती, ये सब बातें इतनी गोप्य हैं जितनी गोप्यता कोई भद्र स्त्री अपनी योनि के प्रति बरतेगी या बरतती है। अन्य दीक्षायें तो मिल सकती हैं परन्तु इस प्रकार की दीक्षा बड़ी कठिनाई के साथ मिलती है और साधक को इस मार्ग से दूर रखने के सैकड़ों प्रयत्न होते हैं।

अस्तु, जहाँ तक तांत्रिक वाङ्मय को धार्मिक वाङ्मय मानने की बात है इस विषय में तो मुझे कोई सन्देह नहीं दीख पड़ता। यदि पुराण आदि इस कोटि में आते हैं तो तन्त्र के विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं है।

अब यहाँ वे उद्धरण आते हैं जो मूल पुस्तक से लिए गये हैं :

श्री देव्युवाच :

देव देव महादेव देवतानां गुरोर्गुरो।
वक्ता त्वं सर्वशास्त्राणां मन्त्राणां साधनस्य च ।।१।।

कथितं यत् परं ब्रह्म परमेशं परात्परम् ।
यस्योपासनतो मर्त्यो मुक्ति भुक्तिञ्च विन्दति ।।२।।

केनोपायेन भगवन् परमात्मा प्रसीदति ।
किं तस्य साधनं देव मंत्रः को वा प्रकीर्त्तितः ।।३।।

किं ध्यानं किं विधानञ्च परेशस्य परात्मनः ।
तत्त्वेन श्रोतुमिच्छामि कृपया कथय प्रभो ।।४।।

श्री सदाशिव उवाच :

अतिगुह्यं परं तत्त्वं श्रुणु मत्प्राणवल्लभे ।
ओं नमो ब्रह्मणे ।
रहस्यमेतत् कल्याणि न कुत्रापि प्रकाशितम् ।
तव स्नेहेन वक्ष्यामि मम प्राणाधिकं परम् ।।५।।

ज्ञेयं भवति तद्ब्रह्म सच्चिद्विश्वमयं परम् ।
तथा तत्त्वस्वरूपेण लक्षणैर्वा महेश्वरि ।।६।।

सत्तामात्रं निर्विशेषमवाङ्मनसगोचरम् ।
असत्त्रिलोकीसद्भानं स्वरूपं ब्रह्मणः स्मृतम् ।।७।।

समाधियोगैस्तद्वेद्यं सर्वत्र समदृष्टिभिः ।
द्वन्द्वातीतैर्निर्विकल्पैर्देहात्माध्यासवर्जितै ।।८।।

यतो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति ।
यस्मिन् सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्म लक्षणैः ।।९।।

स्वरूपबुद्धया यद्वेद्यं तदेव लक्षणैः शिवैः ।
लक्षणैराप्तुमिच्छूनां विहितं तत्र साधनम् ।।१०।।

तत्साधनं प्रवक्ष्यामि शृंणुष्वावहिता प्रिये ।
तत्रादौ कथयाम्याद्ये मन्त्रोद्धारं महेशितुः ।।११।।

भैरवी आदि चक्र, इनमें तन्त्र की ओर अरोचित या उसकी ओर चित्त में घृणा उत्पन्न करने वाली जिन क्रियाओं का नाम लिया जाता है उनमें भैरवी चक्र का नाम बहुत आता है। जो कुछ इस सम्बन्ध में सुना जाता है वह है भी भैरवी । इसका पूरा ब्यौरा तो लोगों के सामने आता नहीं। थोड़े में यों कह सकते हैं कि पूजा का पूरा प्रबन्ध किया जाता है। माँस, मद्य आदि अच्छी-से-अच्छी सामग्री एकत्र की जाती है और फिर पूजा करने वाले सब उपासक एक विशेष प्रकार से बैठते हैं। उसमें स्त्री और पुरुष दोनों

होते हैं। इस चक्र के भीतर उपासना की जाती है। उपासना के समय वर्ण का विचार नहीं होता। ब्राह्मणी और शूद्रा, चाण्डाली और ब्राह्मणी सब एक माने जाते हैं। जब भैरवी चक्र समाप्त होता है तब सब वर्ण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। इसका रहस्य खोलकर न रखना ही अच्छा है। यह तो स्पष्ट कहा है :

निवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक्।
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः द्विजातयः ।।

अर्थात् जब तक भैरवी चक्र चलता रहता है तब तक सब वर्ण ब्राह्मण माने जाते हैं और उसके समाप्त हो जाने पर सब पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। चक्र के बाहर बड़ी कड़ाई के साथ यह अनुशासन है कि सब लोगों का अपना-अपना विवाह ब्राह्म विवाह की विधि से होना चाहिए। इसके बाद पुस्तक में वह भाग आता है जिसे हम स्मार्त्त भाग कह सकते हैं। अनेक प्रकार के अपराधों का तथा उनके दण्डों का उल्लेख आता है। कई अपराध तो ऐसे हैं जो साधारण श्रुतियों में अपराध-कोटि में गिने भी नहीं जाएँगे। उनकी सूची देना बेकार है। अन्त में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि इस धर्म में, जिसको कुल-धर्म भी कहते हैं, सबको अधिकार है। किसी के लिए भी निषेध नहीं है।

दर्शन और जीवन

श्रीराम माधव चिंगले, एम. ए.

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्ननिवध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

—मनुस्मृति ६-७४

ब्रह्म साक्षात्कार में सम्पन्न मनुष्य कर्म द्वारा नहीं बँधता (क्योंकि ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से ज्ञानी के प्रारब्ध-कर्म को छोड़कर शेष सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।) किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार से रहित मनुष्य जन्म-मरण-रूप संसार में ही फँसा रहता है।

दर्शन और जीवन के सम्बन्ध को लेकर जनसाधारण में और खेद के साथ कहना पड़ता है कि स्वयं दार्शनिकों में भी अनेक भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं। जनसाधारण की इस विषय में प्रायः यह धारणा रहती है कि दर्शन का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि उसके बिना हमारे व्यावहारिक जीवन में कोई भी काम किसी भी प्रकार अड़ता हुआ नहीं दिखाई देता। यह युग हड़ताल और 'बन्द' का है। मान लीजिए एक दिन जगत् के समस्त दार्शनिक हड़ताल पुकार दें और अपना काम बन्द कर बैठें, तो इनके बिना दुनिया का कौनसा काम रुकेगा? कोई नहीं। इनको छोड़कर और कोई भी हड़ताल करे तो किसी-न-किसी प्रकार की असुविधा उपस्थित होती है जिसके कारण हड़ताल करने वालों का महत्त्व हमें उत्कटता के साथ प्रतीत होता है। दार्शनिकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। केवल इतना ही नहीं; ये लोग अपनी दार्शनिक चिन्ता में गड़े रहने के कारण प्रायः इतने समाजविमुख होते हैं कि वे व्यावहारिक दुनिया के विरुद्ध निरन्तर हड़ताल की स्थिति में ही रहते हैं। जो सबकी रात, वह इनका दिन होता है और जो सबका दिन, वह इनकी रात होती है। स्वयं भगवान् ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' में इनके विरुद्ध यह शिकायत की है! तात्पर्य यह कि दार्शनिकों के सारे व्यवहार दुनिया के विपरीत ही होते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे सुपरिचित दैनंदिन व्यावहारिक जीवन और दर्शन का क्या सम्बन्ध हो सकता है? इसीलिए हम प्रायः देखते हैं कि दार्शनिक और उनकी अनन्य चिन्ता का विषय दर्शन अनादि काल से दुनिया के उपहास के ही विषय रहे हैं। दार्शनिकों को व्यवहार-शून्य और दर्शन को 'घटपट की खटपट' कहा गया है। प्राचीन यूनान के

दार्शनिक थेलीज़ (Thales) के विषय में एक विनोदपूर्ण आख्यायिका प्रचलित है। कहा जाता है कि एक बार अपनी दार्शनिक चिन्ता में अत्यधिक निमग्न होने के कारण उसे अपने पैरों तले क्या है इस बात का भी भान न रहा और वह कुएँ में जा गिरा। इस दृश्य को देखकर एक देहाती लड़की अपनी हँसी न रोक सकी और कह बैठी, "वाह रे दार्श-निक!" इसी प्रकार की उपहासगर्भ धारणा मन में रखकर कॅलिक्लिस (Callecles) ने यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात को दार्शनिक चिन्ता में अधिक काल व्यतीत न करने की सलाह दी थी, क्योंकि इसके कारण मनुष्य दुनिया से एकदम उठ-सा जाता है। दर्शन और दार्शनिकों के बारे में अनादि काल से व्यावहारिक जगत् का प्रायः यही दृष्टिकोण रहा है। दार्शनिक होना व्यवहार-शून्यता का अपर पर्याय-सा हो गया है। ऐसी स्थिति में कोई आश्चर्य नहीं कि दर्शन और दर्शन-शास्त्र शिक्षा के क्षेत्र में भी उपेक्षा और अवहेलना के विषय बने हुए हैं। आज भी सर्वत्र यही चित्र दिखाई देता है।

दर्शन की उपेक्षा कुछ और कारणों से भी की जाती है और कहा जाता है कि ये कारण अधिक गम्भीर स्वरूप के हैं। कहा जाता है कि यह बीसवीं सदी वैज्ञानिक उन्नति का युग है। इस अवकाश-युग में मानव अन्य ग्रहों पर पहुँचने का अपना स्वप्न साकार करने के बहुत कुछ समीप पहुँच चुका है। ऐसी स्थिति में इस दिशा में प्रयत्नशील होना छोड़कर हम मध्ययुगीन माया-ब्रह्म, घट-पट-मठ और अवच्छेदकावच्छिन्न की काल्पनिक दुनिया में कब तक रमे रहेंगे? इस युग का और आधुनिकता का तकाज़ा है कि हम दर्शन से एकदम मुँह मोड़कर विज्ञान को ही अपनाएँ। ऐसे समय दर्शन की साधना काल-बाह्य और युगधर्म से विपरीत है।

हम यह भी कहा हुआ पाते हैं कि आज देश के सामने अनेक गम्भीर समस्याएँ हैं। यथा, रोटी की समस्या, मकान की समस्या, शिक्षा की समस्या, बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या, सम्भाव्य बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा की समस्या इत्यादि-इत्यादि। इन समस्याओं को हल करना छोड़कर दर्शनशास्त्र की काल्पनिक समस्याओं में उलझे रहना कहाँ तक समर्थनीय है?

यह तो हुई जन-साधारण की बात। किन्तु जैसा कि हम प्रारम्भ में कह आए हैं, स्वयं दार्शनिकों में भी इस विषय में एकवाक्यता नहीं है। हवाई विश्वविद्यालय में सन् १९४९ में स्व० चार्ल्स ए. मूअर (Charles A. Moore) द्वारा एक पूर्व-पश्चिम दर्शन परिषद् आयोजित की गई थी, जिसमें यह एक महत्त्वपूर्ण विचार-विभाग था। इस विभाग-गत चर्चा का विषय था 'दार्शनिक सिद्धान्तों का व्यावहारिक बातों से सम्बन्ध' (The Relation of Philosophical Theories To Practical Affairs)। इसमें पूर्व और पश्चिम के प्रमुख दार्शनिकों ने भाग लिया था। ये प्रायः दो दलों में विभाजित थे। एक के अनुसार दार्शनिक सिद्धान्तों का व्यावहारिक बातों पर गहरा असर होता है। दूसरे के

अनुसार कोई आवश्यक नहीं कि इस प्रकार का असर हो। चर्चा के समय सुप्रसिद्ध आंग्ल-दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल (Bertrand Russell) के मत की ओर निर्देश किया गया था जो प्रस्तुत सम्बन्ध में विशेषतया उल्लेखनीय है। आप कहते हैं, "मेरे मत से यह धारणा कि अध्यात्म शास्त्र का व्यावहारिक बातों पर प्रभाव होता है, तार्किक अयोग्यता का प्रमाण है" ("The belief that metaphysics has any bearing upon practical affairsis, to my mind, a proof of logical in capacity."

हमारी नम्र मान्यता के अनुसार इस वादग्रस्त विषय में भारतीय दृष्टिकोण ही सर्वथैव उपादेय है। वह यह कि दर्शन का मानव-जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। आध्यात्मिक पक्ष मानव-जीवन का सारभूत भाग है और उसी की पूर्ति दर्शन द्वारा होती है। इसी आशय से भगवान् मनु कहते हैं कि यथार्थ दर्शन सकल दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति और परमानन्दरूप मोक्ष-प्राप्ति के लिए कारणीभूत होता है। इसके अभाव में मनुष्य जन्म-मरण-रूप दुःखमय संसार में ही फँसा रहता है। भगवान् श्री याज्ञवल्क्य ने भी अपनी सुप्रसिद्ध स्मृति के प्रथमाध्याय में ही 'आत्मदर्शन' को 'परम धर्म' कहा है :

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्याय कर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।।१,८।।

कुछ आगे चलकर भगवान् मनु ने भी अपनी स्मृति में आत्मज्ञान को सब विद्याओं में श्रेष्ठ बताया है, क्योंकि उसके द्वारा अमृतत्व-रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है :

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ।।१२,-८५।।

भगवान् याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से स्पष्ट शब्दों में कहा था कि धन से अमृतस्वरूप मोक्ष-प्राप्ति की कोई आशा नहीं—'अमृतत्त्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेन'। धनादि से मनुष्य का समाधान नहीं हो सकता, यह बात बालक नचिकेता ने यमराज से कहकर मृत्यु का रहस्य ही उनसे जानना चाहा था—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'। तत्त्वज्ञन या सम्यग्दर्शन के द्वारा ही आत्मज्ञान होकर मानव-जीवन की सार्थकता हो सकती है। ऐसी स्थिति में यह विधान कि दर्शन का मानव-जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं निराधार्य्य है। समस्त दर्शन जीवन से ही निकलता है, और जीवन के लिए ही होता है। ऐसा दर्शन जिसका जीवन के किसी भी अंग या पक्ष या पहलू से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न हो, केवल असम्भव ही है। ऐसी स्थिति में उसकी व्यावहारिक उपयोगिता या निरुपयोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस विषय में पाश्चात्य दार्शनिक मार्टिन हायडेगर (Martin heidegger) का मत विशेपतया उल्लेखनीय है। आपके अनुसार दर्शन का अर्थ ही जीवन का दर्शन है। ऐसी स्थिति में दर्शन की व्याख्या यह कहकर करना कि दर्शन जीवन का है या जीवन-

विषयक है उतना ही निरर्थक है जितना कि 'वनस्पति का वनस्पतिशास्त्र' यह शब्द-प्रयोग[1]।

आंग्ल-विचारक एलडस हक्सले का मत भी इस विषय में विचारणीय है। आप कहते हैं—"हम जो-कुछ भी हैं वह सब हमारे विचारों का ही परिणाम है। मनुष्य अपने जीवन-दर्शन के अनुसार, जगद्विषयक अपनी कल्पना के अनुसार ही अपना जीवन-यापन करते हैं। यह बात पूर्णतया विचारशून्य मनुष्य के विषय में भी सत्य है। दर्शन के बिना रहना असम्भव है। हमें जिन दो विकल्पों में से किसी एक को चुनना है वे दर्शन और उसका अभाव ये न होकर सम्यक् दर्शन और असम्यक् दर्शन ये ही हैं" (साध्य और साधन, पृष्ठ २४२)[2]।

सुप्रसिद्ध आंग्ल-साहित्यिक और विचारक श्री जी० के० चेस्टरटन ने कहा है कि किसी को अपना मकान किराये पर देते समय मकान-मालिक को चाहिए कि किरायेदार की आर्थिक स्थिति से भी अधिक उसकी दार्शनिक विचारधारा की ओर ध्यान दे। मार्क्स-वादी राष्ट्र इस सिद्धान्त के पक्के अनुयायी हैं। उनके अनुसार भी जो मनुष्य कहता है कि वह तत्त्वचिन्तक नहीं है, समझ लीजिए कि वह एक अयोग्य तत्त्वचिन्तक है।[3]

सुप्रसिद्ध जर्मन-दार्शनिक हेगेल (Hegel) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि केवल पशु ही दर्शन से विहीन होते हैं। उनका यह ताना या व्यंग्यार्थ दर्शनशास्त्र की उपेक्षा करने वालों के प्रति खासी-अच्छी मीठी चुटकी है।

जनसाधारण का दर्शनविषयक उपर्युक्त दृष्टिकोण अज्ञानमूलक अतएव सदोष और हेतुदुष्ट है। जब यह कहा जाता है कि दर्शनशास्त्र बेकार या निरुपयोगी है, तब यह विधान करते समय अवश्य ही इन लोगों के सामने अधिक उपयोगी और मूल्यों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण बातें होनी चाहिए। किन्तु कौन-सी बातें कितनी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान हैं इस प्रकार का मूल्यविचार और मूल्यों में तरतम-भाव का निर्णय यह तो प्रथम श्रेणी का दार्शनिक विचार है। सभी बातें समान रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। इस विषय में न्यूनाधिक भाव या तरतम भाव होता है। कई बातें मूल्यों की दृष्टि से निम्न श्रेणी

---

1. To define Philosophy as the Philosophy of *life* is as pleonastic as to speak of the 'botany of plants'."

2. " 'All that we are is the result of what we have thought.' Men live in accordance with their philosophy of life, their conception of the world. This is true even of the most thoughtless. It is impossible to live without a metaphysic. The choice that is given us is not between some kind of metaphysic and no metaphysic. It is always between a good metaphysic and a bad metaphysic" (Ends And Means, P.252).

3. "The man who says he is no philosopher is merely a bad philosopher."

की, सापेक्ष और साधनभूत होती हैं और कई मूल्यों की दृष्टि से श्रेष्ठतम, निरपेक्ष और साध्यस्वरूप होती हैं। दर्शनशास्त्र का यही प्रधान विचारणीय विषय होता है या होना चाहिए। जनसाधारण की मूल्य-विषयक धारणा अविचारित सिद्ध होती है क्योंकि इसमें हमारे भौतिक जीवन की तात्कालिक अतएव साधनस्वरूप आवश्यकताओं को ही एकमेव अन्तिम मूल्य मान बैठने की ग़लती की जाती है। ध्यान रहे, किसी बात का तात्कालिक रूप से अत्यावश्यक होना उसका एकमेव या अन्तिम मूल्य होना नहीं है। हमारे भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ अवश्य ही पूरी करनी होंगी। उनके बिना हमारा भौतिक जीवन ही संकट में पड़ जाएगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये बातें मूल्यों की दृष्टि से भी अत्यन्त या निरपेक्ष-रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। ये बातें हमारे उच्चतर मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से साधनरूप अतएव सापेक्ष-मूल्य ही रखती हैं। ये अन्तिम साध्य या निरपेक्ष-मूल्य रूप नहीं हो सकतीं। यदि हम इन्हीं बातों को एकमेव या अन्तिम मूल्य मान बैठें तो हमारा जीवन आहारनिद्रादि पशुधर्मों तक ही सीमित रहे और हममें और पशुओं में कोई भेद ही न रहे—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्'। हम आहारादि जीवित रहने के लिए करते हैं, आहारादि के लिए हम जीवित नहीं रहते। योगवासिष्ठकार ने यह साध्यसाधन भाव या मूल्यों का तरतम-भाव निम्न श्लोक में बहुत ही उत्तमता के साथ बताया है :

अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम्।
प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम्॥

इसका तात्पर्यार्थ यह है कि मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके इस कर्मभू पर हमें जीवन-निर्वाह के साधन-रूप आहारादि के लिए पापादि से बचकर धर्ममार्ग के अनुसार कर्म करना चाहिए। आहारादि हमें प्राणधारण करने की दृष्टि से ही करना चाहिए, न कि जिह्वालौल्य के लिए। प्राणधारण में हमारा एकमेव उद्देश्य अन्तिम तत्त्व या परमार्थसद्वस्तु की खोज ही होना चाहिए। तत्त्वजिज्ञासा हमें सकल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द-रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही करनी चाहिए (न कि केवल बौद्धिक कसरत के रूप में)।

योगवासिष्ठकार ने उक्त श्लोक में दर्शन-विषयक भारतीय दृष्टिकोण बहुत ही उत्तमता के साथ बताया है। इसमें चतुर्विध पुरुषार्थों का विचार सारगर्भित रूप से आ गया है। आहार और उसके लिए आवश्यक कर्म अर्थकाम रूप पुरुषार्थ के वाचक हैं। 'अनिन्द्य' शब्द धर्मरूप पुरुषार्थ का द्योतक है। यह इस बात को बताता है कि हमारे अर्थ-काम धर्ममूलक होने चाहिए। सकल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष चतुर्थ पुरुषार्थ है। यही परम पुरुषार्थ है। शेष तीन पुरुषार्थ इसके साधन हैं। यह उनका अन्तिम या परम साध्य है। यह मोक्षरूप परम पुरुषार्थ तत्त्वजिज्ञासा-

रूप दर्शन से ही प्राप्त हो सकता है, क्योंकि 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' यह शास्त्रसिद्धान्त है। कर्म, उपासना, योगादि शेष सभी साधन इसी तत्त्वज्ञान या तत्त्वदर्शन के ग्रंगभूत हैं; उसे जन्म देने में ही इनका सार्थक्य है। मोक्षप्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान को छोड़कर शेष सभी साधन तत्त्वज्ञान द्वारा परम्परया उपयोगी हैं, साक्षात् नहीं, क्योंकि एकमात्र ज्ञान ही ग्रज्ञान का विरोधी है। ग्रज्ञानजन्य कर्मादि ग्रज्ञान के विरोधी नहीं हो सकते। 'श्रीराम गीता' में यही ग्राशय उत्तमता के साथ बताया गया है :

ग्रज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥

चूंकि दर्शनशास्त्र मानव-जीवन की मूलभूत समस्याग्रों को हल करता है इसलिए उसका सार्वभौम महत्त्व है। 'कौटलीय ग्रर्थशास्त्र' में उसका यह सार्वभौम महत्त्व निम्न श्लोक में बहुत ही उत्तमता के साथ बताया गया है :

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्व कर्मणाम्।
ग्राश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

ग्रान्वीक्षिकी (ग्रध्यात्म विद्या)-दर्शनशास्त्र शेष समस्त विद्याग्रों के लिए प्रकाश-स्वरूप दीपक है, समस्त कर्मों का उपाय बताने वाला है, समस्त धर्मों का ग्राधार है। यही उसका स्थायी स्वरूप है।

'कामन्दकीय नीतिसार' में विद्या-विभाग प्रकरण में ग्रान्वीक्षिकी का सार्वभौम महत्त्व ग्रौर उसका कारण निम्न शब्दों में बताया गया है—"तत्र सर्वविद्याविचार हेतुत्वात् प्रधानतमान्वीक्षिकी।···ग्रान्वीक्षिकी पुनः सर्वविद्यातत्त्वप्रकाशेन व्याप्रियमाणात्यन्तोपयोगिनी।" 'श्रीमद्भगवद्गीता' में विभूतियोग में ग्रध्यात्म विद्या को भगवान् की विभूति कहा गया है—"ग्रध्यात्मविद्या विद्यानाम्"।

दर्शनशास्त्र का इस प्रकार का महत्त्व ग्रनेक प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा भी स्वीकृत किया गया है। सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो के ग्रनुसार दर्शनशास्त्र का विषय सम्पूर्ण ज्ञान है, ग्रन्य विद्याग्रों की तरह ग्रांशिक या एकांगी ज्ञान नहीं। व्यापकतम समन्वय की योग्यता से सम्पन्न होने के कारण दर्शनशास्त्र को 'विज्ञानों का भी विज्ञान' ("Science of all sciences") कहा गया है। वर्तमान ग्रमेरिकन दार्शनिक श्री विलियम ग्रर्ल दर्शनशास्त्र को विद्याग्रों का सम्राट् ("The king of humanities") कहते हैं।

'कामन्दकीय नीतिसार' में दर्शनशास्त्र का स्वरूप ग्रौर उसका हमारे दैनंदिन व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से महत्त्व निम्न श्लोक में बहुत ही उत्तमता के साथ बताया गया है :

ग्रान्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः।
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति॥

इसका तात्पर्यार्थ यह है कि आन्वीक्षिकी पदार्थ स्वभावविद्या या हेतुविद्या है। इसके द्वारा हमें कौनसे पदार्थ सुखसाधन हैं और कौन से दुःखसाधन हैं यह ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान के प्रभाव से हमें तत्त्व-विवेक प्राप्त होकर हम हर्ष-शोक-द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् श्री रामचन्द्रजी को इस प्रकार का तत्त्व-विवेक श्री वसिष्ठ महामुनि की कृपा से प्राप्त हुआ था। इसके प्रभाव से वे राज्याभिषेक के सुखद समाचार के कारण हर्षातिरेक को प्राप्त न हुए और न वनवास के दुःखद समाचार से खिन्नता को प्राप्त हुए। दोनों अवसरों पर वे अपनी चित्तगत साम्यावस्था से यत्किंचित् भी विचलित न हुए।

आज के इस विज्ञानयुग में भौतिक उन्नति के साथ ही जीवन-संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो गया है और दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक तीव्र होता जा रहा है। इसके फलस्वरूप मानसिक तनाव, उद्विग्नता और अशांति-सदृश बातें अत्यधिक बढ़ गई हैं और बढ़ती ही जा रही हैं। इसके फलस्वरूप आज का मानव अपना मानसिक संतुलन खो बैठा है। मद्य-पान का बढ़ता हुआ दुर्व्यसन, पागलों की बढ़ती हुई संख्या और आत्मघात की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ये सब इसी के कटुफल हैं। विशेष आश्चर्य तो यह कि ये अनिष्ट-प्रवृत्तियाँ गरीब देशों से भी अधिक भौतिक उन्नति में अग्रसर यूरोप-अमेरिका जैसे समृद्ध देशों में दिखाई देती हैं। ये लोग आज इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए योग और अध्यात्म का आश्रय ले रहे हैं। यह स्थिति सम्यक् जीवन-दर्शन की आवश्यकता और महत्त्व की ओर बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

आज भौतिक विज्ञान ने सचमुच ही अभूतपूर्व उन्नति की है और द्रुत-गति से करता जा रहा है। उसने हमें आकाश में खेचरों से भी कई गुना अधिक वेग से उड़ना सम्भव कर दिया है। विज्ञान ने हमें भूगर्भ की थाह लेना सिखाया है और इसी के बल पर हमने समुद्र के स्वैर संचार में जलचरों को भी मात कर दिया है। किन्तु खेद है कि इसी विज्ञान ने मनुष्य को इस अवनीतल पर मनुष्य की तरह रहना नहीं सिखाया है। विज्ञान से हमें कोई द्वेष या शत्रुता नहीं है और न हम वैज्ञानिक प्रगति को रोकने की अयुक्त बात कर सकते हैं। हमें अपने लौकिक अभ्युदय के लिए और हमारी अनमोल स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए भौतिक विज्ञान और तन्त्रशास्त्र (Technology) का आश्रय अनिवार्य-रूप से लेना ही होगा। अन्यथा हम युग तथा काल की दौड़ में बहुत अधिक पिछड़ जाएँगे और हमारी प्राणप्रिय स्वतन्त्रता भी खतरे में पड़ जाएगी। हमें केवल इतना ही कहना है कि वैज्ञानिक उन्नति की ओर देखकर हमारी आँखें इतनी अधिक न चौंधिया जाएँ कि हम इस चकाचौंध में विज्ञान की मर्यादाओं को भूल जाएँ और मानव-जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं और ऊँचे मूल्यों को दृष्टि से ओझल कर दें। विज्ञान हमें केवल 'क्या है' इतना ही बतला सकता है। 'क्यों है' और 'क्या होना चाहिए' यह विज्ञान नहीं बतला सकता।

विज्ञान पूर्णरूपेण बहिर्मुख और वस्तुनिष्ठ है, अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ नहीं। आत्मज्ञान और मूल्य-मीमांसा जैसी बातें तो एकदम विज्ञान की कक्षा से बाहर हैं। किन्तु ये ही बातें दर्शनशास्त्र का प्राण हैं। अन्तिम मूल्य का निर्धारण यही दर्शनशास्त्र का एकमेव गवेषणीय विषय है। श्री राधाकृष्णन् ने ठीक ही कहा है कि "विज्ञान का अन्य कला-शाखाओं के साथ स्थूलरूप से वही सम्बन्ध है जो साधन का साध्य के प्रति होता है। साधन के प्रति हमारे अत्युत्साह में हमें साध्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कार्याकार्य का विचार विज्ञान की कक्षा से बाहर है किन्तु इस प्रकार की मूलभूत धारणाओं की मीमांसा पर तो मानव के समस्त क्रिया-कलाप और सुख अवलम्बित होते हैं।"[1]

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर अब हमें दर्शन के विरुद्ध उद्भावित एक और आक्षेप का उत्तर देते देर न लगेगी। वह यह कि दर्शन का अध्ययन युगानुरूप न होकर कालबाह्य है। ध्यान रहे शाश्वत सत्य और 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' जैसे मानव-जीवन के चिरन्तन मूल्य दिक्कालाद्यनवच्छिन्न होते हैं। अतएव वे कभी कालबाह्य नहीं होते। उनकी अभिव्यक्ति या बाह्याकार में चाहे देशकाल की दृष्टि से परिवर्तन होता दिखाई दे किन्तु उनका मूल स्वरूप ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहता है।

दर्शन का जीवन के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह बात हम न्यायशास्त्र की परिभाषा के अनुसार बहुत ही उत्तमता के साथ देख सकते हैं। न्यायशास्त्र का यह सिद्धान्त लीजिए—'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्'। टीका—'सर्वे ये व्यवहारा आहार-विहारादयः शब्दप्रयोगास्तेषां हेतुः। ज्ञानं विना शब्द प्रयोगाद्यसंभवात्।' हमारे सारे व्यवहार ज्ञानाधीन होते हैं। हमारी समस्त इच्छाएँ, हमारे सारे यत्न, हमारे सारे व्यापार, हमारी समस्त भावनाएँ और हमारे समस्त मूल्य ज्ञानाधीन ही होते हैं। दर्शन शब्दगत दृश् धातु ज्ञान—सामान्यार्थक है। यहाँ ज्ञान से अभिप्राय सम्प्रति उपलभ्यमान चेतन-अचेतन भेद से द्विविध पदार्थों के मूलतत्त्व के अनुसन्धान से ही है। ज्ञान के महत्त्व को ध्यान में रखकर हम दो अबाधित समीकरण कर सकते हैं। (१) जैसा जिसका ज्ञान वैसा ही उसका व्यवहार होता है। (२) ज्ञान के बदलते ही व्यवहार भी बदल जाता है और इसके साथ ही मनुष्य का जीवन भी या कहिए कि सम्पूर्ण मनुष्य ही आमूलाग्र बदल जाता है। नारदजी ने लुटेरे वाल्मीकि का ज्ञान बदल दिया। इस बदले हुए ज्ञान के

---

1. "The relation of sciences to humanities may be stated roughly to be one of means to ends. In our enthusiasm for the means we should not overlook the ends. The concepts of right and wrong do not belong to the sphere of science, yet it is on the study of the ideas centring round these concepts that human action and happiness ultimately depend."

प्रभाव से वे प्रारम्भ में उल्टा नाम रट कर अन्त में स्वयं ब्रह्म-समान हुए और भारतीय संस्कृति के आधारस्तम्भ 'रामायण' जैसी दिव्य रचना कल्याणार्थ भेंट रूप में दी। भगवान् बुद्ध, गोस्वामी तुलसीदासजी, बिल्वमंगल, राजा भर्तृहरि, राजा गोपीचन्द प्रभृति के जीवन में क्रान्ति करने वाली वस्तु यदि कोई थी तो वह ज्ञान ही था। अब चूंकि दर्शन-शास्त्र मानव-जीवन की मूलभूत समस्याओं का ज्ञान ही तो है; अतएव उसका मानव-जीवन पर और उसकी अविचारित सिद्ध धारणाओं पर गहरा प्रभाव पड़े बिना किस प्रकार रह सकता है? क्या रज्जुसर्प या शुक्तिरजत के भ्रम की निवृत्ति होने पर बाध-काल में भी हमारे वही व्यवहार हो सकते हैं जो भ्रम-काल में थे? इसी प्रकार क्या हमारे अज्ञानकालीन जगत्सत्यत्वमूलक व्यवहार या देहात्म-भ्रान्तिमूलक व्यवहार जगन्मिथ्यात्व के निश्चय के बाद या देहात्मविवेक के बाद भी पूर्ववत् हो सकते हैं? क्या मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ, इस अद्वैतात्मबोध के अनन्तर भी हमारे व्यवहार वही रह सकते हैं जो कि हमारी अज्ञान दशा में थे? सुतरां नहीं। इस विषय में श्री भगवत्पूज्यपाद भगवान् भाष्यकार ने अपना निर्णय निस्संदिग्ध शब्दों में दिया है—"नावगत ब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुम्, वेदप्रमाणजनित ब्रह्मात्म-भाव विरोधात्।...यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगत ब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्।" (सूत्र भाष्य १-१-६)।

उपर्युक्त विवेचन से हम देख सकते हैं कि दर्शन का मानव-जीवन के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा जिसका दर्शन होगा वैसा ही उसका जीवन होगा। चार्वाक-दर्शन जैसी निम्न श्रेणी की विचार-प्रणाली का अनुसरण करके किसी का जीवन महान् नहीं हो सकता। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ बहिर्मुख होती हैं। उसे ये बातें सिखानी नहीं पड़तीं। श्रीमद्भागवतकार यथार्थता के साथ कहते हैं:

"लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।"

लोक में विषयोपभोग तथा मद्यमांस सेवन की जीव की स्वभाव से ही सदा प्रवृत्ति है। उनके लिए प्रेरणा करने की श्रुति को आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका कारण यह है कि स्वयं परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। अतएव वे स्वभावतः ही बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त होती हैं, अन्तरात्मा की ओर नहीं। इसी अर्थ का 'कठोपनिषद्' का निम्न वचन है—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मा।'

किन्तु आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से यह कोई स्पृहणीय स्थिति नहीं है, यह जीव की एक तरह से शैशवावस्था ही है। इसका फल मृत्यु ही है। कठश्रुति कहति है:

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

अर्थात् अल्पप्रज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे लगे रहते हैं। वे मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए जाल में पड़ते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष प्रत्यगात्मस्वरूप में स्थितिरूप अमृतत्व को निश्चल जानकर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से जहाँ चार्वाक-दर्शन सबसे निम्न श्रेणी में है वहाँ सबसे उच्च श्रेणी पर अद्वैतवेदान्त दर्शन अवस्थित है। इसके द्वारा जीव को उसके नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति होती है और सकल दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है। इसी दर्शन के व्यवहारकालीन सामाजिक पक्ष में सार्वात्म्यभाव और आत्मौपम्य बुद्धि के उदात्त तत्त्व ग्रथित हैं। यही उदात्त दर्शन आज के अज्ञानी, स्वार्थी, बहिर्मुख, पतित, दुःखी और अशांत मानव को ऊँचा उठाकर उसे ज्ञानी, सर्वहितरत, अन्तर्मुख, उन्नत, सुखी और शान्त बनाने की क्षमता रखता है। यही आज के पतित मानव के उद्धार का एकमेव आशास्थान है। यही उसे तापत्रय से मुक्त करके नर से नारायण बना सकता है। यही विश्वबन्धुत्व और विश्वप्रेम का पाठ पढ़ाकर विश्वशांति स्थापित कर सकता है। आज के सर्वसंहार के द्वार पर पहुँचे हुए अण्वस्त्रों के युद्ध के भय से ग्रस्त मानव की रक्षा इसी दर्शन के दिव्य और भव्य सिद्धान्तों के आधार पर हो सकती है। शेष सब उपाय मूलगामी न होकर उपरि-उपरि स्वरूप के होने के कारण वे रोग की जड़ नहीं काट सकते। वे क्षणिक और अस्थायी-रूप से ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। उनके कारण रोग के बार-बार उद्भावित होने की आशंका निरन्तर बनी रहेगी। भौतिक और लौकिक बातें मर्यादित होने के नाते उनको लेकर कलह, संघर्ष, द्वेष तथा हिंसादि सदृश बातें होना स्वाभाविक है। किन्तु जहाँ अनन्त अद्वैत स्वानन्द-साम्राज्य का सागर लहराता हो और प्रत्येक को वह उतने ही पूर्णातिपूर्ण रूप में प्राप्त हो वहाँ क्षुद्र स्वार्थ तथा अज्ञानमूलक और तज्जन्य द्वैतमूलक संकुचित वृत्तियों को अवकाश ही किस प्रकार मिल सकता है ?

आज के तथाकथित उन्नत अवकाश-युग में मानव चन्द्रमंडल और शुक्रादि ग्रहांतरों पर पहुँचने के प्रयास में अपने आपको भूला हुआ है। वह सच्चे अर्थ में 'आत्महा' माने आत्मघाती है। सनत्सुजातीयकार कहते हैं :

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

इस श्लोक में अपने यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ मनुष्य को चोर और आत्मापहारी कहा गया है। इस आत्मस्वरूप-विषयक अज्ञान ने ही अनेक अनर्थों को जन्म दिया है और दे रहा है। अज्ञान ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है :

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुः, अज्ञान तुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते संप्रमत्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥

आत्मज्ञान के द्वारा ही इसकी निवृत्ति सम्भव है। किन्तु यह आत्मज्ञान ग्रन्थालय

में बैठकर पदवी-प्राप्ति के उद्देश्य से प्रबन्ध लिखने के हेतु किए हुए अनेक पुस्तकों के अध्ययन से प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिए सम्पूर्ण जीवन को साधनामय बनाना पड़ेगा। शब्दविद्या के साथ पराविद्या का भी अभ्यास करना पड़ेगा। केवल शब्दविद्या का अभ्यास 'भुक्तये' होगा न कि 'मुक्तये'। साधनचतुष्टय सम्पन्न होकर तत्त्वसाक्षात्कार के हेतु किए गए साधनाभ्यास के द्वारा ही हमें वह दिव्य अद्वैतात्म-बोध या ब्रह्मात्म-बोध प्राप्त हो सकता है जिसके द्वारा व्यष्टि और समष्टि दोनों का सच्चा कल्याण हो सकता है। इस साक्षात्कारात्मक अनुभव द्वारा ही हमें वर्तमान जीवन की ओर देखने की और उसकी बहुविध समस्याएँ हल करने की नई दृष्टि प्राप्त होगी। इससे सम्पन्न होकर हम अपनी इस ब्रह्मविद्या-रूप प्राचीन निधि को युगानुरूप नये रूप में उपस्थित कर सकेंगे। ध्यान रहे, शाश्वत सत्य और तत्त्व जितना ही पुरातन है उतना ही वह नित्य-नूतन भी होता है। उसका साक्षात्कारात्मक अनुभव, इस अनुभव के हेतु किया जाने वाला श्रवण, मनन, निदिध्यासन-रूप प्रयास, तथा इस अनुभव की युगानुरूप नई परिभाषा में अभिव्यक्ति वर्तमान युग की माँग पूरी कर सकती है। यही सच्चा जीवन-दर्शन होगा और विश्वमानव के लिए नितांत उपादेय होगा। इस दिव्य-दर्शन के प्रभाव से स्वहित सार्वहित में और स्वार्थ परमार्थ में परिणत हो जाएगा।

आगमिक ईश्वराद्वयवाद तथा शाङ्कर अद्वैतवाद

डा० राममूर्ति त्रिपाठी

उपनिषदों और आगमों में आयी हुई परतत्त्व-विषयक उक्तियों की सामान्यतः द्वैत, अद्वैत एवं द्वैताद्वैत-परक दृष्टियों से दार्शनिकों ने व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में औपनिषद् उक्तियों का शंकराचार्य द्वारा अद्वैतपरक तथा आगमिक उक्तियों का काश्मीरी अद्वयवादी दार्शनिकों द्वारा अद्वयपरक जो व्याख्यान प्रस्तुत किए गए हैं—उनसे 'अद्वय' और 'अद्वैत' के स्वरूप-निर्वचन में जो पार्थक्य आ गया है—उसी का निरूपण इस निबन्ध का उद्देश्य है।

(क) इस प्रसंग में सर्वप्रथम विन्दु है—आगमिक अद्वय और शांकर अद्वैत-तत्त्व की **स्वरूपविषयक धारणाओं** में अन्तर। आगमिक दार्शनिक अद्वैत या अद्वय का अर्थ समझते हैं—'दो का नित्य सामरस्य' द्वयात्मक अद्वय—(Two in one) यह तथ्य विज्ञानसिद्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति में स्त्रीत्व और पुंस्त्व का योग है। किसी भी एक लिंग का व्यवहार किसी एक के आपेक्षिक प्राधान्य पर निर्भर है। इस आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि दृश्यमान समस्त विशेषों या व्यष्टियों की मूल प्रकृति में जब द्वयात्मक अद्वयता सिद्ध है, तब इन समस्त विशेषों या व्यष्टियों के मूल 'सामान्य' या 'समष्टि'-जैसे मूल स्रोत की प्रकृति में भी द्वयात्मकता होनी ही चाहिए। फलतः विज्ञान-सिद्ध और अनुभवाधारित तथ्यों के बल पर आगमिक मूल समष्टि या सामान्य तत्त्व को अपनी प्रकृति में द्वयात्मक बनाते हैं। इस प्रकार आगम-सम्मत अद्वय के दो पक्ष हैं—पहला निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय, पहला निःस्पन्द और दूसरा सस्पन्द, पहला ऋणात्मक और दूसरा धनात्मक—दोनों अपनी समरस दशा में हैं—अद्वयात्मक। आगमिक इन दोनों पक्षों को 'प्रकाश' और 'विमर्श' नाम से पुकारते हैं—दोनों को वे अविच्छेद्य मानते हैं—चाँद और चाँदनी की भाँति। जैसे चाँदनी के बिना चाँद चाँद नहीं और चाँद के बिना चाँदनी का अस्तित्त्व नहीं; ठीक यही स्थिति 'प्रकाश' और 'विमर्श' या 'बोध' और 'स्वातन्त्र्य' की है। इस द्वयात्मकता[1] को उस चित्र की भाँति समझना चाहिए जो एक तरफ से देखने पर जगत् की

---

१. आलेख्यविशेष इव गजवृषभयोर्द्वयोः प्रतिभासम्।
एकस्मिन्नेवार्थे शिवशक्तिविभागकल्पनां कुर्मः ॥—महार्थमञ्जरी, परिमल।

भाँति दिखाई पड़ता है और दूसरी तरफ से देखने पर वृषभ की भाँति दिखाई पड़ता है। यहाँ जैसे दृष्टिभेद से चित्रगत द्वयात्मकता के बावजूद वस्तुतः अद्वय स्थिति है, ठीक वही बात 'प्रकाश' एवं 'विमर्श' की अद्वयात्मकता में भी है। यहाँ एकान्ततः द्वैत का निषेध भी नहीं है और द्वैत की स्थिति भी नहीं है। उसमें किसी भी प्रकार का अवच्छेद न होने से और साथ ही उसके सर्वात्मक होने से वह सब कुछ है और वह हर प्रकार की सीमा से परे है। वह सबको आत्मसात् करता हुआ भी सबसे परे है। वह विश्वात्मक भी है और विश्वोत्तीर्ण भी। इसीलिए वह 'पूर्ण' है। उसमें से न कुछ बाहर जाता है और न उसमें कुछ बाहर से आता है। दूसरी ओर बाहर जाकर भी न वह रिक्त बनता है और न भीतर आने देकर सातिशय होता है। इसलिए वह सदा-सर्वदा एकरस या समरस है।

शांकर 'अद्वैत' में समस्त द्वैतों या भेदों का अभाव है। वहाँ कोई 'विशेष' नहीं, कोई भेद--सजातीय, विजातीय, विगत नहीं। इसीलिए वह 'निर्विशेष' है, वह सब तरफ से सत्, चित् एवं आनन्दमय है। सत्, चित् एवं आनन्द नामतः भिन्न होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न नहीं है। इसीलिए ये विशेषण नहीं, लक्षण हैं, क्योंकि वह 'निर्विशेष' है। लगता है शांकर अद्वैत को द्वैत से भीति है, आगमिक अद्वयवाद को नहीं, इसीलिए जहाँ शांकर अद्वयवाद निवृत्तिमूलक है, वहां आगमिक अद्वय सबको कुक्षिसात् करनेवाला एकत्र त्याग है अपरत्र ग्रहण।

(ख) इस प्रकार आगमिक 'अद्वय' जहाँ स्वाभाविक (पंच) कृत्यकारी है, वहाँ शांकर ब्रह्म या अद्वैत औपाधिक कर्ता है। फलतः जहां पहले का 'कर्तव्य' उसके स्वातन्त्र्यमय स्वभाव का विलास होने से स्वरूप-लक्षण भी कहा जा सकता है वहाँ शांकर ब्रह्म का 'कर्तृत्व' तटस्थ लक्षण माना जाता है। आगमिक 'अद्वय' 'विमर्श'-युक्त है, शांकर ब्रह्म 'विमर्शहीन' है। इसीलिए आगमिक शांकर ब्रह्मवाद को शांतब्रह्मवाद भी कहते हैं। आगमिक अद्वय में 'ज्ञान' और 'क्रिया' समरस है। शांकर ब्रह्म में 'क्रिया' नहीं है और है तो औपाधिक या आगन्तुक। इसीलिए शांकरी 'क्रिया' या 'कर्तृता' से आगमिक 'क्रिया' भिन्न भी है। आगमिक 'क्रिया' ज्ञानात्मक ही है, क्योंकि आगमिक अद्वय की स्वातन्त्र्यमूलक क्रिया ज्ञानस्वरूप ही है।

(ग) आगामिक 'अद्वय' की भाँति शांकर अद्वैत भी यद्यपि शक्ति के सहारे ही विश्वात्मक परिणति लेता है; तथापि दोनों की 'शक्ति' सम्बन्धी धारणा बिलकुल भिन्न है। आगमिकों की 'शक्ति' चिन्मयी तथा पर-तत्त्व से अभिन्न है, जब की शांकर शक्ति जडात्मिका फलतः ब्रह्माश्रित होती हुई भी ब्रह्माभिन्न नहीं है। ब्रह्म से अभिन्न होना तो दूर, ब्रह्मबोध से वह सदा-सदा के लिए निवृत्त भी हो जाती है। उसे न तो एकान्ततः त्रिकालाबाधित होने के कारण 'सत्' ही कहा जाता है और न तो प्रतीतिसिद्ध होने से एकान्ततः मिथ्या ही कहा जाता है। इसीलिए उसकी पारिभाषिक संज्ञा है--'अनिर्वचनीया'। समस्त

व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्ताएँ इसी अनिर्वचनीया 'माया' की परिणति हैं—जो ब्रह्मबोध से निवृत्त हो जाती है और परमार्थतः सर्वाधिष्ठानभूत ब्रह्ममयी सत्ता ही त्रिकालाबाधित सत्य है। वेदान्तियों के 'आवरण' एवं विक्षेपमयी माया की भाँति आगमिकों की चितिशक्ति भी स्वरूपतिरोधानपूर्वक विकल्प सृष्टि करती है, तथापि यह सब उनकी भाँति औपाधिक नहीं, स्वाभाविक है; 'स्वातन्त्र्य' का विलास है।

(घ) 'स्वतन्त्र' विश्व-सिद्धि-हेतु चितिशक्ति का 'स्वातन्त्र्य' ही ब्रह्मवाद से ईश्वरद्वयवाद का बड़ा स्पष्ट भेदक तत्त्व है। शांकर अद्वैत में सृष्टि या विश्व के प्राकटच का कोई सन्तोषकर निमित्त नहीं मिल पाता, इसीलिए शांकर अद्वयवाद में माया को अनादि कहकर छोड़ दिया जाता है। माया को ही नहीं :

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

जीव, ईश, विशुद्धचित् जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या और उसका चित् के साथ योग—ये छः बातें शांकर वेदान्तियों के यहाँ अनादि हैं। फलतः ये अपने उद्भव में अचिन्त्य और अतर्क्य हैं। यद्यपि शांकर वेदान्त में प्रतिपादित यह ठीक है कि सर्ग के आदि-काल में परमेश्वर सृज्यमान प्रपंच-वैचित्र्य के निमित्त-रूप में प्राणियों के कर्म को सहकारी-रूप में लेकर अपरिमित एवं अनिरूपित शक्तियों से युक्त माया के साचित्र्य से नामरूपात्मक निखिल प्रपंच को पहले बुद्धि में आकलित करते हैं; तत्पश्चात् उनका संकल्प होता है और सृष्टि का आरम्भ हो जाता है, तथापि इस विवेचन से यही सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सृष्टिकर्म में अन्य-निरपेक्ष नहीं, वरन् अन्य-सापेक्ष है। अन्य-सापेक्षता ईश्वर के ऐश्वर्य का विघातक है। फिर यह ऐश्वर्य और कर्तृत्व आगन्तुक और औपाधिक भी तो है। आगमिक ईश्वराद्वयवाद में ईश्वर का ऐश्वर्य और कर्तृत्व उसकी स्वाभाविक विशेषता है। वह विश्व-वैचित्र्य के अवभासन में अन्य-निरपेक्ष है; स्वतन्त्र है। वह अपनी ही स्वातन्त्र्यात्म-विमर्शशक्ति से केवल लीला के लिए विश्वावभासन करता है। आत्माराम होने के कारण उसमें कोई स्पृहा नहीं है। इसीलिए यहाँ किसी अभावमूलक प्रयोजन की भी बात नहीं की जा सकती। 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' के अनुसार आगमिक अद्वय मायूराण्डरसन्यायेन 'विमर्शगत' अव्यक्त विश्व-वैचित्र्य को अपने में प्रतिबिम्बित करता है। यह परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही है जिसके कारण वह संकुचित होकर एक तरफ जीवभाव ग्रहण करता है और दूसरी ओर विश्वावभास करता है। वास्तव में विचार किया जाए तो यही तर्कसंगत जान पड़ेगा कि जिस शक्ति से परमेश्वर अपने को आवृत करता है, वह उसकी अपनी ही है। फलतः उससे अभिन्न है। मेघ-खंड जिस सूर्य को ढँकता है, वह सूर्यरश्मियों से ही प्रसूत है, और वह सूर्य को आवृत करके भी वस्तुतः आवृत नहीं कर पाता है। अन्यथा प्रकाशमय सूर्य के सर्वथा तिरोहित

हो जाने से स्वयं आवरक है या नहीं, इसका पता कैसे चलेगा ? शांकर अद्वैत भी अपनी शक्ति (माया से अपने स्वरूप को तिरोहित करना है और आगमिक अद्वय भी) पर जहाँ शांकर अद्वैत उस आवरक शक्ति को 'जडात्मिका', 'अनिर्वचनीया', 'अनादिभावरूपा' एवं 'विद्यानिवर्त्य' कहता है, वहाँ आगमिक अद्वयवादी उसी शक्ति को संकोचप्रसारात्मिका, चिन्मयी, अनादि, अनन्ता तथा विमर्शात्मिका कहते हैं। जहाँ शांकर अद्वैतवादी मानते हैं कि सौपाधिक ब्रह्म-सृष्टि के लिए महासुप्तिस्वरूपिणी माया में प्रसुप्त प्राणियों के विचित्रकर्म और उपाधिभूत माया का साचिव्य ग्रहण करता है, वहाँ आगमिक अद्वयवादियों का विचार है कि परतत्व स्व-स्वरूपभूता स्वातन्त्र्यमयी विमर्शात्मिका शक्ति से ही अन्य-निरपेक्ष रहकर लीलार्थ सृष्टि का भासन या वहिः प्रकाश करता है। जहाँ आगमिक उस शक्ति को परातत्त्वाश्रित एकमत से स्वीकार करते हैं, वहाँ शांकर मतानुयायियों में से विवरण प्रस्थान वाले तो उस शक्ति का आश्रय ब्रह्म को मानते हैं, पर भामतीप्रस्थान वाले जीव को आश्रय और ब्रह्म को उसका विषय स्वीकार करते हैं।

(ङ) आगमिक परतत्त्व जिस सरणि से अवरोहण या आरोहण करता है। अर्थात् जीवभाव ग्रहण और विश्वावभास करता है, शांकर अद्वैत उससे भिन्न सरणि का है। शांकर अद्वैत में महामाया या चिन्मयी शक्ति अव्यक्त है। अतः यहाँ माया वाले स्तर से अवरोहणक्रम अन्य-सापेक्ष होकर होता है, जबकि आगमिक अद्वयतत्त्व स्वेच्छया लीलार्थ मायोत्तर महामायास्तर से अवरोहण करता है। सृष्टि के प्रारम्भ में शिव जब शक्ति की ओर अभिमुख होता है, तो वहाँ द्विदलभाव आभासित होने लगता है और इसी प्रकार शक्तिगर्भस्थ विश्व भी उससे पृथक् होने लगता है। अथवा यों भी कह सकते हैं वही चिन्मयी शक्ति सृष्टि-काल में भेद-शक्ति के रूप में जब आत्मसंकोच या आत्मगोपन करती है, तब पूर्णाहं का संकोच और इदंभाव का प्रकाश साथ ही होता है। ग्राहक और ग्राह्य का उदय होता है। यहीं से आत्मभाव में अनात्मभाव का उदय है, फिर भी आश्रय अनात्मभाव का आत्मभाव ही रहता है। ज्यों-ज्यों यह अनात्मभाव प्रगाढ होता जाता है, आत्मभाव क्षीण पड़ता जाता है और अन्ततः आत्मभाव अनात्मभाव में डूब जाता है, तब यहीं से महामाया-राज्य की समाप्ति और माया-राज्य का उदय होता है। जहाँ अनात्मा में निमग्न अहंभाव मायिक सर्ग में अपने को व्यक्त करता है, वहाँ शांकर अद्वैत की सृष्टि-प्रक्रिया में मायोत्तर क्रम-हीन अवरोहण की प्रक्रिया अव्यक्त है। वहाँ महामाया का शुद्ध अध्वा नहीं है, जहाँ क्रिया-शक्ति का विकास होता है। यही कारण है कि जिस प्रकार आगमिक अद्वयवाद में अशुद्धाध्वा का अतिक्रमण कर पूर्ण ज्ञान-शक्ति का उदय करके भी शुद्धाध्वा में क्रिया-शक्ति का विकास होता है और अन्ततः ज्ञान एवं क्रिया का सामरस्य हो जाता है। स्वरूपविश्रान्ति हो जाती है—पूर्णाहंभाव की स्थिति आ जाती है। उस प्रकार की बात शांकर अद्वैतवाद में नहीं है। वहाँ स्वरूपोपलब्धि का अर्थ पूर्ण-

ज्ञानोदय तो है––कारण, विद्यात्मिका वृत्ति अविद्या को निवृत्तिपूर्वक स्वतः काटकर जो न्यायेन शान्त होकर स्वरूपभूत चित् या ज्ञान को निरावृत कर देती है, पर 'विमर्श' का अनुदय होने से 'पूर्णता' की उपलब्धि नहीं हो पाती। ब्रह्म 'विमर्श' हीन ही रह जाता है। यही विमर्शात्मा निजाशक्ति कुण्डलिनी शक्ति है जिसके जागरण का कोई प्रसंग ही शांकर अद्वैतवाद में सम्भव नहीं है। निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार अवरोहण में कतिपय स्तरों के बाद की प्रक्रिया शांकर अद्वैतवाद में आरम्भ होती है उसी प्रकार आरोहण में भी कुछ पहले ही रुक भी जाती है। माया स्तर से अवरोहण की प्रक्रिया बताई जाती है और क्रिया-शक्ति के विकास से पूर्व ही आरोहण-प्रक्रिया भी रह जाती है। इसीलिए शांकर अद्वैतवाद की सारी साधना जहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' की अखण्डाकार विधात्मिका वृत्ति से विरोधी अविद्यात्मिका (माया) वृत्ति की निवृत्ति में ही पर्यवसित हो जाती है और निरावृत विमर्शहीन चित् प्रकाशित हो जाता है। वहाँ आगमिक साधना उसके बाद भी चलती रहती है और विमर्श-शक्ति के पूर्ण विकास के साथ समाप्त होती है। यही एक अन्तर आरोहण और अवरोहण वेला में और है। आगमिक महामाया राज्य की गति से शांकर स्वर के माया-राज्य की गति भी ठीक विपरीत है। अवरोहण-प्रक्रिया में गति महामाया राज्य के अन्तर्गत जागरण से स्वप्न के भीतर होकर सुषुप्ति की ओर है, जबकि माया-स्तर पर सुषुप्ति से स्वप्न-भेद करते हुए जागरण की ओर है, पर यह जागरण सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ता है। प्रत्यावर्त्तन वेला में इसी प्रकार उलटा क्रम है।

(च) शांकर अद्वैत जड-जगत् की निवृत्तिपूर्वक स्वरूपप्रतिष्ठ होता है। आगमिक अद्वय अचिदंश का भी चिन्मयीकरण करता हुआ सब कुछ के साथ स्वरूपप्रतिष्ठ होता है। यही कारण है कि शांकर अद्वैतवादी के जीवन्मुक्त की अनुभूति से आगमिक अद्वयवादी जीवन्मुक्त की अनुभूति में भी अन्तर होता है। जहाँ पहला संसार को अपनी मायात्मिका प्रकृति में दुःखमय स्वीकार करता है; फलतः उसकी निवृत्ति ही आनन्दमय स्वरूपोपलब्धि के लिए अनिवार्य समझता है वहाँ दूसरा विश्व को अपनी प्रकृति में आनन्दमय मानता है और उसकी दुःखात्मक प्रतीति का निमित्त संकुचित दृष्टिगत मानता है। फलतः संकोच से मुक्त होता है, पर स्वरूपोपलब्धि में विश्व की निवृत्ति नहीं, गृहीति ही अपनी 'पूर्णता' समझता है। इसीलिए जहाँ पहला वासना-निवृत्ति की बात करता है, वहाँ दूसरा वासना के शोधन की बात करता है। पहला यह मानता है कि जीवन्मुक्ति के बाद विश्व की पूर्वानुभूति तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाती है और उसी बाधित की अनुवृत्ति चलती रहती है। उदाहरणार्थ, जब विशेष ढंग से हम कभी अपनी आँखें दबा लेते हैं, तब आकाश का एक ही चन्द्र दो दिखायी पड़ता है। उस समय हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि चन्द्र दो नहीं हैं, पर दिखायी दो पड़ते हैं। ठीक इसी प्रकार शांकर अद्वैतवादी जीवन्मुक्त को विश्व का बाध होने पर भी उसकी अनुभूति चलती रहती है। इसे वे

लोग **बाधितानुवृत्ति** के नाम से कहते हैं। दूसरा यह मानता है कि जीवन्मुक्त का व्यष्टि-देह समष्टि-देह हो जाता है। वह समस्त विश्व को स्वांगवत् देखता है और दृष्टि के निर्मल हो जाने से अन्यथा-दृष्ट-विश्व यथावत् दीखता है। भेद निवृत्त हो जाता है। जहाँ पहला Exclusive है वहाँ दूसरा All-embracing है। जहाँ पहला जीवन्मुक्त समाधि और व्युत्थान में भिन्न अनुभूति करता है, वहाँ दूसरा दोनों में एक-सा रहता है। व्युत्थान में जगत् को स्वांगरूप और आत्मक्रीड़ा या आत्मशक्ति के विलास-रूप में देखता है और समाधि में भी अपने रूप का ही अनुभव करता है। अभिप्राय यह कि उसमें योगदशा कभी भी भग्न नहीं होती। यह आगमिक ईश्वराद्वयवाद की ही विशेषता है।

(छ) इसी प्रकार दोनों का एक पारस्परिक वैशिष्ट्य या अन्तर यह भी है कि आगमिक ईश्वराद्वयवाद न तो शुष्कज्ञान मार्ग ही है और न ज्ञानहीन भक्तिमार्ग ही। इसमें दोनों का सामंजस्य है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार भक्ति भेद की ही भूमिका पर सम्भव है। अतः अभेदज्ञान या स्वरूपप्रतिष्ठ होने पर केवल ज्ञान की ही सर्वातिशायी स्थिति सम्भव है। वहाँ की पार्यन्तिक दशा में भक्ति का स्थान नहीं है, पर आगमिक अद्वयवाद में ज्ञान के बाद भी भक्ति की स्थिति कही गयी है। वस्तुतः यहाँ चिदंश शिव एवं आनन्दांश शक्ति के समरस-रूप की स्थिति के कारण ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य सम्भव है, शांकर अद्वैतवाद में नहीं। यद्यपि भक्तिमात्र के लिए द्वैत की अपेक्षा है, पर ज्ञानोत्तरा-भक्ति के लिए अपेक्षित द्वैत कल्पित है। यह साध्य भक्ति है और इस पराभक्ति के फल-स्वरूप अद्वैत में भी कल्पित द्वैत की तरंगें उठती रहती हैं, जिससे भक्ति की स्थिति सम्भव हो जाती है। फलतः यहाँ ज्ञान और भक्ति का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। 'ज्ञानहिं भगतिहिं नहि कछु भेदा' की स्थिति आ जाती है।

इस प्रकार दोनों ही वादों में सूक्ष्म विचार के फलस्वरूप अनेकविध अन्तर स्पष्ट किए जा सकते हैं। हाँ, एक तथ्य इस प्रसंग में अवश्य ध्येय है कि जब हम अन्तर दिखाने की दिशा में वैचारिक कदम बढ़ाते हैं तो वह विश्लेषणात्मक दिशा ही कही जाएगी। संश्लेष की दृष्टि से इन अन्तरों को भूमिका-भेद से समझाया जा सकता है और विश्लेष की दृष्टि से केवल पार्थक्य या अन्तर कहा जा सकता है। शंकराचार्य की वैयक्तिक साधना और तत्संबद्ध वाङ्मय को देखा जाए तो आगमिक अद्वयवादी विशेषताएँ भी उनमें उपलब्ध होंगी, पर जहाँ तक उनका दार्शनिक पक्ष है, संश्लेषतः भूमिका-भेद की दृष्टि से या विश्लेपतः स्पष्ट रूप से इन भेदक-तत्त्वों की ओर संकेत किया जा सकता है।

वेदान्त दर्शन का एक मूल्यात्मक अध्ययन

डॉ० अनन्त गणेश जावडेकर

सत्यान्वेषण की तीन दृष्टियाँ

दर्शन-शास्त्र में प्रमुखतः तीन दृष्टियों से अन्वेषण होता है—सत्ता शास्त्र, ज्ञान शास्त्र तथा मूल्य शास्त्र। ये तीन अन्वेषण की दृष्टियाँ प्रसिद्ध हैं। जिस तत्त्व का स्वरूप सत्ता शास्त्र के दृष्टिकोण से 'सत्' है ऐसा माना जाता है। उसी तत्त्व का स्वरूप ज्ञान शास्त्र में ज्ञान या चित् है, और मूल्य शास्त्र में मूल्य कहा जाता है। इसी तत्त्व को वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्द कहा गया है। ब्रह्म के स्वरूप में तीन प्रकार का भेद नहीं है। यद्यपि सत् से चित्, और चित् से आनन्द भिन्न नहीं है, तथापि ब्रह्म का वर्णन इन तीन पदों में किया जाता है, जो एक ही है। जिसमें अन्तर्गत या स्वगत-भेद नहीं है। जिस तत्त्व में मूलभूत सामरस्य है, उसका वर्णन तीन भिन्न अर्थों के पदों से क्यों किया है? इसका मतलब इतना ही हो सकता है कि एक ही पदार्थ को, एक ही वस्तु-तत्त्व को, तीन अन्य-अन्य दृष्टियों से जाना जा सकता है। एक दृष्टि सत्ता-शास्त्रीय है, दूसरी ज्ञान-शास्त्रीय, और तीसरी मूल्य-शास्त्रीय है।

क्या सच्चिदानन्द ब्रह्म में स्वगत-विभाजन किया जाए?

सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म की एकात्मकता अथवा स्वगत-भेद-शून्यता जिस तरह शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त में सम्पूर्ण रूप से मानी जाती है, उस तरह रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य अथवा मध्वाचार्य के दर्शन में नहीं मानी जाती। उनके सिद्धान्त में सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म का तीन रूपों में विभाजन होता है। उदाहरणार्थ, सामान्यतः जगत् को सत्, जीव को चिद् और ब्रह्म को आनन्द रूप माना जाता है। इस दृष्टि में जो वस्तु सत् है वही चित् या आनन्द नहीं है। ये तीनों विभिन्न हो जाते हैं। ब्रह्म का अंशतः विभाजन हो जाता है। उसका एक अंश जगत् और दूसरा अंश अनेक जीव हो जाते हैं।

सामान्यतः यह मान्यता है कि शंकराचार्य के दर्शन में ब्रह्म ही केवल सत्य है और जीव तथा जगत् मिथ्या हैं। अन्य आचार्यों के दर्शन में न केवल ब्रह्म सत्य है, परन्तु जीव

अौर जगत् भी सत्य हैं। लेकिन यह मान्यता उतनी युक्त नहीं है। शंकराचार्य के मायावाद का अर्थ अन्य आचार्य इस तरह समझते हैं कि जगत् और जीव माया के परिणाम होने के कारण मायिक अथवा मिथ्या हो जाते हैं।

सत्य और मिथ्या का मूल्यात्मक अर्थ

फिर भी सत्य और मिथ्या का प्रायः मूल्यात्मक अर्थ है। उस अर्थ को यह दिखाया जा सकता है कि मिथ्या तत्त्व के बारे में शंकराचार्य और अन्य आचार्यों के मतों में इतनी भिन्नता नहीं है।

प्रश्न यह है कि जैसा सत्यत्व ब्रह्म का है वैसा जगत् या जीव का हो सकता है क्या? ब्रह्म के सत्यत्व का अर्थ यह है कि ब्रह्म पूर्ण, अनन्त, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है। क्या जगत् भी वैसा ही है? यदि हो तो ब्रह्म और जगत् में भिन्नता ही नहीं रहेगी। जीव भी ब्रह्म-जैसा ही हो, तो उसमें भी कुछ भिन्नता नहीं रहेगी। ऐसा होने पर भी ब्रह्म, जगत् और जीव इन तीनों की अभिन्नता परमार्थ दृष्टि से शंकराचार्य एक ही मानते हैं। किसी दूसरे आचार्य का यह मत नहीं है।

यदि जगत् और जीव अपूर्ण है, विनाशी है, सान्त है तो ब्रह्म की अपेक्षा इनका सत्यत्व घट जाता है। दूसरे शब्दों में, जिसका सत्यत्व अपूर्णता या अशाश्वतता के कारण कम हो उसको मिथ्या कहना योग्य है। ब्रह्म-जैसी पूर्ण वस्तु के लिए ही यदि सत्य शब्द का प्रयोग करना उचित समझा जाए, तो ब्रह्म-व्यतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं माना जाता। यदि माना जाए, तो सत्य के दो भिन्न निकष अथवा भिन्न अर्थ होंगे। किसी भी वेदांताचार्य का यह मत नहीं है कि ब्रह्म-जैसा सत्यत्व जगत् और जीव को भी है।

इसका अर्थ यह हुआ कि 'शंकराचार्य जगत् को अथवा जीवों को मिथ्या मानते हैं इसलिए उनका दर्शन दोषास्पद है' ऐसा मानना, और 'अन्य आचार्य जगत् और जीवों को सत्य मानते हैं इसलिए उनके दर्शन को गौरवास्पाद मानना' यह दार्शनिक सूक्ष्मदृष्टि का अभाव प्रदर्शित करना ही है।

जिस सत्-रूप जगत् में चित् और आनन्द तत्त्व का अभाव है। वह जगत् सर्वथैव जड रूप हो जाता है। पुनः उसी मत में जीव केवल चित्-रूप है। उसमें आनन्द-तत्त्व का अभाव है। जगत् और जीव में ये जो त्रुटियाँ और न्यूनताएँ आती हैं, वही उनका ब्रह्म की अपेक्षा मिथ्यात्व है।

मूल ब्रह्म तत्त्वपूर्ण होने के कारण यथार्थ रूप से सत्त्व, चित्त्व और आनन्दत्व इन तीनों मूल्यों का विशुद्ध अस्तित्व उसमें ही मिलता है। इन मूल्यों की जो कमी जगत् और जीवों में दिखाई देती है, वही उनका मिथ्यात्व है। इन मूल्यों का जगत् में अवमूल्यन होना, यही माया है।

माया की आवरण-विक्षेप शक्तियाँ

शांकर वेदान्त में माया की दो शक्तियाँ मानी जाती हैं। माया के द्वारा तथ्य का आवरण हो जाता है और अतथ्य का विक्षेप हो जाता है। जहाँ सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म का अनुभव होना चाहिए, वहाँ असज्जडदुःख-रूप जगत् तथा जीवों का अनुभव होता है। यही माया है। ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ न होते हुए भी ब्रह्म ढँक जाता है और जगत् और जीव दिखाई देते हैं। ब्रह्म का आवरण सत्य का ही आवरण है। ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् का विक्षेप ही मिथ्या पदार्थ का विक्षेप है।

शुद्धाद्वैत में आविर्भाव-तिरोभाव

वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत में आविर्भाव और तिरोभाव प्रत्ययों का उपयोग करके मायावाद का ही सिद्धान्त पुरस्कृत करते हैं। यद्यपि शब्द अन्य हैं तथापि विचार अन्य नहीं हैं। जगत् में चैतन्य और आनन्द तिरोभूत हैं। जीवों में आनन्द तिरोभूत है। ब्रह्म का स्वरूप तिरोभूत होना यही आवरणात्मक माया-शक्ति है। ब्रह्म का एक-एक अंश में ही आविर्भूत होना यही विक्षेपात्मक माया-शक्ति है। क्या शंकराचार्य के दर्शन में जगत् और जीव अधिक मिथ्या हैं या अन्य आचार्यों के दर्शन में वे अधिक मिथ्या हैं? यह देखा जाए तो आश्चर्य होगा कि शंकराचार्य के दर्शन में जगत् और जीवों को जो स्थान है वह अन्य वेदान्तियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और युक्तियुक्त है।

जगत् और जीव परमार्थतः ब्रह्म से अभिन्न हैं

जगत् के दृश्यमान पदार्थों का विश्लेषण करके देखा जाए तो सभी पदार्थों में अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप नामक पंचतत्त्व निहित हैं। इनमें से पहले तीन नित्य हैं। और दूसरे दो अनित्य हैं। अस्ति, भाति, प्रिय तत्त्व ही सच्चिदानन्द ब्रह्म है, जो सभी दृश्य पदार्थों में पूर्ण रूप से विद्यमान है। केवल नाम और रूप की अनित्यता से जगत् का अनेकविध मिथ्या-रूप प्रकट होता है। परमार्थतः जगत् ब्रह्म से अभिन्न है।

अन्य वेदान्तियों के मत में जगत् ब्रह्म के केवल सदंश से ही अभिन्न है। जगत् में चिदंश तथा आनंदांश कभी भी सम्पन्न नहीं होंगे। यदि जगत् वस्तुतः ब्रह्म से इतना भिन्न हो, तो ब्रह्म का सत्यत्व जगत् में कभी नहीं होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि शांकर वेदान्त में जगत् वस्तुतः सच्चिदानन्दमूल है, और अन्य वेदान्त-दर्शन में जगत् मात्र सन्मूल है, चिन्मूल या आनन्दमूल नहीं। इसी अर्थ में शांकर वेदान्त में जगत् का स्थान वस्तुतः इतर दर्शनों की अपेक्षा उच्चतर है।

जीव के स्वरूप के विषय में भी वैसा ही विचार है। 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' यह सिद्धान्त जीव का स्थान उन्नत करता है। अन्य वेदान्त-दर्शनों में जीव सत् और चित् का

एक अणुरूप अंश है। उसमें आनन्द-अंश उपलब्ध नहीं है। ब्रह्म की अपेक्षा जीव जितना अपूर्ण है, उतना वह असत्य है, क्योंकि पूर्ण ब्रह्म ही सत्य की परिसीमा है। शांकर दर्शन में वस्तुतः जीव ब्रह्म से अभिन्न है। ब्रह्म से जीव को अलग समझना, उसमें ब्रह्म पूर्ण-रूप से है यह न समझना ही माया है। 'सोऽयं देवदत्तः।' इस वाक्य के उदाहरण से 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थभाग त्याग लक्षणा से बताया जाता है। इसका अर्थ इतना ही है कि भूल पूर्ण सत्य में उपाधियों से जो न्यूनता आती है, उसका त्याग कर मूल पूर्ण सत्य का सर्वत्र ग्रहण करना चाहिए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का यही भावार्थ है।

तथ्य और मूल की समस्या

ऊपर मूल्य-दृष्टि का जो आग्रहपूर्वक विवेचन किया गया है उस दृष्टि के द्वारा आधुनिक दर्शन में समागत एक समस्या का भी उत्तर मिलता है। समस्या है—तथ्य और मूल्य का क्या सम्बन्ध है ? वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म का वर्णन सच्चिदानन्दरूपेण किया गया है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कुछ सत्ता शास्त्र की दृष्टि से सद्रूप है वही अन्य ज्ञानशास्त्रीय दृष्टि से ज्ञानरूप है, और वही और एक अन्य मूल्य-शास्त्रीय दृष्टि से आनन्द-रूप है। अपनी अन्वेषण की भूमिका बदलने से मूल वस्तु में कुछ भेद नहीं होता। सत्य और ज्ञान अभिन्न हैं। सत्य और मूल्य भी अभिन्न हैं। इस जगत् में सत्य का स्थान अलग और मूल्य का अलग नहीं कर सकते। इसलिए तथ्य से दर्शन शुरू करना, या तथ्य को ही महत्त्व देना यह दार्शनिकों का आग्रह ऐकान्तिक है। हम मूल्य से भी दर्शन का आरम्भ कर सकते हैं और मूल्य का निकष लगाकर भी सत्यान्वेषण कर सकते हैं।

सच्चिदानन्द ब्रह्म को हम सत्य मानते हैं क्योंकि असत् हमारे लिए मूल्य नहीं है। सत् मूल्य है। अज्ञान हमारे लिए मूल्य नहीं हो सकता। ज्ञान हमारे लिए मूल्य है। जडता की अपेक्षा चैतन्य हमारे लिए मूल्य है। दुःख कदापि हमें नहीं चाहिए। आनन्द ही हमारे लिए मूल्य है। जिस अनुभव में अधिक मूल्यों का आविष्कार होता है उस अनुभव में अधिक तथ्य है। जिस अनुभव में कम मूल्यों का आविष्कार होता है उसमें उतना तथ्य नहीं है।

यद्यपि सत्य और मूल्य में भेद न करना शांकर वेदान्त में सम्मत है, तथापि अन्य वेदान्तियों को यह समस्या कठिन ही रहेगी।

प्रमाण-मीमांसा

डॉ० बद्रीनाथ सिंह

आस्तिक दर्शनों में प्रधानभूत न्याय-दर्शन का दूसरा नाम प्रमाणशास्त्र है, क्योंकि इसका मुख्य विषय है प्रमाण-विमर्श। समस्त चराचर जगत् के विषय प्रमेय हैं। प्रमेय के तात्त्विक ज्ञान से ही मोक्ष या निःश्रेयस की प्राप्ति सम्भव है तथा प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है—'मानाधीना च मेयसिद्धि'। अतः प्रमाण सभी ज्ञान-विज्ञानों की आधार-शिला है। इस प्रमाणशास्त्रभूत न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के कारण ही नैयायिक लोग 'प्रमाणपटु' कहलाते हैं—'प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः'। कहीं-कहीं पर प्रमाण की समकक्षता ईश्वर से बताई गई है। ईश्वरैकनिष्ठ श्री उदयनाचार्य ने तो 'प्रमाणं शिवः' कहकर प्रमाण की उपमा ईश्वर से दे दी है :

'तन्मे प्रमाणं शिवः'—कुसुमाञ्जलि।

प्रमाण न्यायशास्त्र का प्राण है। प्रमाणविहीन न्याय-दर्शन की कल्पना तो प्राण-रहित शरीर की कल्पना है। नैयायिकों के अनुसार घट-पट की सिद्धि से लेकर ईश्वर की सिद्धि तक प्रमाण ही से सम्भव है। चाहे किसी प्रकार की सिद्धि या स्वरूप-निरूपण हो प्रमाण के विना तो वह कल्पना-मात्र है। प्रमाण से ही सबकी व्यवस्था होती है :

'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिरिति'
—प्रामाण्यवाद (गङ्गेशोपाध्याय)।

प्रमाण शब्द न्याय-दर्शन में करण अर्थ का अभिधान करता है—'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' इस यौगिक समाख्या-निर्वचन के आधार पर चक्षुरादि इन्द्रिय को प्रमाण माना गया है। परन्तु चक्षुरादि इन्द्रिय को प्रमाण मानने में नैयायिकों का तात्पर्य है कि कारण-कूट प्रमाण है न कि कोई एक कारण। 'अयं घटः' इस चाक्षुष-प्रत्यक्ष प्रमाण में चक्षुरिन्द्रिय को जिस प्रकार प्रमाकरणत्व है उसी प्रकार महत्, उद्भूतरूप, आलोक-संयोग, चक्षु-संयोग इन सभी को कारणता है। अतः प्रमाण के रूप में केवल चक्षु को ही कारण नहीं कहा जा सकता किन्तु कारण-कूट को प्रमाकरण के रूप में प्रमाण मानना होगा। उस कारण-कूट को नैयायिक महत्त्वावच्छिन्न, उद्भूतरूपावच्छिन्न, आलोकसंयोगावच्छिन्न, चक्षुसंयोगावच्छिन्न चक्षु को प्रमा का करण मानते हैं। 'चक्षुषा पश्यामि' इत्यादि स्थलों में इस प्रकार समझना चाहिए कि चक्षु ही एकमात्र चाक्षुष प्रमा का करण नहीं वरन् पूर्वोक्त कारण-कूट

ही करण है। इसी कारण-कूट को जरन्नैयायिक श्री जयन्तभट्ट ने सामग्री के रूप में उल्लेख किया है।

न्याय-दर्शन के अनुसार ज्ञान के अत्यन्त साधक करण को प्रमाण कहते हैं (साधकतमं ज्ञानस्य करणम्) इस अत्यन्त साधक करण को असाधारण करण भी कहते हैं। (असाधारणं कारणं करणम्)। अर्थात् प्रमाण प्रमा या यथार्थ-ज्ञान का करण है। प्रमाण तथा प्रमा में साहचर्य-सम्बन्ध है। प्रमा प्रमाण के विना असम्भव है। प्रमाण को प्रमा के करण के रूप में स्वीकार करने से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि करण और कारण में भेद है।

कारण तथा कार्य में साहचर्य-सम्बन्ध है। कार्य के अनन्यथा सिद्धनियतपूर्वभावी सम्बन्ध को कारण कहते हैं तथा इसके विपरीत कारण के अनन्यानियतपश्चाद्भावी सम्बन्ध को कार्य कहते हैं। इस दृष्टि से कारण तीन प्रकार के हैं—समवायि, असमवायि तथा निमित्त कारण। समवायि कारण वह है जो किसी कार्य का आश्रय हो, जैसे—पट का समवायि कारण है तन्तु। असमवायि कारण माध्यस्थ कारण है। इसका सम्वन्ध कार्य से किसी माध्यम द्वारा होता है। जैसे—पट-रूपी कार्य में तन्तु-संयोग असमवायि कारण है या तन्तु-रूप पट-रूप का असमवायि कारण है। निमित्त कारण प्रधानतया कार्य को सम्पादित करता है। पट-रूप कार्य में वेमा निमित्त कारण है। यह कार्य का अतिशय कारण या असाधारणकारण है।

इस असाधारण कारण को करण की संज्ञा दी गई है। यह करण प्रमाण है। प्रमाण को सर्वदा तृतीया विभक्ति से व्यपदिष्ट किया जाता है, जैसे—मैं दीप से देखता हूँ, कान से सुनता हूँ—'दीपेन पश्यामि, श्रोत्रेण शृणोमि।' इन उदाहरणों में दीप तथा श्रोत्र प्रमाण हैं। अतः इनका व्यपदेश तृतीया से किया गया।

जयन्तभट्ट ने प्रमाण की एक नई परिभाषा दी है। इनके अनुसार व्यभिचार-दोष से रहित निश्चयात्मक ज्ञान कराने वाली ज्ञान तथा अज्ञानरूप सामग्री ही प्रमाण है (अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावासामग्री प्रमाणम्) (न० मं०—पृष्ठ १२)।

'अव्यभिचारादि दोष से रहित तथा निश्चयात्मक ज्ञान कराने वाली' प्रमाण का लक्षण है। इसे सभी भारतीय नैयायिक स्वीकार करते हैं। बोधाबोधस्वभावासामग्री प्रमाण का स्वरूप हुआ। प्रमाण का ज्ञान तथा अज्ञान स्वरूप जयन्त की मौलिक देन है। 'गौतम सूत्र' का विवृत्तिकार होते हुए भी जयन्त ने एक नये तथ्य का प्रतिपादन किया है।

सामग्री को प्रमाण मानकर जयन्त ने किसी एक कारण को प्रमाण नहीं वरन् कारण-कूट को प्रमाण माना है। यही जयन्त की मौलिकता है। सभी ने अत्यन्त साधक या अतिशय साधक को प्रमाण माना है। जयन्त का कहना है कि अतिशयता तो केवल

समुदाय या सामग्री में रहती है, किसी एक कारण में नहीं। करणत्व किसी एक कारण में नहीं, कारण-कूट में रहता है।

प्रमाण की व्युत्पत्ति तथा स्वरूप पर विचार करने से सामग्री-प्रमाण की सिद्धि हो जाती है। भाष्यकार के अनुसार प्रमाण शब्द करण अर्थ का अभिधान करता है। करण अत्यन्त साधक माना गया है। इसीलिए इसमें तमप् प्रत्यय लगा रहता है। यह तमप् प्रत्यय बताता है कि प्रमाण में अतिशयता है। किसी कार्य के अनेक कारण होते हैं जिसमें प्रमाण असाधारण कारण होता है। यदि अनेक कारण न हों तो साधारणतया असाधारण कारण का विभाजन नहीं हो सकता।

करण को लेकर जयन्त का अन्य नैयायिकों से मतभेद है। जयन्त एक अतिशय कारण को करण नहीं मानते। वे अतिशयता का निराकरण करते हैं तथा बताते हैं कि अतिशयता किसी कारण में नहीं वरन् कारण-कूट में है। अनेक कारकों के सन्निधान से कोई कार्य होता है तथा किसी एक कारक की अनुपस्थिति में कार्य होता नहीं तो किसी एक ही कारक को अतिशय कैसे मान लिया जाए—अनेक-कारक-सन्निधाने कार्यं घटमानम् अन्यतरव्यपगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं ब्रह्म प्रयच्छेत्—(न० म० १२)। इससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि सभी कारक समान हैं, क्योंकि किसी एक की अनुपस्थिति में कार्य सम्भव नहीं।

कुछ नैयायिक मानते हैं कि करण कारक में सन्निपात्य जनकत्व है। अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने में करण अत्यन्त समीपस्थ कारण है। जयन्त इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि दूरस्थ कारण भी तो कारण ही है। उसके अभाव में भी कार्य नहीं होता। इसे वे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं। रात्रि के गहन अन्धकार में घनघोर वर्षा हो रही है। बिजली के आलोक से किसी स्त्री की आकृति दिखाई दी। साधारणतः हम मान लेंगे कि विजली के आलोक में अतिशयता है, क्योंकि कामिनी-ज्ञान इसके बाद तुरन्त ही होता है। परन्तु यदि वहाँ कामिनी ही अनुपस्थित हो और बिजली का आलोक उपस्थित हो तो कामिनी-ज्ञान कदापि सम्भव नहीं। अतः अत्यन्त निकटस्थ कारण ही करण नहीं कहा जा सकता। सभी कारण समान हैं। केवल सामग्री में ही अतिशयता है। यदि सामग्री विद्यमान हो तो फल अवश्य होगा—'सामग्र्यास्तु सोऽतिशयः सुवचः सन्निहिता चेत् सामग्री सम्पन्नमेव फलम् इति सैवातिशयवती'—(न० म० १३)। अतः सामग्री में ही अतिशयता है, वही करण है और वही प्रमाण है।

सामग्री को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने से कुछ आपत्ति की आशंका होती है। सामग्री सम्मिलित या समुदित अवस्था है। कारक-सामग्री का अर्थ है कारकों की सम्मिलित अवस्था। सामग्री में तो प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इत्यादि सभी सम्मिलित हैं। यदि सामग्री को ही प्रमाण मान लिया जाए तो प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण आदि का अस्तित्व ही

समाप्त हो जाए। जयन्त इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि साध्य के प्रसाद से ही प्रमाता, प्रमेय आदि का अस्तित्व सम्भव है। यदि सभी कारकों का सम्मिलन न हो तो कार्य सम्भव ही नहीं और सभी निरर्थक हो जाएँगे। अतः सामग्री-प्रसाद से ही प्रमाता, प्रमेय आदि का स्वरूप लाभ होता है।

सामग्री, समग्रो से भिन्न नहीं। समग्रो के सन्निधान का ही नाम सामग्री है। यह एक धर्म है। इसका ज्ञान या इसका अस्तित्व समग्रो के सम्मिलन से ही सम्भव है। उदाहरणार्थ—पाक एक क्रियात्मक कार्य है। यह ईंधन, जल, चावल आदि के सम्मिलित होने पर ही सम्भव है। यदि ये सभी अलग-अलग रहें तो पाक नामक धर्म नहीं उत्पन्न हो सकता।

पुनः एक आशंका की जा सकती है। साधारणतः हम करण-कारक को प्रमाण मानते हैं और तृतीया विभक्ति से उसका व्यपदेश करते हैं। जैसे—आँख से देखता हूँ 'चक्षुषा पश्यामि'। कोई यह नहीं कहता कि 'सामग्रचा पश्यामि'। अतः व्यवहार में एक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। जयन्त इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि सामग्री तो संहति है। यह सन्निधानाख्य धर्म है। सामग्री के अतिरिक्त सामग्री की सत्ता नहीं है। सामग्री नामक धर्म की अभिव्यक्ति किसी एक समग्र या धर्मी के माध्यम से होती है। अतः लोक-व्यवहार सत्य है।

सामग्री के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए जयन्त कहते हैं कि सामग्री ज्ञानाज्ञान स्वरूप है। अर्थात् प्रमाण बोधाबोध-स्वरूप है। उदाहरणार्थ—हम प्रत्यक्ष प्रमाण को ले सकते हैं। इसमें इन्द्रिय और अर्थ का संयोग, मन और इन्द्रिय का संयोग तथा आत्मा और मन का संयोग होता है। इन्द्रिय और अर्थ का संयोग तो अबोधस्वरूप है, परन्तु आत्मा (ज्ञानाश्रय) तथा मन का संयोग बोधस्वरूप है। अतः प्रमाण बोधाबोधात्मक है। प्रमाण को केवल बोधस्वरूप या केवल अबोधस्वरूप मानना एकांगी दृष्टिकोण है। प्रमाण कोई एक ही कारण नहीं जिसे ज्ञानस्वरूप या अज्ञानस्वरूप माना जाए। यह कारणकूट या सामग्री है, कारणों का समुदाय है जिसमें ज्ञान तथा अज्ञान-रूप सभी कारण सम्मिलित हैं। अनेक दार्शनिक प्रमाण को केवल ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं। अतः जयन्त उनकी आलोचना करते हैं।

बौद्ध-दार्शनिक प्रमाण को बोधस्वरूप मानते हैं। दिङ्नाग के अनुसार अविसंवादि ज्ञान ही प्रमाण है—'अविसंवादकत्वं ज्ञानं प्रमाणम्।' प्रमाण के द्वारा पुरुष अर्थ की सिद्धि होती है। अतः प्रमाण में प्रापण-शक्ति होती है। प्रमाण के द्वारा ही अर्थ की प्राप्ति होती है। अतः अतिसंवादकत्व से तात्पर्य प्रापकत्व से है। प्रमाण किसी वस्तु का प्रदर्शन करता है। इस प्रदर्शन से पुरुष में अर्थ-प्राप्ति की प्रेरणा होती है तथा वह हेय वस्तु को त्यागता है तथा आदेय वस्तु की प्राप्ति करता है। प्रत्यक्षतया अनुमान से दोनों में ही अर्थ की प्राप्ति होती है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं।

जयन्त के अनुसार इसका निराकरण

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु का प्रदर्शन-मात्र ही होता है, प्रापण नहीं। प्रत्यक्ष का विषय तो बौद्ध मतानुसार क्षणिक है। किसी क्षणिक वस्तु की प्राप्ति सम्भव नहीं।

(२) अनुमान में भी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। बौद्ध मतानुसार अनुमान का विषय तो सामान्य है जो स्वलक्षण से भिन्न है। यह सामान्य कल्पित है, वास्तविक नहीं। अतः कल्पित वस्तु की प्राप्ति सम्भव नहीं।

(३) दिङ्नागकृत प्रमाण-परिभाषा में अव्याप्ति दोष है। उनके अनुसार यथार्थ ज्ञान हानोपादानस्वरूप है। परन्तु हमें उपेक्षणीय ज्ञान भी होता है जो हानोपादानस्वरूप के परे है। उपेक्षणीय ज्ञान यथार्थ है।

(४) दिङ्नाग की परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है। उनके अनुसार प्रमाण वस्तु का प्रदर्शन करता है। भ्रम में भी तो विषय का प्रदर्शन होता है, परन्तु वह यथार्थ ज्ञान नहीं है।

(५) दिङ्नाग के अनुसार प्रमाण में प्राणशक्ति है, जिसमें हमें वर्तमान में वस्तु की प्राप्ति होती है। यदि इसे सत्य मान लिया जाए तो सभी भूत तथा भविष्यत् ज्ञान व्यर्थ हो जाएँगे, क्योंकि उनमें वर्तमान के समान वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक मत

ये वस्तुवादी बौद्ध-दार्शनिक हैं। इनके अनुसार अर्थाकार-प्रतीति ही प्रमाण हैं। विषय में विषयता होती है और वही विषयता उस विषय-सम्बन्धी ज्ञान को उत्पन्न करती है। उदाहरणार्थ हम शिंशपा वृक्ष को शिंशपात्व से जानते हैं। शिंशपात्व करण तथा फल दोनों हैं। शिंशपा-वृक्ष नामक विषय में शिंशपात्व विषयता है। शिंशपात्व करण है, क्योंकि इसी के द्वारा हमें शिंशपा वृक्ष का ज्ञान होता है। परन्तु शिंशपा वृक्ष का ज्ञान भी तो शिंशपात्व के रूप में ही होता है। अतः शिंशपात्व फल भी है।

इस मत का निराकरण

इस मत के द्वारा प्रमाण और प्रमा में अभेद है। परन्तु दोनों भिन्न हैं। प्रमाण प्रमा का करण है तथा प्रमा प्रमाण का फल है। अतः दोनों में भेद है। प्रमाण करण है तथा प्रमा कार्य है। हम सर्वदा व्यवहार करते हैं कि अमुक वस्तु का ज्ञान अमुक प्रमाण के द्वारा सम्भव है। एक कारण है दूसरा कार्य, दोनों में भेद है। विरोध का नियम प्रतिपादित करता है कि जिनमें विरोध रहता है वे अलग-अलग हैं। यदि वे दोनों एक ही हैं तो विरोध कैसा ?

योगाचार-मत

इस मत के अनुसार विज्ञान ही प्रमाण है। विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। सम्पूर्ण विश्व विज्ञान की ही अभिव्यक्ति है। यह घट-पट आदि सभी विषय विज्ञप्ति-मात्र हैं। नील वस्तु तथा नील-विज्ञप्ति में अभेद है। सहोपलम्भ-नियम के अनुसार वस्तु तथा विज्ञान में द्वैत-भ्रम है। वस्तु वास्तविक रूप में विज्ञान ही है। विज्ञान से ही वस्तु की प्रतीति होती है। अतः विज्ञान ही प्रमाण है। इन्द्रियाँ अबोधस्वरूप हैं। अतः इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हो सकतीं। विज्ञान बोधस्वरूप है। अतः वही प्रमाण है।

इस मत का निराकरण

विज्ञान वस्तु का ज्ञाता और ज्ञेय दोनों नहीं हो सकता। इस मत में भी उपरोक्त मत के अनुसार प्रमाण और प्रमा के एकीकरण का दोष है। प्रमाण साधन है, प्रमा साध्य है, प्रमाण उपाय है तथा प्रमा उपेय है। दोनों में अभेद सम्भव नहीं।

मीमांसा-मत

बौद्ध-दार्शनिकों के समान शबर स्वामी भी प्रमाण को ज्ञान-स्वरूप ही मानते हैं, परन्तु उनके अनुसार प्रमाण तथा प्रमिति में भेद है। प्रमाण, प्रमिति का करण है। प्रमाण के द्वारा अर्थ में ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। यह ज्ञातता अनुमेय है। ज्ञान एक क्रिया है जिसे हम ज्ञातता नामक धर्म के द्वारा जानते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रमा अनधिगत ज्ञान है। इस अनधिगत या नवीन ज्ञान के करण को ही प्रमाण कहते हैं—

'अनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणम्'।

इस मत का खंडन

(१) प्रमाण की इस परिभाषा में अव्याप्ति दोष है। विश्व में बहुत से विषय सनातन हैं। जैसे—आत्मा, परमात्मा, देश, काल आदि।
इन विषयों के बारे में हमें पूर्व ज्ञान है फिर भी हम वर्तमान में इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन विषयों का हम सतत ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं तथा हमारा ज्ञान उत्तरोत्तरवृद्धि को प्राप्त होता जाता है। इनके बारे में हमारा उत्तरोत्तर ज्ञान व्यर्थ नहीं। अतः प्रमाण अधिगत विषय का भी ज्ञान कराता है।

(२) यदि प्रमाण केवल अनधिगत विषय का ही ज्ञान प्राप्त कराता है तो प्रत्यभिज्ञा को तिलांजलि देनी पड़ेगी। प्रत्यभिज्ञा में हमें ज्ञात विषय का ही ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, यह वही व्यक्ति है जिसे हमने कल देखा था। प्रत्यभिज्ञा को भाट्ट

लोग भी यथार्थ ज्ञान मानते हैं। अतः प्रमाण अधिगत विषय का भी ज्ञान कराता है।

(३) प्रमाण से किसी ज्ञात विषय का ही ज्ञान हो सकता है, परन्तु वह प्रमाण व्यर्थ नहीं। जब किसी व्यक्ति को भय के कारण से साक्षात्कार होता है, जैसे, विषैला सर्प, भालू आदि तो वह तुरन्त इन विषयों से दूर भागना चाहता है। ठीक इसके विपरीत जब वह किसी सुन्दर वस्तु को देखता है, जैसे, चन्दन, हार, रमणी इत्यादि तो वह सुख का अनुभव करता है।

(४) भाट्ट लोग धारावाहिक ज्ञान को यथार्थ मानते हैं। इसकी प्रत्येक धारा में विषय में स्पष्टीकरण आता है। पहले जो स्पष्ट था वह बाद में स्पष्टतर, पुनः स्पष्टतम हो जाता है। अतः उत्तरोत्तर ज्ञान में नवीनता है।

जयन्त भट्ट इसका खण्डन करते हैं। उत्तरोत्तर ज्ञान निश्चित रूप से पूर्व-पूर्व ज्ञान का पूरक नहीं होता। कोई व्यक्ति करतलगत वस्तु का शतशः निरीक्षण कर सकता है, परन्तु वस्तु के सम्बन्ध में कोई नया ज्ञान नहीं प्राप्त होता। अतः नवीनता ही प्रमाण की कसौटी नहीं।

इस प्रकार जयन्त भट्ट बौद्ध दार्शनिक तथा मीमांसकों का खण्डन करते हैं, क्योंकि ये सभी दार्शनिक प्रमाण को बोधस्वरूप मानते हैं। जयन्त समन्वयवादी दार्शनिक हैं। कुछ लोग अबोधस्वरूपा इन्द्रियादि को प्रमाण मानते हैं और कुछ लोग बोधस्वरूप विज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। जयन्त इन दोनों का समन्वय कर कहते हैं कि प्रमाण बोधाबोधस्वरूप सामग्री है। ऊपर हमने देखा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण किस प्रकार ज्ञानाज्ञानास्वरूप है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण आदि में भी हम बोधाबोधस्वरूप पाते हैं। अनुमान में व्याप्तिज्ञान तो बोधस्वरूप है, परन्तु धूमादि तो अबोधस्वरूप हैं।

जयन्त प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका बोधाबोधस्वरूप सामग्री-प्रमाण अत्यन्त समीचीन तथा वैज्ञानिक है। ऊपर हमने एक-एक प्रमाण में बोधाबोधरूप देखा है। परन्तु यदि न्यायदर्शन के चारों प्रमाणों को लेकर एक साथ विचार किया जाय तो बोधाबोधस्वरूप और भी स्पष्ट प्रतीत होता है। हम जानते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियाँ करण हैं, अनुमान में व्याप्ति ज्ञान या परामर्श-धी करण है, उपमान में सादृश्यज्ञान करण है तथा शब्दबोध पदज्ञान करण है। इन चारों प्रमाणों में प्रत्यक्ष का करण केवल अज्ञानस्वरूप है—'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'। शेष तीनों के करण ज्ञानस्वरूप हैं। अतः प्रमाण बोधाबोधस्वरूप हैं।

जयन्त का सामग्री-प्रमाण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मत है। जयन्त के बाद के नैयायिकों पर इस मत का अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आचार्य उदयन का कहना है कि ज्ञायमान लिंग ही करण है। यहाँ पर विशेषण विधि से ज्ञान अपेक्षित है तथा विशेष्य

विधि से लिंगरूप विषय अपेक्षित है। अतः बोधाबोधात्मक सामग्री सम्पन्न हो जाती है। नव्य नैयायिक श्री गंगेश उपाध्याय आदि के मतानुसार लिंगज्ञान करण है। उनके मतानुसार विशेषणविधि से लिंगरूप-विषय अपेक्षित है तथा विशेष्यविधि से ज्ञान अपेक्षित है। इस प्रकार सामग्री का ज्ञानाज्ञानात्मक स्वरूप तो सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार हमें उपमिति तथा शाब्दबोध में भी समझना चाहिए। अतः तीन परोक्ष प्रमाण अर्थात् अनुमान, उपमान तथा शब्द में ज्ञानस्वभावा सामग्री है, परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण में संयोगरूपा अज्ञान-स्वभावा सामग्री है। इस योजना से हमें 'क्वचित्' या 'अन्यतर' पद का अध्याहार करना चाहिए। अतः बोधाबोधस्वरूप सामग्री-प्रमाण तो सिद्ध है, परन्तु सामग्री कहीं बोध-स्वरूपा है और कहीं अबोधस्वरूपा है अथवा 'अन्यतर' पद के अध्याहार की व्यवस्था करनी चाहिए।
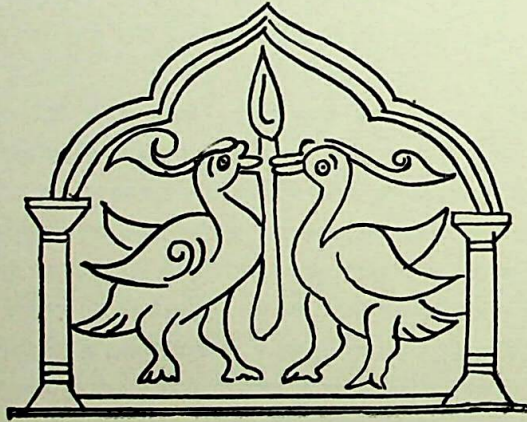
धर्मसंस्था के प्रस्थान

डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री

मानव चिरन्तनकाल से संघर्ष कर रहा है। कभी आशा बलवती हुई है और कभी निराशा। आशा ने जीवन को मूल्य प्रदान किया और निराशा ने उसे निस्सार बताया। प्रथम ने अभ्युदय को अपना लक्ष्य बनाया और द्वितीय ने निःश्रेयस को, प्रथम ने संगठन और पितृपूजा को, द्वितीय ने स्वतन्त्रता और सिद्धान्त को। यौवन प्रथम का उपासक है और बुढ़ापा द्वितीय का।

इन्हीं दो लक्ष्यों को लेकर क्रमशः ब्राह्मण और श्रमण-परम्परा का विकास हुआ। ब्रह्मन् शब्द के दो अर्थ हैं: 'बृहत्वाद् बृंहणत्वाद् वा ब्रह्म', जो बृहत् अर्थात् विकास के लिए संयोजन करता है वह ब्रह्म या ब्रह्मा है। उपनिषदों में प्रथम अर्थ को लेकर सैद्धान्तिक व्याख्या की गई है, किन्तु ब्राह्मण परम्परा द्वितीय अर्थ को लेकर चलती है। उसमें प्रवृत्तियों का मुख्य केन्द्र यज्ञ अथवा कर्म रहा है। उसके संचालक को ब्रह्म कहा जाता था। द्वितीय परम्परा श्रम अर्थात् तप को महत्त्व देती है। उसी को केन्द्र रखकर शैव, सांख्य, वेदान्त, जैन, बौद्ध आदि परम्पराओं का विकास हुआ। ब्राह्मण-परम्परा प्रवृत्तिप्रधान है और श्रमण-परम्परा निवृत्तिप्रधान। प्रथम गार्हस्थ्य पर बल देती है और द्वितीय संन्यास पर। प्रथम जीवन की उपासना करती है, द्वितीय उसे बन्धन मानकर मोक्ष की। प्रथम सांसारिक सुखों को वरदान मानती है, द्वितीय अभिशाप।

जीवन के दो रूप हैं—रक्षा और विस्तार। जब तक हम अपने को दुर्बल मानते हैं, रक्षा की भावना बलवती होती है। जैसे-जैसे शक्ति प्राप्त होती है साहस और विस्तार की भावना बढ़ती चली जाती है। उस समय व्यक्ति पुरुषार्थ करना चाहता है। वैष्णवों का भक्तिवाद और वैदिक परम्परा का कर्मवाद क्रमशः इसी तथ्य को प्रकट करते हैं।

सिद्धान्तलक्ष्यी दृष्टि बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त हलचल की व्याख्या करना चाहती है। हमें वस्तुओं में परस्पर-भेद दिखाई देता है और अभेद भी। जो दृष्टि अभेद को लेकर चली उसने ब्रह्म के रूप में किसी शाश्वत तत्त्व को प्राप्त किया और बाह्य भेद को मिथ्या कहा। जो दृष्टि भेद को लेकर चली वह विश्लेषण करती हुई शून्य पर पहुँच गई। प्रथम ने बाह्य हलचल को भ्रम कहा और द्वितीय ने निस्सार। तदनुसार सामाजिक उत्तर-

दायित्त्व और जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल गए। वेदान्त और बौद्ध-परम्पराएँ उपर्युक्त दो दृष्टिकोणों को लेकर चलीं।

कुछ परम्पराओं ने सैद्धान्तिक दृष्टि से बाह्य जगत् का अपलाप नहीं किया। किन्तु फिर भी उसे बन्धन और दुःखों का कारण माना। उन्होंने कहा कि हम किसी से राग करते हैं, किसी से द्वेष, किसी से प्रेम, किसी से घृणा। ये मनोवेग ही समस्त कष्टों का कारण हैं। उन्होंने भी संन्यास और निवृत्ति को मुख्यता दी। सांख्य, जैन आदि परम्पराएँ इस कोटि में आती हैं।

आगे चलकर दोनों धाराओं में आदान-प्रदान हुआ। वैदिक परम्परा ने जीवन-व्यवस्था में संन्यास को भी प्रश्रय दे दिया। वैष्णव परम्पराओं ने वैकुण्ठ के रूप में मोक्ष को स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर मोक्षलक्ष्यी परम्पराओं ने स्वर्ग एवं सांसारिक सुखों को धर्म का अवांतर फल मान लिया। धर्मसंस्था के इस विकास को निम्नलिखित केन्द्रों में प्रकट किया जा सकता है। वे एक ओर विकास को प्रकट करते हैं, दूसरी ओर परस्पर आदान-प्रदान और प्रतिक्रियाओं को। वे इस प्रकार हैं :

१. श्रद्धा—वैष्णव परम्पराओं का केन्द्र।
२. ऋत्
३. धर्म } प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्पराओं का केन्द्र।
४. यज्ञ
५. तप—शैव एवं निवृत्तिलक्ष्यी परम्पराओं का केन्द्र।
६. अद्वैत—अभेदलक्ष्यी ज्ञानमार्ग का केन्द्र।
७. शून्यता—भेदलक्ष्यी ज्ञानमार्ग का केन्द्र।
८. समता—एकता की व्यावहारिक भूमिका।
९. स्वच्छन्दता—बाह्य मर्यादाओं की प्रतिक्रिया।

१. श्रद्धा

प्राचीन मानव छोटे-छोटे परिवारों में विभक्त था। वन्य-पशु और फलों पर निर्वाह करता था। एक स्थान में भोजन की कमी होने पर दूसरे स्थान पर चला जाता था। जब घूमते-घूमते एक समूह की दूसरे समूह से भेंट हो जाती थी तो युद्ध छिड़ जाता और बलवान् प्रतिपक्षी को नष्ट कर डालता था। इन घुमक्कड़ परिवारों को 'कुल' कहा जाता था और नेता को 'कुलकर' या 'कुलपति'। कुल शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है भूमि अधिग्रहण करने वाला (कुं पृथ्वीं लाति गृह्णाति इति कुलम्)।

जब स्वतःप्राप्त फल तथा पशुओं का निर्वाह कठिन हो गया, तब कृषिविद्या का विकास हुआ। इसके लिए फसल बोने से लेकर पकने तक एक स्थान पर रहना आवश्यक

था। उस समय जो बस्तियाँ बनाई गईं उन्हें 'ग्राम' कहा गया।

कुलों के समान ग्रामों का भी परस्पर-सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण होता था। दो ग्रामों का मिलना प्रायः युद्ध के ही रूप में होता था। संग्राम शब्द इसी तथ्य को प्रकट करता है।

ग्राम के मुखिया को 'ग्रामणी' कहा जाता था। उसके दो कार्य थे। शांति-काल में वह पंच था और युद्धकाल में सेनापति। तत्कालीन ग्रामों का जीवन भी संकटपूर्ण रहता था। कभी प्राकृतिक संकट आते थे और कभी मानवकृत। दोनों स्थितियों में नेता का महत्त्व स्वाभाविक रूप से बढ़ जाता था।

कठोरता और संघर्ष से भरे इस जीवन में संघटन का अत्यधिक महत्त्व था और उसके लिए नेता में श्रद्धा आवश्यक थी। वही पिता था, वही राजा और वही धर्मगुरु। प्रत्येक सदस्य उसके रहन-सहन का अनुकरण करता था और उसकी आज्ञा को अन्तिम माना जाता था। वही कानून थी और वही धर्म। वह शक्ति, ज्ञान और चरित्र तीनों का आदर्श था। सुख और दुःख उसकी कृपा और कोप पर निर्भर थे। दूसरे शब्दों में मानव शरीर, हृदय और बुद्धि तीनों दृष्टियों से गुलाम था।

विष्णु शब्द 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से बना है। उत्तरकाल में इसकी व्याख्या सर्व-व्यापी तत्त्व के रूप में की गई। किन्तु वैष्णव-परम्पराएँ साकार व्यक्तित्व की उपासना करती हैं। उसे लक्ष्य में रखने पर विष्णु शब्द का अर्थ होगा: सर्वव्यापी व्यक्तित्व। 'त्रिविक्रम' शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है। विक्रम का अर्थ है कदम या पराक्रम। विष्णु ने अपने पराक्रम द्वारा समस्त विश्व को व्याप्त कर लिया था। तीसरा शब्द वासुदेव है। इसका अर्थ है सर्वत्र बसा हुआ। विष्णु पुराण में उसके लिए आया है:

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते॥

तीनों शब्द नेता के व्यापक आधिपत्य को प्रकट करते हैं।

राम ने राक्षसों को मारकर यज्ञों की रक्षा की। सामाजिक मर्यादाओं का पालन कराने के लिए स्वयं कष्ट उठाए। इसीलिए उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम कहा जाता है। वे वैष्णव-परम्परा की उस शाखा के उपास्य हैं जो सामाजिक मर्यादाओं को महत्त्व देती हैं।

कृष्ण के अनेक रूप मिलते हैं। 'भगवद्गीता' में वे अर्जुन के सारथि बनकर महा-भारत के युद्ध में विजय प्राप्त कराते हैं। कंस, शिशुपाल आदि का वध करते हैं, ग्वालों के साथ खेलते हैं। मर्यादाओं की परवाह नहीं करते। उनका मुख्यरूप मित्रता को निभाना है। 'भागवत' में उन्हें केन्द्र में रखकर अवैध भक्ति का प्रतिपादन किया गया। राम राजा तथा पिता हैं। कृष्ण सखा और प्रेमी। यहीं से भक्ति के तीन रूप हो गए। प्रथम रूप गुणों को महत्त्व देता है और द्वितीय स्वाभाविक प्रेम को। जब कृष्ण को भक्ति का केन्द्र मान लिया गया तो उनके परिजन तथा प्रेमपात्रों को भी दैवीरूप मिल गया। वैणष्व-परम्परा

में भगवान् के चार व्यूह माने जाते हैं—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ये क्रमशः कृष्ण के बड़े भाई, स्वयं कृष्ण, उनके पुत्र तथा पौत्र हैं। उनकी रानियों को भी दैवी रूप दे दिया गया। राधा अविवाहित प्रेयसी थी। स्वाभाविक रूप से आकर्षण अधिक होने के कारण उसे सखियों में सर्वोत्कृष्ट रूप मिल गया।

इस प्रकार इसी रूप में रागात्मिका भक्ति का विकास हुआ। स्त्रियों से कहा गया कि यदि पति भगवान् के साथ मिलने से रोकता है तो उसे छोड़ देना चाहिए। इसके लिए व्रजसुन्दरियों को उदाहरण दिया जाता है जिन्होंने भगवान् कृष्ण के प्रेम में पतियों को छोड़ दिया। यह सीता-राम के आदर्श से सर्वथा भिन्न है।

दोनों परम्पराओं में धर्म का केन्द्र व्यक्ति है। आदि पुरुष का निधन होने पर उसकी गद्दी पर बैठने वाला उत्तराधिकारी भी उसी सम्मान की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार भगवान् के पश्चात् वही प्रतिष्ठा आचार्यों को मिल गई। कुछ परम्पराओं में यह अधिकार वंश-परम्परा के आधार पर प्राप्त होता है और कुछ में गुरु-परम्परा के आधार पर।

भक्ति के तीन रूप हैं—स्वार्थमूला, गुणमूला और सहजा। जब धन, सन्तान, स्वास्थ्य आदि किसी स्वार्थ को लेकर भक्ति की जाती है तो वह प्रथम कोटि में आती है। जब शक्ति, ज्ञान आदि किसी गुण को लेकर भक्ति की जाती है तो वह द्वितीय कोटि में। शास्त्रीय परिभाषा में इसे ऐश्वर्यमूला भक्ति कहा गया है। जब आकर्षण का आधार स्वार्थ और गुण न होकर केवल व्यक्ति होता है, तो उसे सहज भक्ति कहते हैं। प्रथम प्रकार की भक्ति हेय मानी जाती है। रामानुज सम्प्रदाय द्वितीय प्रकार को लेकर चलता है और वल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य आदि सम्प्रदाय तृतीय प्रकार को। 'भागवत' में नैष्ठिकी भक्ति का स्वरूप दो विशेषणों द्वारा बताया गया है—अहैतुकी, अप्रतिहता। अहैतुकी का अर्थ है व्यक्ति का अपने-आप में लक्ष्य होना। जब गुण अथवा स्वार्थ से प्रेरित होकर भक्ति की जाती है, तो वह सहैतुकी हो जाती है। वहाँ स्वार्थ या गुण मुख्य हो जाते हैं और व्यक्ति गौण। इसके विपरीत जब व्यक्ति अपने-आपमें आकर्षण हो, तो उसे अहैतुकी कहा जाएगा। माता पुत्र से प्रेम केवल इसलिए करती है कि वह उसका पुत्र है। न गुणों को देखती है और न स्वार्थ को। इसी प्रकार जब नायिका किसी पुरुष से स्वाभाविक प्रेम करती है, किसी गुण या स्वार्थ को नहीं देखती, तो उसे सहज प्रेम कहा जाता है। मीरा के निम्नलिखित पद्य में इसी की झलक मिलती है :

मैं निर्गुणिया गुण नहिं जानी।
एक धनी के हाथ बिकानी॥

दूसरा विशेषण अप्रतिहता है। यदि भक्त मोक्ष, सुख, राज्य, धन-सम्पत्ति आदि किसी अन्य स्वार्थ के लिए भक्ति करता है, तो वह स्वार्थ-साध्य हो जाता है और भक्ति

साधन। साध्य साधन से उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार भक्ति इस स्वार्थ के द्वारा प्रतिहत हो जाती है। अप्रतिहता का अर्थ है भक्ति का अपने-आपमें सबसे बड़ा स्वार्थ होना। वैष्णव-परम्परा में कहा गया है—भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी।

यह व्यक्तिनिष्ठा अथवा श्रद्धा का चरम रूप है।

पुरुषार्थ

बालक में श्रद्धा की मुख्यता होती है और युवक में पुरुषार्थ की। वैष्णव भक्ति-वाद और वैदिक कर्मवाद में यही मुख्य अन्तर है। दोनों जीवन के उपासक हैं।

प्रारम्भ में वैदिक-परम्परा भी स्तुति-प्रधान रही। 'ऋग्वेद' का मानव विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिए देवताओं की स्तुति करता है, किन्तु इसमें वैष्णव-परम्परा से निम्नलिखित भेद हैं :

१. वैष्णव-परम्परा व्यक्ति की उपासना करती है और वैदिक परम्परा प्रकृति की। इसने मनुष्य को देवता नहीं माना।

२. वैष्णव परम्परा प्रारम्भ से ही एकेश्वरवादी है। राम, कृष्ण आदि के नाम पर शाखाएँ खड़ी हुईं और प्रत्येक ने एकमात्र अपने देवता को उपास्य बताया। मध्यकाल में सन्त-परम्परा के विकास के साथ कुछ समझौते का प्रयत्न हुआ, फिर भी प्रधानता अपने-अपने देवता की ही रही। इसके विपरीत वैदिक परम्परा का प्रारम्भ अनेकेश्वरवादी के रूप में हुआ। उत्तरवर्ती-काल में दार्शनिक विकास के साथ उसके एकेश्वर और सर्वे-श्वरवाद का रूप ले लिया गया, फिर भी मन्त्र-तन्त्रों में वे ही रूप चलते रहे।

३. प्रकृति के अधिष्ठायक तत्त्वों ने क्रमशः विभिन्न शक्तियों का रूप ले लिया और यह माना जाने लगा कि विधिपूर्वक कर्म करने पर उन्हें फल देना पड़ेगा। इस प्रकार वे कर्म के अधीन हो गईं। वैष्णव-परम्परा में इसके विपरीत भगवान् को भक्त के वश में कहा गया।

४. वैष्णव-परम्परा में व्यक्ति का महत्त्व है और यहाँ व्यवस्था का। जिसका आधार वेद अर्थात् पुस्तक विशेष है।

५. व्यवस्था के दो रूप हैं—ऋत और धर्म। गतिशील समाज की व्यवस्था को ऋत कहा गया है और स्थिर समाज की व्यवस्था को धर्म। दोनों का सम्मिलित रूप यज्ञ है।

ऋत

आर्य जाति ने जब भारत में प्रवेश किया तो उसके सामने धर्म का रूप ऋत था। आर्य का अर्थ है गतिशील मानव। वैदिक साहित्य में भी धर्म एवं अधर्म के लिए ऋत तथा

अनृत शब्द मिलते हैं। ऋत का परिपालक वरुण को माना गया है। वह वर्षा का अधिष्ठाता है। साधारणतया वर्षा आने पर गति रुक जाती थी और आकाश स्वच्छ होने पर चलना प्रारम्भ हो जाता था। इस प्रकार ऋत पर वरुण का नियन्त्रण था।

धर्म

स्मृति साहित्य में धर्म के दो रूप हैं—१. सामान्य धर्म और २. वर्णाश्रम धर्म। सामान्य धर्म के रूप में धृति, क्षमा, इन्द्रिय-दमन आदि जिन बातों का प्रतिपादन है, वे सभी परम्पराओं में समान हैं। वैदिक परम्परा की मुख्य देन वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म हैं। वर्ण-धर्म के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी के भिन्न-भिन्न कर्म बताए गए हैं। आश्रम-धर्म के रूप में जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है। उनमें गृहस्थाश्रम की मुख्यता है। ब्रह्मचर्याश्रम उसकी तैयारी है। वानप्रस्थ और संन्यास विश्राम।

गृहस्थ के लिए कर्त्तव्य का विभाजन अनेक प्रकार से किया गया है। 'मीमांसा-दर्शन' में उसके तीन भेद हैं :

१. नित्यकर्म—सन्ध्यावन्दन, होम आदि। गृहस्थ को चाहिए कि उन्हें प्रतिदिन करता रहे। न करने पर पाप लगता है।

२. नैमित्तिक—ग्रहण आदि विशेष अवसरों पर किए जाने वाले अनुष्ठान।

३. काम्य—सन्तान, धन, राज्य आदि कामनाएँ पूर्ण करने के लिए किए जाने वाले अनुष्ठान।

दूसरा विभाजन पंचयज्ञ के रूप में है :

१. भूतयज्ञ—पशुपक्षियों को भोजन देना।

२. अतिथियज्ञ—अतिथियों का स्वागत करना।

३. पितृयज्ञ—पूर्वजों की पूजा।

४. ऋषियज्ञ—शास्त्रों का अध्ययन।

५. देवयज्ञ—विश्व पर नियन्त्रण करने वाली दैवी शक्तियों की पूजा।

जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त सोलह संस्कार बताए गए हैं। वे एक ओर व्यक्ति को सामाजिक ढाँचे में ढालते हैं, दूसरी ओर उत्सव के रूप में सामाजिक संगठन को दृढ बनाते हैं। प्रत्येक अवसर पर जाति-बन्धुओं से उपस्थित होने की आशा की जाती है। इन सब संस्कारों को इष्टि अर्थात् यज्ञ भी कहा जाता है। नित्य-कर्म भी यज्ञ माने गए हैं। इस प्रकार यज्ञ वैदिक परम्परा का केन्द्र बन गया। इतना ही नहीं उत्तर-काल में जब तप, ज्ञान आदि परम्पराओं का सम्मिश्रण हुआ तो उन्हें भी यज्ञ का रूप दे दिया गया। गीता में ज्ञानयज्ञ, तपोयज्ञ आदि का निर्देश इसी तथ्य को प्रकट करता है। संक्षेप में ब्राह्मण-परम्परा के निम्नलिखित तत्त्व हैं :

१. देवतावाद,
२. यज्ञ,
३. वेद का प्रामाण्य,
४. वर्ण-व्यवस्था,
५. आश्रम-व्यवस्था।

वैदिक परम्परा ने अपने प्रारम्भ-काल में जीवन के लक्ष्य के रूप में त्रिवर्ग का प्रतिपादन किया। वे हैं धर्म, अर्थ और काम। काम का अर्थ है इच्छा अथवा महत्त्वाकांक्षाएँ। उनकी पूर्ति जीवन का लक्ष्य है। अर्थ उस पूर्ति का साधन है। इसमें धन, राज्य आदि सभी वस्तुएँ आ जाती हैं। धर्म अर्थ और काम दोनों पर नियन्त्रण करता है। उसका कथन है कि मर्यादा तोड़कर न इच्छा-पूर्ति करनी चाहिए और न अर्थ-संग्रह। उत्तर-काल में अन्य परम्पराओं का सम्मिश्रण होने पर मोक्ष को भी अन्तिम पुरुषार्थ मान लिया गया। साथ ही कहा गया कि व्यक्ति को सामाजिक कर्त्तव्य पूर्ण करके ही इस ओर ध्यान देना चाहिए।

इस युग में श्रुति अर्थात् वेद के साथ अन्य बातें भी धर्म का आधार मान ली गयीं। मनुस्मृति में आया है :

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

यहाँ सदाचार का अर्थ है—परम्परागत बातें। चौथी बात आत्मसुख की ओर संकेत करती है।

प्रतिक्रियाएँ

ब्राह्मण-परम्परा प्रारम्भ से ही वैषम्य को लेकर चली। उसकी अनेक प्रतिक्रियाएँ हुईं और धर्म के नये रूप सामने आए। उस वैषम्य और प्रतिक्रियाओं को संक्षेप में नीचे लिखे अनुसार प्रकट किया जा सकता है :

१. वर्ण-वैषम्य—इसके दो रूप थे। ब्राह्मणों का आधिपत्य और शूद्रों के प्रति घृणा। प्रथम रूप की प्रतिक्रिया क्षत्रियों में हुई। उपनिषदों में याज्ञवल्क्य आदि ब्राह्मण जनक आदि क्षत्रियों के पास ब्रह्मविद्या सीखने जाते हैं। जैन और बौद्ध-परम्पराओं ने अपने समस्त महापुरुषों को क्षत्रिय बताया और उसकी तुलना में ब्राह्मण को नीच वर्ण माना। द्वितीय रूप की भी प्रतिक्रिया मिलती है। उपनिषदों के कुछ ऋषि शूद्र भी हैं और वे ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हैं। जैन और बौद्ध-परम्पराओं में अनेक मुनियों और भिक्षुओं का वर्णन आया है जो जन्मना चंडाल अथवा शूद्र थे। किन्तु दीक्षित होने के बाद सभी को समान प्रतिष्ठा मिली। दोनों परम्पराओं में ऐसे वाक्य भी आए हैं कि व्यक्ति

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र गुणों से बनता है, जन्म से नहीं।

२. लिङ्ग-वैषम्य—आर्य जाति में स्वाभाविक रूप से स्त्रियों की संख्या कम थी। फलस्वरूप आर्येतर नारियों के साथ विवाह होने लगे। साथ ही इस बात का भय हुआ कि इस सम्मिश्रण से उनका संघटन दुर्बल न हो जाए, इसके लिए स्त्री को सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया, किन्तु उपनिषदों में बहुत-सी नारियाँ ब्रह्मवादिनी बतायी गयी हैं। जैन और बौद्ध-परम्पराएँ भी स्त्री को समान अधिकार देती हैं।

३. यज्ञ—इसका मुख्य अर्थ था—कर्म अथवा विशेष प्रकार का अनुष्ठान। उपनिषदों ने बताया कि कर्म का फल नश्वर है। दुःखों से छुटकारा आत्मज्ञान द्वारा ही हो सकता है। जैन और बौद्ध-परम्पराओं ने कर्म को संसार-भ्रमण का कारण बताया।

४. देवतावाद—वैदिक परम्परा में यज्ञ के फल पर देवता अर्थात् अतीन्द्रिय शक्तियों का नियन्त्रण था। उपनिषदों में आत्मा को ही सबसे बड़ा देव बताया गया। जैन और बौद्ध-परम्पराओं ने कहा कि चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति देवताओं से ऊँचा है।

५. वैदिक परम्परा मानती है कि धर्म के विषय में वेद अन्तिम प्रमाण हैं। उसमें जिन कार्यों का विधान है, उन्हें करने पर धर्म होता है और जिनका निषेध है उन्हें करने पर पाप। उपनिषदों ने इसके स्थान पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन का प्रतिपादन किया और स्वतन्त्र विचार को प्रश्रय मिल गया। जैन और बौद्ध-परम्पराओं में आज्ञा का स्थान नैतिकता ने ले लिया।

तप

उपर्युक्त दो परम्पराएँ जीवन की उपासना करती हैं। उनका लक्ष्य है व्यक्ति तथा समाज को उत्तरोत्तर सुखी और समृद्ध बनाना। इसके लिए एक ने भक्ति का मार्ग अपनाया, दूसरी ने कर्म अथवा पुरुषार्थ का। इन्हें क्रमशः समाज का शैशव एवं यौवन कहा जाएगा। किन्तु जब मानव पुरुषार्थ करने पर भी सफल नहीं होता तो संघर्ष का स्थान विरक्ति ले लेती है। उस समय वह सोचता है—'मृत्यु ही सत्य है। जीवन निरा भ्रम है।' जो व्यक्ति इस सत्य को ध्यान में रखता है उसे विपत्तियों एवं मृत्यु का कष्ट नहीं होता। वह उन्हें वास्तविकता समझकर स्वागत करता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर तप की धारा का विकास हुआ। इतना ही नहीं उसने यह भी कहा कि व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक कष्ट उठाने का अभ्यास करना चाहिए। इससे वे विवशता न रहकर क्रीड़ा बन जाएँगे।

श्रमण-परम्परा तप को केन्द्र में रखकर विकसित हुई। प्राचीन साहित्य में श्रमणों के पाँच भेद आए हैं—

१. निर्ग्रन्थ

२. शाक्य
३. परिव्राजक
४. तापस
५. आजीवक

जैन साधुओं को निर्ग्रन्थ कहा जाता था और बौद्धों को शाक्य। परिव्राजक-परम्परा 'सांख्यदर्शन' को मानती है। आजीवक नियतिवादी था। इसके प्रवर्तक का वर्णन गोसालक के रूप में आता है।

तप की परम्परा हमारे सामने तीन रूपों में आती है। प्रथम रूप जीवन के प्रति स्वाभाविक निराशापूर्ण दृष्टिकोण है। द्वितीय रूप भक्ति और कर्म की प्रतिक्रिया है। प्रथम दो परम्पराओं में जो कार्य भक्ति अथवा यज्ञ द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं, वे ही यहाँ तप द्वारा सम्पन्न होने लगे। फिर भी उसमें शिव अर्थात् किसी अतीन्द्रिय शक्ति की प्रधानता है। वही प्रसन्न होकर वर देती है। तृतीय अवस्था में तप आध्यात्मिक शक्तियों के विकास का प्रमुख साधन है। यहाँ आत्मा को ही परमात्मा मान लिया गया और यह बताया गया कि बाह्य वस्तुओं के प्रति आसक्ति के कारण उसका यह रूप दबा हुआ है। तप द्वारा इस आसक्ति अथवा आत्मा के मैल को दूर किया जाता है। इस प्रकार वह आत्मशुद्धि अथवा प्रच्छन्न आत्म-शक्तियों के आविर्भाव का साधन बन गया।

तपोलक्ष्यी धारा के प्राचीनतम देवता शिव हैं। सिन्धुघाटी के अवशेषों में उनकी मूर्तियाँ मिलती हैं, जहाँ वे ध्यानस्थ योगी के रूप में दिखाये गये हैं। हिमालय के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक शिव के स्थान हैं। प्राचीन राजवंश उन्हें अपना इष्टदेव मानते हैं। इन सब बातों से पता चलता है कि भारत में योग तथा तप की प्राचीन परम्परा रही है। जहाँ व्यक्ति अपनी समस्याओं का समाधान पूर्ति के स्थान पर इच्छा-निरोध द्वारा करता है।

पुराणों में अनेक साधकों की कथाएँ मिलती हैं। उन्होंने तप किया और भगवान् शंकर को विवश होकर इच्छा पूर्ण करनी पड़ी। रावण, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर आदि की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पार्वती अपने सौन्दर्य एवं भक्ति द्वारा शिव को नहीं जीत सकी। तब उसने तपस्या द्वारा विजय प्राप्त की। ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ आदि अपना कार्य सम्पादन करने के लिए तप करते हैं।

ये बातें इसी तथ्य को प्रकट करती हैं कि भारत में प्राचीन काल से तप की परम्परा रही है। इसका वैदिक-परम्परा के साथ संघर्ष भी हुआ।

कहा जाता है दक्ष प्रजापति की कन्या सती ने शिव के साथ विवाह कर लिया। दक्ष को यह पसन्द नहीं था। जब उसने यज्ञ किया तो शिव को आमन्त्रित नहीं किया। सती को यह बात बुरी लगी और उसने यज्ञ की आग में कूदकर प्राण दे दिए। शिव कुपित

हो गए और उन्होंने यज्ञ का ध्वंस कर डाला। इस प्रकार की और भी अनेक कथाएँ हैं जो दोनों परम्पराओं में परस्पर-विरोध को प्रकट करती हैं।

'सांख्य दर्शन' के प्रवर्तक कपिल बहुत बड़े तपस्वी थे। 'भगवद्गीता' में उनका वर्णन सिद्धों के अग्रणी के रूप में आया है (सिद्धानां कपिलो मुनिः)। इस परम्परा में जीवन का लक्ष्य कैवल्य अर्थात् प्रकृति-पुरुष-विवेक है। साधन के रूप में तपस्या पर बल है। परिव्राजक इसी परम्परा के अनुयायी थे।

बाईसवें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे। उन्होंने कठोर तप द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में उनका वर्णन घोर अंगिरस के रूप में आया है। वहाँ भी वे बहुत बड़े तपस्वी बताए गए हैं। इस तरह कृष्ण और नेमिनाथ दो विभिन्न परम्पराओं के प्रतिनिधि हैं। दोनों में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं :

१. कृष्ण ने श्रद्धा और भक्ति पर बल दिया, नेमिनाथ ने ज्ञान और तप पर।

२. कृष्ण ने व्यक्तिपूजा की परम्परा चलाई और नेमिनाथ ने गुणपूजा की।

३. वैष्णव-परम्परा में हमारा भविष्य भगवान् की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है और वे भक्ति द्वारा प्रसन्न होते हैं। श्रमण-परम्परा में इसके दो रूप हैं। प्रथम रूप पुराणों में मिलता है जहाँ भगवान् शंकर तप द्वारा प्रसन्न होकर फल देते हैं। दूसरा रूप जैन, बौद्ध आदि अनीश्वरवादी परम्पराओं में है, जहाँ शुभाशुभ कर्म स्वयं फल देता है।

जैन और बौद्ध साहित्य में अनेक तापसों का वर्णन है। कोई पंचाग्नि तप करता है, कोई नीचे आग जलाकर वृक्ष से उलटा लटका हुआ है, कोई काँटों पर सो रहा है, कोई हाथ ऊपर उठाए घूम रहा है। साधारण जनता इन तापसों में अलौकिक शक्ति मानकर स्वार्थ-सिद्धि के लिए इन्हें पूजती थी, भयभीत भी रहती थी। इन तापसों का ध्यान पूजाप्रतिष्ठा एवं चमत्कार पर रहता था, आत्मशुद्धि पर नहीं।

तेईसवें जैन तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ जब राजकुमार थे, तब उनकी एक ऐसे ही तापस से भेंट हुई थी। वह पंचाग्नि-तप कर रहा था। पार्श्वनाथ का ध्यान बाह्य तप के स्थान पर आन्तरिक शुद्धि पर गया। जैन धर्म इस कायाक्लेश को बाह्य तप मानता है। साथ ही चित्तशुद्धि के रूप में आभ्यन्तर तप को अधिक महत्त्व देता है।

भगवान् बुद्ध ने भी जीवन-शुद्धि को महत्त्व दिया। हीनयान में कायाक्लेश साधना का मुख्य अंग है। महायान में उसका स्थान भावना तथा विचारशुद्धि ने ले लिया।

इस प्रकार तप के दो रूप हो गए—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप का मुख्य सम्बन्ध शारीरिक अनुशासन के साथ है और आभ्यन्तर तप का चित्त-शुद्धि के साथ। सभी परम्पराएँ आभ्यन्तर तप को ही महत्त्व देती हैं। उपनिषदों का आत्मज्ञान इसी का एक रूप है। किन्तु वहाँ पूर्व-भूमिका के रूप में गार्हस्थ्य को सामने रखा गया और फल की कामना से रहित होकर कर्तव्य-पालन पर बल दिया गया। दूसरी ओर जैन, बौद्ध, परिव्राजक

आदि परम्पराओं ने बाह्य तप को आवश्यक माना।

तीन दृष्टियाँ

आभ्यन्तर तप का विकास तीन दृष्टियों के रूप में हुआ—१. एकता, २. शून्यता और ३. समता। उपनिषदों ने एकता अथवा अद्वैत पर बल दिया। बौद्धों ने शून्यता पर और जैन दर्शन ने समता पर। प्रथम दो धाराएँ दार्शनिक अन्वेषण को लेकर चलीं और तृतीय जीवन-व्यवहार को।

किसी वस्तु का पर्यालोचन करते समय हमारे सामने दो दृष्टियाँ आती हैं। अभेद-लक्ष्यी दृष्टि विभिन्न वस्तुओं में एकत्व का दर्शन करती है और भेदक तत्त्वों का निराकरण करती चली जाती है। इस प्रकार किसी ऐसे तत्त्व पर पहुँच जाती है जो समस्त भेदों से परे है। उसी को ब्रह्म या सत् कहा गया है। उपनिषदों में आया है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'। यहाँ विश्व की नियामक शक्तियों को लेकर एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि वाक्यों में वही प्रतिपादन विश्व के स्वरूप को लेकर है। 'तत्त्वमसि' में वैयक्तिक भेद का निराकरण है।

दूसरी दृष्टि भेदलक्ष्यी है। उसने सर्वप्रथम कालकृत भेद का निराकरण किया और 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' पर पहुँच गई। गुणकृत अभेद का निराकरण करने पर 'सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्' पर पहुँची। वस्तुकृत अभेद का निराकरण करने पर 'सर्वं शून्यं शून्यम्' पर पहुँची।

समता दृष्टि मुख्यतया जीवन-व्यवहार को लेकर चली। उसने कहा, व्यक्तियों में परस्पर-भेद होने पर भी वैषम्य-बुद्धि आवश्यक नहीं। वही समस्याओं को जन्म देती है। उसे दूर करने के लिए जीवन में समता लानी चाहिए। समता ने दार्शनिक भूमिका पर अनेकान्त का रूप ले लिया। अब हम इन तीनों धाराओं का दिग्दर्शन कराएँगे।

एकता

उपनिषदों में यह चर्चा प्रारम्भ हुई कि विश्व का मूल क्या है? यह चराचर जगत् कहाँ से उत्पन्न होता है, किस पर ठहरा हुआ है और अन्त में कहाँ विलीन हो जाता है? ज्ञान और आनन्द का स्रोत कहाँ है? इसी जिज्ञासा के फलस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया। वहाँ यह भी आया है कि व्यक्ति जब तक अपने को सीमित तथा दूसरों से भिन्न मानता है, तब तक समस्याएँ बनी रहेंगी। अद्वैत तथा अभेद का साक्षात्कार होते ही समस्त समस्याओं का समाधान हो जाएगा।

उपनिषदों में आया है जहाँ द्वितीय है: वहीं भय होता है; जब सब एक हो गए, तब कौन किससे डरेगा? वास्तव में सभी ब्रह्म हैं। दिखायी देने वाला भेद मिथ्या है। घड़े

में जो ग्राकाश दिखायी देता है, वह महाकाश से भिन्न नहीं है। केवल घड़ा हमारे ग्रन्दर भेद-बुद्धि उत्पन्न कर देता है। उसके फूटते ही घटाकाश महाकाश में मिल जाता है। ग्रथवा यों कहना चाहिए कि सीमा-विषयक धारणा समाप्त हो जाती है। भेद का निराकरण करते हुए वहाँ 'एकमेवाद्वितीयम्' वाक्य ग्राया है। इसके तीन भेद तीन प्रकार के भेदों का निराकरण करते हैं। 'एकम्' पद सजातीय भेद का निराकरण करता है ग्रर्थात् ब्रह्म एक ही है; 'एव' पद विजातीय भेद का निराकरण करता है ग्रर्थात् ब्रह्म के ग्रतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है; 'ग्रद्वितीयम्' पद स्वगत-भेद का निराकरण करता है ग्रर्थात् ब्रह्म ग्रंश-रहित है।

दूसरा महावाक्य 'तत्त्वमसि' है। उसके द्वारा प्रत्येक साधक को कहा जाता है कि तुम स्वयं ब्रह्म हो।

वेदान्त में कहा गया है कि बिन्दु का समुद्र से पृथक् कोई ग्रस्तित्व नहीं है। सिपाही सेना से पृथक् नहीं होता ग्रौर वृक्ष वन से।

वेदान्त ने यह भी बताया कि ग्रानन्द का स्रोत तुम्हारे भीतर है। धन धन के लिए प्रिय नहीं होता, ग्रपने लिए प्रिय होता है; पत्नी पत्नी के लिए प्रिय नहीं होती, ग्रपने लिए प्रिय होती है। यही बात सन्तान की है। हमें उसी केन्द्र की खोज करनी चाहिए जिसके लिए ये सब प्रिय लगते हैं। ग्रानन्द का वास्तविक स्रोत वही है। उसी को 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' कहा गया है।

हमारे व्यक्तित्व का विभाजन पांच कोषों के रूप में किया गया है—शरीर, प्राण, मन, बुद्धि ग्रौर साक्षिचैतन्य। ब्रह्म उन सबसे परे है। वही साधना का ग्रन्तिम लक्ष्य है।

साधना-मार्ग के रूप में उपनिषद् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को प्रस्तुत करते हैं। तीनों ग्रवस्थाएँ एकता को जीवन में उतारने का ग्रभ्यास है। श्रवण द्वारा उस एकता का शाब्दिक ज्ञान होता है, मन द्वारा बौद्धिक ग्रौर निदिध्यासन द्वारा ग्रनुभूति होने लगती है। फलस्वरूप पृथक् ग्रस्तित्व की भावना समाप्त हो जाती है। उसी को ब्रह्मविलय ग्रथवा ब्रह्म-साक्षात्कार कहते हैं।

शून्यता

बौद्ध धर्म का कथन है कि तृष्णा ही सब समस्याग्रों का मूल है। यह तब होती है जब हम किसी वस्तु को मूल्य प्रदान करते हैं।

इसका प्रथम ग्राधार स्थायित्व बुद्धि है। प्रिय लगने पर भी यदि यह भान हो जाए कि ग्रभीष्ट वस्तु क्षणिक है तो तृष्णा नहीं रहेगी। इसी तथ्य को लेकर 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' कहा गया

जो वस्तु हमारा प्रयोजन सिद्ध करती है उसके प्रति ग्रासक्ति हो जाती है। फलस्व-

रूप हम उस आकार या जाति की दूसरी वस्तु को भी चाहने लगते हैं। यदि यह निश्चय हो जाए कि प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न है, उनमें कोई समानता नहीं है, तो सजातीय वस्तु के प्रति तृष्णा नहीं होगी। इसी के लिए 'सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्' कहा गया। तीसरा प्रातपादन 'सर्वं शून्यं शून्यम्' है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु सारहीन है।

बौद्ध दर्शन में क्रमशः चार परम्पराओं का विकास हुआ। उनमें निराकरण की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। सर्वास्तिवाद ने धर्म और धर्मी दोनों को स्वीकार किया। सौत्रान्तिकों ने धर्मी का निराकरण करके धर्ममात्रता का प्रतिपादन किया। योगाचार ने केवल विज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान की सत्ता स्वीकार की और बाह्य वस्तुओं का सर्वथा निराकरण कर दिया। माध्यमिकों ने ज्ञान और ज्ञेय सभी को शून्य कहा।

बौद्ध धर्म ने साधना के तीन अंग बताए—शील, समाधि और प्रज्ञा। शील का आधार नैतिकता है। समाधि में मानसिक विक्षेपों को दूर किया जाता है। विक्षेप दूर होने पर चित्त में जो निर्मलता आती है उसी का नाम प्रज्ञा है। ऊपर बताया गया है कि बौद्ध धर्म में समस्त समस्याओं का मूल तृष्णा है। धन, सन्तान, शरीर आदि बाह्य वस्तुओं की तृष्णा सभी परम्पाओं में बन्धन मानी गई है। उनसे छुटकारे का नाम ही मोक्ष है, किन्तु वहाँ भी अस्तित्व बना रहता है। कुछ परम्पराएँ वैयक्तिक अस्तित्व को भी मानती हैं। किन्तु वेदान्त का कथन है कि वह निरा भ्रम है। उसके दूर होते ही वैयक्तिक सत्ता महासत्ता में मिल जाती है। बौद्ध दर्शन ने कहा कि शाश्वत अस्तित्व की इच्छा भी एक तृष्णा है। जीवन दीपशिखा के समान है। जब तैल और बत्ती समाप्त हो जाते हैं तो शिखा बुझ जाती है अर्थात् नई शिखा नहीं बनती। यह प्रश्न व्यर्थ है कि वह कहाँ गई? इसी प्रकार जीवन अथवा आत्मा एक अग्नि-शिखा है। उसी को चित्त कहा जाता है, जिसका अर्थ है विभिन्न संस्कारों का पुंज। पिछले संस्कार मिटते और नये बनते चले जाते हैं। जब समाधि द्वारा नये संस्कारों का निर्माण रुक जाता है तो धारा अपने-आप समाप्त हो जाती है। नदी में नया पानी नहीं आता तो प्रवाह सूख जाता है। यह प्रश्न ही खड़ा नहीं होता कि वह कहाँ गया? शून्यता में इस विलय को ही निर्वाण कहा जाता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने आत्मा के शाश्वत अस्तित्व की भावना को भी समाप्त कर दिया। उसने कहा—अस्तित्व की लालसा भी तृष्णा है।

हीनयान में साधना का लक्ष्य निवृत्ति-प्रधान था। किन्तु महायान में उसने विध्यात्मक रूप ले लिया। वहाँ महाकरुणा के सिद्धान्त का विकास हुआ, जहाँ बुद्ध निर्वाण की योग्यता होने पर भी अकेले वहाँ जाना पसन्द नहीं करते। वे दूसरों का दुःख दूर करने में लग जाते हैं और स्वेच्छापूर्वक कष्ट उठाते हैं। इसी के साथ बौद्ध धर्म में भक्तिवाद ने प्रवेश किया और सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय को छोड़कर भगवान् के सभी गुण बुद्ध में मान लिये गए।

जब प्रेम स्वभाव बन जाता है तो कोई अन्य स्वार्थ नहीं रहता। माता पुत्र से

प्रेम किसी अन्य स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं करती, किन्तु इसी में उसे आनन्द मिलता है। वह पुत्र के लिए कष्ट भोगने में भी सुख का अनुभव करती है। इसी प्रकार का प्रेम जब समस्त विश्व में हो जाता है तो उसी को महाकरुणा कहा गया है।

वैष्णव परम्परा में भगवान् शत्रुओं का नाश करके भक्तों का उद्धार करते हैं। यहाँ यह दृष्टि के उन्मीलन द्वारा किया जाता है। वैष्णव परम्परा में भगवान् इच्छापूर्ति करते हैं और यहाँ उसका निराकरण किया जाता है।

जिस प्रकार वैष्णव परम्परा में भगवान् के विविध रूपों का ध्यान किया जाता है उसी प्रकार यहाँ भी बुद्धि के विविध रूपों का ध्यान किया जाने लगा। ज्ञान-प्राप्ति के लिए मंजुश्री का ध्यान किया जाता है; दुःख-निवृत्ति के लिए अवलोकितेश्वर का, इत्यादि।

समता

जैन धर्म यथार्थवादी है। वह जड़ और चेतन, आभ्यन्तर और बाह्य, समस्त जगत् की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। जीव अथवा आत्माओं में परस्पर-भेद भी मानता है। उसने न एकता का समर्थन किया, न शून्यता का। दोनों के स्थान पर समता को प्रस्तुत किया।

हमारा किसी वस्तु के प्रति ममत्व होता है और किसी के प्रति घृणा। किसी से राग और किसी से द्वेष। किसी को अपना मानते हैं और किसी को पराया। यही घेरे वैषम्य-बुद्धि उत्पन्न कर सकते हैं; फलस्वरूप कोई शत्रु बन जाता है और कोई मित्र। शत्रु का दमन करना चाहते हैं और मित्र के साथ प्रेम। इस वैषम्य-बुद्धि का पारिभाषिक नाम मोह है। यह ज्यों-ज्यों दूर होता है, मनुष्य ऊँचा उठता जाता है और समस्याएँ सुलझने लगती हैं।

भगवान् महावीर ने 'आचारांगसूत्र' में कहा है—जब तुम किसी को मारने या सताने जाते हो तो उसकी जगह अपने को रखकर सोचो। यदि प्रस्तुत व्यवहार तुम्हें बुरा लगता है तो समझ लो, दूसरे को भी बुरा लगेगा। यदि तुम चाहते हो तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार न हो, तो दूसरे के साथ भी वैसा मत करो। तु० महाभारत—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'।

जैन धर्म में उच्च साधकों को समण कहा गया है। 'उत्तराध्ययन' में आया है—'समयाए समणो होइ'; अर्थात् जो व्यक्ति समता की आराधना करता है वही समण है।

यहाँ साधना को सामायिक कहा गया है। यह मुनि का जीवन-व्रत होता है और गृहस्थ यथाशक्ति कुछ समय के लिए अपनाता है। सामायिक का अर्थ है: समता को जीवन में उतारने का अभ्यास।

आत्म-पर्यालोचन तथा जीवन-शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। उसमें पहले

सम्भावित पापों के पर्यालोचन और उनके लिए पश्चात्ताप का विधान है। अन्त में नीचे लिखी मित्रता की घोषणा की जाती है :

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूइसु वैरं मज्झ ण केणइ॥

मैं सब प्राणियों को क्षमा प्रदान करता हूँ। सब प्राणी मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरी सबसे मित्रता है। किसी से वैर नहीं। यह घोषणा समता का ही रूपान्तर है।

दार्शनिक क्षेत्र में समता का विकास अनेकान्त के रूप में हुआ। वहाँ बताया गया है कि हम अपने विचारों को जितना महत्त्व देते हैं, उतना ही महत्त्व दूसरों के विचारों को देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी परिस्थिति और मानसिक धरातल के अनुसार निष्कर्ष निकालता है। प्रत्येक निष्कर्ष अपनी-अपनी अपेक्षा तथा धरातल के अनुसार सच्चा होता है।

सामाजिक समता के रूप में जैन धर्म ने ब्राह्मण और अन्त्यज, पुरुष और स्त्री में कोई भेद नहीं किया।

यहाँ कर्म-सिद्धान्त के रूप में कर्म और फल का स्वाभाविक कारण-कार्य भाव बताया गया है। उस पर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियन्त्रण नहीं माना गया। साथ ही बताया गया है कि चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति देवताओं का भी पूजनीय हो जाता है।

स्वच्छन्दता

बुद्धिजीवी वर्ग बाह्य क्रियाकाण्ड को महत्त्व नहीं देता। वह चित्त-शुद्धि को लेकर चलता है। दूसरी ओर साधारण वर्ग क्रियाकाण्ड में उलझा रहता है। वहाँ उत्कृष्टता का मापदण्ड बाह्य आचार बन जाता है। जब धर्म-संस्थाओं में प्रतिस्पर्द्धा चल पड़ती है तो दिखावे के लिए क्रियाकाण्ड उत्तरोत्तर जटिल, शुष्क और विस्तृत होता जाता है। फल-स्वरूप जीवन में नीरसता आने लगती है।

ईसा की प्रथम सहस्राब्दी तक बुद्धिजीवी वर्ग में दार्शनिक विचारों का विकास हुआ, दूसरी ओर सर्वसाधारण में बाह्य क्रियाकाण्ड का। जीवन निर्जीव मर्यादाओं में जकड़ा गया। इसकी प्रतिक्रिया वाममार्ग में हुई। उसने समस्त मर्यादाओं को सारहीन बताया। हम किसी को अच्छा कहते हैं, किसी को बुरा; किसी को पवित्र, किसी को अपवित्र; किसी को पुण्य, किसी को पाप। प्रस्तुत परम्परा ने इन सब मर्यादाओं को पाश, अर्थात् बन्धन बताया और कहा कि जो व्यक्ति इनमें फँसा है, वह जीव है और जो इनसे छूट गया, वह परमात्मा :

घृणा दया भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च जातिश्चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।

इस परम्परा ने सामाजिक मर्यादाओं को भी बन्धन माना। उसका कथन है कि मूत्र और पानी, भोजन और विष्ठा, ब्राह्मण और शूद्र, माता और पत्नी में भेद नहीं रखना चाहिए। सर्वसाधारण में इस अभेदबुद्धि का दुरुपयोग भी हुआ और धर्म ने उच्छृंखलता का रूप ले लिया।

इस धारा का प्रतिपादक तन्त्र-साहित्य है। ईसा की दशम शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक यह भारतीय संस्कृति का मुख्य अंग रहा है। प्रत्येक परम्परा में तन्त्र-साहित्य की रचना और मन्त्रविद्या का विकास हुआ। ऐसी परम्पराएँ भी चलीं जहाँ गुरु का स्थान नारी को दिया जाता है।

उपर्युक्त विभाजन प्रारम्भ की दृष्टि से किया गया है। प्रत्येक परम्परा जब संघटन का रूप ले लेती है तो उसका मुख्य लक्ष्य प्रचार एवं अनुयायियों को स्थिर रखना हो जाता है। प्रचार के लिए एक ओर प्रलोभन दिए जाते हैं दूसरी ओर रुचिकारक तत्त्वों को अपनाया जाता है। इसी के लिए स्वर्ग एवं अगले जन्म के प्रलोभन दिए गए। साथ ही प्रत्येक परम्परा ने भक्ति पर बल दिया। जन-मानस सिद्धान्तों को नहीं समझता। इसके लिए कुछ परम्पराओं ने पुस्तक-निष्ठा पर बल दिया। किन्तु व्यक्तिनिष्ठा पुस्तक से भी अधिक शक्तिशाली होती है। फलस्वरूप प्रत्येक परम्परा में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि के रूप में व्यक्ति धर्म का केन्द्र बन गए। आदर्श के विरुद्ध होने पर भी उनके साथ रोचक बातें जोड़ी गईं। श्रद्धालु वर्ग को स्थिर रखने के लिए नरक का भय दिखाया गया। फलस्वरूप स्वतन्त्र विचार पर प्रतिबन्ध लग गया।

श्रद्धालु परिवार में उत्पन्न हुए बालक के मन में जब परम्परागत धारणाओं के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है, उसी समय नरक के दृश्य आँखों के सामने घूमने लगते हैं। किसी में इसकी प्रतिक्रिया बौद्धिक दमन के रूप में होती है और किसी में अमर्याद उच्छृंखलता के रूप में।

प्रत्येक परम्परा ने अपने को पूर्णांग बनाना चाहा। फलस्वरूप स्वस्थ तत्त्वों का आदान-प्रदान भी हुआ। भक्तिवाद में भक्ति की मुख्यता रहने पर भी चरित्रशुद्धि के सभी तत्त्व आ गए। ज्ञानवादी परम्पराओं ने भक्ति एवं चरित्र को प्रारम्भिक भूमिकाओं के रूप में स्वीकार कर लिया। पतञ्जलि ने योग के जो आठ अंग बताए हैं उनमें प्रायः सभी का समावेश हो जाता है।

●

प्रज्ञापारमिता में आर्य-सत्यों का अवदान

सी० आर० लामा

मुक्ति-हेतु जो लोग साधना करते हैं उनका कर्तव्य है कि गुरु की तन-मन-धन से सेवा करें। गुरु की कृपा से हमें ऐसा ज्ञान मिलेगा कि हम उसके सहारे भव-कर्म, धर्म तथा अन्य सभी अनित्य वस्तुओं से मुक्त हो जाएँगे। तीन दुर्गतियों—(नरक, प्रेत तथा तिर्यक्) को दुःख समझना चाहिए तथा ऐसा उपाय करना चाहिए कि दूसरे जन्म में इन सबसे मुक्ति मिल सके। संसार में सर्वत्र दुःख का ही स्वभाव निहित है। कहीं भी शान्ति नहीं है। इस संसार में सभी लोग दुःख से पीड़ित हैं। इस प्रकार सबको दुःखी देख मुझे कष्ट होता है। इस संसार के कष्ट को हम सहन नहीं कर सकते हैं। जिन प्राणियों को कष्ट होता है, उनमें महाकरुणा का भाव उत्पन्न होता है। उनमें एक नये प्रकार की अनुभूति होती है।

आर्य-दुःख-सत्य क्या हैं, इसे परिकल्पित लक्षण, परतन्त्र लक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण द्वारा जाना जा सकता है।

परिकल्पित लक्षण

(क) **परिकल्पित लक्षण**—दुःख-समुदाय पैदा होने के लिए कर्म-क्लेश-संस्रव के भाव को आर्य-दुःख-सत्य कहते हैं। इसमें दो समास करना है। इसमें पुद्गल और कर्म हैं। (अ) पुद्गल महायान के मार्ग से संभर मार्ग वाले पुद्गल, संयुक्त मार्ग वाले पुद्गल, हीनयान के मार्ग से पाँच मार्गों—संभर, संयोग, दर्शन, साधना, अर्हत् तक—को विपाक वाला पुद्गल कहते हैं। (आ) कर्म—पाप-पुण्य विहीन कार्य को कर्म कहते हैं। पुद्गल मार्ग स्कंध, क्लेश चार हैं।

(अ) कर्म और क्लेश से उत्पन्न पुद्गल होना चाहिए। (आ) यह मार्ग अविद्या के कारण सत्य-ग्रह से उत्पन्न संभर मार्ग और संयोग दोनों मार्गों का संस्रव है। स्कंध महायान के आर्य के मनोनुकूल पाँच उपादान स्कंध हैं। क्लेश महायान आर्य के हृदय का क्लेश होना चाहिए।

(ख) **परतन्त्र लक्षण**—जिसमें पाँच उपादान स्कंधों तथा संस्रव हैं। (अ) परि-

निष्पन्नलक्षण बाहर-भीतर दो होते हैं। पहले का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है तथा दूसरे का सम्बन्ध आन्तर जगत् से है। पहला संसार है, दूसरा भीतरी प्राणी।

चार आर्य-दुःख-सत्यों के चार आकार—अनित्य, दुःख, शून्य, अनात्मा। संस्रव पाँच उपादान स्कंध हैं। ये सर्वदा अनित्य होते हैं। सर्वदा एक ही स्थिति में नहीं रहते हैं। अपनी इच्छानुसार न होने के कारण कर्म और क्लेश के भीतर नहीं हैं। इसी कारण दुःख भोगना पड़ता है। इस प्रकार अनित्य, अद्वय तथा अनात्म-भाव से वह आत्मा शून्य है। आत्मा से भी शून्य है। इसी कारण उसे शून्य कहा जाता है। वह स्वयं स्थिर नहीं रह सकता, इसी कारण वह अनात्मा है।

आर्य-दुःख-समुदाय किसे कहते हैं ?—इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए परिकल्पित लक्षण, परतन्त्र लक्षण विभाग का ज्ञान आवश्यक है। कर्म-क्लेश द्वारा उत्पन्न दुःख वाले संस्रव को भाव कहते हैं। इसमें समास और विभाग भी दो भिन्न वस्तुएँ होती हैं। महायानी मार्ग में प्रवेश हुए वोधिसत्त्व संभर मार्ग वाले तथा पुद्गल के चित्त में सभी क्लेश बसते हैं।

परिकल्पित लक्षण

(क) **कर्म और क्लेश संयुक्त**—कर्म और क्लेश को नष्ट करने वाला प्रत्यक्ष कहलाता है। महायानी और हीनयानी पुद्गल-मार्ग में प्रवेश करने से आरम्भ कर अर्हत् तक को चित्त के वश करना ही इस संसार में जन्म लेने का मुख्य उद्देश्य है। कुशल कर्मों को करना तथा पाप-कर्म से वंचित रहना ही जीवन का मूल उद्देश्य समझना चाहिए।

(ख) **हृदय या मति**—संसार में जन्म लेने के लिए हृदय आदि का योग होना आवश्यक है।

(ग) **समास**—कर्म और क्लेश (क) महायानी आर्यों का चित्तवश ही क्लेश होता है। (ख) अन्य कर्म उनके कर्म द्वारा होता है।

परतन्त्र लक्षण—इसमें तृष्णा आदि का संयोग रहता है। परिनिष्पन्न लक्षण—१—कर्म, २—क्लेश।

आर्य-दुःख-सत्य-समुदाय सत्य के ही चार आकार हैं: १—हेतु, २—समुदाय, ३—प्रभाव, ४—कारण। (क) हेतु-दुःख-समुदाय उत्पन्न होने का मूल कर्म और क्लेश दोनों हैं। इन दोनों से परजन्म ही होता है अन्यथा उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी। यही चित्त को वश में करने का मूल है। इसका कारण हेतु कहलाता है। (ख) समुदाय षट्-कुलों के स्थान पर नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य, सुर-असुर—पुनः-पुनः पैदा होने के लिए कार्य करता है। उसे समुदाय कहा जाता है। (ग) विभिन्न प्रकार के स्थानों पर विभिन्न प्रकार के लोग जन्म लेते हैं इसी कारण प्रभव होता है। तृष्णा के जन्म लेने में यह सहायक

सिद्ध होता है। इसका मूल कारण हेतु कहलाता है।

आर्य-निरुद्ध-सत्य किसे कहते हैं—इसके भी तीन भेद हैं : परिकल्पित लक्षण, परतन्त्र लक्षण, परिनिष्पन्न लक्षण।

परिकल्पित लक्षण—निरुद्ध सत्य प्राप्त करने के लिए समाधिज्ञान, समाहित ज्ञान, आनन्तर्य मार्ग, विषय, पाप और क्लेश-वृत्ति त्याग करने के प्रतिकल्प को निरुद्ध कहते हैं। लक्षणमूल—क्लेश, वृत्ति-रहित जो धर्मता है उसे लक्षणमूल कहते हैं। उसी धर्मता से विमुक्ति मार्ग अर्थात् बोधि-अभिमुख हो जाता है। **परिनिष्पन्न लक्षण दो प्रकार** के हैं : **महायान और हीनयान**। १. महायान आर्य के चित्त का निरुद्ध है। और २. हीनयान आर्य के चित्त का निरुद्ध-सत्य है।

आर्यनिरुद्ध के चार आकार हैं—शान्ति, नित्यता, नित्य। (क) जो सभी दुःखों से रहित है, अतः वह निरुद्ध है। (ख) जो सभी क्लेशों से परे है वह शान्तिप्राप्त है। (ग) दुःख तथा दुःख-हेतु से रहित है, इसीलिए उसमें स्थायी गुणों की प्रधानता है, फलस्वरूप वह नित्य है। (घ) दुःख और क्लेश पैदा करनेवाला धर्मता नहीं है, इसीलिए वह निरुद्ध है।

आर्य मार्ग सत्य

लक्षण, लक्षणमूल, विभाग इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। चित्त के मूलतः दो भाग हैं—हीनयान वाले **जेजोंड** का आविर्भाव है वही चित्त भी कहलाता है। २—महायानी पुद्गल बोधिचित्त है। ३—मार्ग में हीनयान और महायान दो आते हैं। इनमें हीनयान का मार्ग तीन प्रकार की शिक्षा तथा आर्य अष्टांग-संयुक्त है। महायान के मार्ग में छः प्रज्ञापारमिताएँ हैं।

समास—इसमें ज्ञान और सम्बन्ध दो मार्ग हैं। ज्ञान में समाधिज्ञान तथा विमुक्ति-ज्ञान मार्ग, अनुलोमज्ञान, युक्तयोगनज्ञान और समाधि दोनों पक्षों से हीन ज्ञान है। यही मार्ग है। समाधि अनुलोमज्ञान-रहित मार्ग तथा अशिक्षामार्ग है। जो समाधिज्ञान है वही हीनयान या महायान आर्य के समाधिज्ञान, विपक्षरहित मार्ग के अतिरिक्त समाधि ज्ञान है।

परतन्त्र लक्षण—विपक्षरहित ज्ञान को हीनयान तथा महायान आर्य की साधना कहते हैं। **विभाजन** : आर्यशिक्षा-मार्ग तथा आर्यअशिक्षा-मार्ग दो प्रकार का है। आर्य शिक्षा-मार्ग महायान या हीनयान जिस किसी का भी दर्शन या साधना-मार्ग है। इसमें हीनयान तथा महायान दो वर्ग हैं। हीनयान के अशिक्षामार्ग में रहनेवाले अर्हत् के ज्ञान को मार्ग कहा जाता है। महायान की शिक्षा में रहनेवाले बोधिप्राप्त के ज्ञान को कहते हैं। **आर्य-मार्ग-सत्य के चार आकार हैं**—मार्ग, विद्या, साधना, नैर्य्याणिक—

(क) अनात्मा कल्प-प्रज्ञाज्ञान अपना फल प्राप्त करने में महायान, हीनयान, प्रत्येक बुद्धयान सभी को एक मार्ग माना जाता है। (ख) अविद्या को प्रत्यक्ष कहते हैं। अनात्मा की स्थिति स्पष्ट मालूम हो जाती है। इसी कारण उसका नाम विद्या कहलाता है। (ग) मिथ्या दृष्टि में उलटे रास्ते जाने वाली आत्मा ग्रहण चित्त को छोड़ देती है; और अनात्मा की स्थिति में साधना करने पर अनात्मा प्रज्ञाज्ञान-अभिमुख हो जाता है। (घ) संसार में फिर नहीं आने पर भी मुक्ति प्राप्त करता है। इसी कारण वह नैर्य्याणिक है।

सम्यक् दृष्टि— कायिक, वाचिक, मानसिक तथा अच्छे-बुरे कर्मों के ज्ञान का उचित ज्ञान ही है। संसार के दुःखों का निरोध ही ज्ञान-दृष्टि कहलाता है। इसके लिए राग, हिंसा-प्रतिहिंसा-रहित होना अनिवार्य है। स्वार्थ या अन्य किसी कारणवश हमें कुकर्म नहीं करना चाहिए। अपनी इन्द्रियों पर संयम करना तथा अच्छी भावनाओं को जन्म देना ही मानव का उचित कर्म जान पड़ता है। काया, वेदना, चित्त तथा मन के धर्मों को उचित स्थान देना ही सर्वोत्तम कार्य है।

केवल अपने-आपको इस संसार से मुक्त करना या उस प्रकार की बात सोचना स्वार्थपूर्ण कर्म है। जिस प्रकार माँ जन्म देती है या दिया है, उसी प्रकार सभी प्राणियों ने मेरा जन्म दिया है ऐसा सोचना चाहिए। सभी प्राणियों को निःस्वार्थ-भाव से सांसारिक दुःखों तथा क्षान्ति से मुक्त होकर बुद्ध के परमपद को प्राप्त करना चाहिए। लेकिन केवल बोधिचित्त उत्पन्न करने से ही बोधि की प्राप्ति नहीं होती। परमबोधि फल धर्मकाय तथा रूपकाय से युक्त है। इन दोनों को प्राप्त करने के लिए द्विवर्ग, पुण्यवर्ग तथा ज्ञानवर्ग की साधना प्रयत्न द्वारा करनी चाहिए। आलम्बन—पुण्यवर्ग तथा ज्ञानवर्ग में दानपारमिता तथा शीलपारमिता दो हैं। निरवलम्ब ज्ञानमार्ग में प्रज्ञापारमिता का स्थान है। क्षान्ति-पारमिता, वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता—ये तीनों दान-वर्ग के पर्याय हैं। इन द्विवर्गों की प्राप्ति के लिए छः पारमिताओं का ध्यान करना आवश्यक होता है। इस द्विवर्ग के मार्ग द्वारा दोनों काय प्राप्त होते हैं।

पुण्यवर्ग—उपादान प्रत्यय तथा ज्ञानवर्ग सहकारी प्रत्यय होकर बुद्ध के रूपकाय को प्राप्त होता है।

ज्ञानवर्ग—उपादान-प्रत्यय तथा पुण्यवर्ग सहकारी प्रत्यय प्राप्त कर बुद्धज्ञान को प्राप्त होता है। दुःखपूर्ण जीवन का जन्म लेने हेतु कर्म और क्लेश, दोनों का त्याग करना आवश्यक है। कर्म तथा क्लेश का त्याग करने पर इस जगत् में बार-बार जन्म नहीं लेना पड़ता। क्लेश में भी छः मूल क्लेश हैं। उनके भी बहु भेद हैं। ये सभी क्लेश के मूल आत्मग्रह—अविद्या हैं। इस मूल अविद्या को त्यागने पर अन्य क्लेशों का जन्म नहीं होता।

क्लेश में छः मूल या प्रधान क्लेश तथा बीस और हैं। ये सभी क्लेश अस्मितारूप

अविद्या के कारण उत्पन्न होते हैं। यदि इस मूल अविद्या को त्यागा जा सके तो सभी क्लेशों से मुक्ति मिल सकती है। यह आत्म-ग्राह्य अविद्या को त्यागने का एकमात्र उपाय या मार्ग अनात्म-प्रज्ञाज्ञान ही उत्तम मार्ग है।

यहाँ पर प्रज्ञा की साधना करने के लिए ध्यान या समाधि की आवश्यकता होती है। समाधि की विशुद्धि भी शील से होती है। संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विचार द्वारा प्रतिमोक्ष प्राप्त करने के लिए सांसारिक नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है।

इसी शील के आधार पर चार आर्य-सत्यों का वृत्तान्त—दृष्टिविषयक—इसमें एक शिखर में मन स्थिर करना ही समाधि कहलाता है। इस समाधि द्वारा चार आर्यसत्यों के सोलह वृत्तान्त दृष्टि-विषयक, द्वादश प्रतीत्यसमुत्पाद तथा छः पारमिताओं द्वारा अनात्म्य-प्रज्ञा की जानकारी से संसार तथा निष्ठा-क्षान्ति के दुःख से मुक्ति मिल सकती है।
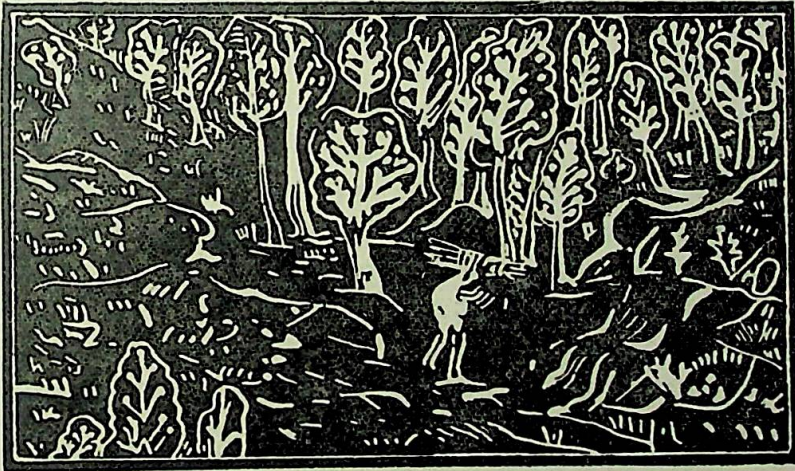
तथागत का स्वरूप

डॉ० लालमणि जोशी

प्राचीन सिंहली एवं पालि-साक्ष्यों के आधार पर आधुनिक इतिहासकारों ने शाक्य-कुमार बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम का जन्म ६२४ ई० पूर्व और शाक्यमुनि बुद्ध का महापरिनिर्वाण ५४४ ई० पूर्व में हुआ माना है। एक चीनी परम्परा के आधार पर उक्त घटनाओं की तिथि क्रमशः ५६६ ई० पूर्व और ४८६ ई० पूर्व निर्धारित की गयी है। ईसा-पूर्व की चौथी व तीसरी शतियों के ब्राह्मी अभिलेख शाक्यमुनि की ऐतिहासिकता को सर्वथा सन्देह-मुक्त कर देते हैं। अतएव गौतम बुद्ध एक ऐतिहासिक पुरुष थे और उन्होंने छठी शती ई०-पूर्व के प्रथम दशक में इसी प्राचीन वाराणसी नगरी के उपवन ऋषिपत्तन में प्रथम धर्मोपदेश किया था। यह असन्दिग्ध एवं निर्विवाद तथ्य है। परन्तु बौद्ध धर्मदर्शन के विकास के प्रथम पन्द्रह सौ वर्षों में तथागत अथवा बुद्ध-उपाधि के अन्तर्गत जिस वस्तुसत् के विचार का क्रमिक विकास हुआ वह स्वलक्षणतः कालातीत, प्रपंचातीत और लोकातीत है। यद्यपि बौद्ध दर्शन में परमार्थ की दृष्टि से बोधिसत्त्व की अवक्रान्ति और सम्यक्सम्बुद्ध का महापरिनिर्वाण-प्रसंग वाक्य-मात्र हैं, तथापि व्यवहार की दृष्टि से तथागत-विषयक विचारों के विकास का इतिहास जान लेना समीचीन होगा।

पालि-साहित्य में शाक्यमुनि की जीवनी-विषयक प्राचीनतम सूचना सम्भवतः सुत्तनिपातान्तर्गत पब्बज्जासुत्त, मज्झिमनिकायान्तर्गत पासरासि अथवा अरियपरियेसन-सुत्त एवं महावग्गान्तर्गत महाखन्धक के प्रारम्भिक परिच्छेदों में उपलब्ध है। इन सुत्तों में बोधिसत्त्व और सम्यक्सम्बुद्ध दोनों स्वरूपों का दर्शन होता है। हम यहाँ पर केवल सम्यक्-सम्बुद्ध के स्वरूप की चिन्ता करेंगे। ब्रह्मायाचनकथा के प्रसंग में अजपालनिग्रोधमूल में ध्यानस्थ भगवान् द्वारा इतिवुत्तक सर्वप्रथम विचारणीय है :

"अधिगतो खो म्यायं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पण्डितवंदनीयो। आलयरामा खो पनायं पजा आलयरता आलसम्मुदिता। आलयरामाय खो पन पजाय आलयरताय आलयम्मुदिताय दुद्दसं इदं ठानं यदिदं इद पच्चयतापटिच्चसमुप्पादो; इदं पि खो ठानं सुदुद्दसं यदिदं सब्बसङ्खारसमथो सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो तण्हक्खयो विरागो, निरोधो निब्बानं"[1] बुद्ध-प्रोक्त उक्त उदान इन्हीं शब्दों में

१. महावग्गपालि (नालन्दा-संस्करण), पृ० ६; मज्झिमनिकाय, खण्ड १ (नालन्दा-सं०), पृ० २१७।

'मज्झिमनिकाय' में तथा साधारण शब्दान्तर के साथ 'ललितविस्तरसूत्र', 'महावस्तु-अवदान' तथा 'प्रसन्नपदा' में भी सुरक्षित हैं। यहाँ पर बुद्ध द्वारा साक्षात्कृत परमार्थ को 'धम्मो' कहा गया है। यही धर्म 'पटिच्चसमुप्पाद' और 'निब्बान' भी कहा गया है। धर्म और बुद्ध का तादात्म्य अन्यत्र पालि एवं संस्कृत श्रुति-संहिताओं में सुविदित है। उदाहरणार्थ, भगवान् ने आयुष्मान वक्कलि से कहा कहा था—

"यो खो वक्कलि, धम्मं पस्सति सो मं पस्सति; यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति। धम्मं हि, वक्कलि, पस्सन्तो मं पस्सति; मं पस्सन्तो धम्मं पस्सति।"[2] 'महाहत्थिपदोपम-सुत्त' में धर्म का तादात्म्य प्रतीत्यसमुत्पाद के साथ किया गया है: "वुत्तं खो पनेतं भगवता—यो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति; यो धम्मं पस्सति सो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति।"[3] हम ऊपर देख चुके हैं कि इस धर्म अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद को सूक्ष्म, विज्ञवेदनीय एवं अतर्कावचर कहा गया है। शालिस्तम्बसूत्र में बुद्ध, धर्म तथा प्रतीत्यसमुत्पाद का समीकरण करके उक्त पालि-वाक्यों का सार प्रस्तुत किया गया है। बोधिसत्त्व मैत्रेय भदन्त शारिपुत्र से कहते हैं: "यदुक्तं भदन्त शारिपुत्र भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन—यो भिक्षुः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति।"[4] इस वाक्य में ध्यातव्य शब्द 'सर्वज्ञ' है। पालि-निकायों में अनेक स्थानों पर शाक्यमुनि का चित्र इस प्रकार प्रतिवेदित किया गया है: भगवन्तं गौतमं एवं कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुग्गतो—"

"इति पि सो भगवा अरहं सम्मसम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविद् अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा' ति।" "सो इमं लोकं सदेवकं समारकं सब्रह्मकं सस्समणब्राह्मणिं पजं सदेवमनुस्सं सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेति। सो धम्मं देसेति आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं कवेलं-परिपुराणं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेति। साधु खो पन तथारूपानं अरहतं दस्सनं होती।"[5] इस वाक्य में श्रमण गौतम को भगवत्, अर्हत्, सम्यक्सम्बुद्ध, सुगत, लोकविद्, अनुत्तर, देवताओं व मनुष्यों का शास्ता, बुद्ध, सर्वथा कल्याणकारी, परमार्थ की देशना करने वाला और निर्वाणगामिनी प्रतिपदा में अग्रसर होने वाले व्यक्तियों के लिए अमोघपथप्रदर्शक कहा गया है। ऐसे रूप को देखना साधुकर है, इस वाक्य द्वारा बुद्धि-भक्ति की ओर संकेत होता

तु० ललितविस्तर (दरभंगा-संस्करण), पृ० २८९; महावस्तु (पेरिस-संस्करण) जिल्द ३; प्रसन्नपदा (दरभंगा-संस्करण), पृ० २१७।

२. संयुत्त०, खण्ड २, पृ०, ३४१।

३. मज्झिम०, खण्ड १, पृ० २४१।

४. महायान सूत्रसंग्रह, प्रथम खण्ड दरभंगा-(संस्करणम्), पृ० १००; तुल० बोधिचर्यावतार-पंजिका, १०, १४ (पृ० १८१)।

५. मज्झिम०, खण्ड ३, पृ० ३९४, तुल० वही, खण्ड १, पृ० ३२८

है[६]। उक्त वर्णन में 'तथागत' शब्द नहीं आया है जोकि हमारे निवन्ध का शीर्षक है। हमारी दृष्टि में 'तथागत' शब्द ऐतिहासिक महत्त्व का है और ऐतिहासिक प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है। विपस्सी, सिखी, वेस्सभू, ककुसन्ध, कोणागमन, तथा कस्सप नाम के इन छः बुद्धों का 'संयुत्तनिकाय' के निदानसंयुत्त और 'दीघनिकाय' के महापदानसुत्त में उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि गौतम बुद्ध से पूर्व पुरैतिहासिक युग में बौद्ध परम्परा के श्रमण थे।[७] इन श्रमणों अथवा मुनियों से वैदिक वाङ्मय अपरिचित नहीं है, परन्तु इनके पालि-ग्रन्थों में दिए गए नाम वैदिक ग्रन्थों में अनुपलब्ध हैं। इस प्रसंग में हड़प्पा व मोहिनजोदड़ो के उत्खनन में उपलब्ध ध्यानमग्न मुनियों की मूर्तियाँ स्वतः ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं[८]। वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित वातरशनामुनि, भिक्षु आङ्गिरस, यति तथा वैखानस तपस्वी भी श्रमण-संस्कृति के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं[९]। चातुर्याम के उपदेष्टा पार्श्वनाथ का समय आठवीं शती ईसा-पूर्व माना गया है। पालिबुद्धवंस व 'जैन त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित' आदि ग्रन्थों में वर्णित सभी बुद्ध व जिन ऐतिहासिक नहीं थे। परन्तु गौतम बुद्ध व वर्धमान जिन के आविर्भाव से पहले बौद्ध व जैन विचारों के प्रवक्ता मुनि व श्रमण थे, ऐसा पालि, प्राकृत व संस्कृत-ग्रन्थों से विदित होता है। इस परम्परा की आंशिक पुष्टि ३०० ई० पू० के अशोक के निगालीसागर स्तम्भाभिलेख, २०० ई० पूर्व के भरहुत वेदिका के शिलालेखों तथा दूसरी शती ई० की कुषाणकालीन मथुरा से प्राप्त काश्यप बुद्ध की साभि-लेख पाषाण-मूर्ति से भी होती है। यह विषय इतिहास की दृष्टि से गवेषणीय है। यहाँ पर तथागत शब्द का अर्थ विचारणीय है। इसका अर्थ "वैसे ही या उसी प्रकार (तथा) आया या आ पहुँचा (आगत)" है। किस प्रकार आया? जिस प्रकार पूर्वकाल के मुनि (पुब्बा भगवन्तो) आये थे। स्मरणीय है कि शाक्यमुनि की भाँति उक्त छः बुद्धों को भी सम्यक्सम्बुद्ध और पटिच्चसमुप्पाद का द्रष्टा कहा गया है। इन सभी बुद्धों की विशेषताओं को तथागतों की 'तथता' अथवा 'धर्मता' कहा गया है। शाक्यमुनि को 'इसीनं इसिसत्तमो' कहना तभी सार्थक है जब हम उनके पहले के छः सुगतों को ध्यान में रखें। स्वयं शाक्य बुद्ध ने कहा है: "एवमेव ख्वाहं, भिक्खवे, अद्दसं पुराणं मग्गं पुराणञ्जसं, पुब्बकेहि सम्मासम्बुद्धेहि अनुयातं"। यह पुरातन मार्ग पूर्व-प्रादुर्भूत बुद्धों का मार्ग था और इनके मार्ग से इन्हीं की भाँति चलने के कारण वह तथागत कहाये। परन्तु 'पासादिकसुत्त'

---

६. बुद्ध-भक्ति की ओर असंदिग्ध संकेत 'बुद्धं सरणं गच्छामि' अथवा 'गौतमं सरणं गच्छामि' तथा 'नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स' आदि स्तुति शब्दों में द्रष्टव्य हैं।

७. संयुत्त०, खण्ड २, पृ० ६-१०; दीघ०, खण्ड २, पृ० ४-३५।

८. जॉन मार्शल, मोहिनजोदड़ो तथा सैन्धव सभ्यता, खण्ड १, फलक चित्र १२ (१७)।

९. द्र० लालमणि जोशी, सातवीं व आठवीं शतियों की भारतीय बौद्ध संस्कृति (दिल्ली १९६७), पृ० ४१५-१६ व ४१८।

में तथागत शब्द की निम्नलिखित व्याख्या की गई है : "अतीतानागतपच्चुप्पन्नेसु धम्मेसु तथागतो कालवादी (सच्चवादी) भूतवादी अत्थवादी धम्मवादी विनयवादी, तस्मा 'तथागतो' ति वुच्चति।[१०]" लगभग इसी प्रकार के शब्दों में 'वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र' में भी तथागत का उल्लेख किया गया है; "भूतवादी सुभूते तथागतः, सत्यवादी तथा-वादी अनन्यथावादी तथागतः, न वितथवादी तथागतः।[११]" तथागत का सुविदित विरुद अर्हत् है। बौद्ध साहित्य में सम्यक्सम्बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध तथा अर्हत् तीन श्रेणी के मुक्त पुरुषों की कल्पना की गयी है। यद्यपि सम्यक्सम्बुद्ध को भी अर्हत् कहा गया है, परन्तु शीघ्र ही बौद्धों के प्राचीन निकायों में इस विषय पर मतभेद बढ़ गया था। तिब्बती साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि दूसरी संगीति में वाद के विषय वैशाली के श्रमणों की 'दशवस्तुएँ' न होकर महादेव नामक एक स्थविर के अर्हत्विषयक सन्देह थे। क्या अर्हत् 'अकोप्य' है? क्या अर्हत सर्वदा-सर्वथा 'अवैवर्त्य' अवस्था में रहते हैं? कुछ महासांघिकों ने इन प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में और कुछ स्थविरवादियों ने 'हाँ' में दिया था। छठी शती ई० के एक अभिलेख से बंगाल में 'अवैवर्तिक संघ' के विहार की सत्ता प्रमाणित होती है[१२]। इस प्रसंग में बोधिसत्त्व की 'अचला' भूमि का सिद्धान्त भी ध्यातव्य है। महायान सूत्रों व शास्त्रों में अर्हत् तथा सभी बुद्धों का स्थान स्पष्टरूपेण सम्यक्सम्बुद्ध से निम्नतर बताया गया है। परन्तु स्थविरवादी पालि-ग्रन्थों में भी शाक्यमुनि के महापरिनिर्वाण के पश्चात् अर्हतों को सम्यक्सम्बुद्ध से निम्नतर कोटि का समझा जाने लगा था। अर्हतों को बहुधा 'श्रावक' कहा गया है। अर्हत् का अर्थ है 'योग्य', निर्वाण-प्राप्ति की अर्हताएँ रखने वाला 'पुद्गल'। 'महा-प्रज्ञापारमिता शास्त्र', 'अभिधर्मकोशभाष्य' तथा 'अभिसमयालंकार-आलोकव्याख्या' आदि ग्रन्थों में 'अरि' का हनन करने वाले आर्यपुद्गल को अर्हत् कहा गया है। आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—"हतारित्वात् अर्हन्तः[१३]।" 'सद्धर्मलङ्कावतारसूत्र' में अर्हत् की निम्नलिखित परिभाषा दी गयी है—"अर्हन् पुनर्महामते ध्यानध्येयसमाधि-विमोक्ष-बल-अभिज्ञा-क्लेश-दुःख-विकल्प-अभावादर्हन्नित्युच्यते[१४]।" क्षीणाश्रव वस्तुतः अर्हत् का नामान्तर है। काम, भव, अविद्या और दृष्टि, ये आश्रव ही अरि हैं। चतुर्विध ध्यान, चतुर्विध समाधि, त्रिविध

---

१०. दीघ०, खण्ड ३, पृ० १०४।

११. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, लेखक द्वारा सम्पादित (यन्त्रस्थ), अध्याय १४।

१२. लालमणि जोशी, सातवीं व आठवीं शतियों की भारतीय बौद्ध संस्कृति, पृ० ४२।

१३. ई० लामोत द्वारा अनूदित महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, पृ० १२७; ला वाली पूसें द्वारा सम्पादित अभिधर्मकोश, खण्ड ६, पृ० २३०; प० ल० वैद्य द्वारा सम्पादित बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली—४, पृ० २७३।

१४. सद्धर्मलङ्कावतारसत्र (दरभंगा-संस्करण), पृ० ४९।

विमोक्ष, पंचविध बल, पंचविध अभिज्ञा की प्राप्ति और षट्‌विध क्लेश[१५], और सर्वप्रकार के दुःखों से निवृत्ति अर्हत की उपलब्धियाँ हैं। मार अथवा मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले महावीर व जिन बुद्ध से अभिन्न हैं। परन्तु अर्हतों व प्रत्येक बुद्धों से पृथक् करने की दृष्टि से बुद्ध को अनुत्तर तथा सम्बुद्ध, सम्बोधिप्राप्त, कहा गया है। महापुरुष के बत्तीस लक्षण तथा अस्सी अनुव्यंजन भी तथागत की रूपकाय की विशेषताएँ मानी गयी हैं।[१६] परन्तु दार्शनिक दृष्टि से इन लक्षणों का महत्त्व नगण्य है। बुद्ध के दश बलों, अष्टादश आवेणिक धर्मों, उनकी महाकरुणा, जातक-कथाओं में संकेतित उनकी दीर्घकालीन बोधिचर्या, और उनकी सर्वज्ञता की चर्चा तथाकथित हीनयान के पालि व संस्कृत-ग्रन्थों में सुविदित है।[१७] यह उल्लेख्य है कि आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के मंगलाचरण में बुद्ध को सर्वप्रकार की अविद्या का सर्वथा विनाश करने वाला मानकर उन्हें प्रणाम किया है :

"यः सर्वथा सर्वहतान्धकारः संसारपङ्काज्जगदुज्जहार।
तस्मै नमस्कृत्य यथार्थशास्त्रे शास्त्रं प्रवक्ष्याम्यभिधर्मकोशम् ।।"

अविद्या के सम्पूर्ण विनाश से ही सम्बोधि का लाभ होता है। सम्बोधि-प्राप्ति ही सर्वज्ञता है। यदि गौतम बुद्ध सम्बुद्ध थे तो वह सर्वज्ञ भी थे। 'कालिंगबोधिजातक' में कहा गया है : "सब्बञ्ञ सब्बविदू च बुद्धा न लक्खणेन जानन्ति।[१८]" अतएव मात्र महापुरुष-लक्षणों से कोई तथागत नहीं हो जाता। बुद्ध को सम्बुद्ध और सत्य अथवा सत्ता (रियलिटी) का शीर्ष कहा गया है : "अग्गं सत्तस्स सम्बुद्धं।[१९]" अग्गं सत्तस्स का वही अर्थ है जो महायान ग्रन्थों में 'परमार्थ' व 'भूतकोटि' का है। आचार्य प्रज्ञाकरमति ने लिखा है—"परमः उत्तमः अर्थः परमार्थः, अकृत्रिमं वस्तुरूपम्, यदधिगमात् सर्वावृत्तिवासनानुसंधिक्लेश-प्रहाणं भवति। सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटिः धर्मधातुरित्यादि-पर्यायाः।[२०]" यह समझना भ्रान्तिमूलक होगा कि बुद्ध के स्वरूप का यह गम्भीर दार्शनिक विचार महायान अथवा परवर्ती काल के बौद्ध विचारकों की देन है। 'सब्बञ्ञू सब्बविदू च बुद्धा न लक्खणेन जानन्ति' यह वाक्य कालिंगबोधिजातक में उपलब्ध है। मज्झिम-निकाय में एक स्थल पर कहा गया है : "अयं सत्था सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाण-

---

१५. इनकी सूची के लिए देखिए धर्मसंग्रह (महायानसूत्रसंग्रह, प्रथम खण्ड), पृ० ३२७-३६।

१६. द्र० दीघ०, खण्ड ३, लक्खणसुत्त; धर्मसंग्रह, ८३-८४; अर्थविनिश्चयसूत्र, २६-२७; एन० एच० सामतानी-कृत निबन्धभारती, भाग ६ (१९६२-६३), पृ० १-२०।

१७. द्र० मज्झिम०, खण्ड १, पृ० ९८-१०२, जातकट्ठकथा; महावस्त अवदान; हरदयाल-कृत 'संस्कृत बौद्ध साहित्य में बोधिसत्त्व-सिद्धान्त'।

१८. खुद्दक०, खण्ड ३, पृ० २५८।

१९. संयुत्त० खण्ड १, पृ० २८।

२०. बोधिचर्यावतारपञ्जिका (दरभंगा-संस्करण), पृ० १७१।

दस्सनं परिजानाति"।[21] ब्रह्मा तथा शक्र तथागत की सेवा करते नहीं अघाते हैं। कई स्थलों पर भगवान् को 'आदिच्चबन्धु' कहा गया है। कुछ स्थलों पर उन्हें 'देवदेवो' भी कहा गया है।[22] परन्तु उन्हें देवता मानना भी भ्रान्ति है। वह 'देवमनुस्ससेट्ठ' है।[23] द्रोण ब्राह्मण से तथागत ने कहा था : "न खो अहं, ब्राह्मण, देवो भविस्सामी; न खो अहं, ब्राह्मण, गन्धब्बो भविस्सामी; न खो अहं, ब्राह्मण, यक्खो भविस्सामी; न खो अहं, ब्राह्मण, मनुस्सो भविस्सामी"। तदनन्तर ब्राह्मण द्रोण ने पूछा : तब आप हैं कौन ? "अथ को चरहि भवं भविस्सती ?" बुद्ध ने उसे समझाया और कहा : "सेय्यथापि ब्राह्मण, उप्पलं वा पदुमं वा पुण्डरीकं वा उदके जातं उदके संवड्ढं उदका अच्चुग्गम्म तिट्ठति अनुपलित्तं उदकेन; एवमेव अहं, ब्राह्मण, लोके जातो लोके संवड्ढो लोकं अभिभुय्य विहरामि अनुपलित्तो लोकेन। बुद्धो ति मं, ब्राह्मण, धारेही ति"। इस उत्तर की पुनरावृत्ति गाथा में भी की गयी है :

"पुण्डरीकं यथा वग्गु, तोयेन नुपलिप्पति।
नुपलिप्पामि लोकेन, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मणा॥"[24]

जो आधुनिक विद्वान् लोकोत्तरवादी महासांघिकों पर बुद्ध की लोकोत्तरता प्रतिपादित करने का आरोप करते हैं अथवा महायान सूत्रों व शास्त्रों में महायानियों को बुद्ध का दैवीकरण करने का श्रेय देते हैं वे हमारी दृष्टि में स्थविरवाद के पालि-निकायों से सुपरिचित नहीं हैं।

'महापरिनिब्बानसुत्त' में उल्लेख हुआ है कि तथागत ने खत्तियपरिसा, ब्राह्मण-परिसा, गहपतिपरिसा, समणपरिसा, चातुमहाराजिकपरिसा, तावतिंसपरिसा, मारपरिसा तथा ब्रह्मपरिसा में अनेक बार धर्मोपदेश किया था। इन परिषदों में उपदेश करते समय भगवान जो 'लीला' करते थे और उनके श्रोतागण आश्चर्यचकित होकर आपस में जो कहते थे, उसकी एक झाँकी की ओर संकेत करना समीचीन होगा : "अभिजानामि खो पनाहं, आनन्द, अनेकसतं खत्तियपरिसं उपसङ्कमिता। तत्र पि मया सन्निसिन्नपुब्बं चेव सल्लपितपुब्बं च साकच्छा च समापज्जितपुब्बा। तत्थ यादिसको तेसं वण्णो होति तादिसको मय्हं वण्णो होति। यादिसको तेसं सरो होति तादिसको मय्हं सरो होति। धम्मिया कथाय सन्दस्सेमि समादपेमि समुत्तेजेमि सम्पहंसेमि। भासमानं च मं न जानन्ति···" को नु खो अयं भासति देवो वा मनुस्सो वा ति ? धम्मिया कथाय सन्दस्सेत्वा समादपेत्वा समुत्तेजेत्वा सम्पहंसेत्वा अन्तरधायामि। अन्तरहितं च मं न जानन्ति···'को नु खो अयं

---

२१. मज्झिम०, खण्ड २, पृ० २१८।
२२. थेरगाथा, गाथा नं० १०२६ व ५३३।
२३. अंगुत्तर०, खण्ड २, पृ० ११।
२४. अंगुत्तर०, खण्ड २, पृ० ४०-४१।

अन्तरहितो देवो वा मनुस्सो वा'ति ?[२५] पालि निकायों में वर्णित प्रातिहार्यों व ऋद्धि-प्रदर्शनों का मैं वर्णन नहीं करना चाहता हूँ। मेरा उद्देश्य किसी ऐतिहासिक बुद्ध के व्यक्तित्व का वर्णन करना भी नहीं है। महाकवि तुलसीदास ने लिखा है : "नाम रूप दुइ ईस उपाधी"। परन्तु बौद्ध दर्शन के बुद्ध ईश्वर नहीं हैं। अतएव वह नाम और रूप की पहुँच के बाहर हैं, क्योंकि 'एत्थ नामं च रूपं च, असेसं उपरुज्झति।' जो निरुपाधि-शेषनिर्वाणप्राप्त है वह निर्गुण और निराकार है। उसके नाम और गोत्र की चर्चा करना पृथग्जनों का व्यापार है। सुन्दरिकभारद्वाज इस रहस्य को नहीं जानता था, इसी कारण उसको तथागत ने इस प्रकार डपटा था :

"न ब्राह्मणो नोम्हि राजपुत्तो, न वेस्सायनो उद कोचि नोम्हि।
गोत्तं परिञ्ञाय पुथुज्जनानं, अकिञ्चनो मन्त चरामि लोके॥
सङ्घाटिवासी अगहो चरामि, निवुत्तकेसो अभिनिब्बुतत्तो।
अलिप्पमानो इध माणवेहि, अकल्लं मं ब्राह्मण पुच्छसि गोत्तपञ्हं"॥[२६]

तथापि व्यवहार की दृष्टि[२७] से तथागत को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। इसी कारण 'समण, ब्राह्मण, वेदगू, भिसक्क, निम्मल, विमल, ञाणी तथा विमुत्त' आदि विरुदों को सम्यक्सम्बुद्ध के अधिवचन के रूप में बहुत्र प्रयुक्त किया गया है।[२८]

'वक्कलिसुत्त' में वस्तुतः धर्मकाय के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। अधिक स्पष्टरूपेण 'अग्गञ्ञसुत्त' में भगवान् ने वसिष्ठ ब्राह्मण से निम्नलिखित घोषणा की थी : "तथागतस्स हेतं, वासेट्ठ, अधिवचनं धम्मकायो इति पि ब्रह्मकायो इति पि धम्मभूतो इति पि ब्रह्मभूतो इति पि"।[२९] इस बुद्धवचन में 'ब्रह्म' शब्द ने कुछ ख्यातिप्राप्त लेखकों को भी विपर्यासग्रस्त कर दिया है। यहाँ पर बुद्ध ने 'ब्रह्म' और 'धर्म' का तादात्म्य किया है। पालिनिकायों में ब्रह्म का अर्थ वही है जो ऊपर उल्लिखित महावग्ग में प्रयुक्त 'धर्म' का है। ब्रह्म, धर्म, बोधि, विशुद्धि और विमुक्ति समानार्थक हैं।[३०] 'सुत्तनिपात' में ब्रह्मचर्या को धर्मचर्या कहा गया है। 'ब्रह्मचरियं धम्मचरियं एतदाहु वसुत्तमं।' इसी को शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार में 'बोधि', बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग में 'विशुद्धि' और उपगुप्त ने विमुत्तिमग्ग में 'विमुक्ति' कहा है। निर्वृत मुनि ब्रह्मभूत अर्थात् बोधिस्वरूप है, वह मुक्ति की मूर्ति

---

२५. दीघ०, खण्ड २, पृ० ८६।

२६. खुद्दक०, खण्ड १ (सुत्तनिपात, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त), पृ० २३४-३५।

२७. द्र० संयुत्त०, खण्ड १, पृ० १५, 'लोके समञ्ञं कुसलो विदित्वा, वोहारमत्तेन सो वोहरेय्या।'

२८. अंगुत्तर०, खण्ड ३, पृ ४२२।

२९. दीघ०, खण्ड ३, पृ० ६६।

३०. द्र० लालमणि जोशी, "बौद्ध धर्म में 'धर्म' का विचार", कॉस्मिक सोसाइटी, वर्ष ३, अंक १० (१९६७)।

अथवा धर्मकाय है। अमृतपद (अमत पदं) को प्राप्त करके वह स्वयं अमृत-स्वरूप हो अन्धभूत लोक में बोधि का प्रकाश करता है, धर्मघोष करके अमृत की दुन्दुभि बजाता है। ब्रह्मभूत और 'सीतिभूत' का वही अर्थ है जो 'प्रमाणवार्तिक' में 'प्रमाणभूत' का और 'अद्वय-वज्रसंग्रह' में 'वज्रसत्त्व' का है। प्रमाण परमार्थसत् है, यह प्रत्यक्ष का विषय है, अतः प्रत्यात्मवेदनीय है। 'वज्रेण शून्यता प्रोक्ता, सत्त्वेन ज्ञानमात्रता'। शून्यता तथता अथवा धर्मता का नामान्तर है। ज्ञानमात्रता अथवा विज्ञप्तिमात्रता भी तथता अथवा परिनिष्पन्न लक्षण है। इसी तत्त्व को प्रज्ञापारमिता कहा गया है। प्रज्ञापारमिता अचिन्त्य और अनभिलाप्य है। बुद्ध और धर्म भी अचिन्त्य, अतर्कावचर और अनभिलाप्य हैं।

'पालि थेरापदान' में कहा गया है :

"एवं अचिन्तिया बुद्धा, बुद्धधम्मा अचिन्तिया।
अचिन्तिये पसन्नानं, विपाको होति अचिन्तिया।।"[३१]

यह कथन इसी रूप में महानाम के महावंस में भी उद्धृत हुआ है।[३२] 'अंगुत्तर-निकाय' के अचिन्तेय्यसुत्तं में कहा गया है—"बुद्धानं, भिक्खवे, बुद्धविसयो अचिन्तेय्यो, न चिन्तेतब्बो।"[३३]

पालि निकायों में जो विचार बीज-रूप में अथवा आचार्य नागार्जुन के शब्दों में, गुह्यरूप में हैं, उन्हीं के स्पष्ट स्वरूप की पुनरावृत्ति महायान सूत्रों व शास्त्रों में की गई है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि पालि त्रिपिटक में समाविष्ट अनेक ग्रन्थ प्राचीनतम महायान सूत्रों के समकालीन अथवा उनके पश्चात् काल के हैं। अतएव दार्शनिक विचारों के विकास में 'पालि त्रिपिटक' की साक्षी को प्राचीन महायान सूत्रों की साक्षी से सदैव अधिक मूल्यवान नहीं माना जा सकता। अनेक महायान सूत्र उतनी ही प्राचीनता का दावा कर सकते हैं जितनी कि 'चुल्लवग्ग' के अन्तिम दो अध्याय, 'दीघनिकाय' का महा-परिनिब्बानसुत्त, तथा 'खुद्दकनिकाय' में संकलित अपदान, चरियापिटक, बुदवंस, कथा-वत्थु आदि। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'पालि विनयपिटक' के महावग्ग व पातिमोक्ख तथा 'सुत्तपिटक' के सैकड़ों सूत्र बौद्ध धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ नहीं हैं। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि हमें प्राचीनतम महायानसूत्रों की प्राचीनता व प्रामाणिकता का भी समुचित समादर करना चाहिए। यदि १४वीं शती में संहिताओं का भाष्य लिखने वाले आचार्य सायण १००० ईसा-पूर्व के वैदिक विचारों के लिए प्रामाणिक माने जा सकते हैं तो आचार्य नागार्जुन, आचार्य दिङ्नाग तथा आचार्य शान्तिदेव प्रभृति बौद्ध मनीषियों को बुद्ध-वचन का अधिकृत और विश्वसनीय व्याख्याकार मानना चाहिए।

---

३१. थेरापदान पालि, १. १. ८२।
३२. महावंसो, १७. ५६।
३३. अंगुत्तर०, खण्ड २, पृ० ८४।

यद्यपि स्थानाभाव तथा समयाभाव के कारण महायान के सूत्रों व शास्त्रों में उपलब्ध प्रशस्त सामग्री का प्रयोग इस निबन्ध में नहीं हो सकता, तथापि कुछ अति महत्त्व-पूर्ण अंशों का उल्लेख करना परमावश्यक है।

'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र' में कहा है—"धर्मकाया बुद्धा भगवन्तः। मां खलु पुनरिमं भिक्षवः सत्कायं कायं मन्यध्वम्। धर्मकायपरिनिष्पत्तितो मां भिक्षवो द्रक्ष्यथ। एष च तथागतकायो भूतकोटिप्रभावितो द्रष्टव्यो यदुत प्रज्ञापारमिता"।[३४] इस वाक्य में निर्माणकाय अथवा महापुरुषलक्षणोपेत रूपकाय का निरास और भूतकोटि-प्रभावित धर्मकाय का प्रतिपादन हुआ है। इस धर्मकाय को प्रज्ञापारमिता अथवा प्रज्ञा-ऽमला भी कहा गया है। बौद्ध दर्शन में त्रिकायवाद का विकास 'महायानसूत्रालंकार' से शतियों पहले हो चुका था। 'वक्कलिसुत' में, 'कालिंगबोधिजातक' में और 'पालि सुत्तों' में अन्यत्र बहुत्र बुद्ध की द्विविध काय, धर्मकाय और रूपकाय (अथवा लक्षणोपेतकाय), का विचार सुविदित है। साथ ही इन्हीं ग्रन्थों में मात्र धर्मकाय की परमार्थता और रूपकाय की वितथता भी संकेतित की गई है। 'सब्बञ्ञू सब्बविदू च बुद्धा न लक्खणेन जानन्ति' अकेला वाक्य नहीं है। रूपकाय की अनित्यता से स्थविरवादी सुपरिचित थे। पालि थेरगाथा में भी कहा गया है :

"ये मं रूपेण पामिंसु, ये च घोसेन अन्वगू।
छन्दरागवसूपेता, न मं जानन्ति ते जनाः॥"[३५]

वज्रच्छेदिका में इसी गाथा का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है :

"ये मां रूपेण चाद्राक्षुर्ये मां घोषेण चान्वयुः।
मिथ्याप्रहाणप्रसृता न मां द्रक्ष्यन्ति ते जनाः॥"[३६]

इसी बात को आचार्य नागार्जुन ने निम्नलिखित कारिकाओं में कहा है—

"प्रपञ्चयन्ति ये बुद्धं प्रपञ्चातीतमव्ययम्।
ते प्रपञ्चहताः सर्वे न पश्यन्ति तथागतम्॥
तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत्।
तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत्॥"[३७]

इसी भाव के स्पष्टीकरण में बोधिसत्त्व सुभूति बुद्ध को स्वप्नवत् कहने में नहीं हिचकिचाते :

---

३४. बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, ४ (दरभंगा), पृ० ४८।
३५. खुद्दकनिकाय, खण्ड २, पृ० ४६९।
३६. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमितासूत्र, अध्याय २६
३७. मध्यमकशास्त्र, २२. १५-१६

"सम्यक्सम्बुद्धोऽपि मायोपमः स्वप्नोपमः। सम्यक्सम्बुद्धत्वमपि मायोपमं स्वप्नोपमम्।......निर्वाणमपि देवपुत्रा मायोपमं स्वप्नोपममिति वदामि, किं पुनरन्यं धर्मम्।"[३८]

तथागत इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय नहीं है; धर्म, जो कि तथागत का अधिवचन है, वह भी मन, वाणी और तर्क से परे है। इस विषय पर आर्यतूष्णीम्भाव ही इसका प्रकाशन है। कहा है—'कथं च संप्रकाशयेत् ? यथा न प्रकाशयेत्। तेनोच्यते संप्रकाशयेत्।'[३९] जो इसे जानते हैं वे इसका वर्णन नहीं करते, जो इसका वर्णन करते हैं, वे इसे नहीं जानते।[४०] आचार्य चन्द्रकीर्ति ने लिखा है: 'परमार्थो ह्यार्याणां तूष्णींभावः। ततः कुतस्तत्र प्रपञ्चसंभवो यदुपपत्तिरनुपपत्तिर्वा स्यात् ?"[४१] तथागत, तथता, धर्मता, शून्यता, परिनिष्पन्नता, धर्म, निर्वाण, तत्त्व, परमार्थ, भूतकोटि, धर्मधातु, धर्मकाय, निःस्वभावता, स्वलक्षण, अद्वय, प्रज्ञोपाय तथा प्रज्ञापारमिता ये सभी समानार्थक हैं।

इस विषय पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एक श्लोक अथवा गाथा है जिसका समर्थन अधिकांश सूत्रों व शास्त्रों में हुआ है। यह गाथा 'वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र' में इस प्रकार है:

"धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः।
धर्मता च न विज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्॥"[४२]

इस गाथा को आचार्य चन्द्रकीर्ति ने 'प्रसन्नपदा' तथा 'चतुःशतकवृत्ति' में और आचार्य हरिचद्र ने 'अभिसमयालंकारालोकव्याख्या' में उद्धृत किया है। आचार्य हरिभद्र का समय ८००-८५० ई०, आचार्य चन्द्रकीर्ति का ५५०-६५० ई०, और 'वज्रच्छेदिका' का समय ३००-४०० ई० है। परन्तु इस गाथा में निहित विचार 'वक्कलिसुत्त', 'अग्गञ्ञसुत्त', 'थेरापदान', 'थेरगाथा' और 'कालिंग बोधिजातक' में पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका था। 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र' की मूल रचना २०० ईसा-पूर्व की है। और आचार्य नागार्जुन का समय १०० ई० के पश्चात् नहीं रखा जा सकता है। 'अष्टसाहस्रिका' और 'मध्यमकशास्त्र' के अतिरिक्त यह विचार 'समाधिराजसूत्र' में इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है:

"धर्मकायो महावीरो धर्मेण कायनिर्जितो।
न जातु रूपकायेण शक्यं प्रज्ञापितुं जिनो।"[४३]

---

३८. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र (दरभंगा-सं०), पृष्ठ २०।
३९. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र, अध्याय ३२।
४०. द्र०, लाओत्से का 'ताओ ते किंग'।
४१. प्रसन्नपदा (बौद्ध संस्कृत-ग्रन्थावली—१०), पृ० १६।
४२. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र, अध्याय २६।
४३. समाधिराज सूत्र (दरभंगा-संस्करण), २२. २२।

वास्तव में तथागत द्वारा उपदिष्ट धर्म भी अज्ञेय और अकथनीय है, यह चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है। सूत्र में कहा है :

"यस्तथागतेन धर्मोऽभिसम्बुद्धो देशितो निध्यातो, न तत्र सत्यं न मृषा।"[४४] "अचिन्त्यो अतुल्योऽयं धर्मपर्यायस्तथागतेन भाषितः। अस्य अचिन्त्य एव विपाकः प्रतिकाङ्क्षितव्यः।"[४५] अतः, बुद्ध ने धर्म का उपदेश किया है, ऐसा कहना भी दृष्टिग्राह्य है, वितथ है। इसी कारण आचार्य ने लिखा है :

"सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः।
न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद्धर्मो बुद्धेन देशितः॥"[४६]

जो कुछ धर्मोपदेश बुद्ध ने किया था वह भवार्णव में डूबे हुए और संसार-कान्तार में भटके हुए सत्त्वों के प्रति महाकारुण्य से ओतप्रोत होकर सभी दृष्टियों और वादों से उन्हें मुक्त करने के लिए किया था :

"सर्वदृष्टि प्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत्।
अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम्॥"[४७]

अन्यत्र भी आचार्य ने लिखा है :

"अवाच्यो वाचकैर्धर्मः कृपया येन देशितः।
नमोऽचिन्त्यप्रभावाय बुद्धायासङ्गबुद्धये॥
स्वभावेन न चोत्पन्नानिर्वृताश्च न तत्त्वतः।
यथाकाशं तथा बुद्धाः सत्त्वाश्चैवैकलक्षणाः॥"[४८]

इस प्रकार यह तत्त्व, जिसे हम तथागत व धर्म कहते हैं, वस्तुतः अवाच्य, अचिन्त्य, आकाशवत्, बन्धन व मुक्ति से ऊपर है। यह असंस्कृत, अप्रमेय, निर्विकल्प और प्रपञ्च-समतिक्रान्त है। प्रज्ञापारमिता इसी का नामान्तर है। प्रज्ञापारमितास्तव में कहा गया है :

"निर्विकल्पे नमस्तुभ्यं प्रज्ञापारमितेऽमिते।
या त्वं सर्वानवद्याङ्गि निरवद्यैर्निरीक्षसे॥१॥
आकाशमिव निर्लेपां निष्प्रपञ्चां निरक्षराम्।
यस्त्वां पश्यति भावेन स पश्यति तथागतम्॥२॥

× ×

---

४४. वज्रच्छेदिका, अध्याय १४।

४५. वही, अध्याय १५-१६।

४६. मध्यमकशास्त्र, २५. २४।

४७. वही, २७. ३०।

४८. महायानविंशिका, १-२ (८-९), ज्युसिप तुची द्वारा सम्पादित लघुतर बौद्ध ग्रन्थावली, भाग १, पृ० २०१।

नागच्छसि कुतश्चित्त्वं न च क्वचन गच्छसि ।
स्थानेष्वपि च सर्वेषु विद्वद्भिर्नोपलभ्यसे ।।१३।।

× ×

व्यवहारं पुरस्कृत्य प्रज्ञप्त्यर्थं शरीरिणाम् ।
कृपया लोकनाथैस्त्वमुच्यसे न च चोच्यसे ।।१८।।"[४९]

तथागत और प्रज्ञापारमिता की अद्वयता की निष्णात घोषणा आचार्य दिङ्नाग ने निम्नलिखित कारिका में की है :

"प्रज्ञापारमिता ज्ञानमद्वयं सा तथागतः ।
साध्या तादर्थ्ययोगेन ताच्छब्द्यं ग्रन्थमार्गयोः ।।"[५०]

'अष्टसाहस्रिका' में प्रज्ञापारमिता को 'अकृता' व 'अचिन्त्या' कहा गया है :

"प्रज्ञापारमिता न चित्तेन ज्ञातव्या न चित्तगमनीया ।"[५१]

'वज्रच्छेदिका' में कहा गया है कि 'तथागत न कहीं से आता है और न कहीं को जाता है, इसी कारण तथागत कहलाता है ।' इसे केवल शब्दाडम्बर मानना नितान्त भूल होगी । "न खलु कुलपुत्र तथागतः कुतश्चिदागच्छन्ति वा गच्छन्ति वा । अचलिता हि तथता । या च तथता, स तथागतः ।······ये केचित्तथागतरूपेण वा घोषेण वा अभिनिविष्टाः, ते तथागतस्यागमनं च गमनं च कल्पयन्ति । ये च तथागतस्यागमनं च गमनं च कल्पयन्ति, सर्वे ते बालजातीया दुष्प्रज्ञजातीया इति वक्तव्याः, तद्यथापि नाम स एव पुरुषो योऽनुदके उदकसञ्ज्ञामुत्पादयति । तत्कस्य हेतोः ? न हि तथागतो रूपकायतो द्रष्टव्यः । धर्मकायास्थगताः । न च कुलपुत्र धर्मता आगच्छति वा गच्छति वा । एवमेव कुलपुत्र नास्ति तथागतानामागमनं वा गमनं वा ।"[५२] यही कथन प्रज्ञापारमिता के विषय में भी उचित है । जैसा कि आचार्य भावविवेक ने लिखा है :

"सर्वधर्माणां प्रपञ्चानुत्थानं द्वयनिमित्तविविक्तता इयं प्रज्ञापारमिता ।"[५३]

कम्बलाचार्य ने भी प्रज्ञापारमिता को 'निर्विकल्पा', 'निःस्वभावा', 'परा' और 'सर्वज्ञज्ञानगोचरा' कहा है ।[५४] आचार्य प्रज्ञाकरमति ने इस तत्त्व को "सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्तस्वभावं परमार्थसत्यत्वम्······कल्पनासन्मतिक्रान्तस्वरूपं च शब्दानामविषयः" कहा

---

४९. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र (दरभंगा-संस्करण), पृ० १-२ ।
५०. प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ, श्लोक १ ।
५१. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र, पृ० ९६ ।
५२. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र, पृ० २५३ ।
५३. महायान करतलरत्नशास्त्र (विश्वभारती-प्रकाशन), पृ० ९९ ।
५४. नवश्लोकी, २-३ (लघुतर बौद्ध ग्रन्थावली भाग १, पृ० २१६) ।

है।"[५५] कल्पना अविद्या की उपज है, विद्यामय बुद्ध में इसका लेशमात्र भी नहीं होता। 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र' में कहा है—"सर्व कल्पविकल्पप्रहीणो हि तथागतः।"[५६] 'तथागतगुह्यसूत्र' में भगवान् ने बोधिसत्त्व शान्तमति से कहा था—"तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति। सर्वकल्पविकल्पजालवासनाप्रपञ्चविगतो हि शान्तमते तथागतः।"[५७] यह वही तथागत हैं जिन्होंने आजीवक परिव्राजक उपक से कहा था :

"एकोम्हि सम्मासम्बुद्धो सीतिभूतोस्मि निब्बुतो।"[५८]

तथागत के स्वरूप की यथाभूतता के विषय में शाक्यमुनि के समय से लेकर वज्र-सत्त्व और प्रज्ञोपाय की कल्पना के समय तक, लगभग पन्द्रह सौ वर्षों के दीर्घकालीन दार्शनिक विकास के पश्चात् भी, कोई मौलिक परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। विकास प्रपञ्च का हुआ तथागत का नहीं, क्योंकि तथागत सर्वथा प्रपञ्चसमतिक्रान्त हैं। वह ह्रास और विकास का परिहास करते हैं।

---

५५. बोधिचर्यावतार-पंजिका (दरभंगा-संस्करण) पृ० १७५।
५६. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र, पृ० १७७।
५७. प्रसन्नपदा (पृ० २३६) में उद्धृत।
५८. मज्झिमनिकाय, खण्ड २, पृ० ३३६।

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

भारतीय संस्कृति के व्यापक परिवेश में जैन धर्म के योगदान का मूल्यांकन विशेष महत्त्व रखता है। तत्त्व-चिन्तन, सामाजिक जीवन की विशिष्ट आचार-संहिता, कठोर साधना-पद्धति, विपुल वाङ्मय, तथा सम्पूर्ण देश में व्याप्त अद्भुत और अनुपमेय शिल्प-निर्मितियाँ एवं कलाकेन्द्र आदि माध्यमों से जैन धर्म ने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यहाँ उसके विषय में संक्षेप में जानकारी प्रस्तुत है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोये सव्वसाहूणं।।"

यह जैनों का मूल मन्त्र है। इसमें अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं को नमस्कार किया गया। ये पाँच परमेष्ठी माने जाते हैं। जैन धर्म की सभी शाखा-प्रशाखाएँ इस मन्त्र को मानती हैं। इसे अनादि मूलमन्त्र कहा जाता है।

अर्हन्तों के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण जैन धर्म को आर्हत धर्म भी कहा जाता है। अर्हन्त 'जिन' माने गए हैं। कर्मों को जीतने वाला 'जिन' कहलाता है। संसार के बन्धन में डालने वाले कर्म ही हैं। अर्हन्त उन्हें जीतकर 'जिन' बनते हैं। 'जिन' के द्वारा प्रतिपादित धर्म ही जैन धर्म है।

सामाजिक जीवन के विकास से पूर्व की अवस्था को जैन पुराणकारों ने भोग-भूमि कहा है। उस समय ऐसे वृक्ष उपलब्ध थे, जिनसे मनुष्यों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। इन वृक्षों को कल्पवृक्ष कहा गया है। धीरे-धीरे कल्पवृक्ष समाप्त होने लगे तो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य प्रयत्नों की बात आई। इसे ही कर्म-भूमि का प्रारम्भ माना गया है। धीरे-धीरे कृषि तथा उद्योगों का विकास हुआ। इस विकास के प्रारम्भिक चरणों में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा ऐसे चौदह महापुरुष माने गए हैं। इन्हें कुलकर या मनु कहा जाता है। अन्तिम कुलकर नाभिराय थे।

चौदह कुलकरों के बाद नागरिक सभ्यता और सांस्कृतिक जीवन के विकास में

जिन महापुरुषों का विशेष योगदान रहा उनकी संख्या त्रेसठ बताई गई है। इन्हें शलाका-पुरुष कहा जाता है। चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण—ये त्रेसठ शलाकापुरुष हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :

चौवीस तीर्थंकर

(१) ऋषभ, (२) अजित, (३) सम्भव, (४) अभिनन्दन, (५) सुमति, (६) पद्म, (७) सुपार्श्व, (८) चन्द्रप्रभ, (९)पुष्पदन्त, (१०) शीतल,(११)श्रेयांस, (१२) वासुपूज्य, (१३) विमल, (१४) अनन्त, (१५) धर्म, (१६) शान्ति, (१७) कुन्थु, (१८) अरह, (१९) मल्लि, (२०) मुनिसुव्रत, (२१) नमि, (२२) नेमि, (२३) पार्श्व, (२४) महावीर।

बारह चक्रवर्ती

(१) भरत, (२) सगर, (३) मघवा, (४) सनत्कुमार, (५) शान्ति, (६) कुन्थु, (७) अरह, (८) सुभौम, (९) पद्म, (१०) हरिषेण, (११) जयसेन, (१२) ब्रह्मदत्त।

नौ बलभद्र

(१) अचल, (२) विजय, (३) भद्र, (४) सुप्रभ, (५) सुदर्शन, (६)आनन्द, (७) नन्दन, (८) पद्म, (९) राम।

नौ नारायण

(१) त्रिपृष्ठ, (२) द्विपृष्ठ, (३) स्वयम्भू, (४) पुरुषोत्तम, (५) पुरुषसिंह, (६) पुरुष पुण्डरीक, (७) दत्त, (८) नारायण, (९) कृष्ण।

नौ प्रतिनारायण

(१) अश्वग्रीव, (२) तारक, (३) मैरक, (४) मधु, (५) निशुम्भ,(६)बलि, (७) प्रह्लाद, (८) रावण, (९) जरासन्ध।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इन त्रेसठ महापुरुषों में से अधिकांश का उल्लेख किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध होता है। जैन पुराणों में इन सभी का विस्तार के साथ जीवन-परिचय मिलता है। बावजूद इसके, इतिहास के दीर्घ अन्तराल में अधिकांश का जीवन-चरित्र इतना खो-सा गया है कि आज ठीक-ठीक विवरण पाना कठिन है। अब तक के अनुसन्धानों से जिनके विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध हो सकी है, वह इस प्रकार है :

तीर्थंकर ऋषभदेव

त्रेसठ शलाकापुरुषों में सर्वप्रथम ऋषभदेव की गणना की जाती है। ये जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। अन्तिम कुलकर नाभिराय तथा उनकी पत्नी मरुदेवी से उनका जन्म हुआ था। अयोध्या इनकी जन्मभूमि है। ऋषभदेव ने प्रजा को कृषि, असि, मसि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या, इन षट्-कर्मों का उपदेश दिया तथा सामाजिक जीवन को एक विशेष व्यवस्था दी। ऋषभदेव के दो पुत्र भरत और बाहुबलि तथा दो पुत्रियाँ थीं, जिन्हें उन्होंने समस्त कलाएँ और विद्याएँ सिखायीं। एक दिन राज्य-सभा में नृत्य करते हुए नीलांजना नामक नर्तकी की मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना से ऋषभदेव को वैराग्य हो गया और वे राज्य का परित्याग कर तपस्या करने वन को चले गए। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत राजा हुए और उन्होंने अपने दिग्विजय द्वारा सर्वप्रथम चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया। भरत के लघु भ्राता बाहुबलि भी विरक्त होकर तपस्या में लीन हो गए।

जैन साहित्य में ऋषभदेव के जीवन, उग्र तपस्या, तथा केवल-ज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश देने का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। सौभाग्य से जैनेतर साहित्य में ऋषभ-देव के विषय में प्रभूत सामग्री प्राप्त होती है। 'भागवत पुराण' के पाँचवें स्कन्ध के प्रथम छह अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन और तपश्चरण का वर्णन है। वहाँ इन्हें वात-रशना ऋषियों के धर्म को प्रकट करने वाला कहा गया है।

वातरशना मुनियों के उल्लेख वेदों में उपलब्ध हैं। 'ऋग्वेद' (१०. १३६-२-३) में वातरशना मुनियों की साधना का वर्णन है। वहाँ इन्हें केशी (१०-१३६, १) भी कहा गया है। एक स्थल पर केशी तथा वृषभ (१०,१०२,६) दोनों नामों का उल्लेख है। अन्य साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर जाँच करने से ज्ञात होता है कि केशी, वातरशना, वृषभ सभी नाम ऋषभदेव के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वेदों की तरह ऋषभदेव के ठीक-ठीक समय का अनुमान करना कठिन है।

अन्य तीर्थंकर

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के बाद अन्य तेईस तीर्थंकरों का जो विवरण जैन साहित्य में उपलब्ध होता है उनमें से अन्तिम चार के अतिरिक्त शेष के तुलनात्मक अध्ययन के साधन अभी उपलब्ध नहीं हैं। अन्तिम चार तीर्थंकरों के विषय में इस प्रकार जानकारी मिलती है :

तीर्थंकर नमि

नमिनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे। यह मिथिला के राजा थे। यह जनक के पूर्वजों में

माने जाते हैं। 'उत्तराध्ययन' में नमि की प्रव्रज्या का सुन्दर वर्णन मिलता है। नमि का अनासक्त योग मिथिला में जनक-पर्यन्त पाया जाता है।

तीर्थंकर नेमिनाथ

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ महाभारत-काल में हुए। यह शौरीपुर के यादववंशी राजा अन्धकवृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय के पुत्र थे। अन्धकवृष्णी के सबसे छोटे पुत्र वासुदेव से कृष्ण उत्पन्न हुए। इस प्रकार नेमि और कृष्ण चचेरे भाई थे। जरासन्ध के आतंक से त्रस्त होकर यादव शौरीपुर छोड़ कर द्वारका आ बसे थे। नेमिनाथ का विवाह-सम्बन्ध गिरिनगर जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की पुत्री राजुलमती से निश्चित हुआ था। बरात कन्या के घर पहुँची। नेमिनाथ ने देखा कि हज़ारों पशु बाड़े में घेरे हुए क्रन्दन कर रहे हैं। पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्हीं की बरात के आतिथ्य के लिए ये यहाँ इकट्ठे किए गए हैं। नेमिनाथ का मन करुणा से व्याकुल हो उठा। वे राजुल को अनब्याही छोड़ गिरिनार पर्वत पर चढ़ गए और तपस्या में प्रवृत्त हो गए।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे। वाराणसी के राजा अश्वसेन तथा उनकी रानी वर्मला (वामा) देवी से उनका जन्म हुआ था। तीन वर्ष की उम्र में वे संन्यस्त हुए और बिहार के सम्मेदशिखर पर्वत पर तपस्या की। आज भी यह पर्वत पारसनाथ नाम से प्रसिद्ध है। केवलज्ञान-प्राप्ति के बाद पार्श्वनाथ ने सत्तर वर्ष तक उपदेश दिया। भगवान महावीर के निर्वाण के २५० वर्ष पूर्व अर्थात् ५२७ + २५० = ७७७ ईस्वी-पूर्व पार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ।

तीर्थंकर महावीर

महावीर चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थंकर थे। इनका जन्म वैशाली गणतन्त्र के राजा सिद्धार्थ तथा त्रिशलादेवी से हुआ था। महात्मा बुद्ध तथा महावीर समकालीन थे। महावीर के विषय में पर्याप्त ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। महावीर का निर्वाण ५२७ वर्ष ईसा पूर्व हुआ था।

इन्हीं तीर्थंकरों का चिन्तन जैन-धर्म के उदात्त सिद्धान्तों के रूप में विकसित हुआ। व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व के चरम विकास के लिए जैन चिन्तकों ने एक सर्वथा मौलिक दृष्टि दी और सामाजिक जीवन के लिए व्यक्ति के निर्माण पर बल देकर अनेकान्त का जीवनदर्शन दिया। भारतीय संस्कृति में इस योगदान का मूल्यांकन दो प्रकार से किया जा सकता है:

१—वैचारिक क्रान्ति और तत्त्व-चिन्तन।

२—सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक समृद्धि।

तत्त्व-चिन्तन

भारतीय चिन्तन की प्राचीन परम्परा में मुख्य रूप से दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराएँ मिलती हैं—एक धारा ने परमब्रह्म को एकमात्र सत्य मानकर दृश्य जगत् को माया या अविद्या कहकर उसका अपलाप किया। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" (छान्दोग्योपनिषद्, ६।२।१) तथा "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म।" (मैत्र्युपनिषद्, ४।६) कहकर इसकी व्याख्या की गई है।

दूसरी विचारधारा इससे सर्वथा विपरीत है। इसके अनुसार मात्र यह दृश्य जगत् ही सत्य है। अदृश्य आत्मा, परलोक आदि नहीं हैं। शरीर-रूप से परिणत भूतों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है और मृत्यु के बाद शरीर उन्हीं भूतों में मिल जाता है।

इसी प्रकार एक विचारधारा ने वस्तु को सर्वथा (कूटस्थ) नित्य माना तथा दूसरी ने सर्वथा क्षणिक।

चिन्तन की ये परस्पर-विरोधी दो चरम बिन्दुएँ हैं। जैन चिन्तकों ने इन दोनों विचारधाराओं के समन्वय द्वारा भारतीय चिन्तन को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने कहा।

बहुजीववाद

दृश्यमान जगत् को माया या अविद्या कहकर उसका सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता और न अदृश्य आत्मा, परलोक आदि का भी। ये सभी वास्तविक हैं। दृश्यमान जगत् की प्रत्येक इकाई की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और जितने चेतन द्रव्य हैं वे सभी स्वतन्त्र जीव हैं। उनका यह स्वतन्त्र अस्तित्व कभी भी समाप्त नहीं होता। इसी तरह आत्मा और परलोक आदि का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। यदि हमने अपने माता-पिता के जनक-जननी को नहीं देखा तो क्या उनके अस्तित्व को सर्वथा नकारा जा सकता है? कभी नहीं। इस प्रकार जैन चिन्तकों ने बहुजीववाद का प्रतिपादन किया। इस चिन्तन से एक ओर व्यक्ति को अपनी सत्ता का स्वयं बोध हुआ, दूसरी ओर व्यवहार-जगत् को अधिक स्थिरता प्राप्त हुई।

वस्तु-स्वरूप

इसी प्रकार वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने के स्थान पर जैन चिन्तकों ने प्रत्येक वस्तु में उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य तीनों गुण एक साथ माने (उत्पाद-

व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र ५।३०)। जैसे सोने के घड़े को गलाकर मुकुट बनाने में घड़े का नाश, मुकुट की उत्पत्ति तथा स्वर्ण की नित्यता ये तीनों गुण एक साथ पाए जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में जानना चाहिए :

"घटमौलीसुवर्णार्थी नाशोद्पादस्थिवियम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ।।"

(समन्तभद्र, आप्तमीमांसा ५९)

इस प्रकार जैन चिन्तकों ने चरम एकान्त का निषेध करके जो चिन्तन दिया, उसे अनेकान्त कहा जाता है। चिन्तन के क्षेत्र में इस मूल आधार को स्वीकार करके जैन मनीषियों ने जीव और जगत् के पदार्थों की जो परिभाषाएँ स्थिर कीं उनसे भी वैचारिक जगत् की कई गुत्थियाँ सुलझ गईं। जीव की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :

"जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोदुठगई ।।"

(नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह, गाथा २)

—जीव उपयोगमय है, अमूर्तिक है, अपने कर्मों का स्वयं कर्ता है, स्वदेह परिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है तथा स्वभाव से उर्द्धगति है।

जीव के अतिरिक्त जैन चिन्तकों ने अजीव या अचेतन द्रव्य को भी स्वीकार किया है। इसके पाँच भेद हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। जीव और अजीव की गति-क्रिया में धर्म, स्थिति में अधर्म, अवकाश देने में आकाश तथा परिणमन क्रिया में काल सहायक होता है। संसार इन्हीं छह द्रव्यमय है। यह अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। न इसे किसी ने रचा है, कोई इसकी न रक्षा करता है और न कोई इसे नष्ट कर सकता है। सभी द्रव्य स्वयं परिणमनशील हैं, अतएव संसार भी स्वयमेव परिणमनशील है। (विशेष के लिए देखें—त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति-आदि ग्रन्थ)

जीव और जगत् की इन परिभाषाओं से ईश्वर की अपेक्षा समाप्त हो गई। जब सब स्वतः परिणमनशील हैं तब उसके लिए एक वाह्य माध्यम (एक्स्टर्नल एजेन्सी) की क्या आवश्यकता है ?

चिन्तन की प्रारम्भिक भूमिका पर इन बातों का भले ही कितना ही विरोध हुआ हो पर आज हम इस प्रत्यक्ष निष्कर्ष पर पहुँच गए हैं कि इस विचारधारा ने भारतीय चिन्तन को नई दिशा दी है और आगे बढ़ाया है।

सामाजिक जीवन : जाति और वर्गविहीन समाज

सामाजिक जीवन के लिए जैन चिन्तकों ने एक विशेष आचार-संहिता दी है। जैन साहित्य के उल्लेखों के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने नागरिक सभ्यता के प्रथम

चरण में कृषि, असि, मसि, विद्या, शिल्प, वाणिज्य इन छह कार्यों का उपदेश दिया था (शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजाः।—समन्तभद्र, जिनशतक) इन कार्यों में प्रवृत्त जनसमूह में कार्य के आधार पर ऊँच-नीच या छोटे-बड़े की भावना नहीं थी। यह भावना आई जन्मना वर्ण-व्यवस्था की परिकल्पना से। इसलिए बाद के जैन चिन्तकों ने कहा—जन्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था मानना उचित नहीं है। कर्म से व्यक्ति ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है :

"कम्मुणाबम्मणो होई कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होई, सुद्दो हयइ कम्मुणा।।"
(उत्तराध्ययन)

इसी प्रकार जाति का विरोध करते हुए आचार्य गुणभद्र ने कहा है कि जैसे गौ और अश्व में जाति-कृत भेद है, वैसा मनुष्यों में जाति-भेद नहीं है ("नास्ति जातिकृतो भेदो मानवानां गवाश्ववत्।" उत्तरपुराण, गुणभद्र)। मनुष्य-मात्र एक है। सम्पूर्ण मानव-समाज की एक ही जाति है—मानव जाति ("मनुष्यजातिरेकैव", वही)।

सांस्कृतिक समृद्धि

समाज-रचना के उपर्युक्त मूलभूत आधारों को स्वीकार करके जैन चिन्तकों ने वर्ग-विहीन और जातिभेद-रहित एक विराट् मानव-समाज की परिकल्पना दी है। इसके लिए उन्होंने एक विशिष्ट आचारसंहिता दी है। पारिभाषिक शब्दावलि में इसे उपासकाध्ययन या श्रावकाचार कहा जाता है। इसमें समाज की आधारभूमि व्यक्ति के निर्माण पर सर्वाधिक बल दिया गया है। व्यक्ति पर इतना ज़ोर देने के कारण बहुत बार इस आचारसंहिता को व्यक्तिवादी कह दिया जाता है। वास्तव में व्यक्ति के निर्माण के बिना सुसंस्कृत और समृद्ध समाज की परिकल्पना सम्भव नहीं है। व्यक्ति के विकास के लिए गृहस्थ के लिए छः दैनिक कर्तव्य बताए गए हैं :

"देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने।।"

इन्हीं षट्कर्मों में से प्रबुद्ध समाज और सांस्कृतिक समृद्धि प्रतिफलित हुई।

देवपूजा की प्रेरणा ने व्यक्ति को मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण की ओर प्रवृत्त किया; गुरु की उपासना के लिए गुरुकुल, मठों और गुफाओं आदि की स्थापना हुई, स्वाध्याय के लिए साहित्य का सृजन, संरक्षण, स्वाध्याय-मन्दिर और ग्रन्थागार बनाए गए; संयमित जीवन ने पारिवारिक व्यवस्था की नींव पुख्ता की; तप की साधना के लिए एक ओर तपोवनों आदि का निर्माण हुआ तो दूसरी ओर कष्ट-सहन करने की प्रवृत्ति ने संकल्प-सिद्धि के लिए कठोर श्रम की दृढ़ता प्रदान की, और दान की प्रवृत्ति ने सत्रागारों,

प्रपाओं, सभाभवनों, अतिथिशालाओं, पुष्पोद्यानों, वापिकाओं, कूपों और तडागों आदि के आवश्यक निर्मितियों की ओर समाज को प्रवृत्त किया।

वैचारिक धरातल पर जैन चिन्तकों की इस उत्क्रान्ति ने जन-जीवन को इतना प्रभावित किया कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में परिव्याप्त जैन वाङ्मय, शिल्प-निर्मितियाँ, कला-केन्द्र, ऐतिहासिक अभिलेख, मन्दिरों, गुफाएँ, मूर्तियों आदि के बिना भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का परिपूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है।

साहित्य

प्राचीन भारतीय वाङ्मय का एक बहुत बड़ा भाग जैन मुनियों, साधु-सन्तों तथा जैन विद्वानों का लिखा हुआ है। धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले साहित्य के अतिरिक्त काव्य, छन्द, अलंकार व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति आदि विषयों पर जैन विद्वानों द्वारा लिखा गया प्रभूत साहित्य उपलब्ध है। इसे जैन साहित्य कहने का कारण केवल यही है कि इसके लेखक जैन धर्म में आस्था रखने वाले रहे हैं। वास्तव में भारतीय वाङ्मय के व्यापक परिवेश में देखने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय को जैन लेखकों की बहुत बड़ी देन है। परिमाण और भाषा; दोनों दृष्टियों से जैन साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। महावीर ने लोकभाषा अर्धमागधी में अपने उपदेश दिए थे। वे सभी अर्धमागधी भाषा में निबद्ध हैं। उस समय की अन्य लोक-भाषाओं में भी विपुल साहित्य लिखा गया है। ये भाषाएँ प्राकृत कही जाती हैं। संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में भी पर्याप्त साहित्य लिखा गया है। इसके अतिरिक्त भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं राजस्थानी, गुजराती, कन्नड, तमिल आदि में भी पर्याप्त जैन साहित्य लिखा गया।

प्राचीन जैन वाङ्मय को दो प्रकार का बताया गया है—पूर्व-साहित्य और अंग-साहित्य। पूर्वों की संख्या चौदह तथा अंगों की संख्या बारह बताई गई है। बारहवें अंग के ही चौदह पूर्वभेद किए गए हैं। वर्तमान में मौलिक रूप में न पूर्वसाहित्य ही उपलब्ध है न अंग-साहित्य ही। सम्भवतया महावीर के पूर्व का साहित्य महावीर के समय में 'पूर्व' के नाम से अभिहित हुआ। लेखन-संरक्षण के पर्याप्त साधनों के अभाव में यह नष्ट हो गया। महावीर का उपदेश अंगों में निबद्ध हुआ। बहुत समय तक श्रुति-परम्परा के द्वारा चलने के कारण इसे श्रुतांग भी कहा जाता है। महावीर के बाद लगभग एक हज़ार वर्षों में इस श्रुत-संरक्षण के कई प्रयत्न हुए। मथुरा, पाटलिपुत्र तथा वलभी में ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। पूर्वों का ज्ञान लगभग समाप्त हो जाने से उनका संकलन नहीं हो सका। महावीर के निर्वाण के लगभग सात शताब्दियों बाद हुए आचार्य धरसेन को द्वितीय-पूर्व के कुछ विशेष अधिकारों का ज्ञान था जिसे उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त और

भूतबलि को प्रदान किया। उन्होंने उस ज्ञान के आधार से षट् खण्डागम की सूत्ररचना की जो अब भी उपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य पैंतालीस आगम इस प्रकार हैं :

अंग

(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) भगवतीव्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञातृधर्मकथा, (७) उपासकाध्ययन, (८) अन्तकृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाकसूत्र, (१२)दृष्टिवाद।

उपांग

(१) औपपातिक, (२) रायपसेणिय, (३) जीवाजीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) सूर्यप्रज्ञप्ति, (६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (७) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (८) कल्पिका, (९) कल्पावतंसिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूला, (१२) वृष्णिदशा। इनमें अन्तिम पाँच को सामूहिक रूप से निरयावलियाओं भी कहते हैं।

छेदसूत्र

(१) निशीथ, (२) महानिशीथ, (३) व्यवहार, (४) आचारदशा, (५) कल्पसूत्र (६) पंचकल्प या वीतकल्प।

मूलसूत्र

(१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक, (३) दशवैकालिक, (४) पिंडनिर्युक्ति।

प्रकीर्णक

(१) चतुःशरण, (२) आतुरप्रत्याख्यान, (३) महाप्रत्याख्यान, (४) भक्तपरिज्ञा, (५) तंदुलवैचारिक, (६) संस्तारक, (७) गच्छाचार, (८) गणिविद्या, (९) देवेन्द्रस्तव, (१०) मरणसमाधि।

चूलिकासूत्र

(१) नन्दीसूत्र, (२) अनुयोगद्वारसूत्र।

ये पैंतालीस आगम प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। आगमों पर लिखी गई निर्युक्तियाँ, चूर्णियाँ, भाष्य और टीकाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

आचार्यों की रचनाओं में सर्वप्रथम ये दो नाम आते हैं—'षटखण्डागम' तथा 'षट्खण्डागमटीका'। यह जैन-कर्म सिद्धान्त का एक विशालकाय एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पुष्पदन्त

और भूतवली ने सूत्र-रूप में इसकी रचना की थी। यह ग्रन्थ टीका तथा हिन्दी अनुवाद के साथ तेईस भागों में प्रकाशित हो चुका है। 'षटखण्डागम' पर वीरसेनाचार्य की विस्तृत टीका है। इस टीका से ज्ञात होता है कि वीरसेन के समक्ष प्रभूत कर्म-साहित्य उपलब्ध था जो अब नहीं है। उनकी इस टीका का प्रमाण वहत्तर हज़ार श्लोक अनुमान किया जाता है। अन्य आचार्यों में कुन्दकुन्द कृत 'प्रवचनसार', 'समयसार', 'पंचास्तिकाय', 'नियमसार', 'अष्टपाहुड', उमास्वामि कृत 'तत्वार्थसूत्र'; समन्तभद्र कृत 'आप्तमीमांसा', 'युक्त्यानुशासन', 'जिनशतक', 'स्तुतिविद्या', 'रत्नकाण्ड'; सिद्धसेन कृत 'सन्मति सूत्र', 'न्यायावतार'; देवसेन कृत 'नय-चक्र', अकलंक कृत 'न्यायविनिश्चय', 'प्रमाणसंग्रह', 'लघीयस्त्रय', 'सिद्धिविनिश्चय', 'अष्टशती', 'तत्त्वार्थवार्तिक'; विद्यानन्द कृत 'आप्त परीक्षा', 'प्रमाण परीक्षा', 'पत्र परीक्षा', 'सत्यशासन परीक्षा', 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक', 'अष्टसहस्री'; माणिक्यनन्दि कृत 'परीक्षामुख'; प्रभाचन्द्र कृत 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'; न्यायकुमुदचन्द्र कृत 'प्रमेयरत्नमाला'; धर्मभूषण कृत 'न्यायदीपिका'; वादिराज कृत 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार', 'न्यायविनिश्चयविवरण'; हरिभद्र कृत 'अनेकान्तवाद प्रवेश', 'अनेकान्तजयपताका'; विमलदास कृत 'सप्तभंगीतरंगणी'; हेमचन्द्र कृत 'प्रमाणमीमांसा'; यशोविजय कृत 'जैन तर्कभाषा', 'ज्ञानविन्दु' आदि प्रमुख हैं।

आचार विषयक साहित्य में वट्टुकेर कृत 'मूलाचार'; शिवार्य कृत 'भगवती आराधना'; आशाधर कृत 'धर्मामृत'; चामुण्डराय कृत 'चारित्रसार'; वीरनन्दि कृत 'आचार-शास्त्र'; हरिभद्र कृत 'श्रावकप्रज्ञप्ति'; वसुनन्दि, अमितगति तथा गुणभद्र कृत 'श्रावकाचार व्याकरण'; पूज्यपाद कृत 'जैनेन्द्र व्याकरण'; शाकटायन कृत 'शाकटायन व्याकरण' आदि प्रमुख हैं। पुराण और काव्य-साहित्य में 'महापुराण', 'पद्मपुराण', 'हरिवंशपुराण', 'यशस्तिलक', 'तिलक-मंजरी', 'धर्मशर्माभ्युदय' आदि सभी विद्याओं में इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं कि सबका नामोल्लेख भी लघुकाय निबन्ध में सम्भव नहीं है।

भारतीय वाङ्मय के परिप्रेक्ष्य में इस सम्पूर्ण साहित्यिक विरासत का कई अन्य दृष्टियों से भी महत्त्व है :

(१) प्राचीन लिपिज्ञान तथा लेखन-कला के इतिहास की दृष्टि से ताड़पत्रों, भोजपत्रों, हाथ के बने कागज़ों आदि पर लिखा गया साहित्य।

(२) भाषा की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्य सभी प्रादेशिक भाषाओं में लिखा गया साहित्य।

(३) सचित्र पाण्डुलिपियों के कलात्मक संदर्भ।

कला और शिल्प-निर्मितियाँ

जैन कला और निर्मितियां मुख्य रूप से लयन या गुफाएँ, मन्दिर, प्रासाद

तथा अन्य निर्मितियों, मूर्तियों, शिलालेखों, चित्रकला के रूप में उपलब्ध हैं।

गुफाएँ और मन्दिर—जैन मुनियों को बहुजनसंकीर्ण नगर, ग्राम आदि स्थानों से दूर पर्वतों तथा वनों की गुफाओं आदि में रहने का विधान किया गया है। सम्भवतया पहले प्राकृतिक रूप से निर्मित गुफाओं में मुनि निवास करते होंगे, बाद में श्रद्धालु भक्तों ने वनों और पर्वतों की उपत्यकाओं में कृत्रिम गुफाओं का निर्माण किया। सम्पूर्ण भारतवर्ष में अनेक स्थानों पर इस प्रकार की गुफाएँ पाई जाती हैं। पूर्व में उदयगिरि और खण्डगिरि; पश्चिम में जूनागढ़; महाराष्ट्र में तेरापुर; दक्षिण भारत में सीतन्नवासल, बादामी, ऐहोल, एलोरा, दक्षिण त्रावणकोर, अंकाई, तंकाई की गुफाएँ; मध्यप्रदेश में उदयगिरि तथा ग्वालियर; मैसूर में श्रवणबेलगोल; बिहार में राजगिरि तथा बराबर व नागार्जुनी तथा उत्तरप्रदेश में प्रयाग तथा कौसम की गुफाएँ उल्लेखनीय हैं।

मौर्यकालीन गुफाएँ

गुफाओं में सबसे प्राचीन व प्रसिद्ध जैन गुफाएँ बराबर व नागार्जुनी की पहाड़ियों पर स्थित हैं। ये पहाड़ियाँ गया से लगभग बीस मील दूर पटना-गया रेलवे के बेला नामक स्टेशन से आठ मील पूर्व की ओर हैं। बराबर पहाड़ी में चार गुफाएँ, उनसे कोई एक मील दूर नागार्जुनी पहाड़ी में तीन गुफाएँ हैं। बराबर की गुफाएँ अशोक तथा नागार्जुनी की उसके पौत्र दशरथ द्वारा निर्मित कराई गई थीं। ये सभी गुफाएँ ईसवी-पूर्व तृतीय शताब्दी की हैं। इनमें उपलब्ध शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ये आजीवक सम्प्रदाय के मुनियों के लिए निर्मित की गई थीं। विद्वानों की मान्यता है कि अशोक के बाद आजीवक सम्प्रदाय का विलयन जैन संघ में ही हो गया था। इसलिए इन गुफाओं को जैन गुफाएँ माना जाता है। बराबर की चारों गुफाएँ कठोर तेलिया पाषाण को काटकर बनाई गई हैं और उन पर वही चमकीली पालिश की गई है जो मौर्यकाल की विशेषता है। नागार्जुनी पहाड़ी की तीनों गुफाएँ क्रमशः गोपी गुफा, बहिया की गुफा, बेदथिका गुफा के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन गुफाओं के पश्चात् उड़ीसा की कटक के समीपवर्ती उदयगिरि व खण्डगिरि नामक पर्वतों की गुफाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। उदयगिरि की 'हाथी गुम्फा' नामक गुफा में प्राकृत भाषा का एक विस्तृत लेख पाया जाता है जिसमें कलिंग-सम्राट् खारवेल के बाल्यकाल व राज्य के तेरह वर्षों का चरित्र वर्णित है। इस लेख में स्पष्ट उल्लेख है कि खारवेल ने अपने राज्य के बारहवें वर्ष में मगध पर आक्रमण कर वहाँ के राजा बृहस्पति मित्र को पराजित किया और वहाँ से कलिंग जिन की मूर्ति अपने देश में लौटा लाया जिसे नन्दराज अपहरण कर ले गया था। उदयगिरि की यह गुफा 'रानीगुफा' के नाम से भी जानी जाती है। यह दोमंज़िली गुफा वास्तव में एक सुविस्तृत विहार रहा है जिसमें मूर्ति भी प्रतिष्ठित रही है तथा मुनियों का आवास भी रहा है। गुफा की कारीगरी तथा

चित्रांकन भी विशेष महत्त्व के हैं। विद्वानों ने यहाँ की चित्रण-कला को भरहुत व साँची के स्तूपों से अधिक सुन्दर माना है।

उदयगिरि तथा खण्डगिरि में सब मिलाकर १९ गुफाएँ हैं और उन्हीं की निकटवर्ती नीलगिरि नामक पहाड़ी में और भी तीन गुफाएँ देखने में आती हैं। रानी गुफा के अतिरिक्त मंचपुरी और वैकुंठपुरी नामक गुफाएँ भी दर्शनीय हैं।

प्राचीनता की दृष्टि से राजगिरि की एक पहाड़ी में मनियार मठ के समीप सौनभण्डार नामक जैन गुफा उल्लेखनीय है। इसमें प्रथम और द्वितीय शती का ब्राह्मीलिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्य रत्नवैरदेव मुनि ने जैन मुनियों के निवासार्थ दो गुफाएँ निर्मित कराई थीं और उनमें अरहन्तों की प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित कराई थीं। जिस दूसरी गुफा का उल्लेख है वह इसी गुफा के पार्श्व में स्थित है, जो अब विष्णु की गुफा बन गई है।

शुंगकालीन गुफाएँ

प्रयाग तथा कौसम के समीपवर्ती पभौसा नामक स्थान में दो गुफाएँ हैं जिनमें शुंगकालीन लिपि में लेख हैं। इन लेखों में कहा गया है कि इन गुफाओं को अहिच्छत्रा के आसाढ सेन ने काश्यपीय अरहन्तों के लिए दान दिया।

जूनागढ़ के बाबा प्यारमठ के समीप कुछ गुफाएँ हैं जो तीन पंक्तियों में स्थित हैं। ये सब गुफाएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं। पहले प्रकार की गुफाएँ वे हैं जो सम्भवतया ईसा-पूर्व द्वितीय शती की हैं जब प्रथम बार बौद्ध भिक्खु गुजरात में पहुँचे। दूसरे प्रकार की गुफाएँ पहले प्रकार से उन्नत शैली की हैं और इनमें जैन चिह्न पाए जाते हैं। ये ईसा की दूसरी शती अर्थात् छत्रप राजाओं के काल की सिद्ध होती हैं। एक गुफा के खंडित अभिलेख में छत्रप राजवंश का तथा चस्टन के प्रपौत्र व जयदामन के पौत्र रुद्रसेन प्रथम का उल्लेख है। सम्भवतया यह वही गुफा है जिसमें आचार्य धरसेन ने निवास किया था।

जूनागढ़ के पश्चात् मध्यप्रदेश के अन्तर्गत इतिहास-प्रसिद्ध विदिशा नगर के उत्तर-पश्चिम की ओर वेतवा नदी के उस पार दो-तीन मील की दूरी पर स्थित उदयगिरि की जैन गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। इस पहाड़ी पर बीस गुफाएँ व मन्दिर हैं जिनमें पहली तथा बीसवीं गुफा स्पष्ट रूप से जैन गुफाएँ हैं। गुफाओं के स्तम्भों आदि की कला तथा गुफा में खुदे हुए अभिलेख से ज्ञात होता है कि इनका संस्कार गुप्तकाल में हुआ। बीसवीं गुफा में पार्श्वनाथ तीर्थंकर की अतिभव्य मूर्ति विराजमान है इसकी प्रतिष्ठा ईसवी सन् ४२६ में हुई थी, ऐसा इस पर अंकित संस्कृत पद्य-लेख से ज्ञात होता है।

मैसूर के श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि नामक पहाड़ी पर एक छोटी-सी गुफा है

जो भद्रबाहु की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भद्रबाहु के चरण भी अंकित हैं। कहा जाता है कि भद्रबाहु स्वामी ने इसी गुफा में देहोत्सर्ग किया था।

महाराष्ट्र में उस्मानाबाद से पूर्वोत्तर दिशा में लगभग २१ मील की दूरी पर पर्वत में एक प्राचीन गुफा-समूह है। ये गुफाएँ ईसा-पूर्व ५००-६५० के बीच की मानी जाती हैं। ये गुफाएँ तेरापुर की गुफाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। एक गुफा में पार्श्वनाथ तीर्थंकर की भव्य प्रतिमा भी विराजमान है।

दक्षिण के तमिल प्रदेश में पुडुकोट्टाइ से ९ मील दूर सित्तन्नवासल नामक स्थान है। यहाँ के विशाल शिलाटीलों में बनी हुई एक महत्त्वपूर्ण जैन गुफा है इसमें ब्राह्मीलिपि में लिखा एक शिलालेख भी है जो ईसापूर्व तीसरी शताब्दी का ज्ञात होता है। वास्तुकला की दृष्टि से यह गुफा जितनी महत्त्व की है उससे भी अधिक महत्त्व उसकी चित्रकला का है। पल्लव-नरेश महेन्द्र वर्मन (८वीं शती) के समय में गुफा का यह संस्कार किया गया था।

दक्षिण भारत में बादामी की गुफा भी उल्लेखनीय है। इसका निर्माण-काल सातवीं शती का मध्यकाल अनुमान किया जाता है। ऐसी मान्यता है कि राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष (८ वीं शती) ने राज्य त्यागकर जैन दीक्षा लेकर इसी गुफा में निवास किया था। इसमें बाहुबलि तथा तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाएँ हैं।

बादामी तालुके में ऐहोल नामक ग्राम के समीप की गुफाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन गुफाओं में जैन मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। गुफाओं से पूर्व की ओर मेघुटी मन्दिर है जिसमें चालुक्य नरेश पुलकेशी व शक-सम्वत् ५५६ का भी उल्लेख है।

गुफाओं के निर्माण की कला एलोरा में अपने चरम उत्कर्ष पर देखी जाती है। यह स्थान देवगिरि (दौलताबाद) से लगभग १६ मील दूर है। वहाँ का शिला पर्वत अनेक गुफा-मन्दिरों से अलंकृत है जिनमें ५ जैन गुफाएँ भी हैं। कला की दृष्टि से तीन गुफाएँ विशेष महत्त्व की हैं—छोटा कैलास, इन्द्र सभा व जगन्नाथ सभा।

नवमी शती का एक शिला-मन्दिर दक्षिण त्रावंकोर में कुजीपुर ग्राम से पाँच मील उत्तर की ओर पहाड़ी पर है। इस मन्दिर में अनेक जिन-प्रतिमाएँ हैं।

अंकाई-तंकाई नामक गुफा-समूह मनमाड रेलवे जंकशन से नौ मील दूर अंकाई नामक स्टेशन के समीप है। यहाँ लगभग तीन हजार फीट ऊँची पहाड़ियों में सात गुफाएँ हैं।

गुफा-निर्माण कला का युग बहुत पहले समाप्त हो चुका था, किन्तु १५वीं शती तक भी जैन गुफाओं का निर्माण कराते रहे। तोमर राजवंशकालीन ग्वालियर की जैन गुफाएँ इसके उदाहरण हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण भारतवर्ष में लायन या गुफा-मन्दिरों का विस्तार फैला हुआ है।

निर्माण-कला की दृष्टि से जैन मन्दिर प्राचीन भारतीय वास्तुकला में अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। समय के दीर्घ अन्तराल में तथा विध्वंसकों के द्वारा नष्ट.किए जाने या परिवर्तित किए जाने के बाद भी प्राचीन जैन मन्दिर पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हैं। सबसे प्राचीन जैन मन्दिर के चिह्न पटना के समीप लोहानीपुर में पाए गए हैं। यह मन्दिर मौर्यकालीन माना जाता है।

बादामी के समीप ऐहोल का मेघुटी मन्दिर शक सम्वत् ५५६ (ईसवी ६३४) का है। कला की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट नमूना है। जैन मन्दिरों के निर्माण में गुप्त और चालुक्य युग से पश्चात् कालीन वास्तुकला में तीन विशिष्ट शैलियाँ पायी जाती हैं— नागर, द्राविड और वेसर। सामान्यत: नागर शैली उत्तर भारत में हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक प्रचलित हुई। द्राविण शैली दक्षिड़ में कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक तथा वेसर मध्यभारत में विन्ध्य पर्वत और कृष्णा नदी के बीच में प्रचलित हुई। इन तीनों ही शैलियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। इनका स्पष्ट अन्तर शिखर-रचना में दिखाई देता है। नागर-शैली का शिखर गोल आकार का होता है जिसके अग्रभाग पर कलशाकृति बनाई जाती है। यह आकृति अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन मानी जाती है।

दक्षिण भारत के मन्दिरों में पट्टदकल और हुँवच, तीर्थहल्लि और लकुडी, जिननाथपुर और हलेवीड के मन्दिर कला और स्थापत्य दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। झाँसी ज़िले में देवगढ़, छतरपुर ज़िले में खजुराहो, दतिया के समीप सुवर्णगिरि (सोगिरि), दमोह जिले में कुंडालपुर आदि स्थान मन्दिर-निर्माण-कला के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। आबू का आदिनाथ मन्दिर कला और स्थापत्य के विकास का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। सम्पूर्ण मन्दिर सफेद संगमरमर का बना है। इसका निर्माण विमलशाह ने अपार धनराशि व्यय करके कराया था। वि० सं० १०८८ (१०३१ ई०) में इसकी प्रतिष्ठा हुई।

जैन मन्दिरों के निर्माण की यह दीर्घकालीन परम्परा सद्गृहस्थ के जीवन का अनिवार्य कर्तव्य माना जाने के कारण अभी भी जीवित है तथा विभिन्न स्थानों पर अभी भी निरन्तर नये मन्दिरों का निर्माण हो रहा है। भारतीय मन्दिर-निर्माणशिल्प में जैन-मन्दिरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मूर्तिकला

देवपूजा सद्गृहस्थ का दैनिक कर्तव्य माना गया है। इसी की प्रेरणा ने जैनों को मूर्ति-निर्माण की ओर प्रवृत्त किया। मूर्ति-निर्माण के प्राचीनतम उल्लेख ईसापूर्व चौथी-पाँचवीं शती के उपलब्ध होते हैं।

मूर्तियाँ मुख्य रूप में तीर्थंकरों की बनायी जाती थीं; बाद में तीर्थंकरों के साथ

यक्षों तथा शासन देवी-देवताओं एवं अन्य महापुरुषों की भी मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं।

तीर्थंकर मूर्तियाँ पद्मासन तथा खडगासन (कायोत्सर्गमुद्रा) दो प्रकार की ही बनायी जाती हैं। प्राचीनतम काल से लेकर आज तक यह परम्परा यथारूप में सुरक्षित है।

तीर्थंकर आदिनाथ की प्रतिमा का कलिंग से अपहरण कर नन्दराज मगध में ले आया था जिसे खारवेल दो-तीन शती पश्चात् वापस ले गया। मथुरा के कंकाली टीले से कुषाणकालीन अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। लोहानीपुर से प्राप्त मस्तक-रहित जिन-प्रतिमा, जो पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है, मौर्यकालीन मानी जाती है। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों में कई-एक को जैन मूर्तिकला के समकक्ष पाया गया है।

मूर्तियाँ काष्ठ, पाषाण तथा धातु-निर्मित पायी जाती हैं।

तीर्थंकरों की मूर्तियों के बाद दक्षिण भारत में सर्वाधिक मूर्तियाँ तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि की पाई जाती हैं। कायोत्सर्ग-मुद्रा में निर्मित ये मूर्तियाँ अत्यन्त भव्य और आकर्षक हैं। मैसूर में श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर स्थित बाहुबलि की ५६ फीट ६ इंच की उत्तुंग मूर्ति सारे संसार में मूर्तिकला का एक आश्चर्यकारी नमूना मानी जाती है। गंग-नरेश राजमल्ल के महामन्त्री चामुण्डराय ने १०-११वीं शती में इसकी प्रतिष्ठा कराई थी।

यक्ष-यक्षिणियों तथा देवी-देवताओं में चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका, सरस्वती, अच्युता, नैगमेश आदि की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। सम्भवतया भारतवर्ष में जैन मूर्तियाँ सर्वाधिक परिमाण में पायी जाती हैं।

चित्रकला

जैन चित्रकला भी सांस्कृतिक भावना से उत्प्रेरित है। अष्टमंगल द्रव्य, तीर्थंकर की माता के स्वप्न, महापुरुषों के जीवन की प्रमुख घटनाएँ, पुण्य और पाप के शुभ और अशुभ फल का दिग्दर्शन कराने वाले प्रतीक, संवेग और वैराग्य का भाव जगाने वाले बोधचित्र आदि का अंकन जैन चित्रकला की मूल प्रेरणा रही है। ये चित्र गुफाओं, मन्दिरों आदि की भित्तियों पर निर्मित, काष्ठपट्ट, ताड़पत्र तथा कागज़ की पाण्डुलिपियों पर निर्मित चित्र, वस्त्र-खण्डों पर निर्मित चित्रों के रूप में प्राप्त होते हैं।

सर्वाधिक प्राचीन चित्र सतिन्नवासल की गुफा में भित्तियों तथा छतों पर उपलब्ध हैं। ये महेन्द्र वर्मा प्रथम के राज्यकाल (ई० ६२५) में बनाए गए बताए जाते हैं।

जैन चित्रकला के विषय में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञातव्य है कि विभिन्न युगों और शैलियों के प्रभाव-ग्रहण के बावजूद चित्रांकन में सम्भ्रान्तता का ह्रास नहीं हुआ है। भारतीय चित्रकला के इतिहास की दृष्टि से इनका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त आधार-सूत्रों से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में जैन धर्म ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। डॉ० हीरालाल जैन आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इस योगदान पर विशेष प्रकाश डाला है। जैन धर्म ने भारतीय तत्त्व-चिन्तन और सांस्कृतिक समृद्धि के विकास में जिस भूमिका का निर्वाह किया है, उसका अध्ययन संस्कृति के किसी भी अध्येता के लिए अनिवार्य है।

पुष्टिभक्ति और मर्यादाभक्ति

सत्यनारायण शास्त्री

श्रीकृष्ण की अनुग्रहरूपा लीला को ही पोषण या पुष्टिलीला शब्द से प्रतिपादित किया गया है। पोषण या पुष्टि शब्द रूढ है तथा अनुग्रह शब्द रूढ और यौगिक दोनों है। रूढ अर्थ लेकर ही 'श्रीमद्भागवत' में पुष्टिलीला को चतुर्थी लीला कहा गया है। व्यवहार में पुष्टि या पोषण शब्द की प्रसिद्धि नहीं है, किन्तु अनुग्रह शब्द लोक में भी प्रसिद्ध है। इस तरह अनुग्रह-मार्ग लोकसिद्ध है। इस अनुग्रह-मार्ग को ही पुष्टिमार्ग शब्द से कहा गया है। शुद्ध सत्, चित् और आनन्द ये तीनों मार्ग नहीं हैं। कारण, अस्ति, चित् या आनन्द में कृति-साध्यता नहीं है। स्वरूपतः ये भगवद्धर्म हैं किन्तु जब इनका क्रिया, इच्छा और रति से सम्बन्ध होता है, तब इन्हें मार्ग कहा जाता है। पुष्टि के समान ही प्रवाह तथा मर्यादा-मार्ग भी लोक में प्रसिद्ध हैं। तीनों अनादि सिद्ध मार्ग हैं। जो कार्य किसी नियम, क्रिया तथा अपनी इच्छा से सम्भव न हो सके वह भी बड़ों के अनुग्रह द्वारा सिद्ध हो जाता है। अनुग्रह द्वारा प्राणदण्ड-प्राप्त अपराधी भी मुक्त किया जाता है। शास्त्रकारों ने भी अनुग्रह-मार्ग स्वीकार करके देश-विशेष के लिए विशेष प्रकार की छूट दे रखी है। अनुग्रह के ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं। यह प्रेम का ही एक रूपान्तर है। वस्तुतः यह अनुग्रह भगवान् का धर्म है। अनुग्रहरूपी इस भगवद्धर्म से काल-कर्म-स्वभाव सभी का बाध हो जाता है। निबन्ध में श्रीमद्वल्लभाचार्य कहते हैं—"कालादिनिवर्तको अनुग्रहापरनामा वीर्यविशेष-रूपो भगवद्धर्मः पुष्टिरिति सिद्धम्।"

इस प्रकार भगवद्धर्म होने से यह नित्य है। भगवान् की दश लीलाओं में पोषण-लीला चतुर्थी लीला है। श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में दृष्टान्तपूर्वक इसका विशद निरूपण किया गया है।

श्रीमद्भागवत में पुष्टि का अर्थ आश्रय भी किया गया है। इस तरह पुष्टिलीला दशमी लीला भी है। सुबोधिनी में पोषण का अर्थ किया है—'स्थितानामभिवृद्धिः पुष्टिः'; अर्थात् स्थित पदार्थों की अभिवृद्धि ही पुष्टि है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध तथा दशमोत्तरार्द्ध में ऐसा भी कहा है कि सर्वसमर्थ भगवान् का जगत् के पदार्थों में प्रवेश ही पोषण या पुष्टि है। इस तरह पुष्टि का अर्थ 'स्थिति' भी होता है। श्रीमद्भागवत के अनुशीलन से पुष्टि शब्द के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें अनुग्रह, कृपा, अभिवृद्धि, स्थिति,

प्रवेश और आश्रय मुख्य हैं। पर इन सबका तात्पर्य अनुग्रह से ही है। लौकिक सामान्य अनुग्रह में भी जब मर्यादाओं का उल्लंघन हो जाता है, तब भगवदनुग्रह का तो कहना ही क्या ! द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव, जीव आदि समस्त पदार्थ भगवदनुग्रह के बल से ही स्थित हैं। निबन्ध में श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कहते हैं :

सर्वा लीला पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मतिः।
अतः सृष्टिस्तु निखिला कृष्णार्थेति विनिश्चयः॥

यह पुष्टि दो प्रकार की होती है : कार्यरूपा और कारणरूपा। कारणरूपा पुष्टि को ही अनुग्रह कहते हैं। यह साधनावस्था है। कार्यरूपा पुष्टि ही पुष्टिभक्ति है तथा यह फलावस्था है। 'नवधा भक्ति' शब्द से अभिहित साधनभक्ति मर्यादा-भक्ति है। मर्यादा-भक्ति एवं पुष्टि-भक्ति दोनों के मूल में प्रेम ही है। अन्तर केवल अवस्था-विशेष को लेकर है। नारद, शुक या सनकादि में जो भगवद्-विषयक प्रेम या रति है, वह मर्यादा-भक्ति-मूलक है। किन्तु व्रजाङ्गनाओं में जो भगवद्-भक्ति-विषयक रति है वह शृङ्गार-रसमूलक है।

सामान्य अनुग्रह ही विशेषानुग्रह के रूप में जब परिणत होता है, तब मर्यादा-भक्ति का पर्यवसान भी पुष्टिभक्ति में हो जाता है। जिसे मर्यादित किया जा सके, जो विधिनिषेध की परिधि में हो, वह मर्यादाभक्ति है। पुष्टिभक्ति को किसी प्रकार मर्यादित नहीं किया जा सकता है। वह केवल अनुभवैकवेद्य है। मर्यादातीतावस्था ही पुष्टि है। मर्यादा-भक्त के पतन का भय बना रहता है। ऐसा भक्त चाहता है कि भगवान् का सतत स्मरण करे, भगवद्दर्शनों के लिए वह व्याकुल रहता है। प्रेम, आसक्ति और व्यसन ये भक्त की उत्तरोत्तर कक्षाएँ हैं। मर्यादाभक्त का क्षेत्र आसक्ति तक सीमित है किन्तु व्यसनावस्था पुष्टिभक्त को ही प्राप्त होती है। पुष्टिभक्त भगवान् को भी भूलना चाहता है, फिर भी भूल नहीं पाता। जिस तरह दुर्व्यसनी दुर्व्यसनों को छोड़ना चाहते हुए भी छोड़ नहीं पाता, ठीक उसी प्रकार पुष्टिभक्त को भगवद्दर्शन की भी अपेक्षा नहीं रहती। व्रज-गोपी अपने दुःख का कारण बताते हुए सखी से कहती है—"सखि ! हमारे दुःख का मूल कारण है श्रीकृष्ण का नाम-स्मरण और उनका कटाक्षपात। यदि कृष्ण मुझ पर कटाक्षपात न करें, यदि इनका नाम-स्मरण न हो तो फिर दुःख किस बात का ? किन्तु चाहते हुए भी मैं ऐसा नहीं कर पाती। बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र जिस तत्त्व के दर्शन के लिए युगों से लालायित हैं, उसका कटाक्षपात ही श्रीराधारानी के दुःखों का हेतु बन रहा है, है न भाग्य की पराकाष्ठा ?" भगवदनुग्रहैकलभ्य यह भक्ति समस्त मर्यादाओं का उल्लंघन कर देती है। ऐसे भक्त की निष्ठा समस्त साधनों पर से स्वतः हट जाती है। उसके साधन और फल में भेद नहीं रहता। भगवान् ही स्वयं उसके साधन और फल बन जाते हैं।

ऐसा भक्त ज्ञान और इच्छा दोनों से रहित हो जाता है। उसमें रहती है केवल क्रिया, और यह क्रिया ही सेवारूप में प्रकट होती है। यह सेवा साधनारूपा न होकर फलरूपा होती है। सेवा साधन तभी बनती है, जब उसके साथ इच्छा हो, किन्तु पुष्टिभक्त की समस्त इच्छाएँ साधनावस्था में ही समाप्त हो जाती हैं। इच्छा और ज्ञान भगवद्विषयक रति के बाधक हैं। प्रेम की प्रथमावस्था में माहात्म्यज्ञान अवश्य रहता है, किन्तु स्नेह के अधिक होते ही ज्ञान लुप्त या प्रेम से अभिभूत हो जाता है। उस अवस्था में ज्ञान प्रतिबन्धक प्रतीत होने लगता है। ज्ञान की स्थिति मर्यादाभक्ति तक ही सीमित है। जब तक ज्ञान और इच्छा है, तभी तक कामनाएँ हैं। ज्ञान-इच्छारहित क्रिया कामनाशून्य होती हैं। कामनारहित भक्त ही पुष्टिभक्त है शुद्ध पुष्टिभक्त में केवल क्रिया, सेवा या प्रेम ही होता है; ज्ञान या इच्छा का उसमें लेश भी नहीं रहता। प्रेम के आगे ज्ञान का कुछ मूल्य भी नहीं है। ज्ञान शेष है और प्रेम शेषी। प्रेम के लिए ज्ञान है। जब प्रेम प्राप्त हो गया, तब ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। ज्ञान भगवान् तक बड़ी कठिनता से पहुँचता है। और पहुँचता है या नहीं, इसमें भी सन्देह है। भगवती श्रुति कहती है कि 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'; जो कहते हैं मैंने ब्रह्म को जान लिया वस्तुतः उन्होंने ब्रह्म को जाना नहीं; किन्तु जो कहते हैं हमने अभी उसे जाना नहीं, वे वस्तुतः जान गए हैं। भक्ति का लक्षण भी प्रेम है, ज्ञान नहीं।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा।

(पञ्चरात्र)

सापरानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यभक्ति सूत्रम्)

यह प्रेम बीज-रूप से प्राणिमात्र में विद्यमान है। साधनों द्वारा यह पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होता है। भगवदनुग्रह-रूप यह प्रेम समस्त विश्व में व्याप्त है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व ही पुष्टिमार्गी है, तथापि सामान्य और विशेष में अन्तर तो होता ही है। वल्लभ-सम्प्रदाय विशेषानुग्रह का दृष्टान्त है। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने स्वयं इस प्रेमतत्त्व का पूर्णरूप से साक्षात्कार किया था और अपने ग्रन्थों में आपश्री ने इसकी विशद व्याख्या की है। पुष्टि के आपने मूल में दो भेद किए हैं—शुद्ध और मिश्र। जिस शुद्ध पुष्टिभक्ति का निरूपण श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में किया गया है, उसके एकमात्र अधिकारी श्री गोपीजन हैं। क्योंकि पुष्टि भगवन्निष्ठ धर्म है तथा श्री गोपीजन भी भगवान् की ही रूपान्तर हैं। इसीलिए श्रीमद्वल्लभाचार्य ने 'शुद्धा प्रेम्णाऽतिदुर्लभा' कहकर अन्यत्र उसका निषेध किया है। मिश्र पुष्टि के नौ भेद होते हैं। यह पुष्टिरूप अनुग्रह, जीव और भगवान् के सम्बन्ध का सूचक है। लोक में भी सम्बन्धपूर्वक ही अनुग्रह देखा जाता है। बिना किसी प्रकार के सम्बन्ध के अनुग्रह नहीं होता। इससे सूचित है कि भगवान् और जीव का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। यह सम्बन्ध अनेक प्रकार का होता है। यह आवश्यक

नहीं है कि सम्बन्ध प्यार का ही हो। सम्बन्ध क्रोध, द्वेष या भयमूलक भी होता है। किसी भी सम्बन्ध के द्वारा यदि मन भगवान् में पहुँचता है तो उसे भगवत्प्राप्ति होगी ही। तथापि ये सब सम्बन्ध जीव के उद्धार के हेतु नहीं हैं। उद्धार का कारण तो केवल भगवदनुग्रह ही है। इस भगवदनुग्रह की सतत-सर्वत्र अनुभूति ही पुष्टिभक्ति है और इसी की अप्रकट या बीजावस्था साधनभक्ति या मर्यादाभक्ति है।

राधास्वामी मत की साधना

डॉ० सरल कुमारी

उत्तर भारत की निर्गुण संत-परम्परा में राधास्वामी मत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यों तो यह मत निर्गुण ईश्वर की उपासना का समर्थन करता है, परन्तु इसकी साधना-पद्धति में कुछ ऐसे विलक्षण तत्त्व हैं जो इसे कहीं-कहीं सगुण के समकक्ष ले जाते हैं। 'राधा' नाम भ्रमात्मक होने के कारण कुछ लोग इसे 'राधावल्लभ' सम्प्रदाय के निकट भी समझ लेते हैं। परन्तु विस्तृत अध्ययन से ज्ञात हो जाता है कि इस मत के अन्तर्गत कबीर की ही निर्गुण साधना विकसित रूप में प्रस्तुत की गई है। इसका प्रवर्तन स्वामी शिवदयाल सेठ द्वारा पन्नीगली, आगरा में, सन् १८६१ में वसंतपंचमी के दिन हुआ था। प्रारम्भ में अपने निवास-स्थान पर ही इन्होंने संत मत के उपदेश आरम्भ किए, परन्तु इनके जीवन-काल में ही इसकी ख्याति फैलती चली गई और इन्होंने सुरत-शब्द योग सर्वसाधारण के लिए सुलभ करके इसको अत्यधिक व्यापक बना दिया। इनके उपरान्त शिष्यों में कतिपय कारणों से मतभेद उत्पन्न हुआ। मुख्य विवाद नाम-सम्बन्धी था। स्वामीजी के समय में 'सुखमनी' तथा 'पंचग्रन्थी' का पाठ तथा पंचनाम का जप हुआ करता था। जब इनके अनन्य भक्त रायबहादुर सालिगराम (हुज़ूर महाराज) ने सत्संग में पदार्पण किया, और सुरत चढ़ाने पर सत्तलोक के ऊपर राधास्वामी लोक के दर्शन किए तथा 'राधास्वामी' नाम की ध्वनि प्रतिध्वनित होते सुनी, तो उन्होंने इस सत्संग को राधास्वामी नाम दिया तथा समाधान-हेतु भिन्न-भिन्न प्रमाण प्रस्तुत किए।

उनके अनुसार यह नाम चैतन्यता के सर्वोच्च लोक में ध्वनित है। केवल इसी के जप से परम चैतन्य के मिलन की सम्भावना हो सकती है। अनुसंधाताओं के मतानुसार, राधास्वामी मत की तथा शास्त्रीय 'राधा' सम्बन्धी मान्यताओं में अधिक अन्तर नहीं है। राधा शब्द की उत्पत्ति 'राध्' धातु से है जिसका अर्थ 'आराधना' है। शास्त्रीय मत में 'राधा' उस शक्ति का नाम है जो कृष्ण के प्राणों से उत्पन्न हुई और राधास्वामी मत में 'राधा' वह आदिधारा है जो परम चैतन्य के चरणों से प्रकट हुई। दोनों ही इसको निराकार चैतन्य तथा समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली मानते हैं।

'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में भी राधा शब्द इसी प्रकार वर्णित है :

राशब्दोच्चारणाध्वस्फीतो भवति माधवः।
धाशव्दोच्चारतः पश्चाद्धात्यैव ससंभ्रमः।।
(५२ अध्याय, ४ खंड)

'रा' के उच्चारण-मात्र से कृष्ण शुद्ध या प्रसन्न हो जाते हैं और 'धा' शब्द के उच्चारण से वेग से पीछे धाने लगते हैं।

'राधा' और 'स्वामी' शब्द हिन्दू धर्म के सनातन रूप के लिए नवीन नहीं हैं तथापि यह सत्य है कि राधा शब्द स्वामी के साथ मिलकर कभी प्रयुक्त नहीं हुआ। सम्भव है, सोऽयम् तथा राधा की सम्मिलित ध्वनि ही राधास्वामी नाम की जननी हो। इस मत के अन्तर्गत राधास्वामी नाम की बड़ी सुन्दर वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इनका कथन है कि परम तत्त्व अंडाकार है और स्वामी के उच्चारण में मुख का आकार भी अंडाकार हो जाता है, अतः उसके जप के समय भी वही रूप अपनाना उचित होगा।

सुरत अर्थात् चैतन्य शक्ति की क्रिया में चुम्बक शक्ति की क्रिया से अत्यधिक साम्य है। आकाशतत्त्व इस प्रकार का पदार्थ है, जिसमें धनात्मक और ऋणात्मक अयनों में विभक्त होने की शक्ति है; जब शक्ति का किसी दूसरी ओर से दबाव पड़ता है तो ये दोनों विभक्त हो जाते हैं। परन्तु सृष्टि-नियम पुनः उन्हें उसी अवस्था में ले जाने का प्रयत्न करता है और इसी कारणवश इन दोनों छोरों पर बड़ा शक्तिशाली आकर्षण होता है। परिणामस्वरूप दोनों के मध्य में एक शून्य स्थान (न्यूट्रल जोन) बन जाता है। यह सब एक ओर शक्ति की प्रबलता तथा दूसरी ओर न्यूनता के द्योतक हैं। दो विशुद्ध शक्तियों के कारण इन अयनों के अन्दर एक प्रकार की थर्राहट आरम्भ हो जाती है। परन्तु जब इन दोनों को संयुक्त कर दिया जाता है तो वही थर्राहट धारा का रूप धारण कर लेती है। चैतन्य शक्ति के परीक्षण के अन्तर्गत केवल 'रकार' ही एक ऐसा वर्ण है, जिसका उच्चारण करने में जिह्वा थर्राती है और उपर्युक्त अवस्था धारण करती है, अतः थर्राहट के लिए 'रकार' तथा इसे आत्मसात् करने के लिए 'धकार' दन्त्य वर्ण का प्रयोग करना पड़ता है। चैतन्य शक्ति से जो ध्वनि प्रकट हुई वह मानव-भाषा में 'राधा' है।

सुरत-शब्द योग के विषय में राधास्वामी मत का कथन है कि जो शब्द ऊँचे स्थानों से नीचे की ओर आ रहा है, जिसकी ध्वनि प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में निरन्तर हो रही है, उसीमें सुरत अथवा चैतन्यता को ध्यानावस्थित करके ऊपर की ओर चढ़ाते जाना अर्थात् पिंड और ब्रह्मांड के पार राधास्वामी-धाम में पहुँचाना ही सुरत-शब्दयोग का अभ्यास है। इनके अनुसार मानव-शरीर तीन प्रकार के तत्त्वों से निर्मित है: प्रथम स्थूल तत्त्व जो शरीर का कारण है; द्वितीय वह पदार्थ जो सूक्ष्म मन का निर्माणकर्त्ता है और तृतीय तत्त्व परम चैतन्य अर्थात् सुरत का पदार्थ, जिसके द्वारा शरीर और मन का विकास

होता है। यही मानव-शरीर में प्राण के समान है। स्थूल शरीर और मन दोनों ही नाशवान् हैं परन्तु आत्मा चिरस्थायी और अविनाशी है। जैसे मानव-शरीर का सर्वस्व आत्मा है, इसी प्रकार समस्त सृष्टि का आदिकारण परमात्मा है। आत्मा तथा परमात्मा में सारतत्त्व समान है, इसीलिए मानुषीय शरीर और समस्त रचना में अद्भुत साम्य है; रचना को ब्रह्मांड तथा शरीर को पिंड कहा गया है। 'लययोगसंहिता तन्त्र' में कहा है कि ब्रह्म से ही उत्पन्न होने के कारण पिंड और ब्रह्मांड समान हैं, उनमें समष्टि और व्यष्टि का सम्बन्ध है। इस विलक्षण साम्य के कारण ही साधना द्वारा दोनों के योग की सम्भावना हो जाती है। मनुष्य-शरीर में इस प्रकार के छिद्र हैं जिनमें चैतन्य-धार सर्वत्र व्याप्त है।

राधास्वामी मत के अन्तर्गत निम्नलिखित चक्रों तथा शक्तियों की उद्भावना है—

(१) गुदाचक्र—गणेश का स्थान। प्राचीन काल में अभ्यास यहीं से प्रारम्भ किया जाता था। योगियों की देखादेखी गृहस्थ भी प्रत्येक कार्य के अनुष्ठान में गणेशपूजा को महत्त्व देते हैं।

(२) इन्द्रियचक्र—यहाँ पर ब्रह्मा की उत्पत्ति-शक्ति का निवास है।

(३) नाभिचक्र—विष्णु, पालन करने वाली, शक्ति का निवास है।

(४) कंठचक्र—यहाँ दुर्गा अर्थात् इच्छा-शक्ति और आत्मा का निवास है।

(५) आज्ञाचक्र—इसी को तीसरा तिल या नेत्र (शिव-नेत्र) कहा गया है। यहाँ परमात्मा का निवास है। इसी स्थान पर अभ्यास के समय सुरत को केन्द्रित करना चाहिए क्योंकि इससे अन्तःकरण सम्बद्ध है और अन्तःकरण से दसों इन्द्रियाँ।

(६) सहस्रदल कमल—(सेत-स्याम) यहाँ ज्योति निरंजन का वास है। यहाँ से दो प्रकार की ध्वनियाँ प्रकट होती हैं।

(७) त्रिकुटी—यह त्रिकुटी सन्तों ने मानी है। योगियों की त्रिकुटी सहस्रदल कमल के नीचे है। इसको हंसमुखी नाम से भी सम्बोधित किया गया है।

(८) शून्य अथवा दशम द्वार—यहाँ परब्रह्म का निवास है। इस स्थान पर आकर ब्रह्मांड की सीमा समाप्त हो जाती है।

(९) महाशून्य का मैदान—यहाँ चार शब्द तथा पाँच स्थान गुप्त हैं।

(१०) भंवर-गुफा—यहाँ सोहं पुरुष का वास है। महाशून्य तथा भँवर-गुफा ये दोनों स्थान राधास्वामी देश की सीमा में हैं।

(११) सत्यलोक—सत्यपुरुष का वास, इसके ऊपर के तीन लोकों का किसी अन्य ने वर्णन नहीं किया।

(१२) अनामी लोक—अनामी पुरुष का वास।

(१३) अलख लोक—अलख पुरुष का वास।

(१४) अगम लोक—अगम पुरुष का वास।

(१५) अन्त में राधास्वामी धाम है, यहाँ शब्द अत्यन्त गुप्त रूप में है।

इस मत के तृतीय आचार्य का कथन है कि शरीरगत छः चक्रों के समान ब्रह्मांड में भी ६ उपभाग हैं। इसी में परब्रह्म पद भी सम्मिलित है, यदि ऐसा नहीं करेंगे तो शरीर-गत चक्रों से साम्य न हो सकेगा। परन्तु कबीर ने भँवर-गुफा को अनाहत चक्र में तथा त्रिकुटी को आज्ञाचक्र में ही मान लिया था। यद्यपि उनके भी एक पद में जिसको पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने क्षेपक कहा है, कुछ-कुछ इसी प्रकार के तीन विभागों की चर्चा है। इनमें से प्रत्येक के सात-सात उपविभाग हैं जिनके अनन्तर पाँच और अलौकिक लोक हैं। डॉ० बड़थ्वाल इसको केवल दार्शनिक परात्परवाद का प्रभाव मानते हैं; क्योंकि वास्तविक सत्यता का ज्ञान केवल साधना के क्षेत्र द्वारा ही हो सकता है।

राधास्वामी मत के अनुसार जिस प्रकार मनुष्य-शरीर के छः चक्रों का समस्त कार्य सुरत (आत्मा) और मन के द्वारा होता है, उसी प्रकार ब्रह्मांडी मन की सहायता से ब्रह्म, ब्रह्मांड के छः उपभागों का कार्य वहन करना है। इसके अनन्तर के लोकों का कार्य-भार चैतन्य-सत्ता के द्वारा वहन किया जाता है। वेदान्त, ब्रह्म से परे इस विषय में 'नेति-नेति' कहकर संतुष्ट हो जाता है। सन्तों ने इसी को परब्रह्मपद कहा है। यह पद ब्रह्म से उसी भाँति पृथक् है जैसे मन से 'सुरत'। अन्य सन्तों के अनुसार, राधास्वामी मत में भी ब्रह्मांड के ऊपर तीन स्थान शून्य, त्रिकुटी और सहस्रदल कमल हैं, इन तीनों में ब्रह्म के तीन रूप शून्य में अव्याकृत, त्रिकुटी में हिरण्यगर्भ और सहस्रदलकमल में विराट्-रूप विराजमान है। जिस प्रकार ब्रह्म के तीन रूप हैं उसी प्रकार यही तीनों रूप विश्व, तेजस और प्राज्ञ, जीव के कहे जाते हैं। शरीर के तीन चक्रों से इन तीनों रूपों का सम्वन्ध है, अर्थात् हृदय 'विश्व' से, कण्ठ 'तेजस्' से और आज्ञाचक्र 'प्राज्ञ' से। ब्रह्मांड और शरीर-रचना-साम्य की लगभग सभी साधकों ने पुष्टि की है परन्तु इसके अतिरिक्त भी इस मत का कथन है कि मानव-मस्तिष्क के बारह छिद्र, छः श्वेत पदार्थ में और छः भूरे में, क्रमशः ब्रह्मांड और चैतन्य देश की अनुकृति हैं। इनके रंगभेद का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, महत्त्व केवल उनमें निहित आंतरिक शक्तियों में है; क्योंकि यही शक्तियाँ ब्रह्मांड तथा चैतन्य-देश से संयोग कराने में सहायक हैं; अन्त में यह भी कहा गया है कि यह शाब्दिक तथ्य है, वास्तविकता केवल साधना के द्वारा ही ज्ञात हो सकेगी।

समस्त साधकों ने साधना के अन्तर्गत त्रिकुटी को विशेष महत्त्व दिया है, इसका वास्तविक कारण यह है कि यही स्थान भौतिक और आध्यात्मिक लोकों अथवा सगुण और निर्गुण के मिलन का है। त्रिकुटी के अनन्तर सुरत ब्रह्म के मार्ग पर चल पड़ती है, यही शिवनेत्र, क्रास तथा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना द्वारा निर्मित त्रिशूल है। साधक यहाँ तक पहुँचकर भी अमर हो जाता है, परन्तु आजकल कोई इतना अभ्यास भी नहीं करता। राधास्वामी-साधक त्रिकुटी से ही अपनी साधनात्मक यात्रा प्रारम्भ करते हैं।

डॉ० बड़थ्वाल ने भी कहा है कि इसमें सन्देह नहीं कि इनके द्वारा स्वीकृत प्रणाली, जो चक्रों को उत्तेजित करने के लिए प्रयुक्त होती है, आँख को ही आध्यात्मिक अभ्यास के प्रस्थान-बिन्दु का महत्त्व देती है। आँख की कनीनिका, जिसको पारिभाषिक शब्दावली में 'तिल' सम्बोधित किया गया है, जाग्रतावस्था में आत्मा के सुख-दुःख के अनुभव का स्थान है। तुरीयावस्था, आत्मा को नेत्र की कनीनिका में ला बिठाने पर उपलब्ध होती है, यह क्रिया मृत्यु के समय की क्रिया के समान है।

साधना के अन्तर्गत सर्वप्रथम स्थान नाम-स्मरण का है जो स्थूल रूप से कुछ काल उपरान्त सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है। श्वास प्रश्वास के साथ राधास्वामी नाम-स्मरण तथा साथ-साथ भ्रूमध्य दृष्टि को स्थिर बनाए रखकर वक्त (उपस्थित) गुरु का ध्यान प्रारम्भिक क्रियाओं में मुख्य है। प्राचीन तथा आधुनिक गुह्य साधनाओं में नेत्रों का बड़ा महत्त्व है, इस समय के रहस्य वैज्ञानिक भी किसी केन्द्र बिन्दु पर दृष्टि लगाकर अभ्यास किया करते हैं। गीता में भी नासाग्र-दृष्टि स्थिर करने का उपदेश दिया गया है। साधना के प्रारम्भिक चरण में गुरु शिष्य को अपनी सुरत-शक्ति का बल देता हुआ परम चैतन्य तक पहुँचने में सहायता करता है। इस प्रक्रिया को आरती के नाम से अभिहित किया गया है। आरती का इस मत में बड़ा महत्त्व है, शिष्य अपनी दृष्टि को गुरु की दृष्टि से मिलाता है, जब गुरु उसकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो सुरत-सिमटाव स्वयं प्रारम्भ हो जाता है। कोई-कोई साधक शिष्य आत्मविस्मृत होकर आत्मानन्द में लीन हो जाते हैं। परन्तु यह विस्मृति हिप्नाटिज़्म के समान नहीं होती, आनन्दमग्न होते हुए भी उनका स्वयं पर पूर्ण वश रहता है, आध्यात्मिक शक्तियाँ भी पूर्णरूपेण स्वतन्त्र रहती हैं, हिप्नाटिज़्म में व्यक्ति पूर्णरूप से परवश होकर दूसरे की इच्छानुसार कार्य करता है।

इन्होंने अन्य साधकों के अनुसार पवनपक्ष पर अधिक बल न देकर दृष्टिपक्ष पर अधिक बल दिया है। इस मत के द्वितीय आचार्य का कथन है कि नाम-स्मरण और गुरु-स्वरूप का ध्यान यदि त्रिकुटी या सहस्रदल कमल जैसे उच्च स्थानों से प्रारम्भ किया जाए और उस समय यदि शब्द प्रकट हो जाए, तो उस शब्द में इतनी शक्ति होती है कि वह साधक के मन की धारा को संसार से विरक्त कर अपने में पूर्णतया अनुरक्त कर लेता है। इस शब्द-रस में मग्न योगी को अन्य किसी रस की आवश्यकता नहीं होती। एकाग्र वृत्ति के साथ यदि नाम-स्मरण एक विशेष ढंग से किया जाए तो उसका प्रभाव शीघ्र दृष्टिगत होता है।

नाम का उच्चारण नाफ़ से लेकर सहसदल कमल तक करे। यानी चार हिस्से करके एक-एक हिस्सा नाम का उच्चारण एक-एक चक्र के स्थान पर करके अन्तिम हिस्सा सहस्रदल कमल में समाप्त करे—

१. नाफ़	हृदय	कंठ	सहसदल कमल
रा	धा	स्वा	मी

२. हृदय	कंठ	सहस्रदल कमल	त्रिकुटी
रा	धा	स्वा	मी

'राधास्वामी' नाम के वीजमन्त्र होने की प्रामाणिकता में इन्होंने कवीर की साखी भी उद्धृत की है—

"कवीर धारा अगम की सतगुरु दई लखाय।
उलट ताहि सुमिरन करो सतगुरु संग मिलाय।।"

इस मत का मुख्य उपादान गुरु है। यदि वह समर्थ सतगुरु है और शिष्य की भक्ति पूर्ण है तो योग स्वयं साध्य हो जाता है। सबसे अधिक विषमता सतगुरु अथवा योग्य शिष्य के संयोग में है। स्वामी जी महाराज का कथन है कि इन दोनों का संयोग चैतन्य द्वारा पूर्व निश्चित होता है। "भक्त में यदि लौह का गुण विद्यमान है तो चुम्बक रूपी गुरु के प्रकट होते ही वह आकर्षण का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त लोहे में भी भली-बुरी कोटियाँ होती हैं जैसे जंग लगा हुआ लौह उन जीवों के समान होता है, जो अन्धविश्वास तथा अज्ञान से आवृत हैं। द्वितीय अन्य धातुओं के मिश्रण वाला लौह, उन जीवों के समकक्ष है, जो संस्कारवश ज्ञान तथा अज्ञान के बीच विचर रहे हैं। तृतीय शुद्ध लौह के समान वे जीव हैं जिनपर गुरु रूपी चुम्बक का स्थायी प्रभाव पड़ता है।

सहजोवाई ने भी चार प्रकार के गुरु वताए हैं—

"गुरु हैं चार प्रकार के, अपने अपने अंग।
गुरु पारस दीपक गुरू, मलयागिर गुरु भृंग।।

"पारस का गुण है लौह को स्वर्ण में परिवर्तित करना, परन्तु वह उसे पारस नहीं बना सकता, इसी प्रकार सब गुरु शिष्य को अपने समान सामर्थ्यवान् नहीं बना सकते। कवीर ने भी इसी भाव की पुष्टि की है—

पारस में और संत में, बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा सोना करें, वह कर लें आप समान।।"

अपने समान गति देने वाला गुरु ही श्रेष्ठ कहा गया है। गुरु का महत्त्व लगभग सभी धर्मों में इसी प्रकार स्वीकार किया गया है। संसार की नब्वै प्रतिशत जनता पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता भलीभांति समझती है। सामान्य में विशेष को पथप्रदर्शक बना उसके द्वारा परमानुभूति करना एक स्वाभाविक सत्य है। 'गुरु' शब्द का अर्थ 'अन्धकार में प्रकाश करने वाला' कहा गया है। इस मत में सतगुरु वह महान् व्यक्ति है, जिसकी आत्मा परम चैतन्य के साथ तादात्म्य स्थापित करती है। गुरुभक्ति की दृष्टि से राधास्वामी मत सगुण भक्ति के समकक्ष आ जाता है; अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें प्रारम्भ से भक्ति का विषय लोकोत्तर रहता है। इतना ज्ञान लगभग सभी भक्तों को रहता है कि गुरु 'राधास्वामी' परम चैतन्य की प्राप्ति में साधन है, यद्यपि वह भी राधा-

स्वामी स्वरूप है। 'गुरु' के प्रति इनकी अनन्य भक्ति में वैष्णव सम्प्रदाय की रागानुगा भक्ति के दर्शन होते हैं। अन्य सन्तों ने गुरु-भक्ति को इतना महत्त्वशाली रूप नहीं दिया था, सम्भवतः उन्होंने गुरु में अवतारवाद का आरोपण नहीं किया था। वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत राम और कृष्ण की मूर्तियों की उपासना द्वारा अनन्य भक्ति का मार्ग प्रतिपादित किया गया है, उसी के प्रति पूर्ण समर्पणभाव पर भक्ति के चरमोत्कर्ष की कल्पना की गई है। रागात्मिका तथा वैधी, दोनों के द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है। इस मत में भी साधना की प्रथमावस्था में गुरु की अनन्य भक्ति की आवश्यकता है, पूर्ण समर्पण के द्वारा 'अहं' की समाप्ति होती है।

राधास्वामी मत के अन्तर्गत चैतन्य जीवित पुरुष की भक्ति का महत्त्व है। उनका कथन है जहाँ तक चित्तवृत्ति को स्थिर करने का सम्बन्ध है, किसी भी इष्ट व्यक्ति अथवा मूर्ति का ध्यान अवांछनीय नहीं, परन्तु सामान्य व्यक्ति का ध्यान करने से ध्येय के समस्त दुर्गुण ध्याता में भी समाविष्ट हो जाते हैं, अथवा जड़ धातु की बनी मूर्ति का ध्यान करने से बुद्धि पर जड़ता का प्रभाव पड़ता है। ध्यान वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति का होना चाहिए जो जीवात्मा का परम चैतन्य के साथ मिलन करवाने में सहायक हो सके। अतः इस मत के अन्तर्गत जीवित सतगुरु के ध्यान का उपदेश दिया जाता है; उनकी समस्त क्रियाएँ निर्मल चैतन्य देश की धारों के द्वारा हुआ करती हैं। इनका ध्यान करने वालों की वृत्ति स्वतः उन निर्मल चैतन्य धारों में समाविष्ट होने लगती है, परिणामस्वरूप सुरत ऊर्ध्व-मुख होकर चैतन्य लोक की ओर गमन करने लगती है। साधक को चैतन्य पुरुष के नेत्रों तथा मस्तक को बारम्बार निरखना चाहिए, नेत्रों के द्वारा चैतन्यता का प्रकाश प्रस्फुटित होता है, तथा मस्तक नेत्रों की चैतन्यता का केन्द्र बिन्दु है।

मनुष्य शरीर के अन्तर्गत छठे आज्ञाचक्र को सुरत अथवा चैतन्य आत्मा का अन्तिम बैठक स्थान कहा गया है। सुरत रूपी बूंद अथवा आत्मा, जो उस चैतन्यता के सागर की अंश-मात्र है, उस सिन्धु को छोड़कर दशम द्वार में आई और वहाँ से उतरकर छठे चक्र में स्थिर हो गई। यहाँ से अपनी चैतन्यता को शरीर की नौ इन्द्रियों में फँसाकर निकलने का मार्ग नहीं पाती। अतः स्पष्ट है कि सच्चा मार्ग उलटकर चलने में ही मिलेगा। हम पहले भी कह आए हैं कि समस्त रचना के मुख्य तीन भाग हैं, प्रथम चैतन्य लोक, द्वितीय ब्रह्मांड, तृतीय पिंड और इन तीनों के भी छः-छः उपभाग हैं, पिंड के अन्तर्गत चन्द्र-स्थान, सूर्य, पृथ्वी, बृहस्पति, शनि तथा वरुण ये सब स्थान मानवशरीर-स्थित छः चक्रों के ही अनुकूल हैं। अन्तरिक्ष के मैदान के उपरान्त ब्रह्मांड का क्षेत्र प्रारम्भ होता है और महाशून्य के अनन्तर चैतन्य देश की सीमा प्रारम्भ होती है। इनकी धनी और नाम सम्बन्धी कल्पना भी इसी के अनुसार है। चैतन्य धाम में 'राधास्वामी' और ब्रह्माण्ड में 'ओंकार' नाम ध्वनित है। पिंड देश के शब्द माया की सीमा में होने के कारण स्थूल तथा

वर्णात्मक है। नाभि के स्थान से प्रकट होने वाला शब्द 'परा वानी' हृदय और कंठ में, यही क्रमशः पश्यन्ती और मध्यमा तथा जिह्वा पर वैखरी वाणी कहलाता है। यही शब्द सारे संसार का कर्त्ता है। जब शब्द के स्थूल रूप में इतनी अधिक शक्ति है, तब सूक्ष्म की शक्ति का तो अनुमान भी कठिन है।

औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार इन्होंने भी जगत् की उत्पत्ति का कारण 'शब्द' माना है। इनका कथन है कि रचना से प्रथम पुरुष शून्य समाधि में निमग्न था; जब उसकी 'मौज' प्रकट हुई तो वही 'शब्द' रूपी धारा बनकर नीचे उतरा। यह दो स्थानों—अगम और अलख लोक में होकर सत्तलोक में आई, सत्यलोक तक पहुँचने वाले सन्त को 'सत्यपुरुष' कहा जाता है। सत्यलोक से दो स्थान भँवरगुफा तथा महाशून्य को छोड़कर शून्य अर्थात् दशम द्वार है, उसी स्थान से सुरत ब्रह्मांड और पिंड में व्याप्त है, यही सन्तों का 'आत्मपद' है। यहाँ तक सुरत पाँच तत्त्व, तीन गुण और कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर से पृथक् रहती है। इसी स्थान से पुरुष और प्रकृति प्रकट हुए, इसी को पारब्रह्मपद कहा गया। यहाँ तक पहुँचने वाले को इस मत में 'पूरा साध' कहा गया है। शून्य के नीचे त्रिकुटी है, जिसको गगन भी सम्बोधित किया गया है, इसी को ब्रह्म तथा प्रणव ओ३म् कहा गया। यहाँ से सूक्ष्म रूप लेकर तीन गुण, पाँच तत्त्व, वेद, समस्त रचना का सूक्ष्म पदार्थ तथा निर्मल माया प्रकट हुई। इस स्थान के स्वामी को ब्रह्म तथा सन्तों द्वारा इसी को 'ब्रह्मांडी मन' कहा गया। इसके नीचे सहस्रदल कमल में ज्योति निरंजन का वास है, सन्तों ने इसको 'निजमन' कहा है। राधास्वामी मत की वास्तविक साधना यहीं से प्रारम्भ होती है, इस स्थान की प्रथम छाया आज्ञाचक्र में पड़ी, पुनः दोनों नेत्रों में उसकी धारा आकर स्थिर हो गई।

इन्होंने 'सुरत' और 'कुलमालिक' में अंशांशी-भाव की कल्पना की है। सुरत रूपी बूंद सिन्धु-रूपी चैतन्य से बिछुड़कर माया के स्थूल आवरण में लिपट गई है जब सुरत शब्द-योग के अभ्यास द्वारा जीव सांसारिक बन्धनों से छूटकर राधास्वामी-धाम में जाकर वास करता है तब आवागमन के चक्कर से छूटकर अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा गया है। इसकी माया-सम्बन्धी कल्पना थोड़ी विचित्र है; वास्तव में यह एक प्रकार का आवरण है जो चैतन्य देश के नीचे चैतन्यता पर 'खोल' के रूप में चढ़ा हुआ है। इसकी भी कोटियाँ हैं सूक्ष्म, विशेष सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म; इसी प्रकार स्थूल, विशेष स्थूल और अतिस्थूल। इस संसार में आत्मा अतिस्थूल आवरण से आवृत है। संसार के व्यावहारिक पक्ष में तो वेदान्त की तमोरूपा माया करती दिखाई पड़ती है, परन्तु अद्वैत की विवर्त्तवादी माया को ग्रहण करते ये प्रतीत नहीं होते। इन्होंने रामानुज के समान माया के दो रूप, सत्त्वगुणप्रधान तथा तमोगुणप्रधान, माने हैं। इनके अनुसार यह मायावी सृष्टि भी सत्य है और उसका आदिकर्त्ता परमात्मा ही है।

卐

डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ

रस—कवियों की गवाही पर

पद्‌मभूषण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

हमारे देश का, और कदाचित् सारे संसार का, सबसे पुराना उपलब्ध साहित्य वैदिक संहिताएँ हैं। वे क्रान्तदर्शी ऋषि-कवियों के प्रत्यक्षीकृत भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हैं। वे ही हमारे मूल स्रोत हैं। सच पूछिए तो भारतीय साहित्य और सभ्यता 'काव्य' से उत्पन्न हुई है। वेद और उपनिषद् सार्वभौम और सर्वकालिक काव्य हैं। वैदिक साहित्य में 'कवि' शब्द बहुत गौरवपूर्ण अर्थों में व्यक्त हुआ है। परमात्मा को भी कवि कहा गया है और इस समूचे व्यक्त जगत् को 'देवस्य काव्यम्' देवता का काव्य कहा गया है। कवि काव्य की रचना आनन्द के लिए करता है। परात्पर शक्ति—ब्रह्म—ने भी जगत् की सृष्टि आनन्द के लिए की थी। आनन्द से ही यह सब-कुछ उत्पन्न हुआ है और आनन्द में ही लीन हो जाने वाला है। पूरा वैदिक साहित्य आनन्दोल्लास का गीत है। वैदिक ऋषि की दृष्टि में प्रकृति और मनुष्य, जड़ और चेतन, आनन्द की अभिव्यक्ति-मात्र हैं। नर्तकी के समान चारुभूषणा प्रकृति, वृषभ के समान गरजता हुआ मेघ-मण्डल, समस्त चराचर को अपनी महिमा से भर देने वाला आकाश, चर-अचर की सुप्त चेतना को प्रेरणा देने वाला सविता, सभी आनन्द का गान गाते हैं। यह जगत् मनुष्य का प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक है। प्रकृति की नित्य-नूतन शोभा मनुष्य को प्रेरणा देती है और प्रेरणा पाती है। इन दोनों में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे इस प्रकार के तत्त्व-ज्ञान को बढ़ावा मिल सके कि मनुष्य, जगत् या प्रकृति से भिन्न है और एक-दूसरे को जीतने या अभिभूत करने में निरन्तर क्रियाशील हैं। इस आनन्दोल्लास मुखर काव्य-तत्त्व-चिन्तन का जो क्रम उत्पन्न होता है, वह निश्चितरूप से दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को मधुमय बनाने वाले तत्त्व की खोज से शुरू होता है। वह सम्बन्ध क्या हो सकता है? क्यों प्रकृति या जगत् मनुष्य के अन्तरतर को इतना आकर्षित करता है, उल्लसित करता है, उत्स-मय बनाता है और बन्धन-विमुक्ति होने की प्रेरणा देता है, उपनिषदों में इसी के समाधान का प्रयत्न है। इन दोनों को जोड़ने वाला कोई शोभन—मंगल-तत्त्व है। समस्त हलचलों के पीछे कोई शान्त तत्त्व है। वही इन दोनों को मिलाता है। निःसन्देह वह तत्त्व स्वयं आनन्दरूप है। वह रस ही है। रस है भी और रस का अन्वेषी भी। जो रस भी है और रस का अन्वेषी भी, वह दो नहीं हो सकता। वह अद्वैत है। इस प्रकार प्रकृति और मनुष्य के पीछे चुपचाप स्थित, दोनों को मंगलमय कर्म की प्रेरणा देने

वाला अद्वैत तत्त्व ही रस है। वह आपाततः विरुद्ध दिखने वाली बातों में सामंजस्य स्थापित करता है, नानात्व में 'एक' की अभिव्यक्ति देता है। वह 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' है। भारतीय धर्म और दर्शन इसी 'पर' काव्य, वेद से उद्‌भूत हैं। परस्पर-विरुद्ध दिखने वाले पदार्थों में एकता और सामंजस्य खोजना उनका लक्ष्य है। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। भारतीय धर्म किसी पैगम्बर की वाणियों से नहीं पैदा हुआ, किसी धर्मयाजक सम्प्रदाय के संघटित चर्च-मठों द्वारा प्रचारित नहीं हुआ; वह आनन्दोल्लास से मुखरित काव्य की देन है—काव्य, जो मानवचित्त के अतल गाम्भीर्य से उद्‌गत होने के कारण सार्वजनीन है, और सर्वकालिक है। दुर्भाग्यवश पिछली शताब्दी में जिनके ऊपर इस प्रेरणादायक साहित्य के पुनरुद्धार और पुनराख्यान का दायित्व आ गया और जिन्होंने निष्ठापूर्वक इस विशाल देश के इतिहास के पुनर्गठन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन तत्त्व-जिज्ञासु विदेशी विद्वानों के संस्कार पैगम्बरी धर्म और उनके मठीय संगठन से बने हुए थे। उनकी परम्परा में 'धर्म' उतना व्यापक शब्द नहीं है जितना इस देश में रहा है। वह मज़हब के संकुचित अर्थ में व्यवहृत होता है। धर्म से दर्शन और काव्य के उद्‌भूत और प्रभावित होने का संस्कार उनके मन में बद्धमूल था। काव्य से धर्म और दर्शन, कला तथा शिल्प का प्रादुर्भूत होना उनके गले के नीचे उतरने वाली बात नहीं थी।

भारतवर्ष में इतिहास, पुराण और महाकाव्य की धारा निरन्तर बहती रही। व्यापक अर्थों में यह पूरा वाङ्मय काव्य है। काव्य का इतना विशाल धारावाहिक साहित्य अन्य किसी देश में नहीं है। काव्य से उद्‌भूत होने के कारण हमारे दर्शन और धर्म से सामंजस्य और सामरस्य की बात नहीं छूटती। उसके भीतर याजक और शासक-वर्ग का संघर्ष खोजने से और उसके बारे में पैगम्बरी विधि से उद्‌भूत तत्त्वज्ञान की भाषा में सोचने से वे गलत दिखाई दे सकते हैं।

फिर भी भारतवर्ष के लम्बे इतिहास में यह साहित्य की धारा सदा एक-सी नहीं रही है। बीच-बीच में उसमें शिथिलता आई है। यह भी कहा जाता है कि भारतवर्ष में इतिहास लिखने वाले नहीं हुए और स्वभाव उनका ऐसा कि जब कोई अच्छी-सी चीज़ मिल गई तो पुरानी को भुला दिया। कहा जाता है कि इसीलिए वाल्मीकि के पूर्ववर्ती काव्यजातीय ग्रंथ लुप्त हो गए। कदाचित् ऐसा ही हो, पर वैदिक और लौकिक साहित्य में एक लम्बा व्यवधान मिलता अवश्य है। वैसे हमने अन्यत्र दिखाया है कि महाभारतके कुछ आख्यान काफी पुराने हो सकते हैं। परन्तु वे अब अपने मूल-रूप में हैं या नहीं, कहना कठिन है। भारतीय परम्परा निश्चित रूप से वाल्मीकि को आदिकवि मानती है। आदिकवि का अर्थ है, वैदिक भाषा के साहित्य से भिन्न लौकिक संस्कृत का प्रथम कवि। इस प्रथम कवि के 'प्रथम काव्य' का रचयिता निःसन्देह बड़ी समृद्ध परम्परा का उत्तराधिकारी था, इसमें किसी को कोई सन्देह नहीं है।

रस का सिद्धान्त किसी-न-किसी प्रकार आदिकवि के काल में पूर्णरूप से स्वीकृत हो चुका था। उन दिनों कोई रस-मीमांसा का ग्रन्थ लिखा गया था या नहीं, यह तो हमें नहीं मालूम, पर वाल्मीकि ने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो उस प्रकार की शास्त्रीय चर्चा का अस्तित्व स्वीकार करने की ओर प्रवृत्त करते हैं।[1] यह तो स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य के छन्दों का पहले ही पर्याप्त विश्लेषण-विवेचन हो चुका था। अनुष्टुप् छन्द अपरिचित नहीं था। फिर भी 'मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वम्' (वा० रा०, १।२।१५) वाली कथा में वाल्मीकि को प्रथम श्लोक-छन्द का आविष्कर्ता माना गया। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के अनुसार वाल्मीकि की तालतय-समन्वित पद्योक्ति नियत क्रम में हुई थी—क्रौंचवध का दृश्य, उससे चित्त में उत्पन्न करुणा-भाव—फिर उसका गाढ़ होकर काव्य में प्रस्फुटन और अन्ततः इस अभिव्यक्ति द्वारा सौख्यानुभूति। स्वयं वाल्मीकि ने अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण किया था और इस नतीजे पर पहुँचे थे कि शोकार्त होकर मैं जो कह गया वह निस्सन्देह श्लोक है—काव्य है।[2] कालिदास भी यही कहते हैं। रघुवंश के १४वें सर्ग में इसी बात को दोहराया गया है[3] और वाल्मीकि मुनि के शिष्य भी यही कह गए हैं। रामायण में ही बताया गया है कि क्यों वैदिक अनुष्टुप् से इसे अलग माना गया। यह समाक्षर चार चरणों में गाया हुआ माना गया था :

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ १।२।४०

चार पाद वैदिक अनुष्टुप् में भी होते थे, प्रत्येक पाद में आठ अक्षर भी। पर वाल्मीकि ने दो यतियों की योजना करके, पहले और तीसरे चरण के पाँचवें अक्षर को और दूसरे और चौथे चरण के सातवें अक्षर को भी ह्रस्व करके उसे गेय बना दिया, उसे ताल और लय के उपयुक्त बनाया। इस प्रकार वैदिक भाषा का छन्द लौकिक भाषा में आकर नये रूप में परिष्कृत हुआ और बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ। वह गाए जाने योग्य बना। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि स्वयं कवि की गवाही से पता चलता है कि वास्तविक वस्तु के दर्शन से उनके चित्त में शोक-भाव का प्रबल वेग अनुभूत हुआ और वह भाव स्वयं नये छन्द में उतरकर काव्य बन गया। जिस समय वह प्रबल अनुभूति का वेग उदित हुआ उस समय कवि उसके पूरे स्वरूप को समझ नहीं सके। बाद में विश्लेषण करने के बाद उन्हें शोक के श्लोक-रूप तक परिणत होने की प्रक्रिया का अहसास हुआ। भारतीय

---

१. उदाहरणार्थ—अग्राम्यपद (६।३७।६), अलंकार (५।१५।३६), मधुर श्लक्ष्ण, अर्थवत् (सुन्दरकाण्ड) इत्यादि।

२. शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवति नान्यथा॥ १।२।१८

३. निषाद विद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ (रघु० १४।७०)
और, 'क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। (ध्वन्यालोक, १।१५)।

परम्परा में इस घटना को बहुत महत्त्व दिया गया है। पर यह मानकर भी कि इस घटना से प्रथम काव्य का आविर्भाव हुआ, इसे उस प्रकार की रस-व्याख्या का आधार नहीं बनाया गया जैसा भरत के प्रसिद्ध सूत्र को। अगर इसे आधार बनाया गया होता तो कदाचित् मध्ययुग के आलोचक अधिक स्पष्टता के साथ सौन्दर्यबोध की रचनात्मक प्रक्रिया और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के स्वरूप को हृदयंगम कर सकते। चिं० वि० वैद्य को इस घटना से अंग्रेज आलोचक हैजलिट की उस उक्ति का ध्यान आया था जिसमें कहा गया है कि किसी मार्मिक वस्तु या घटना के प्रत्यक्षीकरण से सम्मूर्तन प्रक्रिया और सान्द्र भावानुभूति को गतिशील बनानेवाली, समवेदना द्वारा विशेष प्रकार की स्वर-प्रक्रिया और ध्वनि-प्रवाह के रूप में फूट पड़ने वाली मानसिक प्रतिक्रिया ही कविता है। परन्तु मध्ययुग में उसे पूज्य वाणी मानकर ही सन्तोष कर लिया गया। इसका कुछ कारण होना चाहिए।

वाल्मीकि का उद्देश्य बहुत बड़ा था। निःसन्देह उनके शोकाकुल चित्त से निकली करुण वाग्धारा बड़ी शक्तिशालिनी सिद्ध हुई। रामायण में वस्तुतः क्रौंच-वध प्रतीक-मात्र है। दुर्भाग्य का व्याध केवल इसी जोड़े को अपने वाण का लक्ष्य नहीं बनाया है, युवराज राम को पतिरूप में वरण करने वाली अयोध्या और दीर्घ और कष्टमय प्रवास के बाद रामचन्द्र से मिलने को अत्यन्त आतुर पतिप्राणा सीता भी उसका लक्ष्य बनी हैं। सारी रामायण-कथा की पृष्ठभूमि में क्रौंच-मिथुन की कहानी केवल और भी करुण मिथुन-विछोहों की ओर इंगित करती है। पर इस घटना से उत्प्रेरित कवि-चित्त कुछ महत्तर उद्देश्यों से चालित हुआ था। प्रथम अध्याय में नारद से पूछे गए प्रश्न में उन्होंने महान् और उदात्त चरित्र को अपनी रचना का विषय बनाना चाहा था। वे किसी आदर्श व्यक्तित्व की तलाश में थे जिसमें 'समग्रा लक्ष्मी' का निवास हो। उन्होंने पूरे मनुष्य को चित्रित करना चाहा था। ऐसा उदात्त व्यक्तित्व-सम्पन्न मनुष्य जो विपत्ति में इतरा न हो उठे, विजयदर्प में क्षमा करना न भूल जाय, शक्ति पाने पर विनम्र होने में न चूके और जीवन के उपरले तल की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के अतल गाम्भीर्य में बहने वाली चरितार्थता की धारा की उपेक्षा न कर बैठे!

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में वस्तु, नेता और रस नाटक के आवश्यक अंग माने गए हैं। तथापि रस मुख्य है। रस-सिद्धि के लिए ही वस्तु और नेता की योजना की जाती है। रस अपने-आप आकाश में नहीं टिका रहता। उसके लिए कोई ठोस आधार चाहिए। विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से नेता या नायक के चित्त में रस का संचार होता है। बाद में अनेक आचार्यों ने इस बात पर विचार किया है कि रस की स्थिति वस्तुतः कहाँ होती है, कथा के नायक में, अभिनेयता में या दर्शक या पाठक में। इन आलोचना-प्रत्यालोचनाओं का सर्वोत्तम फल यह हुआ है कि रसानुभूति में पाठक या श्रोता या दर्शक को आवश्यक उपादान स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु आज इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहने

जा रहा हूँ। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि वाल्मीकि को नेता की ही खोज थी। ऐसे 'नर चन्द्रमा' की जिसमें मनुष्य की समग्रा लक्ष्मी का निवास हो। उन्हें नेताओं के किसी ऐसे स्थायी भाव की खोज नहीं थी जो विभावानुभावसंचारी भाव के संयोग से इस रूप में परिणत हो सके। वे मनुष्य के सम्पूर्ण और आदर्श रूप के जिज्ञासु थे। कदाचित् यही कारण था कि टीकाकारों ने रस के प्रसंग में आदिकवि के बहुपूजित श्लोक को रस की मान्यताओं की स्थापना के लिए उपयुक्त नहीं पाया। एक कारण और भी हो सकता है।

'वाल्मीकिरामायण' निश्चित रूप से बहुत शिष्ट और समुन्नत सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में लिखा गया है। परन्तु महाभारत जिस प्रकार 'लोक' के लिए—"ऐसे सामान्य मनुष्यों के लिए जिन्हें वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था और इसीलिए उन्हें महाभारत जैसे 'पाँचवें वेद' की आवश्यकता थी—लिखा गया था, कुछ उसी प्रकार रामायण भी लोक में प्रचारित होने के उद्देश्य से लिखा गया होगा। क्योंकि शुरू में ही बता दिया गया है कि चिरकाल तक यह रामायण-कथा लोक में प्रचलित रहेगी—लोकेषु प्रचरिष्यति। महाभारत की तरह 'नाट्यशास्त्र' भी पाँचवाँ वेद होने का दावा करता है। वह भी उन्हीं लोगों के लिए रचा गया था जो वेदों के अध्ययन का अवसर नहीं पा सकते। फिर भी 'नाट्यशास्त्र' और रामायण-महाभारत के लक्ष्यीभूत श्रोताओं में थोड़ा अन्तर है। यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में यह कथा दी हुई है कि साधारण जनता के कल्याण के लिए ही इस पाँचवें वेद की रचना हुई थी, फिर भी 'नाट्य-शास्त्र' बहुत प्रबुद्ध और सुशिक्षित मर्मज्ञ को दर्शक-रूप में स्वीकार करता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन दिनों 'नाट्यशास्त्र' को अंतिम रूप दिया गया था उन दिनों नाट्य-धर्मी रूढ़ियाँ साधारण दर्शकों को भी ज्ञात थीं। आजकल जिसे 'क्रिटिकल आडिएंस' कहते हैं वही 'नाट्यशास्त्र' का लक्ष्यीभूत श्रोता है। २७वें अध्याय में 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट कहा गया है कि नाटक का लक्ष्यीभूत श्रोता कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिए; जो व्यक्ति शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य को देखकर उल्लसित न हो सके, जो इतना संवेदनशील न हो कि दैन्य-भाव के प्रदर्शन के समय दीनत्व का अनुभव कर सके, उसे 'नाट्यशास्त्र' प्रेक्षक की मर्यादा नहीं देना चाहता। उसे देश-भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए, कला और शिल्प का विचक्षण होना चाहिए, अभिनय की बारीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, शब्दशास्त्र और छंदःशास्त्र के विधानों से परिचित होना चाहिए, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। 'नाट्यशास्त्र' यह मानता है कि सब में सभी गुण हों, यह सम्भव नहीं है। वयस्, सामाजिक स्थिति और शास्त्र-ज्ञान का कमो-बेश होना स्वाभाविक है। फिर भी उसमें अधिक-से-अधिक गुणों का समावेश होना चाहिए। जवान आदमी शृंगार रस की बातें देखना चाहता है; वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराणों

का अभिनय देखने में रस पाते हैं। 'नाट्यशास्त्र' इस रुचि-भेद को स्वीकार करता है। फिर भी वह आशा करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल अपने को रसग्राही बना सकेगा। स्वयं कालिदास भी सत्-असत् के विवेक करने वाले सज्जन पुरुष को अपने काव्य का सही मर्मज्ञ मानते हैं। और तब तक किसी प्रयोग को उत्तम स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं जब तक विद्वानों को सन्तोष न हो जाय। परन्तु कालिदास तक यह बात सहज रूप में कही गई है। यह बिलकुल ठीक है कि सभी लोग रसानुभूति में समान रूप से कुशल नहीं होते। जो लोग संवेदनशील प्रकृति के होते हैं वे ही सौंदर्य के सच्चे पारखी हैं। सन् ईसवी की चौथी-पाँचवीं शती तक के कवियों को अपनी कविता के लक्ष्यीभूत श्रोता के समझदार होने की बात क्रमशः अधिक मात्रा में अनुभूत अवश्य होती रही है पर उनके बहुत पंडित या शास्त्रज्ञ होने का आग्रह नहीं है।

काव्य-लक्षणों का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है, पर रामायण में ऐसे स्थल मिल जाते हैं जो परवर्ती कवियों की चामत्कारिक उक्तियों से तुलनीय हो सकते हैं। परन्तु ऐसी उक्तियाँ जो कथा की गति को धीमी कर दें और चरित्र की स्वाभाविक स्थिति से ध्यान खींचकर उक्ति-चमत्कार की ओर ले जाएं, बहुत कम हैं। मध्यकालीन महाकाव्यों में यह बात ठीक उल्टी है। विद्वानों ने पतंजलि के महाभाष्य के उदाहरणों और पिंगल-छन्दःसूत्र के छन्दों के रमणीय नामों से यह ठीक ही अनुमान लगाया है कि सन् ईसवी के बहुत पूर्व से ही अलंकृत काव्य-शैली काफी प्रौढ़ हो चुकी थी। रामायण में उसी समृद्ध परम्परा के दर्शन होते हैं। पंडितों ने दिखाया है कि कालिदास के काव्यों में प्रमुख बातों में से प्रत्येक को प्रेरणा देने योग्य प्रसंग रामायण में मिल जाते हैं। हिसाब करने वालों ने सीता के दुःख को अनुभव करने वाली एक ही साथ उनत्तीस और राम-विरहित अयोध्या के लिए १६ उपमाओं का प्रसंग खोजा है (रा० २, १६, २।११४) परन्तु फिर भी कालिदास के काव्यों में कुछ खास बातों पर बल दिया गया है और वे उजागर हो उठी हैं। कालिदास के समय से दो बातें निश्चित रूप से काव्य में प्रमुख स्थान पाने लगती हैं—(१) अनेक प्रकार से शब्दालंकारों और अर्थालंकारों द्वारा वर्णन को चामत्कारिक बनाना और (२) शृंगार रस—तत्रापि कामशास्त्रीय विलास-चेष्टाओं की योजना। कालिदास उपमाओं के लिए तो प्रसिद्ध ही हैं; उन्होंने 'रघुवंश' में एक पूरा सर्ग यमकों के लिए ही लिखा है। 'कुमारसंभव' और 'रघुवंश' में कामशास्त्रीय भोगवर्णन की योजना है। परवर्ती कवियों ने इन दोनों तत्त्वों का जमकर उपयोग किया। परवर्ती महाकाव्यों में वस्तु-तत्त्व की योजना इन दो बातों को उद्देश्य मानकर ही मानो की गई है। संस्कृत भाषा की समास-बहुला पदावली और बड़े-बड़े छन्द उनके सहायक सिद्ध हुए हैं। मुक्तक काव्य में भी इन बातों का ही छोटे पैमाने पर प्रयोग है। उक्ति-चमत्कार में श्लेष की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गई है और बारहवीं शताब्दी तक आते-आते वह हास्यास्पद स्थिति तक पहुँच गई है।

गद्य-काव्य में श्लेष की महिमा और भी अधिक उपलब्ध होती है। सुबन्धु ने (सातवीं शताब्दी) तो 'प्रत्यक्षर श्लेषमय वैदग्ध्य-विन्यासनिधि' (प्रत्येक अक्षर के श्लेषमय विन्यास के अपेक्षित कौशल के निधि) ही होने का दावा किया है। बाणभट्ट ने, जो उनके ईषत्परवर्ती हैं मानो अपनी ही रचना के लिए कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालाप से और भाव से निरन्तर मनोहरा तथा अनुरागवश स्वयमेव शय्या पर उपस्थिता नववधू के समान सुगम कलाविद्या सम्बन्धी विलास के कारण सुश्राव्य और रस के अनुसरण के कारण बिना प्रयास सुलभा, शब्दगुंफमयी कथा किसके हृदय से कौतुक नहीं उत्पन्न करती? सहजबोध, दीपक और उपमा अलंकार से सम्पन्न अपूर्व पदार्थों के समावेश से विरचित अनवरत श्लेषालंकार से किंचित् दुर्बोध्य कथा उज्ज्वल प्रदीप के समान कान्तिमान चंपे के कलियों से गूँथे हुए और बीच-बीच में चमेली के फूलों से अलंकृत घनी मोहन-माला की भाँति किसके मन को आकृष्ट नहीं करती?

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाभिधम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥
हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैपदार्थैः रुपपादिता कथा।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव॥

परन्तु सुबन्धु और बाणभट्ट में इस प्रकार श्लेष और यमक की योजना के साथ सरसता भी है और वह सरसता शृंगार रस की है। सच पूछा जाए तो इन दो श्लोकों में बाणभट्ट ने मध्यकाल के संस्कृत-साहित्य के सर्वोत्तम पक्ष को प्रत्यक्ष कर दिया है। यह कविता कलालाप के विलास से कोमल, समाससिद्ध पदावली के कारण गम्भीर, गुम्फ-मयी, उज्ज्वल, उपमा-दीपक आदि अलंकारों से सुसज्जित निरन्तर श्लेषालंकार से किंचित् दुर्बोध्य, अच्छी जाति के छन्दों और वर्णमैत्रियों से भूषित होगी, परन्तु सदा रसानुवर्ती भी। यहाँ इंगित से रस का शृंगारपरक अर्थ भी दिखा दिया गया है।

भारवि (छठी शताब्दी) अर्थ-गौरव के लिए ठीक ही प्रसिद्ध हैं। उक्ति-चमत्कार का उनमें प्राबल्य है, पर उन्होंने अपने एक पात्र के द्वारा अपना ही आदर्श मानो रख दिया है:

स्फुटता न पदैरपाहृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं गिराम्॥

उनके बाद भट्टि, कुमारदास, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों में उक्ति-चमत्कार और भोगपरक शृंगार-योजना की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गई और नायक के व्यक्तित्व की समग्रा-लक्ष्मी की अभिव्यक्ति की मात्रा क्षीण होती गई। कवियों में राज्याश्रय पाने की प्रवृत्ति बढ़ती गई और महाकाव्य का महान् आदर्श धूमिल हो गया। हिन्दी साहित्य

के रीतिकाल तक आते वह लुप्त हो गई। ६वीं शती के किसी कवि ने दुःख के साथ कहा था कि धन-लोभियों के हाथों अमृत निष्यंद सरस सरस्वती बहुमार्गगामिनी उद्दाम धारा का प्रवाह जो महाकाव्य में प्रवाहित होता था, समाप्त ही हो गया। साधारण कोटि के कवियों में तो वह अन्तर्धान ही हो गई। माघ और भारवि-जैसे महान् कवियों के काव्यों में अक्षर-योजना के खेल वाली रचना (चित्रकाव्य) में बहुत अधिक उलझने की प्रवृत्ति मिलती है। श्लेष-प्रियता में सुबन्धु और बाण-जैसे गद्यकाव्य लेखकों की तरह माघ, भारवि, कुमारदास और श्रीहर्ष बहुत रस लेते हैं। कभी-कभी तो इन अलंकारों को कथाप्रवाह और पात्र की स्वाभाविक मनःस्थिति को मन्द, अवास्तविक और कृत्रिम बनाने की पूरी छूट दी गई है। परन्तु बारहवीं शताब्दी के आस-पास तो ऐसे काव्य लिखे जाने लगे जो श्लेष-प्रदर्शन के पांडित्य को हास्यास्पद सीमा तक ले जाने लगे। सन्ध्याकार नन्दी के 'रामपाल चरित' के प्रत्येक पक्ष में रामायण के राम और ग्यारहवीं शती के अन्त में विद्यमान राजा रामपाल दोनों के चरित श्लेष द्वारा कहे गए हैं। इसी प्रकार 'राघव पांडवीय' नाम के दो काव्य लिखे गए जिसके लेखक धनंजय और माधव भट्ट (कविराज) थे जिनमें एक ही साथ रामायण और महाभारत की कथा कही गई है। हरदत्त सूरि के 'राघवनैषधीय' में राम और नल की कथाओं को उन्हीं शब्दों में कहने की चतुरता दिखाई गई है। ऐसे अर्थों को उन्हीं शब्दों से निकालने में संस्कृत का अपूर्व व्याकरण और शेष ग्रन्थ सहायता करते हैं और पाठक व्याकरण का सुनिपुण पण्डित न हो तो वह मूँड मार के भी कुछ नहीं समझ पाएगा। कोई आश्चर्य नहीं कि मध्यकालीन कवियों का अपने पाठक के शास्त्र-निष्णात होने का दावा उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और समग्रा नर लक्ष्मी की बात एकदम भूल गई। कालिदास तक और अंशतः भारवि तक, किसी-न-किसी रूप में बराबर ध्यान में रखी गई।

किस प्रकार अलंकारिता की प्रधानता हो सकती है यह इस अत्यन्त लोकप्रिय शब्दावली से अनुमान किया जा सकता है। कालिदास की 'रघुवंश' में आई हुई एक उपमा के कारण उन्हें 'दीपशिखा कालिदास' कहा जाता है, भारवि को किरातार्जुनीय की उपमा के आधार पर 'छत्र-भारवि' और माघ को इसी प्रकार 'शिशुपाल वध' में पाई गई उपमा के कारण 'घंटा-माघ'[1]। इन नामों के देने वाले के मन में इन कवियों का सर्वोत्तम रूप इन

---

१. **दीपशिखा कालिदास**

संचारिणीदीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीपाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ रघु० ७ ६

छत्र भारवि

उत्फुल्लस्थलनलिनीदलादमुष्मादुद्भूतः सरसिजसंभवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥ किरात० ५।३९

उपमाओं से ही व्यक्त होता है। जिन श्लोकों में ये उपमाएँ आई हैं उनके अध्ययन से एक विचित्र निष्कर्ष निकलता है। कालिदास की उपमा सहज और रसानुग है, भारवि की किंचित् जटिल पर रसानुवर्तिनी; पर माघ की बहुजटिल और रस दूरवर्तिनी। यही काव्य में चमत्कार का भी क्रम है। दो बातें और ध्यान देने योग्य हैं। रस विवेचन से उनका सम्बन्ध है। उनमें एक है १—काम देवता और दूसरा है २—सहृदय।

पूर्व-वैदिक युग में गंधर्व और अप्सराएँ एकदम अपरिचित ही थीं। उत्तर-वैदिक युग में इनकी चर्चा मिलने लगती है। 'शतपथ ब्राह्मण' ९-४-२ और ४ के अनुसार गंधर्व और अप्सराएँ मिथुन-रूप में प्रजापति से उत्पन्न हुई थीं। गंधर्व और कन्दर्प किसी एक ही आर्येतर, संभवतः किरातवर्गी, शब्द के संस्कृतीकृत रूप जान पड़ते हैं। परन्तु 'विष्णुधर्मोत्तर' (३-५८) के अनुसार कामदेव और उनकी पत्नी रति क्रमशः वरुण और गौरी के अवतार हैं। अवतार होने का अर्थ यह है कि वरुण जिस जाति या श्रेणी के देवता थे उससे भिन्न जाति में अवतरित हुए—कदाचित् गंधर्व जाति में। इसीलिए मकरकेतन (या मछली की ध्वजा धारण करने वाला) रूप तो वरुण के समान ही है पर ये स्वयं गंधर्व या कन्दर्प हैं। इनका ही एक नाम मार है। बुद्धदेव को समाधि-च्युत करने वाली मारसेना इन्हीं की थी। जान पड़ता है बुद्धदेव से मार खाने के बाद ये परवर्ती हिन्दू साहित्य में शिव से भी पिटने को बाध्य हुए थे। पिटे दोनों ही जगह थे। आगे-पीछे की राम जाने। परन्तु जो देवता वैरागियों की दुनिया से खदेड़ा गया वह भोगियों की दुनिया पर हावी हो गया। कालिदास इन्हें दोनों रूपों में सम्मान देते हैं पर परवर्ती रूप उन्हें अधिक प्रिय है। बाद के कवियों में इनका बड़ा सम्मान है। शिवजी के नयनाग्नि से भस्म होने के बाद ये अनंग हो गए और 'कुमार सम्भव' में दिखाया गया है कि शिव से इन्होंने कस के बदला लिया था। तब से काव्य की दुनिया में ऐसा दृढ स्थान अधिकार कर गए कि आधुनिक युग के सबसे श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने आश्चर्य के साथ शिव को पुकार कर कहा था—कि ऐ वैरागी तूने पाँच बाणों वाले देवता को भस्म करके यह कैसा अनर्थ किया कि उसकी राख को विश्व-भर में फैला दिया। इनके ये पाँच बाण फूलों के हैं। तुलसीदास जैसे वीतराग महात्मा भी इनकी विजयिनी शक्ति के कायल थे। उन्होंने लिखा है कि कामदेव फूलों का बाण हाथ में लेकर

घंटा माघ

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ,
अहिमरुचौ हिम धाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरियं विलंबिघंटा—
द्वयपरिचारित वारणेन्दुलील:

—शिशुपाल वध।

ही सारी दुनिया को वश में कर लेता है। कामदेवता की महिमा से सारा भारतीय, विशेष-कर मध्ययुग और उत्तरवर्ती मध्ययुग का साहित्य आक्रान्त है। इस देवता के बाण-संधान की दक्षता और अव्यर्थ चोट से बहुत परिचित हैं। इस देवता ने शृंगार-रस को ही नहीं परवर्ती काल के भक्ति-रस को भी अपनी तर्जनी के संकेत से नचाया है। मध्यकाल के कवियों ने इस देवता को बड़ा सम्मान दिया है। एक को दो करने वाले तो बहुत हैं पर दो को एक करने वाला यह विचित्र धनी देवता नमस्य है[1]। इस देवता की ही महिमा है कि मध्ययुग के साहित्य में उत्तान शृंगार का बहुत ही व्यापक वर्णन है। पुष्पबाणों से देव-देव को जीतने वाला, सुरत-लीला-नाटिका का सूत्रधार यह देवता काव्य में वह सब कुछ दे पाने में सफल हुआ है जो शृंगार का शास्त्रीय रूप है। कोई आश्चर्य नहीं कि मध्यकाल के कवियों में शृंगार-रस का उत्तान रूप इतना व्यापक होकर प्रकट हुआ है। कभी-कभी शृंगार को ही रस कहा गया है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में भोजराज ने पूर्वाचार्यों का यह श्लोक उद्धृत किया है :

शृंगारी चेत कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेवतत्।

इसलिए भोजराज ने अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह मत निश्चित किया कि रस तो शृंगार ही है। शारदातनय ने भाव प्रकाश में कहा है—

मनसो ह्लादजननः स्वादो रस इति स्मृतः।
शृंगारस्य स युज्येत तस्य ह्लादात्मकत्वतः।
अन्त्येषां रसता प्रायः शिक्षा केनापि हेतुना।

दूसरा तत्त्व सहृदय है। यह शब्द बहुत पुराना नहीं जान पड़ता। कुछ लोग तो ध्वनिकार का नाम ही सहृदय बताते हैं पर यह केवल अनुमान-मात्र है जो सही न होने की ओर ही अधिक झुकता है। 'सहृदय' से मिलता-जुलता एक शब्द कालिदास ने प्रयोग किया है। वह है 'सचेताः'। पार्वती की तपस्याखिन्न प्रभा को म्लान देखकर ब्रह्मचारी

---

१. एकं वस्तु द्विधाकर्तुं बहवः सन्ति धन्विनः।
धन्वीस मार एवैको द्वयोरैक्यं करोति यः॥

—सु० र० भा० २५०

कुलगुरुरबलानां केलिदीक्षा प्रदाने
परमसुहृदनंगो रोहिणीवल्लभस्य।
अपि कुसुमपृपत्कैर्देवस्य जेता
जयति सुरतलीलानाटिकासूत्रधारतः।

—शार्ङ्गधर पद्धतिः

वेशधारी शिव ने कहा था कि तुम्हारी इस दशा को देखकर किस 'सचेता' का हृदय दुखी नहीं होगा अर्थात् सचेता व्यक्ति ही रूप-लावण्य की महिमा को समझता है। यही सहृदय भी है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि उस व्यक्ति का मनोमुकुर काव्य और शास्त्र आदि के अध्ययन से स्वच्छ हो गया होता है। काव्य की कसौटी सहृदय का हृदय ही बताया जाता है। परन्तु परवर्ती ग्रन्थों से पता चलता है कि वह बहुत अधिक संवेदनशील तो था ही परन्तु साथ ही रूप, वर्ण, प्रभा, आभिजात्य, विलासिता, माल्य, वस्त्र, उपलेपन आदि का निपुण जानकार भी होता ही था, और सबसे बड़ी बात कि वह युवक, रसिक और शृंगार-प्रिय होता था (सहृदय हृदया लीला)।

इन दो तत्त्वों ने काव्य में शृंगार को प्राधान्य दिया। हर कवि अपनी वाणी को सरस बनाने के लिए कुछ ऐसे प्रयोग करता है जो शृंगार के द्योतक होते हैं। और शृंगार क्या है? कहा गया है, शृंग शब्द का अर्थ है मन्मथोद्भेद अर्थात् कामदेव नामक अशरीरी देवता का सक्रिय होना। और 'शृंगार' उस देवता की प्रभावशालिनी शक्ति को प्रकट करने वाला रस ही है।

प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में भी उक्ति-चमत्कार और शृंगार की श्रेष्ठता संस्कृत कवियों के समान ही बनी रही। संस्कृत भाषा की समासशक्ति वहाँ उधार ली गई। कुछ कवि पांडित्य-प्रदर्शन के शिकार हुए थे, पर लोक-जीवन का साहित्य अधिक सरल, सहज और स्वाभाविक था।

अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति के दो रूप मिलने लगते हैं। एक तो वही उक्ति-चमत्कार का पाण्डित्य और सहृदय हृदय को प्रभावित करने वाला मन्मथोद्भेदमूलक शृंगार और दूसरा साधारण जन की सरस उक्तियाँ—आडम्बरहीन, मोहक और साक्षात् प्रेरणादायक होने के कारण सहज। यह ग्राह्य होकर भी जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त ने कहा था कि यदि शहर से दूर जंगल में स्थित आश्रम में ऐसा सौन्दर्य मिलता है जो राजाओं के अन्तःपुर में दुर्लभ है तो कहना पड़ेगा कि अपने गुणों के कारण सहज प्राण-शक्ति के भरोसे बढ़ने वाली वन-लताओं ने यत्नपूर्वक पोषित ललित उद्यान-लताओं को परास्त कर दिया।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुदयान लता वनलताभिः॥

इन कविताओं को पढ़कर महाकवि की इस उक्ति की याद आए बिना नहीं रहती।

स्वयंभू, त्रिभुवन और पुष्पदन्त जैसे कवियों के काव्य की भाषा अवश्य ही अपभ्रंश है परन्तु वे शास्त्रीय परम्परा के कवि हैं। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत के काव्यों का गम्भीर अध्ययन किया था। वे अलंकार, रस और पिंगल के पूर्ण ज्ञाता थे। परन्तु हेमचन्द्र के

व्याकरण में उद्धृत दोहों में ग्रामीण कवियों की सरल अभिव्यक्ति है, उनमें कोई आडम्बर नहीं है, वक्रता नहीं है, रसनिष्पत्ति के लिए चिन्तन-जन्य वक्र-भंगिमा नहीं है। स्वयंभू लोक-भाषा के प्रेमी थे, परन्तु रस-सृष्टि के अभिजात-जनोचित नियमों के परिपालक भी थे। 'हरिवंश पुराण' में स्वयंभू ने लिखा है कि उन्हें इन्द से व्याकरण, व्यास से विस्तरण, पिंगल से छन्द और प्रस्तार-विधि, भामह, दण्डी से अलंकरण, वाणभट्ट से घनघनित शब्दाडम्बर, हरिषेण तथा अन्य कवियों से कवित्व-गुण और चउम्मुह (चतुर्मुख) से छन्दण, द्विपदी और ध्रुवकों से जड़ित पद्धड़िया बंध प्राप्त हुआ।

इन्देणसमप्पिउ बायरणु। रस भरहें वासें वित्थरणु ॥
पिंगलेण छन्द पथ पत्थारु। भामह दण्डिणिहि अलंकारु ॥
वाणेण समप्पिउ घणघणउ। ते अक्खर डम्वर धण धणउ ॥
हरिसेणिं पाविउ णित्तणउ। अवरेहि मि कहहिं कवित्त णउ ॥
छन्दणिय दुवइ धुवएहिं जड़िय। चउमुहेण समप्पिय पद्धड़िय ॥

इस वक्तव्य से उनके गम्भीर अध्ययन और शास्त्रीय ज्ञान का परिचय मिलता है। निश्चय ही उनके काव्य में गम्भीर अध्ययन-मनन का साक्ष्य वर्तमान है। वे विकट बंध के कवि कहे गए हैं। पर जिन दोहों की चर्चा हम आगे करने जा रहे हैं वे पंडितों के लिखे नहीं जान पड़ते। पंडित वे हों तो भी पंडिताई के बहुत ऊपर उठे हुए हैं। सहज-भाव बड़ी कठोर साधना से प्राप्त होता है। कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो सकेगी।

एक विरह-व्याकुला प्रिया कहती है कि किसी प्रकार यदि मैं प्रिय को पा जाती तो एक ऐसा खेल करती जो अब तक किसी ने नहीं किया। उसके प्रत्येक अंग में ऐसा पैठ जाती जिस प्रकार पानी मिट्टी के नये कसोरे में प्रवेश कर जाता है—अंग-अंग में भीन जाता है :

जइ केवइं पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवं सव्वं पइसीसु ॥

प्रेमपरवशा वधू कहती है—"माई री! जब मन स्वस्थ हो तो मान की सुधि की जाए। यहाँ तो बात ही कुछ और है। ज्यों ही प्रिय को देखती हूँ, ऐसी हड़बड़ी मचती है कि फिर अपनी समझी-बूझी को याद कौन करे। सारा सोचा-समझा ग़ायब हो जाता है।"

अम्मीए सत्थावथेहिं सुधि करि किज्जइ माणु।
पिय दिट्ठें हल्लोहलइ को सुमरइ अप्पाणु ॥

मान करने वाले दूल्हे को सिखाया जा रहा है—"प्यारे, मैंने तुम्हें बहुत बार

मना किया कि मान देर तक न किया करो। बे-पीर, इस मान-मनौअल में रात बीत जाएगी और जल्दी-जल्दी दड़बड़ विहान हो जाएगा।"

ढोल्ला मइँ तुहुं वारिया मा करु दीहा माणु।
निद्दय गमिही रत्तड़ी दड़बड़ होइ विहाणु॥

कोई वयस्का सखी सहजवंकिम-लोचना नायिका को परिहास-पेशल वाणी में समझा रही है—"बिटिया, मैंने तुम्हें कितनी बार कहा है कि इस दृष्टि को बाँकी न किया करो। वह जो कान वाली बर्छी होती है न, जो हृदय में घुसकर मांस नोचकर बाहर निकलती है, उसी प्रकार तुम्हारी यह बाँकी दृष्टि शिकार को बेधती है।"

बिट्टीए मइं भणिउं तुहुं मा करु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ बेहइ हियइ पइट्ठि॥

बंकिम-कटाक्षों के तीखेपन को इस प्रकार समझाया जाता है—जैसे-जैसे वह साँवरी अपने बंकिम लोचनों को घूमना सिखाती है वैसे-वैसे मन्मथ अपने बाणों को खरे पत्थर पर पजा-पजा के (घिस-घिस के) तीखा कर लेता है (ये बाण फूलों के नहीं, इस्पात के होंगे!)

जिम जिम बंकिम लोयणहँ णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिम तिम मम्मह णिअअ सरु खरिपत्थरि तिक्खेइ॥

विरहिणी ग्राम-वधू काक के शकुन पर अब विश्वास नहीं करती। सुनते-सुनते कान पक गए पर प्रिय का आना नहीं हुआ और यह काग है कि बोलता ही जा रहा है। उसने उड़ाना चाहा इस मिथ्या-भाषी को, हाथ उठाए। विरह से दुबली कलाइयों से चूड़ी निकल कर पृथ्वी पर आ गिरी लेकिन कागा की बात ठीक ही थी। अचानक प्रिय दिख गया। आधी चूड़ियां धरती पर गिर गई थीं। पर सहसा प्रियदर्शन से खुशी की लहर दौड़ी, दुबली कलाई फूल कर मोटी हुई, आधी चूड़ियां तड़ाक से टूट बिखरीं—

वायस उडावंतिए पिय दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहिं गय अद्धा फुट्ट तड़न्ति॥

कैसी सहज अभिव्यक्ति है। कोई बनाव-सिंगार नहीं, सहज उल्लास का सहज प्रकाशन।

मान करने वाले प्रेमी से प्रिया कहती है—देखो प्यारे, ज़िन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है और मौत का आना एकदम तय है। ऐसी हालत में यह रूठने की बात क्यों? रूठोगे तो ये वियोग के एक-एक दिन देवताओं के सौ-सौ बरसों के समान हो जाएंगे।

इस प्रकार बारहवीं शताब्दी तक संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश के कवि शृंगार-रस

को सर्वश्रेष्ठ और कभी-कभी—एकमात्र रस मान चुके थे। वीर-रस उसके बाद ही आता है। वस्तुतः स्वयं 'नाट्यशास्त्र' केवल इन दो रसों को पूर्णांग नाटक के लिए स्वीकार कर चुका था। बारहवीं शताब्दी तक वीर-रस प्रायः शृंगार का अंगी बन चुका था। अपभ्रंश की और परवर्ती लोक-भाषाओं की कविताओं में वीर-रस की दर्पोक्तियां प्रायः प्रेमिका या वीर-पत्नियों द्वारा करायी गयी हैं, या फिर वीर-रस की योजना अनूढा रूपवती कन्याओं के हरण के लिए की गई है। 'पृथ्वीराज रासो' की अधिकतर लड़ाइयों के मूल में प्रेम है।

शृंगार मन्मथोद्भेद का रस है। मन्मथ देवता यौवन की उद्दाम प्राणशक्ति के उद्बोधक हैं और उनके लक्ष्य युवक और युवती जन हैं। इस उद्दाम शारीरिक आनन्द के आश्रय राजकुमार और राजकुमारियां हैं जो प्रायः सुरूप होते हैं। सामाजिक रीति-नीति सब समय इनके सम्बन्धों की सहायिका नहीं होती। आवश्यकता पड़ने पर कविगण उसकी अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करते। परकीया तो थी ही, असती भी रसोद्रेचक सिद्ध हुई। प्राकृत की गाथाओं में और अपभ्रंश के दोहों में असती मन्मथोद्भेद की पूरी गरिमा लेकर आई है। संस्कृत के सुभाषितों में भी उसकी महिमा अस्वीकृत नहीं हुई है।

इसी पृष्ठभूमि में प्राकृत नायक-नायिका के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और शृंगार-रस की पूरी परम्परा को भगवान् की ओर मोड़ देने का प्रयत्न हुआ। जयदेव की रचनाओं में संस्कृत की सारी समृद्ध परम्परा—कोमल कान्त पदावली, अनुप्रास और यमक की मन-मोहन योजना, विरह और मिलन को गाढ सम्वेदना का विषय बनाने वाली काव्य-रूढियां—प्राकृत पुरुषों और स्त्रियों से हटकर भगवत्स्मरण की ओर मोड़ दी गई। 'सरसता' को हरिस्मरण का माध्यम बना दिया गया।

अत्यधिक प्राकृत-केंद्री कविता की प्रतिक्रिया-स्वरूप सहज भगवत्प्रेम में हुआ। सन्तों और सगुण-मार्गी भक्तों ने नये रस-बोध को बढ़ावा दिया। यद्यपि रीति-काल में संस्कृत की प्रवृत्तियों को जिला रखा गया पर भक्ति के आदर्श उसे भी चालित करते रहे। लोक-भाषाओं के साहित्य में पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा एकदम लुप्त तो नहीं हुई, पर संस्कृत कवियों की ऊँचाई तक वह कभी नहीं पहुँच पाई, पर भक्ति और समाज-मंगल की जिस ऊँचाई तक वह पहुँची वह भी संस्कृत के परवर्ती कवियों में किसी को नसीब नहीं हुई थी।

वैदिक युग में मनुष्य और प्रकृति एक ही सिक्के के दो पहलू थे। उन्हीं में ऐसे अन्वेषण ने 'शान्तं शिवमद्वैतं' रस-तत्त्व को उजागर किया। रामायण-युग में मनुष्य की 'समग्रा लक्ष्मी' के साथ प्रकृति की समग्रा लक्ष्मी ताल मिलकर चलती है। परन्तु बाद में सारा जगत् मनुष्य के कुछ भावों को पुष्ट करता है और रस बनता है। यह समग्र व्यक्ति का ऐसा उद्बोध नहीं है जो उदात्त रूप में समाज का प्रतिनिधित्व भी करता हो और

उसका उन्नयन भी। उसमें मनुष्य द्वारा उद्भावित शास्त्रज्ञान प्रमुख स्थान ग्रहण करता है और भावविशेष की प्रबलता जीवन के विविध क्षेत्रों को अभिभूत कर देती हैं। यद्यपि इस भावविशेष की पुष्टि को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है पर परब्रह्म के उस रूप को जो प्रकृति और जगत् के नानात्व में अद्वयतत्त्व को खोजने का प्रयास होकर ही रस बनता है—भुला दिया जाता है। कालिदास तक वह भुलाया नहीं गया था पर बाद में भुला दिया गया। पर इसकी प्रतिक्रिया १२वीं शती के बाद परब्रह्म ही मुख्य हो जाता है मनुष्य उपेक्षित। परम्पराएँ चलती रहती हैं—निर्जीव होकर। भक्ति और आती है—प्राणधारा से उच्छल। रस की यह परिणति विस्मयकारक है।

भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप

आचार्य नगेन्द्र

भारतीय वाङ्मय में यों तो संगीत, चित्र-रचना, मूर्तिकला तथा वास्तुशिल्प आदि अन्य ललित कलाओं पर भी कुछ-एक प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र के आधार-तत्त्वों का विवेचन मूलतः काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ही किया गया है। अतः सौन्दर्यानुभूति या कलानुभूति का विश्लेषण यहाँ प्रमुख रूप से रस के सन्दर्भ में ही हुआ है जो भारतीय सिद्धान्त के अनुसार काव्य अथवा कला के आस्वाद का प्राण-तत्त्व है। आरम्भ में रस नाट्यकला का तत्त्व था, वहाँ से वह काव्य में आया और काव्य से उसका प्रवेश चित्र, संगीत आदि कलाओं में भी हो गया। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए हमें रस-विवेचन को भी आधार मानकर चलना होगा।*

---

*पाद-टिप्पणी

इस प्रसंग में यह प्रश्न किया जा सकता है कि सौन्दर्य के अनेक रूप ऐसे हो सकते हैं जिनमें भाव की सत्ता नहीं रहती; अतः सौन्दर्यानुभूति के लिए भाव का आधार अनिवार्य नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारवादी और उनके सहधर्मी रीति-सिद्धान्त के अनुयायी काव्य को शब्दार्थ का चमत्कार ही मानते हैं—रस, भाव आदि भी शब्दार्थ में चमत्कार की सृष्टि करने के कारण ही काव्य के अंग बन पाते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में बिम्बवाद तथा अन्य आधुनिक काव्यान्दोलन भी स्पष्ट शब्दों में भावना से विनिर्मुक्त सौन्दर्य अथवा कवित्व की सत्ता स्वीकार करते हैं, जिसमें बिम्ब आदि की सृष्टि ही सौन्दर्य का आधार रखती है। एक कलामर्मज्ञ ने इसी प्रश्न पर विचार करते हुए कहा : ताजमहल को देखकर हम एक स्निग्ध-सौन्दर्य-जन्य प्रसादन की चेतना का अनुभव करते हैं—प्रेम आदि की सम्वेदना का नहीं। ऐसी स्थिति में कलानुभूति में मानव-संवेग का अनिवार्य आधार मानना समीचीन नहीं है।—इस शंका का समाधान हम अन्यत्र विस्तार से कर चुके हैं। शब्दार्थ का चमत्कार आखिर है क्या और उसकी सृष्टि कैसे होती है ? काव्य के

भरत से लेकर भामह तक प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में, रस का स्वरूप वस्तुपरक था—नाट्य के सन्दर्भ में रस एक प्रकार से भाव-प्रेरित नाट्य-सौन्दर्य का वाचक था और काव्य के सन्दर्भ में वह इसी प्रकार के भाव-प्रेरित शब्दार्थ-सौन्दर्य का। किन्तु बाद में शैवाद्वैत दर्शन के प्रभाव से, जिसके सर्वाधिक समर्थ व्याख्याता थे अभिनवगुप्त, रस का स्वरूप सर्वथा आत्मपरक हो गया। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य-सौन्दर्य नाट्य का अंग है और शब्दार्थ-सौन्दर्य काव्य का—यह स्वयं रस नहीं है, रस तो इसके आस्वाद का नाम है। आगे चलकर भारतीय काव्यशास्त्र में यही धारणा सर्वमान्य हुई। अभिनव से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ तक उन सभी आचार्यों के, जिन्होंने कि रस को आस्वाद-रूप माना है, मतों का सारांश इस प्रकार है :

(१) सौन्दर्यानुभूति अथवा कलानुभूति का आधार मूलतः मानव-भावनाएँ हैं। यह अनिवार्यतः आह्लादमयी होती है—यह एक प्रकार की आनन्दमयी मनःस्थिति है—आत्मसाक्षात्कार अथवा आत्मोपलब्धि की स्थिति है।

(२) यह स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय है—अर्थात् ऐन्द्रिय तत्त्वों से प्रायः मुक्त है। कला-निबद्ध होने पर लौकिक भाव व्यक्तिगत रागद्वेष से ऊपर उठ जाते हैं—देश और काल की सीमाओं से मुक्त होकर वे साधारणीकृत अथवा सार्वभौम बन जाते हैं। परिणामतः वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय नहीं रह जाते। उनके द्वारा सहृदय का भावबोध परिष्कृत और चेतना निर्मल हो जाती है।

(३) फिर भी यह शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द नहीं है क्योंकि न तो यह आनन्द की स्थायी अवस्था है और न लौकिक तत्त्वों से पूर्णतः मुक्त ही होती है।

अतः भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार सौन्दर्यानुभूति अथवा कलानुभूति एक प्रकार के अतीन्द्रिय आनन्द की स्थिति है—अथवा लौकिक शब्दावली में, एक प्रकार की

सन्दर्भ में अर्थ का चमत्कार वास्तव में कुतूहल का पर्याय न होकर रमणीयता का ही वाचक है और रमणीयता का समावेश केवल कल्पना द्वारा नहीं, भाव-प्रेरित कल्पना द्वारा ही सम्भव हो सकता है। कविता का उद्देश्य केवल चकित कर देना नहीं है, कविता तो चित्त को प्रभावित करती है और सम्वेदनाओं को जाग्रत करती है। अतः जो यह मानते हैं कि शब्दार्थ का चमत्कार भावना से विनिर्मुक्त होता है, वे या तो 'चमत्कार' शब्द का संकुचित और गलत प्रयोग करते हैं या भाव का अर्थ केवल स्थायी भावों तक सीमित कर देते हैं—या फिर मूल तत्त्व की उपेक्षा कर केवल बाह्य-तथ्य को ही महत्त्व देते हैं। भारत में अलंकार और रीति-सिद्धान्त की अस्वीकृति, और उधर पश्चिम में बिम्बवाद आदि का पराभव इसका प्रमाण है। ऐसी स्थिति में कला के सन्दर्भ में सुन्दर और सरस में अभेद ही रहता है और सौन्दर्यानुभूति अथवा कलानुभूति रस से मूलतः भिन्न नहीं मानी जा सकती।

आत्मोपलब्धि की स्थिति है—जो कला द्वारा, परिशुद्ध-विशदीकृत भावनाओं के माध्यम से प्राप्त होती है।

किन्तु वर्तमान युग में उपर्युक्त सभी धारणाएँ शंका-धूमिल हैं और आधुनिक विचारक के मन में प्रस्तुत सन्दर्भ में तीन प्रश्न अनायास ही उपस्थित हो जाते हैं :

(१) भावानुभूति और कलानुभूति में क्या सम्बन्ध है ?

(२) क्या कलानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी होती है ?

(३) यदि ऐसा है तो इस आनन्द का स्वरूप क्या है ?

इन प्रश्नों के समाधान के बिना आज के कला-रसिक का मनःपरितोष नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान आलोचना-शास्त्र एवं कला-सिद्धान्तों के आलोक में इनका आख्यान किया जाए।

१. कलानुभूति और भावानुभूति का क्या सम्बन्ध है ?

कलानुभूति का आधार मूलतः मानव-भावनाएँ ही हैं। सौन्दर्य के किसी ऐसे रूप की कल्पना करना सम्भव नहीं है जिसमें प्रच्छन्न अथवा प्रकट, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानव-भावना का संस्पर्श न हो। भारत के अधिकांश कलामर्मज्ञ काव्यगत-भावना और मानव-भावना के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में सर्वथा आश्वस्त हैं : न भावहीनोऽस्ति रसो, न भावो रस-वर्जितः (भरत)—अर्थात् न भाव के बिना रस की स्थिति है और न रस के बिना भाव की। फिर भी कलागत भाव मानव-भाव या लौकिक-भाव से भिन्न है और किसी भी प्रसंग में दोनों का ऐकात्म्य सम्भव नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार रस के आधारभूत स्थायीभाव दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं : (क) रति, विस्मय, उत्साह और हास्य—जिनका आस्वाद लोक में प्रीतिकर होता है और (ख) शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा—जिनका अनुभव अप्रीतिकर है। किन्तु जब ये भाव काव्य या कला का विषय बन जाते हैं तो इन सभी का दंश अनिवार्यतः नष्ट हो जाता है। कला का विषय बन जाने पर शोकादि भावों का अनुभव क्लेशकर नहीं रह जाता। कला-सर्जना की प्रक्रिया में पड़कर उनकी कटुता समाप्त हो जाती है, यह सामान्य अनुभव का विषय है। अतः काव्यगत भाव लौकिक भाव से भिन्न है—यह सिद्ध करने के लिए विशेष युक्ति-प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

लौकिक भाव या तो स्वगत होता है या परगत—अर्थात् या तो वह स्वानुभव-रूप होता है या दूसरे के अनुभव की प्रतिक्रिया-रूप होता है। स्वानुभव भी दो प्रकार का हो सकता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। कलानुभूति प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, यह हम अभी सिद्ध कर चुके हैं। तो फिर क्या यह परोक्ष अनुभव है ? परोक्ष से अभिप्राय ऐसे अनुभव से है जो आलम्बन के अनुपस्थित होने पर भी पूर्वानुभव के आधार पर हमारी चेतना में

उद्‌बुद्ध हो जाता है। सामान्यतः वह किसी प्रत्यक्ष पूर्वानुभव की स्मृति-रूप होता है। कलानुभूति किसी प्रत्यक्ष लौकिक अनुभव की स्मृति नहीं है, क्योंकि स्मृति भी तो अनिवार्यतः व्यक्ति-संसर्गों से युक्त होती है; वह मूल अनुभव के स्वरूप के अनुसार ही सुखात्मक अथवा दुःखात्मक होती है। उदाहरण के लिए संयोग की स्मृति सुखद और वियोग की दुःखमय होती है—समय की दूरी अथवा अनुभव की परोक्षता उसके स्वरूप को एकदम नहीं बदल सकती। उसकी तीव्रता बहुत कम हो जाती है और दंश का भी बहुत-कुछ परिहार हो जाता है, फिर भी वियोग की स्मृति में दुःख का अंश तो रहता ही है। अतः कलानुभूति स्वगत-अनुभव नहीं है—न प्रत्यक्ष और न परोक्ष। एक दृष्टांत लीजिए: 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के चतुर्थ अंक का प्रेक्षण करते हुए हमें जो अनुभव होता है वह न तो हमारी अपनी कन्या के तात्कालिक वियोग का अनुभव है और न वह इस प्रकार के किसी विगत प्रसंग की स्मृति का अनुभव है। तो फिर क्या वह परगत अनुभव है—अर्थात् क्या वह किसी अन्य के अनुभव की प्रतिक्रिया है? उपर्युक्त प्रसंग में, क्या वह रंगमंच पर प्रस्तुत कण्व के वैकल्य की प्रतिक्रिया है? इस प्रश्न का उत्तर भट्टनायक ने अत्यन्त प्रभावी रीति से दिया है। उनका तर्क है कि यदि प्रमाता के अनुभव की व्याख्या काव्य-निबद्ध पात्र के अनुभव अथवा प्रमाता के मन में उत्पन्न उसकी प्रतिक्रिया के रूप में की जाएगी तब तो सारी व्यवस्था ही भंग हो जाएगी। राम-सीता या किसी अन्य प्रेमी-युग्म के शृंगार-प्रसंगों का प्रेक्षण कर हमारे मन में तरह-तरह की अप्रिय प्रतिक्रियाएँ होने लगेंगी—जीवन के एकान्त आत्मीय प्रसंगों के सार्वजनिक प्रदर्शन से तो संकोच या ग्लानि की ही भावनाएँ मन में जगेंगी—निश्चय ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया कलानुभूति नहीं हो सकती।

अतएव यह स्पष्ट है कि मूलतः मानव-भावनाओं पर आधृत होने पर भी कलानुभूति भावानुभूति से भिन्न है। यह न तो प्रमाता का प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वगत-अनुभव है और न काव्य-निबद्ध पात्रों—अनुकार्य-अनुकर्ता—की भावानुभूतियों के प्रति उसकी ऐन्द्रिय-मानसिक प्रतिक्रिया है। कलानुभूति भावों पर आधृत है किन्तु फिर भी भावानुभूति से भिन्न है—इस कथन में कुछ अन्तर्विरोध-सा प्रतीत होता है, परन्तु ऐसा है नहीं। कलानुभूति व्यक्तिगत भाव का आस्वाद नहीं है—यह तो व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त—साधारणीकृत-भाव का आस्वाद है। यह चित्त की मुक्तावस्था का अनुभव है जो अहंकार के कड़वे स्वाद से निर्व्याप्त रहने के कारण प्रीतिकर ही होता है। यह काव्य में निबद्ध विशदीकृत भावों के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार अथवा आत्मोपलब्धि का अनुभव है। आत्मोपलब्धि का अनुभव अन्य क्रियाविधियों से भी सम्भव है—उदाहरण के लिए कर्म-योग, भक्ति अथवा आत्मसमर्पण तथा ध्यान-धारणा आदि के द्वारा भी आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति सम्भव है, किन्तु वह सौन्दर्यानुभूति नहीं है। सौन्दर्यानुभूति के

लिए मानव-भावनाओं का आधार और कला का माध्यम अनिवार्य है।—संक्षेप में सौन्दर्यानुभति या कलानुभूति राग-द्वेष से विनिर्मुक्त चित्त द्वारा निर्वैयक्तिक भाव का आस्वाद है।

२. क्या कलानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है ?

यह काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण किन्तु अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है। कला या काव्य का आस्वाद बहुधा आनन्दमय होता है—इसका तो निषेध नहीं किया जाता; किन्तु विवाद यह है कि क्या वह अनिवार्य रूप से प्रीतिकर है—अर्थात् क्या शोक, भय आदि भाव-प्रसंगों का भी आस्वाद प्रीतिकर होता है ? यद्यपि भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचकों का बहुमत आनन्द-सिद्धान्त के ही पक्ष में है, पर इसका विरोध भी कम नहीं है और वर्तमान युग में तो वह और भी उग्र होता जा रहा है। 'रस-सिद्धान्त' में मैंने भारत में भरत से लेकर आधुनिक मनीषियों तक और पश्चिम में प्लेटो से लेकर आई० ए० रिचर्ड्स एवं कतिपय अन्य कला-मर्मज्ञों तक—प्रायः सभी मौलिक आचार्यों के विचारों का आधार लेकर प्रस्तुत समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है। यहाँ उसकी आवृत्ति न कर केवल प्रतिनिधि विचार-विन्दुओं का आकलन करना ही पर्याप्त होगा :

(क) कलानुभूति या सौन्दर्यानुभूति निश्चय ही आनन्दरूप है जिसके सामान्यतः दो भेद किए जा सकते हैं—(१) आत्मा या अन्तश्चेतना का आनन्द और (२) मानसिक आनन्द। एक तीसरा रूप भी है—मनोरंजन, जो क्रीड़ादि से सम्बद्ध होकर हीनतर अर्थ का वाचक वन गया है। किन्तु इसका भी एकदम वहिष्कार नहीं किया जा सकता क्योंकि मनोरंजन के साथ कला का थोड़ा-बहुत सम्वन्ध आरम्भ से ही रहा है। इन तीनों में प्रीति का तत्त्व समान है—अर्थात् कलानुभूति, चाहे उसे आध्यात्मिक आनन्द माना जाए या परिष्कृत मानसिक आनन्द या उससे भी निम्न स्तर पर मनोरंजन रूप माना जाए, प्रत्येक स्थिति में प्रीतिकर होती है।

(ख) अपनी विषयवस्तु के अनुरूप यह सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की होती है।

(ग) इसमें सुख और दुःख का सम्मिश्रण रहता है। प्रत्येक भाव के अनुभव में सुख और दुःख के तत्त्व विद्यमान रहते हैं, अतः भावों पर आवृत कलात्मक अनुभूति में भी सुख और दुःख का तानावाना रहता है।

(घ) यह सुखात्मक है न दुःखात्मक—यह तो चित्त की मुक्तावस्था है, जिसमें व्यक्ति के राग-द्वेष और उनसे उत्पन्न हर्ष-विषाद की चेतना निःशेष हो जाती है—यह एक प्रकार से चित्त की समाहिति का अनुभव है।

(ङ) कलानुभूति सरल अनुभूति न होकर अनुभूतियों का विधान है जिसमें बहु-विध और प्रायः विरोधी अन्तःवृत्तियों का सूक्ष्म सामंजस्य रहता है।

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करने के लिए उपर्युक्त दृष्टि-विन्दुओं का सम्यक् परीक्षण करना आवश्यक है। कुछ स्पष्ट कारणों से विचार-विन्दु (२) से आरम्भ करना अधिक उपयोगी होगा : विषयवस्तु के अनुसार कलात्मक अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की होती है।—प्रस्तुत सन्दर्भ में हमारी पहली प्रतिक्रिया तो यही होती है कि शोकादि के प्रसंगों की अनुभूति स्वभावतः दुःखात्मक ही होनी चाहिए; किन्तु इसके विरोध में कुछ ऐसे स्पष्ट प्रमाण हैं जिनका खंडन करना सरल नहीं है। दुःख के प्रति मानव-मन की अप्रवृत्ति इतनी स्वाभाविक और प्रवल है कि सामान्यतः कोई भी व्यक्ति उसका भोग करने के लिए धन और समय का व्यय नहीं करना चाहेगा। यह ठीक है कि मनुष्य जीवन में अनेक बार दुःख का सामना करता है, वरन् और आगे बढ़कर कभी-कभी उसका वरण भी करता है। सूफी और सन्त कवियों ने बार-बार अपने काव्य में दुःख की कामना की है और उधर बौद्ध दार्शनिकों ने तो दुःख को आर्य-सत्य माना है। फिर भी तथ्य का विश्लेषण करने पर यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि दुःख साध्य नहीं है, साधन-मात्र है। उपर्युक्त स्थितियों में भी दुःख साध्य न होकर साधन-मात्र ही रहता है। सन्त या सूफ़ी दुःख की कामना दुःख के लिए नहीं करता वरन् इसलिए करता है कि वह इष्ट के प्रीति-स्मरण का मधुर साधन है। इसी प्रकार, बौद्ध-दर्शन में भी दुःख को आर्य-सत्य इसलिए माना गया है कि अन्त में उसी की विनिवृत्ति के माध्यम से जीव को निर्वाण प्राप्त होता है। अतः यहाँ भी अन्तिम लक्ष्य दुःख नहीं वरन् दुःख की निवृत्ति ही है। और फिर, पाठक या प्रेक्षक न सूफी-सन्त होता है न दार्शनिक; ऐसी स्थिति में यह सिद्ध करना सम्भव नहीं है कि वह शोकादि के प्रसंगों का प्रेक्षण अथवा श्रवण-मनन दुःखानुभूति के लिए करता है।

आनन्द सिद्धान्त के विरुद्ध एक तर्क और है—करुण प्रसंग का आस्वाद तो वास्तव में क्लेशकर ही होता है परन्तु प्रेक्षक या पाठक कलात्मक सौन्दर्य के कारण उसके प्रति आसक्त रहता है। किन्तु यह तर्क भी अन्ततः मान्य नहीं हो सकता। (अ) त्रासिक परि-स्थितियों से उत्पन्न शोक और भय के भाव अपने-आपमें इतने प्रबल हो सकते हैं कि कला के समस्त साधन—अलंकार, लय-संगीत, रंग-सज्जा आदि—उनका परिहार नहीं कर सकते। (आ) और फिर, भाव तथा कला-सौन्दर्य की पृथक् अथवा विभक्त-धारणा भी तो मान्य नहीं हो सकती—काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों के ही अनुसार इस प्रकार की प्रकल्पना रूढ और अप्रामाणिक है। सामान्य जन को इन सूक्ष्म प्रसाधनों की पहचान नहीं होती और कलाविद् का काव्य अथवा रंगमंच के बहिरंग-प्रसाधन-मात्र से परितोष नहीं हो सकता। (इ) साथ ही, स्थायी भावों के आधार पर कलानुभूति के स्वरूप में

भेद मान लेने से रस के स्वरूप की अखण्डता भी भंग हो जाती है।

अब विकल्प संख्या ३ और ४ पर विचार करना चाहिए, जिनके अनुसार कलानुभूति एक प्रकार की भिन्न अनुभूति है। इन दोनों में थोड़ा-सा अन्तर यह है कि एक मत के प्रतिपादक जहाँ केवल सुख और दुःख के मिश्रण की बात करते हैं वहाँ आधुनिक मनोवैज्ञानिक कला के आस्वाद को 'अनुभूतियों का गुम्फ-विधान' मानते हैं। भारतीय चिन्तक इन धारणाओं से अनभिज्ञ नहीं रहा, किन्तु उसके विचार से मिश्रण की यह स्थिति भावन की प्रक्रिया तक ही सीमित रहती है—परिणति तक नहीं पहुँचती, जहाँ भावक की विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ मिलकर एक अविभक्त अनुभूति में समंजित हो जाती हैं। कला-सर्जना की प्रक्रिया में कलाकार चित्र-विचित्र अनुभवों में होकर गुज़रता है जिनमें से कुछ सुखद होते हैं और कुछ दुःखद; किन्तु अन्ततः वह इन अनुभूतियों में सामंजस्य स्थापित कर लेता है—जिसका मूर्त परिणाम होती है कला। कला का जन्म सामंजस्य अथवा समन्विति में से ही होता है; उसके बिना कला-सर्जना अपूर्ण रह जाती है। इसी प्रकार कला के रसास्वादन की प्रक्रिया में भी सहृदय तरह-तरह के अनुभव प्राप्त करता है जो अन्त में एक संश्लिष्ट विधान के रूप में परिणत हो जाते हैं और सहृदय की अन्तिम अनुभूति इस विधान की ही अनुभूति होती है जो निर्मिति की दशा में मिश्र और जटिल रहती हुई भी परिणति में समंजस एवं अविभक्त हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो सिद्धान्त कलानुभूति को मिश्र अनुभूति या अनुभूति-विधान मानकर चलते हैं, उनकी सार्थकता केवल प्रतिक्रिया तक ही सीमित है : परिणति की अवस्था में यह अनुभूति मिश्र या विभक्त न रहकर समंजस एवं अखण्ड बन जाती है—जिसे आई० ए० रिचर्ड्स ने अन्तर्वृत्तियों का समीकरण कहा है। स्पष्टतः अन्तर्वृत्तियों के समीकरण की यह स्थिति आनन्द की अवस्था है—या कम से कम उसकी भूमिका अवश्य है। यह ठीक है कि रिचर्ड्स और कतिपय अन्य मनीषी आलोचक इसे सुखात्मक नहीं मानते; किन्तु वे भी प्रकारान्तर से इतना तो स्वीकार कर ही लेते हैं कि यह परितोष की अवस्था है—एक ऐसी मनःस्थिति है जिसमें कि सहृदय परितृप्ति और आत्मलब्धि का अनुभव करता है।

—इस प्रकार कलानुभूति की आनन्दरूपता के विरुद्ध जो तर्क और विकल्प प्रस्तुत किए गए हैं वे अन्ततः असिद्ध ही हो जाते हैं।

३. इस आनन्द का स्वरूप क्या है?

इसमें सन्देह नहीं कि आनन्द के भी अनेक प्रकार हैं जो गुण की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं और कलानुभूति के स्वरूप का कोई भी विवेचन तब तक अपूर्ण माना जाएगा जब तक कि उसमें निहित आनन्द का स्वरूप निश्चित न हो जाए। इसके लिए फिर एक बार भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विशाल भूखण्डों की लम्बी यात्रा आवश्यक

है, परन्तु यहाँ भी स्वदेश-विदेश के आचार्यों के मन्तव्यों का सारांश मात्र देना ही अलं होगा। स्थूल रूप से, इस विषय में चार अभिमत प्रसिद्ध हैं :

(१) कला का आनन्द एक प्रकार का भौतिक—अर्थात् मानसिक-ऐन्द्रिय आनन्द है। प्राचीन मनीषियों में प्लेटो और नवीन विचारकों में मार्क्स तथा फ्रॉयड आदि ने अपने-अपने भिन्न दृष्टिकोण से इस मत का प्रतिपादन किया है।

(२) यह एक प्रकार का आत्मिक आनन्द है। एक ओर भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त, जगन्नाथ आदि और दूसरी ओर पश्चिम के आत्मवादी दार्शनिकों—प्राचीनोंमें प्लोटिनस और आधुनिकों में काण्ट तथा हीगेल आदि—का यही मत है।

(३) कला का आनन्द वस्तुतः कल्पना का आनन्द है। इस धारणा का बीज तो अरस्तू के काव्यशास्त्र में ही मिल जाता है, बाद में चलकर अठारहवीं शती में एडिसन ने इसे स्पष्ट शब्दावली में पल्लवित किया, और अन्त में बीसवीं शती के आरम्भ में क्रोचे ने सहजानुभूति के आनन्द के रूप में व्याख्या करते हुए प्रस्तुत सिद्धांत को एक निश्चित दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया।

(४) लौकिक और आत्मिक आनन्द के समस्त प्रकार-भेदों से भिन्न यह अपने-आप में स्वतन्त्र, एक विलक्षण आनन्द है। यह एक प्रकार की निरपेक्ष अनुभूति है जिसकी व्याख्या लौकिक अनुभव के संदर्भ में सामान्य शब्दावली में—सम्भव नहीं है। यह धारणा वैसे तो अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु बीसवीं शताब्दी में ब्रैडले, क्लाइव बैल तथा अन्य सौन्दर्यवादी विचारकों ने एक नवीन दृष्टिकोण से इसकी स्थापना की है। इस स्थापना में रहस्यवाद के तत्त्व विद्यमान हैं और रिचर्ड्स ने इसे निश्चय ही काण्ट और हीगेल के आत्मवादी सिद्धांतों से अनुप्रेरित माना है। किन्तु फिर भी विलक्षण आनन्द और आत्मिक आनन्द की धारणाओं को अभिन्न मानना युक्तिसंगत नहीं होगा, क्योंकि सौन्दर्यवादी आलोचक के अनुसार तो कला का आनन्द केवल भौतिक आनन्द से ही नहीं; आत्मिक आनन्द से भी उतना ही भिन्न है—वास्तव में वह तो और भी आगे बढ़कर इसके लिए आनन्द शब्द का भी प्रयोग नहीं करता।

सबसे पहले अन्तिम विकल्प को ही लीजिए, क्योंकि युगानुयुगव्यापी परम्परा के रहते हुए भी यह मत औरों की अपेक्षा अधिक दुर्बल है। काव्यानन्द की विलक्षणता के पक्ष में जितने भी तर्क प्रस्तुत किए गए हैं उनसे केवल तीन तथ्यों का प्रकाशन होता है; कला की अनुभूति प्रत्यक्ष व परोक्ष मानसिक-ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न है, शुद्ध बौद्धिक अनुभूति से—उदाहरण के लिए किसी समस्या या प्रतिज्ञा को सिद्ध करने की अनुभूति से—भिन्न है, और आत्मिक अनुभव, योग-साधन आदि के अनुभव से भी भिन्न है। किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं हुआ कि यह इस लोक का अनुभव नहीं है और मानव-चेतना की प्रकृत अनुभूतियों के अन्तर्गत इसकी व्याख्या सम्भव नहीं है। इस अनुभूति में

ऐन्द्रिय और बौद्धिक तत्त्व निश्चय ही विद्यमान रहते हैं और जो आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं उनके लिए आत्मिक तत्त्व भी। इसका समस्त विधान जीवन के सामान्य अनुभवों से भिन्न अथवा विशिष्ट अवश्य होता है, किन्तु इसके आधार-तत्त्व मूलतः भिन्न नहीं होते। अतः रूप का भेद होने पर भी प्रकृति का भेद इसमें नहीं है; क्योंकि अनासक्त अनुभूति या निर्वैयक्तिक अथवा साधारणीकृत अनुभूति भी तो मानसिक-ऐन्द्रिय अनुभूति का ही परिष्कृत एवं विकसित रूप होती है। डॉ॰ रिचर्ड्स का यह तर्क सर्वथा अकाट्य है कि आखिर कलानुभूति की सम्पूर्ण प्रक्रिया में हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, चित्त और प्रज्ञा का ही तो विनियोग रहता है—इसलिए जब तक कि सौन्दर्य के अनुभव के लिए किसी स्वतन्त्र ज्ञानेन्द्रिय का आविष्कार नहीं होता, सौन्दर्य अथवा कला की अनुभूति को विलक्षण मानने का कोई आधार नहीं है—मैं समझता हूँ कि इस तर्क के सामने सौन्दर्यवादी सिद्धान्त स्थिर नहीं रह सकता।

कला का आनन्द कल्पना का आनन्द है—यह केवल आंशिक सत्य है। इस स्थापना में कला-दर्शन का यह मौलिक सत्य उपेक्षित ही रह जाता है कि सौन्दर्यानुभूति का आधार मानव-भावनाएँ हैं। कला के समस्त रूपों का आधार मानव-संवेदनाएँ ही हैं, कल्पना केवल माध्यम है—यद्यपि माध्यम के रूप में वह अनिवार्य है, इसमें भी सन्देह नहीं है। फिर भी, मानव-भावनाओं के आधार के बिना केवल कल्पना द्वारा कला की सृष्टि नहीं हो सकती। अतः कला का आनन्द केवल कल्पना का आनन्द नहीं है। कला के क्षेत्र से बाहर भी—जैसे कि वैज्ञानिक आविष्कार आदि में—कल्पना का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। किन्तु वैज्ञानिक द्वारा अनुभूत कल्पना का आनन्द तो कला का आस्वाद नहीं हो सकता। आरकेमडीज़ का हर्षोच्चार—'यह मिल गया।' तो कविता नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, कल्पना भी मानव-चेतना की ही वृत्ति है और इसलिए कल्पना का आनन्द भी मानसिक-बौद्धिक आनन्द का एक भेदमात्र है—कोई स्वतन्त्र कोटि या प्रकार नहीं है।

कला का आनन्द आत्मिक आनन्द है—इस प्रसंग में यदि हम शैव-दर्शन की परिभाषा को स्वीकार कर लेते हैं तब तो कोई विवाद ही नहीं रह जाता, क्योंकि उसके अनुसार आनन्द के विभिन्न रूपों का अन्तर ही मिट जाता है। किन्तु, व्यवहार में तो ऐसा नहीं होता; व्यवहार में हम निश्चित भेद करते और मानते हैं। वास्तव में, आत्मवादी भी कला के आनन्द और आत्मानन्द को अभिन्न नहीं मानते। भारतीय मनीषा के अनुसार रस ब्रह्मानन्द-सहोदर है, ब्रह्मानन्द-रूप नहीं है; उधर पाश्चात्य दार्शनिक भी यह मानते हैं कि कलास्वाद की आरम्भिक स्थिति में मन और इन्द्रियों का सन्निकर्ष निश्चय ही रहता है, यद्यपि अन्त में प्रमाता उनका अतिक्रमण कर शुद्ध चैतन्य के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार कला के आनन्द और आत्मानन्द का भेद स्पष्ट है; यद्यपि

यह भेद तात्त्विक न होकर, गुणात्मक ही होता है, फिर भी भेद तो है ही। आत्मानन्द जहाँ परम चैतन्य का निरपेक्ष और परिपूर्ण आस्वाद है वहाँ कला के आनन्द में भौतिक आधार अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। माना कि यह आधार अत्यन्त सूक्ष्म और परिष्कृत होता है—यह अनुभव निश्चय ही निर्वैयक्तिक एवं साधारणीकृत होता है, फिर भी इसका लौकिक आधार तो रहता ही है; क्योंकि निर्वैयक्तिक या साधारणीकृत अनुभव भी तो अन्ततः लौकिक अनुभव ही होता है। निस्सन्देह यह चेतना का ऊर्ध्व-विकास चित्त की मुक्तावस्था है; परन्तु है अन्ततः चित्त का ही विषय—योग अथवा भक्ति के अनुभव के समान मानवीय चेतना से अतिक्रान्त नहीं है।

अब, शेष रह जाता है पहला विकल्प : कला का आनन्द लौकिक आनन्द है। यद्यपि इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने—एक ओर प्लेटो ने, और दूसरी ओर मार्क्स तथा फ्रॉयड ने इसे कुछ स्थूल और अनगढ़ रूप में प्रस्तुत किया है, फिर भी, मेरे विचार से, इसका निषेध करना अत्यन्त कठिन है। कला से प्राप्त आनन्द लौकिक ही हो सकता है : कला की सृष्टि के उपकरण और माध्यम लौकिक ही होते हैं, अतः इसका आस्वाद भी लौकिक ही होना चाहिए। रहस्यवादी काव्य के अतिरिक्त कला के सभी रूप-भेदों के मूल विषय सामान्य मानव-अनुभव ही होते हैं; इसके उपकरण और अभिकरण—कल्पना एवं बुद्धि आदि—मानव-चेतना के ही अंग हैं; आस्वादन के माध्यम हैं लौकिक स्तर पर ज्ञानेन्द्रियाँ और उच्चतर मनोभूमिका पर सूक्ष्म भाव-बोध; और, अन्त में, इसका भोक्ता भी कोई योगी या भक्त न होकर सवासन मानव ही होता है। अतः कला-संवेदना की लौकिकता में अविश्वास करना, अथवा यह मान लेना कि कला का आस्वाद मानवीय अनुभव नहीं है, अत्यन्त दुष्कर कार्य है। ऐसी स्थिति में, हमें मानव-चेतना की परिधि के भीतर और मनोविज्ञान की शब्दावली में ही इसके स्वरूप का निर्णय करना होगा।

अन्त में, केवल सिद्धान्त-विवेचन करने की अपेक्षा किसी मूर्त कलाकृति को आधार मानकर अपनी धारणाओं का विश्लेषण एवं समीकरण करना अधिक श्रेयस्कर होगा। भवभूति का एक सरस छन्द इस प्रकार है :

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च संमीलयति वा।।

(उत्तररामचरित—१।३५)

अर्थात्—मैं नहीं समझ पाता कि यह सुख है अथवा दुःख, मोह है या निद्रा, विष का संचार है या मद का। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से मुझे एक ऐसा विचित्र अनुभव हो

रहा है जो समस्त इन्द्रियों पर सम्मोहन-सा करता हुआ मेरी चेतना को कभी उद्भ्रान्त और कभी एकदम विफल कर देता है····· ।

इस छन्द को पढ़कर मेरे मन की प्रतिक्रिया निश्चय ही प्रीतिकर होती है। इसका विषय है रति; इसकी काव्य-कला का प्रीतिकर आस्वाद प्राप्त करने से पूर्व मेरी चेतना निश्चय ही रति और उसके संचारी भावों में होकर गुज़रती है। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि इस अनुभूति और रति की प्रत्यक्ष अनुभूति में स्पष्ट अन्तर है जिसका परिज्ञान मुझे है—प्रत्येक सहृदय को निश्चय ही होता है। यह अन्तर किस प्रकार का है? कलानुभूति के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कला के आस्वादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विश्लेषण करना आवश्यक होगा।—जब मैं उपर्युक्त छन्द को पढ़ता हूँ तो इसकी शब्दावली और लय-योजना का संगीत मेरी श्रवणेन्द्रिय को चमत्कृत करता है; तभी प्रायः अलक्ष्य-क्रम से इसका अर्थ मेरे मन में व्यक्त हो जाता है; इसके बाद काव्य-भाषा—अर्थात् भाषा के कल्पनात्मक प्रयोग के चमत्कार से मेरी कल्पना सक्रिय हो जाती है और मन की आँखों के सामने तरह-तरह के स्वच्छन्द बिम्ब या मानस-प्रतिमाएँ थिरक उठती हैं जिनके साथ अनेक प्रकार के मनोविकार अनायास ही लिपट जाते हैं। इसी क्रम में, इन संचारी भावों के आघात से प्रेम की अन्तःवृत्ति मेरी चेतना में उद्बुद्ध हो जाती है—जो उस समय व्यक्तिगत राग-द्वेष से इसलिए निर्लिप्त रहती है, क्योंकि उसमें व्याप्त प्रेम की यह वृत्ति किसी आलम्बन विशेष के प्रति उन्मुख न होने के कारण अव्यक्तिगत तथा निस्संग ही होती है; और अन्त में, यह सम्पूर्ण ऐन्द्रिय-मानसिक प्रक्रिया एक सुखद अनुभूति में परिणत हो जाती है।

मानव-अनुभूतियों को स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(क) ऐन्द्रिय, (ख) मानसिक और (ग) बौद्धिक। यह वर्गीकरण निश्चय ही बहुत स्थूल है और इनमें से कोई भी वर्ग अपने-आपमें स्वतः पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे अनुभव वास्तव में अपने-आप में इतने अधिक अन्तर्ग्रथित और अन्योन्याश्रित होते हैं कि उनमें मानव-व्यक्तित्व की समस्त वृत्तियाँ प्रायः एक साथ ही सक्रिय रहती हैं। फिर भी, मानव-चेतना की किसी एक या दूसरी वृत्ति की प्रमुखता के आधार पर इस वर्गीकरण को हम साधारणतः व्यावहारिक मानकर चल सकते हैं। इसके अनुसार किसी प्रियजन के आलिंगन का अनुभव ऐन्द्रिय-आनन्द है, उसका स्मरण मानसिक आनन्द है, और किसी रागात्मक समस्या के—उदाहरण के लिए, प्रस्तुत सन्दर्भ में, इस रागात्मक अनुभव के—सफल विवेचन का आनन्द बौद्धिक आनन्द है। अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त प्रणयगीति से उपलब्ध आनन्द इनमें से किस कोटि के अन्तर्गत आएगा? निश्चय ही, यह प्रियजन के साक्षात् स्पर्श-सुख का अनुभव नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है और इसलिए उतना प्रखर भी नहीं है। इसी प्रकार यह किसी शृंगार की अनुभूति के सफल विश्लेषण का भी

ग्रानन्द नहीं हो सकता। तो फिर क्या यह किसी पूर्वानुभूत प्रणय-प्रसंग के सुखद स्मरण का ग्रानन्द है? इस विकल्प पर हमें थोड़ा विचार करना होगा, क्योंकि काव्यजन्य ग्रनुभूति में कुछ-न-कुछ साम्य ग्रवश्य है। कला के ग्रानन्द की तरह मधुर स्मरण का यह ग्रनुभव भी एक प्रकार का परोक्ष ग्रनुभव है जिसमें कल्पना का प्रमुख योग रहता है। फिर भी, दोनों में ग्रभेद है—ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जैसा हम स्वगत-परोक्ष ग्रनुभव के प्रसंग में स्पष्ट कर चुके हैं, स्मृति भी तो मूलतः एक प्रकार का वैयक्तिक ग्रनुभव ही है जिसके साथ प्रमाता की ग्रहं-भावना ग्रौर उसके राग-द्वेष ग्रनिवार्यतः संलिप्त रहते हैं। यह ग्रनुभव ग्रनासक्त नहीं होता ग्रौर न देशकाल की परिसीमाग्रों से सर्वथा मुक्त ही रहता है। यह ग्रनुभव 'स्मृति' पर निर्भर करता है जिसमें कल्पना का निष्क्रिय योग-मात्र रहता है। इस पद्धति में, यह किसी पूर्वानुभव का पुनरुद्बोध-मात्र होता है, जबकि कला की ग्रनुभूति, इससे भिन्न-सक्रिय ग्रथवा सर्जनात्मक कल्पना की क्रिया होने के कारण पूर्वानुभव की पुनरुद्बुद्धि-मात्र नहीं वरन् पुनःसृष्टि होती है। ग्रतः कला की ग्रनुभूति स्मरण की ग्रनुभूति से ग्रपनी निर्वैयक्तिक एवं सर्जनात्मक प्रकृति के कारण भिन्न होती है ग्रौर ये दोनों गुण ऐसे हैं जो प्रकृत ग्रनुभव के विकारों से मुक्त कर ग्रनिवार्य क्रम से उसमें प्रीति-तत्त्व का समावेश कर देते हैं।

इस प्रकार ग्रनुभूति या सौन्दर्यानुभूति भावना के कल्पनात्मक पुनःसृजन की ग्रानन्दमयी ग्रनुभूति है जो मूल रूप में कलाकार की चेतना में घटित होती है ग्रौर फिर कलाकृति के सन्निकर्ष से गौण रूप में प्रमाता की चेतना में। कलाकार का कर्म मौलिक है, इसलिए सामान्य प्रयोग में उसको सृजन कहते हैं, यद्यपि व्यवहार में वह पुनः सृजन ही होता है—जबकि प्रमाता का कर्म गौण एवं परावलम्वी होता है, क्योंकि वह वस्तुतः कलाकार के ही कर्म से प्रेरित रहता है। उधर कल्पनात्मक पुनःसृजन की इस प्रक्रिया में बुद्धि का योगदान भी कुछ-न-कुछ ग्रवश्य होता है क्योंकि कुछ सीमा तक, कम-से-कम रचना-क्रम के ग्रन्तिम क्षणों में इसके पीछे सुविचारित प्रयत्न का ग्राधार निश्चय ही रहता है जिसके कारण कलानुभूति के विधान में बुद्धि-तत्त्व का समावेश हो जाता है।

सारांश यह है कि सौन्दर्यानुभूति एक प्रकार की प्रीतिकर—संश्लिष्ट ग्रनुभूति है जिसमें राग-तत्त्व ग्रौर बुद्धि-तत्त्व का लवण-नीर संयोग रहता है। इसका ग्रपना स्वतंत्र ग्रस्तित्व है, क्योंकि यह शुद्ध रागात्मक ग्रनुभूति की ग्रपेक्षा ग्रधिक परिष्कृत ग्रौर बौद्धिक ग्रनुभूति की ग्रपेक्षा ग्रधिक रमणीय होती है।

संस्कृत साहित्य में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं की पूर्वझलक

डॉ० कुमार विमल

संस्कृत साहित्य, विशेषकर काव्यशास्त्र और आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की पारस्परिकता के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच ऐकमत्य नहीं है। पाश्चात्य विचारक तो आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र की एक नवीन शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं और सौन्दर्य-शास्त्र को काव्यशास्त्र के समाम्नाय सिद्धान्तों से भिन्न मानते हैं। पाश्चात्य विचारकों के लिए ऐसा सोचना सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु, अचरज तब होता है, जब हम भारतीय विचारकों को भी इस प्रश्न पर दो खेमों में बँटा हुआ पाते हैं। एक खेमे में वे विचारक आते हैं, जिन्हें 'पुरातन-प्रतिपादन' बहुत ही प्रिय है और जिनके लिए ज्ञान-विज्ञान की अच्छी या बुरी सभी नव्यतम उपलब्धियों को भारत के प्राचीन वाङ्मय में ढूँढ़ लेना अभीष्ट है। ऐसे विचारकों में श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने इस चुगद धारणा का खण्डन किया है कि सौन्दर्यशास्त्र एक पाश्चात्यशास्त्र है और भारत में काव्यशास्त्र रहा है, किन्तु, सौन्दर्यशास्त्र कदापि नहीं। इस धारणा के विपरीत इन्होंने अपनी पुस्तक 'इण्डियन एस्थेटिक्स' में यह मान्यता सशक्त ढंग से प्रतिपादित की है कि सौन्दर्यशास्त्र केवल पाश्चात्य देशों में ही विकसित नहीं हुआ है, बल्कि भारतवर्ष में भी इसकी स्पष्ट और कालातीत परम्परा रही है। इस परम्परा को ध्यान में रखते हुए इन्होंने पाश्चात्य विचारकों और पश्चिमी विचारों से अन्धप्रभावित भारतीय विवेचकों की भ्रान्त धारणा को दूर करने के लिए भारतीय काव्यशास्त्र (जिसे श्री शास्त्री 'सौन्दर्यशास्त्र' कहते हैं) की कुछ अनन्वय विशेषताओं का निर्देश किया है। जैसे, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में 'सकल प्रयोजनमौलिभूत आनन्द और रस (जिसे याकोबी ने Stimmung या Geschmack का अक्षम पर्याय दिया है) की धारणा अथवा अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित काव्य-तत्त्वों के बीच 'चारुत्वप्रतीति' की धारणा, जिसमें शब्दगत और अर्थगत (forme et fond) चारुत्व के साथ ही स्वरूपनिष्ठ तथा संघटनानिष्ठ चारुत्व[1] भी समाहित है। ऐसे लोचदार दृष्टिकोण से देखने पर हम तथाकथित भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत क्षेमेन्द्र के

---

१. चारुत्वं द्विविधम्—स्वरूपनिष्ठम् संघटनानिष्ठञ्च। —ध्वन्यालोकलोचन

'औचित्य-सिद्धान्त' को विशेष महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं, क्योंकि यह औचित्य-सिद्धान्त अपनी व्यापकता के कारण काव्य की तरह अन्य ललित कलाओं पर भी सामान्य रूप से लागू होता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र की 'औचित्य-विचार-चर्चा' विचारणीय है। मुझे भी ऐसा लगता है कि औचित्य पर केवल रसाश्रित औचित्य की दृष्टि से सोचने का अभ्यास छोड़कर यदि उसे कृति के वस्तुपक्ष और कलापक्ष की व्यापकता के सन्दर्भ में देखा जाय, तो औचित्य-सिद्धान्त आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के लिए भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वोत्तम अवदान सिद्ध हो सकता है। अतः के० एस० रामस्वामी शास्त्री की परम्परा में आनेवाले भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येता यदि औचित्य-सिद्धान्त से सम्बद्ध अन्वेष्टव्य सामग्रियों की पूरी खोज-बीन और मीज़ान करके अधुनातन दृष्टि से उनका पुनरीक्षण करें, तो औचित्य-सिद्धान्त अपनी धारणागत व्यापकता के कारण सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के लिए निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होगा। मुख्यतः इसलिए कि औचित्य-सिद्धान्त काव्य एव काव्येतर ललित कलाओं के मूल शोभाधायक तत्त्व, रसभाव-निरन्तरत्त्व और प्रबन्ध-गुण का उद्घाटन करता है।

क्षेमेन्द्र के अलावा अन्य संस्कृत मनीषियों ने भी अनुरूपता, न्याय्य, युक्तता अथवा विधिदर्शित मार्ग के व्याज से औचित्य के रूप और प्रकार का विश्लेषण किया है। भोज ने तो औचित्य के प्रकारों का विस्तृत निरूपण किया है—विषयौचित्य, वाच्यौचित्य देशौचित्य, समयौचित्य, वक्तृविषयौचित्य और अर्थौचित्य। इन निरूपणों द्वारा भोज ने औचित्य-सिद्धान्त को बहुत विकसित कर दिया। इन्होंने 'शृंगार प्रकाश' के ग्यारहवें खण्ड में अपने ग्रन्थ के महत्त्व को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि इस ग्रन्थ में उस औचित्य का भी निरूपण है, जो अखिल कला-काव्य के मूल में सन्निविष्ट है—'एतस्मिन् शृंगार-प्रकाशे सुप्रकाशमेव अशेषशास्त्रार्थं संपदुपनिषदाम् अखिल कला-काव्य-औचित्य—कल्पना रहस्यानां च सन्निवेशो दृश्यते।' भोज की इस उक्ति से औचित्य-सिद्धान्त की स्थिति-स्थापकता और अनौचित्य परिहार के कलाशास्त्रीय महत्त्व पर प्रकाश मिलता है। सचमुच, औचित्य के आधान से किसी भी कलाकृति में रस-विघ्न या मुख्यार्थ-हति की सम्भावना विनष्ट हो जाती है, दोष-हान का पथ प्रशस्त हो जाता है और अर्थानुरूपछन्दस्त्व, पात्रानुरूपभाषत्व तथा रसावियोग की सिद्धि होती है। इन निरूपणों की पुंखानुपुंख व्याख्या कर यह कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त से भी बढ़कर औचित्य-विचार ही संस्कृत काव्यशास्त्र का वह आधार-सूत्र है, जो आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं की तरह मात्र काव्य ही नहीं काव्येतर ललित कलाओं पर भी समान रूप से लागू हो सकता है। वास्तव में, रस की परा उपनिषद्[1] औचित्य-भावना सौन्दर्य, ध्वनि इत्यादि सभी काव्य-

१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ —आनन्दवर्धन

तत्त्वों की मूल भावना है। क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व का 'औचित्य-विचार-चर्चा' में सुस्थ निरूपण किया है। इन्होंने इस तथ्य का 'पौनःपुन्य कीर्तन' किया है कि औचित्य ही रस का प्राण है :

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥

इन्होंने औचित्य (जिस पर काफ्का Gestalt के आलोक में भी विचार किया जा सकता है) के २७ प्रभेदों का निरूपण करते हुए यह कहा है कि काव्य में रसानुरूपसन्दर्भत्व को आविर्भूत करनेवाले औचित्य के विना रस, अलंकार या गुण, कोई भी रुचिकर नहीं होता है—'औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।' (औचित्यविचार चर्चा) वास्तव में रस, इतिवृत्ति, गुण, अलंकार, रीति, छन्द इत्यादि की रुचिकरता औचित्य की स्थिति पर निर्भर है। अतः संस्कृत काव्यशास्त्र के तीन प्रमुख सिद्धान्तों—रस-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त और औचित्य-सिद्धान्त में अन्तिम सिद्धान्त ही वह व्यापकतम सिद्धान्त है, जो सभी ललित कलाओं के लिए एक सर्वमान्य निकर्ष प्रस्तुत करता है।

इस तरह भारतीय विचारकों का एक वर्ग आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र को संस्कृत काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र,साहित्यशास्त्र या साहित्य-विद्या का पर्याय मानता है। किन्तु, ऐसा मानना दूसरे खेमे के विचारकों की दृष्टि में अनुचित है, क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र केवल काव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन की सीमा केवल काव्य तक सीमित है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र सभी ललित कलाओं का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ सभी काव्येतर कलाओं—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और संगीत तक फैली हुई है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नहीं, बल्कि कलाशास्त्र है। इस तथ्य को हम दूसरे ढंग से भी उपस्थित कर सकते हैं कि काव्यशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र की एक अंगीभूत शाखा है; कारण, काव्यशास्त्र जहाँ केवल काव्य को प्रधानतः दृष्टि में रखकर उसकी आलोचना या अभिशंसन प्रस्तुत करता है, वहाँ सौन्दर्यशास्त्र सभी ललित कलाओं के सर्वसामान्य, किन्तु, प्रधान तत्त्वों का आलोचन और विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अतः सौन्दर्यशास्त्र के निष्कर्ष प्रायः सभी ललित कलाओं को दृष्टि में रखकर निकाले जाते हैं, जबकि संस्कृत काव्यशास्त्र के निष्कर्ष केवल काव्य को लक्ष्य कर निकाले गए हैं। यों, अब अधिकांश साहित्य-मनीषी यह स्वीकार करते हैं कि इन दिनों काव्यशास्त्र अपनी मान्यताओं के स्थापन में सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन और उसके निष्कर्षों का साहाय्य लेता है। इतना ही नहीं, अब तो यह माना जाता है कि काव्यशास्त्रीय अध्ययन भी तभी परिपूर्ण और उत्तम हो सकता है, जबकि वह सौन्दर्यशास्त्र के अधीत तत्त्वों और निर्धारित मान्यताओं से आलोक ग्रहण कर निष्पन्न हो।

भारतीय विचारकों के बीच उक्त मतभेद का एक सशक्त कारण, शायद, काव्य-

शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का यह ध्यातव्य अन्तर है कि सौन्दर्यशास्त्र में कलाओं के सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि काव्यशास्त्र में रस-विवेचन, शब्द-शक्ति-विश्लेषण जैसे कुछ ही स्थलों पर सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन की प्रसंगवश आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने जहाँ वामन के 'काव्यालंकरसूत्र' के 'सौन्दर्यमलंकारः' को ध्यान में रखते हुए अलंकारशास्त्र (काव्यशास्त्र) को सौन्दर्यशास्त्र कहना चाहा है, वहाँ उन्हें इसका खटका बना रहा है कि अलंकारशास्त्र या काव्यशास्त्र में सौन्दर्यशास्त्र की सर्वोपरि विशेषता—सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पना—का समावेश कर लेना कठिन है। एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री की तरह एस० के० डे ने भी संस्कृत काव्यशास्त्र को आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का समीपी माना है, किन्तु, वे भी इसके प्रति सचेत हैं कि सौन्दर्यशास्त्र में जिस दार्शनिक निरूपण की प्रधानता रहती है, वह काव्यशास्त्र में नहीं रहता। इसी मान्यता को तूल देते हुए श्री डे ने संस्कृत काव्यशास्त्र पर आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से अपने दो निबन्धों में विचार किया है, जो निबन्ध पहले 'ढाका युनिवर्सिटी स्टडीज़' तथा 'न्यू इण्डियन एंटिक्वेरी' में छपे थे और अब 'सम प्रॉब्लेम्स आव संस्कृत पोएटिक्स' नामक पुस्तक में संगृहीत हैं। इस प्रसंग में डे ने संस्कृत काव्यशास्त्र और आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के पार्थक्य को निरूपित करते हुए दो प्रमुख बातों का उल्लेख किया है। इनकी दृष्टि में पहली बात यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, जबकि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। विशेषकर, भामह और वामन की कृतियाँ संस्कृत काव्यशास्त्र पर व्याकरण के आधिपत्य की घोषणा करती हैं। भामह ने तो काव्यशास्त्र को ध्यान में रखते हुए व्याकरण की प्रशंसा में यहाँ तक कह दिया कि व्याकरणरूपी दुरवगाह-समुद्र को पार किए बिना कोई व्यक्ति शब्द-रत्न तक पहुँचने में समर्थ नहीं हो सकता :

ना पारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्।
शब्दरत्नं स्वयं गम्यमलं कर्त्तुमयं जनः॥

इस प्रकार प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र पर व्याकरण और वैयाकरणों का आधिपत्य स्पष्ट है। इसी आधिपत्य के कारण संस्कृत काव्यशास्त्र में 'शब्दों' की विवेचना बहुत की गई है, जबकि 'शब्द' काव्य के केवल अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं और यह विदित है कि शब्द-संघटनामात्र पर काव्य की उत्कृष्टता कभी निर्भर नहीं करती। इस तरह काव्यशास्त्र के अन्तर्गत शब्द-शक्ति इत्यादि की विस्तृत विवेचना का प्रचलन उक्त मन्तव्य को प्रमाणित करता है। व्याकरण की ओर इस अतिशय झुकाव का फल यह हुआ कि संस्कृत काव्यशास्त्र में सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों के अध्ययन और विश्लेषण-विधियों का अभाव बना रह गया, जिसकी ओर परम्परा के अनुगन्ता आचार्यों का ध्यान सम्भवतः

नहीं जा सका। और, जब व्याकरण के अवांछित प्रभाव से मुक्त होकर संस्कृत काव्यशास्त्र अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व गढ़ सका, तब संस्कृत काव्य आहार्य शोभा, लफ्फाजी, शब्दातिशय, उपमाप्रपंच और कल्पना-कौतुक से ग्रस्त हो चुका था। अतः आधार-द्रव्य (संस्कृत काव्य) की यह अपकृष्टता संस्कृत काव्यशास्त्र के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अधिक उपकार न कर सकी।

एस० के० डे के अनुसार दूसरी बात यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में उस कल्पना-तत्त्व की विचारणाओं को उचित महत्त्व नहीं मिल सका, जिसे आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। कवि या कलाकार के कल्पना-विधान में ही वह शक्ति रहती है, जिसके चलते उसकी कृति को एक पृथक् व्यक्तित्व और स्वतन्त्र महत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। किन्तु, संस्कृत काव्यशास्त्र प्रतिभा-विवेचन को छोड़कर अन्य प्रसंगों में कल्पना-तत्त्व की अवहेलना कर परम्परा और कविशिक्षान्तर्गत निर्धारित नियमों के उस आलोक में काव्यकृतियों का अध्ययन करता रह गया, जो कवि तथा उसकी कृति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अनालोचित छोड़ देता है। फलस्वरूप, संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास पूर्णांग सौन्दर्यशास्त्र के रूप में नहीं हो सका और वह वाग्विकल्प की अनन्तता को अवहेलित कर पाण्डित्य-प्रदर्शक वर्गीकरण या बाल की खाल निकालने वाले विभाजनों में निमग्न रह गया। आधुनिक दृष्टिकोण से संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें कृतिकारों के व्यक्तित्व-वैचित्र्य या वैयक्तिकता की उपेक्षा की गई है और काव्यकृतियों के माध्यम से व्यक्त जीवन-मूल्यों तथा कवि के अन्तर्भाव पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। काव्य-परिपाटी, कवि-शिक्षा या परम्परा से प्रभावित रहने पर भी कवि की मानसिक संरचना अथवा काव्यात्मक व्यक्तित्व में जो वैशिष्ट्य रहता है, उसकी अवहेलना रस, ध्वनि, गुण, अलंकार, रीति इत्यादि के विश्लेषण को प्राथमिकता देकर नहीं होनी चाहिए। कारण, सच्ची काव्य-रचना कवि-शिक्षा के नुसखों और परिपाटियों के अनुगमन से नहीं होती, बल्कि उसके पीछे कवि की वैयक्तिक मनोरचना, सहजानुभूति, अन्तःप्रेरणा और 'काव्य-बीज' कल्पना का योग रहता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र और आधुनिक (पाश्चात्य) सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० के० सी० पाण्डेय ने लिखा है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की तरह काव्येतर कलाओं के विवेचन की प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु काव्य के क्षेत्र में संस्कृत काव्यशास्त्र को नाटक अधिक प्रिय है, जिसके चलते संस्कृत काव्यशास्त्र में अन्य कलाओं का प्रसंगवश उल्लेख हो गया है, क्योंकि नाटक तो काव्य, संगीत, चित्र और स्थापत्य—सभी कलाओं का समुच्चय (gesamt-kunstwork) है। भरत की यह उक्ति प्रसिद्ध है :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ।।

अतः संस्कृत काव्यशास्त्र की प्रारम्भिक सीमा वागङ्गसत्वोपेत नाटच-रचनाओं की शास्त्रीय विवेचना है । इस तरह संस्कृत काव्यशास्त्र की विकास-रेखा को निर्दिष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि यहाँ सबसे पहले नाट्यशास्त्र का विकास हुआ, दूसरी दशा में काव्यशास्त्र (जिसमें नाटचशास्त्र भी गतार्थ है) का और अन्त में इन विकास-दशाओं के समीकरण से भारतीय सौन्दर्यशास्त्र (?) का अवतरण हुआ । तदनन्तर, डॉ० के० सी० पाण्डेय ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में यह प्रमुख अन्तर बतलाया है कि भारतीय विचारक मूर्तिकला और चित्रकला को उस रूप में स्वतन्त्र महत्त्व नहीं देते, जिस रूप में हीगेल या अन्य पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों ने दिया है। संस्कृताचार्यों ने प्रायः मूर्तिकला और चित्रकला को स्थापत्य की अंगीभूत कला के रूप में स्वीकार किया है । अतः के० सी० पाण्डेय का कहना है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र (जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र कहना अधिक समीचीन और निरापद है) में पाँच नहीं, तीन ही कलाओं (स्थापत्य, संगीत और काव्य) को महत्त्व दिया गया है ।

मेरे विचार से संस्कृत काव्यशास्त्र में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की तरह सभी ललित कलाओं पर इसलिए विचार नहीं किया जा सका कि संस्कृत काव्यशास्त्र में 'उक्तिप्रधान' काव्य की गणना विद्या में की जाती रही और कलाओं की गणना उपविद्या में । निश्चय ही, काव्य और कला के इस वर्ग-भेद ने संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों को समग्र ललित-कलाओं के विवेचन से पृथक् रखा । इसी कारण 'काव्यालंकार', 'ध्वन्यालोक', 'वक्रोक्ति-जीवित', 'काव्यमीमांसा', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसगंगाधर' इत्यादि ग्रन्थों में काव्येतर कलाओं पर विचार नहीं किया गया है । भारतीय काव्यशास्त्र में यह सिद्धान्ततः कहा गया है कि कलाएँ क्रियात्मक हैं और विद्याएँ ज्ञानात्मक हैं। किन्तु, विद्याओं की सूची देखने से वास्तविकता कुछ भिन्न मालूम पड़ती है । यों तो विद्याएँ चौदह मानी गई हैं, जिनमें चार वेद, छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) तथा चार शास्त्र (पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा और स्मृति) स्वीकृत हैं, किन्तु, कुछ आचार्य काव्य (जो अब ललित कलाओं में एक है) को भी इसमें पन्द्रहवाँ स्थान देते हैं । जैसे, यायावरीय राजशेखर का मत है कि चौदह विद्याएँ भूः, भुवर् और स्वर्—तीनों लोकों में व्याप्त हैं, किन्तु, इन चौदह विद्याओं के अतिरिक्त काव्य पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है, क्योंकि यह सभी विद्याओं का एकमात्र आधार है । काव्य के गद्यपद्यमय होने और हितोपदेशपरक रहने के कारण सभी शास्त्र इस काव्य-विद्या का अनुसरण करते हैं । अतः राजशेखर का कथन है—'सकल विद्या स्थानैकायतनं पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम् ।' किन्तु, कला और विद्या के क्षेत्रीय अन्तर को स्पष्ट रखने के लिए विद्याओं की चतुर्दश संख्या ही मान्य होनी

चाहिए। यों विद्याओं के संख्या-संप्रसारण में कई पुराने आचार्य राजशेखर से भी चार डग आगे हैं। जिनमें भार्गव, बृहस्पति, कौटिल्य और गोभिल उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने तर्क, त्रयी, वार्त्ता और अर्थशास्त्र को मिलाकर विद्याओं की संख्या अठारह घोषित कर दी है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की गणना विद्या में करके और कलाओं की गणना उपविद्या में करके काव्य तथा कलाओं के बीच एक ऐसी मोटी दीवार खड़ी कर दी कि यहाँ सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन या समग्र ललित कलाओं के तात्त्विक विचार का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया। इस बात में किसी विप्रतिपत्ति की गुंजायश नहीं है कि सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा विशाल है, क्योंकि काव्यशास्त्र केवल शब्दों के माध्यम से निर्मित काव्य का विवेचन-विश्लेषण करता है जबकि सौन्दर्यशास्त्र भास्कर्य, चित्र, संगीत आदि सभी ललित कलाओं में व्यक्त चारुत्व और नैपुण्य को अपनी विषय-सीमा में स्वीकार करता है।

उपर्युक्त कथन का यह आशय नहीं है कि संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्येतर ललित कलाओं की चर्चा एकदम वर्जित रही है। प्राचीन आचार्यों के बीच भरत के 'नाटयशास्त्र', राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' और अभिनवगुप्त की कृतियों में प्रसंगवश ललित कलाओं के तात्विक अन्त:सम्वन्ध का निदेश मिलता है। इस सन्दर्भ में शास्त्रीय धरातल पर राजशेखर का मन्तव्य है कि यद्यपि काव्य या साहित्य विद्या है और कलाएँ उपविद्या हैं तथापि काव्य और कलाओं के बीच एक अन्त:सम्वन्ध है, क्योंकि कलाओं के सन्निवेश से काव्य को जीवन मिलता है—"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्टि। ताश्च कला इति विदग्धवाद:। स आजीव: काव्यस्य।" अत: राजशेखर ने कवि-चर्या का विवेचन करते समय कवियों को कलाओं के अनिवार्य अध्ययन का निर्देश दिया है—"गृहीत विद्योपविद्या: काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातपारायणे, अभिधानकोश:, छन्दोविचिति:, अलंकारतन्त्रं च काव्यविद्या:। कलास्तु चतु:-षष्टिरूप विद्या:"। इसी तरह आचार्य वामन ने भी 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में काव्य के उत्कर्ष के लिए अन्य कलाओं के साहाय्य का संकेत किया है—"कलाशास्त्रेभ्य: कलातत्वस्य संवित्। कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादि-प्रणीतानि कलाशास्त्राणि। तेभ्य: कलातत्वस्य संवित् संवेदनम्। न हि कलातत्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यङ् निवद्धुं शक्यमिति।" तदनन्तर, व्यावहारिक या लोकप्रचलित धरातल पर संस्कृत साहित्य में अनेक ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं, जिनसे काव्येतर कलाओं के साथ काव्य का अन्त:सम्बन्ध समर्थित होता है। भर्तृहरि की इस पंक्ति—'साहित्य संगीत कलाविहीन:' से लेकर दण्डी के 'दशकुमारचरित' के अष्टम उच्छ्वास की इस पंक्ति—'बुद्धिश्च निसर्गपट्वी कलासु नृत्यगीतादिषु चित्रेषु काव्यविस्तरेषु प्राप्त विस्तारा'—तक काव्य और कलाओं का यही अन्त:सम्बन्ध ध्वनित हुआ है। इसीलिए भामह ने काव्य

को सभी शिल्पों और कलाओं का समवाय सिद्ध करते हुए यह घोषणा की है—"न तच्छास्त्रं न सा विद्या न तच्छिल्पं न सा कला। जायते यन्न काव्याङ्गम् ।।"

ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्यशास्त्र का स्वतन्त्र विकास सभी ललित कलाओं के अपने-अपने शास्त्र और विशेषकर काव्यशास्त्र के विकास के वाद हुआ है। इस प्रसंग में यहाँ तक कहने का साहस किया जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का ही विकसित और कला-चैतन्य से समन्वित रूप है। पाश्चात्य और प्राच्य—दोनों प्रकार के काव्यशास्त्र की परम्परा के आनुक्रमिक अध्ययन से यह पता चलता है कि काव्यशास्त्र के विश्लेषण का प्रधान विषय (काव्य की परिमिति में व्यक्त) वह सौन्दर्य ही है, जो सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का मूलाधार है। जिस प्रकार पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में हम 'ब्यूटी', 'एक्सेलेंस', 'सब्लाइम' इत्यादि का अध्ययन पाते हैं, जो शब्द-भेद से 'सौन्दर्य' का ही अध्ययन है, उसी प्रकार हम भारतीय काव्यशास्त्र में भी (जिसे कभी-कभी 'क्रियाकल्प' या 'काव्यकल्प' कहा गया है) सौन्दर्य, चारुता, चमत्कार,[1] विच्छित्ति, वक्रता अथवा शोभा का तलस्पर्शी अध्ययन पाते हैं।

तदनन्तर, संस्कृत काव्यशास्त्र और आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में एक अन्तर यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में हृद्यता, सहृदय के गुण-धर्म तथा रस, ध्वनि इत्यादि के नाम से काव्य के आत्म-तत्त्व की गवेषणा को प्रधानता दी गई है, जबकि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष को प्रमुखता मिली है। अतः आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष का विवेचन अधिक हुआ है। मानविकी के अध्येता यह जानते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र के सर्वाधिक प्रचलित अभिधान 'एस्थेटिक' का अनुषंग ऐन्द्रिय और संवेदनामय अधिक है। कांट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ही 'एस्थेटिक' का नाम दिया है। इसलिए एक व्यापक शास्त्र के अभिधान के रूप में स्वीकृत हो जाने पर भी आज तक 'एस्थेटिक' शब्द का संवेदनात्मक अनुषंग अवशिष्ट है। फलस्वरूप, अधिकांश पाश्चात्य कला-विचारक अद्यावधि कला में व्यक्त सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसे हम एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र में नहीं पाते।

जहाँ तक सौन्दर्यशास्त्र के मुख्य अध्येतव्य विषय—सौन्दर्य-तत्त्व की गम्भीर विवेचना या मीमांसा, का प्रश्न है, उसमें संस्कृत काव्यशास्त्र या काव्य आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र की तुलना में पश्चात्पद नहीं है। सौन्दर्य-तत्त्व की दार्शनिक, आस्तिक और सरस साहित्यिक व्याख्या की दृष्टि से संस्कृत वाङ्मय वेजोड़ है। इसमें 'करण-विगम'-सापेक्ष सौन्दर्य के नाम पर तरह-तरह के दार्शनिक अपोहन और योगसाधनात्मक मन्तव्य प्रस्तुत

१. संस्कृत काव्यशास्त्र में सौन्दर्य के लिए 'चमत्कार' शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जिसकी सर्वोत्तम व्याख्या 'चमत्कार-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ में चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वेश्वर ने की है।

किए गए हैं। 'सौन्दर्यलहरी' की अनेक औपम्यगर्भ पंक्तियाँ इस प्रवृत्ति को प्रतीकित करती हैं :

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता
परिक्षीणामध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहो पुरुपिका।।
सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपि वाटी परिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्क निलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।
महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।।

संस्कृत साहित्य और काव्यशास्त्र में सौन्दर्य तथा आनन्द के बीच अनिवार्य सम्बन्ध माना गया है, क्योंकि ये दोनों सहगामी हैं। यह स्वीकृत धारणा है कि जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ आनन्द अवश्य ही रहता है और इस आनन्द की उपलब्धि ही काव्य-सृजन तथा काव्यास्वाद का पार्यन्तिक मुख्य फल है। इसलिए संस्कृताचार्यों का कहना है कि सौन्दर्य-भावन में स्वाभाविक एकाग्रता रहती है। उसमें किसी प्रकार की मानसिक चंचलता अथवा विघ्न नहीं रहता है। सम्भवतः, इसी कारण अभिनवगुप्त ने सौन्दर्यानुभूति को 'वीतविघ्ना प्रतीति' के रूप में स्वीकार किया है। सौन्दर्य की ऐसी प्रतीति में सात प्रकार के रसापकर्षक विघ्न माने गए हैं :

१. प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावना विरहः (अर्थ न समझ पाने की अयोग्यता)।
२. स्वगतत्व नियमेन देशकाल विशेषावेशः (देश और काल की आत्मगत सीमाएँ)।
३. परगतत्व नियमेन देशकाल विशेषावेशः (देश और काल की वस्तुगत सीमाएँ)।
४. निज सुखादि विवशीभावः (अपने सुखादि भावों से ही ग्रस्त)।
५. प्रतीत्युपाय वैकल्य स्फुटत्वावभावः (उपचित अनुभूति पैदा करने के लिए आवश्यक उद्दीपन का अभाव)।
६. अप्रधानता।
और ७. संशययोग।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार सौन्दर्यानुभूति देश, और कारणकार्य की सारिणी से परे है। अतः सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में भावुक दैनन्दिन जीवन की सांसारिकता से कुछ समय के लिए ऊपर उठ जाता है। अभिनवगुप्त ने इस बात पर एकाधिकबार बल दिया है कि सौन्दर्यानुभूति की अवस्था में मनुष्य कारण-कार्य-नियम द्वारा संचालित संसार से पृथक् हो जाता है। यह पार्थक्य जितना ही सशक्त होता है, सौन्दर्यानुभूति उतनी ही विशिष्ट होती है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त भट्ट लोल्लट और शंकुक से दूर तथा भट्टनायक के निकट पड़ते हैं, क्योंकि भट्टनायक की तरह ही अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण है कि सौन्दर्यानुभूति (जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रायः रसानुभूति कहा जाता है) व्यक्ति की वह नन्दतिक चेतना है, जो वाह्य विघ्नों, घातों अथवा प्रभावों से मुक्त रहती है। इस नन्दतिक चेतना का कोई वाह्य उद्देश्य भी नहीं होता है। विघ्नापसारक विभावों पर निर्भर यह मनुष्य की प्रयोजनहीन दशा है।

सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में कालिदास ने एफ० डब्ल्यू० रकस्टल की तरह 'विकलता' (उत्सुकता) का प्रश्न उठाया है। रकस्टल का कथन है कि सौन्दर्यानुभूति की अवस्था वाह्य प्रभावों के कारण 'आत्मा की विकल दशा' होती है। इसी तरह कालिदास का भी संकेत है कि अबोधपूर्वा स्मृति और आनुवंशिक जैव-वासना पर निर्भर रहने के कारण सौन्दर्यानुभूति में सर्वदा—आलम्बन के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रहने पर—विकलता का अंश वर्तमान रहता है। उदाहरणार्थ, हम प्रथम स्थिति को इन पंक्तियों में देख सकते हैं:

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।

और, दूसरी स्थिति को हम 'विक्रमोर्वशीयम्' के अन्तर्गत पुरुरवा की इस उक्ति में ढूंढ़ सकते हैं:

त्वया बिना सोऽपि समुत्सुको भवेत्
सखीजनस्ते किमुतार्द्र सौहृदः।

इतना ही नहीं, कालिदास की एक और मान्यता आजकल के उन सौन्दर्यशास्त्रियों की धारणा से साम्य रखती है, जो वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के हैं। वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यशास्त्रियों का कहना है कि जो वस्तु सुन्दर है, वह सर्वत्र सुन्दर है, क्योंकि सौन्दर्य तो 'अनुभवसाक्षिक' होता है। कालिदास ने भी इसे अपनी विदग्ध भंगी से स्वीकार किया है कि 'सुन्दर' सर्वदा मनोज्ञ होता है, उसे किसी अभिविन्यसन अथवा प्रसाधन की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए इन्हें रूक्ष वल्कल में सिमटी कोमलांगी अच्छी लगती है और पिचपिच सेंवार में लिपटी कमलिनी भी, जिसे साधारण जन 'अम्बालमलिन' कह देते, आकर्षक लगती है:

इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी।
किमिवहि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम् ।।

और

यथाप्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैः जटाभिरप्येवाभूत्तदाननं।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते ।।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य-विवेचन की तरह कल्पना-विवेचन का भी प्रभूत महत्त्व है। यह कल्पना-विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-हेतु के प्रसंग में 'प्रतिभा' की विवेचना के अन्तर्गत मिलता है। यों संस्कृत साहित्य में भी 'कल्पना' शब्द का प्रयोग अनेकत्र हुआ है, किन्तु, सर्वथा भिन्न अर्थ में। संस्कृत साहित्य में 'कल्पना' का अधिकतर प्रयोग मिथ्याज्ञान या मिथ्या रचना के लिए हुआ है। कहीं-कहीं 'कल्पना' का व्यवहार सिद्धि और हाथी को सजाने के अर्थ में भी हुआ है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' में 'श्रद्धालु संकल्पित कल्पनायाम्' में कल्पना शब्द का प्रयोग सिद्धि के अर्थ में है। इसी प्रकार 'अमर-कोष' की 'रामाश्रयी' टीका में 'स्तोकसत्या' को कल्पना का पर्याय माना गया है। इतना ही नहीं, भामह ने 'काव्यालंकार' के पंचम परिच्छेद में (प्रत्यक्षं कल्पनापोढं सतोऽर्थादिति केचन। कल्पनां नामजात्यादियोजनां प्रतिजानते), धर्मकीर्ति ने 'न्यायबिन्दु' में (कल्पना-पोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्) और आर्यदेव ने 'चित्तशुद्धिप्रकरण' नामक पुस्तक में 'कल्पना' शब्द का प्रयोग किया है।[1] किन्तु, इनमें से एक भी प्रयोग आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में निरूपित कल्पना के अर्थ में नहीं है। लेकिन आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में कल्पना का प्रयोग जिस विशेष अर्थ में किया जाता है, उस अर्थ को अभिप्रेत करने के लिए संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रतिभा शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र को संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिभा-निरूपण से तुलित करने पर संस्कृताचार्यों की अनन्वय-मनीषा का पता चलता है। विशेषकर ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा की गई प्रतिभा की व्याख्या आधु-निक सौन्दर्यशास्त्र की विवेचित कल्पना से पर्याप्त साम्य रखती है। इसी तरह राजशेख-रोक्त सारस्वत कवि की सहजा कारयित्री प्रतिभा कॉलरिज, क्रोचे एवं अन्य अनेक आधु-निक विचारकों की बिम्बविधायिनी 'कल्पना' से बहुत भिन्न नहीं है। भट्टतौत द्वारा निरूपित प्रतिभा भी आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की कल्पना से समानता रखती है। भट्टतौत ने कहा है कि नए-नए अर्थों का उन्मीलन करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है—'प्रज्ञा नवनवो-न्मेषशालिनी प्रतिभा मता।' इस तरह आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कल्पना में जो नूतन-निर्माण की आवर्त्तक क्षमता होती है, उसे भट्टतौत का 'नवनवोन्मेष' बहुत अच्छी तरह व्यंजित करता है। अभिनवगुप्त ने भी भट्टतौत की तरह प्रतिभा की (कल्पना को

१. भोज ने भी 'शृंगार प्रकाश' में ४८ वाक्य-धर्मों की गणना करते समय 'कल्पना' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे—व्यवहित कल्पना और उपचार कल्पना।

गतार्थ करने वाली) सटीक व्याख्या प्रस्तुत की है। जाहिर है कि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में कल्पना मानसिक रूपसृष्टि की शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अभिनवगुप्त ने भी स्पष्टतः प्रतिभा को नवनवरूपविधायिनी मानसिक शक्ति के अर्थ में स्वीकार किया है— 'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।' इस तरह कल्पना में मानसिक रूप-विधान, बिम्ब-विधान अथवा मूर्तविधान की जो शक्ति होती है, जिसे कॉलरिज ने 'एजेम्प्लास्टिक पॉवर' कहा है, उसे संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिभा-विवेचन में प्रतिष्ठित करने का श्रेय अभिनवगुप्त को है।

भारतीय चिन्तन की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उसमें प्रायः सभी आधुनिक एवं अत्याधुनिक विचारणाओं के बीज सुरक्षित हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में अत्यधिक विचारित क्रोचे का नूतन अभिव्यंजनावाद बुद्धघोष के कला-सिद्धान्त से ध्यातव्य साम्य रखता है। बुद्धघोष ने बहुत पूर्व यह उद्भावना की थी कि चित्त का सहजज्ञान ही सौन्दर्यविधान या कला में अभिव्यक्त होता है; बिम्ब, प्रतीक, रंग इत्यादि जैसी चीज़ें उस सहजज्ञान के व्यक्तीकरण में केवल माध्यम का काम करती हैं। इस प्रकार की समग्र अभिव्यक्ति चित्त की स्वयम्भू क्रिया का वस्तुनिष्ठ प्रक्षेपण है। अतः बुद्धघोष के अनुसार सौन्दर्य-विधान या कला बाह्य न होकर आन्तर है और उसका नित्य-सम्बन्ध आन्तरिक सहजज्ञान की सृजनात्मक चेतना के साथ निर्भर है। इसी तरह मलार्मे[१] के प्रतीकवादी सिद्धान्त का संस्कृत काव्यशास्त्र के ध्वनि-सिद्धान्त से, पन्द्रहवीं शताब्दी के संस्कृत मनीषी भानुदत्त के रसास्वादन-विश्लेषण (स्वाप्निक, मानोरथिक और औपानयिक) का होवेल[२] के सौन्दर्यास्वाद-विश्लेषण से और रिम्बो तथा बाद्लेयर की 'थ्योरी ऑव कॉरेस्पॉण्डेन्सेस' का संस्कृत काव्यशास्त्र की रस-रंग धारणा (जैसे शान्त रस के लिए श्वेत रंग) से पृथुल साम्य है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य और काव्यशास्त्र में अपृथक्सिद्ध काव्य-शोभा, भंगी-भणिति, पदशय्या, शब्दपाक या शब्द-व्युत्पत्ति, गुण-धारणा, विशिष्ट कल्पना अथवा कवि-व्यापार इत्यादि से सम्बद्ध अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जो आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की अन्यतम उपलब्धियों से आश्चर्यजनक साम्य रखते हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि पूर्वीय और पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों के तुलनात्मक अध्ययन से निष्पन्न होनेवाली ऐसी समताओं के अन्वेषण में इन दिनों स्वदेशी और विदेशी[३] विद्वानों की सन्तुलित अभिरुचि जगी है।

---

१. कृष्ण चैतन्य ने मलार्मे को १९वीं शताब्दी के फ्रांस का आनन्दवर्धन माना है।—संस्कृत पोएटिक्स, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६५, पृष्ठ १४७।

२. The Meaning and Purpose of Art, Arthur R. Howell, Ditchling Press, 1957.

३. 'Aesthetic Values in the East and West,' van Meter Ames, Journal of Aesthetics and Art Crticism, Fall 1960.

अनुभूति एवं सौन्दर्य

डॉ० रामप्रसाद हटवाल

महामुनि वाल्मीकि तमसा नदी की ओर जा रहे थे कि मार्ग में एक साधारण घटना ने उनको महाकवि बना दिया। क्रौञ्चपक्षी के जोड़े में से एक को व्याध ने लक्ष्य बना दिया था और दूसरा विरही तड़पकर प्राण खो रहा था। वाल्मीकि के अन्तःकरण में एक अनुभूति (सह+अनुभूति) का उदय हुआ। उन्होंने जीवन-सौन्दर्य का दर्शन किया। अनुभूतिजन्य इस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति—"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं···"—इस सरस्वती के रूप में हुई।

अनुभूति शब्द हमारे सामने अतीत की उस कार्य-शैली का वर्णन करता है जिसके द्वारा हमें प्रस्तुत ज्ञान प्राप्त होता है, एवं वास्तविक तत्त्वों तथा अन्यथाप्राप्त-तत्त्वों को भावात्मकता (अनुभूति)—में बदल देने वाले घटनात्मक सीधे सम्बन्ध का विशेष व्याख्यान करता है।

अर्थात्—मनुष्य किसी-न-किसी सामाजिक वातावरण में उत्पन्न होता है और उस समाज की कोई-न-कोई संस्कृति होती है। संस्कृति, सामाजिकता को छाँटने व तराशने का काम करने पर संस्कार कहलाती है। इन संस्कारों की भित्ति-अन्तःकरण है और वह बाह्य जगत् के बिम्ब (प्रभाव) को संचित करने का स्वभाव रखता है। ये भाव, प्रभाव, विचार, यदि तीव्र संवेदनशील हुए तो अनुभूति का प्रादुर्भाव हो जाता है। तीव्र संवेदनशीलता निर्भर करती है—भावानुकूलता पर, या यों कहिए कि उस संस्कृति पर जो ज्ञानियों (ज्ञानी महात्माओं) की तपस्या की देन है। 'ज्ञानी' शब्द कहकर हम 'ज्ञान' शब्द की उस महिमा की ओर ध्यानाकर्षण करना चाहते हैं जो संस्कृति की विधायिका है। ज्ञान का अपर पर्याय है—'सब व्यवहारों की कारण-स्वरूपा बुद्धि।' सब व्यवहारों की कारणस्वरूपा बुद्धि, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द प्रमाणों से पुष्ट होकर यथार्थ प्रमा—बनने का अधिकार रखती है। और यथार्थप्रमा की अनुभूति, ठेठ आध्यात्मिकतामयी होने पर एक ओर तो "एको देवः केशवो वा शिवो वा"—की विरक्ति पर संसार की निःसारता सिद्ध कर परमानन्द के सौन्दर्य का पान करती है, तो दूसरी ओर भौतिक वस्तुओं में उपयोगिता का मानदण्ड रखकर सौन्दर्य का प्रत्याख्यान करती है। अनुभूति

के साथ ही अभिव्यक्ति की इच्छा होती है। यह अभिव्यक्ति रमणीय होने पर ही सौन्दर्य बन सकती है।

अनुभूति आध्यात्मिक तत्त्व है। अतएव इसकी अभिव्यक्ति ही रमणीयार्थ-प्रतिपादक काव्य का रूप ले लेती है। इसकी अभिव्यक्ति ही सारा रस-शास्त्र है। रस स्वयं आनन्दस्वरूप है--"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।"

नाट्याचार्य भरत के रस-सिद्धान्त पर हुई चर्चा ने स्पष्ट कर दिया कि रस (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः) कुछ तत्त्वों के सम्मिश्रण की निष्पत्ति है। इस निष्पत्ति को ही अभिव्यक्ति मानकर अभिव्यक्तिवाद सामने आया और इसे ही अभिव्यंजनावाद कहा जाने लगा।

कहने का आशय यह हुआ कि रस की वासना सबमें प्रस्तुत रहती है। पात्र के कुशल अभिनय द्वारा यह वासना व्यक्त होती है। वासना के व्यक्त होने पर दर्शक के हृदय में रस-संचार होने लग जाता है और उस रस का आनन्द प्राप्त होने लग जाता है। रस की वासना ही अनुभूति है। रस अनेक होते हैं। प्रत्येक रस अपने में पूर्ण होता है। पूर्णता ही सौन्दर्य है, आनन्द है।

दर्शनशास्त्र में इस अनुभूति को ख्यातिवाद की संज्ञा दी गई है। भाववादी बौद्ध (योगाचार) और शंकर के बाह्यजगत् की वास्तविक अनुभूति के प्रकार (आत्मख्याति, अनिर्वचनीय ख्याति) एक से हैं कि मानसिक विचारों का बिम्ब ही बाह्य संसार है। अभाववादी मीमांसक (प्रभाकर आदि) स्मृति और प्रत्यक्ष के हेर-फेर से बाह्यवस्तु की सत्ता स्थिर करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् हेगेल (Hegel) ने भी दृष्टिसृष्टिवादी वेदांतियों की तरह ही जगत् को विचारों की अनुभूति का प्रतिबिम्ब माना (The process of thinking, which under the name of idea is the demiurgos of the real word—Hegel)। मार्क्स ने सृष्टिदृष्टिवादियों (मीमांसकों) की तरह विचारों या भ्रम के लिए बाह्यजगत् में सत्ता स्वीकार की (The idea is nothing else than the material world, reflected by human mind and translated into the form of thoughts—Marx)।

रस की व्यंजना करने वाले महाकवि टैगोर का भी कहना था कि सौन्दर्य तो अन्तःकरणाश्रित होता है। द्रष्टा के अनुकूल, बाह्य जगत् के सौन्दर्य की स्थिति होती है। वस्तुतः यदि सौन्दर्य की बाह्यसत्ता होती तो उसको मानने की बाध्यता से सभी को सौन्दर्य मानना पड़ता। एवं पशुओं के द्वारा पुष्प आदि की हानि का भय नहीं होना चाहिए था और न डाकू आदि या हिंसक पशुओं द्वारा सौन्दर्य का दुरुपयोग होना चाहिए था। सम्भवतः गोस्वामी तुलसीदास ने इस अनुभूति की प्रशंसा में स्पष्टतः सूत्र-रूप में यह कहा हो—"जाकी रही भावना जैसी।"

गीता में : "यादृशी भावना यस्य···" कहकर भी कुछ अधिक विवेचना की गई। मन को (याने अन्तःकरण को) "कारणं बन्धमोक्षयोः" कहकर भावनाओं का केन्द्र माना गया। सत् + चित्त + आनन्द की सत्यं शिवं सुन्दरम्—वाली एकात्मकता की दृष्टि से यदि हम देखें तो गीता इस अनुभूति-सूक्ष्मता का प्रदर्शन यहाँ तक करती है कि भक्त के भावानुकूल ईश्वर तक का रूप बदल जाता है "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।"

वस्तु की सत्ता (अर्थात् वस्तुत्त्व) की रक्षामात्र के लिए भी सौन्दर्य की स्वतन्त्र सत्ता का अस्तित्व माना जा सकता है। सृष्टि के निर्माता का निर्माण अवश्य ही कोई महत्त्व रखता है। यदि फूलों की कोमलता कोई महत्त्व रखती है तो काँटों की तीक्ष्णता का भी कोई महत्त्व होना ही चाहिए। यदि शान्त प्रकृति के लिए कबूतर प्रशस्य है तो शौर्य व क्रुद्ध-स्वभाव के लिए सिंह ही एकमात्र प्रशंसा का पात्र है। सत्ता का सौन्दर्य, वस्तुत्व का नियामक बनता है। इस प्रकार का सौन्दर्य व्यावहारिकता का प्रतीक होता है। इसमें भी संवेदनशीलता आ जाने पर सौन्दर्य का वास्तविक भाव ध्वनित हो जाता है।

मानना पड़ेगा की सौन्दर्य का आधार अन्तःकरण है। अनुभूति सौन्दर्य की प्रतिष्ठा भी है। सौन्दर्य का कोई एक रूप नहीं माना जा सकता है। अनुभूति के अनुसार अन्तः-करण की प्रत्येक ईप्सा सौन्दर्य का रूप धारण कर सकती है।

संस्कृतभाषा का अभिनव कोष

बलदेव उपाध्याय

संस्कृत-साहित्य में कोषविद्या का महनीय स्थान है। प्राचीनता तथा व्यापकता की दृष्टि से यह विद्या अनुपमेय है। निघण्टु (८वीं शती ई० पू०) से लेकर इस बीसवीं शती तक कोषों का निर्माण संस्कृत भाषा में होता आया है। प्रकृत कोश-ग्रन्थ कोषविद्या के इतिहास में अनेक दृष्टियों विलक्षण तथा विचित्र है। इस अभिनव कोश का नाम है—**वाङ्मयार्णव**, तथा इसके रचयिता हैं स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर पाण्डेय **रामावतार शर्मा**। शर्माजी (१८७७ ई०–१९२९ ई०) ने इस कोश का प्रारम्भ १९११ ई० में किया और जीवन-पर्यन्त इसका विरचन, विश्लेपण तथा परिष्करण करते रहे। कोषविद्या के वे पारगामी पण्डित थे। अपनी छात्रावस्था से ही वे कोषों के संकलन तथा शब्दार्थ के चयन में विशेष अभिरुचि रखते थे। इसका विशद प्रमाण प्रस्तुत करता है उनका स्रग्धराबद्ध मुक्तक काव्य **मारुतिशतक**, जिसे विना प्रौढ़ कोषों की सहायता के कोई भी नहीं समझ सकता। इसमें प्रयुक्त विलक्षण शब्दों के विषय में वे स्वयं कहा करते थे कि उस पन्द्रह वर्ष के वय में कोषों की इतनी अधिक तैयारी थी कि मुझे ये शब्द अनायास ही विना किसी परि-श्रम के स्वतः ही उपस्थित हो जाते थे। बड़ा ही प्रौढ है यह मुक्तक काव्य और बड़ा ही विचित्र है प्रयुक्त शब्द-पुंज। प्रतीत होता है कि इस कोष की तैयारी में उन्होंने अपना जीवन ही लगा दिया। निःसन्देह यह 'वाङ्मयार्णव' संस्कृत के प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा अल्पज्ञात, प्रयुक्त तथा अप्रयुक्त शब्दरत्नों का रत्नाकर है जिसके भीतर धीरतापूर्वक गोता लगाने वाले व्यक्ति को निःसन्देह अनमोल शब्द-रत्न हाथ लग सकते हैं, जिनका दर्शन भी अन्यत्र दुर्लभ है। कोष का प्रकाशन वाराणसी के प्रख्यात प्रकाशन-संस्थान ज्ञानमण्डल द्वारा अभी (संवत् २०२४ विक्रमी में) हुआ है।

ग्रन्थकार की जीवनलीला-समाप्ति के ३८ वर्षों के सुदीर्घ व्यवधान के अनन्तर अभी १९६७ ई० में प्रकाशित यह ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के इतिहास में उन्हें अमरत्व प्रदान करेगा—यह कोई भी विज्ञ आलोचक विना किसी संकोच के कह सकता है। यह कोष अमरकोश की श्लोकमयी-शैली में निबद्ध पौने सात हज़ार अनुष्टपों में समाप्त हुआ है (ठीक संख्या ६८९६ छः हजार आठ सौ छियानवे)। ग्रन्थ के आरम्भ में १६ पद्यों का उपक्रम है तथा अन्त में छः श्लोकों का परिसमापन है। मैं इस कोश को अमरसिंह के 'नाम-

लिङ्गानुशासन' की परम्परा का सर्वश्रेष्ठ सार्वभौम ग्रन्थरत्न मानता हूँ। अमरसिंह ने अपने विश्रुत कोष में नामों तथा लिंगों का अनुशासन किया है। संस्कृत के कोष दो प्रकार के होते हैं—(१) समानार्थक तथा (२) नानार्थक। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत उन शब्दों का संकलन है जो एक ही अर्थ की द्योतना करते हैं; द्वितीय प्रकार के भीतर अनेक अर्थों के संकेतक शब्दों का चयन किया जाता है। पण्डित रामावतारजी शर्मा ने इस कोष में द्वितीय रीति का आलम्बन किया है। वैज्ञानिक वर्णक्रम से शब्दचयन की सिद्धि के कारण इस कोष के ऊपर पाश्चात्य कोषपद्धति की पूरी छाप है। १२०० ई० में केशवस्वामी ने 'नानार्थार्णव संक्षेप' नामक प्रख्यात कोष के संकलन में वर्णक्रम का ही आश्रय लिया था, परन्तु वह केवल शब्द के आरम्भ तक ही सीमित था, शब्दों के भीतर वर्णक्रम का आदर नहीं किया गया है, परन्तु इस 'वाङ्मयार्णव' में शब्दों का चयन नितान्त वैज्ञानिक रीति से समग्रतया वर्णक्रम-पद्धति पर किया गया है। और यह महती विशेषता इसका वैलक्षण्य सद्यः घोषित कर रही है। शब्द प्रथमान्त में अपने विशिष्ट लिंग में प्रयुक्त हैं तथा अर्थ की द्योतना के लिए सप्तमी का प्रयोग है, जैसे संस्कृत के अन्य कोषों में किया जाता है। लिंग की विशिष्ट सूचना के लिए पुं, ना, स्त्री, अस्त्री, नपुं० तथा क्ली० संकेतों का प्रयोग प्रचुरता से यहाँ किया गया है। शर्माजी की प्रतिभा के समान उनकी मेधाशक्ति भी अलौकिक थी, फलतः अनेक कोष उनकी जिह्वा पर नाचा करते थे। यही कारण है कि इस कोष में अर्थों की समग्रता, सम्पूर्णता तथा विस्तृति पर कोषकार का विशेष आग्रह लक्षित होता है। द्वितीय वैशिष्ट्य है वैदिक शब्दों का लौकिक शब्दों के साथ समुचित सन्निवेश। 'निघण्टु' तथा निरुक्त वैदिक शब्दों के ही कोश हैं। अमर तथा विश्व लौकिक शब्दों के चयनकर्ता हैं। अवश्य-मेव यादव प्रकाश (१२वीं शती) की 'वैजयन्ती' इसका अपवाद है, क्योंकि उसमें वैदिक शब्दों का भी चयन है। परन्तु इसमें भी वैदिक शब्द अपेक्षाकृत न्यून हैं। इस न्यूनता की पूर्ति उभय-विध शब्दों के संकलन के हेतु इस अभिनव कोश ने कर दी है। ग्रन्थकार इसे 'कोश' न कहकर 'विश्वविद्या' (इनसाइक्लोपीडिया, विश्वकोष) कहते हैं। उनकी कामना थी कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति के संग उसके प्रयोगस्थलों का पर्याप्त निर्देश किया जाय तथा आव-श्यक होने पर ऐतिहासिक तथा भौगोलिक सामग्री भी प्रस्तुत की जाय। पण्डित रामावतार जी की मेधाशक्ति विलक्षण थी। एकबार पठित अथवा श्रुत श्लोक उनके हृत्पटल पर सर्वदा के लिए अंकित हो जाते थे—इतनी दृढता से, कि वे भूले भी नहीं भुलाये जा सकते थे। वे कविप्रयोगों के स्वयं कोष थे। 'श्रीमद्भागवत' को छोड़ कर 'कशिपु' (सेज) शब्द का प्रयोग लौकिक संस्कृत में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता—उनका यह कथन आज भी यथार्थ है। 'कशिपु' शब्द वैदिक है और 'शतपथब्राह्मण' में प्रयुक्त भी है, परन्तु 'भागवत' का यह पद्यांश :

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः
बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ?

इसका लौकिक संस्कृत में एकमात्र दृष्टान्त माना जा सकता है। संस्कृत-साहित्य के लिए यह अपूरणीय क्षति है कि वे इस कोष को अभीष्ट रूप में प्रस्तुत तथा समाप्त नहीं कर सके। सुनते हैं कि उनकी कुछ भाषाशास्त्रीय टिप्पणियाँ अवश्य उपलब्ध हुई हैं जो कारणवश इस संस्करण में नहीं दी जा सकीं। कोष की इस विशिष्टता का वर्णन स्वयमेव ग्रन्थकार ने उपक्रम के सप्तम, अष्टम तथा नवम श्लोकों में इस प्रकार किया है :

वर्णानुक्रमविन्यस्तैं र्लोकवेदोभयोद्धृतैः।
पद्यबद्धैः सपर्यायैर्नानार्थैर्घटितो महान् ॥ ७ ॥
विशेषशास्त्रायुर्वेद प्रभृतीनां पदैर्युतः।
सोपयुक्तोदाहृतिभिष्टिप्पणैः समलंकृतः ॥ ८ ॥
सचित्रः प्रचुरोवांच्यः वैज्ञानिकपदोच्चयः।
परिशिष्टैश्च बहुभिः कोष एष परिष्कृतः ॥ ९ ॥

यदि इन समस्त गुणों से सम्पन्न होकर यह कोष परिष्कृत होता, तो निःसन्देह यह संस्कृत भाषा का सर्वश्रेष्ठ विश्वकोश होता। परन्तु काल के दुर्विलास से यह हो न सका। तथापि केवल एक ही मानव की प्रतिभा तथा परिश्रम का प्रदर्शक यह ग्रन्थरत्न अपने वैलक्षण्य तथा सम्पूर्ति के लिए सदा स्मरणीय तथा उल्लेखनीय रहेगा।

शर्माजी ने मान्य कोष-ग्रन्थों में 'वैजयन्ती', 'मङ्ख', 'अनेकार्थ कैरवाकर कौमुदी', 'नानार्थार्णवसंक्षेप', 'अभिधानचिन्तामणि', 'राजनिघण्टु', 'कल्पद्रुकोष', तथा शर्मण्य संग्रहों का नाम्ना उल्लेख किया है (उपक्रम-श्लोक, १२-१६)। ये सब प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं और अपने विषय में प्रमाणभूत हैं। 'वैजयन्ती' श्री रामानुजाचार्य के विद्यागुरु यादवप्रकाश की रचना है (समय १२ शती)। मङ्ख का 'अनेकार्थकोष' काश्मीरी कवियों के प्रयोगों का महान् आकर है (१२ श०)। 'अनेकार्थ कैरवाकर कौमुदी' हेमचन्द्र के 'अनेकार्थसंग्रह' की महेन्द्रसूरि-रचित टीका है जो वास्तव में ग्रन्थकार के नाम से न होकर उनके गुरु हेमचन्द्र के ही नाम से प्रख्यात है। 'अभिधान-चिन्तामणि' (समानार्थ शब्दों का बृहत् कोष) हेमचन्द्र का ही गरिमामय ग्रन्थ है। 'राजनिघण्टु' आयुर्वेदशास्त्र का प्रमुख निघण्टु है। 'नानार्थार्णवसंक्षेप' केशवस्वामी की तथा 'कल्पद्रुकोष' केशव की लब्धवर्ण कृतियाँ हैं। 'शर्मण्यसंग्रह' जर्मन विद्वान् राथ तथा बोथलिंक के प्रख्यात कोषों का संकेतक है। रत्नाकर, मल्ल, सोमदेव तथा भारवि की कृतियों के निरीक्षण को भी वे आवश्यक मानते हैं। (श्लोक १६) इनमें 'हरविजय' के कर्त्ता रत्नाकर, 'कथासरित्सागर' के रचयिता सोमदेव तथा 'किरातार्जुनीय' के लेखक भारवि तो अपनी रचनाओं के लिए प्रख्यात ही हैं। परन्तु 'मल्ल' नाम से किसका संकेत है ? भूमिका के लेखक 'वात्स्यायन नागमल्ल' की ओर संकेत मानते हैं, परन्तु मेरी

दृष्टि में यह संकेत-कल्पना यथार्थ नहीं है। शर्माजी का संकेत इस नाम की ओर प्रतीत नहीं होता। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में विरल प्रयोग वाले शब्दों की सत्ता होने पर भी यह अनुमान ठीक नहीं है। इस ग्रन्थ का 'मूलकारिका' ऐसा विलक्षण शब्द है जिसके यथार्थ के विषय में सब कोष मौन हैं। परन्तु टीका 'जयमङ्गला के अनुसार इस दुरूह शब्द का अर्थ है 'वशीकरण करनेवाली स्त्री' (वशीकरणेन मूलेन या कर्म करोति सा। कामसूत्र पृष्ठ २०१, काशी-संस्करण)। शर्माजी के दृष्टिपथ से यह विलक्षण शब्द ओझल नहीं हो सकता था, यदि 'कामसूत्र' का विश्लेषण किया गया रहता। मेरी दृष्टि में मल्ल से अभिप्राय भट्ट-मल्ल से है जिसका प्रख्यात ग्रन्थ **आख्यातचन्द्रिका** कोषकारों के लिए एक संग्रहणीय रत्न है।

पण्डित रामावतारजी ने शब्द विशेष के ऊपर होने वाले वैमत्य को भी अपने कोष में भलीभाँति दिखलाया है। प्राचीन कोषकारों ने किसी शब्द को लेकर जो मीमांसा की है उससे वे भलीभाँति परिचय रखते हैं और तत्तत् स्थान पर निर्देश भी करते हैं। 'लाजा' शब्द को ही लीजिए। हिन्दी में इसका अर्थ है आग में भूजा गया धान अर्थात् धान का लावा। इस शब्द के विषय में कोषकारों के विभिन्न मत हैं। 'लाजाः पुंभूम्नि चाक्षताः' (अमर) से प्रतीत है कि अमर की दृष्टि में यह पुंलिंग है तथा बहुवचन में प्रयुक्त होता है। सर्वानन्द की अमर टीका में उद्धृत विक्रमादित्य के 'संसारावर्त' कोष के अनुसार यह शब्द स्त्रीलिंग भी है तथा एकवचनान्त भी :

लाजाः पुंसि बहुत्वे वा स्त्रियां लाजापि चाक्षतम्।

(अमर २।९।४६ की टीका)

अन्य कोष में यह क्लीवलिंग भी भिन्नार्थ में है। इन समस्त विमतियों का परिष्कार देखिए इस कोष में :

लाजं क्लीबमुशीरेऽथ स्त्रियां पुंभूम्नि चाक्षते।
भ्रष्टधान्येऽपि च स्त्रीत्वे किं वा पुंभूम्नि कस्यचित्॥

यह श्लोक 'लाज' शब्द के तीनों लिंगों में प्रयोग तथा विभिन्न अर्थों को स्पष्ट द्योतित करता है। 'धाना' शब्द की विलक्षणता अमर के इस वचन से सद्यःप्रतीत नहीं होती कि यह बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है—'धाना भृष्टयवे स्त्रियः' (२।९।४७), परन्तु शर्माजी ने अनेक अर्थों के साथ इस वैलक्षण्य को स्पष्ट कर दिया है—'भूम्नि भृष्टयवे-ऽप्येवं स्थूले तच्चूर्णकेऽपि च' (पृ० २०७, श्लोक २८०५)। कोष के साथ प्रकाशित अनु-क्रमणी से प्रतीत होता है कि इसमें बीस हज़ार शब्द उपन्यस्त हैं। यदि चार शब्दों के द्वारा अर्थ की द्योतना मान लें, तो पूरे कोश में पाँच सहस्र मौलिक शब्द हैं जो वर्णानुक्रम की यथार्थ पद्धति से यहाँ विन्यस्त हैं। यह नानार्थक कोष है अर्थात् अनेकार्थ वाले शब्दों का ही यहाँ संकलन है। फलतः एकार्थक शब्दों को बुद्धिपूर्वक नहीं रखा गया है। शब्द-

विशेष के नाना अर्थों का ही यहाँ विवरण नहीं है, प्रत्युत उसके लिंग-वचन का वैलक्षण्य भी उद्घाटित किया गया है। यह उद्घाटन प्राचीन कोषों के आधार पर है, परन्तु इसमें शर्माजी के विशाल अध्ययन तथा विशद अनुशीलन का भी परिणत फल पदे-पदे उपलब्ध होता है। पण्डित रामावतार जी को भाषाशास्त्रीय टिप्पणों के संकलन का अवसर नहीं मिला। नहीं तो यह कोष वास्तव में अद्वितीय होता। उनके अन्तेवासी होने की दृष्टि से लेखक पण्डितजी के भाषाशास्त्रीय वैदुष्य तथा अलौकिक प्रतिभा से पूर्णतः परिचय रखता है। फलतः केवल दो शब्दों के विषय में उनके गम्भीरार्थक टिप्पणों का आदर्श प्रस्तुत कर रहा है जिन्हें वे अवश्य लिखे रहते।

धेनु—यह शब्द सद्यःप्रसूता गौ के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु इसके अन्य विलक्षण प्रयोग संस्कृत भाषा में उपलब्ध होते हैं। किसी भी पशु के स्त्री व्यक्ति के प्रदर्शनार्थ भी उस शब्द के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। इसका मूल अर्थ है पयस्विनी गौः, तदनन्तर गोमात्र में इसका प्रयोग विस्तृत हो गया। इसके अनन्तर स्त्रीमात्र का वाचक बन गया। यथा अश्वधेनुः=अश्वा (घोड़ी), गजधेनुः=हस्तिनी (हथिनी) आदि। धेनु, गोधेनु तथा वडवाधेनु आदि शब्दों में धेनुशब्द स्त्रीत्व का ही बोधक है। आङ्ग्ल भाषा में भी इसी प्रकार elephant, rhinoceros आदि शब्दों के साथ प्रयुक्त Cow शब्द स्त्रीलिंग का ही बोधक होता है। कभी-कभी यह शब्द अकेले ही घोड़ी तथा हथिनी का बोधक होता है। 'मनुस्मृति' का प्रयोग है—'यथा धेनुः किशोरेण।' यहाँ किशोर (घोड़े का बच्चा, अश्वशिशु) के संयोग से धेनु शब्द अश्वधेनु का वाचक है स्वयं अकेले ही। 'धेनुका स्त्री करेण्वां तु' इस कोशवचन से धेनु का अर्थ करेणु (हस्तिनी) भी है। सामान्य स्त्रीवाची होने से 'धेनु' का प्रयोग किसी पदार्थ के लघुरूप को द्योतित करने के लिए भी संस्कृत में उपलब्ध है। 'छुरी' के लिए प्रयुक्त पर्यायों में अमर द्वारा निर्दिष्ट 'असिधेनुका' विशेष ध्यातव्य है ('स्यात् शस्त्री चासिपुत्री च छुरिका चासिधेनुका'—अमर, २।८।९२)। यहाँ 'धेनुः' का ही अल्पार्थद्योतक 'धेनुका' शब्द है—धेनुरेव धेनुका, स्वार्थे क प्रत्ययः। फलतः 'असिधेनुका' का यथार्थ है—छोटी तलवार=छुरी। यहाँ धेनु या धेनुका शब्द अल्पार्थद्योतन में प्रयुक्त है। दान के अवसर पर गाय का दान न देकर घृत, तिल आदि का गोसदृश आकार बनाकर देने का विधान पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में मिलता है। घृतधेनु, तिलधेनु, जलधेनु आदि शब्द ऐसे ही अवसर पर प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार वामा, वामिः, वामी ये तीनों स्त्रीत्वद्योतक शब्द हैं। फलतः "अथोष्ट्रवामी शत वाहितार्थम्" (रघुवंश, पंचम सर्ग) में कालिदास द्वारा प्रयुक्त उष्ट्रवामी का अर्थ है उष्ट्रस्त्री अर्थात् ऊँटिनी, साँढिनी। प्राचीन काल में शीघ्रगति के लिए सन्देश साँढिनी-सवारों के द्वारा भेजे जाते थे। अधिक बलशाली होने से माल ढोने के लिए ऊँटिनी का ही उपयोग किया जाता था। 'वामी' का अर्थ यदि कोषों द्वारा निर्दिष्ट 'घोड़ी' अर्थ ही केवल माना जाए, तो उष्ट्र के साथ उसका

मेल नहीं बैठता, यह शब्द भी धेनु के समान ही स्त्रीमात्र का द्योतक सिद्ध होता है।

पारसीक तैल—इस 'वाङ्मयार्णव' में (पृष्ठ ४४६) यह 'शिलाज' शब्द के अर्थ-रूप में दिया गया है। 'पारसीक तैल' तथा 'तुरुष्क तैल' आजकल के किरासन के तेल के लिए संस्कृत भाषा में प्रयुक्त मिलते हैं। 'मंजुश्री मूलकल्प' (द्वितीय शती) में बुद्धिमूर्ति के सामने सहस्र वत्ती वाले दीप जलाने के लिए तुरुष्क तैल के उपयोग की वात कही गई है। 'विक्रमांकदेवचरित' में विल्हण ने इस शब्द का प्रयोग किया है। इराक सदा से अपने तेल के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन काल से लेकर आज तक इसकी प्रसिद्धिपरम्परा अक्षुण्ण है। फलतः संस्कृत में यह शब्द अपनी उदयभूमि के नाम से प्रख्यात है। आज का अंग्रेज़ी Kerosene या Kerosine शब्द ग्रीक के Korax शब्द से उत्पन्न है जिसका अर्थ है मोम (wax)। पृथ्वी के भीतर जो मटीली चट्टानें मिलती हैं, उन्हीं के टूटने से यह उत्पन्न होता है। पेट्रोलियम को साफ कर इसे तैयार करते हैं। फलतः संस्कृत भाषा में शिला से उत्पन्न पदार्थ का बोधक 'शिलाज' शब्द इसके यथार्थरूप का पूर्ण परिचायक है :

शिलाजं त्वयसि क्लीबं शिलाजतुनि च स्मृतम्।
स्यात् शिलाकुसुमे पारसीकतैले तथा मतम्।।

(वाङ्मयार्णव, पृष्ठ ४४८-४४६)

\+ \+ \+

पण्डित आदित्यनाथ झा सुयोग्य संस्कृतज्ञ पिता के सुयोग्य संस्कृतज्ञ पुत्र ही नहीं हैं, प्रत्युत देव-वाणी के संवर्धन सूत्रकार हैं। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति के पद से की गई उनकी सेवाएँ संस्कृत भाषा के लिए गौरवमयी हैं। उनके सम्मान में प्रकाशित अभिनन्दन-ग्रन्थ में अपने इस विश्लेपक लेख के द्वारा मैं उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूँ।

शतमब्दानि जीवतु! तथास्तु!

संस्कृत और संस्कृति

डा० रामानन्द तिवारी

संस्कृत और संस्कृति में केवल शाब्दिक साम्य ही नहीं है वरन् दोनों में अधिक आन्तरिक एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्य रूप से प्रत्येक देश की भाषा उस देश की सांस्कृतिक धरोहर तथा साहित्य आदि के सांस्कृतिक वैभवों के सृजन एवं रक्षण का माध्यम होती है। भाषा की विशेषता देश और समाज की संस्कृति का अंग बन जाती है। इस प्रकार व्यवहार के सूत्र-रूप में संवर्धित भाषा देश का सांस्कृतिक अलंकार बन जाती है। इतना सांस्कृतिक गौरव तो प्रत्येक देश की भाषा को सहज ही मिल जाता है।

किन्तु संस्कृत भाषा को सभी भाषाओं के इस सामान्य अधिकार से कहीं अधिक सांस्कृतिक वैभव प्राप्त है। संस्कृति से उसका आन्तरिक एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत भाषा की यह सांस्कृतिकता संस्कृत भाषा के स्वरूप, लक्षणों और सांस्कृतिक रूपों के साथ सम्बन्धों में निहित है।

भाषा मनुष्य की प्रयत्नगत उपलब्धि है। इस रूप में प्रत्येक भाषा मूलतः सांस्कृतिक है, क्योंकि संस्कृति भी मनुष्य को निसर्ग का दान नहीं, वरन् उसकी प्रयत्नगत उपलब्धि है। किन्तु संसार के अन्य देशों और समाजों में जिस प्रकार जीवन के सांस्कृतिक रूप अल्प परिमाण में प्रतिफलित हुए हैं उसी प्रकार अन्य भाषाओं के विन्यास में सांस्कृतिक रूप एवं तत्त्व भी संस्कृत भाषा की अपेक्षा बहुत कम समाहित हुआ है। पर्वों, उत्सवों संस्कारों आदि के रूप में जीवन-संस्कृति का जितना विपुल वैभव भारतीय परम्परा में मिलता है उतना अन्य किसी भी समाज में नहीं मिलता। उसी प्रकार आत्मिक अध्यवसाय की अधिकता और उसके फलस्वरूप भाषा के स्वरूप एवं सम्बन्धों की दृष्टि से जितनी अधिक सांस्कृतिकता संस्कृत भाषा में मिलती है, उतनी विश्व की अन्य किसी भाषा में नहीं मिल सकती।

'संस्कृत' भाषा की यह सांस्कृतिकता सबसे पहले उसके नाम से ही विदित होती है। कुछ विशेष संस्कारों से समन्वित होने के कारण ही 'संस्कृत' भाषा को यह नाम मिला। प्राकृत भाषाएँ मनुष्य की भाषा-सम्बन्धी सहज प्रक्रियाओं का परिणाम हैं। विशेषतः उनके उच्चारण सुविधा एवं सरलता के प्राकृतिक नियमों के अनुकूल हैं। इस दृष्टि से संस्कृत को छोड़कर संसार की अन्य सभी भाषाओं में प्राकृत भाव अधिक है।

भाषा मनुष्य की मुखर अभिव्यक्ति का संर्वाधित रूप है। वर्णों और शब्दों के रूप में मनुष्य ने अभिव्यक्ति के इस मुखर माध्यम को बनाया और विकसित किया है। मुखर ध्वनि की क्षमता तो पशुओं को भी निसर्ग से प्राप्त है। किन्तु पशुओं की ध्वनियाँ अत्यन्त सीमित हैं तथा उनके रूप एवं विन्यास में किसी प्रकार के विकास की सम्भावना नहीं है। मनुष्य की ध्वनियों में जिस विकास की सम्भावना है उसी के द्वारा भाषाओं का रूप प्रतिफलित हुआ। फिर भी अन्य भाषाओं की निर्मिति में प्राकृतिक प्रभावों एवं प्रवृत्तियों का योग अधिक है। संस्कृत भाषा के स्वरूप-निर्माण में आत्मिक अध्यवसाय का योग अधिक है। संस्कृति भी मनुष्य के आत्मिक अध्यवसाय की उपलब्धि है। इसीलिए संस्कृत भाषा अधिक सांस्कृतिक है।

संस्कृत भाषा की यह सांस्कृतिकता सबसे पहले उसके वर्णविधान में प्रकट होती है। वर्णों को हम मानवीय ध्वनि की इकाइयाँ कह सकते हैं। ध्वनि का प्राकृतिक स्वरूप एक अखण्ड धारा के रूप में प्रकट होता है। इस ध्वनि-धारा में वर्णों की इकाइयों का बिन्दु-विभाजन अत्यन्त कठिन है। यह विभाजन अत्यन्त तीक्ष्ण एवं प्रबल आत्मिक अध्यवसाय के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यह केवल संस्कृत भाषा में ही सम्पन्न हो सकता है। संसार की अन्य भाषाएँ वर्णात्मक नहीं, वरन् शब्दात्मक हैं। वर्ण-विधान का आरोपण इन भाषाओं के ऊपर उत्तरकाल में और सम्भवतः संस्कृत भाषा के अनुकरण पर किया गया है। मूलतः ये भाषाएँ शब्दात्मक हैं। शब्द ही इनकी इकाई है। यूरोपीय भाषाओं के उच्चारण में उनका शब्दात्मक अखण्ड रूप स्पष्ट हो जाता है। इन भाषाओं के वाक्य एक अखण्ड धारा के रूप में प्रवाहित होते हैं। इनके शब्द एक सम्पूर्ण इकाई से जान पड़ते हैं। इन शब्दों को वर्ण-विधान उच्चारण में स्पष्ट नहीं रहता। विभिन्न भाषाओं में ध्वनि-समूहों का वर्ण-विधान भी भिन्न है। ऐसा भारतीय भाषाओं में नहीं है। यूरोपीय भाषाओं में ऐसा होने का कारण यही है कि वे वर्ण-ध्वनि के स्पष्ट एवं वैज्ञानिक विभाजन पर निर्मित नहीं हैं।

आज इन सभी भाषाओं में लेखन के लिए वर्णमाला का उपयोग होता है किन्तु इन भाषाओं का ध्वनि-विन्यास वर्ण-विधान के अनुरूप नहीं है। लिपि और लेखन की अवस्था में उत्तरकाल में इन भाषाओं पर वर्ण-विधान का आरोपण किया गया है। इसी कारण यूरोप की विभिन्न भाषाओं में ध्वनि-विधान में भिन्नता है। इसके विपरीत संस्कृत भाषा वर्ण-विभाजन के सूक्ष्म, स्पष्ट और वैज्ञानिक आधार पर आश्रित है। संस्कृत की वर्णमाला उच्चारण-विधि के वैज्ञानिक क्रम के अनुसार निर्मित है। यह क्रम सहज, सरल और स्वाभाविक नहीं है वरन् एक प्रबल उच्चारण-प्रयत्न द्वारा निर्धारित किया गया है। पश्चिमी भाषाओं की वर्णमाला में वर्णों का उच्चारण शब्दों के समान होता है। किन्तु संस्कृत के वर्णों का उच्चारण वर्णध्वनि के अनुरूप ही होता है। वर्ण और वर्णध्वनि का

ध्वनि-मान समान है। यूरोपीय भाषाओं में ऐसा नहीं है। संस्कृत भाषा के पाठ में भी वर्ण-ध्वनियाँ स्पष्ट रहती हैं। यूरोपीय भाषाओं में वे मिश्रित हो जाती हैं। संस्कृत भाषा का यह स्पष्ट और सूक्ष्म वर्णविधान उसकी सांस्कृतिकता का पहला प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत वर्णमाला के अनेक वर्ण शब्दों के समान अर्थ देते हैं। क, ख, ग, ज, द, प, स आदि अनेक वर्ण शब्दों के निर्माण में सार्थक योग देते हैं। वर्णों की ऐसी सार्थकता अन्य किसी भी भाषा में मिलनी कठिन है। संस्कृत भाषा के स्पष्ट वर्ण-विभाजन के आधार पर ही यह सम्भव हो सका है। संस्कृत भाषा के वर्ण शब्दों के विधायक अंग बनकर ध्वनि-रूप में अपने मूलरूप में अक्षुण्ण बने रहते हैं। यूरोपीय भाषाओं में ऐसा नहीं होता। उनके वर्ण केवल लिपि के आकार के रूप में विभक्त रहते हैं। ध्वनि-रूप में उनका अस्तित्व शब्द की समग्र ध्वनि में निमग्न हो जाता है। वर्णों की यह सार्थकता संस्कृत भाषा के निर्माताओं के उत्कृष्ट आत्मिक एवं सांस्कृतिक अध्यवसाय का फल है। यह संस्कृत भाषा के वैज्ञानिक वर्ण-विभाजन को एक आर्थिक विभा प्रदान करता है। इससे संस्कृत भाषा की सांस्कृतिकता भी समृद्ध होती है। संस्कृत वर्णों की सार्थकता सामान्य भाषा में भी पर्याप्त परिमाण में प्रकट हुई है। शैव-शाक्त तन्त्रों तथा मन्त्र-दर्शन की परम्परा में यह गूढ रहस्यों से गर्भित हो गई है। मातृका तन्त्र के अनुसार वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण सार्थक तथा रहस्ययुक्त है। ध्वनि पर आश्रित संस्कृत भाषा का व्याकरण संस्कृत भाषा की वर्णिक तथा ध्वनिमूलक सांस्कृतिकता को पूर्ण बनाता है। एवं प्राकृत भाषाएँ प्राकृतिक उच्चारण की सुविधाओं के अनुसार बदलती रहती हैं। संस्कृत भाषा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यह अपरिवर्तनशीलता भी संस्कृत की सांस्कृतिकता का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

भाषा का मूल स्वरूप ध्वनि है। वर्ण उसी ध्वनि की इकाइयाँ हैं। वर्णमाला भाषा का वैज्ञानिक आधार है, यद्यपि वर्ण-विवेक एक उत्कृष्ट आत्मिक अध्यवसाय का फल है। ध्वनि एक अत्यन्त रहस्यमय तत्त्व है। भारतीय चिन्तन में चतुर्विध वाक् के रूप में ध्वनि के गहन तत्त्व का अवगाहन किया गया है। वर्णों की वैज्ञानिक ध्वनि के अतिरिक्त भाषा के मुखर रूप में भी सूक्ष्म अन्तर्ध्वनियाँ होती हैं। प्रत्येक भाषा का विशेष सौन्दर्य इन्हीं अन्तर्ध्वनियों से निर्मित होता है। संगीत में इन अन्तर्ध्वनियों की विशेषता ही महान् कलाकारों का विशेष गुण बन जाती है। सभी भाषाओं का अपना ध्वनि-सौन्दर्य होता है। संस्कृत भाषा में अन्तर्नाद अधिक है। उसकी अन्तर्ध्वनि में एक निगूढ़ संगीतात्मकता है। इसी कारण संस्कृत का पाठ भाषा न जानने वालों को भी मधुर एवं मनोहर प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषा की ध्वनि में एक अद्भुत पवित्रता है। यह पवित्रता केवल भाषा के धार्मिक अनुषंग का फल नहीं है वरन् भाषा के ध्वनि-रूप का गहन मर्म है। संस्कृत के वर्णों और उनकी ध्वनियों की श्लक्षणता एवं विविक्तता उसके संगीतमय

ध्वनि-सौन्दर्य को चित्रकला की विविक्त रेखाओं का सौन्दर्य प्रदान करती है। ध्वनि के ये संस्कार संस्कृत भाषा की सांस्कृतिकता को और भी सम्पन्न बनाते हैं।

भाषा के निर्माण में आत्मिक अध्यवसाय और सांस्कृतिक उद्योग के ये योग संस्कृत भाषा को सांस्कृतिक बनाते हैं। इस प्रकार भाषा के स्वरूप की दृष्टि से भी 'संस्कृत' भाषा का यह नामकरण चरितार्थ होता है। किन्त स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कई दृष्टियों से भी संस्कृत भाषा का संस्कृति के साथ गहरा सम्बन्ध है। हमारा अपार प्राचीन साहित्य संस्कृत में ही मिलता है। यह साहित्य हमारी संस्कृति की अनमोल निधि है। हमारे वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण, महाभारत, रामायण, धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेद, दर्शन, काव्य, अलंकार आदि के ग्रन्थ मूलत: संस्कृत में ही रचे गए तथा संस्कृत के माध्यम से इनका विपुल भण्डार मिलता है। धर्म, दर्शन, काव्य आदि सभी संस्कृति के अंग हैं। संस्कृत के माध्यम से रचित इनकी अपार धरोहर आज भी सुरक्षित है। इनके अनुवाद हो सकते हैं। किन्तु मूल का अपना महत्त्व और सौन्दर्य है। संस्कृत भाषा में मूल का सौन्दर्य और भी अधिक विशेषता रखता है। उस सौन्दर्य का अनुवाद कठिन है, भाव का अनुवाद हो सकता है। हमें संस्कृत के माध्यम से ही अपनी इस अपार सांस्कृतिक निधि को सुरक्षित रखने तथा उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए। संस्कृत का माध्यम छोड़ देने पर संस्कृति का एक सुदृढ एवं सुन्दर सूत्र क्षीण होकर छिन्न हो जाएगा।

धर्म, दर्शन, काव्य, शास्त्र आदि संस्कृति के अंग हैं। धर्म तो लोक-संस्कृति के बहुत निकट आ जाता है। किन्तु दर्शन, काव्य, शास्त्र आदि प्राय: अभिजात संस्कृति के ही अन्तर्गत रहते हैं। साधारण लोक-समाज उन्हें बहुत कम अपना पाता है। जीवन्त लोक-संस्कृति का साक्षात् रूप हमारे पर्वों, संस्कारों आदि में मिलता है। ये पर्व, संस्कार आदि जीवन के साक्षात् रूप हैं जिनमें रूप-सौन्दर्य और भाव के अतिशय के योग से जीवन के प्राकृतिक धर्म अमित सांस्कृतिक सौन्दर्य एवं आनन्द से युक्त बन जाते हैं। इन पर्वों और संस्कारों में संस्कृत भाषा का योग अल्प ही है। इनका अधिकांश रूप लौकिक-कर्म तथा लोक-भाषा द्वारा ही सम्पन्न होता है। किन्तु पुरोहितों और यजमानों के मन्त्रोच्चारण आदि के रूप में संस्कृत (विशेषत: वैदिक संस्कृत) का योग इनमें रहता है। धर्मशास्त्रों में संस्कृत भाषा के माध्यम से ही इन पर्वों और संस्कारों के विधान सुरक्षित हैं। अत: जीवन्त लोक-संस्कृति के इन उत्सवों की पुष्पमाला भी संस्कृत के मूल सूत्र में ही अनुविद्ध है। माला के सौन्दर्य की रक्षा के लिए उसे सूत्र का संरक्षण अपेक्षित है। संस्कृत भाषा के मन्त्रों की प्राचीनता और दिव्यता इस सांस्कृतिक सूत्र को एक अलौकिक महत्त्व प्रदान करती है।

पर्वों और संस्कारों के अतिरिक्त हमारे धार्मिक आचार में संस्कृत भाषा का महत्त्व अधिक है। धर्म लोक-संस्कृति के अधिक निकट है। धार्मिक आस्था और आचार

सम्पूर्ण समाज के अधिकार हैं, वे दर्शन, काव्य आदि की भाँति अभिजात वर्ग के विशेषाधिकार नहीं हैं। प्राचीन भारत में धर्म का उद्भव और विकास संस्कृत के माध्यम से हुआ था। वेदों के मन्त्र तथा देवार्चन के उत्तरकालीन स्तोत्र आदि सभी संस्कृत भाषा में हैं। अर्वाचीन युग में हिन्दी आदि के माध्यम से भी धार्मिक ग्रन्थों और स्तोत्रों की रचना हुई। इससे जन-समाज के लिए धार्मिक सूत्र अधिक सुलभ हो गए, किन्तु इससे संस्कृत भाषा का धार्मिक महत्त्व कम नहीं होता। धर्म का बाह्य रूप लौकिक आचार अवश्य बन जाता है किन्तु धर्म का आन्तरिक रूप अलौकिक और अतीन्द्रिय भाव ही रहता है। संस्कृत भाषा की प्राचीनता, दिव्यता, ध्वनि-गरिमा आदि धर्म के इस अतीन्द्रिय भाव के संरक्षण में योग देती है। संस्कृत कम जानने वाले लोगों के लिए संस्कृत के पठन और उच्चारण का अध्यवसाय इस अलौकिकता को और बढ़ा देता है। धर्म पूर्णतः वैज्ञानिक और विज्ञेय नहीं बन सकता। उसके मौलिक रहस्यमय मर्म के महत्त्व को संस्कृत के माध्यम को सुरक्षित रखकर अधिक फलदायक बनाया जा सकता है। यह धर्म की दुरूहता का समर्थन नहीं, वरन् उसकी रहस्यात्मकता के संरक्षण का सांस्कृतिक तर्क-मात्र है।

इस प्रकार अनेक रूपों में संस्कृत भाषा का संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है। सबसे पहले संस्कृत एक उत्कृष्ट सांस्कृतिक भाषा है। उसकी वर्णमाला, ध्वनि-क्रम आदि एक सूक्ष्म और प्रबल सांस्कृतिक अध्यवसाय के फल हैं। उसके अनेक वर्णों की सार्थकता तथा उसकी अन्तर्ध्वनि की संगीतमयता उसे और भी अधिक सांस्कृतिक बना देती है। हमारा सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य संस्कृत के माध्यम से ही रचित हुआ है। साहित्य, दर्शन शास्त्र आदि संस्कृति के अंग हैं। संस्कृत हमारी संस्कृति का आश्रय और स्रोत है। भाषा के रूप में भी वह हमारी एक श्रेष्ठ सांस्कृतिक धरोहर है। पर्वों, संस्कारों तथा धर्माचार के अवसर पर संस्कृत-मन्त्रों और स्तोत्रों का उच्चारण सांस्कृतिक एवं धार्मिक भाव में एक दिव्य तथा अलौकिक सौन्दर्य समाहित कर देता है। संस्कृत एक अखिल भारतीय भाषा है। सम्पूर्ण भारत में इसका प्रचार एवं सम्मान है। वह भारत की एकता-सूत्र बन सकती है। अर्वाचीन भारतीय भाषाओं की प्रेरणा का स्रोत और उनके विकास की शक्ति भी संस्कृत भाषा में है। इन विविध रूपों में संस्कृत का हमारी संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है। विशेष आदर के साथ संस्कृत को अपनाकर हम अपनी संस्कृति की रक्षा, राष्ट्रीय एकता का निर्माण और अपने राष्ट्रीय गौरव का संवर्धन कर सकते हैं।

वाल्मीकि-रामायण और उसका कवि

इलाचन्द्र जोशी

इस देश के अधिकांश लोग जन्मघुटी के साथ ही राम-कथारूपी रसायन का पान करते हुए बड़े होते हैं। यह रसायन उन्हें माँ के दूध में घुला हुआ मिलता है। उसे निरन्तर पीते रहने के बाद वे उस कथा-रस को सहज रूप में ग्रहण करते रहते हैं और अभ्यस्त हो जाते हैं। फलस्वरूप प्रौढावस्था में उन्हें उसमें कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। इसलिए आज उस आदिकवि की विराट् सर्जनामूलक विविध रंगमयी कल्पना का ठीक-ठीक मूल्यांकन बहुत कठिन हो उठा है जिसने पहले-पहल इस महाकथा की रचना की। उसकी चिर-नवीनता और चिर-वैचित्र्य-बोध के प्रति आज का भारतीय पाठक उदासीन दिखाई देता है।

तनिक कल्पना कीजिए उस क्षण की जब वाल्मीकीय रामायण की पहली कापी प्रकाश में आई होगी और कवि ने दो-चार समानधर्मा पंडितों को उसे सुनाया होगा। क्या प्रतिक्रिया हुई होगी उन पंडितों पर पहली बार उस एकदम मौलिक, मानवीय संवेदना से पूर्ण, हृदयग्राही, भाव-विभोर करने वाली, रोचक-घटना-बहुल, अक्लिष्ट-कर्मा, धीरोदात्त नायक की विस्मयकारी, तथापि सहज-स्वाभाविक लीलाओं से पूर्ण, अद्भुत काव्य-कौशल की परिपक्वता में पगी हुई रचना को सुनकर?

मेरा कुतूहली मन बार-बार उस अपूर्व क्षण की कल्पना में निमग्न होकर विविध रूपों में उसका रस ग्रहण करने के लिए अक्सर उत्सुक रहता है। वह कौन महामुहूर्त रहा होगा जब उस अज्ञात आदि महाकवि के अन्तर में ऐसी युग-युग-विमोहिनी कथा की प्रेरणा कभी न बुझने वाले विद्युत्-स्फुलिंग की तरह दिप उठी होगी?

यदि केवल विशुद्ध कथा की दृष्टि से देखा जाए तो भी आदि से अन्त तक ऐसी चित्त-ग्राही कथा आपको विश्व-साहित्य के किसी भी युग में खोजे न मिलेगी। 'कथासरित्-सागर' और 'अलिफ़-लैला' की रोचक से रोचक कथाएँ भी रामायण की सुसंयोजित, प्रति-पल कुतूहलवर्द्धिनी महाकथा के आगे बचकानी लगती हैं। डेफो-रचित 'राबिन्सन क्रूसो' की कहानी से लेकर आलेक्सान्द्र दुमा की रहस्य-रोमांचपूर्ण औपन्यासिक कथाओं तक कोई भी कृति आपको ऐसी नहीं मिलेगी जो रामायण की कथा से अधिक आकर्षक हो। होमर और वर्जिल के महाकाव्यों का उल्लेख यहाँ पर मैं इसलिए नहीं करना चाहता कि

उनमें कथा-संयोजन की कला अत्यन्त साधारण लोक-कथाओं की स्थिति से आगे बढ़ ही नहीं पाई है।

पर किसी भी महान् साहित्यिक कृति में कथा-वस्तु केवल एक ढाँचा होती है। (यह दूसरी बात है कि वह ढाँचा भी अपनी जगह पर बहुत महत्त्वपूर्ण है।) कथा-वस्तु से बढ़कर उसका संयोजन है, और उस कथा-संयोजन से भी महत्त्वपूर्ण है उसके स्रष्टा द्वारा उसमें प्राणों का संचार। विश्व की विभिन्न महान् साहित्यिक कृतियों के अध्ययन से यह पाया गया है कि उनमें प्राणों की संचार-क्रियाओं के रूप भिन्न होते हैं और प्राणों के गुण और परिमाण भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

रामायण की कथा में आदिकवि ने प्राणों के संचार की जिस प्रक्रिया को अपनाया है वह केवल प्रसिद्ध प्राचीन कृतियों की तुलना में ही नहीं, आज के युग की अत्यधिक विकसित, सूक्ष्म साहित्यिक रुचि की दृष्टि से अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से परिष्कृत और परिपक्व लगती है। यदि उसे केवल विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखा जाए तो संसार के किसी भी युग का कोई महाकाव्य या खंड-काव्य उसकी कल्पना की विराटता, उसके क्षण-क्षण में नये-नये रंगों में चमकने वाले विम्बों के सूक्ष्म सौन्दर्य-वोध, मानवीय अवचेतना के अन्तरतम गह्वरों में अत्यन्त गोपनीय रूप में स्फुरित होते रहने वाले आवेगों के सूक्ष्मतम कंपनों के परिस्फुटन और सहज-स्थूल इन्द्रियानुभूति से उपजकर, इन्द्रियातीत अनुभूति की ओर तेज़ी से बढ़े चले जाने वाले भावों की उड़ान के प्रारम्भिक स्तर को भी छूने में असमर्थ लगता है। अकेले महाभारत में ऐसी उड़ानें (और कहीं-कहीं उससे भी ऊँची गहराइयाँ) पाई जा सकती हैं। पर महाभारत में स्तर की वह समानता, कथा की वह पूर्ण संवद्धता और संयोजन, विशुद्ध सौन्दर्य-वोध की वह विविधता और उच्चस्तरीय वैचित्र्य नहीं पाया जाता जैसा कि हम वालमीकि-रामायण में आश्चर्यजनक रूप से पाते हैं। इस महाकवि की विराटता और सर्वांगीण पूर्णता की तुलना में कालिदास एक साधारण प्रयोगवादी कवि लगने लगता है।[1]

रामायण केवल एक महाकाव्य हीं नहीं, महा-उपन्यास भी है। वैसे मैं व्यक्तिगत रूप से प्राचीन युगों के प्रत्येक महाकाव्य को काव्यात्मक महा-उपन्यास मानता हूँ। इस-लिए औपन्यासिक दृष्टि से भी उसकी परख आवश्यक है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में फ्रांस और रूस के (विशेष करके रूस के) साहित्य-सर्जकों ने उपन्यास-कला को विकास के चरम शिखर तक पहुँचा दिया था। इसलिए आदि-उपन्यास रामायण की तुलना मैं

१. कालिदास ने अपनी उपमाओं के लिए बड़ी ख्याति पाई है। पर आदि-कवि ने श्लोक-श्लोक में, साधारण से साधारण प्रसंग में जिस तरह की यथार्थ, अकृत्रिम और सहज उपमाओं की झडी लगाई है वे 'सोफिस्टिकेशन' की दृष्टि से भी कालिदास की उपमाओं को बासी बना देती हैं और बहुत पीछे छोड़ जाती हैं।

उन्हीं की विकसिततम औपन्यासिक कला-कृतियों से करना चाहता हूँ। देश और काल के प्रभेद से बदलते रहने वाले बाह्यावरणों को चीरकर यदि आप किसी रचना के अन्तर की प्राण-संवाहिनी नाड़ियों को पकड़ पाने की समर्थता रखते हों तो आपको यह समझने में देर न लगनी चाहिए कि रामायण की रचना-योजना और आधुनिक औपन्यासिक कृतियों की रचना-योजना में किस आश्चर्यजनक सीमा तक साम्य है। यह ठीक है कि आधुनिक लेखकों की कृतियों में हम उनके युग के जीवन की यथार्थता का चित्रण पाते हैं। अलौकिक या अति-प्राकृत पात्रों या घटनाओं से उन्होंने कोई सम्बन्ध नहीं रखा है, जबकि रामायण में—विशेष करके उसके उत्तरार्द्ध में—कुछ अति-प्राकृत पात्रों तथा परिस्थितियों का समावेश पाया जाता है। पर उन अति-प्राकृत पात्रों तथा परिस्थितियों में भी उस प्राचीन युग के जीवन की यथार्थता, भाव-सत्य की दृष्टि से, पूर्ण मात्रा में वर्तमान है और मानवीय संवेदना हम उसमें आधुनिक यथार्थवादी उपन्यासों की अपेक्षा कई गुना अधिक पाते हैं। और चित्रण की दृष्टि से तो रामायणकार का सूक्ष्म यथार्थबोध अनुपम है।

रामायण में अति-प्राकृत तत्त्व सभी स्थानों में नहीं आए हैं। उदाहरण के लिए, अयोध्याकांड में हम आधुनिक दृष्टिकोण से भी पूर्णतः यथार्थ का चित्रण पाते हैं। राम को युवराज-पद अभिषिक्त करने की योजना के वर्णन से लेकर उनके वन-गमन, और बाद में भरत के सदल-बल चित्रकूट में जाकर मिलने की घटना, तक की प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक पात्र का जो चित्रण रामायणकार ने किया है उसके टेकनीक में आज के मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यासकार के टेकनीक से अधिक अन्तर नहीं है। प्रत्येक साधारण से साधारण घटना के वर्णन में उसकी पृष्ठभूमि के वातावरण को सूक्ष्मता और विस्तार के साथ चित्रित करने से रामायणकार कहीं भी नहीं चूका है। प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक पात्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावनाओं और अन्तर्द्वन्द्वों का सटीक चित्रण करने में उसे केवल आनन्द ही नहीं आता, वरन् वह टेकनीक की निश्चित योजना के अनुसार भी अपनी कथा की मार्मिकता को अधिक से अधिक सुपरिस्फुट करने और अपने प्रत्येक चित्र की बारीक से बारीक रेखा और हलके रंग को उभारने के उद्देश्य से भी ऐसा करता है।

अपनी कथा को विभिन्न रूपों, रसों, रंगों और रेखाओं के संयोजन से अधिक से अधिक सजीव और मर्मग्राही बनाने में रामायणकार को सुस्पष्ट सुख मिलता है। वह जानता है कि उसे बहुत लम्बी कहानी कहनी है, पर उसे तनिक भी जल्दी नहीं है। वह अपनी कथा के यथार्थमूलक तत्त्वों को अधिक से अधिक रहस्यमय, मोहक और आकर्षक बनाता हुआ पाठक के कुतूहल और उत्सुकता को निरन्तर बढ़ाता चलता है। रामायणकार की इस कला का कुछ आभास हम दास्ताएव्सकी के यथार्थवादी उपन्यासों में पाते हैं। वह

भी छोटे से छोटे—किन्तु मार्मिक परिणाम से पूर्ण—विस्फोटक तत्त्वों के पूर्व-संकेतों का ग्राभास देता हुग्रा चलता है, जिससे कथा की रहस्यात्मक रसमयता ग्रधिक से ग्रधिक घनीभूत होती चली जाती है।

इसी सिलसिले में रामायण की एक ग्रौर वहुत वड़ी विशेपता की ग्रोर मैं विद्वान् पाठकों का ध्यान ग्रार्कापित करना चाहता हूँ। वह यह कि रामायण में केवल विशुद्ध काव्यात्मक या ग्रौपन्यासिक तत्त्व ही निहित नहीं है, वरन् नाटकीय तत्त्व भी पूर्णतम मात्रा में वर्तमान हैं—विशेप करके ग्रयोध्याकांड में। (वैसे हमारे यहाँ नाटक को भी काव्य के ही ग्रन्तर्गत माना गया है—पर यह एक दूसरा प्रसंग है)।

इस निवन्ध में मैं ग्रयोध्याकांड की कथा के विश्लेषण द्वारा ग्रपनी सभी बातों को किन्हीं ग्रंशों तक स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा।

राम को युवराज-पद पर ग्रभिपिक्त करने का विचार मन में उत्पन्न होने पर महाराज दशरथ ने जनक तथा केकय-राज को छोड़कर शेष सभी मित्र तथा सम्बन्धी राजाग्रों, सामन्तों, नैगमों तथा पौर-जानपदों को बुलाया। उन सबने जब उनके उस प्रस्ताव का ग्रत्यन्त हर्ष ग्रौर उल्लास के साथ समर्थन किया, तब राम को उस भरी सभा में बुलाकर सूचित किया गया कि दूसरे ही दिन पुष्य-नक्षत्र में उनका यौवराज्याभिषेक होगा। यह सूचना पाकर सभी उपस्थित जनों को प्रेम से प्रणाम करके राम वापस चले गए। सभा भंग होते ही दशरथ ग्रन्त:पुर चले गए। वहाँ उन्होंने राम को फिर बुलाया। राम के मन में कुछ खटका पैदा हुग्रा कि ग्रभी-ग्रभी तो महाराज ने बुलाया था, ग्रब फिर दोबारा क्यों बुलाया जा रहा है? जब वह पिता के पास पहुँचे तब उस एकान्त वातावरण में दशरथ बोले—"भरत इस समय ग्रपने मामा के यहाँ है, इसलिए उसके लौटने के पहले ही तुम्हारा ग्रभिषेक हो जाय, मैं ऐसा चाहता हूँ। यह ठीक है कि तुम्हारा भाई भरत जेठे भाई का ग्राज्ञानुवर्ती, धर्मात्मा, समवेदनाशील ग्रौर जितेन्द्रिय है, तथापि मेरी ऐसी धारणा है कि मनुष्यों का मन ग्रस्थिर होता है, ग्रौर सज्जन तथा धार्मिक व्यक्ति भी विशेष परिस्थितियों में बदल सकते हैं।" साथ ही दशरथ ने राम से यह भी कहा कि मंगल-मुहूर्त ग्राने तक उन्हें हर तरह से सावधान रहकर ग्रपनी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि ऐसे ग्रवसर पर कोई भी दुर्घटना घट सकती है।

राम के उदात्त स्वभाव का जो वर्णन रामायणकार ने बार-बार किया है उसके ग्रनुसार ग्राशा की जा सकती थी कि वह भरत के प्रति इस प्रकार के सन्देह का विरोध करते, ग्रौर यह सुझाव रखते कि भरत से, उसके मामा से तथा कैकेयी से यह शुभ सम्वाद न छिपाया जाय ग्रौर उन सब की रज़ामन्दी से ही यह काम हो; पर उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। पिता की ग्राज्ञा को चुपचाप शिरोधार्य करने की शिक्षा उन्होंने बचपन से पाई थी। इसलिए वह सब-कुछ सुनने पर भी कुछ बोले नहीं ग्रौर चुपचाप पिता को प्रणाम

करके विदा हुए और अपनी माता कौशल्या तथा सीता को वह शुभ सूचना देने के लिए चले गए। प्राचीन पाठकों ने, जो आज हम लोगों की तरह पहले से ही राम-कथा से परिचित नहीं थे, जब यह प्रसंग पढ़ा या सुना होगा तब उनकी उत्सुकता इस रहस्यमय संकेत से किस हद तक बढ़ गई होगी, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। इस रहस्य का भेद बहुत बाद में, राम के वन चले जाने पर उन्हीं के द्वारा खुलता है कि दशरथ ने कैकेयी से विवाह करते समय उसके पिता को यह वचन दिया था कि उसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही उनका उत्तराधिकारी होगा। इससे स्पष्ट है कि राम को इन सारे रहस्यों का पता पहले ही से था। राम की सर्वांगीण महत्ता को परिपूर्ण रूप से प्रमाणित करने के उद्देश्य से रामायणकार इस प्रसंग को आसानी से छोड़ सकता था। पर उसने ऐसा नहीं किया। इसके सुस्पष्ट कारण थे। एक तो यह कि राम के चरित्र को अतिमानवीय रूप में चित्रित करने की योजना उसकी नहीं थी; दूसरा यह कि वह इन छोटे-छोटे भेद-भरे संकेतों से अपने पाठकों अथवा श्रोताओं की उत्सुकता को अधिकाधिक उकसाते रहना चाहता था। वह जानता था कि राम के धीरोदात्त चरित्र को अतिमानवीय रूप में चित्रित करने से वह उन सहज मानवीय सम्वेदनामूलक तत्त्वों को उभार नहीं सकेगा, जिनके बिना कथा को मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही बना सकना सम्भव नहीं था। वह कुशल कलाकार की तरह पग-पग पर परिस्थितियों और घटनाओं का जो उतार-चढ़ाव दिखाना चाहता था, पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का जो मार्मिक चित्रण करना चाहता था, वह तभी सम्भव हो सकता था जब वह बाहरी परिस्थितियों की यथार्थता की पृष्ठभूमि में अपने पात्रों के बदलते हुए आवेगों और अन्तर्द्वन्द्वों को सन्तुलित रंगों और उपयुक्त रेखाओं में उभारकर रख सके। और उसने ऐसा ही किया है।

अयोध्याकांड की कथा की सारी योजना ही 'सस्पेन्स' मूलक तत्त्वों और तथ्यों से भरी हुई है। राम को युवराज-पद पर प्रतिष्ठित करने की बात केवल एक दिन पहले अप्रत्याशित रूप से तय होती है, उसके पहले न घरवालों को इसकी कोई सूचना थी, न जनता को। यह समाचार सहसा दावाग्नि की तरह चारों ओर फैल जाता है और जनता हर्ष और उल्लास के साथ उस मंगल अवसर पर सारे नगर को सजाने में स्वेच्छा से जुट जाती है। राम अपने आचरणों और व्यवहारों से जनता में किस हद तक सर्वप्रिय बन चुके थे, इसका निदर्शन कथाकार हमें पहले ही दे देता है। पति द्वारा उपेक्षिता, दुःखिनी माता कौशल्या, सीता, सुमित्रा, लक्ष्मण आदि के आनन्द की सीमा नहीं है। सर्वत्र आनन्द-उत्सव मनाए जा रहे हैं, जिनका चित्रण कवि बड़े विस्तार से, पूरी रसमयता के साथ करता है। कहीं न रंचमात्र विघ्न का कोई आभास मिलता है न विरोध का।

सहसा कहीं से मंथरा नाम की एक विचित्र तथापि सम्पूर्ण यथार्थ और स्वाभाविक व्यक्तित्व वाली पात्री उस नाटकीय योजना के बीच में अवतरित होती है। और इस

अत्यन्त उपेक्षणीय और प्रकट में अति-साधारण चरित्र के माध्यम से सारी कथा का भार-केन्द्र ही उलट जाता है। किस आश्चर्यजनक कौशल से रामायण के कथाकार ने इस अद्भुत नाटकीय योजना का निबाह किया है, यह देखते ही बनता है। सम्पूर्ण विवरण के वर्णन और चित्रण में अस्वाभाविकता का लेश भी कहीं नहीं पाया जाता और कथा की रोचकता और हृदयग्राहिता में वृद्धि होती चली जाती है। मंथरा का चरित्र अपने ढंग का निराला होने पर भी रंचमात्र भी अस्वाभाविक नहीं है। वह योंही कूबड़ी नहीं है। अनुभवियों से यह छिपा नहीं है कि कुबड़े लोग प्रायः बड़े ही चतुर और साथ ही कूट-प्रपंची होते हैं। जीवन के अनुभवों से रहित कैकेयी भी इस तथ्य से परिचित थी, इसीलिए वह प्रारम्भ में मंथरा की राम-विद्वेषी बातों को परिहास में टाल रही थी और राम के प्रति अपना सच्चा स्नेह प्रकट कर रही थी। पर बाद में जब नाना कुतर्कों से मंथरा ने कैकेयी को उसके भविष्य के सम्बन्ध में भयभीत कर दिया तब कैकेयी ने उसे प्रसन्न करने के उद्देश्य से कहा :

संति दुःसंस्थिताः कुब्जा वक्राः परमदारुणाः।
त्वं पद्मामिव वातेन सन्नता प्रियदर्शना॥

"इस प्रकार जितनी भी कुबड़ियाँ हैं उनका केवल अंग ही टेढ़ा नहीं होता वरन् मन भी कुटिल होता है। पर तू हवा द्वारा झुकाए गए कमल की तरह सन्नत और प्रियदर्शन है।"

इसके बाद कैकेयी उसके रूप की प्रशंसा विस्तार से करती है और उसे यह आश्वासन देती है कि "भरत को राज्य मिलने और राम के वनवासी होने पर मैं तेरे इस कूबड़ को उज्ज्वल सोने के पत्रों से ढक दूँगी और उसपर रोज़ चन्दन मला करूँगी। तुझे मैं नाना प्रकार के गहनों और वस्त्रों से सुसज्जित करूँगी जिससे तू मेरी सौतों के आगे अकड़कर चलेगी।"

यह है विनोदप्रिय कवि के स्वाभाविक चरित्र-चित्रण का एक विशिष्ट उदाहरण। एक-एक चरित्र को उसकी विशिष्टता के साथ अलग उभारकर रखने की कला में वह अद्वितीय है। और चरित्रों का चुनाव भी उसका निराला है।

मंथरा के कूट-प्रपंच से रात में अन्तःपुर के शयन-कक्ष में दशरथ और कैकेयी के बीच जीवन-मरण का जो नाटक चलता है (जिसका वर्णन कवि ने बड़े ही चुभते हुए शब्दों में, नाटकीय शैली में ही किया है), उसकी सूचना इस कमरे के बाहर एक मंथरा को छोड़कर और किसी को नहीं है। रहस्य से अज्ञात नागरिक जनता बाहर रात में बड़ी देर तक उत्सवों में मग्न रहती है और सुबह होने वाले मंगल-अभिषेक की प्रतीक्षा में अधीर रहती है। जगह-जगह सभाओं और समाजों में, हाट में, बाजार में, बच्चों की टोलियों में, महिलाओं की मंडलियों में राम के यौवराज्याभिषेक की ही उत्सुकतापूर्ण चर्चा

सुनाई देती है। सारी नगरी की सजावट जनता के स्वेच्छित प्रयत्नों से एक अद्‌भुत रूप में हुई है। रात में लोग जगकर आनन्द मनाना चाहते थे इसलिए सभी सड़कों पर 'दीप-वृक्ष' सजाए गए थे। मंथरा द्वारा सिखाए-पढ़ाए तर्कों से कैकेयी ने दशरथ को जिस धर्म-पाश में बाँधकर उन्हें एकदम मूक, पंगु और विवश कर दिया था उसके फलस्वरूप केवल अपने कलेजे को कचोटते रहने के सिवा दशरथ के लिए और कोई चारा नहीं रह गया था। दशरथ और कैकेयी-संवाद में जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गहन से गहन मनोवैज्ञानिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का यथार्थ चित्रण आदिकवि ने किया है, शेक्सपियर की सर्वश्रेष्ठ ट्रैजेडियों के चरित्र उनके आगे पानी भरते हैं।

सवेरा होने पर जब कैकेयी के कहने पर सुमन्त्र राम को बुलाने गए तब राम अपने भवन से उसी प्रकार बाहर निकले 'जिस प्रकार सिंह अपनी गुफा से बाहर निकलता है।' रास्ते में समुद्र के कलरोल की तरह हर्षध्वनि करती हुई जनता के अभिवादन का सप्रेम उत्तर देते हुए वह दशरथ के अन्तःपुर में कैकेयी वाले शयन कक्ष में पहुँचे। वहाँ वचन हारे हुए पिता की दीन और भयानक दशा देखकर राम के मन में उसी प्रकार भय का संचार हुआ 'जैसे किसी साँप को अनजाने अन्धेरे में पैर से छू लेने पर होता है।'

उनके शंकित-मन को जब कारण का कुछ पता न लगा और पिता से कोई उत्तर नहीं मिला तब उन्होंने कैकेयी से पूछा। उस 'अनर्थरूपा' और 'भयदर्शिनी' नारी ने निर्मम भाव से कहा कि 'यदि मैं महाराज की तरफ से शुभ या अशुभ जो कुछ कहूँ उसे तुम मानने का वचन दो तो मैं कारण बताती हूँ।'

अपने प्रति इस शंका की बात सुनकर राम का आत्माभिमानी हृदय दहल उठा। उन्होंने कहा :

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतयेमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा मित्रा नृपेण च हितेन च॥
तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितं।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥

"हा धिक्कार है! हे देवि! तुम्हें ऐसे वचन नहीं कहने चाहिए। मैं अपने परम गुरु और परम हितकारी पिता के कहने पर आग में गिर सकता हूँ, तीखा विष खा सकता हूँ और समुद्र में डूब सकता हूँ। इसलिए महाराज की जैसी भी इच्छा है उसे तू मुझे बता। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि उसका पालन करूँगा—राम दो बातें करना नहीं जानता।"

और तब उस सत्यवादी और सहज-सरल-स्वभाव राम से कैकेयी ने अत्यन्त दारुण

वचनों में सारी बात बता दी। मरण से भी अधिक पीड़ादायक उन वचनों को सुनकर भी राम तनिक भी विचलित नहीं हुए। भीतर से—अवचेतन मन में—वह इस अप्रत्याशित वज्रपात से अवश्य विचलित हुए थे, जिसका आभास आगे चलकर बड़ी ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, छोटे-छोटे संकेतों द्वारा कवि देता जाता है। पर इससे उनकी चारित्रिक दृढ़ता और अधिक स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आती है।

राम बोले—"हे देवि! तू रूठ मत, प्रसन्न रह! मैं तेरे सामने कहता हूँ कि मैं निश्चय ही चीर और जटा धारण करके तुरन्त ही वन को जाऊँगा। महाराज की बात तो दूर, मैं केवल तेरे ही कहने से अपने प्रिय भाई भरत को केवल राज्य ही नहीं, वरन् सीता को, अपने प्राणों को, इष्ट और धन सब-कुछ प्रसन्नता से दे सकता हूँ। इसलिए तू पिताजी को समझा और उन्हें प्रसन्न कर। मैं देखता हूँ कि पिताजी गर्दन झुकाए अविरल आँसू बहा रहे हैं।"

इस पर अत्यन्त निर्मम होकर कैकेयी बोली—"हे राम! जब तक तुम इस नगर से वन जाने के लिए जल्दी नहीं करोगे तब तक महाराज न स्नान करेंगे न भोजन।"

इस सारे दृश्य के बीच दशरथ का स्तब्ध-मौन रूप पाठक या श्रोता के आगे सब समय सजीव चित्रवत अंकित रहता है। वह एक अद्भुत मनोवैज्ञानिक अनुभव है। कैकेयी के ऐसे निर्लज्ज और नृशंस-वचन सुनकर केवल 'हा धिक्!' कहकर दशरथ शोक से परिलुप्त होकर मूर्च्छित-से चित गिर गए। राम ने उन्हें उठाकर ठीक से रखा और कहा :

··· ··· ··· कैकेय्याऽभिप्रचोदितः।
कशयेवाहतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः॥

"कैकेयी द्वारा बार-बार (नग्न, निर्लज्ज और निर्मम वाक्यों से) उकसाए जाने पर चाबुक से पीटे गए घोड़े की तरह वन जाने के लिए व्यग्र हो उठे।"

चाबुक से पीटे गए घोड़े की उपमा देकर कवि ने राम की सारी जटिल मनोभावना को स्पष्ट कर दिया है, उन्होंने कैकेयी से कहा कि "मुझे दुःख केवल इसी बात का है कि तू मेरी माता होकर, मेरे इतने निकट रहने पर भी मेरे स्वभाव को न जान पाई, नहीं तो इस छोटी-सी बात के लिए तुम्हें पिताजी को प्रेरित न करना पड़ता। तूने सीधे मुझ ही से अपने मन की बात कह दी होती!"

यह कहकर वह कैकेयी के और पिता के चरणों में प्रणाम कर और भरत की मंगल-कामना के लिए राज्याभिषेक की सामग्री की प्रदक्षिणा कर शान्त-भाव से बाहर चले आए।

राज्यश्री का आकस्मिक लोप होने पर भी उनके मुख की कान्ति में अन्तर नहीं आया—"जिस प्रकार कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की कान्ति नित्य क्षीण होने पर भी नहीं

घटती।" इस उपमा से स्पष्ट ही इंगित है कि कुछ तो कान्ति अवश्य ही घटी होगी, पर राम-रूपी चन्द्रमा के मूल रूप में—उसकी समग्रता में—कोई अन्तर नहीं आया। राम स्थिरप्रज्ञ और गुप्त मंत्र (अर्थात् मन की बात छिपाने की कला) में पारंगत होने पर भी मनुष्य थे—इसका आभास कवि पग-पग पर देता चलता है।

उन्हें राज्य को तिनके की तरह छोड़ने और सत्य तथा मर्यादा की रक्षा के लिए वन जाने का कोई दुःख नहीं था, वरन् उस घटना से अपने चारित्रिक विकास की सम्भावना देखकर उन्हें आन्तरिक प्रसन्नता ही हो रही थी। फिर भी उनका मन जो कातर हो रहा था उसका कारण केवल इतना ही था कि वह मार्मिक समाचार उन्हें रात-भर प्रभात के परम मंगल-अनुष्ठान की आशा में उत्सव मनाने वाली जनता, माता कौशल्या और सीता के आगे प्रकट करना होगा। उन सबके अन्तर की भावी पीड़ा ही उनकी अपनी पीड़ा का कारण बन रही थी, और कोई दूसरा कारण उनकी पीड़ा का नहीं था।

जब वह हर्ष-मग्न जनता के बीच से होकर कौशल्या के पास गए तब उन्होंने देखा वह मंगलमय-यौवराज्याभिषेक के ही सिलसिले में हवन करवा रही हैं। "राम ने सफेद वस्त्र धारण किए हुए, बहुत दिनों से मंगल-व्रत रखने के कारण कृश-शरीर देवार्चन में रत, गौरांगी माता को देखा। कौशल्या बहुत काल बाद अपने प्रिय पुत्र को आते देखकर उसी तरह स्वागत के लिए दौड़ी चली गई जैसे कोई घोड़ी अपने सद्योजात बच्चे की ओर लपकती है।"

माता ने जब आसन्न-यौवराज्याभिषेक की खुशी में उन्हें बड़े ही प्यार से बैठने और कुछ भोजन करने के लिए आग्रह किया तब :

मातां राघवः किंचिद्व्रीडात्प्रांजलिरब्रवीत्।
प्रस्थितो दंडकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे।
देवी नूनं न जानीषे महद्भयमुपस्थितम्।।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च।
गमिष्ये दंडकारण्यं किमनेनासनेन मे।।

"राम अत्यन्त संकुचित हो गए (कि कैसे आशान्विता माता के आगे उस अशुभ संवाद को प्रकट करें) और फिर बोले—"मैं दंडकारण्य जा रहा हूँ, और वहाँ जाने के लिए तुमसे आज्ञा माँगने आया हूँ। हे माता! तुझे खबर नहीं है कि हम सब लोगों के लिए महान् भय उपस्थित हो गया है। विशेषकर तेरे, लक्ष्मण के और सीता के लिए अत्यन्त दुःख का अवसर आ पहुँचा है। अब जब दंडकारण्य को जाना है तब इस आसन से क्या होगा।"

कौशल्या का इतना बड़ा सुख-स्वप्न जब सहसा इस तरह चकनाचूर हो गया, तब वह स्वभावतः मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। राम की परिचर्या से जब होश में आईं तब

उन्होंने कहा कि "इतने दिनों तक पति द्वारा उपेक्षित रहने के बाद अब मुझे इस बुढ़ापे में कैकेयी की दासी बनना पड़ेगा। कैकेयी के कठोर वचनों को मैं कैसे सहूँगी! मेरा लोहे-जैसा कठोर हृदय इस महादुःख में भी नहीं फटता और न पृथिवी ही फट रही है। अब तो मेरा जीना ही वृथा है। जिस प्रकार दुर्बल गाय अपने बछड़े के पीछे-पीछे जाती है उसी प्रकार अब मैं भी तेरे ही साथ वन चलूँगी।"

लक्ष्मण वहीं पहुँचे हुए थे। वह उस अन्याय और अन्धेर को किसी तरह भी सह नहीं पा रहे थे। घोर दुःख और निराशा के कारण वह अत्यन्त उद्विग्न होकर मारे क्रोध से काँप रहे थे। वह बोले—"काम-पीड़ित हमारे बुड्ढे पिता की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, नहीं तो इस प्रकार के देवतुल्य, सरल-स्वभाव, संयमी और शत्रुओं पर भी कृपा करने वाले पुत्र को कौन धर्मात्मा पिता त्यागेगा? भैया, लोगों में बात फैलने के पहले ही मेरी सहायता से तुम राज्य-शासन को अपने अधिकार में कर लो, मैं भरत के सभी पक्ष वालों और हितैषियों को मार डालूँगा। क्योंकि जो लोग तुम्हारी तरह सीधे स्वभाव के होते हैं उन्हीं को दुनिया दबाती है। यदि कैकेयी द्वारा प्रेरित होकर हमारे दुष्ट पिता हमारे साथ शत्रुता करें तो उन्हें भी निःशंक मार डालना चाहिए। यदि गुरु भी कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित होकर मनमानी करने लगे तो उसे दंड देना सर्वथा उचित है।"

राम के प्रति अनन्य-भाव से अनुरक्त लक्ष्मण की इस तरह की उग्र बातें सुनकर शोक-विह्वला कौशल्या ने तनिक भी विरोध नहीं किया, और रोती हुई राम से बोलीं—"तूने अपने भाई की सलाह सुन ली। अब इसके बाद तुझे जैसा उचित जान पड़े वैसा कर। मेरी सौत की अनर्थ-भरी बात सुनकर मुझ दुःखिनी को छोड़ यहाँ से मत जा, अन्यथा तुझे मातृ-हत्या का पाप लगेगा।" स्पष्ट है कि वाल्मीकि की यह कौशल्या तुलसीदास की उदार कौशल्या से भिन्न है जो कहती है:

"जौं केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौ पितु मातु कहेउ वन जाना, तौ कानन शत अवध समाना।"

वाल्मीकि की यह कौशल्या पूर्ण मानवी है। वह अत्यन्त आर्त है और अन्याय की पराकाष्ठा देखकर उसका ज्ञान और धैर्य छूट चुका है। वैसे तुलसी की आदर्श कौशल्या का चरित्र भी कुछ कम सुन्दर नहीं है।

यहाँ पर राम का मानसिक द्वन्द्व जटिलतम अवस्था को पहुँच जाता है। एक ओर पिता के सत्य की रक्षा का प्रश्न उनके सामने है, दूसरी ओर कैकेयी की क्षुद्रता के आगे अपने आत्म-गौरव की प्रतिष्ठा की प्रेरणा उन्हें चाबुक से पीटे गए घोड़े की तरह वन की ओर यथाशीघ्र प्रस्थान करने के लिए उकसा रही है, तीसरी ओर असहाय कौशल्या के मातृ-हृदय से निकली हुई आह उन्हें कचोट रही है और चौथी ओर दारुण परिस्थिति से अभी तक अपरिचित सीता के मन की होने वाली स्थिति की कल्पना उन्हें मन ही मन

कँपा रही है। पर इस सारे चक्कर के बावजूद उनका स्वाभिमानी मन वन जाने के निश्चय में चट्टान की तरह अडिग है। कवि राम के अन्तर की इस स्थिति का पूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्र पाठक के आगे उभारकर रख देता है।

राम माता को किसी तरह समझाकर लक्ष्मण से बोले—"प्यारे भाई, तुम क्रोध और शोक त्याग कर, मेरे अनादर की तनिक भी चिन्ता न कर मेरे वन जाने की तैयारी में ठीक उसी तरह जुट जाओ जैसे मेरे राज्याभिषेक के प्रयत्नों में जुटे हुए थे। माता कैकेयी का मन मेरे अभिषेक की तैयारियों के कारण सन्तप्त और शंकित हो रहा है। उसके मन में यह शंका उत्पन्न होने के कारण जो दुःख हो रहा है उसे मैं एक क्षण के लिए भी न सहन कर सकता हूँ और न देख सकता हूँ। मैं जब तक चीर, मृगचर्म और जटा धारण किए यहाँ से वन नहीं चला जाता, तब तक कैकेयी प्रसन्न नहीं हो सकती। जिसने राज्य के प्रति मेरा मोह दूर करके और वन जाने की प्रेरणा देकर मेरा इतना बड़ा उपकार किया उसे मैं क्लेश नहीं देना चाहता। यह सारा काण्ड दैव की इच्छा से हो रहा है। यदि यह बात न होती तो मुझ में और भरत में कोई अन्तर न मानने वाली माता कैकेयी, राजपुत्री होकर नीच और गँवारों की तरह ऐसे कटु-वचन कहकर मुझे ऐसी मर्म-पीड़ा क्यों पहुँचाती ?"

राम की ऐसी बातें सुनकर लक्ष्मण को दुःख भी हुआ और हर्ष भी। हर्ष स्पष्ट ही इस कारण हुआ होगा कि उत्कट मानसिक पीड़ा की अवस्था में भी इस तरह की उदारता और चारित्रिक दृढता दिखाकर राम ने अपने रहस्यमय हृदय की विशालता और अधिक स्पष्ट रूप में उभारकर उनके सामने रखी।

पर दशरथ और कैकेयी के उस अयाचित अन्याय को लक्ष्मण किसी प्रकार भी सहन नहीं कर पा रहे थे। इसलिए फिर क्रुद्ध सिंह की तरह हुँकार-भरे शब्दों में वह बोले—"हे भाई, असमय में आपको यह भ्रम हो गया है कि पिता की अनुचित आज्ञापालन न करने से धर्म की हानि हो जाएगी और लोक-मर्यादा नष्ट हो जाएगी। यह धारणा आप-जैसे निर्भ्रान्त पुरुष को शोभा नहीं देती। आप वीर क्षत्रिय हैं और दैव का सामना करने में समर्थ हैं, तथापि एक कायर की तरह दैव का गुणगान कर रहे हैं। संसार में धर्म को भी अपने कपट का अस्त्र बनाने वाले लोगों की कमी नहीं है। उनकी नीच और पाप-बुद्धि आपके आचरण से बढ़ेगी ही, घटेगी नहीं। दैव बलवान है या पुरुषार्थ इसकी परीक्षा आज मेरे पौरुष द्वारा हो जाएगी। जो लोग षड्यन्त्र करके आपको वन में भेज रहे हैं वे ही अब मेरे पौरुष से परास्त होकर चौदह वर्ष का वनवास भोगेंगे। मेरी यह तलवार शोभार्थ नहीं है और न बाण केवल तरकस में पड़े रहने के लिए हैं।"

ऐसा बोलते समय लक्ष्मण की क्षुब्ध आँखों से आँसुओं की झड़ी लग रही थी। राम ने स्नेह से उनके आँसू पोंछे और सान्त्वना देते हुए अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहने की

बात फिर उन्हें बताई। कौशल्या ने फिर विलाप किया, पर जब यह जान लिया कि राम अपनी बात पर दृढ हैं तब अनिवार्य के आगे माथा नत करके उनके प्रस्थान के उद्देश्य से उन्होंने स्वस्तिवाचन करवाया।

माता को प्रणाम करके राम सीता से मिलने गए। सीता को तब तक कोई सूचना नहीं थी और वह राम के राज्याभिषेक की घड़ी की प्रतीक्षा में आनन्द-विभोर बैठी थी।

राम अत्यन्त घबराए हुए थे—वन जाने के दुःख से नहीं, वरन् माता के बाद सीता की विकलता की कल्पना से। उनका मुख दूसरों की नीचता के कारण लज्जा से नीचा हो रहा था, और चेहरे का रंग उड़ गया था, और जब वह सीता के निकट पहुँचे तब :

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम्।
अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम्॥
तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम्।
तं शोकं राघवं सोढुं ततो विवृततां गतः॥
विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम्।
आत्त दुःखाभिसन्तप्ता किमिदानीमिदं प्रभो॥

"सीता शोक और चिन्ता से विकल अपने पति को देखकर काँपती हुई आसन से उठ खड़ी हुई। राम अपने अन्तर में दबे हुए शोक के वेग को अधिक न रोक सके। उनका पसीने से तर और उतरा हुआ चेहरा देखकर अत्यन्त पीड़ित होकर सीता ने पूछा—"यह आपको क्या हो गया है ?"

तब राम ने साहस बटोरकर सारी स्थिति सीता को समझा दी और अपने वन जाने की सूचना देते हुए कहा—"मैं जाने के पहले कुछ ही क्षणों के लिए तुमसे मिलने यहाँ आया हूँ। मेरे जाने के बाद तुम भरत के आगे मेरी प्रशंसा मत करना। क्योंकि समृद्धवान पुरुषों को दूसरे की प्रशंसा सह्य नहीं होती। यदि तुम भरत की इच्छा के अनुकूल चलोगी तभी यहाँ तुम्हारा निर्वाह हो सकेगा। भरत अब से देश के राजा और कुल के मालिक हैं, इसलिए सच्चे मन से तुम उनकी सेवा करना। राजा लोग अहित करने वाले अपने औरस पुत्रों को भी त्याग देते हैं, इस बात का ध्यान रखना।"

वाल्मीकि की सीता करुण, कोमल स्वभाव वाली भीरु और असहाय अबला नहीं है। वह स्वस्थ-हृदय और सप्राण नारी है। सभी राग-रंगों में दिलचस्पी लेने की चंचल उत्सुकता उसमें पूरी मात्रा में पाई जाती है और साथ ही चारित्रिक दृढता, धीरता और साहसिकता की भी कोई कमी उसमें नहीं पाई जाती। इसलिए बिना मेघ के वज्र-पात का समाचार पाने पर भी वह विचलित नहीं होती, वरन् उस चरम संकट की स्थिति में भी वह अपने पति के प्रति क्रोधाभासपूर्ण, तीव्र व्यंग-वचन बोलती हुई कहती है :

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम्।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरात्मज ।।
आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा।
स्वानि पुण्यानि भुंजानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ।।
भर्तुर्भाग्यं तु भार्यैका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अनिश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ।।
ईर्ष्यारोषौ बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते ।।

"हे राम, तुम यह कैसी हलकी और छोटी बात कर रहे हो ? इसे सुनकर तो मुझे हँसी आती है। पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू सब अपने-अपने कर्मों को भोगते हुए अपने-अपने भाग्य के अनुसार चलते हैं। किन्तु पत्नी केवल अपने पति के भाग्य का फल भोगती है। इसलिए तुम पीने से बचे हुए पानी की तरह ईर्ष्या और रोष को त्यागकर, मुझे बिना किसी द्विविधा के अपने साथ ले चलो। क्योंकि मुझमें कोई ऐसा पाप नहीं है जो तुम्हें मुझे ले जाने से रोके।"

'ईर्ष्या और रोष' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्यों से भरे सांकेतिक शब्द हैं। राम कितने ही महान् सन्त और स्थितप्रज्ञ महात्मा क्यों न हों, पर कवि की दृष्टि में वह हैं मानव ही।

इस तरह व्यंग, सान्त्वना, प्रेम और अनुनय-भरे शब्दों द्वारा सीता राम को अपने साथ ले चलने के लिए विवश करना चाहती है, पर राम के बार-बार मना करने पर अन्त में सीता दृढ शब्दों में कहती है :

अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसि।
विषमद्यैव पास्यामि मा विशं द्विषतां वशम् ।।
इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ।।

"यदि तुम मुझ अभया नारी को वन नहीं ले जाओगे तो मैं आज ही विष पी लूँगी—विद्वेषी लोगों के बीच मैं यहाँ नहीं रहूँगी। इस प्रकार का शोक मैं एक मुहूर्त के लिए भी नहीं सहूँगी—चौदह वर्ष की तो बात ही क्या है!"

इति सा शोकसंतप्ता विलप्य करुणं बहु।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिंग्य सस्वरम् ।।
सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव गजांगना।
चिरसन्नियतं वाष्पं मुमोचाग्निरिवारणिः ।।

"यह कहकर सीता शोकसन्तप्त होकर, बार-बार करुण विलाप करती हुई, पति

का आलिंगन कर धाड़ मारकर रोने लगी। विष-बुझे वाणों से विद्धा हथिनी की तरह उसके बहुत देर से रुके हुए आँसू वैसे ही बाहर निकले जैसे अरणि से चिनगारियाँ निकलती हैं।"

सीता के अन्तर की जटिल और अनेक कारणों से उलझी हुई पीड़ा से निकले हुए आँसुओं की उपमा अरणि से निकली हुई चिनगारियों से देकर कवि ने पारदर्शी किरणों की सहायता से उसके सम्पूर्ण अन्तर का चित्र प्रत्यक्ष सामने रख दिया है।

राम ने जब इस पर भी अपनी सहमति नहीं जताई तब :

> सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम्।
> प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेम राघवम्॥
> किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
> राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्।
> अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद्यद्धि वक्ष्यति।
> तेजो नास्ति परं राम तपनीय दिवाकरे॥
> किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते।
> यत्परित्यक्तुंकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम्॥

—"पति का साथ छूटने की आशंका से अत्यन्त उद्विग्न होकर सीता ने प्रेम और अभिमान से प्रेरित होकर राम से इस प्रकार के व्यंग्य-वचन कहे—"हे राम, यदि मेरे पिता मिथिलेश यह जानते होते कि तुम बाहरी आकार से पुरुष हो, पर वास्तव में स्त्री हो, तब वे कभी तुम्हें अपना दामाद न बनाते। लोक अज्ञानवश जो यह कहते हैं कि राम सूर्य के समान तेजस्वी हैं, सो यह बात एकदम मिथ्या जान पड़ती है। मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि तुम किस कारण इस कदर उदास और भयभीत हो रहे हो कि मुझ-जैसी अनन्यपति-परायणा पत्नी को छोड़ जाना चाहते हो।"

बेचारी सीता राम के भय, द्विविधा और धर्मसंकट का कारण कैसे समझ पाती! पुरुष और नारी के दृष्टिकोणों के अन्तर से उत्पन्न यह विषमता अनादि काल से चली आती है। पति को बार-बार वन ले चलने के लिए प्रेरित करती हुई वह जो उनका मर्म निर्ममता से छेद रही थी, उसकी तीक्ष्णता की कल्पना वह स्वयं नहीं कर पा रही थी।

बहुत तर्क-वितर्क के बाद. अन्त में तिरिया-हठ के आगे हार मानकर राम सीता को वन ले चलने के लिए राज़ी हो गए। नारी की आँखों से पिघल-पिघल कर निकलने वाले आँसुओं के महास्त्र के आगे कौन पुरुष पराजित नहीं हो जाता! फिर वह नारी यदि सीता-जैसी सुकुमारी तथापि तेजवती, सुशीला तथापि आत्माभिमानिनी, पति-परायणा तथापि पति पर शासन कर सकने की क्षमता रखने वाली, चंचल और हँसमुख

तथापि गम्भीर, करुण और कोमल तथापि अपने निश्चय और विचार में दृढ़ हो तब तो पूछना ही क्या है !

घोर असमंजस, दुविधा और आशंका से ग्रस्त अपने मन में जब राम ने अन्त में सीता को अपने साथ वन ले चलने का निश्चय कर लिया तब भी उनका संकट दूर न हुआ। लक्ष्मण पहले ही से उनके पास उपस्थित थे। घोर अन्याय से विक्षुब्ध अपने मन के प्रथम विद्रोहात्मक विस्फोट के शान्त हो जाने पर लक्ष्मण समझ गए थे कि धर्म-पाश में बँधे हुए आत्माभिमानी राम को वन जाने से दुनिया की कोई शक्ति रोक नहीं सकती और अनिवार्य होकर ही रहेगा; तब वह अत्यन्त विनम्र, दीन और करुणा-विकल स्थिति में राम के पास आए थे कि उनसे अपने साथ ले चलने की प्रार्थना करें। जब पीछे खड़े रहकर उन्होंने सीता के अनुनयपूर्ण हठ के आगे राम को झुकते देखा तब अनेक मिश्रित कारणों से उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उन्होंने राम को प्रणाम करके साथ में चलने की अनुमति माँगी। राम ने स्वभावतः उन्हें बरजा और कई तरह से समझाया। पर राम के प्रति लक्ष्मण का एकान्त प्रेम योंही हार नहीं मान सकता था। लक्ष्मण ने सुस्पष्ट उन्हें बता दिया कि—"तुम्हें छोड़ मुझे न तो देवलोक की, न अमरत्व की और न तीनों लोकों के ऐश्वर्य की ही कामना है।"

राम के प्रति लक्ष्मण का यह अनन्य और सर्वत्यागी प्रेम अत्यन्त आश्चर्यजनक और आकर्षक है। लक्ष्मण का चरित्र अपनी एक अलग विशेषता रखता है, जो विचित्र लगने पर भी एकदम स्वाभाविक और मानवीय है—ठीक जिस प्रकार ऊपर से अत्यन्त असाधारण और लोकोत्तर लगने पर भी राम का मूल चरित्र रामायणकार ने अत्यन्त मानवीय और आज के युग के पारखियों के लिए भी अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक रूप में चित्रित किया है।

जब अन्त में लक्ष्मण से भी हार मानकर राम उसे भी वन चलने की अनुमति देते हैं तब उनका चित्त स्थिर और शान्त हो जाता है, और उनका व्यक्तित्व फिर से अपने असली रूप में उभर उठता है। कवि अपने चरित्रों के इस तरह के छोटे-छोटे परिवर्तनों पर भी बराबर अपनी अणुवीक्षणीय दृष्टि रखता जाता है और पाठक के आगे सजीव, सजीवतर और सजीवतम चित्र उतारकर रखता जाता है। मनुष्य की मनुष्य के प्रति अपरिसीम नीचता के जिस आकस्मिक किन्तु प्रत्यक्ष उदाहरण से राम का चित्त दुःख और ग्लानि से पीड़ित था उसे अब वह एकदम भूल जाते हैं, और सारे दुर्घटना-चक्र को मानवीय लीला के एक विशेष निदर्शन के रूप में ग्रहण करके उनका मन उस लीला को और अधिक रसमय बनाने के लिए उतावला हो उठता है। वह अपनी सारी सम्पत्ति, समस्त धन-रत्न को गरीबों और ब्राह्मणों में बाँट देने की योजना बनाते हैं।

जब बहुत-कुछ बाँट चुकते हैं तब सहसा त्रिजट नाम का एक गर्ग-गोत्री, दीन-दुखी

ब्राह्मण वहाँ जा पहुँचता है। वह निर्धन ब्राह्मण उञ्छवृत्ति से अपना निर्वाह करता था—अर्थात् खेत में फसल कट जाने के बाद जो अन्न के दाने पड़े रह जाते हैं उनको बीन-बीन कर पेट भरा करता था। वह फावड़ा और कुदाल लेकर वन जाता था और वहाँ से कंद-मूल लाकर अपने कुटुम्ब का निर्वाह करता था। उसकी पत्नी को जब खबर लगी कि राम वन को जाने के पूर्व अपनी सारी सम्पत्ति और धन-रत्न गरीबों को बाँट रहे हैं तब उसने अपने पति से कहा—"यह फावड़ा और कुदाली यहीं रखकर राम के पास जाओ—तुम्हारा बेड़ा पार हो जाएगा।"

वह ब्राह्मण फटी हुई धोती को अच्छी तरह से शरीर में लपेट, एक लाठी हाथ में लेकर राम-निवास की ओर चल दिया। उस भवन की पाँच ड्योढ़ियाँ लाँघकर जब वह लोगों की भीड़ के बीच में पहुँचा तब उसने राम से कहा—"मैं निर्धन हूँ और मेरे बहुत से बच्चे हैं, मैं वन में जाकर उञ्छवृत्ति से निर्वाह करता हूँ, इसलिए मेरी ओर भी कृपा-दृष्टि कीजिए।"

अपनी और अपने परिवार के महासंकट की स्थिति में भी राम को उस ब्राह्मण का विचित्र व्यक्तित्व देखकर सहसा एक विचित्र विनोद सूझा। उन्होंने कहा—"मेरे पास अभी हज़ारों गाएँ शेष हैं जिन्हें मैंने नहीं बाँटा है। तुम अपनी लाठी फेंको। जितनी दूर तक तुम्हारी लाठी जाएगी उतनी दूरी तक जितनी भी गाएँ खड़ी हो सकेंगी उन्हें मैं तुम्हें दूँगा।" त्रिजट ने यह सुनकर अपने फटे चिथड़े को कमर में अच्छी तरह कसकर बाँधा और लाठी घुमाते हुए पूरी शक्ति से उसे फेंका। वह लाठी सरयू के उस पार, जहाँ हज़ारों गायों और बैलों के झुंड खड़े थे, जा गिरी। राम ने उसे गले से लगाया और वहाँ से सरयू पार तक जितनी भी गाएँ खड़ी हो सकती थीं उन सब को उसके घर भेज दिया।

उस गर्ग-गोत्री ब्राह्मण को सांत्वना देते हुए राम बोले—"हे ब्राह्मण! नाराज़ न होना। यह मैंने केवल परिहास में कहा था। तुम्हारे शारीरिक बल की परीक्षा के लिए मैंने ऐसा किया था। इन गायों के अतिरिक्त और भी जो कुछ तुम्हें चाहिए, बोलो।"

यह साधारण विनोदपूर्ण घटना राम के चरित्र की दृढता और स्थितप्रज्ञता पर अच्छा प्रकाश डालती है। इस घटना की अवतारणा स्पष्ट ही आदि-उपन्यासकार ने जान-बूझकर यह दिखाने के लिए की है कि उतना बड़ा वज्रपात भी राम को सहज और निर्दोष विनोद से विमुख न कर सका। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सीता और लक्ष्मण को अपने साथ वन ले चलने की बात तय हो जाने पर उनका मन प्रारम्भिक परेशानियों से मुक्त हो चुका था। पर वह जानते थे कि जबतक वह वन में पहुँच नहीं जाते तब तक परेशानियाँ शेष रहेंगी ही।

राम के वन जाने का समाचार दावाग्नि की तरह जनता में फैल चुका था। जब राम सीता और लक्ष्मण के साथ, पैदल अपने पिता के भवन की ओर गए तब जनता में

हाहाकार मच गया। जनता के विलाप का वह दृश्य अत्यन्त करुण था, जिसे सुनकर राम के समान धीरात्मा का मन भी रह-रहकर विचलित हो उठता था।

दशरथ तब तक प्रथम ग्लानि की स्तब्धता से मुक्त होकर कुछ बोल सकने की मनःस्थिति बना चुके थे। उन्होंने राम से कहा—"हे राम, मुझे कैकेयी ने वरदान के चक्कर में डालकर धोखा दिया है, इसलिए तुम मुझे गिरफ्तार कर बलपूर्वक अयोध्या के राजा बनो।" पर राम पिता को सांत्वना देते हुए अपने निश्चय पर दृढ रहे। उसके बाद सुमन्त्र ने दुःख और क्रोध से आँखों में आँसू भर कर कैकेयी को बहुत समझाया, बड़े-बड़े व्यंग्य-वचन कहे, डराया और धमकाया, पर कैकेयी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते।
न चास्या मुखवर्णस्य विक्रिया लक्ष्यते तदा।।

"न वह तनिक भी क्षुब्ध हुई और न उसे पश्चात्ताप या ग्लानि ही हुई। और तो और, उसके मुख की रंगत में भी तनिक अन्तर नहीं आया।" लेडी मेकबेथ इस चरित्र के आगे पानी भरती है।

इस पर दशरथ को एक प्रेरणा हुई। उन्होंने सुमन्त्र को आदेश देते हुए कहा—"जब राम का वन जाना अनिवार्य ही है तब इनके साथ बहुत से धन-रत्नों-सहित चतुरंगिनी सेना जाए। वेश्याएँ (रूपजीवाएँ), बाजेवाले, व्यापारी, महाजन आदि सभी उनके साथ जाएँ। उनके साथ सारे राज्य की दुकानों के सब सामान भी जाएँ। सभी नौकर-चाकर, अस्त्र-सस्त्र, प्रमुख नागरिक, छकड़े, वन का मार्ग जानने वाले बहेलिए, राज्य के समस्त यन्त्र-भंडार राम के साथ वन में भेजे जाएँ, जिससे वह वन में भी सुख भोग सकें।"

यह केवल दशरथ का कैकेयी के प्रति चुभता हुआ व्यंग्य था। क्योंकि इतना तो वह जानते ही थे कि राम इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

जब कैकेयी ने यह सुना तब वह भयभीत हो उठी। उसका चेहरा उतर गया। वह बोली :

राज्यं गतजनं साधो पीतमंडां सुरामिव।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते।।

"जिसका सारा सार पिया जा चुका हो, ऐसी नीरस मदिरा की तरह धनहीन और जनहीन राज्य को भरत स्वीकार न करेगा।"

कैकेयी ने निर्लज्जतापूर्वक और भी बहुत से तर्क उपस्थित किए जिन्हें सुनकर सभी लोग उसे धिक्कारने लगे, पर वह तनिक भी विचलित नहीं हुई।

इन बातों में देर होते देखकर कैकेयी जल्दी से चीर-वल्कल ले आई और राम से बोली—"इन्हें पहनो।" तब राम और लक्ष्मण ने प्रसन्नता से वहीं पर राज-वस्त्र उतारकर चीर-वल्कल धारण किया। कैकेयी ने सीता की ओर भी वल्कल-वस्त्र बढ़ा दिए।

उन्हें देख सीता, जो रेशमी वस्त्र पहने थी, क्षण-भर के लिए वैसे ही डरी जैसे हिरनी बहेलिए के जाल को देखकर डरती है। स्वेच्छा से ग्रौर प्रसन्नतापूर्वक राम के साथ वन जाने का निश्चय करने पर भी कैकेयी के हाथ में वल्कल-वस्त्र देखकर इस तरह क्यों डरी? इसलिए कि मनोवैज्ञानिक यथार्थ यही है। इस बात में उसके पूर्व-निश्चय में तनिक भी ग्राँच नहीं ग्राती। सीता को वल्कल पहनने का ढंग मालूम नहीं था। वह उन्हें हाथ में लेकर संकोच से सिर नीचा किए चुपचाप खड़ी रही। तब राम ने संकोच त्यागकर स्वयं ग्रपने हाथ से उसके रेशमी कपड़ों के ऊपर वल्कल-चीर बाँध दिए।

जब तीनों ग्रयोध्या छोड़कर वन को जाने लगे तब पुरवासी हाहाकार करते हुए पागलों की तरह उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। राम सारथी को उकसाते रहे कि घोड़ों को तेज़ हाँको। क्योंकि सामूहिक विलाप का वह दृश्य ग्रसहनीय था।

उस दिन सारे नगर में पूरी हड़ताल रही। लोगों के घरों में चूल्हे तक नहीं जले ग्रौर न किसी ने रात में घर में बत्ती ही जलाई। एक भयानक श्मशान का दृश्य उपस्थित था ग्रौर लोग एक-दूसरे से डर रहे थे। किसी को किसी का भरोसा नहीं रह गया था। मानवीय मूल्यों पर से सबका विश्वास हट गया था। जब राम-जैसे सदाचारी ग्रौर सर्व-हितकारी पुरुष को पत्नी द्वारा प्रेरित पिता वन भेज सकते हैं तब कोई भी मनुष्य किसी के लिए कुछ भी कर सकता है। कवि ने जनता की इस सहज प्रतिक्रिया की ग्रोर श्रोताग्रों ग्रौर पाठकों का ध्यान ग्राकर्षित किया है।

इधर राम जब नगर से ग्रागे बढ़े तब तरह-तरह के ग्रसम्बद्ध विचार उनके मन में उठते-गिरते चले जाते थे। गोमती पार करने पर सहसा उन्हें सरयू के तट पर ग्रपने शिकार खेलने की बात याद ग्राई ग्रौर उस प्रिय स्मृति के जगते ही वह सुमंत्र से बोले—"वह दिन कब ग्राएगा जब मैं वन से लौटकर, माता-पिता से मिलकर, सरयू के पुष्पित वनों में शिकार के लिए फिर से घूमा-फिरा करूँगा। इस संसार में यह पुरानी प्रथा चली ग्राती है कि राजर्षि लोग ग्रावश्यकता पड़ने पर वनों में शिकार खेला करते हैं। यद्यपि मुझे ग्रत्यधिक शिकार खेलना पसन्द नहीं, तथापि मनुष्यों की इस ग्रोर बड़ी रुचि रहती है ग्रौर राजर्षि लोग भी इसे ग्रच्छा बताते हैं। इसलिए मैं भी इसे विशेष बुरा नहीं समझता ग्रौर चौदह वर्षों बाद लौटने पर सरयू-तट पर शिकार खेलने की लालसा मेरे मन में जग रही है।"

ऐसे विकट संकट के ग्रवसर पर इस 'नास्टाल्जिक' लालसा की बात छेड़ना कवि की पारदर्शी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। इस तरह की छोटी-छोटी बातों द्वारा वह मनोवैज्ञानिक सत्य की ग्रतल गहराइयों को छूता हुग्रा चलता है।

... ...

इस तरह हम देखते हैं कि सारी कहानी को परिपूर्ण नाटकीय योजना के

अन्तर्गत—सँवारते और सजाते हुए रामायणकार ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के बीच में अपने प्रत्येक पात्र अथवा पात्री को बारीक से बारीक रेखाओं और रंगों के साथ उभारा है। उसने ऐसे-ऐसे चरित्रों की अवतारणा की है जो असाधारण लगने पर भी अत्यन्त स्वाभाविक लगते हैं और मानव-जीवन-लीला के प्रतिदिन के सहज प्रवाह के साथ उनका पूरा मेल बैठता है।

मेरा तो निश्चित विश्वास है कि आदि-काव्य-कथाकार कोई आश्रमवासी मुनि नहीं था। वह जन-जीवन के बीच में खेलने-कूदने वाला, जीवन-लीला-रसिक विशुद्ध कवि और मनीषी था। वह सुख-दुःख, राग-विराग, भोग तथा त्याग के सभी वस्तुओं से व्यक्तिगत-रूप से परिलक्षित संसारी था और जीवन के किसी भी रस से वंचित नहीं था। राज-पुरुषों के ऐश्वर्यमय जीवन के सभी साधारण तथा असाधारण रूपों से वह उसी तरह सहज परिचित था जिस प्रकार मछली पानी की गहराइयों से परिचित रहती है। साथ ही साधारण से साधारण और निर्धन से निर्धन व्यक्तियों को प्रतिदिन की जीवनचर्या और उनकी समस्याओं की जानकारी उसमें इस हद तक थी कि लगता है जैसे वह सारा जीवन उन्हीं के बीच में बिता चुका है। वन-जीवन की जटिलताओं से भी वह इस पूर्णता से परिचित था कि वन-चारी भीलों को भी उतना ज्ञान नहीं हो सकता। युद्ध की घटनाओं और उसके बारीक दाव-पेंचों के वर्णन में उसे अपूर्व सुख मिलता है। वह जीवन-प्रवाह के बीच में तैरने वाले प्रत्येक चरित्र का वर्णन और विश्लेषण पूर्णतया तटस्थ दृष्टि से करता है। राम की लेशमात्र भी दुर्बलता को उसने कभी नहीं छिपाया है। जीवन-लीला के विचित्र पहलुओं के वर्णन में जैसा भरपूर सुख उसे मिलता है, प्रत्येक जटिल चरित्र को अलग-अलग सर्वांगीण रूप से उभारकर रखने में भी उसे वैसी ही रसानुभूति होती है। केवल रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन उसका उद्देश्य नहीं है, उन घटनाओं से सम्बन्धित चरित्रों के सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों और गतिविधियों के वर्णन में वह जैसे खोया हुआ-सा लगने लगता है, यद्यपि वह खो नहीं जाता और अपनी नाटकीय योजना के सम्बन्ध में प्रतिक्षण सचेत और सचेष्ट रहता है।

उसकी यह नाटकीय योजना भी विराट् है। पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन की सभी साधारण अथवा असाधारण समस्याओं को सूक्ष्म, व्यापक और गहरे रूप में उभारकर वह अपने चरित्र-नायक को और अपनी कथा को परिवार की सँकरी सीमा के बाहर, विस्तृत संसार की व्यापक विशालता के बीच में ले जाता है। साथ-साथ कथा का विस्तार, रोचकता और नाटकीयता की परिधि भी बढ़ती चलती है।

तुलसी के 'रामचरित-मानस' में हम पाते हैं कि अयोध्याकांड-सम्बन्धी घटनाओं की चरम परिणति में ही सारी काव्य-कथा का मूलस्रोत ही जैसे सूख जाता है और परवर्ती कांडों में हम कवि की वह तन्मय रसमयता फिर नहीं पाते। पर आदि-काव्यकार

की कथा का रस लंकाकांड की अन्तिम स्थिति तक उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। अयोध्याकांड के बाद कुछ अति-प्राकृत पात्रों की अवतारणा करने पर भी उनके चरित्र-वर्णन में मानवीय संवेदनाओं के निरूपण का निर्वाह उसने आश्चर्यजनक कौशल से किया है। उन पात्रों के बाहरी अतिप्राकृत रूपों का कोई प्रभाव मूल कथा की स्वाभाविकता और उसकी सहज संवेदनात्मक गति पर नहीं पड़ने पाता। उससे केवल कहानी की चित्रमयता ही बढ़ती चली जाती है।

सीता-हरण और बालि-वध से लेकर रावण की लंका पर चढ़ाई तक की सारी घटनाएँ अद्भुत रूप से रोचक और हृदयग्राही हैं। प्रत्येक घटना के बाहरी और भीतरी सभी पक्षों का चित्रण कवि ने मार्मिक सहृदयता और अपूर्व रसबोध के साथ किया है। सीता-हरण के बाद राम के भीतरी हाहाकार का जो अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन आदि-कवि ने किया है उसके आगे तुलसी-वर्णित राम-विलाप अत्यन्त कृत्रिम लगता है। बालि-वध के बाद बाण-विद्ध मृगी की तरह तारा के विलाप का जो भावोद्वेलक रूप पाठक के आगे उपस्थित होता है, वह कल्पनातीत रूप से मर्मान्तिक है। लगता है जैसे मरने के पूर्व बालि के तर्कों और उसके बाद तारा के गरम-गरम आँसुओं में राम के चरित्र की सारी महत्ता घुलकर बह जाना चाहती है।

सागर-पार स्थित रावण के सोने की लंका के सुरक्षित गढ़ की कल्पना आज के विरोधी-संस्कार-रहित-पाठक को भी अत्यन्त सजीव और साकार लगती है। जिन कारणों से ब्रिटेन पर चढ़ाई करने का साहस न नेपोलियन को हुआ न हिटलर को, वही कारण, कथा के रस की वृद्धि के लिए, लंका की कल्पना में भी संयोजित किए गए हैं। इस चढ़ाई के लिए राम को कितनी विकट कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। सेना जुटाने, सागर में सेतु बाँधने और अन्त में लंका का परकोटा लाँघने के लिए कैसी विकट परि-स्थितियों से जूझना पड़ा था, इसके विस्तृत वर्णन से किष्किंधा कांड पूरा और लंकाकांड के प्रारम्भिक अंश भरे पड़े हैं। 'सागर के सीमंत' (साँग) की तरह जब सेतु बँध गया और सागर-पार भारी सेना पहुँच गई तब भी आसानी से विजय के कोई आसार राम को नहीं दिखाई दिए। भीतर और बाहर के विकट संघर्षों में राम को जूझना पड़ता है।

रामायणकार विश्व-विजयी रावण और इन्द्रजित् मेघनाद के लिए बार-बार 'महात्मा' शब्द काम में लाया है। यह उसकी विशाल दृष्टि और महान् उदारता का परिचायक है। रावण के अन्तःपुर के जिन अद्भुत भोगैश्वर्यपूर्ण दृश्यों का वर्णन अत्यन्त विस्तार से रामायणकार ने किया है वैसा कोई आश्रमवासी ऋषि नहीं कर सकता, चाहे वह कैसा ही त्रिकालदर्शी क्यों न हो। त्रिकालदर्शी होकर गूढ से गूढ और अद्भुत से अद्भुत तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर लेना एक बात है और परिपूर्ण समग्रता से उन तथ्यों, दृश्यों और घटनाओं का वर्णन करना दूसरी बात। कोई भी आश्रमवासी त्यागी

ऋषि रावण के अन्तःपुर के भोगोन्मत्त दृश्यों के विस्तृत वर्णन में कभी मग्न होकर खो न जाता। ऐसा तो केवल जीवन के सभी रसों का अनुभवी रसिया ही कर सकता है।

तब यह प्रश्न उठता है कि यदि रामायणकार कोई आश्रमवासी ऋषि नहीं था तो कौन था ? पूरी रामायण को मनोयोग से पढ़ चुकने के बाद जो धारणा मन में जमने लगती है वह इस प्रकार है—रामायण की रचना करने वाला कोई ऐसा व्यक्ति रहा होगा जिसमें अपने जीवन के प्रारम्भिक काल से ही जीवन के विविध और व्यापक अनुभव प्राप्त करने की उत्सुकता रही होगी और जो इस ओर निरन्तर सचेष्ट रहा होगा। उस व्यक्ति में चाहे और कोई प्रवृत्ति रही हो, भोग के प्रति विरक्ति कभी नहीं रही होगी—यद्यपि त्याग की महत्ता से वह भली-भाँति परिचित रहा होगा। जीवन को उसके परिपूर्ण और सहज रूप में जीने की सहज प्रवृत्ति उसमें जन्म-जात रही होगी। जीवन को उसके दोनों प्रधान तत्त्वों—भोग और त्याग—को ही चरितार्थता से भरना होगा, तभी वह सार्थक और पूर्ण हो सकता है, यह मान्यता थी इस जीवन्त कवि की, इसीलिए उसे, मांस, मदिरा और सुन्दरियों के मुक्त, स्वाभाविक और विस्तृत वर्णन में जैसा सुख मिलता है वैसी ही आनन्दानुभूति उसे अपने महान् त्यागी नायक के महान् त्याग के कारण झेली जाने वाली विपत्तियों के यथार्थ वर्णन में प्राप्त होती है। वनचारियों के जीवन से लेकर राज-कुल के जटिल जीवन के सभी अनुभव उसने अत्यन्त घनिष्ठ रूप से, अपने वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा प्राप्त किए होंगे। समग्र जीवन को एक लीला के रूप में ग्रहण करने के कारण वह जीवन के प्रत्येक पहलू में, मग्नभाव से रस लेता रहता होगा। जितने गहरे उसके अनुभव थे उतनी ही तीखी उसकी कल्पना भी रही होगी। वह ब्राह्मण भी हो सकता है और क्षत्रिय भी ! पर इतना निश्चित है कि उसका प्रारम्भिक जीवन बड़ी ही कठिनाइयों में बीता होगा। फिर भी उसकी जन्मजात बहुमुखी प्रतिभा उसे निरन्तर समाज के उच्चतम स्तर तक पहुँचने की ओर प्रेरित करती रहती होगी। और अपने जीवन की परिणत अवस्था में वह या तो किसी बड़े राजा के मन्त्री का पद पा गया होगा या स्वयं राजा बन गया होगा।

वाल्मीकि के सम्बन्ध में एक कथा यह भी प्रचलित है कि वह पहले रत्नाकर नामक एक डाकू था। रामायण का कवि डाकू रहा हो चाहे न रहा हो, इतना निश्चित लगता है कि उसने अपनी जवानी के प्रारम्भिक दिनों में आवारागर्दी का जीवन अवश्य ही बिताया होगा और किसी-न-किसी प्रकार के उपद्रवों में सम्मिलित होकर उपद्रवकारियों का नेता बनने का शौक उसे रहा होगा। पर इन सब अनुमानों के बावजूद उसकी विराट् प्रतिभा की गहनता, व्यापकता और ऊँची उड़ान का ठीक-ठीक लेखा-जोखा सम्भव नहीं है। कुल मिलाकर इस उच्चतम प्रतिभा से सम्पन्न महानतम कवि के सम्बन्ध में मैं यह कह सकता हूँ कि वह किसी भी आश्रमवासी मुनि से बहुत बड़ा था। और 'ऋषि' शब्द के मूल अर्थ को यदि हम लें तो वह निश्चय ही सभी महर्षियों से श्रेष्ठ था।

रामायणकार को हमारे यहाँ आदि-कवि बताया जाता है। यह ठीक है कि वेदों के बाद जो पहली काव्य-कृति उपलब्ध है वह रामायण ही है। पर इसका यह अर्थ लगाना उचित न होगा कि उससे पहले कोई काव्यात्मक रचना लिखी ही नहीं गई। रामायण हर दृष्टि से एक परिपक्व काव्य-कृति है। काव्य-लेखन की कोई परम्परा यदि रामायणकार के आगे न रही होती तो इस सीमा तक उसमें परिपक्वता कभी न आई होती। सरल सुबोध भाषा, सुन्दर संयत भाव, अकृत्रिम अलंकरण, सूक्ष्म सौन्दर्यबोध, कथा-योजना और छन्दों का उदात्त स्वर, सभी दृष्टियों से यह महाकाव्य बहुत ही ऊँचे स्तर में पहुँचा हुआ है। यह आदि-महाकाव्य अभी तक विश्व-काव्य-जगत् के अन्तिम आदर्श के रूप में जीवित है। यह कृति और उसमें वर्णित राम-कथा अमर रहेगी इसका विश्वास कवि के मन में जम गया था। इसका प्रमाण किसी परवर्ती कवि द्वारा लिखित भूमिका-भाग से प्रमाणित होता है, जिसमें नारद के मुख से कहलाया गया है :

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।

अर्थात् "जब तक इस पृथ्वी पर पहाड़ और नदियाँ वर्तमान हैं तब तक रामायण की कथा लोगों में प्रचारित होती रहेगी।"

राम-कथा की अमरता पर बाद में जनता को भी विश्वास हो गया था। यही कारण था कि किसी बालक के जन्मदिन पर उसे आशीर्वाद देते समय ब्राह्मण लोग आज तक यह श्लोक उच्चारित करते हैं :

यावद् गंगा कुरुक्षेत्रे यावत् तिष्ठति मेदिनी।
यावद् राम कथालोके तावज्जीवतु बालकः।।

राम-कथा ऐतिहासिक है या काल्पनिक इस झगड़े में मैं पड़ना नहीं चाहता। फिर भी इस सम्बन्ध में मेरी कुछ निजी धारणाएँ हैं। राम-कथा से थोड़ी-बहुत मिलती-जुलती कोई कहानी अयोध्या के आस-पास के अंचल में लोक-प्रचलित रही होगी। पर उस प्रचलित कथा का स्तर और विस्तार बहुत ही साधारण रहा होगा। आज भी लोकगीतों में राम का जो रूप प्रचलित है उससे उस आदिम लोक-कथा के स्तर की कल्पना बड़ी आसानी से की जा सकती है। उदाहरण के लिए आज भी देहातों में राम के वन-गमन से सम्बन्धित इस प्रकार का गीत गाया जाता है :

थैली सुरतिया घरहीं बिसरि गए
अमलन मरें दोउ भाई।
आज मोहे रघुवर की सुधि आई।

इस गीत के अनुसार राम-लक्ष्मण खैनी या सुरती खाने के आदि थे और उनके वन चले जाने पर माता को बड़ी मार्मिक करुणा के साथ यह बात याद आ रही है

कि सुरती की थैली घर ही में भूल जाने से दोनों भाई वन में अमल पूरा नहीं कर पाएँगे और कष्ट पाएँगे ।

उस अत्यन्त साधारण लोक-कथा से प्रेरित होकर रामायणकार ने किस सहज स्वाभाविकता से एक साधारण देहाती नामक (राम) को किन गहराइयों में डुबोकर किस ऊँचाई में लाकर खड़ा कर दिया, यह सोच-सोचकर उसकी युग-युगोन्मेषिनी प्रतिभा की कल्पना से स्तब्ध रह जाना पड़ता है।

अपने इस निबन्ध में मैं रामायण में अपने दृष्टिकोण, धारणा और विश्वास का शतांश भी व्यक्त नहीं कर पाया हूँ। और न मैं यही दावा करता हूँ कि मेरा दृष्टिकोण सही है। इस निबन्ध के द्वारा मैं केवल विद्वज्जनों के आगे वह विनम्र सुझाव रखना चाहता हूँ कि आज रामायण को एक बिलकुल ही नये परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। जब तक इस नई दृष्टि से आप उसे नहीं देखेंगे तब तक उसका यथार्थ मूल्यांकन सम्भव न हो सकेगा।

इस निबन्ध के संहार के रूप में मैं एक बात बता देना चाहता हूँ जिसे मैं पहले बताना भूल गया। वह यह कि जो वाल्मीकि रायायण इस समय प्राप्य है, मूल कवि ने न तो उसके आदिकांड की रचना की है न उत्तरकांड की। प्राचीन टीकाकारों ने अभी तक यह बात मानी है कि ये दोनों कांड प्रक्षिप्त हैं। अयोध्याकांड से मूल रामायण की कथा आरम्भ होती है। इस कांड के पहले कथा की पृष्ठभूमि के रूप में जो थोड़ा अंश मूल कवि ने लिखा होगा वह लुप्त हो गया है, और उसके स्थान पर परवर्ती किसी अज्ञातनामा कवि या कवियों ने एक पूरा कांड ही आदिकांड के नाम से जोड़ दिया है। आदिकांड का कुछ भाग वाल्मीकि के काल्पनिक परिचय में समाप्त हो जाता है, कुछ पौराणिक कथाओं और कुछ राम-जन्म के बाद की प्रारम्भिक घटनाओं के साधारण और संक्षिप्त वर्णन में। अयोध्याकांड और उसके बाद के कांडों को पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि मूल रामायणकार को पौराणिक आख्यानों में कोई दिलचस्पी नहीं है। उसकी रुचि एक पारिवारिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक यथार्थ से पूर्ण कहानी कहने में है और है एक प्रतिभाशाली और उन्नततम अर्थ में मानवीय नायक के विविध चरित्रों की पृष्ठभूमि में विभिन्न प्रकार के चरित्रों का परिस्फुटन करने में। इस रोचक और सुसम्बद्ध मानवीय कथा को वह पौराणिक उपाख्यानों से बोझिल नहीं करना चाहता। पर आदिकांड और उत्तरकांड पौराणिक उपाख्यानों से भरे पड़े हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि इन दोनों कांडों में रामचरित से सम्बन्धित कथा के जो अंश वर्णित हैं वे अत्यन्त संक्षिप्त होने के साथ ही काव्योपन्यास-सम्बन्धी कला से शून्य हैं। आदिकांड में राम-जन्म से लेकर विवाह तक की सारी घटनाएँ संक्षेप में बड़े ही नीरस ढंग से वर्णित की गई हैं और उत्तरकांड के अन्त में सीता-निर्वासन की कथा भी अत्यन्त साधारण और संक्षिप्त है, तथा मूल

कवि की शैली से उसकी शैली का कोई मेल नहीं बैठता।

संहार के बाद उप-संहार आता है। उप-संहार में मैं यह बता देना चाहता हूँ कि मूल रामायण में राम के विष्णु का अवतार होने की चर्चा कहीं नहीं आई। यह बात केवल क्षेपक में ही बताई गई है। मूल रामायणकार के लिए राम पूर्णतः मानवीय पात्र थे। उनमें मनुष्योचित दुर्बलताओं की कोई कमी नहीं है। पर छोटी-मोटी दुर्बलताओं के बावजूद सामाजिक मर्यादाओं के आदर्श में पला हुआ उनका असाधारण प्रतिभाशाली आदर्श-व्यक्तित्व उस परिपूर्ण मानवीयता की यथार्थमूलक पृष्ठभूमि में ऐसे अपूर्व सुन्दर रूप में उभर उठा है कि परवर्ती कवियों ने उसके इस चरित्र से प्रभावित होकर स्वभावतः उन्हें अवतार मान लिया।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आदि-महाकाव्य (रामायण) अभी तक विश्व-काव्य-जगत् के अन्तिम आदर्श-रूप में जमा हुआ है। काव्य-रचना और सौन्दर्य-बोध से सम्बन्धित जितने भी सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद, प्रकार और वैचित्र्य पिछले ढाई हज़ार वर्षों से लेकर आज तक के विश्व-साहित्य में पाए गए हैं वे सब तत्त्व अपने उन्नततम रूप में रामायण में वर्तमान हैं। मेरी यह बात अभी अति-रंजित लग सकती है। पर मेरा आग्रह है साहित्य, कला और सौन्दर्यबोध के सच्चे पारखी एकबार पूर्वाग्रह-रहित, तटस्थ और नई दृष्टि से इस महान् और आश्चर्यजनक काव्य को फिर से पढ़ें और तब मेरी-अतिरंजना का खंडन करें।

संस्कृत-नाटिका-परम्परा

डॉ० रामायणप्रसाद द्विवेदी

कुलगुरुरवलानां केलिदीक्षा प्रदाने
परम सुहृदनङ्गो रोहिणी वल्लभस्य।
अपि कुसुम-पृषत्कैर्देवदेवस्य जेता
जयति सुरतलीला नाटिका-सूत्रधारः।।

—विद्धशालभञ्जिका, १।१

काव्य के 'श्रव्य' तथा 'दृश्य' द्विविध[1]-भेदों के 'दृश्य-काव्य' रूपक एवं उपरूपक, इन दो श्रेणियों में विभक्त है। रूपक के दश[2] भेदों में 'नाटक' तथा विविध उपरूपकों[3] में 'नाटिका' का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। नाटक काव्य का रमणीयतम स्वरूप है[4]। इस कलामयी रमणीय रचना के निर्माण में ही कवि का काव्य-साफल्य निहित है। इसीलिए नाट्य-रचना ही उत्कृष्ट कवित्व-कौशल का माप-दण्ड माना गया है[5]। सुवस्तु-विन्यास, चारु चरित्र-चित्रण, कमनीय-कथोपकथन, रुचिर-रस-परिपाक एवं अभिनेयादि विविध विशेषताओं से विभूषित नाटिका भी नाटक-सदृश ही, किन्तु उससे कुछ निम्न-स्तर की एक नाट्य-रचना है।

लक्षण

आचार्य भरत ने इसकी परिभाषा करते हुए इसे नाटी (नाटिका) संज्ञा से अभि-

---

१. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्—साहित्य-दर्पण, षष्ठ परिच्छेदः।

२. सा० द०, ६।३; दशरूपक, १।८।

३. वही, ६।४-६; ना० शा० में १५ (हाल द्वारा सम्पादित दशरूक, पृ० ६) अग्निपुराण में १७ (अ० ३२८); तथा कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० ३४९ दशरूपक में ७ (१।८ के बाद का श्लोक); भाव प्रकाशम् में २० (पृ० २२३); नाट्य-दर्पण में १४ (पृ० २१३); किन्तु उपरूपक के २६ भेद भी हो सकते हैं,यदि 'नर्त्तनक', 'कर्ण', विलासिका तथा अभिनव गुप्त द्वारा निर्दिष्ट तीन भेद मिला दिए जायँ। डॉ० मन्कड—टाइप्स् आफ संस्कृत ड्रामा, पृ० ७७ भी द्रष्टव्य है।

४. 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'।

५. 'नाटकान्तं कवित्वम्'।

हित किया है।[1] आलंकारिक विश्वनाथ, धनञ्जय[2], सागरनन्दिन[3], अमृतानन्दिन्[4], शारदातनय[5] आदि ने भी नाटिका-लक्षण किया है। विश्वनाथकृत लक्षण, जो सर्वाधिक प्रचलित है, इस प्रकार है :

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः।।
स्यादन्तः पुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा।।
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा।।
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः।।

—सा० द०, ६।२६९—२७२

कथावस्तु

समीक्षकों के अनुसार 'नाटिका' प्रकरण तथा नाटक का मिश्रित रूप प्रस्तुत करती है[6]। इसकी कथा-वस्तु कवि के मस्तिष्क की उपज अर्थात् कवि-कल्पना-प्रसूत होती है, जो प्रकरण से गृहीत की जाती है। कतिपय विद्वान् इस मत के समर्थक हैं कि नाटिका का इतिवृत्त प्रख्यात भी हो सकता है[7]।

पात्र

नाटिका का नेता नाटक से लिया जाता है, जो प्रसिद्ध नृपति कुलोत्पन्न कोई राजा होता है। यह धीरललित नायक के सभी गुणों से अलंकृत होता है[8]।

इसमें नायिकाएँ दो होती हैं

१. ज्येष्ठा——यह देवी नृपवंशोद्भवा, पतिव्रता पट्टराज्ञी होती है, जो स्वभाव से

---

१. नाट्य-शास्त्र, २०।६०—६४ पूर्वार्ध।
२. दशरूपक, ३।४३—४८।
३. नाटक-लक्षण-रत्न-कोश, एल० २७४५।
४. इनके मत के लिए द्रष्टव्य, भरतकोश, पृ० ३१७।
५. भावप्रकाशम्, पृ० १८०, २४३; नाट्य-दर्पण, २।७०—७१।
६. दशरूपक, ३।४३ पूर्वार्ध।
७. कीथ, संस्कृत-ड्रामा, पृ० ३४५।
८. 'नाटकात् नायको नृपः', 'प्रख्यातो धीर ललितः' दशरूपक, ३।४३, ४४।

प्रगल्भ, गम्भीर, ईर्ष्यालु एवं अधिक मानवती होती है। नायक तथा नायिका मिलन इसी के अधिकृत होता है।[1]

२. मुग्धा—वस्तुतः नाटिका की वास्तविक नायिका यही होती है। यह भी राज-कुलोत्पन्ना, अतीव दिव्याकृति, एक अतीव मुग्धा सुन्दरी होती है। संयोगात् निम्न-कोटि के पात्र सदृश यह नाटक के अन्तःपुर से सम्बद्ध कर दी जाती है, जहाँ पर उसे ज्येष्ठा नायिका के दासत्व अथवा गायिका के रूप में निवास करना पड़ता है। यह सदैव नायक के दृष्टि-पथ की पथिक होती रहती है। फलतः राजा उसमें अनुरक्त हो जाता है; उससे मिलने तथा उसे प्राप्त करने का अनेकविध प्रयत्न करता है। किन्तु उसका यह प्रणय-व्यापार ज्येष्ठा के भय से शंकाकुल होता है। अतः राजा एवं मुग्धा का मिलन पतिपरायणा ज्येष्ठा की ईर्ष्या का लक्ष्य बनता है, जो नाना विघ्नों के पश्चात्, अन्त में ज्येष्ठा देवी के द्वारा विवाहोपरान्त सुखद संगम में परिणत कर दिया जाता है।[2]

नाटिका में पुरुषों की अपेक्षा स्त्री पात्रों का बाहुल्य तथा प्राधान्य होता है।[3]

रस

'शृंगार' नाटिका का अंगी रस होता है। अन्य रस अंगी के पृष्ठ-पोषक होते हैं[4]। इसमें अनेक भावों (क्रोध, दम्भादि) का चित्रण होता है

वृत्ति—कैशिकी-वृत्ति[5] के प्रत्येक अंगों[6] की विनियोग नाटिका के प्रत्येक अंकों में अपेक्षित है। इसलिए कि शृंगार एवं हास्य रसों के प्रसंग में इसी (वृत्ति) का प्रयोग विहित है।[7] कतिपय विद्वानों के अनुसार नाटिका चार अंक से कम की भी हो सकती है[8]; किन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता है।

नाटिका में प्रायः सभी सन्धियाँ प्राप्त होती हैं, किन्तु विमर्श-सन्धि स्वल्प होती है।[9]

---

१. दशरूपक, ३।४५,४६ पूर्वार्ध।
२. वही, ३।४५-४७
३. वही, ३।४४
४. वही
५. ना० शा० २२।४७ तथा सा० द०, ६।१२४
६. ना० शा०, २२।४८—५४ तथा सा० द०, ६।१२५, १२७, १२८
७. ना० शा० २२।६५ तथा सा० द० ६।१२२
८. कीथ, संस्कृत-ड्रामा, पृ० ३५०
९. सा० द०, ६।२७२ उत्तरार्ध

कतिपय आलङ्कारिकों[1] का ऐसा अभिमत है कि संकीर्ण उपरूपक के दो भेद होते हैं, प्रथम 'नाटिका' तथा द्वितीय 'प्रकरणिका'। इस मत के समर्थक नाट्यशास्त्र में दिए गए एक पद्य[2] के आधार पर नाटिका को प्रख्यात तथा प्रकरणिका को अप्रख्यात भेद बतलाते हैं। यद्यपि भरत ने दोनों के लिए 'नाटी' शब्द ही प्रयुक्त किया है।

किन्तु धनिक[3] उपर्युक्त मत का समर्थन नहीं करते। उनके मत से प्रकरणिका को अलग भेद नहीं मानना चाहिए। इसलिए कि नाट्य-शास्त्र के उक्त उद्धरण में न तो प्रकरणिका का लक्षण दिया गया है और न उसका नामोल्लेख ही है। वस्तुतः प्रकरणिका में प्रकरण से कोई भिन्नता नहीं है। दोनों के लक्षण अभिन्न हैं। वस्तु, नेता और रस में दोनों समान हैं। प्रकरण एवं नाटक के साङ्कर्य से उद्भूत नाटिका का लक्षण इसलिए किया गया है कि अन्य अनुरूपों की अपेक्षा इसकी विनियोजना अधिक अभिप्रेत है।[4]

'रसार्णव-सुधाकरकार'[5] को उपर्युक्त दोनों भेद अनभिप्रेत हैं। किन्तु यह समुचित नहीं ज्ञात होता, यह बात दूसरी है कि प्रकरणिका के दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होते।

नाटिका तथा नाटक

(क) नाटक की कथा-वस्तु कवि-कल्पित, किन्तु नाटक की प्रख्यातया ऐतिहासिक होती है।

(ख) नाटिका का नायक केवल धीरललित, जबकि नाटक का धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत्त कई प्रकार का होता है।[6]

(ग) नाटिका में स्त्री-पात्रों की प्रधानता होती है, जबकि नाटक में पुरुष-पात्रों का वाहुल्य होता है और सभी विशिष्ट कार्यों में व्यस्त होते हैं।

---

१. नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका।
समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका॥
सा० द०, ६।३०६, तथा नाट्यदर्पण 'एवं प्रकरणी, किन्तु नेता प्रकरणोदितः' २।७३

२. अनयोश्च वन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटी संज्ञाश्रिते काव्ये॥ ना० शा०। ६०-६१,

३. 'प्रकरणिकामपि मन्यन्ते तदसत्। उद्देशलक्षणयोरनभिधानात्। समान लक्षणत्वे वा भेदाभावात्, वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः, दशरूपक, वृत्ति, पृ० १७१ (डॉ०भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित, चौखम्भा संस्करण)।

४. वही,

५. र० सु० ३। २१८-२३, (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज—संस्करण)

६. सा० द०, ६।९ तथा दशरूपक, २।३,

(घ) नाटिका का अङ्गी-रस शृंगार मात्र होता है, और नाटक का शृंगार, वीर तथा करुण में से कोई हो सकता है।[1]

(ङ) नाटिका में प्रायः चार अङ्क (अथवा कम भी) होते हैं, किन्तु नाटक में पाँच, सात, दस या कभी-कभी इससे भी अधिक होते हैं।[2]

नाटिका तथा प्रकरण

(क) दोनों की कथा-वस्तु प्रायः समान (कवि-कल्पित) होती है। अङ्गी-रस दोनों में शृंगार तथा वृत्ति कैशिकी होती है।

(ख) नाटिका-नायक प्रख्यात एवं धीरललित नृपति होता है, किन्तु प्रकरण का नेता धीर-प्रशान्त अमात्य, ब्राह्मण या वणिक् होता है।[3]

(ग) नाटिका-नायिका दो तथा दोनों राजकुलसम्भवा होती हैं, किन्तु प्रकरण की नायिका क्वचित्, कुलजा, क्वचित् वेश्या (गणिका) एवं क्वचित् दोनों होती हैं।[4]

नाटिका एवं प्रकरणिका

'नाटि' नाम से अभिहित दोनों संकीर्ण उपरूपक के भेद हैं। विशेषताएँ प्रायः दोनों की समान हैं; किन्तु नाटिका यदि प्रख्यात है, तो प्रकरणिका अप्रख्यात। नाटिका में राजकीय-प्रणय का चित्रण होता है, तो प्रकरणिका में व्यापारियों का प्रेमाङ्कन। नाटिका का नायक नृपति ही होता है, किन्तु प्रकरणिका का नायक अमात्य, वणिक् या ब्राह्मण।

नाटिका तथा सट्टक

सट्टक को नाटिका का ही रूपान्तर कहा जा सकता है। समान विशेषताओं से विभूषित होने पर भी दोनों में पार्थक्य है। सट्टक की रचना केवल प्राकृत में ही होती है। इसमें प्रवेशक अथवा विष्कम्भक नहीं होते हैं, जबकि नाटिका के लिए यह आवश्यक नहीं। नाटिका का विभाजन अङ्कों में होता है, किन्तु सट्टक का जवनिका में।[5]

ऐतिहासिक-विकास

उपरूपक (नाटिका) के तत्त्व भी उतने ही प्राचीन हैं, जितने कि रूपक (नाटक) के। इन तत्त्वों का अन्वेषण उन्हीं वैदिक-स्रोतों में करना चाहिए, जहाँ से अन्यान्य नाट-

---

१. सा० द०, ६।१०; दशरूपक, ३।३३।

२. हनुमन्नाटक (महानाटक) १४ अङ्कों का है।

३. 'नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्' सा० द०, ६।२२५ पूर्वार्ध।

४. सा० द०, ६।२२६ पूर्वार्ध।

५. वही, ६।२७६-७७ पूर्वार्ध।

कीय तत्त्व आविर्भूत हुए हैं[1]। तात्पर्य यह है कि भारतीय-परम्परा वेदों[2] को ही नाटकीय तत्त्वों का उद्गम-स्थल मानती है, जिसका समर्थन अनेक पाश्चात्य विद्वान् (यथा-मैक्समूलर, सिल्वन लेवी, श्रोएदर आदि) भी करते हैं। यह बात दूसरी है कि कतिपय समीक्षक[3] इसे स्वीकार न करें और उन्हें प्राच्य-नाट्य-कृतियों में पाश्चात्य नाटकों की गन्ध मिले, जो वस्तुतः निर्मूल कल्पना-मात्र कही जा सकती है। इसलिए कि सर्वाधार वेदों से लेकर लौकिक-साहित्य-पर्यन्त नाट्य-परम्परा की कड़ी कहीं भी विशृङ्खलित नहीं दीखती। तदनन्तर ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ कर बीसवीं शती तक अनेक नाट्य-रचनाओं की अविच्छिन्न गति अवलोकित होती है।

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में उपरूपकों की प्रतिनिधि कृतियों के दर्शन प्रायः नहीं होते हैं, जिसका प्रमुख कारण सम्भवतः यह है कि वे गीत, नृत्य एवं वाद्य-प्राधान्य मूक नाटक हैं, न कि वास्तविक रूपक।[4]

उपरूपकों में जिस भेद को सर्वाधिक ख्याति प्राप्त हो सकी है, वह है नाटिका। यह अपनी शौर्यात्मकता तथा सामाजिकता के कारण क्रमशः नाटक एवं प्रकरण दोनों का प्रतिनिधित्व करती है।

कवि-कुल-गुरु कालिदास-कृत द्वितीय कृति 'विक्रमोर्वशीय' पञ्चाङ्क-रचित एक उपरूपक (त्रोटक[5]) है। यह संस्कृत-साहित्य में एक नवीन नाट्यधारा की प्रवर्तिका है, जिसका प्रभाव अवान्तर-कालीन अनेक रचनाओं में देखा जा सकता है।

नाटिकाओं में प्राचीन तथा अधिक लोकप्रिय रचनाएँ महाराज श्रीहर्ष (६०६-६४८ ई०) कृत नाटिकाएँ ही हैं। इन्हें आदि नाटिका-कृतियाँ एवं श्रीहर्ष को नाटिका-साहित्य का प्रवर्तक कह सकते हैं।

सन्दर्भ

प्रियदर्शिका चार अङ्कों में निर्मित एक नाटिका है, जिसमें वत्सराज उदयन तथा महिप दृढवर्मा की कन्या प्रियदर्शिका की प्रणय-गाथा अङ्कित है।

प्रथम अङ्क में सेनापति विजयसेन युद्ध में विजित राजा दृढवर्मा की राजकुमारी प्रियदर्शिका को आरण्यका (विन्ध्यकेतु-कन्या) के नाम से वत्सराज उदयन को समर्पित करता है, जिसे वह अपनी रानी वासवदत्ता के संरक्षण एवं दास्य में रख देता है। **द्वितीय**

---

१. नाट्य-शास्त्र १।१७।
२. ऋग्वेद, १।१६५, १७०, १७९; ३।३३; १०।१०, ८६, ९५ आदि।
३. कीथ, संस्कृत-ड्रामा, पृ०, १२-७७।
४. वही, पृ० ३५०।
५. सा० द०, ६।२७३।

अङ्क में पुष्पावचयन करती हुई भ्रमर से आतङ्कित आरण्यका तथा उसकी रक्षा करते हुए उदयन की प्रथम भेंट होती है और यहीं से दोनों में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। **तृतीय अङ्क** में उदयन एवं वासवदत्ता का विवाहाभिनय आयोजित होता है, जिसमें वासवदत्ता का अभिनय 'आरण्यका' तथा उदयन का अभिनय 'मनोरमा' को करना है, किन्तु उदयन विदूषक की गुप्त रीति से मनोरमा का वेश धारण कर स्वतः अपना पार्ट अदा करते हैं। फलतः यह अभिनय मनोरंजन मात्र न रहकर, वास्तविक प्रेम-विवाह के रूप में प्रगटित हो जाता है। इस रहस्य के उद्घाटित होने पर वासवदत्ता की क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है। **चतुर्थ अङ्क** में आरण्यका वत्सराज की दृष्टि से अलग कर, कारागार में निक्षिप्त कर दी जाती है। इसी समय दृढवर्मा के कञ्चुकी द्वारा वत्स को कलिङ्ग-विजय की सूचना मिलती है और नृपवंशजा आरण्यका का वास्तविक परिचय होता है। अन्त में वासवदत्ता की अनुमति से प्रियदर्शिका तथा वत्सराज के मंगलमय विवाह के साथ नाटिका समाप्त होती है।

रत्नावली में वत्सराज उदयन तथा सिंहलेश्वर की राजकुमारी रत्नावली की प्रणय-कथा चार अङ्कों में वर्णित है।

नाटिका के **प्रथम अङ्क** में यह प्रदर्शित है कि वत्सराज का प्रधान सचिव यौगन्धरायण दैवज्ञों की वाणी से विश्वस्त है कि महाराज की परमोन्नति के लिए रत्नावली के साथ उनका विवाह आवश्यक है। इस हेतु यह अनृत-वार्ता सर्वत्र घोषित कर दी जाती है कि महिषी वासवदत्ता लावाणकाग्नि में दग्ध हो गई। यह श्रवण कर सिंहलाधिपति अपनी अनूपरूपा पुत्री रत्नावली को वत्स के पास भेजते हैं। संयोगात् समुद्र में नौका के जलमग्न हो जाने पर वह एक वणिक् के सहयोग से यौगन्धरायण के समीप पहुँच जाती है, जो उसे सागरिका नाम से वासवदत्ता की परिचायिका-रूप में रख देता है। काम-महोत्सव के अवसर पर, जब वासवदत्ता अनङ्गाङ्ग उदयन की अर्चना करती है, सागरिका भी गुप्त-रीति से उस कामवपुः राजा का दर्शन कर लेती है। यहीं से उसमें प्रेमांकुर का वपन हो जाता है। **द्वितीय अङ्क** में सागरिका निज-चित्त-विनोदनार्थ मदन-महाराज की प्रतिकृति-चित्रित करती है तथा वयस्या चतुरा सुसंगता उसके समीप रति-रूपा सागरिका का रूप अङ्कित कर देती है। इसी अभ्यन्तर अश्वालय से भागे हुए एक वन्दर के भय से महल में सर्वत्र कोलाहल परिव्याप्त हो जाता है, जिसे श्रवण कर दोनों सहेलियाँ भी भाग खड़ी होती हैं। चित्र-फलक विदूषक तथा राजा के हाथ लग जाता है, जिससे गुप्त-प्रणय का प्रकाशन हो जाता है। इस रहस्योद्घाटन में राजकीय सारिका भी सहाय्य करती है। **तृतीय अङ्क** में विदूषक ने इस षड्यन्त्र की रचना की है कि वासवदत्ता का वेश सागरिका तथा काञ्चनमाला का वेश सुसंगता धारण कर पूर्व-निश्चयानुसार राजा से मिलें। संयोगवशात् उक्त गुप्तमन्त्रणा का रहस्य वासवदत्ता को ज्ञात हो जाता है और

वह षड्यन्त्र-निश्चयानुसार राजा के समीप पहले ही पधारती है, जिससे प्रेमी-प्रेमिका के मिलन का पासा पलट जाता है। परिणाम यह होता है कि एक ओर वासवदत्ता राजा की कुत्सित-कामना से क्षुभित कोपाकुल हो चली जाती है और दूसरी ओर निराश एवं अपमानित सागरिका लता-पाश द्वारा अपने वध का उद्योग करती है, जिसकी रक्षा, राजा के समय पर पहुँच जाने के कारण हो जाती है। **चतुर्थ अङ्क** में ऐन्द्रजालिक की अग्नि-दाह-लीला से सम्पूर्ण महल आक्रान्त हो उठता है। वन्दी-गृह में निक्षिप्त सागरिका के दग्ध-भय से चिन्तित वासवदत्ता वत्सराज से उसकी रक्षा-याचना करती है। रक्षिता-सागरिका राज-दरवार में उपस्थित की जाती है, जहाँ अमात्य 'वसुभूति' और कञ्चुकी 'बाभ्रव्य' द्वारा रत्नावली (सिंहलराज-पुत्री) की वास्तविका उद्घाटित होती है और वासवदत्ता द्वारा भगिनी रत्नावली तथा राजा उदयन का सुखद-विवाह सम्पादित कर दिया जाता है।

विद्धशाल-भञ्जिका—महाकवि राजशेखर (दशम् शताव्दी) की यह कृति चार अङ्कों की एक रमणीय नाटिका है, जिसमें राजकुमार विद्याधर मल्ल और राजकुमारियाँ मृगाङ्कावली तथा कुवलयमाला की प्रीति-कथा वर्णित है।

प्रथम अङ्क से ज्ञात होता है कि पुत्रहीन लाटेश्वर चन्द्रवर्मा को, जब उन्हें एक पुत्री उत्पन्न हुई, उनके अमात्यों ने पुत्रोत्पत्ति की वात को घोषित किया और उसे मृगाङ्क-वर्मारूप में महाराज विद्या-धरमल्ल की सम्राज्ञी के पास रख दिया। एक दिन विद्याधर-मल्ल वयस्य विदूषक से वतलाते हैं कि उन्होंने स्वप्न में एक शोभनीयाकृति सुन्दरी का दर्शन कर, ज्योंही उसे पकड़ने का प्रयास किया, वह अपनी मुक्ता-माला का त्याग कर अन्तर्हित हो गई। मृगाङ्कवर्मा के कन्या होने का रहस्य राजमन्त्री भागुरायण को विदित है, जिसके साथ राजा का विवाह और दैवज्ञों के अनुसार उनका चक्रवर्तित्व सम्पन्न होगा। मन्त्री इस लक्ष्य की सिद्धि-हेतु मृगाङ्कवर्मा को राजा के समीप प्रेषित करता है। संयोगात् इसी समय राजा चित्रागार में अपनी स्वप्नागता-प्रिया की उत्कीर्ण विद्धशालभञ्जिका (मूर्ति) का अवलोकन कर उसके गले में मुक्ता-माला पहना देता है। **द्वितीय अङ्क** में कुवलयमाला (कुन्तल राजपुत्री) और मृगाङ्कवर्मा का पाणि-ग्रहण संस्कार सम्पन्न हो जाए, रानी इस बात का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर विदूषक के साथ विचरण करते हुए, राजा अपनी स्वप्नागता-प्रिया मृगाङ्कावली को उसके वास्तविक रूप में क्रीड़ा करते एवं प्रणय-पत्रिका पढ़ते हुए देखता है। यह दर्शन दोनों को प्रणय-सूत्र में आबद्ध कर देता है। **तृतीय अङ्क** में राजा का मृगाङ्कावली से मिलन होता है और उनके पारस्परिक प्रेमासक्ति का दर्शन भी यहीं होता है। **चतुर्थाङ्क** में महारानी विनोद के बहाने मृगाङ्कवर्मा को, जिसे वह वास्तविक वालक समझती है, स्त्री-वेश धारण कराकर, महाराज से उसका विवाह करा देती है, परन्तु अपने कृत्य से वह स्वतः प्रवञ्चित होती है। उधर राजा

चन्द्रवर्मा के दूत द्वारा यह सूचना मिलती है कि उसके निष्पुत्र महाराज ने पहले जिस राजकुमारी मृगाङ्कावली को पुत्र (मृगाङ्कवर्मा) घोषित किया था, सम्प्रति पुत्रोत्पत्ति हो जाने पर, उसका विवाह विद्या-धरमल्ल से करने की कामना करते हैं। यह रहस्योद्‌भेदन होने पर विवशा रानी 'मृगाङ्कावली' तथा 'राजा' का वास्तविक पाणि-ग्रहण सम्पन्न करा देता है। तदन्तर कुवलयमाला भी राजा से ब्याह दी जाती है।

कर्णसुन्दरी (१०८०-९० ई०)—यह कृति ऐतिहासिक-काव्य 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' के प्रणेता कविवर विल्हण द्वारा रचित चार अङ्कों की एक कमनीय नाटिका है। इसमें अणहिलवार (गुजरात) के चालुक्यवंशीय महाराज भीमदेव के आत्मज कर्णदेव के कर्णाटकाधिपति जयकेशी की कन्या के साथ पाणि-ग्रहण संस्कार का सुन्दर वर्णन है। प्रधान सचिव उस विद्याधर राजकुमारी को राजकीय अन्तःपुर में प्रविष्ट करा देता है, जिससे महिपति कर्णदेव का विवाह संभाव्य है। राजकुमारी का दर्शन कर्णदेव को स्वप्न एवं चित्र में क्रमशः होता है, जिसके कारण वह प्रेमासक्त हो जाता है। इस वार्ता के अवगत होने पर महारानी के क्रोध एवं ईर्ष्या का ठिकाना नहीं रहता। वह अनेक विघ्न उपस्थित करती है। जब वह एक बालक को कर्णसुन्दरी का वेश धारण कराकर, उससे राजा के विवाह का उद्योग करती है, चतुर मन्त्री बड़ी कुशलता से बालक कर्णसुन्दरी के स्थान पर बाला कर्णसुन्दरी को उपस्थित कर, राजा का वास्तविक विवाह सम्पन्न करा देता है।

पारिजातमञ्जरी[1] (त्रयोदश शताब्दी)—यह चार अङ्कों में रचित धाराधिप-गुरु राजगुरु मदन (या बाल सरस्वती) की नाटिका है। सम्प्रति इसके प्रथम दो अङ्क ही उपलब्ध होते हैं, जो धारा में प्रस्तरखण्ड पर उट्टङ्कित होने के कारण परिरक्षित हैं।

प्रथम अङ्क—वसन्तोत्सव (चैत्रोत्सव) भगवती भारती की स्तुति से प्रारम्भ होता है। महाराज भोजसदृश प्रख्यात अर्जुन वर्मदेव तथा चालुक्य-राज भीमदेव द्वितीय की सेनाओं में पावागद (पावा-पर्वत के किले) में घनघोर युद्ध छिड़ जाता है, जिसमें विजयश्री धारा-नरेश को ही वरण करती है, इसी समय एक पारिजात-माला उनके वक्षःस्थल पर गिरती है, जो सुन्दरी का रूप धारण कर लेती है। वस्तुतः यह सुन्दरी चालुक्यराज की मूर्तिमती कीर्ति है। आकाशवाणी होती है कि इसे ब्याहने पर राजा का परमाभ्युदय होगा। यह सुन्दरी महाराज के प्रधान उद्यान-रक्षक कुसुमाकर की पत्नी वसन्त लीला द्वारा धाराचलस्थित प्रमदवन में रखी जाती है। राजा की प्रधान महिषी 'सर्वकला' के आदेशानुसार बड़ी धूम-धाम के साथ वसन्तोत्सव-समारोह मनाया जाता है, जिसमें सहकार तथा माधवीलता के विवाह की विनियोजना की जाती है और जिसे देखने के निमित्त राजा-दम्पती सहित समस्त धारा-वासी उपस्थित होते हैं। इसी मदभरे वातावरण में पारिजात मञ्जरी तथा राजा में अनुराग का बीज आरोपित होता है। **द्वितीय अङ्क** का आरम्भ

१. यह अनेक नामों से अभिहित है, यथा—विजयश्री, प्रशस्ति, श्रुतिलेख्य गुणोर्जिता आदि।

कुसुमाकर द्वारा प्रमदवन की श्री-वर्णना के साथ होता है, जिसकी अनुपम छटा में विवाहोत्सव एवं मधुर-शीतल-समीर द्वारा चार चाँद लगा दिए जाते हैं। समस्त नगर-निवासी वासन्ती-मद में मस्त हैं। नर्तकी, गायिका-गायिकाएँ वैवाहिक मंगल-गान में लीन हैं। इसी समय वसन्तलीला आकर पारिजातमञ्जरी की कामासक्त-दशा का वर्णन करती है। विदूषक के साथ राजा तथा रानी रङ्गमंच पर पधारते हैं। रानी नव-दम्पती (सहकार तथा माधवी) को राजा को दिखाती है। राजा दम्पती विवाह-कार्य में संलग्न हैं। पारिजातमञ्जरी भी पूर्व-गुप्त-मन्त्रणानुसार पहले से ही एक कोने में उपस्थित है, जो लता-गुल्म की ओर से राजा का दर्शन करती है। राजा भी वसन्तलीला की चातुरी से, जिसमें पारिजातमञ्जरी की प्रतिमूर्ति रानी के रत्न-जटित पारदर्शक कर्णालङ्कार में पड़ती है, देखता रहता है। राजा प्रिया के इस रहस्यमय दर्शनानन्द में डूब जाते हैं। कनकलेखा (रानी की परिचारिका) और विदूषक इस गुप्त प्रणय-व्यापार का आनन्द लेते हैं। रानी की दाहिनी आँख फड़कती है, वह अपना धैर्य खो बैठती है। वसन्तलीला तथा पारिजातमञ्जरी दोनों रानी के कोप से बचने के लिए घटना-स्थल से अलग हो जाते हैं। स्वर्णकार रामदेवात्मज द्वारा उट्टङ्कित प्रशस्ति का 'ताटङ्क-दर्पण' नामक द्वितीय अङ्क यहीं समाप्त होता है।

वृषभानुजा[1]

जाह्नवी एवं यमुना के पावन तट पर स्थित सुवर्णशेखर नामक नगर-निवासी कायस्थकुलोत्पन्न कविवर मथुरादास की यह नाटिका चार अङ्कों की एक रोचक रचना है। इसमें आनन्द-कन्द कृष्ण तथा राधिका रानी की प्रणय-कथा अत्यधिक सरस शैली में वर्णित है।

श्रीकृष्ण किसी रूपसी का चित्र लिए हुए हैं, जिसे राधिका देखकर, मान कर बैठती हैं। किन्तु राधिका उस समय मानरहित हो अत्यन्त लज्जित होती हैं, जब उन्हें यह वास्तविकता ज्ञात होती है कि वह नायिका-चित्र वस्तुतः उन्हीं का है, न किसी अन्य नायिका का। यही प्रेम-पूर्ण घटना इस नाटिका का वर्ण्य-विषय है।

समीक्षण

(क) वस्तु-विधान—नाटिका का प्रथम रूप हमें महाकवि कालिदास की 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाट्य-रचना में दृष्टिगत होता है, यद्यपि वह नाटिका न होकर, पञ्चअङ्कों में रचित होने के कारण नाटक ही है; किन्तु उसमें नाटिका के प्रायः सभी

१. विश्वनाथ (त्रिमल देवात्मज) द्वारा रचित 'मृगाङ्कलेखा' एक अवान्तरकालीन कृति है, जिसके लिए, द्रष्टव्य है, विल्सन, द्वितीय, पृ० ३६० (संस्कृत-ड्रामा, पृ० ५५७, पद-संकेत १)।

लक्षण विद्यमान हैं। जहाँ तक वर्ण्य-विषय की विनियोजना का सम्बन्ध है, यह श्री हर्ष-वर्धन की दोनों नाटिकाओं के अतिनिकट है। नायक अग्निमित्र पट्टरानी धारिणी से सशंकित रहता है, तो भी गुप्त-रीति से मालविका के प्रणय-व्यापार से आबद्ध है। इसका प्रधान विषय, प्रीति-कथा का घटना-स्थल भी प्रमदवन तथा भूपति-भवन ही है। धीरोदात्त अग्निमित्र का मौलिक व्यक्तित्व भी धीरललित के विलासादि गुणों पर आधृत है। इसी प्रकार इसका प्रमुख रस शृङ्गार ही है।

सामान्य नाटिका प्रियदर्शिका की कथा-वस्तु कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' एवं गुणाढ्य-कृत 'बृहत्कथा' से गृहीत है, तो भी कवि ने इसे यथाशक्ति रोचक एवं सरस बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। कथानक के माधुर्य तथा सारस्य हेतु अपनी कल्पना से इसने जो नवीन रंग भरकर परिवर्तन किया है, वह उसकी मौलिक सूझ का सूचक है। तृतीय अङ्क की गर्भाङ्क-विनियोजना कवि-कला-कौशल की परिचायिका है।

प्रणय-नाटिका (Love-comedy) 'रत्नावली' हर्ष की नाट्य-कला का चरम निदर्शन है। यह नाटकीय एवं नाट्य-शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से एक सफल रचना है। इसका वर्ण्य-विषय सुगठित तथा सुविकसित है। अपनी कथा-वस्तु के गठन एवं चुस्ती के कारण यह नाट्य-जगत् में अत्यधिक आदृत हुई है।

'रत्नावली' का उत्स है 'कथा-सरित्सागर'[1] जहाँ से इसकी कथा ग्रहण की गई है, किन्तु उसमें अनेक सुपरिवर्तन भी हुए हैं, जिनसे कवि की मौलिकता का अनुमान लगाया जा सकता है। 'कथा-सरित्सागर' में कौशाम्बी-नरेश उदयन तथा रानी वासवदत्ता की प्रेम-कहानी वर्णित है, किन्तु इसका प्रचलन प्राचीन भारतीय लोक-कथाओं से भी ज्ञापित होता है, जिसे कालिदास[2], शूद्रकादि[3] ने अपनी कृतियों में उद्धृत किया है। 'कथा-सरित्सागर' में यौगन्धरायण द्वारा उदयन तथा पद्मावती के विवाह-सम्पादन का उल्लेख है, जिसे हर्ष ने गृहीत किया है। साथ ही अनेक पात्रों (यौगन्धरायण, रुमण्वत् वसन्तकादि) एवं अनेक स्थानों (कौशाम्बी, लावाणकादि) का भी ग्रहण मूल 'कथा-सरित्सागर' से ही किया है। वहाँ नायिका-नाम पद्मावती है, जो मगधराज प्रद्योत की कन्या है, किन्तु हर्ष ने उसे लंकेश्वर विक्रमबाहु की पुत्री रत्नावली बतलाया है।

---

१. तृतीय लम्बक का प्रारम्भ।

२. 'प्राप्यावन्तीनुदयनकथा कोविद ग्रामवृद्धान्' श्लोक, ३१, (पूर्व मेघ)। तथा

प्रद्योतस्य प्रिय दुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुम वनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा—
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥

वही, श्लोक, ३४ (काले संस्करण, बम्बई)

३. 'यौगन्धरायण इव उदयनस्य राज्ञः' मृच्छकटिक, प्रथम अङ्क।

भास और कालिदास दोनों की कृतियों का पूर्ण प्रभाव 'रत्नावली' में परिलक्षित होता है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' तथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में वत्सराज उदयन और वासवदत्ता की जो कथा वर्णित है, उसका उल्लेख 'कथा-सरित्सागर' में भी है, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। रत्नावली में अङ्कित उक्त कथा, भास के नाटक द्वय की अपेक्षा, कथा-सरित्सागर से अधिक साम्य रखती है। अतः हर्ष को भास का नहीं, प्रस्तुत कथा-सरित्सागर का ऋणी मानना अधिक उचित ज्ञात होता है। लावाणक में वासवदत्ता के जल-मरने की जो घटना है, उसका उल्लेख कथा-सरित्सागर तथा स्वप्नवासवदत्तम् दोनों में मिलता है, किन्तु हर्ष के प्रयोग में मौलिकता है, जो उक्त दोनों स्रोतों से अधिक रोचक एवं वैचित्र्य से संचलित है।

रत्नावली में वर्णित उदयन के अन्तःपुर का गुप्त तथा वासवदत्ता से आतङ्कित प्रणय-व्यापार, अग्निमित्र के अन्तःपुर के प्रेम-व्यापार का अनुकरण प्रतीत होता है। इसी प्रकार इस नाटिका पर 'विक्रमोर्वशीय' का भी प्रभाव है। कर्तव्य-परायणा रानी वासवदत्ता द्वारा राजा के विरोध पर पश्चात्ताप और पुनः प्रसादन निमित्त उनके समीप गमन, यह विक्रमोर्वशीय सदृश ही है[1]। अन्य साम्य है कुरूप विदूषक का बन्दर समझा जाना[2]।

इस प्रकार मूल-बीज तथा काचिद् कल्पनाओं के लिए, अन्य का ऋणी होते हुए भी, हर्ष की मौलिक सूझ को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। वह एक सफल नाटिकाकार हैं और उनकी कुशल कूर्चिका प्राचीन कथानक को नूतन रूप में अङ्कित करने तथा पुरानी कल्पना पर भी नवीन पालिश देकर चमत्कृत करने में पूर्ण दक्ष है।

'रत्नावली' की घटनाओं में स्वाभाविकता है और उससे भी अधिक है, उनमें गतिशीलता। इसकी वह घटना अत्यन्त ही अनूठी उद्भावना की द्योतिका है, जब सारिका पिंजरे से भाग निकलती है तथा प्रेमासक्त हृदय सागरिका के उद्गारों को उदयन के समक्ष व्यक्त करती है[3]। तृतीय अङ्क इस नाटिका का प्राण कहा जा सकता है। इसमें कवि द्वारा अभिनीत राजा के गुप्त मिलन की वह योजना, जिसमें सागरिका एवं सुसंगता क्रमशः वासवदत्ता तथा काञ्चनमाला का वेश धारण कर रंगमञ्च पर उपस्थित होते हैं, वड़ी ही प्रभावकारिणी णौर स्वाभाविक है[4]। यहाँ वस्त्रादि परिवर्तन से उद्भूत भ्रान्ति की समता आंग्ल भाषा के प्रख्यात कवि Shakespeare की 'Comedy of errovs' नामक नाट्य-रचना से की जा सकती है[5]। वस्तुतः यह दृश्य नाटककार की मौलिकता

१. कि दु अदक्खिण्णकिदादो पच्छादावादो भाएकि, विक्रमोर्वशीय, अङ्क द्वितीय, तुलना कीजिए 'एवं चरण पडिअं महाराअं उज्झिअ गदाए देवीए पच्चादावेण होदव्वं' रत्ना०, अङ्क तृतीय।

२. रत्ना० अङ्क द्वितीय; विक्रमोर्वशीय, अङ्क द्वितीय।

३. वही,

४. वही, अङ्क तृतीय।

५. प्रो० बलदेव उपाध्याय—संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४८२।

का सूचक है। इसी प्रकार ऐन्द्रजालिक द्वारा प्रदर्शित अग्नि-दहन की घटना रोमान्टिक तथा कौतूहलपूर्ण है और साथ ही है यह हर्ष की नवीनोद्भावना एवं नयी कल्पना-चातुरी का अनुपम उदाहरण[१]। अष्टम शताब्दी के विख्यात कवि दामोदर गुप्त[२] ने 'रत्नावली-रत्न' की भूरि-भूरि संस्तुति की है तथा इसके पात्रों का उल्लेख मात्र ही नहीं, प्रत्युत अनेक पद्यों को भी उद्धृत किया है[३]। प्रसिद्ध समालोचक Wilson की रत्नावली विषयक प्रशंसोक्ति भी उद्धरणीय है—"The story is romantic, the incidents are well contrived, the situations are eminently dramatic and although the spectator is let into the secret of the plot from the begining, the interest is very successfully maintained." इसी प्रकार Dr. Macdonell[४] का निम्नोद्गार भी अवलोकनीय है—"Altogether Ratnāvalī is an agreeable play, with well-drawn characters and many poetical beauties."

नाटिकाओं का शास्त्रीय दृष्टि से भी महत्त्व है। इनके सूक्ष्म अध्ययन से यह पता लगता है कि इनमें कतिपय रचनाएँ ऐसी हैं, जिनमें नाट्य-शास्त्रीय-सिद्धान्तों का पूर्ण निर्वाह किया गया है। इसीलिए समीक्षा-शास्त्रीय-ग्रन्थों (दशरूपक, साहित्य-दर्पणादि) में विभिन्न सन्धियों तथा उनके अङ्गों के दृष्टान्त के लिए इन्हें उद्धृत किया गया है। परन्तु यह समझना न्याय नहीं होगा कि ऐसी कृतियों[५] की रचना का उद्देश्य नाटकीय-पद्धतियों का प्रदर्शन करना है। ऐसा होने पर कृति की उदात्तता तथा स्वाभाविकता नष्ट हो जाया करती है। नाटककार की दृष्टि नाट्य-कृति की साज-सज्जा के प्रस्तुतीकरण पर लगी रहती है और नाटकीय-सिद्धान्तों का समावेश उनमें स्वतः हो जाता है।

नाट्य-पद्धतियों के समीक्षक की दृष्टि से 'रत्नावली' एक रमणीय रचना सिद्ध होती है। इसके प्रथम अङ्क में उदयन एवं सागरिका के प्रणय-बीज का न्यास, विलोभन एवं दैवानुकूल्य से इसमें मुख-सन्धि[६] विद्यमान है। द्वितीय अङ्क में नायक तथा नायिका के गुप्त-मिलन के निमित्त विदूषक और सागरिका की सखी सुसंगता पूर्ण प्रयत्नशील हैं

१. रत्ना०, अङ्क चतुर्थ।

२. आश्लिष्ट संधिबन्धं सत्पात्र सुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुण परीक्षकदृष्टं राजति रत्नावली रत्नम्॥
कुट्टनीमत, ३।९२४ (काव्यमाला संस्करण, १८८९).

३. रत्ना०, 'उदयतटान्तरितमियं प्राची···' प्रथमाङ्क श्लोक २४ तथा सागरिका, काञ्चनमाला, मेधाविनी आदि उद्धृत हैं। कुट्टनीमत, पृष्ठ १०५-११०।

४. History of Sanskrit Literature, P. 362।

५. मृच्छकटिक, वेणी-संहारादि।

६. दशरूपक, १।६, ७, २३।
दशरूपक, १।२४; साहित्य दर्पण, ६।७६।

तथा इस प्रेम-रहस्य का पता वासवदत्ता को भी चित्र-फलक-दर्शनोपरान्त लग जाता है। इसी अङ्क में बीज का उद्भेद हुआ है तथा विधूत, प्रगमन, निरोध, पुष्पादि का निर्देश है[१]। अतः यहाँ प्रतिमुख-सन्धि[२] वर्तमान है। तृतीय अङ्क में वेश-परिवर्तन के माध्यम से गुप्त-मिलन की योजना से वत्सराज का मन प्रिया-प्राप्ति विषय में आशान्वित[३] हो उठता है, यद्यपि वासवदत्ता-विघ्न की असामयिक उपस्थिति से आशा-दुराशा[४] में परिणत हो जाती है। यहीं पर गर्भ-सन्धि[५] की योजना की गई है और उसके अनेक अङ्ग, रूप, क्रम, अनुमान, तोटकादि निर्दिष्ट हैं।[६] चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में अग्नि-दहन की घटना के कारण अवरोध-राहित्य लक्षित है, इसलिए कि वासवदत्ता की स्थिति वत्सराज के अनुकूल प्रतीत होती है। अतः इस स्थल पर अवमर्ष-(विमर्श) सन्धि[७] है एवं इसके विद्रव, शक्ति, व्यवसाय, विचलनादि अङ्गों[८] की विनियोजना भी है। नाटिका के अन्त में, जब कि सचिव वसुभूति और कञ्चुकी वाभ्रव्य के आगमन और विदूषक वसन्तक द्वारा धारण की गई रत्नमाला द्वारा सागरिका के राज-कन्या-रहस्य का उद्घाटन और वत्सराज से उसका मिलन होता है,[९] साङ्गनिर्वहण-सन्धि[१०] विद्यमान है।

'विद्धशालभञ्जिका' 'स्वप्नवासवदत्तम्' 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'रत्नावली' की ऋणी है। इसमें नाटकीयता तथा प्रवाहमयता का अभाव है। अभिनय की अपेक्षा यह काव्य-गुणों से अधिक युक्त है। राजशेखर ने अपनी रचनाओं के नाटकीय गुणों पर ध्यान न देकर, उनमें भणिति-गुण को ही उत्कृष्ट माना है और उसका यत्र-तत्र संकेत भी कर दिया है[११]। तो भी उनकी कृतियों में आकर्षण है तथा उनमें यथाशक्ति कार्यान्वित लाने

---

१. रत्नावली, २।१, १५, १८, १९

२. दशरूपक, २।३०; सा० द० ६।७७

३. विदूषक—'दिष्ट्यावर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्धया'; 'अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि' रत्ना० तृतीय अङ्क।

४. राजा—नास्ति देवी-प्रसादनं मुक्त्वान्योपायः। वही

५. दशरूपक, १।३६; सा० द०, ६।७८

६. रत्ना०, ३।९, १०, ११, १४, १५

७. दशरूपक, १।४३; सा० द०, ६।७९

८. रत्ना०, ४।१, ८, ९, १४, २०

९. वही, 'देवक्षम्यताम्'; 'यथाहदेवी'; 'को देव्याः प्रसादं न बहुमन्यते?'; 'यातो विक्रम वाहुरात्मसमतां' इत्यादि उक्तियों से क्रमशः प्रसाद, आनन्द, कृति, भाषण प्रदर्शित हैं।

१०. दशरूपक, १।४८; सा० द०, ६।८०

११. ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति,
सुमतिर्बालि रामायणेऽस्मिन्।
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणिति—
गुणो विद्यते वा न वेति॥ प्रस्तावना, बाल-रामायण।

का उन्होंने सफल प्रयास भी किया है। चतुर्थ अङ्क में रानी द्वारा मृगाङ्कवर्मा को वस्तुतः वालक समझ, उसे स्त्री-वेश देकर राजा को छलने का जो प्रयास है और जिससे वह स्वत; छली जाती है, बड़ा ही रोचक है।

कर्णसुन्दरी—कल्पनामयी इस कृति में चालुक्य-वंशीय इतिहास का भी उल्लेख है। इसका उद्देश्य[1] नयनाभिरामा, लावण्यमयी विद्याधरेन्द्र-तनया का परिणय चालुक्य-कुलार्णव के पूर्णचन्द्र कर्णराज के साथ सम्पादित कराना है। साथ ही अब तक श्रव्य-काव्य के पटल पर अंकित चालुक्य-भूपति के चरित्र को दृश्य-काव्य के रंगमंच पर अभिनीत करना भी है। अभिनय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी इसमें वार्धक्य-कालीन विवाह की विनियोजना ही कम रोचक नहीं है। कवि ने यहाँ प्राय: उसी शैली का प्रयोग किया है, जिसका दर्शन 'विक्रमांकदेव-चरित' में होता है। काव्य-सम्बन्धी[2] इसका उद्गार अवलोकनीय है। कीथ ने इसे कालिदास, हर्ष और राजशेखर से गृहीत कथा-वस्तु का क्रम-हीन मिश्रण कहा है।[3]

'पारिजातमञ्जरी' अभिनय-गुण-सम्पन्न एक सफल कृति है, जो प्रथम बार धारा में स्थित शारदादेवी के आयतन में वसन्तोत्सव पर अभिनीत हुई है[4]। 'प्रकरण'[5] सदृश प्रत्येक अंकों का नामकरण इसकी विशेषता है। द्वितीय अङ्क में वसन्तोत्सव के अवसर पर, जबकि राजा तथा रानी सहकार एवं माधवी लता के परिणयोत्सव में लीन हैं, वसन्त-लीला द्वारा ताटंक-दर्पण में नायक-नायिका का मिलन कराना कवि के नाटकीय-कौशल का सुन्दर दृष्टान्त है। इसकी घटना-विनियोजना में रोचकता एवं गति-शीलता है। इसके प्रमदवन की शोभा-वर्णना पर रत्नावली के मकरन्दोद्यान तथा चैत्रोत्सव पर काममहोत्सव की स्पष्ट छाप है।

'वृषभानुजा' की कथा-वस्तु लोक-रञ्जक कृष्ण तथा रमणीया राधिका की प्रेम-लीला से सम्बद्ध है, यही इसकी सरसता एवं आह्लादकारिता का रहस्य है। निर्जीव

---

१. विद्याधरेन्द्रतनयां नयनाभिरामां लावण्यविभ्रमगुणां परिणीय देवः।
चालुक्य-पार्थिव-कुलार्णव पूर्णचन्द्रः साम्राज्यमत्रभुवनत्रयगीतमेति ॥ १।१३

२. औचित्यावहमेतदत्र तु रसः काष्ठामनेनार्हति
व्युत्पत्तेरिदमास्पदं पदमिदं काव्यस्य जीवातवे।
एवं यः कवितुः श्रमः सहृदयस्तं पुस्तकेभ्यः पठ-
न्सूक्तीरुत्पुलकः प्रमार्ष्टि निविडैरानन्दवाष्पोद्गमैः ॥ १। ११

३. संस्कृत-ड्रामा, पृ० २५६

४. पारिजातमञ्जरि, १। १३

५. 'पुष्पदूशितक' नामक प्रकरण जो सम्प्रति अनुपलब्ध है और जिसका उल्लेख अनेक प्राचीन नाटच-शास्त्रीय ग्रन्थों में हुआ है; द्रष्टव्य—सागरनन्दिन्—नाटक-लक्षणरत्नकोश।

प्रतिकृति में सजीव मुग्धा का आरोपण, इसकी विशिष्ट कल्पना का चमत्कार है।[१]

नाटिकाओं का परम्परानुसारी नामकरण प्रायः नाटकों की तरह नायिकाओं के नाम पर ही हुआ है।

(ख) चरित्र-चित्रण

पात्र-समीक्षण नाट्य-रचनाओं का अन्यतम अंग है, इसलिए कि चरित्रांकन की सफलता पर नाट्य-कृति का साफल्य आधृत होता है। श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य का यही तो वैशिष्ट्य है कि उपयुक्त पात्र-योजना द्वारा काव्याभिनय कर लोकानुरञ्जन और सन्मार्गदर्शन करे। अतः प्रायः सभी नाटककारों द्वारा पात्रांकन में औचित्य, स्वाभाविकता तथा उदात्तता पर ध्यान दिया गया है।

आदि-नाटिकाकार श्रीहर्ष चरित्र-चित्रण में पूर्ण दक्ष हैं। इनके पात्र व्यक्ति (Individual) न होकर, प्रतिनिधि (Type) हैं, जिनमें समग्र नाटिका-पात्रों का चित्र देखा जा सकता है।

नायक

वत्सराज उदयन हर्ष की दोनों नाटिकाओं के नायक हैं, जो धीरललित प्रकृति के व्यक्ति हैं। यह एक प्रेमासक्त, विलासप्रिय महीपति हैं, जिनका अधिक समय ललित-कला एवं प्रेममय-व्यापार में ही व्यतीत होता है। वस्तुतः यह कुसुमायुध हैं, जिनका चरित्र हृदयहारी है।[२]

उदयन एक कुशल शासक भी हैं, जिन्हें अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व का ध्यान है[३]। प्रत्येक कार्य में मन्त्री उनकी मन्त्रणा की अपेक्षा करते हैं[४]। यद्यपि इनके राजनीतिक व्यक्तित्व का किञ्चित् अंश ही अंकित है, तो भी उनका राजनीतिक कार्य-क्षेत्र सफल है। उनका औदार्य उस समय व्यक्त होता है, जब वह अपने पराजित शत्रु की भी संस्तुति करते हैं[५]।

वत्सराज का प्रणयी व्यक्तित्व अधिक प्रकाशित हुआ है, जिसका संकेत अनेक स्थलों

---

१. तृतीय अङ्क।

२. 'लोके हारि च वत्सराज चरितं', रत्ना०, १।५; 'कथं प्रत्यक्ष एव भगवान कुसुमायुध इह पूजां प्रतीच्छति', वही।

३. राज्यंनिर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः,
सम्यक्पालनलालितः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।
—रत्ना० १।९ पूर्वार्धं।

४. 'कथमसौ मामनिवेद्य किंचित् करिष्यति' चतुर्थ अङ्क, वही।

५. 'साधु कोशलपते! साधु। मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति', वही।

पर हुआ है[1]। किन्तु इनका नूतन प्रणय पूर्व-प्रणयी का वहिष्कार नहीं करता, जैसा कि वासवदत्ता के प्रति व्यक्त शब्दों से स्पष्ट है[2]।

उदयन अपने विविध गुणों तथा व्यक्तित्व के कारण 'विद्धशालभञ्जिका' के विद्याधरमल्ल, 'कर्णसुन्दरी' के कर्णदेव, 'पारिजातमञ्जरी' के अर्जुनवर्मा और 'वृषभानुजा' के कृष्ण के प्रतीक हैं।

नायिका

प्रायः सभी नाटिकाओं की नायिकाएँ अतीव मुग्धा हैं। उच्चकुलोत्पन्ना ये अनूप-सुन्दरियाँ हैं और इनका चरित्र औदार्य, कौमाल्य तथा मार्दव का सुन्दर समन्वय है। किन्तु इनका चरित्रांकन राजकुमारियों के रूप में न होकर एक सामान्य पात्र-सदृश ही हुआ है, जो ज्येष्ठ राजमहिषी की परिचारिकाएँ हैं। इनका वैवाहिक वैभव भी चित्रित नहीं है। प्रियदर्शिका, रत्नावली, मृगाङ्कावली, कर्णसुन्दरी, पारिजातमञ्जरी, तथा वृषभानुजा सभी में उपर्युक्त विशेषताएँ विद्यमान हैं। इनके चरित्र में दो विशिष्ट बातें दृष्टिगत होती हैं। प्रथम, अपने प्रिय (राजा) में अटूट प्रेम तथा द्वितीय वैशिष्टच निहित है, इनकी भावुकता तथा स्वाभिमान में। जहाँ कहीं भी इस अभिमान को ठेस लगती है, ये मरण को ही वरण करती हैं[3]। आभिजात्य राजकुल की उदात्तता भी इनमें पूर्णरूपेण विद्यमान है, जिसका प्रकाशन वे अपनी अन्यतमा सहेलियों के समकक्ष भी करने में संकोच करती हैं।

वासवदत्ता, सर्वकला आदि ज्येष्ठा नायिकाओं का चित्रण प्रधान राज-महिषियों के रूप में हुआ है। ये प्रौढा नायिकाएँ हैं, जिनमें अधिकार, ईर्ष्या एवं प्रभुता का प्रभुत्व है; तो भी इनके हृदय में अपने प्रियतम (आर्यदेव) के लिए अगाध स्नेह है। नायकगण भी अपनी इन ज्येष्ठाओं के अधिकारपूर्ण प्रणय से अवगत हैं। उन्हें ज्ञात है कि प्रकृष्ट प्रेम का अवसान जीवनावसान है। सचमुच उनका यह अपूर्व कृत्य (मुग्धा नायिकाओं से प्रणय) ज्येष्ठाओं के ऊपर प्राण-प्रहार[4] है। उन्हें यह भी पता है कि प्रिया-प्रसादन के अतिरिक्त

---

१. रत्नावली, २।४, ३।७

२. 'मदनिके नन्वाज्ञापयतीत्येव रमणीयम्' 'ननु वक्तव्यमुत्सवान्तरमापतितमिति'
वही, प्रथम अङ्क।

३. 'सर्वथा मरणमेव मम मन्दभागिन्या उपस्थितम्', रत्ना० द्वितीय अङ्क; 'जीवित-मरणयोरन्तरे वर्ते' वही; 'वरमिदानीं स्वयमेवात्मानमुद्‌वध्योपरता न पुनर्ज्ञातं संकेत-वृत्तान्तया देव्या परिभूता' वही, तृतीय अङ्क; 'इयं रत्न-माला जीवित निराशया तया आर्य वसन्तकस्य हस्ते प्रतिपादयेतिभणित्वा मम हस्ते समर्पिता' वही, चतुर्थ अङ्क। ऐसी उक्तियाँ अन्य नाटिकाओं में भी द्रष्टव्य हैं।

४. 'प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ, प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति'।
रत्ना; ३।१५ उत्तरार्ध।

उनके प्रणय की अन्य गति नहीं है ।[1]

ज्येष्ठाओं का प्रभुत्व एवं शासकत्व से परिपूर्ण चरित्र उस समय निखार पाता है, जब नायक के नर्म-सचिव विदूषक[2] तथा उनकी प्रियाओं को भी निगडित करने में वे नहीं हिचकतीं[3] । किन्तु प्रभुत्वशीला होने पर भी वे महाराज की हितचिन्तिका हैं। उन्हें क्रूर कथमपि नहीं कहा जा सकता । नायक एवं नायिका का मिलन वस्तुतः उन्हीं के प्रसाद का परिणाम है, जिनके प्रति नायक स्वतः कृतज्ञता का प्रकाशन करते हैं[4] ।

विदूषक

विदूषक[5] की उद्भावना संस्कृत-नाटच-रचनाओं में प्रायः सभी नाटककारों द्वारा की गई है। ब्राह्मण[6]-कुलोत्पन्न, अशोभनीयाकृति, भोजन-भट्ट तथा भीरु-प्रकृति का विदूषक नायक का परम सुहृद, विनोदक, प्रणय-व्यापार में सहायक तथा उनका नर्मसचिव होता है[7] । रंगमञ्च पर हास्य-रस का उद्रेक विदूषक के अंग, वेश, वचन, परिहास, असम्वद्ध भाषण आदि क्रियाओं द्वारा होता है[8] । इसकी प्राकृतोक्तियों[9] में व्यंग्य एवं हास्य का पुट रहता है । वसन्तक, चारायण आदि विदूषक उपर्युक्त गुणों एवं कृत्यों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं।

अन्य (स्त्री तथा पुरुष) पात्रों का चित्रण भी सहज एवं सुन्दर हुआ है। समस्त राजनैतिक घटनाओं के प्रेरक तथा सफल संचालक यौगन्धरायण, भागुरायण सदृश बुद्धि-

---

१. 'देवी प्रसादनं मुक्त्वा नास्ति अन्योपायः' ।
वही, तृतीय अङ्क ।

२. वासवदत्ता—(सकोपम्) काञ्चनमाले एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैनं ब्राह्मणम्' ।
वही ।

३. 'एषा खलु मया निर्घृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते' ।
वही, चतुर्थ अङ्क ।

४. 'को देव्याः प्रसादो न बहु मन्यते' 'देवी प्रभवति । कुतोऽस्माकमन्यथा कर्तुं विभवः' ।
प्रियदर्शिका, चतुर्थ अङ्क ।

५. पाश्चात्य नाटकों में 'Fool or clown' का प्रयोग विदूषक सदृश है ।

६. नाटच-शास्त्र, ३५।२७; भावप्रकाशम्, दशमधिकार, पृ० २८९

७. प्रियदर्शिका तथा रत्नावली का 'वसन्तक' एवं विद्धशालभञ्जिका का 'चारायण' उदयन तथा विद्याधरमल्ल के सुहृद एवं नर्म-सचिव हैं ।

८. 'हास्यकृच्च विदूषकः', दशरूपक, २।९; 'कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः । हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः' । सा० द० तृतीय परिच्छेद; 'विदूषको हास्य निमित्तं भवति' नाटच-दर्पण, चतुर्थ-विवेक, श्लोक १४, पृ० १७७ तथा भावप्रकाशम्, पृ० २८१-८२

९. नाटच-शास्त्र, १८।३८ तथा नाटक-लक्षण रत्न-कोश, 'शौरसेनीमथप्राच्याभवन्ती', इत्यादि ।

मान् अमात्यों का अंकन Tempest के Prospero की याद दिलाता है ।

(ग) रस-व्यञ्जना

काव्य की आत्मा रस है । यही रस वह अलौकिक भाव है, जो प्रेक्षकों में आनन्द का संचार करता है । अतः रसोन्मीलन पर ही कवियों की दृष्टि लगी रहती है । नाटिकाओं का प्रमुख रस 'रस-राज'[1] शृंगार है, जिसके उभय पक्षों[2] का पूर्ण परिपाक इन नाट्य-रचनाओं में हुआ है । शृंगार के अनुकूल सरस कैशिकीवृत्ति का साङ्ग प्रयोग इन कवियों की विशेषता है ।

वत्सराज के स्नानागार में स्नानीय चूर्णादि प्रदान करने वाली अतीव व्यस्त ललनाओं के, जिनका अञ्चल त्वरा के कारण गिर पड़ा है, पयोधरों के लिए अन्य स्वर्ण-कलश की उत्प्रेक्षा बड़ी ही अनोखी है :

लीलामज्जनमङ्गलोपकरणस्नानीयसम्पादिनः
सर्वान्तःपुरवारविभ्रमवतीलोकस्य ते सम्प्रति ।
आयासस्खलदंशुकाव्यवहितच्छायावदातैः स्तनै—
रुत्क्षिप्तापरशातकुम्भकलशेवालंकृता स्नानभूः ।।

प्रियदर्शिका, १।११

श्रीकृष्ण के व्यथित-हृदय का हृदयहारी उद्‌गार देखिए :

हा हन्त सुन्दरि कथं कुसुमायुधस्य
त्वं पुष्पकोमलतरं वपुरुद्वहन्ती ।
सोढासि वज्रविशिखानति दुर्विषह्या—
न्दुःखं ममात्र सुभगे द्विगुणत्वमेति ।।

वृषभानुजा, २ । १३

किन्तु शृङ्गार के अतिरिक्त अंग-रूप में यत्र-तत्र अन्य रसों का समावेश समुचित तथा सटीक है । वीर-रस का यह तथा अन्यत्र भी[3] ओजपूर्ण दृष्टान्त अवलोकनीय है :

---

१. भोजराज ने शृङ्गार को 'रस-राज' कहा है । द्रष्टव्य, 'शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः' शृङ्गार-प्रकाश ।

२. रत्नावली, ३।३; विद्धशालभञ्जिका, १।३३, ४०

३. पांशूनां सूचिभेद्यैः सकलमपिकुलक्ष्माभृतां छादनेच्छा-
बद्धोत्साहैः प्रवाहैरसुषिरमभवद्व्योमसीमान्तरालम् ।
द्वारश्रेणीनिवेशश्रियमथ धरणी मण्डलं वीर्ययाता
जातोर्वीतिऽनुवीर(?)विरचित विवरास्तत्रचाहोमुहूर्तम् ।।

कर्णसुन्दरी, ४।१७

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्र कषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे सकोशलपतिर्भङ्गप्रतीपी भव-
न्नैकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः ॥

रत्ना; ४।६

इसी प्रकार भक्ति की भव्य-भावना से सम्वलित त्रिपथगा की पुण्य-धारा प्रवाहित करने वाले अनेक श्लोक[१] भी विस्मृत नहीं किए जा सकते, यथा :

ये वाञ्छन्ति भवच्छिदच्छमतयो ज्ञानं परं मुक्तये,
ते सायुज्य पदं व्रजन्तु सुतरांश्रान्ताः स्वविस्मारकम्।
ये वैकुण्ठपतेश्च वासवसतौ स्निग्धाः स तैः सेव्यता—
मेते तत्सुहृदो जयन्ति रसिका राधाधवाराधने ॥

वृषभानुजा, १।५

प्रकृति एवं काव्य का सरस सम्बन्ध है। अतः काव्य में प्रकृति-चित्रण अनिवार्य रूप से हुआ है। किसी ने प्रकृति के मनोरम तथा सुखद स्वरूप का चित्रण किया है, तो किसी ने उसके कठोर तथा रोमाञ्चकारी रूप का भी अङ्कन किया है। यदि कालिदास प्रथम पक्ष के पक्षपाती हैं तो वाण तथा भवभूति हैं द्वितीय के। इन नाटिकाकारों ने कालिदास-सदृश प्रकृति के शोभन पक्ष पर ही विशेष वल दिया है। इनका ध्यान मानव तथा प्रकृति के सामञ्जस्य[२] पर लगा हुआ है। इन्हें प्रकृति-चित्रण द्वारा उस सुन्दर परिस्थिति की अवतारणा अभिप्रेत है, जिसमें मानवीय भाव जाग्रत हो सके। इन्होंने नायक तथा नायिका के प्रथमानुराग की कल्पना प्रायः वहीं की है, जब कि काम-महोत्सव के अवसर पर प्रकृति का सुन्दर साम्राज्य छा जाता है[३]। कथा-वस्तु को अलंकृत करने के लिए प्रभात[४] मध्याह्न[५], सन्ध्या[६], अन्धकार[७], वसन्त[८], चन्द्रिका[९], उद्यानादि[१०] के प्राकृतिक-सौन्दर्य का अलंकृत चित्रण हुआ है। यहाँ प्रकृति मानव की सहधर्मिणी-सी अङ्कित की गई है। वह

---

१. प्रियदर्शिका, १।१-२; रत्ना०, १।१-४; वृ० भा०, १।४
२. रत्ना०, १।१७; वृषभानुजा, ३।११
३. रत्ना० प्रथम अङ्क; पारिजात मञ्जरी, प्रथम अङ्क।
४. विद्धशालभञ्जिका, ४।१; कर्णसुन्दरी, ४।१; वृषभानुजा, २।२
५. वही, १।४३
६. रत्नावली, १।२३, २५
७. वही, ३।७
८. वही, १।१३, १४, १५ तथा परिजात-मञ्जरी, प्रथम अङ्क।
९. विद्धशाल भञ्जिका, ४।१
१०. रत्ना०, १।१७

अचेतन नहीं, प्रत्युत उसमें पूर्ण चैतन्य विद्यमान है, जो मानव-सदृश ही अतिथि का स्वागत करते हुए प्रतीत होती है[1]।

नाटिकाओं की भाषा कोमल तथा सरस एवं इनकी शैली शुद्ध वैदर्भी है, जो अत्यन्त प्रसादमयी है। इसमें स्वतःस्फूर्त अर्थान्तरन्यास[2], श्लेष[3], रूपक[4], व्यतिरेकादि[5] अलंकारों का सुन्दर सन्निवेश है, जिनके द्वारा प्रकृति तथा प्रणय के मधुर चित्रों को रंगीन एवं ध्वनिपूर्ण बनाने में ये कृत-कार्य हुए हैं। शृङ्गारमयी इन रचनाओं में प्रणय के विलास-पूर्ण विचित्र-चित्र अवश्य है, किन्तु वे मर्यादित हैं और उनमें अश्लीलता की तनिक भी गन्ध नहीं है।

प्रियतमा कमलिनी से विदा होते हुए सूर्य का यह उद्‌गार बड़ा ही मार्मिक है :

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥

रत्ना; ३।६

इस उद्धरण में बड़े कौशल से अन्योक्ति द्वारा नायक-नायिका के वृत्तान्त की उपस्थापना की गई है। दशरूपककार[6] ने इसे नाटकीय-सोत्प्रास (पताकास्थानक) के दृष्टान्त के लिए उद्‌धृत भी किया है। ऐसा ही दृष्टान्त कवि ने वहाँ प्रस्तुत किया है, जब तुल्य-योगिता द्वारा प्रस्तुताप्रस्तुत (नायक-नायिका) का विधान करता है[7]।

सुन्दर उपमा का यह उदाहरण कवि की अनूठी कल्पना का परिचय है :

सद्योऽवश्यायविन्दुव्यतिकरशिशिरः किं भवेत्पद्मकोशो
ह्लादित्वं नास्य मन्ये सदृशमिदमुषस्येव वीतातपस्य।
मुञ्चन्त्येते हिमौघं नखरजनिकराः पञ्च किं सोऽपि याही
ज्ञातं स्वेदापदेशादविरतममृतं स्पन्दते व्यक्तिमेतत् ॥

प्रियदर्शिका, ३।१२०

वत्सराज आरण्यका का हाथ अपने हाथ में लिए हुए हैं, जिसमें स्वेद-विन्दु (सात्त्विक भाव के चिह्न-भूत) उद्‌भूत हो जाते हैं, जिन्हें देख उनके मन में पद्म-कोश पर

१. वृषभानुजा, १।१६
२. प्रियदर्शिका, ४।८
३. वृषभानुजा, १।४
४. रत्नावली ३।१३
५. प्रियदर्शिका, २।७
६. दशरूपक, १।१४
७. रत्ना०, २।४

प्रालेय-बिन्दु की शंका होती है। किन्तु उसी समय उनमें यह भाव जागरित होता है कि ऐसी शंका निर्मूल होगी; क्योंकि कमल-विकासकाल में सूर्य की अवस्थिति आवश्यक है और यदि वह विद्यमान है, प्रालेय-बिन्दु के लिए स्थान ही कहां? पुनः उन्हें यह भ्रान्ति होती है कि नखेन्दु हिम की वृष्टि कर रहे हैं, किन्तु हिमपात से तो कञ्ज मलिन पड़ जाते हैं। इसलिए यह भ्रम भी समीचीन नहीं। अन्त में उनके मन में यह दृढ़ संकल्प होता है कि ओस, हिम या स्वेद में से कोई भी नहीं है, प्रत्युत् यह सुधा-स्रवित हो रहा है, जो अपने शैत्य से शव में भी जीवन का संचार कर देता है।

इन रचनाओं की रूप-सम्पादन[1] की ऊँची कल्पना भी सराहनीय है। जवकि कवियों ने प्रायः पञ्चभूतों से निर्मित सौन्दर्य का ही विवेचन किया है, तथा कालिदास ने भी केवल रूप-राशि से ही सम्पादित विलक्षण-स्त्री-रत्न की कल्पना की है, तो इन्होंने अमृतमयी सौन्दर्य की सृष्टि की है, जो अन्यत्र श्रवण-गोचर नहीं होती :

अमृतं तदधर विम्वे वचनेष्वमृतं विलोकनेऽप्यमृतम्।
अमृतमृतौ कुचकुम्भौ सत्यं सा सृष्टिरमृतस्य॥

वृषभानुजा, तृतीय अंक।

अन्य संस्कृत कृतियों सदृश इन नाटिकाओं में भी यत्र-तत्र ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक[2] सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनका आश्रयण कर ये नाट्य-कृतियाँ रची गई हैं, किन्तु इन्हें भी इतिहास की अपेक्षा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक श्रेणी में ही रखना उचित होगा। इसलिए कि इनमें से कतिपय कृतियों में अत्यन्तावश्यक ऐतिहासिक या भौगोलिक तथ्यों का निर्देश-मात्र किया गया है, जिनमें घटनाओं के कालक्रम का अन्वेषण असफल प्रयास होगा। हाँ, इनके नायक प्रख्यात अवश्य हैं। इनमें वर्णित अनेक स्थानों (यथा कौशाम्बी, कोशल, सिंहल, लावाणक, गोकुल, धारा आदि) द्वारा ऐतिहासिकता एवं भौगोलिकता पर प्रकाश पड़ता है।

उपसंहार

नाट्य-साहित्य में रुचि-समाधान की दृष्टि से इन नाटिकाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। इनके लेखकों में हृद्यसद् वृत्तरत्ना, सकलजन-मनानाटिका नाटिका रत्नावली के प्रणेता 'हर्षोहर्षः'[3] जैसे निपुण[4] नाटककार हैं, तो सूक्ति-सुधा-स्पन्दिनी को स्पन्दित करने

---

१. रत्नावली, २।१४।

२. V. Raghavan—*The Social Play in Sanskrit*, P. 3.

३. 'हर्षोहर्षः हृदय वसतिः'—जयदेव।

४. 'श्रीहर्षो निपुणः कविः' ,प्रियदर्शिका, १।३ तथा रत्ना०, १।५

वाले 'शुद्धा हि बुद्धि किल कामधेनु'[1] के प्रकाशक राजशेखर भी हैं, जिनमें पदध्वनि से पदार्थ की प्रतीति कराने की अद्‌भुत क्षमता[2] है और हैं साथ ही सरस एवं प्रसादपूर्ण पद-विन्यास द्वारा विशद भाव-प्रकाशन करने में कुशल कवि विल्हण भी। विशुद्ध वैदर्भी[3] में रचित प्रसादमयी[4] इन कृतियों में रस, भाव तथा व्यञ्जना का मञ्जुल-सामञ्जस्य है। प्रकृति एवं मानव में तादात्म्य की स्थापना करने वाली ये रचनाएँ बेजोड़ हैं। वर्ण्य-विषय-विन्यास तथा प्रतिनिधि पात्रों के चारु-चरित्र-चित्रण में निष्णात ये कुशल कलाकार हैं। इन्होंने महीपतियों के महलों के मध्य अंकुरित होने वाले उद्दाम-काम, महिप-महिषियों की पारस्परिक ईर्ष्या, नरेन्द्रों की काममयी चेष्टाएँ आदि का अभिराम रूप अंकित किया है। इनमें सुन्दरियों के स्निग्ध-स्वरूप का ही चित्रण नहीं, अपितु औदार्य, त्याग, स्वाभिमान एवं उनकी उदात्त प्रकृति का विशद व्याख्यान भी है। अतः यदि नाट्य-रचना का प्रयोजन आनन्द की अभिव्यक्ति है, तो अपने लक्ष्य की सिद्धि में ये कृतियाँ सफल हैं, यह बात दूसरी है कि इनमें गीत तथा नृत्य का प्राबल्य होते हुए भी वस्तुगत-मौलिकता एवं सद्-जीवन-दर्शन का अभाव अवश्य खटकता है।

---

१. विद्धशालभञ्जिका, १।८
२. 'अमन्दमणिनूपुर क्वणन चारुचारिक्रमं,
झणज्झणिति मेखलं स्खलिततारहारच्छटम्।' वही, २।६ पूर्वार्ध।
३. अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती विभ्रम जन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्य लाभ प्रतिभूः पदानाम्॥ विल्हण।
४. रत्ना०, २।११, यह काव्य-प्रकाश में प्रसाद-गुण के उदाहरण के लिए उद्‌धृत है।
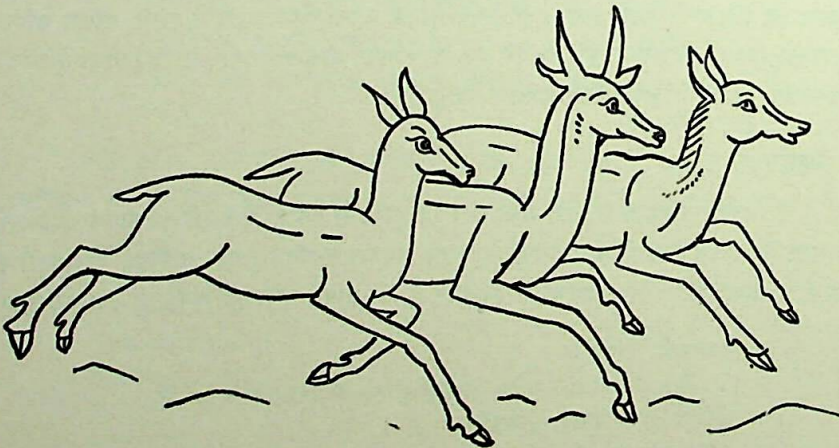
कालिदास का ईश्वर-चित्रण

सुभाष बजाज, एम० ए०

महाकवि कालिदास ने अपनी अमर कृतियों में ईश्वर का जो रूप उपस्थित किया है वह कवित्व और अन्तर्दृष्टि के अपूर्व सामंजस्य को प्रकट करता है। वहाँ कवि की मनोरम वाणी में कभी दार्शनिक बोलता है, कभी सिद्ध योगी, कभी भक्त और कभी कर्मयोगी। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया—हे अर्जुन! तुम्हें जहाँ कहीं कोई विभूति या चमत्कार दिखाई दे, उसे मेरा ही तेज समझो। किन्तु कवि उससे भी आगे बढ़ गया है। उसे प्रत्येक हलचल में उसकी झलक मिल रही है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष उसी के दो रूप हैं। वही फूलों में सुगन्ध, फलों में रस, वायु में स्पन्दन तथा अग्नि में तेज बन गया है। प्रस्तुत लेख में उन चित्रणों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जाएगा।

वाइबिल की कथा है कि परमात्मा ने अपने आधे भाग से स्त्री को उत्पन्न किया और आधे भाग से पुरुष को। परमात्मा का वह रूप हमें अर्धनारीश्वर की मूर्तियों में मिलता है। कालिदास ने अपने 'रघुवंश' के प्रारम्भ में उसी रूप की वन्दना की है। उसका कथन है[1] कि वाणी और अर्थ के समान परस्पर मिले हुए, जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर को नमस्कार है। वाणी और अर्थ की उपमा कवि की अन्तर्दृष्टि को प्रकट करती है। अर्थ के विना वाणी व्यर्थ कोलाहल है और वाणी के विना अर्थ लकड़ी में छिपी हुई आग के समान है। दोनों एक-दूसरे के विना अधूरे हैं। उनसे विश्व का कोई हित-साधन नहीं हो सकता। इसी प्रकार पुरुष के विना स्त्री कोरा दिखावा है। उसके सौन्दर्य को महत्त्व या मूल्य पुरुष से ही प्राप्त होता है। दूसरी ओर स्त्री पुरुष की प्रेरणा-शक्ति है। उसी को लक्ष्य करके वह अपने बल, पुरुषार्थ तथा अन्य गुणों की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार वे एक-दूसरे के पूरक हैं। पुरुष स्त्री के विना अपूर्ण है और स्त्री पुरुष के विना। परस्पर सहयोग के कारण ही पार्वती और शिव विश्व के माता-पिता वन सके।

एक अन्य कवि ने इसी भाव को दूसरे शब्दों में प्रकट किया है—"जगत के माता-पिता तथा दम्पती को नमस्कार है जिनकी तपस्या एक-दूसरे के लिए फलरूप बन गई

---

१. वागर्थाविव संपृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ॥
रघु० श्लो० १, सर्ग १

अर्थात् शिव ने तपस्या की और उसका फल पार्वती को मिला। इसी प्रकार पार्वती ने तपस्या की और उसका फल शिव को प्राप्त हुआ। दाम्पत्य जीवन का इससे उच्च आदर्श शायद ही मिले।

कालिदास ने अन्यत्र लिखा है[२]—"स्त्री और पुरुष तुम्हारी ही आत्मा के दो भाग हैं जिन्हें तुम सृष्टि करने की इच्छा से रचते हो। वे ही दो भाग सृज्यमान जगत् के माता-पिता कहलाते हैं।

कालिदास की दृष्टि में ईश्वर सर्वत्र अनुस्यूत है। वही अग्नि को उष्णता प्रदान करता है, वायु को वेग और पानी को शीतलता। वही सूर्य को प्रकाश प्रदान करता है और चन्द्रमा को ज्योति। विश्व में वही अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है। कवि का कथन है[३]—"बादलों के पानी में एक ही रस होने पर भी जिस प्रकार वह विभिन्न फलों एवं पुष्पों में पहुँच कर अनेक रसों में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार तुम सदा एकरस तथा विकार-रहित हो, फिर भी विभिन्न स्थानों एवं गुणों को प्राप्त करके अनेक रूपों में प्रकट होते हो।" वही तत्त्व दार्शनिक में ज्ञानशक्ति बन जाता है, योद्धा में उत्साहशक्ति, योगी में ध्यानशक्ति और प्रेमियों में प्रेमशक्ति। योगियों के लक्ष्य के रूप में वर्णन करते हुए कवि का कथन है[४]—योगी अभ्यास द्वारा मन को वश में करके तुम्हारे ज्योतिर्मय स्वरूप का अपने ही हृदय में दर्शन करना चाहते हैं। उपनिषदों में दहर की उपासना आई है उसका अर्थ है—हृदयाकाश पर मन को एकाग्र करना। इसी प्रकार हृदयस्थित ज्योतिपुरुष का भी वर्णन आया है। यही साधना तन्त्र-परम्परा में कुण्डलनी योग के रूप में प्रख्यात है।

सांख्य दर्शन में जगत् के मूल में दो तत्त्व माने हैं—प्रकृति और पुरुष। किन्तु कवि का कथन है कि जगत् के रूप में परिणत होने वाली जड प्रकृति और पुरुष कहा जाने वाला चेतन एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि-सम्बन्धी सारा कार्य प्रकृति द्वारा किया जाता है और पुरुष उदासीन या तटस्थ बना रहता है, वह केवल प्रकृति को देखता रहता है। कवि ने इस रूप का वर्णन नीचे लिखी पंक्तियों में किया

---

२. स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥
कुमार० ७।२

३. रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रिया ॥
रघु० १०।१७

४. अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥
रघु० १०।२३

हैं[५]—"तुम्हीं को पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होने वाली प्रकृति कहा जाता है, और तुम्हीं उसके द्रष्टा किन्तु उदासीन पुरुष माने जाते हो।

प्रस्तुत वर्णन से प्रतीत होता है कि कवि शैव-परम्परा का अनुयायी था। जहाँ जगत् के मूल में एक ही तत्त्व माना गया है जो जड और चेतन के रूप में प्रकट होता है। अद्वैत वेदान्त भी विश्व के मूल में एक तत्त्व मानता है। किन्तु वह उस तत्त्व को वास्तविक और दृश्यमान जगत् को अवास्तविक बताता है। इसके विपरीत शैव-परम्परा में परमतत्त्व और बाह्यजगत् दोनों वास्तविक हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार वास्तविकता का आधार नित्यत्व है अर्थात् जो तत्त्व शाश्वत है वही वास्तविक है। कुछ क्षण दिखाई देकर नष्ट हो जाने वाला बाह्य जगत् वास्तविक नहीं है। इसके विपरीत शैव-परम्परा का कथन है कि वास्तविकता या अवास्तविकता का आधार काल नहीं है। दर्पण में प्रतीत होने वाला मुख का प्रतिबिम्ब भी जितनी देर प्रतीत होता है उतनी देर वास्तविक ही है। कालिदास की दृष्टि में भी बाह्यजगत् उस परम तत्त्व की अभिव्यक्ति या प्रतिबिम्ब है किन्तु वह मिथ्या नहीं है। उसकी दृष्टि में जड और चेतन, अन्तर और बाह्य, समस्त विश्व सत्य है। बाह्यजगत् अन्तर्जगत् का प्रतिबिम्ब है, उसकी झलक है। परिणामस्वरूप उसके साक्षात्कार का साधन है। उसकी दृष्टि में सुन्दरी के अंगोपांगों, प्रकृति के मनोरम दृश्यों तथा शिशु की सरल क्रीड़ाओं में ईश्वर का ही सौन्दर्य प्रतिबिम्बित है। शंकराचार्य अथवा संन्यास-परम्परा के समान वह आध्यात्मिक या ईश्वरीय सौन्दर्य और बाह्य या भौतिक सौन्दर्य के बीच कोई भेद-रेखा खींचने के लिए तैयार नहीं है।

शिवभक्त होने पर भी महाकवि का हृदय अत्यन्त विशाल था। उसकी दृष्टि साम्प्रदायिकता या मताग्रह से दूर थी। उसने अपने वर्णनों में समस्त परम्पराओं का स्वागत किया है। उसका कथन है[६]—भिन्न-भिन्न आगमों में सिद्धि के अनेक मार्ग बताए गए हैं किन्तु जिस प्रकार समस्त नदियों के स्रोत समुद्र में गिरते हैं और वहाँ पहुँच कर एक हो जाते हैं इसी प्रकार वे सब मार्ग तुम्हें ही प्राप्त करते हैं और उस लक्ष्य पर पहुँच कर एक जाते हैं। उसके मतानुसार सृष्टि, स्थिति और प्रलय के मूल में एक ही तत्त्व है। वही तत्त्व अपने को तीन गुणों में विभक्त करता है और भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है।

---

५. त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥
कुमार० २।१३

६. बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धि हेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥
रघु० १०।२६

वही ब्रह्मा है, वही विष्णु है और वही शंकर[७] है।

त्रिमूर्ति के रूप में ईश्वर की उपासना भारत ही नहीं समस्त विश्व की प्राचीन परम्परा रही है। कवि का कथन है—"हे विश्व का सृजन करने वाले तत्पश्चात् उसका धारण करने वाले और फिर स्वयं ही संहार करने वाले तुम्हें नमस्कार है। मानव जिस कृति का निर्माण करना है उसे स्थायी रूप में देखना चाहता है। वह उसका नाश नहीं देखना चाहता। किन्तु कालिदास एक क्रान्तदर्शी कवि था उनकी दृष्टि में कोई कृति शाश्वत नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु की अपनी उपयोगिता सिद्ध करके समाप्त हो जाना ही अभीष्ट है। कोई संस्था हो, संघटन हो, नियम हो, या व्यवस्था-पद्धति हो प्रत्येक का सामयिक उपयोग है। परमात्मा उपयोगिता समाप्त होने पर अपनी लीला को स्वयं समाप्त कर देता है।

कवि ने फिर कहा है :

साधारण लोगों का ज्ञान और क्रिया परापेक्ष होते हैं। वे स्वयं ज्ञाता या कर्त्ता हैं और घट-पट आदि वाह्य-जगत् उनके ज्ञान और क्रिया का विषय है, किन्तु परमात्मा से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। अतः उसका ज्ञान और क्रिया परनिरपेक्ष हैं। कवि कथन[८] है—तुम अपने द्वारा अपने को ही जानते हो और अपने द्वारा अपनी ही सृष्टि करते हो। अर्थात् तुम्हीं ज्ञाता हो, तुम्हीं ज्ञेय और तुम्हीं ज्ञान का साधन। तुम्हीं स्रष्टा हो, तुम्हीं सृष्टि और तुम्हीं उपकरण। अन्त में कार्य पूरा हो जाने पर तुम स्वयं अपने ही अन्दर लीन हो जाते हो। इस श्लोक में कवि ने अपनी रोचक शैली में यह बताया है कि जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही है। उपनिषदों में इसके लिए लूता तन्तु अर्थात् मकड़ी के जाले का उदाहरण दिया जाता है। मकड़ी अपना जाला बुनने के लिए किसी वाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रखती। वही कर्त्ता है, वही उपकरण और वही सामग्री। सृष्टि और प्रलय की व्याख्या करते हुए कवि ने कहा है[९]—तुम अपनी काल-मर्यादा के अनुसार दिन और रात का विभाजन करते हो। तुम्हारा दिन अर्थात् जागरण समस्त जगत् का सृष्टि-काल है और तुम्हारी निद्रा विश्व का प्रलय-काल।

---

७. नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रय विभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे॥
कुमार० २।४

८. आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्पानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे॥
कुमार० २।१०

९. स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य ते।
यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयो॥
कुमार० २।८

कवि के मतानुसार ईश्वर समस्त जगत् पर नियन्त्रण करता है, किन्तु उस पर किसी का नियन्त्रण नहीं है। वह अपने ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति के लिए किसी बाह्य-वस्तु के अधीन नहीं है[१०]—तुम पानी के समान द्रव हो, और पत्थर के समान कठिन, तुम स्थूल हो और सूक्ष्म भी, लघु अर्थात् हल्के हो और भारी भी, प्रकट हो और अप्रकट भी। तुम्हारी विभूतियाँ स्वतन्त्र इच्छा पर अवलम्बित हैं।

ईश्वर के अगम्य रूप का चित्रण करते हुए कवि कहता है[११]—तुम पितरों के भी पिता हो, देवों के भी देवता, पर से भी परे और विधाताओं के भी विधाता। कवि की दृष्टि में ईश्वर देव, पितर, ब्रह्मा आदि सबका पूर्वज है और सबसे परे है। पतंजलि ने अपने योगदर्शन में कहा है—"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" अर्थात् परमात्मा आदि पुरुषों का भी पिता है। क्योंकि वह काल की मर्यादा से परे है उसकी कभी आदि नहीं हुई।

अब हम कवि के शब्दों में कवि के विराट् रूप का दर्शन कराएँगे[१२]—तुम्हीं हव्य अर्थात् हवन की सामग्री हो और तुम्हीं होता अर्थात् हवन करने वाले; तुम्हीं भोक्ता हो और तुम्हीं भोज्य हो, तुम्हीं वेत्ता हो और तुम्हीं वेद्य, तुम्हीं ध्याता हो और तुम्हीं ध्येय। प्रस्तुत श्लोक में कवि ने साधना के चार रूप उपस्थित किए हैं। हव्य और होता के रूप में कर्म-साधना, भोज्य और भोक्ता के रूप में प्रेम-साधना, ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में दार्शनिक की ज्ञानसाधना तथा ध्याता और ध्येय के रूप में योग साधना। कवि के मतानुसार चारों रूपों में परमात्मा ही साधक है और परमात्मा ही साध्य।

तुम[१३] जगत् के मूल कारण हो किन्तु तुम्हारा कोई कारण नहीं है। तुम जगत् के अन्त हो किन्तु तुम्हारा कहीं अन्त नहीं होता। तुम जगत् के आदि हो किन्तु स्वयं आदि-रहित हो। तुम जगत् के ईश्वर अर्थात् शासक हो किन्तु स्वयं अनीश्वर हो।

---

१०. द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु॥
कुमार० २।११

११. त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि॥
कुमार० २।१४

१२. त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्॥
कुमार० २।१५

१३. जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः॥
कुमार० २।९

तुम[१४] स्वयं अमेय अर्थात् परिमाण से परे हो किन्तु तुमने समस्त विश्व को नाप रखा है। तुम स्वयं किसी बात की प्रार्थना नहीं करते किन्तु दूसरों की प्रार्थनाओं को पूर्ण करने वाले हो। तुम स्वयं अजेय हो साथ ही सर्व-विजयी हो। स्वयं अव्यक्त हो किन्तु व्यक्त जगत् के कारण हो। तुम[१५] हृदय में विराजमान हो फिर भी दूर हो, निरीह होने पर भी तपस्या कर रहे हो, दयालु होने पर भी निर्दोष हो, पुराने होने पर भी सदा नये हो।

इन विरोधभासों में कवि ने महानता का उज्ज्वलतम रूप उपस्थित किया। किसी प्रकार की कामना न होने पर भी तपस्या न करना दूसरों के लिए कष्ट उठाना परमेश्वर का प्रधान गुण है इसी को बौद्ध धर्म में महाकरुणा के रूप में प्रकट किया गया है। जो दयालु है अर्थात् दोषों को क्षमा करता है वह न्यायी नहीं हो सकता किन्तु परमात्मा दयालु है और न्यायी भी। उसकी दृष्टि में दोष एक प्रकार की दुर्बलता है और दुर्बल व्यक्ति दया का पात्र होता है दण्ड का नहीं।

तुम[१६] सर्वज्ञ हो अर्थात् सब कुछ जानते हो किन्तु स्वयं अज्ञात हो। तुम सबके उत्पादक हो किन्तु स्वयं अपने-आप उत्पन्न होते हो। सबके स्वामी हो किन्तु तुम्हारा कोई स्वामी नहीं है। तुम एक हो फिर भी अनेक रूप धारण करते हो।

तुम[१७] जन्म ग्रहण करते हो फिर भी अज—जन्म-रहित हो। शत्रुओं का नाश करते हो फिर भी निरीह हो। सदा जागृत रहते हो फिर भी सोये हुए हो। तुम्हारी वास्तविकता को कौन जान सकता है।

ऐसी[१८] कोई वस्तु नहीं है जो तुम्हें प्राप्त न हो, जिसका प्राप्त करना अवशेष हो।

---

१४. अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम्॥
रघु० १०।१८

१५. हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम्।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः॥
रघु० १०।१९

१६. सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्॥
रघु० १०।२०

१७. अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव॥
रघु० १०।२४

१८. अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥
रघु० १०।३१

फिर भी तुम जन्म ग्रहण करते हो और कर्म में लगे रहते हो उनका एकमात्र उद्देश्य है लोकानुग्रह।

जिस प्रकार समुद्र के रत्न तथा सूर्य की किरणें गिनी नहीं जा सकतीं उसी प्रकार तुम्हारी लीलाओं का वर्णन सम्भव नहीं है।

विश्व[19] का अतीत, वर्तमान और भविष्य उस अजन्मा पुरुष के तीन पद हैं। यही कारण है कि वह अपने ज्ञान-नेत्र से तीनों को देखता रहता है।

धर्म[20], अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में चारों वर्गों का फल देने वाला ज्ञान चार युगों के रूप में काल की चार अवस्थाएँ और चार वर्णों में विभक्त विश्व तुम्हारे ही चतुर्मुख रूप की देन है।

महाकवि के तीन नाटक हैं— 'मालविकाग्निमित्र', 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय'। तीनों के प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न रूपों का चित्रण मिलता है। 'मालविकाग्निमित्र' में उसके अज्ञेय रूप का चित्रण है। नान्दी के रूप में दर्शकों को आशीर्वाद देते हुए सूत्रधार कहता है—'जो[21] परमात्मा अनुपम ऐश्वर्य का स्वामी है और भक्तों को समृद्धियाँ प्रदान करता है फिर भी स्वयं एकमात्र गजचर्म पहने हुए है। जिसका शरीर सदा प्रिया के साथ सटा रहता है, फिर भी जो निर्विकार चित्तवाले योगियों में अग्रणी है। जिसने अपनी आठ मूर्तियों द्वारा समस्त जगत् को धारण कर रखा है फिर भी किसी प्रकार का अभिमान नहीं है। वह परमेश्वर सन्मार्ग को प्रकाशित करने के लिए आप लोगों की तामसी वृत्ति को दूर करेगा।' कला की अनुभूति सात्त्विक भूमिका पर ही होती है। उपनिषदों में ईश्वर को रसस्वरूप बताया गया है। चित्त जितना शुद्ध होगा उतना ही उसमें रस अर्थात् परमात्मा का प्रतिबिम्ब अधिक स्पष्ट होगा। इसी को गीता में सत्त्व-शुद्धि कहा गया है। वास्तविक सौन्दर्य की अनुभूति होती है जब व्यक्ति मलिन वासनाओं से ऊपर उठ जाता है और बुद्धि निर्मल हो जाती है। वहाँ हृदय और बुद्धि अर्थात् अनुभूति

---

१९. पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥
रघु० ८।७८

२०. चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्॥
रघु० १०।२२

२१. अर्धनारीश्वरस्तिथोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः,
कान्तासंमिश्रदेहो व्यतिषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानम्,
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥
—मालवि० १।१

और विवेक समरस हो जाते हैं। इसी सामरस्य को गीता में भावना कहा गया है जो एकाग्रता अथवा योग से प्राप्त होती है। साथ ही उसे प्राप्त किए बिना शान्ति का और सुख का अनुभव नहीं होता। "न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्'।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' में विराट् रूप का चित्रण है। वहाँ कवि विश्व की समस्त हलचल में परमात्मा को ओत-प्रोत देखता है। उसकी आठ मूर्तियों का वर्णन करते हुए वह कहता है[२२]—जो विधाता की सर्वप्रथम सृष्टि है (जल); जो विधिपूर्वक हवन किए गए हव्य को धारण करती है (अग्नि); जो हवन करती है (मेघ); जो काल की मर्यादा स्थिर करती है (दिन और रात); जिसका गुण शब्द है और समस्त विश्व को व्याप्त किए हुए है (आकाश); जो समस्त बीजों को जन्म देती है (पृथ्वी) और जिससे प्राणी प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास को प्राप्त करते हैं (वायु); परमात्मा अपनी उन आठ प्रत्यक्ष मूर्तियों द्वारा आप सभी की रक्षा करें।

'विक्रमोर्वशीय'[२३] में उसका वर्णन ध्येय के रूप में किया गया है—'वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में जिसका वर्णन 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूप में किया गया है; जो पृथ्वी और आकाश को व्याप्त किए हुए है; जिसके लिए ईश्वर (सर्वशक्तिमान्) शब्द का प्रयोग अक्षरशः सत्य है, जो कि अन्य किसी के लिए नहीं हो सकता, जिसे मुमुक्षु जन प्राणायाम आदि के द्वारा चित्त-वृत्तियों का निरोध करके अपने ही अन्दर ढूँढ़ते हैं; अविचल भक्ति-योग के द्वारा प्राप्त होने वाला वह परमात्मा तुम्हारा कल्याण करे।'

कवि ने इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में ज्ञानयोग का निर्देश किया, द्वितीय में कर्म-योग का, तृतीय में ध्यान या राजयोग का और चतुर्थ में भक्तियोग का। साथ में यह भी बताया कि उसकी प्राप्ति का सुलभ उपाय अविचल भक्ति ही है।

उपर्युक्त चित्रणों में वे ही रूप उपस्थित किए गए हैं जिन्हें कवि ने स्तुति या वर्णन के रूप में उपस्थित किया है। इनके अतिरिक्त हमारे सामने वे रूप आते हैं जो घटना या जीवन-कथा के रूप में वर्णित हैं। इसके लिए सर्वप्रथम 'कुमारसम्भव' को लिया जा

---

२२. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्यविश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥
शाकु० १।१

२३. वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी,
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते,
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥
—विक्र० १।१

सकता है। इसके मंगलाचरण में हिमालय का वर्णन करते हुए कवि का कथन है—'उत्तर दिशा में हिमालय नाम का नगाधिराज है जो वास्तव में देवता-रूप है। पूर्व और पश्चिम में समुद्र तक फैला हुआ है, ऐसा ज्ञात होता है जैसे पृथ्वी का मानदण्ड हो।' हिमालय भारतीय संस्कृति का आदि-स्रोत है। ऋषि-मुनियों ने वहाँ रहकर साधना की, और जो अनुभूतियाँ प्राप्त कीं वे भारतीय संस्कृति का सर्वस्व हैं। इतना ही नहीं हिमालय से गंगा, यमुना आदि जो नदियाँ निकलीं और बहती हुई समुद्र में जा मिलीं, उन के तटों पर भारतीय सभ्यता का विकास हुआ है। बड़े-बड़े नगर तथा राजधानियाँ इन्हीं के तटों पर बसी हुई हैं। ऐसी स्थिति में हिमालय का देवात्मा कहा जाना उसके विराट् रूप को प्रकट करता है। वह पृथ्वी का भौगोलिक मानदण्ड ही नहीं, सांस्कृतिक मानदण्ड भी है। ज्ञान के देवता शिव ने वहाँ रहकर तपस्या की, उधर हिमालय ने शक्ति को जन्म दिया। देवताओं पर संकट आया। वे रक्षा के लिए शेषशायी भगवान विष्णु के पास गए। विष्णु ने उन्हें बताया—'यदि शिव (ज्ञान) और पार्वती (शक्ति) का परस्पर विवाह हो जाए, वे ऐसे वीर को उत्पन्न कर सकते हैं जो तुम्हारा सेनापति बनकर असुरों को पराजित कर सके।' शिव का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—'स्वयं विधाता तपसः फलानाम् केनापि कामेन तपश्चचार' स्वयं तपस्याओं का फल प्रदान करने वाले भगवान् शंकर, पता नहीं किस कामना से स्वयं तपस्या कर रहे थे।

कवि ने इन भावों को 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में भी प्रकट किया है। स्वर्ग के तपस्वियों को देखकर दुष्यन्त कहता है—'यद्वांच्छन्ती तपोभिरन्यमुनयः, तस्मिन् तपस्यन्त्यमि।'' अर्थात् अन्य मुनि तपस्या द्वारा जिस स्थान को प्राप्त करना चाहते हैं ये लोग वहाँ पहुँचकर तपस्या कर रहे हैं। वास्तव में महापुरुष या महादेव का यही लक्षण है कि वह सब कुछ प्राप्त होने पर भी तपस्या करता है।

'कुमारसम्भव' में शिव तथा पार्वती का जो चित्रण है वह कवि की गम्भीर अन्तदृष्टि को प्रकट करता है। भगवान् शंकर एक गुफा में तपस्या कर रहे हैं। इधर असुरों के उत्पात से पीड़ित होकर देवता भगवान् विष्णु के पास जाते हैं और अपनी रक्षा का उपाय पूछते हैं। विष्णु ने जब शिव और पार्वती के विवाह की चर्चा की देवता विचार में पड़ गए। उस महायोगी और महातपस्वी को विवाह के लिए कैसे तैयार किया जाए। देवताओं ने मिलकर सभा की और विचार-विनिमय प्रारम्भ किया। देवराज की दृष्टि कामदेव पर गयी और उसके अजेय बल और अमोघ शक्ति की प्रशंसा होने लगी। कामदेव गर्व में आ गया और अभिमानपूर्वक बोला—'महाराज, आपकी कृपा से मैं क्या नहीं कर सकता। भले ही मेरा आयुध फूल-सरीखी को मल वस्तु है, फिर भी अपने साथी वसन्त को साथ लेकर यदि मैं जाऊँ, पिनाकपाणि शंकर का भी धैर्यच्युत कर सकता हूँ, दूसरे योद्धाओं की, बात ही क्या है।' इन्द्र जो बात चाहता था

वह कामदेव के मुँह से अपने-आप निकल पड़ी। उसने प्रसन्नता प्रकट की और कामदेव को और भी ऊँचा चढ़ाया। कवि कहता है :

प्रयोजनापेक्षितया प्रभूनाम्।
प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु॥

प्रभुजन अर्थात् स्वामी सदा अपना मतलब देखा करते हैं। परिणाम स्वरूप उनकी आश्रित जनों के प्रति आदर बुद्धि प्रायः बदलती रहती है।

इन्द्र का आशीर्वाद और देवताओं की शुभ-कामना प्राप्त करके कामदेव भगवान् शंकर के तपोवन में पहुँचा। वृक्षों और लताओं पर नई पत्तियाँ तथा फूल आ गए, मलयानिल धीरे-धीरे बहने लगा, सारा वन सुगन्ध से भर गया। वातावरण में मादकता छा गई। भ्रमरों का गुंजन तथा पक्षियों का कलरव प्रारम्भ हो गया। हरिण और हरिणी, भ्रमर और भ्रमरी, हाथी और हथिनी, सभी प्रेम-क्रीड़ाएँ करने लगे। शिव के गणाधिपति नन्दी को यह वातावरण देखकर क्रोध आ गया। उसने तर्जनी उँगली उठाई और इस विक्षेप को दूर करने का संकेत किया। इशारा पाते ही वृक्ष निष्कम्प हो गए, भ्रमर मौन हो गए, पक्षी चुप हो गए और हरिणों की उछल-कूद बन्द हो गई। वास्तव में देखा जाए तो हमारा हृदय ही तपोवन है। काम या वासना के कारण उसमें हलचल या विक्षेप उत्पन्न होता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष सावधान हो जाता है और हलचल रुक जाती है। कवि ने साधना की इस अवस्था को काव्य के रूप में चित्रित किया है।

उधर पार्वती ने भी बड़ी होने पर अपने मन में शिव से विवाह करने का संकल्प किया। वह भी तपोवन में पहुँची और शिव की सेवा-भक्ति में दिन बिताने लगी। वह प्रतिदिन फूल तोड़कर लाती और शिव को पूजा के लिए अर्पित कर देती। उनकी वेदी का सम्मार्जन करती, सन्ध्यावन्दन आदि दैनिक कृत्यों के लिए जल तथा कुशा आदि लाकर रख देती और चली जाती। शिव की ओर से उसे न अभिनन्दन मिलता था और न सान्त्वना के शब्द। फिर भी उनके ललाट पर जो चन्द्र था उसकी किरणों से पार्वती का श्रम दूर हो जाता था। अर्थात् वह उनके दर्शन-मात्र से प्रसन्न हो जाती थी।

उधर कामदेव महादेव के पास पहुँचने का अवसर ढूँढ़ने लगा और उनके गुहा-द्वार पर चक्कर काटने लगा। एक दिन पार्वती अपनी दैनिक उपासना के लिए आई। उसी समय शिव ने अपनी समाधि खोली और द्वारपाल नन्दी ने अन्दर आकर पार्वती के आने की सूचना दी। अनुमति पाकर पार्वती अन्दर आई और पूजा के पुष्प भगवान् के चरणों में बिखेर दिए। उधर कामदेव भी अवसर देखकर अन्दर घुस गया। पार्वती नतमस्तक होकर खड़ी थी। शिव की दृष्टि उसके सुन्दर मुख पर घूम रही थी। उधर कामदेव ने अपने धनुष पर 'सम्मोहन' नाम का बाण चढ़ाया और प्रहार करने के लिए तैयार हो गया। किन्तु शिव सँभल गए। वे विचार करने लगे यह विकार क्यों आया ? इधर-

उधर दृष्टि दौड़ाई तो कामदेव को धनुष पर बाण चढ़ाए हुए देखा। शंकर को क्रोध आ गया। उनके तृतीय नेत्र से अग्नि-ज्वाल प्रकट हुई और उसने कामदेव को भस्म कर दिया :

क्रोधं प्रभो संहरसंहरेति,
यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा,
भस्मावशेषं मदनं चकार।

आकाश में देवता चिल्लाने लगे—'भगवान्! क्रोध को समेटिए, समेटिए, किन्तु इतने में भगवान् शंकर के नेत्र से अग्नि प्रकट हुई और उसने कामदेव को भस्म कर दिया।'

प्रस्तुत चित्रण को यदि एक रूपक माना जाए तो बड़े सुन्दर रूप से एक साधक की अन्तर्दशा को प्रकट करता है। एक सरल-हृदय सुन्दरी भक्ति से प्रेरित होकर उसके सामने आती है। उसे देखकर साधक के हृदय में मन्द-मन्द हलचल होने लगती है और उसका ध्यान सुन्दरी के मुख की ओर आकृष्ट हो जाता है। वह क्षण अत्यन्त नाजुक होता है। जो साधक वस्तुस्थिति को पहचान कर सँभल जाता है वह वासना के उभरते हुए अंकुरों को वहीं दबा देता है। दूसरी ओर जो उन्हें प्रश्रय देता है वासना के प्रवाह में बहने लगता है। शनैः-शनैः प्रबल वेग में फँस जाता है और निकलना असम्भव हो जाता है। इसी अवस्था का नाम 'सम्मोहन' है जो कामदेव का तीक्ष्ण बाण है। हृदय और बुद्धि के इस द्वन्द्व को कवि ने अत्यन्त सुन्दर रूपक के द्वारा उपस्थित किया है।

तृतीय अर्थात् ज्ञान नेत्र से निकली हुई ज्वाला ने कामदेव को भस्म कर दिया। उसकी सहचरी रति करुण विलाप करने लगी। काम वासना का देवता है और रति प्रेम की देवी है। हम एक से बचना चाहते हैं और दूसरे का स्वागत करते हैं। किन्तु कवि की दृष्टि में रति काम की सहचरी है। उसके बिना वह साकार नहीं होती। उसके विलाप को सुनकर महादेव का हृदय पसीज गया। उन्होंने वरदान दिया कि काम पुनः जीवन प्राप्त करेगा और समस्त जगत् पर राज्य करेगा। किन्तु अनंग के रूप में, शरीरधारी के रूप में नहीं। काम या वासना जहाँ तक शारीरिक है वहीं तक हेय है। शरीर से ऊपर उठने पर वह आध्यात्मिक गुण बन जाता है। वह हृदय की एक विभूति है। दार्शनिक कर्मयोगी तथा भक्त सभी उससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

महादेव ने कामदेव को भस्म कर दिया। साथ ही विभु से बचने के लिए वे उस स्थान को छोड़कर चल दिए। पार्वती की मनःकामना अधूरी रह गई, वह अत्यन्त खिन्न हो उठी। जिस देवता के लिए वह मन ही मन सब कुछ अर्पित कर चुकी थी और दिन-

रात जिसकी उपासना में लगी हुई थी उसका इस प्रकार चले जाना पार्वती के लिए असह्य हो उठा।

किन्तु वह हार मानने वाली न थी। जिस देवता को वह सेवा द्वारा नहीं जीत सकी उसे तपस्या द्वारा जीतने की प्रतिज्ञा की। माता-पिता तथा सखियों के मना करने पर भी वह उग्र तपस्या करने लगी। ग्रीष्म काल में चारों ओर आग सुलगाकर बीच में बैठ जाती और दृष्टि मध्याह्न के सूर्य पर जमा लेती और शीतकाल में पानी में खड़ी-खड़ी रात बिता देती। कहा जाता है कि कुछ दिन पत्ते खाकर निर्वाह भी किया। फिर वे भी छोड़ दिए, जिससे उसका नाम अपर्णा पड़ गया। शरीर अस्थिपंजर रह गया। माँ ने यह देखकर भीगी आँखों से मना किया और कहा (उमा) बेटी, ऐसा मत कर। इससे उसका नाम उमा पड़ गया। फिर भी उसके मुख पर दृढता थी। वह अपने निश्चय से विचलित नहीं हुई।

उसकी तपस्या के वशीभूत होकर महादेव को अपनी तपस्या त्यागनी पड़ी। वे एक सुन्दर ब्रह्मचारी के रूप में पार्वती की परीक्षा लेने आए और महादेव के बीभत्स रूप का वर्णन करने लगे। पार्वती से कहने लगे :

> वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता
> दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
> वरेषु यद् वालमृगाक्षि मृग्यते
> तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥

उनकी तीन आँखें हैं इससे जाना जा सकता है कि वे कितने सुन्दर हैं? जन्म अर्थात् खानदान का पता ही नहीं है। दिगम्बर रहते हैं इससे उनकी सम्पत्ति का पता चलता है। हे मृगलोचने! वर में जो बातें ढूँढ़ी जाती हैं क्या उनमें से एक भी महादेव में है? कहाँ तुम्हारे रेशमी वस्त्र और कहाँ गज-चर्म, जिसमें से खून टपक रहा है। कहाँ तुम्हारे कुंकुम और केसर से सुशोभित सुन्दर अंग और कहाँ चिता की भस्म, यह कैसा मेल है?

ब्रह्मचारी को उत्तर देते हुए पार्वती ने कहा—'तुम महादेव को नहीं पहचानते इसीलिए ऐसा कह रहे हो। महापुरुषों का चरित्र सर्वसाधारण से भिन्न प्रकार का होता है। उसके मूल में क्या रहस्य है यह जानना अत्यन्त कठिन है। अज्ञानी अपनी नासमझी के कारण उसकी निन्दा करते रहते हैं। मंगलाचार वह करता है जो विपत्ति से छुटकारा पाना चाहता है अथवा सम्पत्तियाँ प्राप्त करना चाहता है। वे समस्त जगत् की शरण हैं, उनके मन में किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। कामनाओं से अभिभूत व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले इन अनुष्ठानों का उनके लिए कोई अर्थ नहीं है। वे अकिंचन होने पर भी समस्त सम्पत्तियों के प्रदाता है। श्मशान में रहने से भी वे अखिल विश्व के स्वामी हैं।

भयंकर रूप वाले होने पर भी शिव कहे जाते हैं। उस पिनाकी के यथार्थ रूप को कौन जानता है ? उनका शरीर आभूषणों से सजा हुआ हो या साँप लटक रहे हों। गजचर्म पहन रखा हो या दुकूल, कपाल अर्थात् खप्परधारी हों या इन्दुशेखर, वे तो विश्वमूर्ति हैं। उनके रूप का अवधारण नहीं किया जा सकता। उनके शरीर का स्पर्श प्राप्त करके चिताभस्म भी मंगलमय वन जाती है। यही कारण है कि नृत्य करते समय जो भस्म उनके शरीर से गिर जाती है देवता उसे मस्तक पर लगाते हैं। पार्वती ने विवाद का अन्त करते हुए कहा—मैं विवाद में नहीं पड़ना चाहती, तुम जैसा कहते हो तुम्हारे लिए वे वैसे ही होंगे। मेरा मन उनके प्रेम में डूबा हुआ है और प्रेमी निन्दा की परवाह नहीं करते। पार्वती अपने उपास्य के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं सुनना चाहती थी। उसने अपनी सखी से कहा—'सखी ! इस वटुक को चुप कराओ। इसके होंठ हिल रहे हैं। पता नहीं यह क्या कहना चाह रहा है। जो व्यक्ति महापुरुषों की निन्दा करता है वही नहीं बल्कि जो महापुरुषों की निन्दा सुनता है उसे भी पाप लगता है।'

सखी को यह कहकर पार्वती ने वहाँ से चले जाने का निश्चय किया और ज्योंही पैर उठाया शिव अपने असली रूप में प्रकट हो गए। उन्हें देखकर पार्वती स्तब्ध रह गई। उसके मन में अनुराग, लज्जा, संकोच, उत्सुकता आदि सात्त्विक भाव उठने लगे। कवि उसके अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन करते हुए लिखता है :

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

उन्हें देखकर पार्वती सिहर गई। शरीर से पसीना छूटने लगा, उठाया हुआ पैर उठा ही रह गया। जिस प्रकार वहती हुई नदी मार्ग में चट्टान आ जाने पर व्याकुल हो जाती है उसी प्रकार पार्वती भी व्याकुल हो गई। वह न जा रही थीं और न खड़ी थीं। जिस प्रकार नदी का पानी चक्कर काटने लगता है, न वह आगे बढ़ता है न स्थिर होता है, इसी प्रकार पार्वती के मन में उथल-पुथल मची हुई थी।

महादेव ने नतमस्तक होकर कहा—'हे अवनतांगि ! आज से मैं तेरा दास हो गया। तूने अपनी तपस्या से मुझे जीत लिया।'

पार्वती की सारी थकावट दूर हो गई। कवि कहता है—'किसी कार्य के लिए उठाया गया कष्ट सफलता मिलने पर पुनः ताजगी ले आता है।'

क्रमशः शिव और पार्वती, ज्ञान और शक्ति, तपस्वी और तपस्विनी का विवाह हुआ और दोनों ने मिलकर देवताओं के उद्धारक वीर सेनापति को जन्म दिया।

शेषशायी भगवान् विष्णु

'रघुवंश' के दसवें सर्ग में शेषशायी भगवान् विष्णु का वर्णन है। रावण तथा अन्य असुरों के अत्याचार से पीड़ित देवता भगवान् विष्णु की शरण में गए। वे क्षीरसागर में शेषनाग पर सो रहे थे। उनके चरण लक्ष्मी की गोद में थे। सिर पर शेषनाग के फण छाए हुए थे और वह उनकी मणियों से प्रकाशित हो रहा था। उनकी आँखें खिले हुए कमल के समान प्रसन्न थीं। हल्की धूप के समान स्वच्छ वस्त्र पहने हुए थे। शरद् ऋतु के दिवस के समान उनका दर्शन प्रारम्भ करने वालों के लिए सुखदायी था। उनके विशाल वक्षः-स्थल पर समुद्रों का सार कौस्तुभमणि चमक रही थी। उसमें लक्ष्मी के विलास प्रति-बिम्बित हो रहे थे और श्रीवत्स नाम का शुभ-चिह्न प्रभामण्डित हो रहा था। उनकी आभूषणों से मण्डित भुजाएँ फैली हुई थीं। ऐसा प्रतीत होता था जैसे समुद्र में से नया पारिजात प्रकट हुआ हो। सचेतन शस्त्रास्त्र उनका जयनाद कर रहे थे जिनके श्रवणमात्र से दैत्यों की स्त्रियाँ अपने हावभाव तथा श्रृंगार भूल गई थीं। गरुड़ हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा था। उसने शेषनाग के साथ अपनी शत्रुता छोड़ दी थी। भृगु आदि ऋषि सुख-शयन पूछने पर कृपा की वृष्टि कर रहे थे।

भगवान् विष्णु सम्पत्ति के देवता माने जाते हैं। उन पर विश्व की रक्षा का गम्भीर उत्तरदायित्व है। जन्म और संहार के देवता अपना कार्य आवेश में आकर करते हैं। उनमें शक्ति की आवश्यकता होने पर भी मनोवृत्तियों में संतुलन की उतनी आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत रक्षा के देवता को प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुलन रखना पड़ता है। शेषनाग संकटों एवं प्रतिकूलताओं का प्रतीक है, जो क्षीरसागर से उत्पन्न होते हैं अर्थात् वे मधुर विश्व का अवश्यम्भावी फल हैं। जो व्यक्ति उन संकटों पर सुख की नींद ले सकता है लक्ष्मी उसके चरण चूमती हैं। शेषनाग के फण विपत्तियों के प्रतीक हैं जो सिर पर छाए हुए हैं। किन्तु वे उन्हीं से प्रकाश प्राप्त करते हैं। इस परि-स्थिति में भी उनके नेत्र खिले हुए कमल के प्रकार प्रसन्न हैं उनमें किसी प्रकार की भी घबराहट या उद्विग्नता नहीं है। उनके चारों ओर ऐसा प्रकाश है जिससे कोई वस्तु छिपी नहीं रहती। साथ ही वह इतना उग्र नहीं है कि किसी को कष्टदायी हो या आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करे।

समुद्र का शब्दार्थ है मुद्राओं अर्थात् धन-सम्पत्ति वाला। इसका दूसरा नाम रत्ना-कर भी उसी अर्थ को प्रकट करता है। यह मान्यता प्राचीन काल से चली आ रही है कि समुद्र लक्ष्मी का निवासस्थान है। देवों और असुरों ने इसी को मथकर चौदह रत्न प्राप्त किए। कौस्तुभमणि रत्नों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। कवि का कथन है कि वह समुद्रों का सार है। भगवान् ने उसे अपने विशाल वक्षःस्थल पर धारण कर रखा है। लक्ष्मी के

हावभाव और विलास उसमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। अर्थात् वह लक्ष्मी की विलासभूमि है। भगवान् के शरीर पर श्रीवत्स का चिह्न है जो भाग्य का सूचक है, कौस्तुभमणि उसे प्रभासित कर रहा है। एक ओर उनके मुख पर प्रसन्नता है और छाती पर वैभव का प्रतीक कौस्तुभमणि, दूसरी ओर सचेतन शस्त्रास्त्र चमक रहे हैं और उनका जयनाद कर रहे हैं। उन्हें देखकर शत्रु काँप उठते हैं। विश्व के रक्षक में माधुर्य और ओज, शान्ति और तेज, मृदुता और कठोरता दोनों का होना आवश्यक है। गरुड़ बल और वेग का प्रतीक है। उसका सर्प अर्थात् आलस्य या तमोगुण के साथ विरोध है, किन्तु भगवान् के पास आकर वह उस विरोध को भूल गया है और हाथ जोड़े खड़ा है। एक ओर उनके चरण लक्ष्मी की गोद में रखे हुए हैं, दूसरी ओर वे सुखपृच्छा के लिए आए हुए भृगु आदि ऋषियों पर कृपा-वृष्टि कर रहे हैं। उस महायोगी में त्याग और भोग, मोक्ष और संसार का सुन्दर समन्वय है।
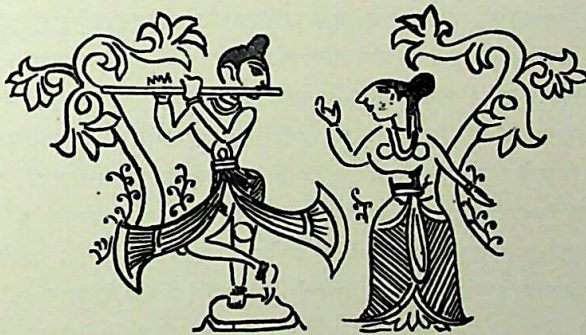
द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की साहित्यिक देन

डॉ० अजय मित्र शास्त्री

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का सुवर्णयुग माना जाता है। इस काल में भारतीय कर्तृत्व के सभी क्षेत्रों में असाधारण उन्नति हुई। साहित्य के सभी प्रकारों के बहुविध विकास के लिए यह काल विशेषत: उल्लेखनीय है। कविकुलगुरु कालिदास एवं आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर के सदृश सुप्रसिद्ध ज्योतिषशास्त्रवेत्ता इसी काल में हुए। इस काल में साहित्य की जो अपूर्व एवं सर्वांगीण उन्नति हुई उसका एक प्रमुख कारण गुप्त-सम्राटों का उदार आश्रय एवं उनकी अपनी साहित्यिक रुचि था। वे केवल कवियों एवं लेखकों को राजाश्रय देकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु कुछ गुप्त-सम्राटों ने स्वत: उच्चकोटि के वाङ्मय का सृजन भी किया।

हरिषेण की 'प्रयाग-प्रशस्ति' में महाराजाधिराज समुद्रगुप्त के सामरिक एवं साहित्यिक कृतित्व का अतिशय मुखरशब्दों में उल्लेख मिलता है। समुद्रगुप्त ने उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक राजाओं को युद्धक्षेत्र में परास्त कर भारत के एक बड़े भूभाग पर एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना की। इतने विशाल साम्राज्य की शासन-व्यवस्था का समुचित संचालन एक कठिन कार्य था, विशेषत: उन दिनों जब कि यातायात के तीव्रगामी साधन उपलब्ध न होने से प्रादेशिक शासकों के विद्रोह की सम्भावना सदा बनी रहती थी। किन्तु समुद्रगुप्त ने इतने विशाल साम्राज्य का शासन करते हुए भी काव्य-रचना के लिए समय निकाला। उपर्युक्त 'प्रयाग प्रशस्ति' के तीसरे श्लोक में कहा गया है कि उसके मन को बौद्धिक कार्यों में आनन्द प्राप्त होता था, शास्त्रों के तत्त्वार्थ में वह निष्णात था[1]। विद्वानों की गुणसमूहरूपी आज्ञा से उसने सत्काव्य और श्री के पारस्परिक विरोध का अन्त किया तथा स्फुट एवं प्रचुर काव्य-रचना कर उसने विद्वत्समाज में अनश्वर कीर्ति प्राप्त की थी[2]।

---

१. यस्य प्रज्ञानुषङ्गोचित सुखमनसः शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः।

२. सत्काव्य श्रीविरोधान् बुधगुणितगुणा ज्ञाहतानेव कृत्वा।
विद्वल्लोकेऽविनाशि स्फुटबहुकविता कीर्त्ति राज्यं भुनक्ति ॥

इस सन्दर्भ में विक्रमोर्वशीय अंक ५, श्लोक २४ का स्मरण हो आता है। इस भरतवाक्य में सज्जनों की समृद्धि के लिए श्री और सरस्वती के मध्य सहयोग की कामना की गई है। इन दोनों श्लोकों का मूलभूत विचार एक ही था।

आठवें श्लोक के अनुसार उसके द्वारा लिखे गए सुभाषित अनुशीलन के योग्य थे, उसका काव्य कवियों के बुद्धि-वैभव को भी मात करता था तथा गुणपारखी विद्वानों का वही एक ध्यानपात्र था[3]। सत्ताइसवीं पंक्ति में कहा गया है कि समुद्रगुप्त ने अपनी तीक्ष्ण विदग्ध बुद्धि से बृहस्पति को भी लज्जित कर दिया था तथा विद्वज्जनों के उपजीव्य अनेक काव्य लिखकर 'कविराज' की उपाधि प्राप्त की थी। अन्त में हरिषेण-जैसा उत्कृष्ट कवि भी यह कहने के लिए बाध्य हुआ कि उसकी बुद्धि समुद्रगुप्त की संगति से ही उन्मीलित हुई।

उपर्युक्त वर्णन निस्संशय अतिशयोक्तिपूर्ण है। किन्तु समुद्रगुप्त एक महान् कवि था इसमें संशय के लिए अवकाश नहीं है। दुर्भाग्यवश समुद्रगुप्त द्वारा निश्चित रूप से लिखा हुआ एक भी काव्य आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है[4]। यह सम्भव है कि उसकी स्वर्ण-मुद्राओं पर उपलब्ध छन्दोवद्ध लेखों में से कुछ की रचना स्वयं समुद्रगुप्त ने ही की हो।

कुछ साहित्यिक परम्पराओं से प्रतीत होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को भी अपने पिता की भाँति साहित्यिक गतिविधियों में प्रगाढ रुचि थी। राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा' से विदित होता है कि उज्जयिनी के साहसांक नामक राजा ने आदेश दिया था कि उसके अन्तःपुर में केवल संस्कृत भाषा का ही व्यवहार होना चाहिए[5]। विद्वान् सम्राट् भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भी साहसांक के राजत्वकाल में संस्कृत भाषा की लोकप्रियता का उल्लेख प्राप्त होता है[6]। आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार साहसांक द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही अन्यतम नाम था। राजशेखर ने लिखा है कि प्राचीन

---

३. अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यम्।
कोनु स्याद्योऽस्य न स्याद् गुणमतिविदुषां ध्यानयस्तं स एकः॥

फ्लीट ने 'सूक्त' शब्द का अर्थ 'वैदिक मन्त्र' माना है (गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० १२), किन्तु वह अशुद्ध है। इसका प्रसंगोचित अर्थ 'सुभाषित' ही है।

४. कुछ वर्ष पूर्व राजवैद्य जीवाराम कालिदास शास्त्री ने 'कृष्णचरित' नामक काव्य के दो पत्र स्वरचित टीका के साथ प्रकाशित किए थे (रसशाला औषधाश्रम, गोंडल, काठियावाड़, १९४१)। इसकी पुष्पिका में लेखक का उल्लेख विक्रमाङ्क महाराजाधिराज परमभागवत समुद्रगुप्त इन शब्दों में किया गया है। प्रकाशित भाग में कतिपय मुनिकवियों एवं राजकवियों का वर्णन किया गया है तथा द्वितीय पत्र की पुष्पिका के पश्चात् 'अथ जीविका कवयः' यह शीर्षक दिया गया है। अर्थात् आगे कुछ अन्य कवियों के वर्णन का अभिप्राय था। राजकवियों की सूची में सुबन्धु (बिन्दुसार का समसामयिक), शूद्रक, कालिदास, घोष (अश्वघोष), मातृगुप्त और हरिषेण के नाम भी आए हैं। प्रकाशित अंश का पारायण करने पर यह काव्य अत्यन्त निम्न कोटि का प्रतीत होता है। प्रयाग प्रशस्ति में कवि के रूप में समुद्रगुप्त का जो स्तवन किया गया है उसे देखते हुए यह आधुनिक युग की जालसाजी प्रतीत होती है।

५. काव्यमीमांसा (गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, क्रमांक १), तृतीय आवृत्ति, पृ० ५०।

६. काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृत भाषिणः। सरस्वतीकण्ठाभरण, १५

काल में उज्जयिनी में काव्यकार-परीक्षा का आयोजन हुआ करता था। इस काव्यकार-परीक्षा में जिन उत्कृष्ट कवियों ने भाग लिया था उनकी सूची में चन्द्रगुप्त का भी उल्लेख मिलता है[७]। अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित एक प्राचीन प्रसिद्ध परम्परा के अनुसार सम्राट् विक्रमादित्य ने कविकुल-शिरोमणि कालिदास को दूत के रूप में कुन्तलेश्वर के पास भेजा था। कालिदास के वहाँ से लौटने पर उसके और विक्रमादित्य के बीच जो सम्वाद हुआ उसका उल्लेख भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में मिलता है[८]। उससे यह स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की काव्य-वाङ्मय में केवल निष्क्रिय रुचिमात्र न थी, अपितु वह स्वयं भी काव्यरचना में प्रवीण था। क्योंकि साधारणतः इस कथा के विक्रमादित्य एवं गुप्त-सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त को विद्वान् एक ही मानते हैं।

किन्तु उपर्युक्त कथन स्पष्ट एवं निश्चित नहीं हैं, और उनकी ऐतिहासिकता भी सन्देहातीत नहीं कही जा सकती। गुप्त-सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त स्वयं कवि था यह सिद्ध करने वाला एक भी सबल प्रमाण अभी तक ज्ञात नहीं था। किन्तु सौभाग्यवश उद्योतसूरि के 'कुवलयमाला' (शक ७०० = ई० स० ७७८) नामक प्राकृत ग्रन्थ में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मुझे दृष्टिगोचर हुआ। इस उल्लेख के अवलोकन से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एक उत्कृष्ट कवि था, इसमें संशय के लिए अवकाश नहीं रह जाता। इस श्लोक में कहा गया है कि गुप्तवंश का राजर्षि देवगुप्त अपने 'त्रिपुरुषचरित' एवं 'सुपुरुषचरित' काव्यों की रचना के लिए विख्यात था :

> **तिपुरिसचरिय** पसिद्धो **सुपुरिसचरिएण** पायडो लोए।
> सो जयइ **देवगुत्तो वंसे** गुत्ताण रायरिसी ॥[९]

अब हमें यह देखना है कि इस श्लोक में उल्लिखित देवगुप्त कौन था। उद्योतन सूरि के पूर्ववर्ती देवगुप्त नामक केवल तीन राजाओं का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में मिलता है। देवगुप्त नामधारी एक राजा की चर्चा सम्राट् हर्षवर्धन के मधुवन[१०] एवम्

---

७. काव्यमीमांसा, पृ० ५५

८. विक्रमादित्य में कालिदास को कुन्तलेश्वर के पास दूत के रूप में भेजा था, इस बात का उल्लेख राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' और भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' में भी प्राप्त होता है। द्रष्टव्य—हेम-चन्द्रराय चौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शेंट इंडिया, षष्ठ संस्करण, पृ० ५६४, टि, र., वा. वि. मिराशी, स्टडीज इन इंडॉलॉजी, भाग १, पृ० ३-११।

९. कुवलयमाला (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, क. ४५, बम्बई १९५९), पृ० ३, पंक्ति २८। इसी काव्य में अन्यत्र एक और देवगुप्त का महाकवि के रूप में उल्लेख मिलता है। द्रष्टव्य—पूर्वोक्त, पृ० २८२, पंक्ति ८। ये दोनों देवगुप्त अभिन्न थे या भिन्न, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु मेरी धारणा है कि ये दोनों भिन्न थे।

१०. एपिग्राफिया इंडिका; भाग १, पृ० ६७-७५

वांसखेड़ा[11] ताम्रपट्टों में मिलती है। यह देवगुप्त राज्यवर्धन द्वारा पराभूत उन राजाओं में से एक था जिनकी तुलना दुष्ट घोड़ों से की गई है[12]। मौखरि राजा ग्रहवर्मा की हत्या करने वाले एवम् तदनन्तर राज्यवर्धन द्वारा पराभूत जिस मालवराज का उल्लेख वाण के 'हर्षचरित' में मिलता है वह प्रस्तुत देवगुप्त से अभिन्न प्रतीत होता है। यह देवगुप्त 'कुवलयमाला' में उल्लिखित देवगुप्त से भिन्न होना चाहिए। उपर्युक्त पद्य में कविवर देवगुप्त के लिए प्रयुक्त आदरव्यंजक शब्द दुष्ट अश्व के सदृश देवगुप्त के लिए उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। इसके अतिरिक्त इस देवगुप्त के वंश के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती जबकि कविवर देवगुप्त को गुप्तवंश का कहा गया है। देवगुप्त नाम का एक अन्य राजा परवर्ती गुप्त राजा आदित्यसेन का पुत्र था और उसका काल ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसका उल्लेख देववरनार्क नामक ग्राम से प्राप्त एक उत्कीर्णलेख में मिलता है[13]। यद्यपि परवर्ती गुप्त राजाओं में से अधिकांश के नाम गुप्तान्त थे तथापि इसका कोई प्रमाण नहीं है कि वे गुप्त-सम्राटों से किसी प्रकार सम्बद्ध थे। इसके अतिरिक्त इस वंश के सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राट् आदित्यसेन के नाम के साथ गुप्त शब्द का प्रयोग नहीं मिलता जिससे प्रतीत होता है कि इन राजाओं का कुलनाम गुप्त नहीं था। कहने का अभिप्राय यह कि इन दोनों में से किसी की भी पहचान उद्योतनसूरि के उपर्युक्त श्लोक में वर्णित देवगुप्त से नहीं की जा सकती।

किन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास में देवगुप्त नामधारी एक अन्य राजा हो गया है जिस पर उपर्युक्त श्लोक में उपलब्ध वर्णन पूर्णतः घटित होता है। प्रभावती गुप्ता के पूना से प्राप्त ताम्रपट्ट-लेख से विदित होता है कि वह गुप्त-सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री थी एवम् उसका विवाह वाकाटक महाराज द्वितीय रुद्रषेण से हुआ था[14]। वाकाटक महाराज द्वितीय प्रवरसेन के चम्मक[15], सिवनी[16] और दूदिया[17] ताम्रपट्ट-लेखों में इसी प्रभावती गुप्ता को देवगुप्त की पुत्री कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि देवगुप्त भी द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक विख्यात नाम था। उसके राज्य के एक उच्च-अधिकारी के

---

११. वहीं, भाग ४, पृ० २०८-११।

१२. राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्री देवगुप्तादयः।
कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखाः सर्वे समं पातिताः॥

१३. फ्लीट, गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० २१३-१८।

१४. वा, वि. मिराशी, वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख (हिन्दी रूपान्तरकार-अजय मित्र शास्त्री, वाराणसी १९६४), पृ० १३८, पंक्ति ७-१०।

१५. वहीं, पृ० १५८, पं० १५-१६।

१६. वहीं, पृ० १६५, पं० १५-१६।

१७. वहीं, पृ० १८२, पं० ११-१२।

सांचीस्थित एक लेख में स्पष्ट कहा गया है कि देवराज द्वितीय चन्द्रगुप्त का प्रियनाम था[१८]। उसके धनुर्धर, सिंहनिहन्ता एवम् पर्यङ्क प्रकार की मुद्राओं के लेखों में राजा के वर्णन में 'देवश्री' शब्द का व्यवहार किया गया है[१९] जिससे प्रतीत होता है कि यह नाम उसे अतिशय प्रिय था। विक्रमादित्य के सम्बन्ध में प्रचलित असंख्य लोक-कथाओं से स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त उत्तरवर्ती काल में अत्यन्त प्रसिद्ध था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, विक्रमादित्य एवम् द्वितीय चन्द्रगुप्त साधारणतः अभिन्न माने जाते हैं। विक्रमादित्य और द्वितीय चन्द्रगुप्त के अभेद के विषय में हमारे कुछ भी विचार क्यों न हों, इसमें सन्देह नहीं कि कुवलयमाला के उपर्युक्त श्लोक में वर्णित देवगुप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त से अभिन्न है।

कुवलयमाला में देवगुप्त का उल्लेख हाल, पालित्तय, छप्पणय, गुणाढ्य एवं बाण के सदृश महान् कवियों के साथ आया है जिससे यह निर्विवाद रूप में प्रमाणित हो जाता है कि देवगुप्त-चन्द्रगुप्त अपने पिता समुद्रगुप्त की भाँति एक उत्कृष्ट कवि था। दुर्दैववश उसके 'त्रिपुरुषचरित' एवं 'सुपुरुष चरित' ग्रन्थों के विषय में उनके नाम को छोड़कर अन्य कोई जानकारी अब तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। यह ग्रन्थ संस्कृत में था या प्राकृत में, इस विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुवलयमाला के प्रस्तुत सन्दर्भ में संस्कृत एवं प्राकृत इन दोनों भाषाओं के कवियों की एकत्र चर्चा है। अतः देवगुप्त-चन्द्रगुप्त के ग्रन्थों का दोनों में से किसी भी भाषा में होना सम्भव है। किन्तु गुप्तकाल संस्कृत साहित्य की असाधारण उन्नति का युग था। गुप्त-सम्राटों के समस्त उत्कीर्ण लेख संस्कृत भाषा में ही हैं। उनके मुद्रालेख भी संस्कृत में हैं और उनमें से कुछ तो अलंकृत काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। राजशेखर-प्रणीत 'काव्यमीमांसा' एवं भोजरचित 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में साहसांक के सम्बन्ध में उल्लिखित परम्पराओं से दृष्टिगत होता है कि परवर्ती-काल में द्वितीय चन्द्रगुप्त का स्मरण संस्कृत भाषा एवं वाङ्मय के महान् आश्रयदाता के रूप में किया जाता था। इससे अनुमान होता है कि उसके नाम से सम्बद्ध ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गए होंगे। इन ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय क्या था यह भी विदित नहीं है। किन्तु उनके नाम से मन में सहज ही यह कल्पना आती है कि वे कथापरक ग्रन्थ रहे होंगे।

इस सन्दर्भ में द्वितीय चन्द्रगुप्त के पर्यङ्क प्रकार की कुछ मुद्राओं पर प्राप्त लेख 'रूपाकृती' का उल्लेख करना अनुचित न होगा।[२०] इस लेख का अर्थ सन्तोषजनक रूप से अभी तक नहीं निकाला जा सका है। द्वितीय चन्द्रगुप्त के कवित्व के सम्बन्ध में ऊपर दी हुई जानकारी को ध्यान में रखते हुए स्वर्गीय डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का अनुमान

१८. फ्लीट, वहीं, पृ० ३८, पं० ७-८।

१९. गुप्तकालीन मुद्राएँ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५४), पृ० ६३३, ७२३,९३३।

२०. वहीं, फलक ६, चि० १।

कि 'पा' में 'आ' की मात्रा सम्भवतः ठप्पे के दोष के कारण आ गई है[21] समीचीन प्रतीत होता है और 'रूपकृती' का अर्थ रूप (अर्थात् नाटक) कार लिया जा सकता है। यदि यह सुझाव स्वीकार कर लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि चन्द्रगुप्त उत्कृष्ट नाटककार भी था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गुप्त-सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त साहित्य एवं कला का उदार आश्रयदाता ही नहीं अपितु स्वयं एक महान् कवि एवं नाटककार भी था। यह सम्भव है कि भविष्य में उसकी कृतियाँ प्रकाश में आएँ।

२१. वहीं, पृ० ६३-६४।

पद्म-पुराण का महत्त्व और उसमें चित्रित भारतीय संस्कृति

डॉ० हरिशंकर उपाध्याय

अष्टादश पुराणों में 'पद्म-पुराण' एक विशिष्ट स्थान रखता है। यदि हम इस पुराण का सम्यक् अध्ययन करें तो इसकी विभिन्नता विशेषताओं की ओर हमारी दृष्टि स्वतः आकृष्ट होती है। आकार तथा वर्ण्य-विषय के विचार से 'पद्म-पुराण' पौराणिक साहित्य में अद्वितीय है। वैष्णव धर्म का प्रतिपादन करनेवाला तथा समाज में इसकी सम्यक् प्रतिष्ठा करने वाला इससे वढ़कर कोई दूसरा पुराण नहीं है। साधारण जनता तक वैष्णव धर्म को पहुँचाने तथा प्रचार करने का श्रेय इसी पुराण को प्राप्त है।

(१) 'स्कन्द-पुराण' के एकमात्र अपवाद को छोड़कर पुराणों की श्लोक-संख्या की दृष्टि से 'पद्म-पुराण' सबसे बड़ा पुराण है। यदि समस्त अष्टादश पुराणों की श्लोक-संख्या का एकत्रित योग किया जाए—'पद्म-पुराण' की श्लोक संख्या—जो ५५,००० के लगभग वतलाई जाती है—सभी पुराणों की श्लोक-संख्या—जा चार लाख (४०००००) है—के अष्टमांश से भी अधिक है। अतः आकार अर्थात् श्लोक-संख्या की दृष्टि से इस पुराण की प्रतिद्वन्द्विता केवल 'स्कन्द पुराण' से ही हो सकती है, अन्य किसी पुराण से नहीं। इस प्रकार 'स्कन्द-पुराण' को छोड़कर पुराणों में सबसे बड़ा होने का गौरव इस पुराण को प्राप्त है।

(२) 'पद्म-पुराण' की दूसरी विशेषता यह है कि यह पूर्णतया वैष्णव पुराण है। इसमें वैष्णव धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। वैष्णवों के लक्षण, उनके आचार-विचार, उनकी दिनचर्या, विष्णु-भक्ति, विष्णु की पूजा की पद्धति, यज्ञ, दान, तीर्थ, श्राद्ध आदि विषयों का इस पुराण में विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए यह पुराण अत्यन्त उपादेय है। यह उनके लिए ज्ञान-कोश के समान है जिसमें वैष्णव-धर्म-सम्बन्धी विभिन्न विषयों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

(३) प्रस्तुत पुराण प्राचीन भारत के परम्परागत इतिहास (ट्रेडीशनल हिस्ट्री) को जानने के लिए अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें सूर्य-वंश, सोम-वंश,

यादव वंश, हैहय वंश, सात्वत वंश, वृष्णि वंश, अन्धक वंश आदि प्राचीन राजवंशों का वर्णन उपलब्ध होता है। इतिहासवेत्ताओं को यह बतलाने की सम्भवतः आवश्यकता नहीं है कि इन राजवंशों ने भारत के प्राचीन इतिहास के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इन प्राचीन राजवंशों के वर्तमान वंशज आज भी अपने को सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। भारत के मध्ययुगीन इतिहास में इन वंशों में उत्पन्न क्षत्रिय राजाओं ने जिस अलौकिक शौर्य और लोकोत्तर पराक्रम का परिचय दिया है वह इतिहास के विद्वानों से छिपा हुआ नहीं है। इस प्रकार प्राचीन भारत के परम्परागत इतिहास को जानने के लिए पद्म-पुराण का महत्त्व बहुत अधिक है।

(४) पद्म-पुराण की एक दूसरी विशेषता इसकी उपजीव्यता है। संस्कृत साहित्य के दो महाकवियों—कालिदास और भवभूति—के लिए, यह पुराण उपजीव्य ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध होता है। महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' और अपनी लोकोत्तर कृति 'शकुन्तला' की कथावस्तु की अधिकांश सामग्री इसी पुराण से ग्रहण की है। इसी प्रकार महाकवि भवभूति भी अपने सर्वश्रेष्ठ नाटक 'उत्तररामचरित' के कथानक के लिए पद्म-पुराण के ऋणी हैं। इस पुराण की सामग्री को ज्यों की त्यों लेकर अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थों की रचना परवर्ती कवियों ने की है। वैष्णव जनता का सुप्रसिद्ध स्तोत्र-ग्रन्थ 'विष्णु सहस्रनाम' इसी पुराण का एक अंश माना जाता है। अतः पद्म-पुराण को उपर्युक्त दो संस्कृत के महाकवियों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ होने के अतिरिक्त अनेक धार्मिक ग्रन्थों के भी उद्गम-स्थल (स्रोत) होने का श्रेय प्राप्त है।

(५) पद्म-पुराण में जन-जीवन का जो सच्चा और प्रामाणिक चित्रण उपलब्ध होता है उसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। प्रस्तुत पुराण के समय में समाज की क्या दशा थी, जनता की आर्थिक स्थिति कैसी थी, राजनीतिक जीवन किस प्रकार का था, और किस विधि से लोग अपने धार्मिक जीवन को व्यतीत करते थे, इन समस्त विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस पुराण में उपलब्ध होता है।

(क) समाज में सुख और समृद्धि

पद्म-पुराण-कालीन समाज में सुख और समृद्धि का अखण्ड राज्य था। प्रजा सुख की नींद सोती थी और चैन की वंशी बजाती थी। पेट-पूजा की समस्या उस समय किसी को नहीं सताती थी और चोर तथा डाकुओं के कारण किसी को कष्ट नहीं था। मेघ समय से वर्षा करते थे, अतिवृष्टि और अनावृष्टि के भय से प्रजा मुक्त थी। खेतों में प्रचुर अन्न पैदा होता था जिससे भोजन के अभाव से कोई भी पीड़ित नहीं था।

पद्म-पुराण के समय में इस देश में दूध और घी की नदियाँ बहती थीं। गायें प्रचुर दूध देती थीं जिसे लोग छककर पीते थे। पेय पदार्थों में दूध, दही, तक्र और घी

की प्रधानता थी। जहाँ गाय का ताजा दूध तत्कालीन जनता को स्वास्थ्य प्रदान करता था, वहाँ घृत के सेवन से उसके शरीर की पुष्टि होती थी। ताजे दूध से बने हुए हैवंगवीन—मक्खन—को यज्ञ, याग के कार्य में प्रयुक्त किया जाता था तथा दूध, दही और चीनी के मिश्रण से बनायी गई स्वादिष्ट शिखरिणी या श्रीखण्ड को लोग बड़े ही शौक से खाते थे।

एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि राजा युधिष्ठिर ८४,००० ब्राह्मणों को प्रतिदिन सोने के पात्रों में भोजन कराते थे। पद्म-पुराण में सप्त-रत्नों में नील, मरकत, गोमेद, मौक्तिक और वज्र आदि का नामोल्लेख पाया जाता है। एक अन्य स्थान पर अनेक बहुमूल्य पत्थरों का विवरण मिलता है जिनमें मोती, वज्र, विद्रुम, नील-मणि, पद्म-राग, वैदूर्य और पुष्प-राग आदि की गणना की गई है। कैलाश पर्वत पर स्थित वापी-तलैय्या की सीढ़ियाँ स्फटिक मणि की बनी हुई थीं जिसमें खिलने वाले कमल सोने के थे। इनकी नाल वैदूर्य (मूंगा) मणि की बनी हुई थी। यह वापी हरित् मणि तथा गोमेद से निर्मित थी जिसमें स्थान-स्थान पर पद्मराग-मणि जड़े हुए थे। पद्म-पुराण का यह वर्णन, कालिदास द्वारा 'मेघदूत' में किए गए, यक्ष-पत्नी के उस वापी के वर्णन का स्मरण दिलाता है जिसकी सीढ़ियाँ मरकत मणि से बनाई गई थीं[1]।

पद्म-पुराण से पता चलता है कि उस समय एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को विक्रीय वस्तुओं के आदान-प्रदान के लिए व्यापारियों के काफ़िले चला करते थे जिन्हें 'सार्थवाह' कहते थे। ये सार्थवाह व्यापार की उन्नति करते हुए देश को समृद्ध बनाने में योगदान दिया करते थे।

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत पुराण के काल में देश धन-धान्य से पूर्णतया समृद्ध था।

(ख) वर्ण तथा आश्रम-धर्म की सुव्यवस्था

तत्कालीन समाज वर्ण और आश्रम के सिद्धान्तों पर आश्रित था। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्तमान थे जो अपने धर्म के अनुसार अपने कर्तव्यों के सम्पादन में संलग्न थे। ब्राह्मण-समाज में अपने ज्ञान का वितरण करता था, क्षत्रिय उसकी रक्षा करने में तत्पर था, वैश्य कृषि-गोरक्षा और व्यापार द्वारा समाज को समृद्ध बनाता था और शूद्र इन तीनों वर्णों की सेवा में निरत था। परन्तु शूद्रों को भी उन्नति करने का पूरा अधिकार था। पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड में तुलाधार शूद्र का वर्णन पाया जाता है

१. वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा।
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्य नालैः॥

मेघदूत—उत्तर मेघ १६

जो अपनी सत्यनिष्ठा, सदाचरण और तप के कारण बहुत बड़ा धर्मात्मा माना जाता था। बड़े-बड़े साधु और महात्मा उससे धर्म के रहस्य को पूछकर अपनी जिज्ञासा-वृत्ति को शान्त किया करते थे। शूद्रों को विवाह में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। सगोत्र और सप्रवरता का वैवाहिक बन्धन उनके ऊपर लागू नहीं होता था।

समाज में अस्पृश्यता केवल जन्मना ही नहीं कर्मणा भी मानी जाती थी। जघन्य कर्मों को करने वाला, उच्च जाति का मनुष्य भी अस्पृश्य समझा जाता था। सोमलता का विक्रयी, गाँव का पुरोहित भी इसी कोटि में आता था। गन्दे, नीच और अपवित्र कर्मों को करने वाले व्यक्ति अस्पृश्य समझे जाते थे। अतः उस काल में जन्म के अतिरिक्त गुण और कर्मों के द्वारा भी स्पृश्यास्पृश्य का निर्णय किया जाता था।

आश्रम-व्यवस्था तत्कालीन समाज की धुरी थी, उसकी आधारशिला थी। समाज चार आश्रमों में विभक्त था। ब्रह्मचर्याश्रम में पचीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, ब्रह्मचारी विद्या का अध्ययन करता था और विद्या की समाप्ति पर अपने ज्ञान का दान समाज को देता था। गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में प्रधान था। अन्य तीन आश्रमों की स्थिति इसी पर मानी जाती थी। यह आश्रम अन्य आश्रमों का उपजीव्य था। ब्रह्मचारी का विद्याध्ययन और संन्यासी की तपश्चर्या इसी आश्रम पर आश्रित थी। पद्म-पुराण में गृहस्थ के धर्मों अथवा कर्तव्यों का जो वर्णन किया गया है उससे पता चलता है कि गृहस्थ का जीवन कितना पवित्र, उसका आचरण कितना उज्ज्वल और उसका कर्म कितना धार्मिक था। अतिथि का सत्कार करना उसका परम कर्तव्य था। साधु-महात्माओं की सेवा करना उसका धर्म था तथा दीन-हीन मनुष्यों की सहायता करना उसका पावन कर्म था। इस प्रकार गृहस्थाश्रम वह धुरी थी जिसके ऊपर समाज की गाड़ी बड़ी सुन्दरता से चलती थी।

वानप्रस्थी का यह धर्म था कि वह समाज के किसी भी प्राणी से द्वेष न करे। वह निर्द्वन्द्व और निर्भय होकर विचरण करे। वह गाँव से पकाया हुआ भोजन लाकर केवल आठ ग्रास (कौर) तक ही उसे खाए। उसे किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए।

आश्रमों में अन्तिम आश्रम संन्यास है। पद्म-पुराण में तीन प्रकार के संन्यासियों का उल्लेख पाया जाता है जिनमें ज्ञान संन्यासी और कर्म संन्यासी प्रसिद्ध हैं। जो व्यक्ति अपने सभी कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देता है, उसे कर्म संन्यासी कहते हैं। प्रस्तुत पुराण में लिखा है कि संन्यासी को दूसरों की सहायता पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए। इसके साथ ही उसे संसार के सभी जीवों से उदासीन रहना चाहिए। सभी लोगों से उपेक्षा की भावना को धारण करना चाहिए। वर्तमान काल में संन्यासियों की विषम स्थिति के परिप्रेक्ष्य में—जो अपने को 'गद्दी नशीन' कहने में गौरव का अनुभव करते हैं, और उस गद्दी को प्राप्त करने में हाईकोर्ट का दरवाज़ा खटखटाने में भी लज्जित नहीं होते—पद्म-

पुराण का यह कथन कितना उपदेशात्मक है। यदि वे इस उपदेश का पालन करें उनका जीवन मंगलमय और मार्ग प्रशस्त हो सकता है। आजकल के संन्यासी समाज के लिए एक समस्या बन गए हैं। परन्तु प्रस्तुत पुराण में जिस प्रकार के संन्यासियों का वर्णन किया गया है, वे स्वयं समस्या न बनकर, समाज की समस्या को सुलझाया करते थे। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम में वर्तमान व्यक्ति समाज की समृद्धि में योगदान दिया करता था।

(ग) सुशासन तथा शान्ति

पद्म-पुराण में राजा की योग्यता और उसके गुणों का अनेक स्थानों में वर्णन पाया जाता है। एक उल्लेख से पता चलता है कि राजा को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। वह धर्म का विरोध करने वाले अर्थ और काम का परित्याग कर दे। एक अन्य वर्णन के अनुसार राजा को सत्यवान्, ज्ञानवान्, बुद्धिमान्, वीर्यवान और गुण-वान् होना चाहिए। क्योंकि सुयोग्य राजा ही प्रजा का सम्यक् परिपालन कर सकता है।

पद्म-पुराण के अनुसार राजा का परम धर्म प्रजा की रक्षा करना बतलाया गया है। अतः राजा प्रजा की सुरक्षा तथा देश में शान्ति-स्थापना के प्रयास में सदा लगा रहता था। यही कारण है कि तत्कालीन समाज में पूर्ण सुरक्षा और अखण्ड शान्ति प्रचुर परि-माण में विराजमान थी। कल्याणकारी राज्य के वर्णन से पता चलता है कि उस काल में इतनी शान्ति और सुव्यवस्था विद्यमान थी कि मार्ग में चलने वाली स्त्रियों के सूक्ष्म अर्थात् महीन वस्त्रों को, जोरों से चलने वाला वायु भी, हिलाने में समर्थ नहीं था। फिर चारों ओर उचक्कों की कथा तो दूर की बात थी। जब पवन देव की भी इतनी हिम्मत नहीं थी कि इन स्त्रियों के वस्त्रों को जरा हिला भी सकें, चोरों और चाइयों की क्या जुर्रत थी कि भला उनसे छेड़खानी कर सकें ?[१] पद्म-पुराण के एक-दूसरे वर्णन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में इतनी सुव्यवस्था और शान्ति विराज रही थी कि ब्राह्मणों की स्त्रियों के कपोल को स्पर्श करने वाली वायु मानो उनके शाप के भय से मन्द-मन्द चला करती थी।[२] जालन्धर के राज्य में सुशासन की पूर्ण व्यवस्था थी। उसके राज्य में चोरों का अभाव था। रास्ते में चलने वाले यात्रियों या बटोहियों के धन को चुराने वाला कोई था ही नहीं[३]। क्योंकि सर्वत्र सुरक्षा और शान्ति का एकछत्र साम्राज्य छाया हुआ था।

१. वातोऽपि मार्ग संस्थानां, चलन्नाऽऽहरते महान्।
वासांस्यपि तु सूक्ष्माणि, तत्र चौरकथा न हि॥
पाताल ४।५३

२. यत्र ब्राह्मणपत्नीनां, कपोलफलकं मुहुः।
स्पृशन् समीरणो मन्दं वाति शाप भयादिव॥
उत्तर १७६।७८-७९

३. न चापहर्ताऽध्वनि गच्छतां सदा। उत्तर ६।२६

पद्म-पुराण का उपर्युक्त वर्णन भारतीय इतिहास के सुवर्ण युग—गुप्तकाल—में वर्तमान सुशासन और शान्ति का हमें स्मरण दिलाता है जिसका उल्लेख कवि-कुलगुरु कालिदास ने अपने ग्रन्थ में किया है। उन्होंने लिखा है कि रघुवंशी राजा दिलीप के राज्य में यदि कोई सुन्दरी स्त्री, विहार करने के लिए जाते समय, आधे रास्ते में ही सो जाती थी, वायु की भी हिम्मत नहीं थी कि उसके कपड़ों को ज़रा भी हिला सके फिर भला उसके हाथ को पकड़ने का कौन दुःसाहस कर सकता था ?[१]

इससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि पद्म-पुराण के समय में इस देश में वही सुख-समृद्धि, सुरक्षा, सुशासन और शान्ति विद्यमान थी जो इस देश के प्राचीन इतिहास के सुवर्ण-युग में पाई जाती थी। प्रजा धन-धान्य से परिपूर्ण ही नहीं थी बल्कि वह सुरक्षा और शान्ति का पूर्ण अनुभव भी करती थी।

(घ) शिक्षा

'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते।'

अर्थात् जब देश शस्त्र से सुरक्षित रहता है उसमें शास्त्र की चिन्ता उत्पन्न होती है। चूँकि इस काल में सभी प्रकार से शान्ति विराजमान थी अतः शिक्षा, संगीत, और चित्रकला आदि कलाओं की उन्नति का होना स्वाभाविक था। पद्म-पुराण में गुरु की महिमा का प्रतिपादन करते हुए उनके आश्रमों के पावन वातावरण का वर्णन किया गया है। इन गुरुकुलों में कुलपति दस सहस्र (१०,०००) विद्यार्थियों को निःशुल्क विद्यादान देता था और उनके भोजन तथा आवास की भी व्यवस्था करता था। आचार्य अपने शिष्यों को पुत्रवत् मानता था और शिष्य देवता के समान उसकी पूजा करते थे। इस प्रकार गुरु और शिष्य में वह आदर्श सम्बन्ध था जो आजकल के युग में नितान्त अनुकरणीय है। इस पुराण में अनेक विदुषी स्त्रियों का वर्णन उपलब्ध होता है जिससे पता चलता है कि उस युग में स्त्रियों को भी शिक्षा दी जाती थी।

ललित कलाओं में नगर निर्माण—(Town Planning) टाउन प्लानिंग—वास्तुकला और चित्रकला का विशेष रूप से वर्णन पाया जाता है। परिखा, गोपुर, वप्र, प्रासाद, अट्टालक, वलभी और वातायन आदि की रचना किस प्रकार की जाती थी, इन सभी विषयों का सुन्दर विवरण इस पुराण में दिया गया है। इन वर्णनों के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उस अतीत काल में भी वास्तुकला—सिविल, इंजीनियरिंग—की विद्या कितनी उन्नत और समृद्ध थी।

चित्रकला का भी अनेक बार उल्लेख पाया जाता है। समाज में संगीत का प्रचार था। जनता वीणा, वेणु, मृदंग, पणव, भेरी और दुन्दुभी आदि वाद्य-यन्त्रों को बजाती थी

१. रघुवंश ६।७५

और संगीत की ताल और गति के अनुसार नृत्य भी किया करती थी। इस प्रकार समाज में नृत्य, गीत और संगीत की त्रिवेणी प्रवाहित होती थी जिसमें अवगान कर लोग आनन्द लेते थे।

(ङ) धार्मिक तथा दार्शनिक जीवन

पद्म-पुराण एक वैष्णव पुराण है। अतः इसमें वैष्णव धर्म के विस्तृत विवेचन का होना आवश्यक है। वैष्णव के लक्षण तथा उसकी दिनचर्या के पश्चात् विष्णु के विभिन्न अवतारों की पूजा-अर्चा, विभिन्न मासों और एकादशियों का माहात्म्य और तुलसी एवं धात्री फल की महिमा इसमें गाई गई हैं। वैष्णव धर्म के अतिरिक्त शैव, शाक्त एवं ब्राह्म सम्प्रदायों का उल्लेख कर, सूर्य की पूजा तथा राम, कृष्ण, गणेश आदि देवताओं के पूजन का विधान किया गया है। यज्ञ, दान और तीर्थ पुराणों के प्रधान वर्ण्य-विषय हैं। अतः इनका विस्तार से वर्णन हुआ है।

इस पुराण में काश्मीर से कामरूप तक और कैलाश से कन्याकुमारी तक के तीर्थों का उल्लेख किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि उस अतीत काल में भी भारत की भावनात्मक और राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने में इन तीर्थों का कितना अधिक योगदान था। इस देश की विभिन्नता में एकता को स्थापित करने का श्रेय इन्हीं तीर्थों को प्राप्त है। अतएव राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक दृष्टि से इन तीर्थों का महत्त्व अत्यन्त अधिक है।

भारतीय दर्शन की आधारशिला कर्म-विपाक है जिसका अर्थ है कर्मों के अनुसार फल की प्राप्ति। जो मनुष्य जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है। अच्छे कर्मों के करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और बुरे कर्म नरक की ओर मनुष्य को ले जाने वाले होते हैं। किस प्रकार के बुरे कर्म को करने से मानव को कौन-सा नरक मिलता है और कौन-कौन-सी घोर यातनाएँ उसे सहनी पड़ती हैं, इस विषय का विस्तृत विवरण इस पुराण में प्रस्तुत किया गया है। कुकर्म के लिए दण्ड का विधान करके पुराणकार ने लोगों को यह उपदेश देने का प्रयास किया है कि किसी को भी बुरा काम नहीं करना चाहिए क्योंकि इसका परिणाम बड़ा विषम होता है।

(च) आदर्श समाज तथा उच्च जीवन की कल्पना

पद्म-पुराण में आदर्श समाज और आदर्श जीवन की जो कल्पना की गई है वह लोकोत्तर तथा दिव्य है। पुराणकार ने लिखा है कि राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह पुत्रवत् प्रजा का पालन करे तथा प्रजा का भी यह धर्म है कि वह राजा को देवता के रूप में समझे। जब राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध सुन्दर और प्रेमपूर्ण होता है समाज का संचालन सुचारु रूप से सम्भव है। पद्म-पुराण-कालीन समाज में सभी वर्णों के

लोग अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। समाज में ऊँच-नीच की दूषित भावना का नितान्त अभाव था। इसके फलस्वरूप प्रजा सुखपूर्वक निवास करती थी। विभिन्न आश्रमों में विपर्यय न होने से समाज की व्यवस्था सुन्दर थी।

साधारण लोगों का जीवन सुखी और समृद्ध था। परोपकार की भावना सभी लोगों के हृदय में विराजमान थी। वापी, कूप, तड़ाग आदि का निर्माण करना, वृक्षों का आरोपण करना, प्रपा (प्याऊ) का प्रवन्ध करना तथा धर्मशालाओं की स्थापना करना जनता अपना धर्म समझती थी। धूप से पीड़ित यात्रियों के लिए 'प्याऊ बैठाना' और कुओं को खुदवाना सद्‌गति प्रदान करने वाला समझा जाता था। पद्म-पुराण में वापी, कूप तड़ाग और पुष्करिणी के बनवाने का अनेक स्थानों में उल्लेख हुआ है। इन सार्वजनिक सुख के कार्यों का निर्माण अखिल पुण्य को देने वाला माना जाता था। यात्रियों की सुविधा के लिए मार्ग में फल देने वाले तथा छाया प्रदान करने वाले वृक्षों की पंक्तियाँ सुशोभित थीं। तत्कालीन समाज में परोपकार की भावना अधिक थी। जनता अपने क्षुद्र स्वार्थों की तिलाञ्जलि देकर परार्थ में संलग्न रहती थी। इस प्रकार पद्म-पुराण में एक आदर्श समाज का चित्रण प्रस्तुत किया गया है जो आधुनिक काल के लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

पद्म-पुराण का सन्देश

प्राचीन भारतीय समाज का आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टियों से अध्ययन करने के लिए पद्म-पुराण एक अनन्य साधन है। यह कालिदास और भवभूति जैसे महाकवियों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ भी है। तत्कालीन जनता के लोक-विश्वासों तथा धार्मिक परम्पराओं को जानने के लिए यह अद्वितीय सहायक है। इन सभी बातों से इसके अत्यधिक महत्त्व का सहज ही में अनुमान किया जा सकता है।

अन्त में पद्म-पुराणकार के सन्देश को सुना कर अथवा प्रस्तुत कर इस निबन्ध को समाप्त किया जाता है। पद्म-पुराण में कोई यजमान भगवान् से यह प्रार्थना करता है कि हे भगवान्! हमारे देश में दानी मनुष्यों की वृद्धि हो, वेद और शास्त्रों का प्रचार हो तथा हमारी सन्तान उन्नति के पथ पर हो। श्राद्ध तथा करणीय कार्यों में हमारी श्रद्धा बनी रहे और हमारे पास प्रचुर धन हो जिससे हम निर्धन लोगों को बहुत-सा दान दे सकें। हमारे खेतों में प्रचुर मात्रा में धन-धान्य की उत्पत्ति हो तथा हमारे यहाँ अनेक अतिथि आते रहें। हममें इतनी शक्ति हो कि हम असंख्य याचकों को दान दे सकें, परन्तु हमें किसी से, कभी भी, किसी वस्तु की याचना न करनी पड़े। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि देश की वर्तमान परिस्थिति के सन्दर्भ में यह सन्देश कितना सामयिक तथा उपयोगी है।

'दातारो नोऽभिवर्धन्तां, वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमत्, वहु देयं च नोऽस्त्विति ॥
अन्नं च नो बहु भवेत्, अतीथींश्च लभेमहि।
याचितारस्तु नः सन्तु, मास्म याचिष्म कंचन ॥'

सृष्टि ६।११७-११८

तिब्बत के साहित्य और कला में गणेश

डॉ० लोकेशचन्द्र

सातवीं शती के प्रारम्भ में भोट (तिब्बत) ने भारत लिपि ग्रहण की और तिब्बती साहित्य और संस्कृति के अन्यान्य अंगों का उन्मेष होने लगा। हिमालय के अंचलों में विलसता भोटदेश भारत-भारती में पूर्णतया ओतप्रोत हो उठा। यहाँ का व्याकरण, काव्य, नाटक और अलंकारशास्त्र, तर्क और न्याय, ज्योतिष और आयुर्वेद, शिल्प और अध्यात्म, स्तोत्र, ध्यान और अध्येषणाएँ, शास्त्र और उनकी पंजिकाएँ, टीकाएँ, विवरण, निबन्ध—आदि अपार भारतीय साहित्य तिब्बती में भाषान्तर होने लगा, और तिब्बत की एक पहाड़ी बोली मानव-चिन्तन के शिखरों को छूने के लिए भाषा की सृजनात्मक सरणियों में पदार्पण करने लगी। अनुवाद के नियम एवं नये पारिभाषिक शब्द बने और दो सौ वर्षों के उपरान्त नवीं शती के प्रथम चरण में तिब्बती सम्राट् राल्पाचन् ने भाषान्तर को अन्तिम रूप दिया। पेमाकार्पो के धर्मेतिहास से पता चलता है कि ८२६ ई० में ल्हासा के दक्षिण में स्थित, ओन्जाङ्दो नामक प्रासाद में महाराजा राल्पाचन् ने भाषान्तर के नियमों और शब्दावली का औपचारिक प्रवर्तन किया। सम्राडादेश से संघटित भगवद्धर्मायोग ने पिछले दो सौ वर्षों के अनुभव को क्रमबद्ध कर भोटान्तरण का भव्य शिलान्यास किया। इस आयोग के परिश्रम का परिणाम 'महाव्युत्पत्ति' नामक ग्रन्थ में प्रतिफलित हुआ। इसमें भारत के आचार्य जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शीलेन्द्रबोधि, दानशील और बोधिमित्र थे और तिब्बत के रत्नरक्षित, धर्मताशील, ज्ञानसेन, जयरक्षित, मञ्जुश्रीवर्मन्, रत्नेन्द्रशील प्रभृति थे। इसके संशोधन और परिवर्धन में शान्तरक्षित, खाम् के येशे वाङ्पो, शाङ् के ग्यल्त्र-न्त्रसाङ्, ठिशेर् साङ्शि, ज्ञानदेव घोष, चे-वासी रिव्यङ्कुक्, आनन्द आदि ने सहयोग दिया। अनेक दिग्गज विद्वानों के निरन्तर मनन का फल यह 'महाव्युत्पत्ति' नामक कोष भोटान्तरण की आधारशिला बनी। इसके 'लौकिकदेवताः' नामक प्रकरण में हमें गणेश का तिब्बती प्रतिशब्द मिलता है—विनायकः। लोग्ऽद्रेन्[1]। कार्त्तिकेयः, महाकालः, नन्दिकेश्वरः, भृंगिरिटिः विनायकः, धनदः, देवी—आदि का प्रसंग है।

आगे चलने से पूर्व यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि संस्कृत की भाँति तिब्बती

---

१. महाव्युत्पत्ति, सं० सासाकी, सं० ३१६५।

भाषा में भी पर्यायों का वैविध्य है। १३वीं शती में कीर्तिचन्द्र और यार्लुङ् के लोचावा[2] ड्राक्पा-ग्याल्छन् ने अमरकोष का तिब्बती रूपान्तर किया। इसमें निम्न पर्याय मिलते हैं :

लोग्.ऽद्रेन् ब्गेगस्. क्यि. ग्यंल्. पो दङ्।
प. गञिस्. प दङ् छोग्स्. क्यि. ब्दग्।
म्छे. ब. ग्चिग्. प ह्. ल. ग्नस्।
ल्तो. ब. ऽफ्यङ् दङ् ग्लङ्. पोडि. ग्दोङ्॥

इसका संस्कृत मूल है :

विनायके विघ्नराज—द्वैमातुर—गणाधिपाः।
अप्येकदन्त—हेरम्ब—लम्बोदर—गजाननाः॥[3]

इसमें हमें गणेश के आठ पर्याय मिलते हैं। १७वीं शताब्दी में पूर्वी तिब्बत के देर्गे प्रान्त में सितु के महापण्डित ने 'अमरकोष' का संशोधन किया। सितु-महापण्डित अनेक नामों से ज्ञात है—छोस्. क्यि.ऽब्युङ्. ग्नस् [धर्माकर], ग्.चुग्. लग्. छोस्. क्यि. स्नङ्. ब. [आर्ष धर्मालोक] अथवा छोस्. क्यि. स्नङ्. व. [धर्मालोक]। सितु महापण्डित तिब्बत के सर्वोपरि वैयाकरण हैं और इन की अमरकोष की आवृत्ति तिब्बत में विशिष्ट सम्मान का पात्र है। इसमें श्लोक के प्रारम्भ में शीर्षक दिया है—'द्वङ् फ्युग्. गि बु छे. व छोग्स्. ब्दग्. गि मिङ्. ल' अर्थात् 'ईश्वर महादेव के ज्येष्ठ पुत्र गणपति के नाम'। यहाँ गणेश के लिए. प्रयुक्त छोग्स्. ब्दग् शब्द गणपति का रूपान्तर है और आजतक सर्वाधिक प्रचलित[4] नाम है। श्लोक में सितु-महापण्डित ने एक उल्लेखनीय परिवर्तन किया है। हेरम्ब का नया अनुवाद उन्होंने 'शि. वर्. ग्नस्' किया जिसमें शब्द की व्युत्पत्ति की है। उनके इस अनुवाद का आधार व्याख्यासुधा है—हः शङ्करे हरो······।

१६४१ ई० में त्साङ् प्रान्त के निवासी ङग्. द्वङ्ऽजिग्. तेन्.द्वङ्-फ्युग्. ग्रग्स्. पडि. दो. र्जे. [संस्कृत में*वागिन्द्रलोकेश्वर कीर्त्तिवज्र] ने एक कोष की रचना की जिसके लिए अनेक भारतीय और तिब्बती अभिधान-ग्रन्थों का अवगाहन किया। पुष्पिका में मूल-स्रोतों का नामोल्लेख किया है और वहाँ पर अपना विरुद 'महाकवि' दिया है। इनके

---

२. संस्कृत से तिब्बती में भाषान्तरकार लोचावा कहलाता है। तिब्बत में इनको बोधिसत्व के समकक्ष माना गया है क्योंकि इन्होंने देश की प्राणभूत धर्म-सरिता बहाई। इनको अग्रगण्य मंगलकारी माना गया है, यहाँ तक कि विवाहकालीन लोकगीतों के भावमय स्वरों में गाया गया है कि नववधू जब घर में प्रवेश करे वह लोचावा के समान सुमंगलकारिणी हो (जी० तुची०, तिबेतन फ़ोकसाँग्ज़, आस्कोना, १९६६, पृ० ५८)।

३. लोकेशचन्द्र, दि अमरकोष इन तिब्बत, नई दिल्ली १९६५, भूमिका पृ० ३४।

४. शरच्चन्द्र दास, टिबेटन-इंगलिश डिक्शनरी, कलकत्ता, पृ० १०३३।

कोष का संक्षिप्त नाम 'म्ङोन्-ब्र्जोद् म्खस्. पऽि. र्न. ग्र्यन्' अर्थात् 'अभिधानं विद्वत्कर्णावतंसः' है। यह वस्तुतः विद्वदवतंस है। शब्दचयन की व्यापकता और विषयक्रम के सुविधाजनक विन्यास के कारण यह अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। काष्ठमुद्रित संस्करण हो चुके हैं और प्रत्येक तिब्बती साक्षर आजतक इसका प्रयोग करता है। इसका आधुनिक संस्करण प्रस्तुत लेखक ने १९६५ में प्रकाशित किया। इसमें भी गणपति की पर्यायावली काष्ठलिपि (xylograph) के पन्ने १०ख और ११क पर दी हुई है। पर्यायों के साथ-साथ 'द्वैमातुर' और 'एकदन्त' की व्याख्या-स्वरूप पौराणिक कथानक दिए हैं। इससे पता चलता है कि संकलनकार पुराणकथाओं में निष्णात थे और तिब्बती विद्वत्परम्परा में इनका संमानित स्थान था। नीचे मूल काष्ठलिपि से दोनों पन्नों से सम्बद्ध अंश चित्रित हैं :

इस चित्रोद्धरण में दिए हुए गणेशजी के पर्याय आगे मूल के क्रम से उद्धृत हैं। यह क्रम अमरकोष से भिन्न है। म. ग्ञिस्. प. =द्वैमातुरः। खमस्.ग्सुम्.प. =त्रैधातुकः। ब्ग्एग्स्. क्यि. ब्येद्. पो. =विघ्नकृत्[5]। द्ग्र. स्त. ऽज़िन्. =परशुधरः। म्छे. ब. ग्चिग्. प. =एकदन्तः। ग्लङ. पोऽि. ग्दोङ् =गजाननः। पृष्णऽि.र.चन् =पृष्णश्रृंगी। ल्तो. ब. =ऽफ्यङ् =लम्बोदरः। छोग्स्. म्छोग्. जे. बो. =गणाधिपः। लुस्. ग्ञिस्. प. = द्विकायः(?)। र्दो. र्जेङि म्छु. चन् =वज्रतुण्डः। ह. ल. ग्नस्. =हेरम्बः। लोग्.ऽद्रेन् = विनायकः। ब्गेग्स्. क्यि. ग्र्यल्. पो =विघ्नराज। छोग्स्. ब्दग् =गणपतिः। द्बङ्. फ्युग्. बु. छे. =ईशानज्येष्ठपुत्रः (?)। गणेश के द्वैमातुर होने की कई कथाएँ हैं— 'स्कन्दपुराण' के गणेशखण्ड में पुष्पका और दीपवत्सा का द्विमातृत्व है (शब्दकल्पद्रुम, भाग २, पृ० ७७३ देखिए)। अमरकोष की भानुजीदीक्षितकृत 'व्याख्यासुधा' में 'दुर्गा-चामुण्डाभ्यां पालितत्वात्। गजमुखतया हस्तिन्या अपत्यत्वात्। गङ्गाया अपत्यत्वाद्वा।' दिया है। तिब्बती कोष में इसका कथानक भिन्न है—शंकर की उमा और गंगा दो देवियाँ थीं। गंगा को पुत्र हुआ। जब उमा देखने गई पुत्र का सिर नहीं दीखा। उमा ने क्रोध में कह डाला—तू सिर-हीन हो जा। वैसा ही हो गया। पीछे उमा से जब पूछा गया उसने कहा कि उत्तर में जो शव मिले उसका सिर लाकर जोड़ दो। जब और कोई शरीर नहीं मिला, एक हाथी का सिर काट कर जोड़ दिया। क्योंकि उमा ने चिकित्सा की

---

५. तारानाथ भट्टाचार्य, वाचस्पत्यम्, वाराणसी १९६२, पृ० २५०६ ख पर 'विघ्नकृत्' पर्याय है।

इसलिए द्वैमातुर कहलाया। अपि च, दुर्गा और चामुण्डी दो माताएँ होने के कारण भी यह नाम पड़ा है—ऐसा कहते हैं। इस आख्यान का मूल संस्कृत ढूंढ़ना होगा, परन्तु इससे स्पष्ट है कि तिब्बत में गणेश के आख्यान भी लोकप्रिय अभिधानों में सम्मिलित थे।

१७७१ ई० में पूर्वी तिब्बत के खाम्-प्रान्त में स्थित देर्गे के नरेश के आदेश से साक्य सम्प्रदाय के लामा ब्स्तन्.ऽज़िन्. ग्यंल्. मछ़न् ने देववाणी संस्कृत के अध्ययन-हेतु नया कोष रचा। यह संक्षेप से 'प्रज्ञा' कहलाता है। इसका पूरा शीर्षक है—लेग्स्. पर्. स्ब्यर्. ब. ल्हऽि स्कद् दङ् गङ्स्. चन्. पऽि. ब्र्दऽ शन्. स्ब्यर्. बू.—द्रि. ब्रल्. नोर्. बुऽि मे. लोङ्। इसमें गणेश के तिब्बती पर्याय और उनके संस्कृत प्रतिशब्द भी दिए हुए हैं। यहाँ हम संस्कृत और नये नामों के तिब्बती पर्याय उद्धृत करेंगे— विनायकः। विघ्नराजः। द्वैमातुरः। गणाधिपः। एकदन्तः। हेरम्बः। लम्बोदरः। गजाननः। चन्द्रापीडः (ज्ल. बऽि थोद्. चन्)। महानटः (गर्. छेन्)। शमिरोहः (शि. व. स्कयेस)। शैलधन्वा (ब्रग्. ग्शु. चन्। रल्. ऽख्यम्स्)। अथर्वा (स्रिद्. स्रुङ्स्। स्रिद्. स्रुङ्. ऽज़िन्)। नन्दिवर्धनः (द्गऽ. स्पेल्)। गुह्यकेशः (ग्सङ्. व. वऽि. ब्दग्. पो)। उग्रः (द्रग्. शुल्. चन्)। कालज्वरः (दुस्. क्यि. गंन्)[६]। इसमें पहले आठ नाम अमरकोष से हैं और उसी क्रम में कोषकार ने अन्य स्रोतों से ६ और नाम जोड़े हैं जिनसे विदित होता है कि तिब्बत के साक्य सम्प्रदाय में कुछ और गणपति-परम्पराएँ भी थीं। यहाँ सूचित करना आवश्यक है कि साक्य सम्प्रदाय में संस्कृत के अध्ययन की शताब्दियों पुरानी परम्परा है और इसके केन्द्रीय विहार में पालकालीन कला की उत्कृष्ट मूर्तियाँ सुरक्षित थीं और यह संग्रह संख्यात्मक दृष्टि से भी महत्त्व का था। साक्य सम्प्रदाय के भारत से निकट सम्बन्ध रहे और इनके अग्रणी आचार्य साक्य पण्डित (११८२-१२५१ ई०) के 'सुभाषितरत्ननिधि' नामक नीति-ग्रन्थ की टीका पौराणिक कथानकों का आकर है।

छे. रिङ्. द्बङ्. ग्यंल् (१६९७-१७६३) ने तिब्बती-संस्कृत कोष की रचना की। छे. रिङ्. द्बङ्. ग्यंल् तिब्बती शासन में अनेक उच्च पदों पर रहे और १७५१ ई० में दलाई लामा के चार मन्त्रियों में से एक थे। कुछ समय तिब्बत के प्रधानमन्त्री भी थे। इनके कोष में गणपति के लिए केवल प्रचलित तिब्बती नाम दिया है—छोग्स्.ब्दग्।

शरच्चन्द्र दास ने अपने तिब्बती-अंग्रेज़ी कोष में पृ. १०३२ ख पर 'छोग्स्.क्यि. द्बङ् फ्युग्. गणेश्वर, गणेश' पर्याय दिए हैं।

ऊपर तिब्बत के कुछ प्रमुख कोषों में से गणेश के पर्यायों का उल्लेख किया गया

---

६. प्रज्ञा, नलिनाक्ष दत्त की भूमिका सहित, नाम्ग्याल् इंस्टिट्यूट ऑव टिबेटॉलोजी, गङ्तोक् १९६१, भाग २, पृ० १६-१७ देखिए।

७. Dictionnaire Tib'etain-Sanscrit par Tse—ringouang—gyal, J. Bacot, Paris 1930. पृ० १४२ ख १।

है। ये कोष-ग्रन्थ विभिन्न शताब्दियों के हैं। तिब्बती भाषा का कोई भी ऐसा अभिधान नहीं जिसमें गणेश के विभिन्न नामों का समावेश न हो।

अब हम गणेश पर तिब्बती भाषा में प्राप्त साहित्य का कालानुक्रम से दिग्दर्शन करेंगे।

तिब्बत में अतिशा दीपंकरश्रीज्ञान का आगमन नवोन्मेष की वेला थी। इष्टदेवी तारा के साक्षात्कार से मुकुलितप्रतिभ, तन्त्रों के महान् साधक, कान्हपा, डोम्बीपा, नारोपा, अवधूतिपा आदि महायोगियों के शिष्य, विक्रमशिला विश्वविद्यालय के स्थविर की कीर्ति तिब्बत में उनके जाने से पहले ही पहुँच चुकी थी। अतिशा तिब्बत गए और वहाँ धर्म की धारा बहाई। अनेक ग्रन्थों का अनुवाद और कई शिष्यों को गुह्योपदेश में शिक्षा दी। अतिशा ने तिब्बत में ऐसे कई भारतीय ग्रन्थ देखे जो भारत में उस समय भी अप्राप्य थे। भगवती तारादेवी ने स्वप्न में अतिशा को कहा कि तुम्हारा पट्ट शिष्य ऽब्रोम्. स्तोन् होगा। ऽब्रोम्. स्तोन् के स्नेहमय आग्रह से प्रेरित अतिशा ने तिब्बत में ही शेष जीवन बिताया और १०५४ ई० में उनका शरीरान्त हुआ। अतिशा अपने साथ गणेश पर भी कई ग्रन्थ ले गए थे। इनमें से कई आज भी तिब्बती भाषान्तर में उपलब्ध हैं। ग्यंल्. बऽि. ऽब्युङ्. ग्नस् [जिनाकर] के सहयोग से अतिशा ने महागणपतितन्त्र[8] का तिब्बती अनुवाद किया।

ग्यं ब्र्चोन्. ऽग्रुस्. सेङ्. गे [वीर्यसिंह] के सहयोग से अतिशा ने इन्द्रभूति-रचित आज्ञाविनिवर्तगणपतिसाधन[9] का तिब्बती अनुवाद प्रस्तुत किया। इन्द्रभूति का काल[10] ७१७ ई० के लगभग है। अनुवाद-कार्य यम्बु. कर्त. रि (स्वयम्भूगर्तगिरि?) अर्थात् काठमांडौ में हुआ था—यह सूचना पीकिङ् तंजुर[11] के कार्छग् (=सूचीपत्र) से पता चलती है।

अमोघवज्र-विरचित 'गणपतिगुह्यसाधन'[12] का तिब्बती भाषान्तर 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. ग्सङ्. बऽि. स्ग्रुब्. थब्स्' भी अतिशा ने प्रस्तुत किया। इसमें इनके सहायक लोचावा नग्. छो छु. ल्. रिव्रम्स्. ग्यंल्. ब [जयशील] थे जो अतिशा को भारत से तिब्बत ले गए थे। साधन की समाप्ति पर पुष्पिका में गणपति का विशिष्टीकरण किया

---

८. देर्गे कंजुर में 'व' १९३ क ७-१९९ क ५ (तोहोकु सूचीपत्र क्रमांक ६६६), पीकिङ् कंजुर 'ब' १९९ ख ६-२००क ५ (क्योतो सूचीपत्र ३३७), चोने कंजुर 'व' २२९ ख २—२३६क ३, नार्थाङ् कंजुर 'फ' १४० क ७-१४८ ख ७, युङ्होकुङ् कंजुर 'ब' २८०-५ (बेक का सूचीपत्र पृ० १२०)।

९. देर्गे तंजुर 'छु' ७६ क १—७६ ख ५ (तोहोकु सूचीपत्र ३७४१), पीकिङ् तंजुर 'नु' २९१ क ४—२९२क३ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० ८८, क्र. ३६)।

१०. विनयतोष भट्टाचार्य, साधनमाला, भाग २, भूमिका पृ० ४२।

११. कोर्द्ये सूचीपत्र, भाग ३, पृ० ८८, क्र० ३६।

१२. देर्गे तंजुर 'छु' ७३ ख २-७४ख ५ (तोहोकु सूचीपत्र क्र. ३७३८), पीकिङ् तंजुर 'नु' २८८क४—२८९ख२ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० ८७, क्र० ३३)।

है—छोग्स्.क्यि. ब्दग्. पो. स्प्रेऽुऽि. म्गो. चन्. ग्यि. स्ग्रुब्=कपिशीर्षगणपतिसाधन। गणपति का कपिशीर्ष होना विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

अतिशा का स्वरचित गणपतिगुह्यसाधन भी है जिसमें अनुवादक का नाम नहीं है। प्रतीत होता है कि अतिशा ने इसका अनुवाद स्वयं ही किया था। यह ग्रन्थ पीकिङ् तंजुर के भाग 'नु' में उपलब्ध है (१०० ख ५-१०२ क ४, कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २३०, क्र०. ५५)।

आठवीं[13] शताब्दी के कान्हपाद ने 'गणपतिचिन्तारत्नसाधन'[14] रचा था। अतिशा इसकी एक प्रति अपने साथ तिब्बत ले गए थे। इसके तिब्बती भाषान्तरकर्ता अज्ञात हैं, परन्तु पुष्पिका से पता चलता है कि संस्कृत मूल अतिशा के पास था और यह असम्भव नहीं कि अनुवाद अतिशा ने ही किया हो। तिब्बती शीर्षक है—'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. यिद्. ब्शिन्. नोर्. बुऽि. स्ग्रुब्. थब्स्'। यद्यपि मूल ग्रन्थ में यिद्. ब्शिन्. नोर्. बु. का मूल संस्कृत चिन्तारत्न है, परन्तु अन्यत्र सब स्थानों पर यह चिन्तामणि का प्रतिपर्याय है। महाकाल, तारा एवं अवलोकितेश्वर के रूपधेयों में उपलब्ध होता है—चिन्तामणि सित महाकाल, चिन्तामणि तारा, चिन्तामणि अवलोकितेश्वर, पञ्चात्मक चिन्तामणि अवलोकितेश्वर[15]। इस प्रकार 'गणपतिचिन्तारत्नसाधन' का संशोधित शीर्षक 'चिन्तामणिगणपति-साधन' होना चाहिए और गणपति का एक नया ध्यान उपस्थित होता है।

अवधूतिपाद[16]-विरचित 'गणपतिसाधन महाचक्र नाम' का भोट भाषान्तर 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पोऽि. स्ग्रुब्. थब्स्. ऽखोर्. लो. छेन्. पो. श्ऽस्. ब्य. ब.'[17] अतिशा ने किया। इसमें उनके सहायक नग्. छो के लोचावा छ्.ुल्. रिम्रस्. ग्र्यल्. व [जयशील] थे। यह ग्र्यल्. बऽि.ऽब्युङ्. ग्नस् [जयाकर] ने प्रवृत्त किया।

सुवर्णद्वीपक धर्मकीर्त्ति[18] अतिशा के गुरु थे। इन्होंने 'क्रोधगणपति-साधन' लिखा जो तिब्बती शीर्षक 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. ख्रो. वोऽि. स्ग्रुब्. थब्स्'[19] से मिलता है। भोटभाषाकार का नाम उल्लिखित नहीं है।

---

१३. विनयतोष भट्टाचार्य, साधनमाला, भाग २, भूमिका पृ० ४३।

१४. पीकिङ् तंजुर 'नु' ९९ क १-९९ ख ५ (कोर्द्ये सूचीपत्र, भाग ३, पृ० २१९, क्र० ५२)। यह ग्रन्थ देर्गे तंजुर में नहीं है।

१५. लोकेशचन्द्र, भोट-संस्कृताभिधान, पृ० २१५१-५२।

१६. ग्रन्थ की पुष्पिका में सुवर्णद्वीपयोगी धर्मकीर्त्ति को इसका लेखक बताया गया है।

१७. पीकिङ् तंजुर 'नु' ८२ ख १-८५ ख ६ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१५, क्र. ३७)।

१८. Alfonsa Ferrari, Mk'yzen brtse's Guide to the Holy Places of Central Tibet, Rome 1958, p. 78, n. 6.

१९. पीकिङ् तंजुर 'ङ' १०४ ख ६-१०६ क ३ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २२१, क्र. ५९)।

अतिशा ने स्वरचित स्तोत्रों और साधनों का भोटान्तरण भी किया। 'गणपतिराग-वज्रसमयस्तोत्र' का तिब्बती रूप "छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. छग्स्. प. र्दो. ज़ेंडि. दम्. छिग्. गि. ब्स्तोद्. प'[20] नग्. छो लोचावा छुल्. खिम्स्. ग्र्यल्. व. [जयशील] के सहयोग से किया।

अतिशा का दूसरा 'गणपतिसाधन दरिद्रनिधिप्रद नाम' तिब्बती में 'छोग्स्. ब्दग्. गि. ब्स्ग्रुब्. प. द्बुल्. बऽि. ग्तेर्. स्ब्यिन्. श्. स्. ब्य. ब'[21] के नाम से मिलता है। इनका एक और साधन 'सुनिपुणमहादेवविघ्नराजसाधन' भी तिब्बती में है जिसका शीर्षक है—शिन्. तु. म्यर्. बऽि. ल्ह. छेन्. पो. ब्गेग्स्. क्यि. ग्र्यल्. पोऽि. स्ग्रुब्. थब्स्[22]। पुष्पिका (Colophon) में इसका संक्षिप्त शीर्षक 'ब्गेग्स्. सेल्. बङिस्ग्रुब्.थब्स्' अर्थात् 'विघ्नविनायकसाधन' दिया है।

अतिशा का 'गणपतिशान्तिसाधन' तिब्बती में 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. शि. बऽि. स्ग्रुब्. थब्स्'[23] के नाम से मिलता है। यह तिब्बत के वरेण्य साहित्यकार रिन्. छेन्. ब्सङ्. पो [रत्नभद्र] ने अनुवाद किया। रिन्. छेन्. ब्सङ्. पो ने भारत में ७५ आचार्यों से शिक्षा ली थी और भारत आने वालों में यात्रीसम्राट् हैं। अतिशा जब गुगे में पधारे रिन्. छेन्. ब्सङ्. पो चौरासी वर्ष के वयोवृद्ध मनीषी थे, परन्तु फिर भी वे अतिशा से ध्यानयोग की दीक्षा लेने लगे थे।[24] वर्तमान साधन की पुष्पिका में लिखा है कि यह सिद्धि-सम्भवतन्त्र' के आधार पर शान्त गणपति का ध्यान है। अतीश ने अपने पट्टशिष्य ऽब्रोम. स्तोन् ग्र्यल्. बऽि. ऽब्युङ्. ग्नस् [जयाकर] को शान्त गणपति में दीक्षित किया और जयाकर ने स्प्यन्. स्ङ्. प. छ्. ुल्. खिम्स्. ऽबर् [साक्षिक शीलज्वाल], १०३३-११०३ ई०) को इसकी दीक्षा दी।

अतिशा दीपंकरश्रीज्ञान ने तिब्बत में गणपति-साहित्य का प्रसार किया और अनेक साधकों को गणपति-कल्प की दीक्षा दी। वे तिब्बत में गणपति-साधना के प्रवर्तक और प्रवर्धक हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी में काश्मीर से पण्डित गयाधर तिब्बत गए और वहाँ ऽब्रोग्. मि को 'मार्गफल' (लम्. ऽब्रस्) की दीक्षा दी[25]। साक्य सम्प्रदाय के प्रधान मन्दिर

---

२०. देर्गे तंजुर 'छु' ७४ ख ५—७५ क ४ (तोहोकु सूचीपत्र क्र. ३७३९), पीकिङ् तंजुर 'नु' २८९ ख ४-२९० क ४ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० ८८, क्र. ३४)।

२१. पीकिङ् तंजुर 'तु' ८२ क ६-८२ ख ५ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग २, पृ० ३५१, क्र. ९२)।

२२. पीकिङ् तंजुर 'ङु' ९३ क १-९३ ख २ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१८, क्र. ४६)।

२३. पीकिङ् तंजुर 'ङु' ९७ ख ५-९९ क १ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१९, क्र. ५१)।

२४. Snellgrove, Buddhist Himalaya, Oxford 1957, p. 192.

२५. G. N. Roerich, Blue Annals, p. 112, 207.

(ल्हखङ्.छेन्.पो) में गयाधर की विशाल मूर्ति थी[२६]। गयाधर का तान्त्रिक कपाल एक छोटे साक्य विहार ग्दुङ्. फुद्. छोस्. ऽखोर् में सुरक्षित था[२७]। पण्डित गयाधर तिब्बत के इतिहास में ऽब्रोग्. मि के गुरु होने के कारण विशिष्ट रूप से आदरभाजन रहे हैं। इन्होंने गणपतिविषयक छः ग्रन्थों का तिब्बती में भाषान्तर किया। ये छः कान्हपाद द्वारा रचित हैं। 'विनायकराजसाधन' (तिब्बती—ब्गेग्स्. क्यि. र्ग्यल्. पोऽि. स्ग्रुब्. थब्स्[२८]) का भोटान्तर ग्यि. ज़ो के ज़ल. बऽि. डोद्. सेर् [चन्द्रप्रभ] के सहयोग से किया। इसी प्रकार एक और विनायकराजसाधन[२९] का भोटान्तर भी चन्द्रप्रभ के साथ किया। यह साधन वज्रडाकतन्त्रराज से उद्धृत है। छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. ल. ब्स्तोद्. प[३०] अर्थात् 'गणपति-स्तुति' भी मिलती है। यद्यपि इसके तिब्बती भाषान्तरकार का निर्देश नहीं है, यह गयाधर द्वारा अनूदित ग्रन्थों के प्रसंग में होने से उन द्वारा ही अनुवाद की गई होगी। विनायकराज की प्रतिमा बनाने की पद्धति पर तिब्बती में पूरी पुस्तक है—ब्गेग्स्. ब्दग्. छेन्. पोऽि. स्कु. ब्रि. बऽि. मन्. ङग्. यिद्. ब्शिन्. नोर्. बु. शेस्. ब्य. ब.[३१] अर्थात् 'महा-विनायकरूपोपदेशचिन्तारत्न'। यह गयाधर ने चन्द्रप्रभ के सहयोग से भोटान्तरित किया। परमसिद्ध कान्हपाद की गणपतिबलिविधि का भोटरूपान्तर 'छोग्स्.क्यि. ब्दग्. पोऽि. ग्तोर्. मऽि. छो. ग.' के नाम से मिलता है। इसके भोटान्तरकार भी गयाधर और चन्द्रप्रभ हैं। बलिविधि के अतिरिक्त होमविधि भी तिब्बती में विद्यमान है—ब्गेग्स्. ब्दग्. क्यि. स्ब्यिन्. स्रेग्. गि. छो. ग्. रब्. तु. ब्शद्. प[३२] अर्थात् विनायकहोमविधि [प्रभाषण]। इसमें गयाधर के अनुवाद-सहायक साक्य, ये. शेस् [शाक्यज्ञान] थे। ऊपर से स्पष्ट है कि तिब्बत में गणपति-उपासना, बलि और होम को व्यापक बनाने में पण्डित गयाधर का विशिष्ट स्थान है।

संस्कृत में तिब्बती से भाषान्तरित सूत्रों, शास्त्रों, तन्त्रों आदि का संग्रह कंजुर के नाम से प्रख्यात है। यह तिब्बत के आध्यात्मिक और साहित्यिक विकास का मूलस्रोत है। इसमें 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पोऽि. स्त्रिङ्. पो.'[३३] अर्थात् 'गणपतिहृदय' का समावेश तान्त्रिक साहित्य के विभाग में है। इसका लेखक और भाषान्तरकार दोनों अज्ञात हैं।

---

२६. वहीं, पृ० २०७। तुची, वहीं, पृ० २०५।

२७. Alfonsa Ferrari, वहीं, पृ० ५५, पृ० १३५ टि. ३४४।

२८. पीकिङ् तंजुर 'ड्' ८५ ख ७—८६ क ८ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१६, क्र. ३८)।

२९. पीकिङ् तंजुर 'ड्' ८७ ख ६—८८ ख ५ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१७, क्र. ४१)।

३०. पीकिङ् तंजुर 'ड्' ८८ ख ६—८९ क ३ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१७, क्र. ४२)।

३१. पीकिङ् तंजुर 'ड्' ८९ क ४—८९ ख ८ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१७, क्र. ४३)।

३२. पीकिङ् तंजुर 'ड्' ९० ख ४—९२ ख ८ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१७-१८, क. ४५)

३३. देर्गे कंजुर 'ब' १९२ ख ४१९३ क ६ (तोहोकु सूचीपत्र क्र. ६६५)=धारणीसंग्रह 'वं' २५१ क ७—२५२ क ३ (तोहोकु सूचीपत्र क्र. १०८४)।

यही 'हृदय' कंजुर में फिर से धारणी-संग्रह में भी उपलब्ध है। धारणी-संग्रह दैनंदिन पाठ के हेतु संकलन रहा है। इससे ज्ञात होता है कि यह 'हृदय' कितना प्रचलित था।

सूत्रों, तन्त्रों पर टीकाएँ, पंजिकाएँ, साधन, आयुर्वेद, ज्योतिष, शिल्प, माध्यमक, तर्कशास्त्र आदि संस्कृत मूल-ग्रन्थों का भोटान्तरण कई शताब्दियों तक होता रहा। इन सबका संकलत बु. स्तोन् रिन्. छेन्. ग्रुब्. [रत्नसिद्धि] ने तंजुर के नाम से किया। तंजुर के कई गणपति-विषयक ग्रन्थों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है जिनके भाषान्तरकारों का काल ज्ञात था। जिनके भोटान्तरकारों का पता नहीं, ऐसी भी पाँच कृतियाँ हैं। ज्ञानवज्र का लोग्. ऽद्रेन्. ग्यि ग्दोन्. लस्. थर्. पर्. ब्येद्. पऽि. मन्. ङग्.[३४] 'विनायकग्रह-निर्मोचकोपदेश' है जो कि क्रियातन्त्रों के ब. रि. प्रोक्त विदारणी धारणी के अनुभाग[३५] के अन्तर्गत है। ब. रि रिन्. छेन्. ग्रग्स् [रत्नकीर्त्ति] का काल[३६] १०३८-११०९ (?) है।

तंजुर के तन्त्र-विभाग की 'ङु' पोथी में चार कृतियाँ हैं—(१) 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पोऽि. ऽखोर्. लोऽि. ग्सल्. ब्येद्'[३७] अर्थात् 'गणपतिचक्रसूर्य' नामक महाचार्य डोम्बीहेरुक द्वारा विरचित। इसमें सूर्य का अर्थ रवि नहीं है, अपितु विषय पर प्रकाश डालने वाली कृति, प्रकाशिका है।

(२) 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पोऽि. स्ब्यिन्. स्रेग्. गि. छो. ग'[३८] अर्थात् गणपति-होमविधि। इसके लेखक और अनुवादक दोनों ही अज्ञात हैं। उपशीर्षक में इसे होम वा चुल्लीसम्बद्धसाधन भी कहा गया है।

(३) इसके आगे कान्हपाद की गणपतिस्तुति 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. ल. ब्स्तोद्. प'[३९] है।

(४) अमोघवज्र के 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. ल. ब्स्तोद्. प'[४०] गणपतिस्तोत्र का भोटान्तरकार भी अज्ञात है।

बारहवीं शताब्दी में चन्द्रकीर्ति-विरचित दो गणपति कृतियों का भोटान्तरण हुआ 'छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पो. छेन्. पो. खम्स्. ग्सुम्. द्बङ्. स्दुद्. द्मर्. पोऽि. स्ग्रुब्. पऽि. थब्स्'[४१] जिसका संस्कृत शीर्षक तिब्बती काष्ठलिपि में 'महागणपतिधातुत्रिकरक्त-

---

३४. पीकिङ् तंजूर 'तु' ५८ ख ३-५९ क २ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग २, पृ० ३४४, क्र. ४९)।

३५. कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० ५४६।

३६. M. Lalou, Répertoiré du Tanjur d'aprés le Catalogue de p. Cordier, p. 198.

३७. पीकिङ् तंजुर 'ङु' ९४ क ३-९५ ख ४ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१८, क्र. ४८)।

३८. पीकिङ् तंजुर 'ङु' ९९ ख ५-१०० क ६ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २२०, क्र. ५३)।

३९. पीकिङ् तंजुर 'ङु' १०० क ६-१०० ख ५ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २२०, क्र. ५४)।

४०. पीकिङ् तंजुर 'ङु' १०२ क ५-१०२ ख ८ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २२०, क्र. ५६)।

४१. पीकिङ् तंजुर 'ङु' १०३ ख १-१०४ क ८ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २२०, क्र. ५७)।

वशिकुरुसाधन' दिया है। भोट के भावानुसार संस्कृत शीर्षक का शुद्ध रूप रक्त-त्रिधातु वशीकर-महागणपति-साधन होना चाहिए। ग्रन्थ में इसका उपशीर्षक 'कामेश्वर-गणपति-साधन' है और पुष्पिका में भी यही शीर्षक दिया हुआ है (मुख्य शीर्षक नहीं)। इसके साधन हेतु तिब्बती काष्ठलिपि (xylograph) के पृ० १०३ क पर तीन चित्र भी दिए हुए हैं। चन्द्रकीर्ति ने इस साधन के लिए गणपतिमहाकल्पसेकपटल को आधार लिया था। चन्द्रकीर्ति का अन्य 'कामेश्वर-स्तोत्र' भी तिब्बती में 'ऽदोद्. पऽि. द्बङ्. फ्युग्. गि.ब्स्तोद्. प'[४२] के नाम से उपलब्ध है। इसका भाषान्तरकार अज्ञात है।

चन्द्रकीर्ति के दूसरे 'छोग्स्.क्यि. ब्दग्. पो. दम्. छिग्. ग्सङ्. बऽि. ब्स्ग्रुब्. थब्स्'[४३] अर्थात् 'गणपतिसमयगुह्यसाधन' में गणपतिकल्पत्रय, चतु:साधन, और विघ्न-विनायकसूत्र के कर्मसंभार का प्रतिपादन है। पुष्पिका में इसको परमगुह्य कहा गया है। इस साधन में सम्प्रदाय दिया हुआ है—नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति, तथागतरक्षित, जनकशील। इस सम्प्रदाय से सिद्ध होता है कि चन्द्रकीर्ति के गुरु प्रसिद्ध नागार्जुन नहीं थे, अपितु वे काँची में उत्पन्न नागार्जुन के शिष्य थे। काँची-नागार्जुन सरह के शिष्य थे और सरह ८वां शताब्दी में राजा धर्मपाल के समकालीन थे। इस प्रकार इन साधनों में दी सूचनाएँ भारतीय इतिहास के कालनिर्धारण के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।[४४] चन्द्रकीर्ति के दोनों उपरि-वर्णित साधनों के भोटान्तरकार एक ही थे—भारत के महायोगी वैरोचन और तिब्बत के दिङ्. रि. वासी छोस्. क्यि. ग्रग्स्. प[४५] [धर्मकीर्ति]। दिङ्. रि. के ये धर्मकीर्ति अभयाकर गुप्त के समकालीन थे और उनके साथ कालचक्रावतार[४६] का भोटान्तरण किया। अभयाकर गुप्त ने 'मुनिमतालंकार' की रचना १११४ ई० में की थी।[४७] इससे दिङ्. रि. का काल बारहवीं शती निर्धारित होता है।

महायोगी वैरोचन के सान्निध्य में दिङ्. रिं ने भोटान्तरण सम्पन्न किया था। इन कोसलवासी 'योगी व्रतचारी वैरोचन' ने स्वरचित (?) 'सुबुधदेवमहाविघ्नराज-

---

४२. पीकिङ् तंजुर 'ङु' १०४ क ८-१०४ ख ५ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २२१, क्र. ५८)।

४३. पीकिङ् तंजुर 'ङु' १०६ क ३-१०८ ख २ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २२१, क्र. ६०)।

४४. G. Tucci, Tibetan Painted Scrolls, p. 214.

४५. छोस्. क्यि. ग्रग्स्. प (अथवा संक्षेपतः छोस्.ग्रग्स्) अनेक आचार्यों का नाम है। इनमें भद करने के लिए तिब्बती उनके नाम के पूर्व स्थानवाची जोड़ते हैं—

मिङ्. रि (पाठान्तर-ल्दि. रि, ध. रि) के छोस्. ग्रग्स्.

ब. रि के छोस्. ग्रग्स्.

कश्मीर के छोस्. ग्रग्स् (धर्मकीर्त्ति)।

ग्ञन् के छोस्. ग्रग्स्।

४६. कोर्द्ये सूचीपत्र भाग २, पृ० २२, क्र. २९।

४७. विनयतोष भट्टाचार्य, निष्पन्नयोगावली, भुमिका पृ० ११।

साधन' का स्वयं तिब्बती में अनुवाद प्रस्तुत किया—'शिन्. तु. म्युर्. वडि. ल्ह. ब्गेग्स्. छेन्. पो. ब्गेग्स्. क्यि. र्ग्यल्. पो. ब्स्ग्रुब्. पडि. थब्स्'[४८]। पुष्पिका में संक्षिप्त शीर्षक है—विघ्नविनायकसाधन।

बारहवीं शताब्दी में भारत से सर्वज्ञश्री (तिब्बती में—थम्स्. चद्. म्ख्येन्. पडि. द्पल्) तिब्बत गए। इनके काल का आकलन हम तिब्बती नीलेतिहास (देब्. थेर्. स्ङोन्. पो) से कर सकते हैं जिसके अनुसार इनकी देखरेख में छग लोचावा (११५३-१२१६ ई०)[४९] ने संस्कृत ग्रन्थों का भोटान्तर किया। सर्वज्ञश्री ने स्मोन्. ऽग्रो विहार में अभयाकरगुप्त-विरचित 'निष्पन्नयोगावली' का तिब्बती अनुवाद किया 'ज़ोग्स्. पडि र्नल्. ऽब्योर्. ग्यि. फ्रेङ्. ब'[५०]। पीछे से भारत के रत्नरक्षित और रवीन्द्र ने छग् के छोस्. र्जे. द्पल् (११९७-१२६४ ई०) के सहयोग से इस भाषान्तर की आवृत्ति की। इसमें गणपति का तीन मण्डलों में वर्णन आया है—

(१) धर्मधातुवागीश्वर मण्डल में चतुर्भुज सित गणपति।
(२) भूतडामर मण्डल में कपालंधर गणपति।
(३, ४) कालचक्र मण्डल में कौमारी-समापन्न गणेश।

धर्मधातुवागीश्वर मण्डल में गणपति मूषक-वाहन, सित, हाथी के मुख वाले, सर्प का यज्ञोपवीत धारण किए हुए और चतुर्भुज (दाएँ में त्रिशूल और लड्डू, बाएँ में परशु और मूलक) हैं।[५१] भूतडामर मण्डल में गणपति ऐशानी दिशा में स्थित हैं, मूषक-वाहन, सित, गजास्य, त्रिनेत्र, अर्धचन्द्रशेखर, और चतुर्भुज (दाएँ में मूलक और परशु, बाएँ में त्रिशूल और कपाल) हैं।[५२] कालचक्र मण्डल के वाङ्मण्डल और कायमण्डलों में कौमारी-गणेश हैं। वाङ्मण्डल की नैर्ऋत्य दिशा में मयूर के ऊपर गणेश-समापन्ना कौमारी है।[५३] कायमण्डल की ईशान दिशा में मूषक पर कौमारी-समापन्न गणेश सित और चतुर्भुज हैं। दाईं भुजाओं में परशु और वज्र, एवं बाईं में पाश और रत्न हैं।[५४]

पद्म. दोर्. र्जे. ग्लिङ्. रस्. प (११२८-८८)[५५] बहुत प्रभावी तान्त्रिक साधक थे—कालचक्र, यमान्तक, शंवर और वज्रवाराही में विशेष दीक्षा प्राप्त की थी। ग्लिङ्.

---

४८. पीकिङ् तंजूर 'ऽु' ९३ ख २-९४ क २ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २१८, क्र. ४७)।

४९. G. N. Roerich, Blue Annals, pp. 1054-56.

५०. पीकिङ् तंजूर 'थु' ११५ ख ४-१८५ क ८ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग २, पृ० ३७१, क्र. २)।

५१. विनयतोष भट्टाचार्य, निष्पन्नयोगावली, पृ० ६२, Indian Buddhist Iconography p. 365.

५२. वही, पृ० ७२, Iconogr. p. 366.

५३. वही, पृ० ८७।

५४. वही, पृ० ८९।

५५. G. N. Roerich, Blue Annals, pp. 659-664.

रस्. प तिब्वत के 'महासिद्ध सरह' कहलाते हैं और इन्होंने दोहा पर टीका लिखी है। इन द्वारा रचित 'क्यपगोन. पोऽि स्ङोन्. स्तोद्' नामक महाकालस्तुति में गणपति के निम्न लक्षण दिए हैं—चन्द्रप्रभ, हस्तिमुख, त्रिनेत्र, रागदृष्टि, काले केश और चिन्तामणि एवं चन्द्रकला से अलंकृत, लम्बोदर, चार भुजाओं में मूलक, लड्डू, त्रिशूल और परशु धारण किए हुए, रत्नों एवं पुष्पालंकरणों से विभूषित और मुख से रत्न उगलते हुए मूषक पर आरूढ हैं। आगे चलकर, इसी पुस्तक के आठवें पन्ने पर गणपति की वन्दना है जिसमें पूर्वोल्लिखित लक्षणों को पद्यबद्ध कर दिया है और अन्त में कहा गया है कि मैं अमुक-अमुक लक्षणों से युक्त गणपति की स्तुति करता हूँ।

लोचावा ग्रग्स्. प. ग्र्यल. म्छन् [कीर्त्तिध्वज, ११४७-१२१६ ई०[५६]] ने कीर्त्ति-चन्द्र के कहने पर साक्य महाविहार में अनेक साधनों का अनुवाद किया। इनमें 'ग्शन्. ग्यिस्. मि. थुब्. पऽि. स्ग्रुब्. थब्स्.'[५७] अर्थात् अपराजितासाधन है। इसमें अपराजिता को 'गणपतिसमाक्रान्ता' कहा गया है। गणपति अपराजिता के पैरों के नीचे हैं।

प्रख्यात साक्य लामा ऽफग्स्. पा (१२३५-८० ई०) ने मंगोल सम्राट् कुबिलाई खां से तिब्वत पर साक्य लामाओं के प्रशासन की मान्यता प्राप्त करके तिब्वती इतिहास में नया मोड़ उपस्थित किया। इस कारण तिब्वत में ऽफग्स्. पा लामा और उनके पिताश्री की अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि ऽफग्स्. पा के पिता को गणेश ने अपनी सूंड में उठाकर मेरु पर्वत के शिखर पर जा बिठाया। पिता भयभीत हो गए और पर्वत के नीचे देखने से कतराने लगे। गणेश से आश्वस्त होकर जब नीचे दृष्टि डाली तिब्वत के समस्त प्रदेश दिखाई दिए। गणेश ने पिता से कहा—'तुमने डरकर अपना अवसर खो दिया, परन्तु जो-जो प्रदेश तुमने देखे हैं उन पर तुम्हारे वंशज राज्य करेंगे।' पुत्ररत्न प्राप्त हुआ जो आगे चलकर ऽफग्स्. पा के नाम से प्रसिद्ध हुआ और कुबिलाई खां (१२६०-६४) का गुरु, विलक्षण इतिहासकार एवं साहित्यिक, तान्त्रिक साधक और तिब्वत में साक्य आधिपत्य का प्रवर्तक हुआ। तिब्वती इतिहास की नई दिशा को लोकजिह्वा पर मंगलान्वित करने वाले गणेश बने।[५८]

ग्यान्त्से के इतिहास में पूर्वी राज के शासक (मि. द्पोन्) द्पोन् ग्र्यल्. म्छन्.

---

५६. वही, पृ० २११।

५७. पीकिङ् तंजुर 'दु' २४५ ख १-४ (कोर्द्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० ५६, क्र. २८९)=साधन-माला (विनयतोष भट्टाचार्य का संस्कृत संस्करण) क्र. २०४ पृ० ४०३।

५८. G. Huth, Geschichte des Buddhismus in der Mongylie, II. 139...; Helmut Hoffmann, The Religions of Tibet, p. 137; Albert Grünwedel, Mythologie des Buddhismus in Tibet under Mongolei, p. 64.

ब्सङ्. पो [ध्वजभद्र] की जीवनी है। ध्वजभद्र ने ल्हा. मो. द्पल् [देवीश्री] से विवाह किया और उनके तीन पुत्र हुए। १३२० ई० में उनके दूसरे पुत्र द्पल्. ल्दन्. रिन्. छेन्. पो [श्रीरत्न] का जन्म हुआ। वह धर्म में बद्धमूल और यक्षाधिपति के समान गौरवसम्पन्न था। बड़ा भाई ल्दन् प्रदेश में शास्त्रों के अध्ययन हेतु गया और वहीं घर बनाकर बस गया। वहाँ साक्य के रवङ्. ग्सर्. प के ब्शि. थोग् प्रासाद में प्रथम सचिव बन गया। १३३४ में द्प्यल् के वरेण्य आचार्य ऽफग्स्. र्ग्यल. ब [आर्यजय] को अपने यहाँ बुलाया। माँ, बड़े भाई और छोटे भाई श्रीरत्न ने अष्टशील ग्रहण किए और तीनों ने अपने दीक्षा-नाम रखे। दीक्षा के समय आचार्य के प्रथम पद ऽफग्स्. पा को जोड़कर द्पल्. ल्दन्. रिन्. छेन्. प का नाम ऽफग्स्. प. रिन्. छेन् [आर्यरत्न] हो गया। शील-ग्रहण के उपरान्त आर्यरत्न को यक्षाधिपति गणपति का साक्षात्कार हुआ।[५९] इससे स्पष्ट है कि गणपति-साधना का तत्कालीन साक्य सम्प्रदाय में प्रमुख स्थान था।

चौहदवीं शताब्दी में ग्यान्त्से नगर के समीप तिब्बत के कलोत्कर्ष का निरूपण कुम्बुम् के चैत्य में हुआ। यह १०८ वर्ग हाथ की विशाल नींव पर बना है। चार धरातल, कलश और शिखर के छः तलों की यह विराट् स्थापत्याकृति तिब्बत का 'छोकु' (छोस् स्कु) धर्मकाय अर्थात् साक्षात् स्तूपायमान धर्म है। शिलालेखों में वर्णित कलाकारों के नाम पहली बार तिब्बती कला के इतिहास को ध्रुव कालक्रम में सुव्यवस्थित करते हैं। इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक चैत्य के पहले के धरातल के १२वें देवालय में साक्य सम्प्रदाय के अनुसार महारक्तगणपति, पीत गणपति, और गणपति-परिवार-चतुष्टय के भव्य भित्तिचित्र हैं।[६०] इसी प्रकार तीसरे धरातल पर ६ठे मन्दिर में भी गणपति का भित्तिचित्र है जिसमें लड्डुक, मूलक, त्रिशूल और परशु धारण किए हुए हैं।[६१] इसी तृतीय धरातल के ६वें देवालय में अष्टमहादेवों (ल्ह. छेन्. पो. ब्र्ग्यद्) के अन्तर्गत सित गणपति का चित्रण है। यहाँ द्विभुज हैं—एक हाथ से परशु धारण किए हैं दूसरा हाथ शक्ति को पकड़े हुए है।[६२] तृतीय धरातल के १६वें देवालय में गणपति और उनकी शक्ति चित्रित हैं।[६३]

भारत से तिब्बत जानेवाले आचार्यों में वनरत्न को तिब्बती 'पण्डित मथङ.म.'

---

५९. G. Tucci, Tibetan Painted Scrolls, p. 662

६०. G. Tucci, Indo-Tibetica IV. 1 पृ० १६४, IV. 2 पृ० २० (शिलालेख), पृ० १५३ (शिलालेख का अनुवाद), IV. 3 (चित्र १८८)।

६१. वही, IV. 1 पृ० २४२, IV. 2 पृ० ५१ (शिलालेख), पृ० १९३ (शिलालेख का अनुवाद), IV. 3 (चित्र ३०२)।

६२. वही, IV. 1 पृ० २४६, IV. 2 पृ० ५४ (शिलालेख), पृ० १९६ (शिलालेख का अनुवाद), IV. 3 (चित्र ३०८)।

६३. वही, IV. 1 पृ० २८८।

अर्थात् 'अन्तिम पण्डित' कहते हैं। ये १४२६ में तिब्बत पहुँचे और अनेक धर्म-कार्य किए जिनका उल्लेख नीलेतिहास (देब्. थेर्. स्ङोन्. पो) में किया हुआ है।[६४] वनरत्न ने ८५ वर्ष की आयु में तिब्बत में ही १४६८ ई० में शरीरोत्सर्ग किया।[६५] इनका जीवनकाल १३८२-१४६८ है।[६६] तिब्बत में वनरत्न के उपदेशों का अनुवाद ब्सोद्. नम्स्. र्ग्य. म्छो [पुण्य-सागर] किया करते थे। पुण्यसागर का दूसरा नाम र्ग्य. म्छोङि. स्दे [सागर-सेन] भी था।[६७] इनका जीवनकाल १४२४-१४८२ है।[६८] पुण्यसागर के सहयोग से पण्डित वनरत्न ने अनेक संस्कृत पुस्तकों का तिब्बती अनुवाद किया। इनमें 'छोग्स्. क्यि. द्बङ्. फ्युग्. गि. ब्स्तोद्. पा'=गणेश्वरस्तव भी है।[६९] अपने गुरु से दीक्षा ले, पुण्यसागर ने आगे चलकर अन्य व्यक्तियों को भी गणपति की दीक्षा दी—यथा, रक्तोष्णीषधर छोस्. क्यि. ग्रग्स्. पा. ये. शेस्. द्पल्. बसङ्. पो को उनके आग्रह पर।[७०]

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में ग्यांत्से के कलाकारों की कृतियाँ उत्कर्ष की चरम सीमा को प्राप्त हुईं। यह तिब्बती कला का सुवर्णयुग बना। इसमें पाल-वंश की कला का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें सुवर्णमण्डित और असुवर्णित भागों के व्यतिरेक से कृतियों में अनुपम भव्यता आई है। ग्यांत्से के द्पल्. ऽखोर् विहार से प्राप्त कुछ कृतियाँ लाइडन् संग्रहालय में सुरक्षित[७१] हैं। इनमें एक पोथी-पेटी है जो आकार और वर्णछटा में अद्वितीय है। रक्ताश्मकों से बने गणेश, जिनकी सूँड नीले अश्मक के चारों ओर वलयित है, सारी पेटी में विशेषतः उल्लेखनीय है। ग्यांत्से-कला की सर्वोपरि कांस्यकृति में भी चरम रूपांकन गणेश का है। गणेश तिब्बत की संस्कृति की विभिन्न अभिव्यक्तियों में आराध्य हैं।

१६वीं शती का त्सापाराङ्-स्थित ल्ह. खङ्. द्कर्. पो अथवा 'श्वेत देवालय' अपनी कला के लिए विख्यात है।[७२] संचूर्ण-मूर्तियों और उनके पीछे भित्तिचित्रों की भूमिका से विलक्षण वातावरण बन पड़ा है। एक भित्तिचित्र में गणपति और उनका

---

६४. G. N. Roerich, Blue Annals, p. 799.

६५. वही, पृ० ८०४।

६६. M. Lalou, Répertoire du Tanǰur···, p. 163 a.

६७. वही, पृ० २१७, कोर्दें सूचीपत्र भाग २, पृ० १३, क्र. ६३।

६८. G. N. Roerich, Blue Annals, p. 806, 835.

६९. देर्गे तंजुर, स्तोत्र 'क' २५३ क २-२५३ ख ४ (तोहोकु सूचीपत्र ११७५)।

७०. G. N. Roerich, Blue Annals, p. 832.

७१. P. H. Pott, Introduction to the Tibetan Collection of the National Museum of Ethnology, Leiden, 1951, pp. 39-40 (2845/I). Plate II.

७२. G. Tucci, Tibet, p. 115.

परिवार (छोग्स्. ब्दग्. खोर्. व्यस्) आलिखित हैं।[७३]

अवधूतिपाद जगद्-दर्पणाचार्य के वज्राचार्यक्रियासमुच्चय का तिब्बती भाषान्तर ब्लो. ग्रोस्. र्ग्यल्. मछन्. द्पल्. बसङ् पो [मतिध्वजश्रीभद्र] ने विक्रमशिला के महापण्डित मञ्जुश्री के सहयोग से किया। इसका तिब्बती शीर्षक 'र्दो. र्जे. स्लोब् द्पोन्. ग्यि. व्य. व. कुन्. लस्. व्तुस्. प'[७४] हैं। इसमें गणपति के प्रतिमा-मान दिए हुए हैं।[७५]

अन्य प्रतिमामितीय ग्रन्थों में भी गणपति के मान दिए हुए हैं। तिब्बत के महत्तम कलाकारों में से एक, स्मन्. थङ्. पा, ने पञ्चम दलाई लामा के पोतला प्रासाद पर १६४८ में भित्तिचित्र बनाने प्रारम्भ किए।[७६] इन द्वारा रचित पुस्तक 'र्जोग्स्. पडि. सङ्स्. र्ग्यस्. म्छोग्.। गि. स्प्रुल्. पडि. स्कुडि. च्यग्. छद्' में, जिसके केवल ७वें से १०वें अध्याय ही उपलब्ध हैं, गणपति के प्रतिमामान दिए हुए हैं और विविध तन्त्रों में प्राप्त विभेदों का उल्लेख भी है।[७७]

१५७५ में जन्म पाकर[७८] जो. नङ्. पा तारानाथ ने सारस्वत व्याकरण और अनेक संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती अनुवाद कर फिर से तिब्बत में संस्कृत अध्ययन की नींव डाली और तिब्बती परम्परा में नवजागरण किया। तन्त्र, योग, इतिहास, आदि अन्यान्य विषयों पर प्रकाण्ड विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचनाएँ इनकी संकलित ग्रन्थावली में सुरक्षित हैं। इन्होंने ७३ साधनों का संग्रह किया जिनकी पुनरावृत्ति की, नया अनुवाद किया और जहाँ संस्कृत मूल न मिल पाए वहाँ इन्हें विद्यमान रूप में ही समावेश किया। ये ७३ साधन 'स्ग्रुब्. थब्स्. र्ग्य. म्छोडि. ख. स्कोङ्. गि. ग्शुङ्' अर्थात् 'साधनसागरपूरणग्रन्थ' के नाम से ज्ञात हैं।[७९] ये पीकिङ् तंजुर की तन्त्रों की 'लु' पोथी में क्रमांक १४-६८ हैं। इनमें 'छोग्स्. क्यि. द्बङ्. ल्दन्. छेन्. पो. स्ग्रुब्. पडि. थब्स्'[८०] है जो महागणेशसाधन है। पृ० २०८ पर दी गई सूची में इस साधन के गणेश को पञ्चमुख, दशभुज शुक्ल गणेश कहा गया है। तारानाथ के 'यि. दम्. र्ग्य. म्छोडि. स्ग्रुब्. थब्स्. रिन्. छेन्. ऽब्युङ्. ग्नस्' (४८३ पन्ने) में भी गणेश का विवरण है। तारानाथ ने ज्ञान-महाकाल की साधनवलिविधि में गणपति का उल्लेख किया है—चित्रकार अपना थंका पादपीठ से प्रारम्भ

---

७३. G. Tucci, Indo-Tibetica, III. 2 p. 120, चित्र ८९, ९०।

७४. पीकिङ् तंजूर 'ङु' १३४ क ७-३७४ ख ५ (कोर्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २२६, क्र. ७७)। Blue Annals p. 1045.

७५. G. Tucci, Tibetan Painted Scrolls, p. 299.

७६. वही पृ० २०८।

७७. वही, पृ० २९३।

७८. A. I. Vostrikov, Tibetskaya Istoriceskaya Literatura p. 101.

७९. कोर्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २५१, ५५०।

८०. पीकिङ् तंजुर 'लु' २२५ क २-२०६ ख ३ (कोर्ये सूचीपत्र भाग ३, पृ० २६६, क्र, ८६)।

करता है। इस पर बीजमन्त्र 'पं' से पद्म निकलता है। पद्म पर बीजमन्त्र 'रं' से रवि उदय होते हैं। रवि से श्वेत हाथी जोकि गणपति हैं। गणपति पर षड्भुज कुरुकुल्ल-ज्ञान-महाकाल स्थित हैं।[८१]

पञ्चम दलाई लामा (१६१७-१६८२) के काल में अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का तिब्बती अनुवाद हुआ जिनमें पाणिनि भी सम्मिलित हैं। यह तिब्बती इतिहास का स्वर्णिम युग था और कला, साहित्य आदि के क्षेत्र में भी अनुपम क्रियाशीलता का आविर्भाव हुआ। इन्हीं दिनों ऊपरी चाङ् प्रान्त की (ग्चङ्. स्तोद्) से द्कर् जाति के ङग्. द्वङ्. फुन्. छोग्स्, ल्हुब्. ग्रुब् [वागीश्वर लक्ष्मीनिराभोग] ने संस्कृत से सारस्वत व्याकरणसूत्र[८२] का तिब्बती भाषान्तर किया। इनका दूसरा नाम छे. द्वङ्. रब्. बृतन्. दों. जें. [आयुर्वंशी सुस्थिरवज्र] भी है। इन्होंने समुद्रफलप्रयोग का भोटान्तरण किया जो देवेश्वर अर्थात् भगवान् शंकर ने गणपति को सुनाया। इसका भोट शीर्षक है—'ल्ह. द्वङ्. फ्युग्. गिस्. छोग्स्. ब्दग्. ल. ग्नङ्. वऽि. स. मु. द्र. फ. लऽि. स्ब्योर्. ब. ख व्स्युर्. दङ् बचस्. प'।[८३]

चीन के सबसे शक्तिशाली सम्राट् छचेन्-लुङ् मञ्जु-वंश के थे। इनका धर्म लामायान अर्थात् वज्रयान का तिब्बती रूपान्तर था। स्वयं संस्कृत के प्रेमी और विद्वान् थे। बाल्यकाल में ही ललितवज्र, जो आगे चलकर इनके राजगुरु बने, के साथ संस्कृत का अध्ययन किया। सम्राट् की माता धर्मपरायणा थीं और उनकी ५०वीं, ६०वीं, ७०वीं, ८०वीं जन्मजयन्ती पर सम्राट् ने सहस्रशः मूर्तियाँ बनवाकर माता की शतायुता की कामना की। १७६१ की २० दिसम्बर को, माता की ७०वीं वर्षगाँठ पर, सम्राट् ने मूर्तिकलाप भेंट किया। इनमें

८१. G. Tucci, Tibetan Painted Scrolls, p. 585.
८२. कोर्चें सूचीपत्र भाग ३, पृ० ५१६-५१७, क्र, ३, ४।
८३. देगे तंजुर, स्न. छोग्स् 'नो' ३५३ ख ४-३५९ क ९ (तोहोकु सूचीपत्र ४४४१)।

गणपति की प्रतिमा भी थी जिसका चित्र पीछे पृष्ठ पर दिया जा रहा है। यह मूर्ति पीकिङ्-स्थित पाओ—प्याङ् लोउ प्रासाद में सुरक्षित है।[८४]

सम्राट् ने अपनी माता को किसी जन्मदशक पर देवरूपावली भी भेंट की जो आजकल पेकिङ् के राष्ट्रीय पुस्तकालय में विद्यमान है। राजगुरु ललितवज्र की देखरेख में इसका आलेखन हुआ और इसका चीनी शीर्षक है—चु फ़ो फु सा शङ्. प्याङ् त्सान्। इसमें ३६० आचार्यों, देवों, और देवियों के आकर्षक चित्र हैं जो २३ परिवर्तों में बाँटे हुए हैं। पर्यवसान-कल्याण के लिए अन्तिम चित्र महारक्त गणपति का है। यह आचार्य रघुवीर के संग्रह से नीचे चित्रित है।
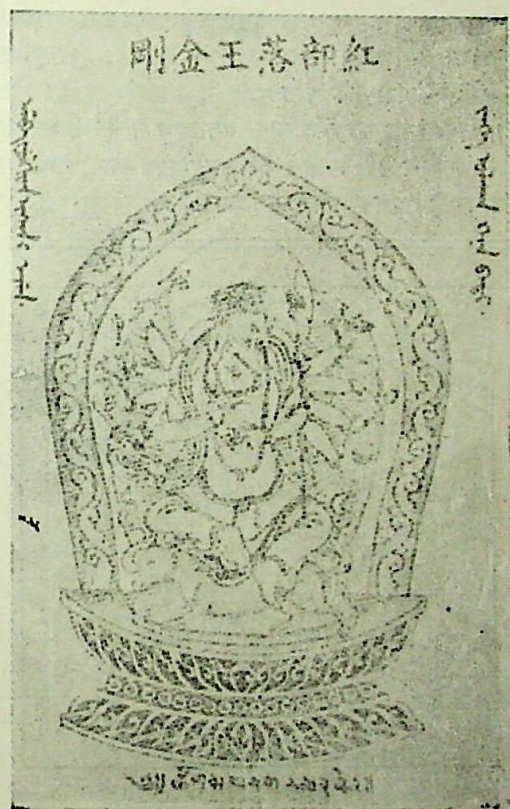
८४. Walter Eugene Clark, Vol- 1 p. xii, xiii, Vol. II p. 153 (चित्र)।

पण्छेन् लामा ब्स्त. पऽि.ञ्नि. म. फ्योग्स्. लस्. र्नम्. र्ग्यल्. [शासनसूर्यदिग्विजय] का काल १७८१-१८५२ (१८५४) है। अनेक भक्तों के आग्रह पर इन्होंने 'यि. दभ्. र्ग्य. म्छोऽि. स्ग्रुब्. थब्स्. रिन्. छेन्. ऽब्युङ्. ग्नस्. क्यि. ल्हन्. थब्स्. रिन्. ऽब्युङ्. दोन्. ग्सल्' लिखा। इस शीर्षक का अनुवाद होगा 'रत्नाकरार्थप्रकाश नाम इष्टदेवसागरसाधनरत्नाकरपरिशिष्ट'। इसका संक्षिप्त शीर्षक 'रिन्. ल्हन्' है। यह तारानाथ के साधन-रत्नाकर का परिशिष्ट है और तिब्वती कला के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके दो भाग ५१९ और ४७० पन्नों में हैं। ये समस्त ९८९ पन्ने अर्थात् १९७८ पृष्ठ (९८९ × २) हैं। पृष्ठ-संख्या से भी इसके विस्तार और महत्ता का पता चल सकता है। यही एक ग्रन्थ है जिसके चित्र सम्पूर्ण उपलब्ध हैं। चित्रों के नीचे मन्त्र भी दिए हुए हैं। ये चित्र 'रिन्. ऽब्युङ्' के नाम से मंगोल देश में काष्ठमुद्रित हुए थे। इस काष्ठलिपि की भारत में केवल एक प्रति है जो आचार्य रघुवीर के संग्रह में सुरक्षित है। पूरी काष्ठलिपि (A New Tibeto-Mongol Pantheon) के भाग ८, ९ में आचार्य रघुवीर और प्रस्तुत लेखक ने प्रकाशित की है। पण्छेन् लामा का रिन्.ल्हन् विषयक्रम से २३ परिवर्तनों में विभक्त है। पहिला परिवर्त आदिकल्याण देवों का है। इसमें महारक्त गणपति का साधन पहली पोथी के ६१ क १-६७ ख पर है। इसका चित्र रिन्ऽब्युङ् से नीचे दिया जा रहा है[८५]—

८५. Raghu Vira and Lokesh Chandra, A New Tibeto-Monlgo Pantheon 84. (काष्ठलिपि ३ ग)

रक्तपद्म पर मूषक और उस पर ललितासन में हैं। दाईं ओर की पाँच भुजाओं में शर, अंकुश, वज्र, खड्ग, शुलंच (?) और बाईं पाँच भुजाओं में मुशल, चाप, खट्वांग, कपाल,—(?) लिए हुए हैं। दो मुख्य हाथों से कपाल और कर्तरी पकड़ी हुई है। ये गणपति प्रायः थंकाओं पर आलिखित किए जाते हैं। चित्र के नीचे मन्त्र है—ॐ आ: ग: हूं स्वाहा। ॐ वारकाताय स्वाहा। ॐ वक्रतेकदंष्ट्र विन्ध हूं फट् स्वाहा। ॐ भ्रूं गणपतये स्वाहा।

पण्छेन् लामा के रिन्. ल्हन् के १५ वें परिवर्त में शाक्यरक्षित द्वारा आगत देवों के साधन हैं। इनमें पीत गणपति हैं जिनका संक्षिप्त साधन दूसरी पोथी के पन्ने ९३ क, ख पर है। इनका चित्र और मन्त्र रिन्.ज्युङ् के अनुसार आगे दिया जा रहा है।[८६] इनकी दो भुजाओं में परशु, त्रिशूल, लड्डुक और मूलक हैं। डॉ० आदित्यनाथ झा, उपराज्यपाल, दिल्ली प्रशासन, को—स्पिति के किसी लामा से प्राप्त सूचना के अनुसार, चतुर्भुज सित गणपति के भी ये ही आयुध हैं। तीनों नेत्र रागभरी दृष्टि से देख रहे हैं, नासिका रक्तवर्ण है, शरीर छोटा पर मोटा, अंग मांसल होने से झुर्रियाँ पड़े हुए, शरीर पर हरे रंग का परिधान ओढ़े हुए और रत्नों की माला से सुशोभित हैं। दाईं भुजाओं में लड्डू और मूलक और बाईं में परशु और त्रिशूल है। मूर्तियाँ प्रायः इनकी बनती हैं। इनका मन्त्र—ॐ त्रं ठ ठ ठ हूं ज स्वाहा।

---

८६. वही, ९ : ९१ (काष्ठलिपि ९३ क) यही चित्र Albert Grünwedel पृ० ५५ पर चित्र ४३ है जहाँ गणपति का मंगोल नाम 'तोत्खार—उन् ख़ाग़ान्' भी दिया हुआ है।

रिन्. ल्हन् के १७ वें परिवर्त में धनद-देवों वैश्रवण-कुबेर-जम्भल, आदि के साधन हैं। इनमें तीन विभिन्न गणपतियों के साधन पन्ने १८५ क ६-१८६ क ५ पर हैं। ये तीन क्रमशः—रागवज्र आज्ञाविनिवर्त गणपति, आर्यअतिशाक्रम चतुर्भुज सित गणपति और चतुर्भुज रक्त गणपति। इनका चित्र काष्ठलिपि से उद्धृत है—

रागवज्र आज्ञाविनिवर्त गणपति का मध्यम मुख हस्ती का, दाहिना बिल्ली का और बायाँ वानर का है। छः भुजाएँ, रत्न, खड्ग, विल्व, परशु और सुरापात्र धारण किए हुए हैं। गणपति और उनकी वानरमुखी-शक्ति, दोनों दिगम्बर हैं। इनका मन्त्र है—ॐ ग गणपति मय रत्नसिद्धि। ग ग ग ग ग ग ग ग। गणपति स्वाहा।[८७]

अतिशाक्रम चतुर्भुज सित गणपति का केवल एक हस्ति-मुख है। चार भुजाओं में मूलक, माला, नकुल और परशु हैं। व्याघ्रचर्म पहिने मूषकवाहन हैं। मन्त्र—ॐ भ्रुं गणपति स्वाहा। ॐ भरकतये स्वाहा। ॐ वकत्रेदंष्ट्र भिन्द हूं फट्। भ्रुं गणपति रत्न-सिद्धि स्वाहा।[८७]

चतुर्भुज रक्त गणपति की चार भुजाओं में परशु, मूलक, बिल्व और माला है। मन्त्र है—ॐ रत्न रत्न। रत्नो रत्नो। गणपति। ग ग ग ग ग ग ग ग ग। गणपति। चुरु चुरु। मनुपत्र। रुरु रुरु। ग ग त य। गणपतये स्वाहा।[८७]

सिंहासन महाकाल गणपति की उपासना साक्य सम्प्रदाय में प्रचलित है। इनकी चार भुजाओं में खड्ग, त्रिशूल, पताका और पाश हैं। नीचे इनकी शक्ति श्यामा वेताली है, दाईं ओर दूती (फो. ञ. मो) और बाईं ओर मङ्ग्. गश. ङ्. म (संस्कृत नाम?) है। रिन्. ल्हन् की दूसरी पोथी के ३२८ ख पन्ने से विस्तृत वर्णन है जिसमें इन महाकाल-गणपति के पूरे मण्डल का विस्तार है जिसकी वाह्य परिधि में सप्त-देवियाँ हैं जिन्होंने

---

८७. वही, ९ : ११२ (काष्ठलिपि ११४ क-ग), René de Nebesky-Wojkowitz, Oracles and Demons of Tibet, p. 82.
तीनों रूपों के मन्त्र काष्ठलिपि से उद्धृत हैं।

त्रिशूल और रक्तपूरित कपाल धारण किए हुए हैं। इनके नाम ब्रह्माणी, इन्द्राणी, कौमारी, महादेवी, हयास्या (?), —और महानासा हैं। मण्डल के चार द्वार स्फटिक, सुवर्ण, ताम्र और हरिताश्म से बने हैं। वज्र और पाशधारिणी मातृकाएँ (म. मो) इनकी रक्षिका द्वारदेवियाँ हैं। चित्र और मन्त्र निम्नलिखित है:

मन्त्र—ॐ श्री-महाकालगणपति स्वाहा। नमः श्रीमहाकालगणेशाय। नमो योगिनं। तद्यथा। ॐ हिलि हिलि। किते किते। चित्ते चित्ते स्वाहा। ॐ वज्रयक्ष श्री महाकाल हूं जः।[८८]
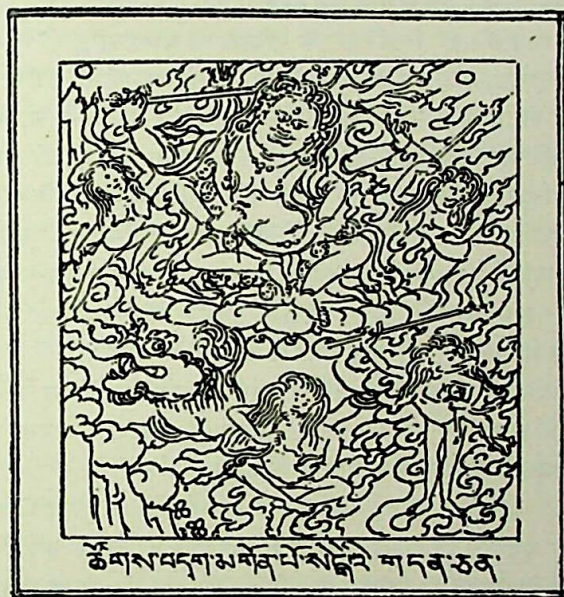
रिन्. ल्हन् की दूसरी पोथी के १६१ ख पर षड्भुज कुरुकुल्ल ज्ञानमहाकाल का साधन है। यह महाकाल व्याघ्रचर्म की लंगोटी पहिने गणपति पर खड़े हैं।[८९] ये महाकाल सर्वान्तरायसंग्रसन और सर्वविघ्नविनायक हैं।

कर्ग्युद्पा सम्प्रदाय की हस्तलिपि 'ब्कऽ. र्ग्युद्. लुगस्. क्यि. ल्ह. ब्सङ्स्. ग्र्यस्. प' ७८ पन्ने की है और लाइडन् (हॉलैण्ड) के संग्रहागार में सुरक्षित है। इसमें १३ द्ग्र. ल्ह का वर्णन है। द्ग्र. ल्ह वे इष्टदेव (ल्ह) हैं जो अपने उपासक की शत्रु (द्ग्र) से रक्षा करते हैं और उनको श्री प्रदान करते हैं। तेरह द्ग्र. ल्ह में गणपति-विशेष का समावेश है। इनका पूरा तिब्बती नाम 'छोङ्. ल्ह छोग्स्. ब्द्ग्. ग्लङ्. स्न' है जिसका संस्कृत रूपान्तर 'वाणिज्यदेव गजवक्त्र गणपति' होगा। उल्लेखनीय है कि यहाँ गणपति

---

८८. वही, ९ : १२६ (काष्ठलिपि १२८ क), René···p. 56.

८९. वही, ९ : ११४ (काष्ठलिपि ११६ ख), René···p. 39.

वाणिज्य के देव हैं। शंख के समान गौर, गजवक्त्र और त्रिनेत्र हैं। दाएँ हाथ में रत्न-मण्डित दण्ड और बाएँ में नेवली (नेवले का बटुआ) है।[९०]

मंगोल और तिब्वत की लामायान परम्परा का प्रसिद्ध विहार पीकिङ् में है। जिसके प्रांगण में १६ विशाल भवन थे। यह मन्दिर युङ्-हो-कुङ् के नाम से ज्ञात है। १७२३ में मञ्जु सम्राट् युङ्-चङ् ने अपने प्रासाद को युङ्-हो-कुङ् विहार में परिणत कर दिया। वह विहार उत्तरी एशिया की आस्थाभूमि थी जिसे दुर्गा,क्याख्ता और कोब्दो से हलहा, बाइकाल् सरोवर से बुर्यात, वोल्गा नदी से खाल्मिक, तिस्तिसखार् से मञ्चु, फोकोनोर से ताङुत्, ल्हासा ते तिब्बती और नेपाल से गोरखे अपनी वेषभूषाओं की विविधता से झंकृत करते थे। धूप की धूम्रमालिकाएँ और स्तोत्रों की मन्द ध्वनियाँ, पीकिङ् के नील गगन को भरती थीं। इसके तन्त्र भवन के महाकाल की मूर्ति में गणपति पादपीठ के रूप में मिलते हैं।[९१] इसी भवन के वैश्रवण प्रासाद में महाकाल का ग्यन्. छोग्स् [भूषणगण] पटचित्र है जिसमें महाकाल लक्षण-मात्र में अलिखित (Painted) हैं। इनमें गणपति उत्तान पड़े हैं।[९२] पूर्ववर्ती छठा भवन, जो पञ्च महाधर्मपाल का था, में भी गणपति मूर्तियों और थंकाओं में प्रतिनिहित थे।

कभी-कभी गणपति वज्रभैरव के पादपीठ के रूप में भी पाए जाते हैं। यहाँ गणपति सांसारिक धरातल पर हैं, लौकिक हैं, संसार के रागमय जगत् के प्राणी हैं, और मण्डल के वाह्यलोक से निर्वाण के बुभूषु हैं।[९३]

महाकाल जब धर्मपाल के रूप में होते हैं मुण्डों की गणित्री लिए रहते हैं और एक गणपति पर स्थित रहते हैं। महाकाल का दूसरा रूप, चिन्तामणि सित महाकाल, धन-देवता का है। इसमें मुण्ड-गणित्री के स्थान पर उनके हाथ में चिन्तामणि है और वे दो गणपतियों पर स्थित हैं। इनके चित्र लाइडन् संग्रहालय में एक काष्ठलिपि पर पाए जाते हैं।[९४] लाइडन संग्रहालय में तिब्बत से प्राप्त खड़े स्तम्भदीप के तैलधारी भाग बहुभुज गणपति से सुशोभित हैं।[९५]

गणपति कृष्ण मञ्जुश्री के पैरों के नीचे भी दिखाए जाते हैं। कृष्ण मञ्जुश्री का दाहिना पैर गणपति के सिर पर है और वायाँ पद्मासन पर। गणपति पीठ पर लेटे हैं और इनका सिर दाहिनी ओर को मुड़ा है। हाथों में आयुध नहीं पर सिर पर जटामुकुट है।

---

९०. René p. 331.

९१. F. D. Lessing, Yung-ho-kung, p. 74.

९२. वही, पृ० १००, १०४।

९३. G, Tucci, Tibetan Painted Scrolls, p- 217.

९४. P. H. Pott, Introducton to the Tibetan Collection..., p. 97

९५. पृ० ११३।

द्ङुल्. छु नदी[९६] के समीप धर्मभद्र प्रसिद्ध आचार्य हुए। इनका काल ज्ञात नहीं। इन्होंने गणपति की बलि-लिपि लिखी जो इनकी संकलित ग्रन्थावली की चौथी (ङ) पोथी में 'द्पल्. ल्दन्. छोग्स्. क्यि. ब्दग्. पोऽि. ग्तोर्. ऽबुल्. ग्यि. दोन्. ब्शद्. प' (३ पन्ने) के नाम से मिलती है। इसका अर्थ 'श्रीगणपतिवलिविधानार्थविवरण' है।[९७]

देर्गे में साक्य सम्प्रदाय का विशाल साधनसंग्रह चौदह बड़ी-बड़ी पोथियों में छपा था। इसका संक्षिप्त शीर्षक 'स्ग्रुब्. थब्स्. कुन्. ब्तुस्' अर्थात् 'साधनसमुच्चय' है। इनके संकलनकार जाम्याङ् ख्यिान्त्से के अवतारी लामा (ऽजम्. द्व्यङ्स्. म्ख्येन्. ब्र्चेऽि. द्बङ्. पो) कुन्. द्गऽ. ब्स्तन्, पऽि. र्ग्यल्. म्छन् [आनन्दशासनध्वज] थे जिनका खाम् प्रदेश में १८२० में जन्म हुआ और धर्म-परायण जीवन के उपरान्त १८९२ में निर्वाण हो गया। इस संग्रह में गणपति पर तीन ग्रन्थ हैं—

(१) द्पल्. छोग्स्. ब्दग्. स्ग्रुब्. थब्स्. दङ्. र्जेस्. ग्नङ् 'श्रीगणपति का साधन और अनुज्ञा' (९ पन्ने)।

(२) छोग्स्. ब्दग्. द्कर्. पो. जो. लुग्स्. र्जेस् ग्नङ्. ब्य. छुल् 'सित गणपति की अतिशा (जो) के क्रम से अनुज्ञा-विधि' (६ पन्ने)।

(३) छोग्स्. ब्दग्. र्जेस्. ग्नङ्. ग्सल्. स्ग्रोन्. मे 'गणपति-अनुज्ञा-प्रकाशदीप' (५ पन्ने)।

न्यिङ्मा सम्प्रदाय के ग्रन्थों का विशाल संग्रह रिन्. छेन्. ग्तेर्. म्ज़ोद् है जिसकी ६४ पोथियाँ हैं। इनमें भी गणपति-विषयक ग्रन्थ हैं, उदाहरणार्थ—'ग्नम्. छोस्. जो. लुग्स्. छोग्स्. ब्दग्. स्ग्रुब्. थब्स्' जो अतिशाक्रम गणपति का साधन है।

पूर्वी तिब्बत के खाम् प्रदेश में, जहाँ के निवासी खम्पा आजकल खण्डयोद्धाओं के रूप में समाचारपत्रों द्वारा सर्वविदित हैं, गणपति की पूजा प्रचलित है। गणपति षड्भुज महाकाल के मण्डल में उनके पुत्र के रूप में पूजे जाते हैं। कभी कुलपति (रिग्. क्यि. ब्दग्. पो) और कभी परिवार में पाए जाते हैं। न्यिङ्मा सम्प्रदाय के एक भारतवर्ती विद्वान्, छिमेरिग्ज़िन् लामा के अनुसार, खाम् प्रदेश में गणपति पर बहुत विस्तृत पूजा-पुस्तकें विद्यमान थीं—छोग्स्. ब्दग्. ग्नम्. ल्चग्स्. स्पु. ग्रि. (लगभग ३०० पन्ने) और छोग्स्. ब्दग् ग्रि. खुग्. ऽज़िन्. प (लगभग २०० पन्ने)। राजनीतिक उथल-पुथल में ये अमूल्य ग्रन्थ खो गए और सदा के लिए अलभ्य हो गए।

भारत की भाँति गणपति की प्रतिमा प्रवेशद्वार पर मांगलिक हेतु रखी जाती

---

९६. Turrel V. Wylie, The Geography of Tibet according to the Dzam-gling-rgyas-bshad, p. 117 n. 37.

९७. Yensho Kanakura et al, A Catologue of the Tohoku Uuiv. Collection of Tibetan Works on Buddhism, no. 6379.

थी। ताबो के समीपवर्ती वैरोचन-मन्दिर के पास ही गणपति द्विभुज हैं। बाएँ हाथ में लड्डू हैं। दाईं ओर शुण्ड है और दाईं भुजा टूटी हुई है।[९८] ताबो के विहार में गणपति की प्रतिमा लकड़ी के द्वार पर उत्कीर्ण है। ल्हाखाङ् के मुख्य प्रवेशद्वार की भित्ति पर गणपति आलिखित हैं।[९९]

मंगोल देश में बौद्ध धर्म का विशेष प्रसार ऽफग्स्. पा. ने सम्राट् क़ुबिलाई की दीक्षा से किया। इस विषयक दन्तकथा ऊपर दी जा चुकी है। प्रारम्भ से लेकर आज तक मंगोल में गणपति लोकाराध्य रहे और विहारों के द्वारों पर अधिष्ठित थे। देगें के गांडङ् विहार के द्वार पर गणपति की प्राचीन प्रतिमा थी। मंगोल भाषा में अनेक साधन आदि भी हैं। दरिद्रनिधिप्रद नाम गणपति साधन, महाचक्र नाम गणपति साधन, दो गणपति गुह्यसाधन, गणपतिशान्तिसाधन, गणपतिचिन्तामणिसाधन, गणपतिसमयगुह्य-साधन, दो गणपतिस्तुतियाँ, गणपतिस्तोत्र, गणपतिरागवज्रसमयस्तोत्र, गणपतिबलिविधि, गणपतिहोमविधि, गणपतिचक्रसूर्य—ये १४ ग्रन्थ उलान्बातर् के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित मंगोल तंजुर के तन्त्र विभाग की 'तु', 'नु' और 'डु' पोथियों में प्राप्त होते हैं।

गणपति आज तक तिब्बती पूजा के अंग-रूप में पाए जाते हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व सिक्किम में रुम्थेक् विहार बना है जहाँ पर सिक्किम के राजगुरु ग्येवा कर्मापा रहते हैं। इनके मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर गणपति का भव्य रंगों में आलिखित चित्र है। इस प्रकार हम पाते हैं कि गणपति की परम्परा तिब्बतीय संस्कृति में अक्षुण्ण चली आ रही है।

---

९८. Francke, Antiquities of Indian Tibet, Vol. 1 p. 6, quoted in Alice Getty, Ganesa, p. 42.

९९. Francke p. 42, Getty p. 42.

मैथिली लोक-गीत

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

लोक-गीत जनता के हृदय के उद्गार हैं। ग्रामीण जनता अपनी आशा-निराशा, सुख-दुःख और हर्ष-विषाद को इन्हीं गीतों के माध्यम से व्यक्त किया करती है। इस प्रकार से जन-जीवन का हृदय इन्हीं गीतों में ओत-प्रोत दिखाई पड़ता है। यदि किसी देश की लोक-संस्कृति को जानने की अभिलाषा हो तो उस देश के लोक-साहित्य का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। क्योंकि जन-जीवन का जो चित्रण लोक-साहित्य में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र प्राप्त नहीं हो सकता।

लोक-साहित्य को प्रधानतया निम्नांकित पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है:

(१) लोक-गीत,
(२) लोक-गाथा,
(३) लोक-कथा,
(४) लोक-नाट्य,
(५) लोक-सुभाषित।

लोक-गीत और लोक-गाथा में अन्तर यह है कि पहले में संगीत और गेयता प्रधान होती है और दूसरे में कथानक। पहला यदि गीति-मुक्तक है तो दूसरा महाकाव्य है। लोक-कथा वे छोटी तथा बड़ी कहानियाँ हैं जिन्हें गाँव की बूढ़ी दादी और बूढ़े लोग अपने बच्चों को प्रायः सुनाया करते हैं। इन कथाओं में एक ऐसी 'अपील' होती है जिससे प्रभावित हुए बिना हम नहीं रह सकते। इसीलिए बचपन में सुनी हुई कथाएँ स्मृति-पटल पर सदा अंकित रहती हैं। लोक-नाट्य वे नाटक हैं जिन्हें ग्रामीण जनता समय-समय पर जन-मन के अनुरंजन के लिए खेला करती है। गाँवों में जहाँ मनोरंजन के अन्य साधन उपलब्ध नहीं है, वहाँ ये ही लोक-नाट्य जनता के नीरस जीवन में आनन्द की धारा प्रवाहित करते हैं। लोक-सुभाषित में कहावतें, मुहावरे, पहेलियों आदि का समावेश होता है।

लोक-गीत अनेक प्रकार के पाए जाते हैं। इन्हें निम्नांकित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:

(१) संस्कार-सम्बन्धी गीत,
(२) ऋतु-सम्बन्धी गीत,
(३) जाति-सम्बन्धी गीत,
(४) देवी-देवता-सम्बन्धी गीत,
(५) व्रत सम्बन्धी गीत,
(६) श्रम-सम्बन्धी गीत ।

धर्म-शास्त्रों में षोड्श संस्कारों का विधान पाया जाता है। परन्तु लोक-गीतों में केवल पाँच ही संस्कार विशेष रूप से मिलते हैं।

(१) पुत्र-जन्म,
(२) मुण्डन,
(३) यज्ञोपवीत,
(४) विवाह,
(५) द्विरागमन या गवना ।

पुत्र-जन्म के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं उन्हें सोहर कहते हैं। इसी प्रकार से मुण्डन तथा यज्ञोपवीत के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों की भी संख्या कुछ कम नहीं है। विवाह के समय अनेक प्रकार के विधि-विधान किए जाते हैं। इन सभी अवसरों पर गीतों के गाने की प्रथा है। गवना अर्थात् बेटी की विदाई के गीत बड़े ही कारुणिक होते हैं जिनमें करुण रस का सागर लहराता दिखाई पड़ता है।

मिथिला का प्रदेश लोक-साहित्य में अत्यन्त समृद्ध है, ऐसा होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रदेश में मैथिल-कोकिल विद्यापति ने अपनी मधुर काकली को सुनाकर जनता को रससिक्त किया हो वहाँ लोक-गीतों की प्रचुरता का होना स्वभाव सिद्ध है।

मैथिली लोक-गीतों का प्रधानतया चार भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है:

(१) संस्कार-सम्बन्धी गीत,
(२) ऋतु-सम्बन्धी गीत,
(३) व्रत-सम्बन्धी गीत,
(४) विविध गीत ।

संस्कार-सम्बन्धी गीतों में सोहर, जनेऊ के गीत, लग्न गीत, समदाउनि, सम्मटि आदि की प्रधानतया पाई जाती है। इसी प्रकार से ऋतु-गीतों में फाग, चैतावर, मलार और बारहमासा का समावेश होता है। मिथिला में व्रत-सम्बन्धी गीतों की भी कुछ कमी नहीं है। इनमें मधुश्रावणी, छठ के गीत, श्यामा चकेवा आदि प्रसिद्ध हैं। विविध गीतों में झूमर, बरगमनी, तिरहुति और जट-जटिन के गीतों की गणना की जाती है। इस प्रकार मिथिला के लोक-गीत वैविध्य में अपना सानी नहीं रखते।

पुत्र-जन्म के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'सोहर' कहते हैं। इन गीतों में उत्साह और आनन्द भरा रहता है। बच्चे के माता और पिता पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर ब्राह्मणों को दक्षिणा और गरीबों को दान देते हुए दिखाई पड़ते हैं। चूँकि पुत्री का आगमन हिन्दू-समाज की अभीष्ट वस्तु नहीं है, अतः पुत्री के जन्म पर सोहर के रसीले गीत नहीं गाए जाते। कुछ ऐसे भी गीत पाए जाते हैं जिनमें वन्ध्या-स्त्री की मूक वेदना मुखरित हो उठी है। वह अपने वन्ध्यापन को कोसती हुई किसी देवी या देवता से पुत्र-प्राप्ति की प्रार्थना करती है। वन्ध्या-स्त्री के कष्टों का यह वर्णन कितना कारुणिक है :

'सासु मोरा विप्र हे मारए
ननद गरियावय हे।
विप्र गोतिनी कएल तरमेन,
वझिनियाँ गरछाओल हे।'

गर्भिणी स्त्री की भोजन की अभिलाषा को 'दोहद' कहते हैं जिसकी पूर्ति करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। राजा दिलीप सुदक्षिणा के दोहद की पूर्ति के लिए उसकी सखियों से बार-बार पूछा करते थे।[1]

न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं,
स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इतिस्म पृच्छत्यनुवेल मादृतः,
प्रिया सखीमुत्तर कोशलेश्वरः।

मैथिली लोकगीतों में पति अपनी गर्भिणी स्त्री की इच्छा-पूर्ति के लिए व्याकुल दिखाई पड़ता है। कृष्ण रुक्मिणी से पूछते हैं कि :

'रानी कओने कओने फल भावए,
कहिक बुझावहु ए।'

रुक्मिणी उत्तर देती है कि :

'लवंग इलइचिया मन ने भावए,
नवरंगिया देखिक हुलि आवए हे।
राजा जेठ रे बइसाख के टिकोरवा,
चटनिया मनमा भावए हे।
राजा दाख, छोहारा मनने भावए,
नवरंगिया देखिक हुलि आवए हे।

---

१. रघुवंश सर्ग-२

जेठ रे बइसाख के इमिलिया,
चटनिया मनमा भावए हे[१]।'

पुत्र-जन्म के सुअवसर पर नन्द अपनी भावज से 'नेग' माँगती है जिसे वह प्रसन्न होकर देती है[२]।

'कगना पहिरि भऊजी ठाढ़ि भेलन,
अओरो से निखरि गेलन रे।
ललना पड़ि गेल ननद मुख डीठ,
कगनमा हम बधइया लेबइ रे।'

कहीं-कहीं सोहर के इन गीतों में गर्भिणी स्त्री की शरीर-यष्टि का बड़ा ही सुन्दर वर्णन पाया जाता है। गर्भिणी के मुख का पीला होना और उसके शरीर का पतला होना उसके आसन्न-प्रसवा होने का लक्षण है।

'आठहि मास जब बीतल,
नवे अब चढ़ल रे।
ललना रे बबुनी के मुँह पियराहल,
देह दुबराइल रे।'

ग्रामीण कवि ने इस गर्भिणी की शरीर-यष्टि का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।

जनेऊ के गीतों का वर्ण्य-विषय वे विविध विधि-विधान हैं जो इस अवसर पर किए जाते हैं। जैसे ब्रह्मचारी के द्वारा मूंज की करधनी का पहनना और मृगछाला को धारण करना। मिथिला में विवाह के गीतों को 'लगन-गीत' कहा जाता है। ये गीत बड़े ही सुन्दर और सरस होते हैं। इनमें कहीं तो कुँआरी कन्या के पिता की चिन्ता पाई जाती है तो कहीं वर को खोजने के लिए पिता की परेशानियाँ चित्रित की गई हैं। मैथिली लोककवि ने कहा है कि जिसके घर में कन्या अविवाहिता हो वह पिता भला निश्चिन्त कैसे सो सकता है।

'जाहि घर आहे बाबा धिया रे कुमारि।
से हो कहसे सुतथि निचिंत हे॥'

पिता अपनी पुत्री के लिए अनुकूल वर खोजने के लिए अनेक स्थानों की यात्रा करता है परन्तु कहीं भी उसे उचित वर नहीं मिलता। वह परेशान होकर किसी निर्धन व्यक्ति को ही वर के रूप में स्वीकार कर लेता है[३]।

---

१. राकेश, मैथिली लोकगीत, पृ० ५७।
२. वही, पृ० ६३।
३. राकेश, वही, पृ० १३२।

'अतना वचनिया जब सुनलन कवन बाबा,
घोड़ा चढ़ि भेला असवार हे।
चलि भेल मगह, मुँगेर हे।
पुरुब खोजल बेटी, पश्चिम खोजल,
खोजल में मगह, मुँगेर हे।
तोहरा जुगुति बेटी वर नहि भेंटल,
खोजि अइलौं तपसि भिखार हे।'

संस्कृत के किसी कवि ने कहा है कि कन्या पिता के लिए सदा सिर-दर्द बनी रहती है। उसे सदा कष्ट प्रदान करती है :

'पुत्रीति जाता महती हि चिन्ता,
कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
दत्त्वा सुखं प्राप्स्यसि वा न वेति,
कन्या पितृत्वं खलु नाम कष्टम् ।।'

गवना के गीतों को 'समदाऊनि' कहा जाता है। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है—स्वाभाविकता। जब पुत्री विवाह के पश्चात् अपने पिता के घर से पति के घर में जाने लगती है उसका हृदय इस विछोह से अत्यन्त दुखी हो जाता है। वियोग के इस अवसर पर माता-पिता, भाई-बन्धु सभी की आँखों से गंगा और जमुना की धारा प्रवाहित होने लगती है। लोक-कवि ने इस दृश्य का बड़ा ही कारुणिक वर्णन किया है :

'बाबा के कनले में नग्र लोग कानल,
अमा के कनल, दहलल भुँइ हे।
भइया निरबुधिया के आँगी टोपी भिजल,
भऊजी के हृदय कठोर हे।'

भोजपुरी के गवना के एक गीत में भी इसी प्रकार की दशा का चित्रण किया गया है :

'बाबा के रोवले गंगा बढ़ि अइली,
आमा के रोवले अन्हार रे।
भइया के रोवले चरन धोती भींजे,
भऊजी नयनवाँ ना लोरर रे।।'

सचमुच गवना के गीतों में करुणा का समुद्र लहरें मारता हुआ दिखाई पड़ता है। ये गीत क्या हैं करुण रस की सरिता हैं जिनका प्रवाह अजस्र रूप में युगयुगों से प्रवाहित होता हुआ आज भी चला आ रहा है।

ऋतु-सम्बन्धी गीतों में फाग, चैतावर, मलार और बारहमासा प्रधान हैं। होली

के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'फाग' कहते हैं। भोजपुरी में इन्हें 'फगुआ' कहा जाता है। फाग के गीतों की गति, उनकी भाषा का वन्ध और स्वरों का सन्धान अत्यन्त मीठा होता है। गवैये गीत के एक-एक टेक की अनेक बार आवृत्ति करते हैं। फाग के गीत सम्भोग-शृंगार से लबालब भरे हुए हैं। इनमें संभोग शृंगार छलका पड़ता है। एक उदाहरण लीजिए :

'नकबेसर कागा ले भागा,
सइयाँ अभागा ना जागा।
उड़ि उड़ि काग कदम चढ़ि बइसल,
जोवना के रस ले भागा।
सइयाँ अभागा ना जागा।'

× × ×

'गोरी कहमा गोदओलह गोदना,
बँहिया गोदउली, छतिया गोदउली,
बाकी रहल दुनु जोबना।
पिया के पलंग पर रोदना,
गोरी कहमा गोदओलह गोदना।'

फाग 'कोरस' है अर्थात् इसे समूह में ही गाया जाता है। होली के अवसर पर गवैयों की टोलियाँ समवेत स्वर में इसे गाती फिरती हैं।

'चैतावर' चैत्र मास में गाया जाता है। मिथिला का चैतावर भोजपुरी प्रदेश में चैता के नाम से प्रसिद्ध है। चैत्र में ऋतुराज वसन्त का आगमन होता है। आम में मंजरा लगती है और कुछ ही दिनों में फलस्वरूप टिकोरा भी दिखाई पड़ता है। बगीचों में खिले फूल अपनी अपूर्व सुगन्ध से जन-मन को उत्फुल्ल बना देते हैं। ऐसे मधुर महीने में प्रियतम का घर में होना आवश्यक है। किसी परदेशी पति को लक्षित करती हुई कोई विरहिणी कहती है कि यदि चैत्र का मादक महीना बीत जाएगा मेरा परदेशी पति घर पर आकर क्या कहेगा[1] ?

इसकी व्यंजना इस प्रकार हुई है—

'चैत बीति जयतह हो रामा,
त पिया की करे अयतइ।
ओर अमुआ मोजर गेल,
फरि गेल टिकोरवा,

---

१. राकेश, मैथिली लोकगीत, पृ० २८५।

चैत बीति जयतह हो रामा
त पिया की करे अयतह ।'

भोजपुरी चैतावर की भाँति मैथिली चैतावर में भी पंक्ति के अन्त में 'हो रामा' पद प्रयुक्त पाया जाता है । चैतावर के गीत बड़े ही सरस, मधुर और हृदय-द्रावक होते हैं । इनकी मधुरता हृदय को आप्लावित कर देती है । मदनमोहन कृष्ण के सम्बन्ध में यह गीत मिठास से भरा हुआ है[1] :

'नित प्रति बँसिया बजावे हे रामा
कि मोहन—रसिया ।
मधु मधु तान मधुर सुरवा में,
सुनि सुनि जिया तरसावे हे रामा ।
पीताम्बर की कछनी काछे,
गले बैजयन्ती सोहावै हे रामा ।
वंशी बजावे धेनु चरावे,
गोपियन वन में बुलावे हे रामा ।'

लोक-कवि ने कृष्ण के रूप का जो चित्रण किया है वह भक्त शिरोमणि सूरदास के पदों का स्मरण कराता है ।

कार्तिक शुक्ल षष्ठी को षष्ठी माता की पूजा की जाती है और उस दिन जो गीत गाए जाते हैं वे 'छठ के गीत' कहे जाते हैं । मिथिला में यह त्यौहार बड़े धूमधाम से मनाया जाता है । मधु श्रावणी मिथिला की नवविवाहित स्त्रियों का त्यौहार है जो सावन शुक्ल तृतीया को मनाया जाता है । इस त्यौहार में नव विवाहिता स्त्री एक जलती हुई बत्ती से दागी जाती है । यदि जलने से फफोले निकल आएँ तो स्त्रियाँ इसे सधवायन का चिह्न समझती हैं ।

विविध गीतों की श्रेणी में झूमर अपनी प्रधानता रखता है। स्त्रियाँ झूम-झूमकर इसे गाती हैं । सम्भवतः इसीलिए इसका नाम झूमर पड़ गया है। सम्भोग-शृङ्गार ही इन गीतों का प्रधान वर्ण्य-विषय है। इसीलिए पति-पत्नी का सम्भोग और परदेसी पति के लिए पत्नी की व्याकुलता का इन गीतों में विशेष रूप से वर्णन पाया जाता है। सम्भोग शृङ्गार की यह झाँकी कितनी सुन्दर है ।

'फुलवा पहिनि हम सोयलौं अँगनमा,
अवा जाइ कएलौं ।
ओ मोर राजा अवा जाइ कएलौं ।

---

१. राकेश, लोक-गीत, पृ० २८६ ।

इ देहिया मोर अम्माँ के पोसल,
कइसे हक लगएलौं।
फुलवा अइसन हम चमकत रहलि।
धूर मइल कइ देलौं।'

गत पृष्ठों में मैथिली लोक-गीतों का संक्षिप्त रूप में जो वर्णन प्रस्तुत किया गया है उसीसे इनकी मधुरता और सरलता का कुछ अनुमान किया जा सकता है। मिथिला प्रदेश में लोकगीतों का अक्षय भण्डार भरा पड़ा है, जिनका प्रचुर संग्रह अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। अतः लोक-साहित्य के विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि इन गीतों का संकलन कर इन्हें काल कवलित होने से बचावें।
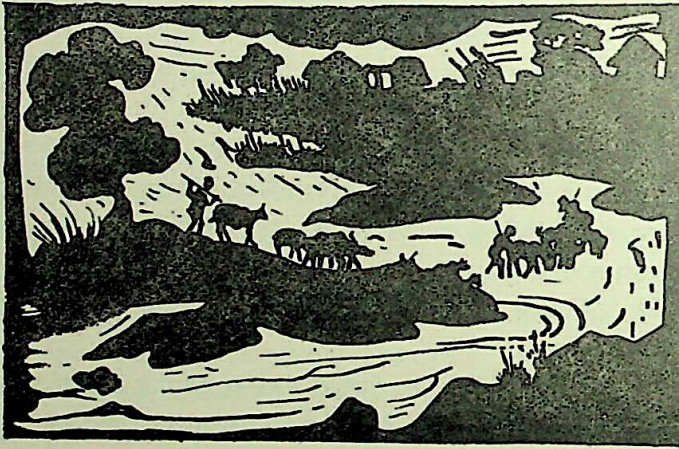
विद्यापति की काव्य-धारा

डॉ० शिवनन्दनप्रसाद

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी शान कहाँ,
ओ री उदास गण्डकी बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ।
'दिनकर'

आज चाहे वैशाली के खण्डहर अतीत गौरव की कहानी न कह सकें, चाहे लिच्छवियों की कीर्ति-पताका हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर न फहराती हो, पर उदास गंडकी के तीर पर मिथिला की अमराइयों में माधुर्य और संगीत का प्रवाह लिए विद्यापति के गीत आज भी गूँज रहे हैं । सूर और तुलसी की अमर रचनाओं के साथ-ही-साथ विद्यापति की पदावली आज भी हमारी संस्कृति को पोषण देकर अनुप्राणित कर रही है ।

विद्यापति हमारे हैं, हिन्दी संसार के हैं । इसमें आज हमें गौरव हो रहा है। गौरव इसलिए भी कि बहुत परिश्रम के बाद, वर्षों के अनुसन्धान के बाद वे हमें मिले हैं। और इसका श्रेय है श्री राजकृष्ण मुकर्जी और डॉ० ग्रियर्सन-जैसे विद्वानों को । विद्यापति के जीवन, उनकी साहित्यिक कृतियों और कुछ बहिर्गत प्रमाणों के आधार पर ये इस निष्कर्ष पर अन्ततः पहुँचते हैं कि विद्यापति बंगाली कवि नहीं थे वरन् मैथिल थे और उनकी कविता की भाषा, जो अब तक बंगाली का एक रूप समझी जाती थी, वस्तुतः बंगाली न होकर मैथिली है ।

मैथिली बंगाली का एक रूप नहीं है वरन् बिहारी भाषा-वर्ग के अन्तर्गत गंगा के उत्तर में दरभंगा के आस-पास बोली जाने वाली एक 'बोली' है। बिहारी के अन्तर्गत आने वाली बोलियाँ भी मागधी अपभ्रंश से उसी प्रकार निकली हैं जैसे बंगाली, असमी और उड़िया। अतः यह पश्चिमी हिन्दी, जो शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है, और पूर्वी हिन्दी जो अर्ध-मागधी अपभ्रंश से निसृत है, दोनों से, उत्पत्ति की दृष्टि से, भिन्न है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में—'यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का सम्बन्ध उत्तरप्रदेश से रहा है किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से यहाँ की भाषा बंगाली की बहन है ।' उक्त बात की पुष्टि हिन्दी, मैथिली और बंगाली आदि के व्याकरण और

उनकी प्रवृत्तियों पर ध्यान देने से हो जाती है। हम देखते हैं, हिन्दी सर्वथा वियोगात्मक अवस्था (analytic Stage) में है, पर बंगाली और मैथिली दोनों ही अभी संयोगावस्था (agglutinative Stage) की भाषाएँ हैं। क्योंकि उदाहरण-रूप में, षष्ठी विभक्ति के लिए हम आज भी बंगला में हिन्दी की भाँति 'राम का' न लिखकर 'रामेर' और मैथिली में भी 'रामक' लिखते हैं।

फिर भी विद्यापति को जो हम हिन्दी कवियों की श्रेणी में लाकर बिठाते हैं उसके कारण हैं। आरम्भ से ही बिहार का सम्बन्ध संयुक्त प्रान्त से सांस्कृतिक रूप से रहा है। अतः भावों के परस्पर आदान-प्रदान के कारण मैथिली और हिन्दी में अनेक समानताएँ आ गई हैं। यह उनके वर्ण-विन्यास, शब्द-शैली और वाक्य-रचना तक में परिलक्षित है। इसीलिए विद्यापति की पदावली को जितनी आसानी से बंगाली समझ सकते हैं उससे अधिक सुगमतापूर्वक हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त के लोग समझेंगे। और भी, मैथिली उस प्रान्त की भाषा है, जहाँ हिन्दी ही साहित्यिक भाषा के रूप में अधिष्ठित है, बंगला नहीं। बिहार प्रान्त में शिक्षा का माध्यम भी तो हिन्दी ही है। अतः विद्यापति की पदावली हिन्दी-संसार की ही अमूल्य निधि है।

भावों की दृष्टि से इसका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य की कृष्ण-काव्य-परम्परा से जुटता है। एक ओर दार्शनिक विचारों की दृष्टि से जहाँ विद्यापति ने निम्बार्क के द्वैताद्वैतमत (सनकादि सम्प्रदाय) से प्रेरणा ली वहाँ दूसरी ओर अपने काव्यगत कलात्मक आदर्शों की दृष्टि से ये जयदेव से अत्यन्त प्रभावित हुए। जयदेव की 'कोमल कान्त पदावली' का प्रभाव सुकुमार शृंगारिक पदों में स्पष्ट रूप से है। इनकी पदावली में पाण्डित्य और अर्थगम्भीरता नहीं, वरन् डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूंजती हुई राधाकृष्ण के चरणों में समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है। उनकी कला को उनके जीवन की रूपरेखा ने भी प्रभावित किया है। अतः इनके जीवन की दो-एक बातें भी देखें।

'विद्यापति एक विद्वान् वंश के वंशज थे।' उनके पिता गणपति ठाकुर और पितामह जयदत्त संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। विद्यापति दरभंगा जिले के बिसपी ग्राम के रहने वाले थे। यह गाँव उन्होंने अपने संरक्षक राजा शिवसिंह से उपहार-स्वरूप पाया था। १४०० ई० में विद्यापति ने उक्त राजा से एक ताम्रपत्र और अभिनव जयदेव की उपाधि प्राप्त की। इनका प्रवेश सम्भवतः हरम में भी था; क्योंकि इन्होंने शिवसिंह की स्त्री रानी लखिमादेई (लक्ष्मीदेवी) का वर्णन भी अपने पदों में किया है।

डॉ० उमेश मिश्र के अनुसार विद्यापति का जन्म संवत् १४२५ और मृत्यु संवत् १५३२ है।

डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं कि ये 'अपने समय के बड़े सफल कवि थे और इन्हें अनेक उपाधियाँ भी मिली थीं।' जैसे—

१. अभिनव जयदेव
२. दश विधान,
३. राजपंडित,
४. कंठहार,
५. नव कवि शेखर,
६. सरस कवि, आदि-आदि।

इनका अधिकार मैथिली पर ही नहीं था, वरन् संस्कृत और अपभ्रंश में भी इन्होंने रचनाएँ की हैं जो निम्नलिखित हैं:

संस्कृत

१. शैव सर्वस्वसार,
२. पुरुष परीक्षा,
३. भू-परिक्रमा,
४. लिखनावली,
५. गंगावाक्यावली,
६. दानवाक्यावली,
७. विभागसार,
८. गया पत्तलक,
९. दुर्गा भक्ति तरंगिणी,
१०. वर्ण कृत्य,
११. शैव सर्वस्वसार—प्रमाण-पूत पुराण-संग्रह।

अवहट्ठ (अपभ्रंश)

१. कीर्तिलता,
२. कीर्ति पताका।

'मैथिली-पदावली' जिसमें उनके जीवन भर के रचे गए पदों का संग्रह है।

इन पदों के तीन वर्ग किए जा सकते है:

१. श्रृंगार-सम्बन्धी,
२. भक्ति सम्बन्धी,
३. काल-सम्बन्धी।

काल-सम्बन्धी पदों में तत्कालीन परिस्थितियों के चित्र हैं, जिसमें शिवसिंह के राज्याभिषेक आदि की बातें वर्णित हैं। भक्ति-सम्बन्धी पदों में शिव, दुर्गा और गंगा की भक्ति और प्रार्थनाएँ हैं।

शृंगार-सम्बन्धी उनके पदों में राधा-कृष्ण के प्रेम-मिलन की प्रधानता है। पदावली में आधिक्य इन्हीं का है। इन पदों के सम्बन्ध में डॉ० रामकुमार वर्मा कहते हैं: 'विद्यापति शैव थे। अतः उन्होंने शिव-सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे तो अवश्य भक्ति से ओत-प्रोत हैं, किन्तु कृष्ण और राधा-सम्बन्धी उन्होंने जो पद लिखे हैं, उनमें भक्ति न होकर वासना है। इस क्षेत्र में जयदेव की शृंगार-भावना ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। विद्यापति की कविता में भौतिक प्रेम की छाया स्पष्ट है।' वे फिर कहते हैं—'वयःसन्धि, नखशिख, अभिसार, मान, विरह आदि से कवि की भावना इस प्रकार सम्बद्ध हो गई है मानो नायक-नायिका के कार्य-व्यापार कवि की वासनामयी प्रवृत्ति के अनुसार हो रहे हैं···उनके सामने राधा और कृष्ण अपना सिर झुकाकर···कार्य करते हैं।···इसके बीच में ईश्वरीय अनुभूति की भावना नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है, दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति लिए राधा।'

उपर्युक्त विचारों में कहाँ तक तथ्य है, इसका विचार करें। उनके मत में राधा और कृष्ण का यह प्रेम-चित्रण वासनारंजित है, उद्दाम शृंगारिकता से पूर्ण है। जैसा वे कहते हैं कि: 'विद्यापति की कविता में शृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। भाव, आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन उनकी पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है। स्थायीभाव रति भी आदि से अन्त तक हैं।' और यह उनकी कला की पूर्णता, उत्कृष्टता का ही परिचायक है। पर यह मन्तव्य कि यह शृंगार लौकिक वासनाजन्य है, हमें ग्राह्य नहीं। इसके कारण हैं। राधा-कृष्ण की अति-मानवता और हिन्दू हृदय की उस दैवी-भावना के कारण, जिसमें सदियों से राधा-कृष्ण के लिए पूज्य भाव मिश्रित रहा है, विद्यापति की शृंगार-भावना में कुछ विशेषता है। हमारे हृदय की कुत्सित भावनाओं से उसका सम्बन्ध नहीं। विद्यापति का शृंगार आध्यात्मिकता की पुनीत अन्तर्धारा से अभिव्याप्त है।

डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के मतानुसार विद्यापति में हम 'कृष्ण के शैशव और राधा के यौवन का विषम व्याघातात्मक समन्वय पाते हैं। यह सामान्य शृंगारिक भावना में सम्भव नहीं।' इस प्रकार का समन्वय हम कई स्थानों पर पाते हैं।

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिन मन इच्छा करि पूरन
आपु भजे हरि ब्रज की खोरी

× × ×

बाल रूप जसुमति मोहि जाने
गोपिन मिलि सुख भोगू।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सों
घेरो रे ब्रज लोगू।।

प्रथम पंक्ति में वात्सल्य, द्वितीय और तृतीय में शृंगार और अन्तिम में शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। यह रसों की त्रिधारा इसीलिए सम्भव हुई क्योंकि राधा और कृष्ण मानव नहीं हैं और उनके प्रेम में असाधारणता है, अपार्थिवता है, वासना-हीनता है। बालक होते हुए भी कृष्ण गोपियों के माधुर्यभाव की तृप्ति में समर्थ थे।

डॉ० रामकुमार वर्मा पुनः लिखते हैं—'विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्यदेव के प्रति भक्ति का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्यभाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है।' पर विद्यापति के निम्नलिखित पदों के गम्भीर अर्थ की ओर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि विद्यापति ने यह कभी भुला नहीं दिया कि कृष्ण हमारे आराध्यदेव हैं, भगवान् हैं :

धनि धनि रमनि जनम धनि तोरि।
जिहि जग कान्हि कान्हि करि झूँरै,
से तुव भाव विभोर।

यहाँ उसी 'कान्ह' से तात्पर्य है जिसकी खोज में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तिमिरमय कन्दराओं और बीहड़ वनों को झेलते आए हैं और वही कृष्ण-राधा और गोपियों के भाव में विभोर हैं। क्या यह वासनामय प्रेम का प्रसाद हो सकता है? और भी :

एकहि नगर बस माधव रे
जिन करवट मारि।
छाड़ु कन्हैया मोर आँचर रे,
फाटत नव सारि।।
हरिक संग किछु डर नाहीं रे,
तो ह परम गँवारि।

'हरिक' शब्द में शान्त रस के साथ ही साथ विष्णुभाव की व्यंजना है। इन पदों को देखते हुए कैसे कहा जाए कि कृष्ण का चित्रण आराध्यदेव के रूप में नहीं है, और राधा का प्रेम भौतिक, वासनाजन्य है? इनमें हम भगवद्-भावना की एक पावन अन्तर्धारा

प्रवहमान पाते हैं। अंग्रेज़ी कवि बाइरन की भाँति विद्यापति का यह सिद्धान्त नहीं है :

'The days of our youth are the days of our glory.'

विद्यापति शिव के भक्त थे, इसलिए वे विष्णु के या कृष्ण के भक्त नहीं हो सकते हैं तथा कृष्ण-सम्बन्धी उनकी पंक्तियों में भक्ति-भाव नहीं हो सकता—ऐसा वे ही कहते हैं जो विद्यापति के युग की उस धर्म-भावना से अपरिचित हैं, जो पूर्वी प्रान्तों में फैली थी और जिसकी प्रेरणा से विद्यापति ने लिखा था :

धन हरि धन हर की नव कला;
खन पीत वसन खनहुँ बघ-छला।

वस्तुतः शिव और विष्णु में अभेद मानना—दोनों को एक ही भगवत्तत्त्व के दो पहलू मानना उस युग की एक प्रवृत्ति थी।

हाँ, यह बात अवश्य है कि सत्यं, शिवं और सुन्दरं में न केवल सुन्दरं की विशेपता है वरन् सुन्दरं का अति-चित्रण भी हुआ है। सुन्दरं की यह अतिरंजित भावना क्षण-भर के लिए विद्यापति की आध्यात्मिकता को ढँक भले ही ले, पर ईशभावना का चिन्तन-स्रोत अन्तःसलिला फल्गू की भाँति अप्रकट रूप में भी बहता ही है।

सौन्दर्य के इस अति-चित्रण का प्रभाव हुआ उनकी कविता में कलापक्ष का उत्कर्ष। डॉ० वर्मा के शब्दों में 'विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कूजन करती हैं। फूल खिला करते हैं, पर उसमें काँटे नहीं होते। राधा-रात-भर जागा करती है। उसके नेत्रों में ही रात समा जाती है। शरीर में सौन्दर्य के सिवाय कुछ भी नहीं है। पथ है, उसमें भी गुलाब है; शैया है, उसमें भी गुलाब। सारा संसार ही गुलाबमय है।' राधा का रूप ऐसा है मानो 'सुनहले स्वप्न मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं। जहाँ उसके पैर पड़ते हैं, वहाँ कमल खिल उठते हैं। उसकी चितवन में कामदेव के बाण हैं, पाँच नहीं, वरन् सभी दिशाओं में छूटे हुए सहस्र बाण।'

सद्यःस्नाता के वर्णन में विद्यापति ने कमाल कर दिया।

कामिनि करे[1] सनाने।
हेरतहि हृदय हनए पंचबाने।
चिकुर गैरे जलधारा
जनु मुख ससि डर रोय अँधारा॥

वे काव्यशास्त्र-मर्मज्ञ थे। अतः शृंगार रस के सभी अंगों की सम्यक् योजना द्वारा उसका सुन्दर परिपाक वे सफल रीति से कर सके। राधा के सौन्दर्य की एक रेखा देखिए :

---

१. हिन्दी साहित्य का आदि काल—डॉ० ह० प्र० द्विवेदी।

कि ग्रारे नव यौवन ग्रभिरामा ।
जत देखल तत कहये न परिग्र,
छग्रो ग्रनुपम इकठामा ।।

उद्दीपन विभाव का एक नमूना भी देखिए :

वाल वसन्त तरुण भये धाग्रोल,
वढ़ये समल संसारा ।
दखिन पवन धन ग्रंग उगारए
किसलय कुसुम परागे,
सुललित हार मजरि घन कज्जल
ग्राँखितौ ग्रन्जल लागे ।

ग्रौर ग्रनुभाव की एक रूपरेखा भी :

सुन्दरि चललिहु यहु धरना ।
चहु दिसि सखि सबकर धरना ।
जाइतनु हार टुटिये गेलना ।
भूखन वसन मलिन भेल ना ।
रोये रोये काजल दहाई देन ना ।
जइसे ससि काँप राहु डरना ।

पर सौन्दर्य के ग्रतिचित्रण के ही कारण यदि यह कहें कि 'विद्यापति के इस वाह्य संसार में भगवद्-भजन कहाँ, इस वयःसन्धि में ईश्वर की सन्धि कहाँ, सद्यःस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, ग्रौर ग्रभिसार में भक्ति का सार कहाँ' तो इन शब्दों में काव्य का चमत्कार, ग्रनुप्रास की छटा भले ही हो, पर सत्य की पूरी-पूरी ग्रभिव्यक्ति नहीं। ग्रधिक सत्य तो यह है कि विद्यापति की भक्ति तुलसी की भाँति दास्यभाव की न थी। विद्यापति के सख्य-भाव में सौन्दर्य-भावना की काफी गुंजाइश है, इससे इनकार नहीं हो सकता। ग्रतः यदि तुलसी की भाँति वे यह नहीं कहें कि :

विषय वारि मन मीन भिन्न नहीं
होत कबहूँ पल एक ।
ताते सहहुँ विपति ग्रति दारुन
जनमत जोनि ग्रनेक ।।
कृपा डोरि बंशी पद ग्रंकुश
परम प्रेम मृदु चारो,
एहि विधि वेगु हरहु मेरो दुःख
कौतुक राम तिहारो ।।

तो इसके लिए वे दोषी नहीं। क्योंकि सख्य-भाव में अन्योन्याश्रय भक्ति होती है। उसमें प्रेम की बड़ाई भी होती है, उत्कण्ठा का उत्कर्ष भी।

विद्यापति के सख्य-भाव में हम निम्नलिखित तत्त्व पाते हैं :

(१) उत्कण्ठा का उत्कर्ष अर्थात् प्रिय-मिलन की अत्यन्त आकुलता। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित पद देखें :

सुरपति पाये लोचन माँगौं,
गरुड़ मागओं पाँखि।
नन्द नन्दन में दीख आवओ
मन मनोरथ राखि

विद्यापति

जायसी ने भी इसी भाव का एक दोहा लिखा है :

यह तन जारौं छारि कै
कहौं कि पवन उड़ाओ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै
कन्त धरै जहँ पाँव॥

अपने को मिटाकर भी प्रिय-मिलन की यह अभिलाषा ! विद्यापति की पंक्तियाँ अलेक्जंडर सेल्कर्क की :

Oh ! Had I the wings of a dove,
How soon would I taste you again.

पंक्तियों से ऊँची श्रेणी की चीज़ हैं। क्योंकि यहाँ उत्कण्ठा आध्यात्मिक है।

(२) प्रेम की दुर्निवारता—जब प्रेम की उत्कण्ठा इतनी बढ़ जाएगी, वह दुर्निवार हो जाएगा। उसे संसार में कौन रोक सकता है ?

विद्यापति कहते हैं—'प्रेमक गति दुर्वार।' और भी,

धरव जोगिनियाँ के भेख रे
करव में पहुँच उदेस रे।

और भी,

जाकर हृदय जतहि रतल
से धसि ततहि आय।
जइयो जतने वांधि निराधिय
नीमन नीर थिराय ?

इन पंक्तियों का भाव-साम्य कालिदास में देखिये :

क ईप्सितार्थस्थिर निश्चयम्मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयंत्।

(३) विरह और प्रेम की एकरसता—ऐसा सच्चा प्रेम, जिसमें इतनी उत्कण्ठा और दुर्वारता हो, विरह से नहीं घबड़ाता। विरह में भी स्थिर रहने की क्षमता है उसमें; क्योंकि वह पार्थिव नहीं है। शरीरान्तर से हृदयान्तर तो वहाँ होता है जहाँ प्रेम लौकिक हो, वासनाजन्य हो। पर विद्यापति का प्रेम ऐसा नहीं। वह विरह की कसौटी पर खरा उतरता है—

सुजनक प्रेम हेम सम तूल।
दहियत कनक द्विगुण होय मूल॥
टुटियत नहिं टुट प्रेम अद्भुत।
जइसक बढ़ए मृनालक सूत॥

विद्यापति

यह अद्भुत, असाधारण, अलौकिक प्रेम, जो वासनारहित है विरह की आँच में तपकर स्वर्ण की तरह निकल आता है, खरा। क्योंकि कवि के हृदय में प्रेम के सिवा और कोई भाव है ही नहीं, स्वार्थ का, वासना का अथवा अपने 'अहं' का—

प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि छावा।
दूसरि बेलि न सँचरै पावा॥

क्योंकि यहाँ पूर्ण आत्मसमर्पण है।

(४) ऐसे प्रेम में स्तब्ध किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता है। जब 'अहं' ही नहीं तो रोग का उपचार स्वयं कैसे किया जाए। अब तो 'वही' मिले तो यह विरह का दारुण दुःख दूर हो—

पुनि फेरि सोइ नयनन यदि हेरवि पाऔब चेतन पाह।
भुजगनि दसि पुनिहिं यदि दंसे तबहि समय बिस जाह॥

विद्यापति

(५) उनके प्रेम में ढिठाई है, जो सख्यभाव में सौन्दर्य ला देती है। यह ढिठाई हम सूर में भी पाते हैं—

आज हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमही माधव, अपन भरोसे लरिहौं॥
अब हौं उधरि नचन चाहत हौं तुम्हें बिरद बिनु करिहौं॥

सूरदास

पर इस पद के कारण हम यह नहीं कहते कि सूर ने कृष्ण को आराध्य के रूप में यहाँ नहीं देखा। आखिर सख्य-भाव की भक्ति भी तो आराधना का ही एक अंग है।

अतः यह कहना उचित नहीं कि उन्हें सद्यःस्नाता अथवा वयः सन्धि से चंचल और कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ मात्र गूँथनी थीं।

यदि ऐसा होता तो विद्यापति का प्रभाव युग-विशेष के साथ नष्ट हो गया होता और चैतन्य महाप्रभु के समान कृष्ण के सच्चे भक्त उनके पदों का इतना आदर न करते। डॉ० जनार्दन मिश्र लिखते हैं—'विद्यापति के प्रचार का सबसे बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बंगाल में वैष्णव सम्प्रदाय के ये सबसे बड़ा नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति की ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्ण पदों को गाकर ये इस प्रकार भाव में मग्न हो जाते थे कि इन्हें मूर्च्छा-सी आ जाती थी। इनके हाथों विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया।'

और आज सदियों के पश्चात् भी विद्यापति अमर हैं, उनकी पदावली अमर है। आज भी मैथिल जनता इनके मधुर गीतों को गाकर रस-मग्न हुए बिना नहीं रहती। इनके अनेक पद लोगों की जिह्वा पर रहते हैं। निम्नलिखित उनमें से एक है :

सरसिज बिन सर, सर बिनु सरसिज की सरसिज बिनु सूरे।
तन बिनु यौवन, यौवन बिनु तन की यौवन पिय दूरे।।

कितना माधुर्य्य ! कितना लालित्य !! मानो हृदय-वन-प्रान्त में उमड़ती भक्ति की निर्झरिणी इन्द्रधनुषी रंगों से रंगीन हो गई है जिससे उसके फेनिल तरंगों से राशि-राशि सौन्दर्य-रश्मियाँ फूट रही हैं।
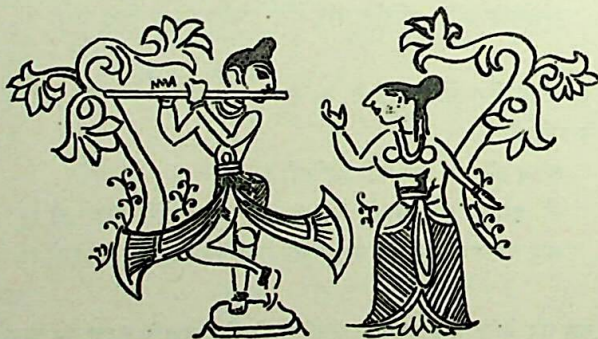
मैथिली में नाटक

रमानाथ झा

आधुनिक भाषाओं के इतिहास की पर्यालोचना से यह बात स्पष्ट प्रतीत हो जाती है कि कम से कम आर्यावर्त्त के पूर्वीय अञ्चल में भाषा-काव्य की नयी धारा मिथिला भाषा में चली और विद्यापति की सरस-कोमल-कान्त-पदावली ने संस्कृत काव्य के आनन्द को लोक-भाषा के माध्यम से संस्कृतानभिज्ञ जनता को ऐसी सुलभ रीति से प्राप्य करा दिया कि परवर्ती युग में काव्याराधना की वह एक प्रशस्त पद्धति हो गई तथा बंगाल, असम, नेपाल की तो बात ही क्या, सूर, तुलसी और मीरा भी उससे प्रभावित हुए विना नहीं रहे। विद्यापति की प्रतिभा अत्युत्कृष्ट कोटि की थी और वह बहुमुखी थी। वे बड़े ही दूरदर्शी थे। उन्होंने समय की नाड़ी की गति को पहचाना। उन्होंने केवल अपने युग की ही आवश्यकताओं को नहीं परखा, उन्होंने आगे की भी सम्भावनाएँ देखीं और महापण्डितों के कुल में उत्पन्न, एक विशिष्ट पण्डित होकर भी भाषा में काव्य-रचना करने के कारण उन्हें अपने समाज का उपहास सहना पड़ा, पर लोक-कल्याण की बुद्धि से उन्होंने जो कुछ किया बड़ा ही समयानुकूल हुआ और उसी के कारण आज विद्यापति का नाम अमर है।

परन्तु अभी तक कविता के ही क्षेत्र में विद्यापति का यह अमर कृतित्व समझा जाता रहा है। उनकी समस्त कृतियों का सम्यक् रूप से अभी तक मूल्याङ्कन नहीं हो सका है। वस्तुतः उनकी कृतियों का पूरा आदर भी नहीं है और विद्यापति के रचित सभी ग्रन्थ भी सुलभतया प्राप्त नहीं होते हैं। उनकी बहुत-सी कृतियों की प्रति—खण्डित और नष्टप्राय—नेपाल से मिली है तथा उनमें एक है 'गोरक्षविजय'[1] नाम का नाटक जिसे हम आधुनिक भारतीय भाषाओं में नाटक की दिशा में प्रथम प्रयत्न कह सकते हैं।

विद्यापति मानते थे कि कीर्त्तिवल्ली को पसरने के लिए मञ्च, जिसे मैथिली में मचान कहते हैं, बाँधने में अक्षरों के खम्भे बनाने पड़ते हैं और अत्यन्त किशोरावस्था से ही उन्होंने अक्षरों के खम्भे बाँधना आरम्भ किया। उनके प्रथम दो 'भूपरिक्रमा' और 'मणिमञ्जरी' नाटिका हैं, जिन्हें उन्होंने अत्यन्त किशोरावस्था में ही लिखा और ये

---

१. अखिल भारतीय मैथिली साहित्य समिति, तीरभुक्ति, इलाहाबाद-२ से १९६९ में प्रकाशित।

दोनों संस्कृत में हैं जैसा होना चाहिए। यह नाटिका उत्कृष्ट नहीं उतरी और इसका प्रचार भी नहीं हुआ जिसके कारण लोग बहुत दिनों तक इसका नाम भी नहीं जानते थे। अपने गीतों के लिए जब उन्हें 'अभिनव-जयदेव' की उपाधि मिली और शिवसिंह सिंहासनारूढ़ हुए उन्होंने 'गोरक्षविजय' की रचना की। इसमें शिवसिंह के नाम का कीर्तन तो है ही, अपने लिए विद्यापति ने उन दोनों प्रशस्त उपाधियों का भी प्रयोग किया है, 'अभिनव-जयदेव' और 'कवि-कण्ठहार' जो दोनों उनके जीवन-काल ही में उन्हें मिली थीं और साभिप्राय भी हैं।

'गोरक्षविजय' नाटक की एक ही प्रति नेपाल में उपलब्ध हुई और वह भी बुरी तरह खण्डित है। उसी के आधार पर इसका प्रकाशन प्रयाग से डॉ० जयकान्त मिश्र के सम्पादकत्व में हुआ है। इस पुस्तक के आधार पर इस नाटक का पूर्णतः अध्ययन तो सम्भव नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि इसकी रचना एक ऐसी शैली पर हुई थी जो सर्वथा नवीन थी और जिसके अनुसरण से मिथिला, असम और नेपाल में नाटक-रचना की एक नयी परम्परा चली, जो बहुत दिनों तक लोगों के मनोरञ्जन और शिक्षा का प्रधान साधन बनी रही। यह बात तो सभी जानते हैं कि संस्कृत के नाटक भरत के समय के पूर्व से ही द्वैभाषिक हैं, संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग सभी संस्कृत नाटकों में पाया जाता है। 'गोरक्षविजय' में भी इन दोनों भाषाओं का प्रयोग तो है ही, पर इसमें गद्य और श्लोकों के साथ-साथ गीत भी हैं और ये गीत मिथिला की भाषा में हैं। यह विद्यापति की प्रतिभा का प्रसाद है, उनकी प्रौढ़ता और उनके आत्मविश्वास का परिणाम है कि संस्कृत के द्वैभाषिक नाटकों में मैथिली के गीतों का सन्निवेश कर उन्हें त्रैभाषिक बना दिया और भाषा में नाटक-रचना के मार्ग को सीधा बना दिया। मैथिली के इतिहासकार इन नाटकों को 'मैथिली-नाटक' कहते हैं। मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। मैं इन नाटकों को मैथिली का नाटक नहीं कहता, क्योंकि सभी संस्कृत नाटकों के समान इनमें भी संस्कृत और प्राकृत है और वार्तालाप जो नाटक का प्रमुख अङ्ग है इनमें भी वैसा ही संस्कृत-प्राकृतमय है। मैथिली में नाटक मिथिला में तो कई सौ वर्षों के बाद लिखे गए इस बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में; विद्यापति ने जिस मार्ग को प्रशस्त किया उसका अनुसरण करते हुए और आगे बढ़कर मैथिली में नाटक तो लिखे गए ही असम में और नेपाल में भी लिखे गये। पर इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि मिथिला भाषा के गीतों का समावेश करके विद्यापति ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया और लोक-साहित्य के नृत्य-गीतों को अपने नाटक में लेकर उन्होंने इन्हें साहित्यिक गरिमा प्रदान की।

बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करने के समय से पूर्व से ही ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों तक राजा से विहीन और विद्यानुरक्त ब्राह्मण पण्डितों की भूमि इस मिथिला में कभी रंगमंच था या नहीं इसमें मुझे पूरा सन्देह है और इसलिए नाटकों का अभिनय

यहाँ कभी होता था यह कहा नहीं जा सकता। पर ज्योतिरीश्वर ने अपने 'वर्ण रत्नाकर' में जो तत्कालीन साहित्याराधना का चित्र आँका है उसमें नृत्य-गीतों का बड़ा ही विशद वर्णन है और ये नृत्य अभिनयपूर्ण हुआ करते थे। इसमें एक पुरुष नर्तक और दो नर्तकियाँ होती थीं और चूँकि मैथिली संगीत आदि से ही सहगान के रूप में रहा है; अतः ये तीनों मिलकर गाते थे। विद्यापति के गीत इसी को ध्यान में रखकर रचे गए हैं। उन गीतों में नायक, नायिका और सखी ये ही तीन चरित हैं। ये नृत्य नाटकीय अवश्य होते थे, पर उन्हें नाटक नहीं कहा जा सकता।

मिथिला में जनजीवन से सम्बद्ध कुछ गीत नृत्य थे जिनमें कम से कम एक का अभिनय अभी भी होता है और जिनमें नाटक के बीज निहित हैं। यह नृत्य केवल स्त्रियाँ ही करती हैं। और तो अब तक लुप्त हो गए हैं, पर यह नृत्य अभी भी जीवित है जिसे जटा-जटिन का 'खेल' कहते हैं और यह 'खेल' उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में नाटक के अभिनय को भी खेल कहते हैं। इस खेल में स्त्रियाँ दो दलों में बँट जाती हैं और एक दल पुरुषों का स्वाँग रचकर जटा का दल होता है और दूसरा दल जटिन का। इस प्रकार दोनों दलों के बीच गीतों द्वारा उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ करता है और ये गीत अनेक भाषाओं में गाए जाते हैं। यही प्रायः 'प्रतिगीत' हैं जिनका उल्लेख ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपने 'वर्ण रत्नाकर' में किया है। अभी भी दो अवसरों पर यह नाच हुआ करता है। एक तो विवाह के अनन्तर जिस रात वर वधू को लेकर अपने घर आता है उस रात या यदि दिन में आवे तो उसके अव्यवहित पूर्व रात। इस अवसर के नाच को 'डोमकछ' कहते हैं। दूसरा अवसर इस नाच का होता है वर्षा ऋतु में, जब पानी नहीं बरसने से लोग व्याकुल रहते हैं और अनावृष्टि के आतंक से डर जाते हैं; रात को स्त्रियाँ यह नाच खेलतीं, इन्द्र महाराज को पुकार-पुकार कर नाच का आरम्भ करती हैं और खेल के अन्त में ऊखल में मेंढक को पानी के साथ डाल मूसल से उसे कूटती हैं। 'वर्ण रत्नाकर' में नृत्यों के और भी प्रकार वर्णित है', पर वे सब लुप्त हो गए हैं और इसलिए अब उन्हें पहचानना कठिन हो गया है। इन लोक-नृत्यों के गीतों को संस्कृत के रीतिशुद्ध नाटकों में प्रयोग कर विद्यापति ने वही समन्वय स्थापित करना चाहा जिसकी प्रतिष्ठा उन्होंने कविता के क्षेत्र में की थी।

संस्कृत नाटक में इन गीतों के प्रयोग से मनोरञ्जन का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन मिल गया जिसकी सम्भावनाएँ आगे जाकर पूर्ण हुईं। नाटकों में नृत्य और संगीत आदि से ही आवश्यक समझे जाते हैं। अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में कालिदास ने इसके लिए अपभ्रंश का ही प्रयोग किया है, क्योंकि नृत्य के साथ संगीत संस्कृतेतर भाषा में ही प्रसिद्ध था। 'कर्पूरमञ्जरी' में तो कई प्रकार के नृत्यों का चित्रमय वर्णन मिलता है और 'रत्नावली' में तो नृत्य की प्रतिद्वन्द्विता रंगमंच पर प्रदर्शित है। फिर भी संस्कृत नाटकों में संगीत की

पूर्ति साधारणतया श्लोकों से ही की जाती थी और संस्कृत के भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग संगीत की विविधता की दृष्टि से किया जाता रहा है। जयदेव ने जब संस्कृत में भी राग-ताल-लयाश्रित गीतों की रचना की तो श्लोकों से संगीत के प्रयोजन की सिद्धि फीकी पड़ गई। पढ़ने के लिए हो तो दूसरी बात है, पर यदि नाटक अभिनय के लिए हो तो उसमें उन्हीं गीतों का समावेश उचित है जिनकी लोकप्रियता पूर्ण प्रसृत थी और लोकानुरञ्जन की भावना से विद्यापति ने वैसा ही किया।

विद्यापति ने 'गोरक्षविजय' की रचना प्राय: अपने कवि-जीवन के अवसान में की थी और दूसरे भी किसी नाटक की रचना की यह तो मालूम नहीं होता है। पर उसी युग के अमृतकर, जो विद्यापति के समकालीन तो अवश्य थे, पर नवीन थे, महाराज भैरवसिंह के समय में सागरिका और वत्सराज के प्रसंग को लेकर तथा मोरंग के नरेश जगनारायण के समय में कवि भीष्म ने पुरूरवा और उर्वशी के प्रसंग को लेकर नाटक की रचना की, जो उपलब्ध नहीं है और न उनका उल्लेख ही कहीं मिला है, पर इन दोनों नाटकों के गीत प्राचीन संग्रहों में मिलते हैं। अतएव मेरा अनुमान है कि विद्यापति ने जो प्रयोग किया उसकी परम्परा चल गई और एक-दो ही नहीं, कई नाटक इस रीति के रचित हुए, पर वे सभी लुप्त हो गए हैं और जैसा आगे कहने जा रहा हूँ उनके गीत यदि उपलब्ध भी हैं तो यह जानना कठिन है कि ये नाटक के गीत हैं अथवा मुक्तक।

मैंने अन्यत्र यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि विद्यापति के जीवन के पश्चात् ही मिथिला में सांस्कृतिक ह्रास आरम्भ हो गया और कम से कम भाषा-साहित्य के क्षेत्र में पण्डितों ने विद्यापति की रीति को ग्रहण तो कर लिया, पर उसे विकास की ओर न ले जाकर क्रमशः उसे वर्गीय बनाते गए। विद्यापति ने जो गीत रचे वे सभी मुक्तक थे और मुक्तक की सीमित परिधि में रस का परिपाक कठिन होता है। पर जो कथा आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अमरुक के प्रसंग में कही है वही हम विद्यापति के प्रसंग में भी कह सकते हैं कि उनके गीतों में रस का एक भी तत्त्व इतना शक्तिशाली होता है कि अन्यान्य तत्त्वों का समाक्षेप हो जाता है और रस का आप्लावन आरम्भ हो जाता है। इसलिए उनका एक-एक गीत प्रबन्ध-काव्य की ही भाँति शृंगार रसस्पन्दी हुआ करता है। पर विद्यापति के भी सभी गीत ऐसे नहीं हैं और उनके परवर्ती कवियों के लिए यह एक समस्या हो गई कि मुक्तक में रस का सम्यक् परिपाक् कैसे होगा? नाटक में यह करना परम सुगम है, क्योंकि वहाँ वक्ता, बोधव्य, प्रकरण इत्यादि के स्पष्ट रहने से व्यञ्जना का व्यापार सीधा होता है जिससे रस का अवबोध होता है। अतएव विद्यापति ने तो लोक-नृत्य को साहित्यिक मान्यता प्रदान करने के लिए अपने नाटकों में मैथिली गीतों का प्रयोग प्रारम्भ किया, पर उनके परवर्ती कवियों के हाथों में यह प्रयोग रससिद्धि के कारण बन गए। इसी रूप में कवि पण्डित-मुख्य उमापति ने अठारहवीं शताब्दी के अन्त में आकर फिर उसी त्रैभाषिक नाटक

की पुनः रचना की और उनका 'पारिजातहरण' पण्डितों के लिए साहित्य-सृजन का आदर्श हो गया। उसी 'पारिजातहरण' के अनुसरण से रामदास झा का 'आनन्द विजय', 'रमापति' का 'रुक्मिणी-स्वयंवर', देवानन्द और हर्षनाद के 'उषाहरण', भानुनाथ का 'प्रभावती-परिचय' और नेपाल के वंशमणि के 'कुवलयाश्वचरित' तथा 'गीतदिगम्बर' प्रभृति नाटक रचे गए। इन नाटकों के गीतों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये पण्डित कवि पहले मान, अभिसार, नखशिख, ऋतुवर्णन, विरह, सम्भोग प्रभृति प्रसंगों को लेकर मुक्तक गीत रच लेते थे और उन्हें अवसर के अनुकूल अपने नाटकों में सजा देते थे। 'गोरक्षविजय' किंवा 'सागरिका-वत्सराज' सम्बन्धी नाटकों की भाँति इन पश्चात्-कालीन नाटकों में साधारणतया गीतों से यह कहना कठिन है कि ये गीत किस नाटक के हो सकते हैं और उन्हें मुक्तक कहने में कोई तारतम्य नहीं हो सकता। सभी गीत एक से हैं और यदि कोई अन्तर है तो यही कि ज्यों-ज्यों काल समीप आता जाता है इन गीतों की भाषा अधिक पण्डिताऊ होती गई है और शैली विशेष आलङ्कारिक। एक नाटक का गीत, जैसे मान, किसी दूसरे नाटक में उसी अवसर के लिए वैसा ही उपयुक्त जँचता है। कहने का तात्पर्य है कि विद्यापति ने जिस मार्ग को ग्रहण किया उनके परवर्ती कविगण उसी मार्ग को अन्धभक्ति से पकड़े रहे। विद्यापति की प्रवृत्ति को वे लोग पहचान नहीं सके और इसलिए उस दिशा में और जो सम्भावनाएँ थीं उस ओर उन लोगों की दृष्टि नहीं गई। संस्कृत नाटक जो द्वैभाषिक थे, उनमें मिथिला भाषा में गीतों को रचकर, निवेश कराकर, उन्हें त्रैभाषिक तो अवश्य बना दिया गया, मनोरञ्जन के लिए गीतों का प्रयोग आकर्षक अवश्य हुआ, पर शुद्ध मिथिला की भाषा में नाटक नहीं रचे गए।

परन्तु जो विकास मिथिला में नहीं हो सका वह नेपाल और असम में हुआ। विद्यापति के जीवनकाल ही में नेपाल का शासन मल्ल राजाओं के हाथों में आया और ये मल्लगण पश्चिमी मिथिला के थे। इन राजाओं की सभा में मिथिला के ही पण्डितगण प्रमुख थे और १७६९ ई० तक जब मल्लों का राज्य उठ गया नेपाल के दरबारों में मैथिली ही साहित्य की भाषा थी। सहस्रों की संख्या में विद्यापति के अनुसरण में रचे गीत अभी भी वहाँ सुरक्षित हैं और दर्जनों नाटक मिलते हैं। नेपाल में अभिनय के लिए रंगमंच था और नाटक केवल गीतमय होते थे। खेद की बात है कि १७६९ के बाद वह परम्परा उठ गई और लोग इन पुराने गीतों और नाटकों को भूल गए। मैथिली साहित्य की यह अनुपम निधि है और क्रमशः जब ये सभी नाटक प्रकाश में आएँगे तो प्रतीत होगा कि विद्यापति ने नाटकों में जो मैथिली गीतों का प्रयोग किया उससे प्रेरणा ग्रहण कर नेपाल में गीतमय नाटकों की रचना हुई जो बहुधा शुद्ध मैथिली में हैं पर कहीं-कहीं भाषान्तर तथा बंगला का भी प्रभाव परिलक्षित होता है।

असम में विद्यापति के सौ वर्षों के भीतर ही शङ्करदेव, उनके प्रमुख शिष्य

माधवदेव तथा गोपालदेव ने बीसियों नाटक लिखे जिनका उद्देश्य कृष्णभक्ति का प्रचार था। ये सभी नाटक मैथिली भाषा-विद्यापति की भाषा में, रचित हैं, किन्तु उस पर असमिया का ही नहीं, कहीं-कहीं बंगला का भी प्रभाव है। ये सभी नाटक प्रकाशित हैं और असम के विद्वानों को यह एक समस्या प्रतीत होती है कि इन नाटकों में मैथिली का प्रयोग क्यों हुआ है। कारण स्पष्ट है। शङ्करदेव ने मिथिला की यात्रा करके लौटकर इन नाटकों की रचना की थी और मिथिला में उन्होंने विद्यापति और उनके साथियों के नाटकों को देखा था। विद्यापति के नये प्रयोग की सम्भावनाओं को देखकर उन्होंने कृष्णभक्ति के प्रचार में नाटकों को अपना मनोरञ्जक साधन बनाया। इन नाटकों में सूत्रधार आदि से अन्त तक रंगमंच पर रहता है और दृश्यों को गद्य में समझाता रहता है, पर पात्र बहुधा गीत में बोलते हैं कहीं-कहीं गद्य में भी। शङ्करदेव के 'रुक्मिणीहरण' से उद्धृत इस अंश को देखिए :

सूत्रधार—तदन्तर राजनन्दिनी रुक्मिणी सखी सब सहिते कर्पूर
ताम्बूल भोजन कय एक सखीक हाते धरिये कहो
कृष्ण दरशन निमित्ते परम आकुल चित्ते लीलागति
करिये राजसभा समीप पावल, ता देखह सुनह।

गीत — चान्दमुखी पेखिते मधाई
चललि लीला गति भुवन भुलाई॥
कनक किङ्किनि ध्वनि झलके मञ्जिर मणि
दोले हृदये हेममाला।
चञ्चल लोचन मन हेरय रमणि धन हरि वयन
वरवाला॥
सखि सब संगे खेले यैचन नक्षत्र मेले मुचान्द
चान्दक कला सोहे
रूप रुक्मिणी केरि राजसमाजे हेरि परल सवहि
मन मोहे॥

इस तरह स्पष्ट है कि अठारहवीं सदी तक आधुनिक भारतीय भाषाओं में नाटक की रचना मिथिला की भाषा में ही होती रही, भले ही वे नेपाल वा असम में रचे गए हों और इन सभी नाटककारों ने प्रेरणा प्राप्त की विद्यापति के 'गोरक्षविजय' नाटक से जिसमें भाषा-गीत का सर्वप्रथम प्रयोग संस्कृत के नाटक में हुआ था।

卐

खड़ी बोली का प्रथम राष्ट्रीय कवि : गुमानी पन्त—पुनर्मूल्यांकन

डॉ० भगतसिंह

गुमानी कूर्माचल के खड़ी बोली को काव्य-रूप देने वाले प्रथम कवि कहे जा सकते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार कूर्माचल के सबसे प्राचीन कवि गुमानी हैं[1]। गुमानी के काव्य पर उनके जीवनकाल की राजनीतिक, सामाजिक घटनाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। १७९० ई० से पूर्व कुमाऊँ एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में था और चन्द्रवंशी राजा राज्य करते थे। हम चन्द्रवंशी राज्यकाल को सुख और शान्तिपूर्ण नहीं कह सकते, क्योंकि उन दिनों कुमाऊँ पर सदैव ही गढ़वाल तथा नेपाल की ओर से आक्रमण के मेघ मँडराते रहते थे। कुमाऊँनी वीरों की तलवारों की झनकार और रणवाद्यों के घोरनाद से कुमाऊँ की घाटियाँ सदैव गूंजती रहती थीं। १७९० ई० के आरम्भ में गोरखों की एक बड़ी फौज चौतरिया बहादुरशाह, काजी जगजीत पांडे, अमरसिंह थापा और सूरसिंह थापा के नेतृत्व में डोटी के मार्ग से काली नदी को पार कर शोर होती हुई और दूसरी सेना विसुंग की ओर से आई (काली कुमाऊँ की ओर बढ़ी)। तत्कालीन राजा महेन्द्रचन्द तथा कुंवर लालसिंह ने गोरखाली सेना का डटकर सामना किया, परन्तु असफल रहे। परिणामतः मार्च १७९० ई० में अल्मोड़ा गोरखों के अधिकार में चला गया[2]। गोरखों के वर्वरतापूर्ण अत्याचार, अमानवीय व्यवहार एवं नरसंहार से आतंकित होकर बहुत से कुमाऊँनी-परिवार अपनी प्राणरक्षा के लिए तराई-भावर, कोटा, हलद्वानी, काशीपुर, हरिद्वार आदि स्थानों की ओर चले गए और गोरखों के चंगुल से स्वदेश को मुक्ति दिलाने की चिन्ता करने लगे। गोरखाली राज्य का नरसंहार इस सीमा तक पहुँचा हुआ था कि आज भी अत्याचार, अन्यायपूर्ण व्यवहार एवं अमानवीय घटना के लिए 'गोरखाली राज्य'

1. 'The oldest writer in Kumaoni with whom I am acquainted is Gumani Pant, who was born in 1790 A. D'.—Sir George Grierson, Linguistic Survey of India. Vol. 9 Part IV. pp. 10.

2. 'The Gorkhas finding the way thus opened retraced their steps and after some slight resistance at Hawalbagh occupied Almora early in 1790'. See, H. G. Walton, Almora Gazetteer (1911), pp. 188.

की उपमा दी जाती है[3]। जिन दिनों कुमाऊँ में गोरखाली राज्य की बर्बरता का तांडव-नृत्य हो रहा था उन्हीं दिनों हमारे प्रथम राष्ट्र-कवि का आविर्भाव हुआ।

गुमानी के पूर्वज कुमाऊँ के चन्द्रवंशी राजाओं के राज-वैद्य थे। गुमानी का जन्म विक्रम संवत् १८४७ कुम्भार्क गते २७, बुधवार १ फरवरी सन् १७९० में काशीपुर, जिला नैनीताल में हुआ। इनके पिता उपराड़ा ग्राम, वर्तमान पिठौरागढ़ ज़िले के निवासी थे। इनकी माता का नाम देवमंजरी था। गुमानी का अधिकांश बाल्यकाल पितामह पं० पुरुषोत्तम पन्त के साथ काशीपुर व उपराड़ा में बीता। इनका जन्म का नाम लोकरत्न था। पिता प्रेम-वश गुमानी कहते थे और इसी नाम से वे प्रसिद्ध हुए। कुछ लोगों का मत है कि गुमानी सन् १८१२ के लगभग काशीपुर के महाराज गुमानसिंहदेव की सभा के राजकवि नियुक्त हुए थे जिससे वे गुमानी कहलाए। (यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'—कूर्मांचल की साहित्यिक परम्परा, सरहदी साप्ताहिक, लखनऊ, १५ अगस्त, १९६०, पृ० २७) परन्तु अधिक छानबीन के पश्चात् यह बात निराधार ठहरती है। गुमानी की शिक्षा-दीक्षा मुरादाबाद के पंडित राधाकृष्ण वैद्यराज तथा कन्नौज-निवासी पंडित हरिदत्त ज्योतिर्विद् की देख-रेख में हुई। २४ वर्ष तक विद्याध्ययन के पश्चात् इनका विवाह हुआ। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने भी नहीं पाए थे कि सहसा १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन की प्रतिज्ञा कर बैठे और उसी निमित्त तीर्थयात्रा आरम्भ कर दी। तीर्थयात्रा के प्रसंग से गुमानी चार वर्ष तक तीर्थराज प्रयाग में रहे और वहाँ एक लाख गायत्री का जप किया। प्रयाग के प्रवास-काल के अन्तिम दिनों में जब ये 'श्रीमद्भागवत्' का पारायण कर रहे थे तो भोजन बनाते समय इनका यज्ञ-सूत्र दग्ध हो गया। बस क्या था, गुमानी की क्रांतिकारी आत्मा ने व्रत-समाप्ति तक पका हुआ अन्न न खाने की प्रतिज्ञा की और फलाहार पर ही निर्भर रहे। गुमानी के प्रपौत्र श्री गोवर्द्धन पन्त के अनुसार प्रयाग-राज-वास के पश्चात् गुमानी ने बदरीनाथ के समीप दूर्वारस पीकर कुछ वर्षों तक तपस्या भी का। अपने व्रत की समाप्ति के बाद माता के आग्रह से इन्होंने पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। गुमानी के दो विवाह हुए थे। प्रथम पत्नी रामपुर की थीं और दूसरी पत्नी उपराड़ा से ४ मील दूर बैलकोट ग्राम की थीं। गुमानी के दो पुत्र और एक कन्या थी। श्री गोवर्द्धन पन्त ने गुमानी का वंश-वृक्ष इस प्रकार बताया है :

---

3. 'Many stories are told of cruelities perpetrated by Gurkhas during their occupation......their tyranny has passed into proverb & at present time when a native of hills wishes to protest in strongest language in his power against some oppression'. See, H. G. Walton. Almora Gazetteer (1911) pp. 189.
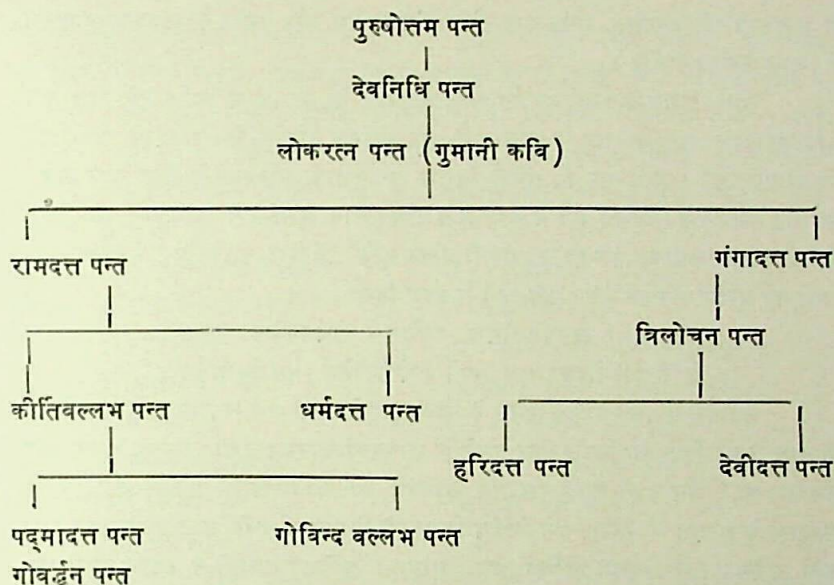
राज-कवि के रूप में गुमानी सर्वप्रथम काशीपुर-नरेश महाराजा गुमानसिंह की राज-सभा में नियुक्त हुए थे। महाराज गुमानसिंह देव की राजसभा के अन्य कवि गुमानी की प्रतिभा एवं ख्याति से ईर्ष्या करने लगे और एक बार काशीपुर के पंडित सुखानन्द पन्त ने इन पर व्यंगोक्तिपूर्वक दोषारोपण किया। विद्वन्मण्डली में पर्याप्त शास्त्रार्थ के पश्चात् महाराज निश्चित निर्णय पर न पहुँच सके तो मध्यस्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई। महाराज गुमानसिंह देव ने मुरादाबाद के पंडित टीकाराम शर्मा को मध्यस्थ नियुक्त किया। स्वयं पंडित टीकाराम शर्मा गुमानी से द्वेष-भावना रखते थे इसलिए उनका निर्णय भी पक्षपातपूर्ण रहा। गुमानी की क्रांतिकारी आत्मा इस अन्याय को न सह सकी और उन्होंने तत्क्षण एक श्लोक रचकर पंडित टीकाराम शर्मा के आगे रखकर राज-सभा त्याग दी। श्लोक इस प्रकार था :

> 'चन्दनकर्द्दमकलहे भैको मध्यस्थापन्नः।
> ब्रूते पङ्कनिमग्नः कर्द्दमसाम्यं न चन्दनं लभते।।'[४]

गुमानी अनेक तत्कालीन राजाओं द्वारा सम्मानित हुए थे। जिनमें पटियाला

---

४. चन्दन और कीचड़ में कलह हुआ। मेंढक मध्यस्थ बनाया गया। कीचड़ में निमग्न मेंढक ने निर्णय दे दिया 'चन्दन भला कीचड़ की समता कर सकता है।'

के महाराज श्री कर्णसिंह, अलवर के नरेश वनेसिंह देव, और नहान के राजा फतेहप्रकाश का नाम उल्लेखनीय है।

गुमानी टेहरी-नरेश सुदर्शन शाह की सभा के भी मुख्य कवि रहे थे। एक बार महाराजा सुदर्शन शाह के दरबार में एक नवागत पण्डित ने शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। महाराज का संकेत मिलने पर गुमानी शास्त्रार्थ के लिए उतर पड़े। नवागत पण्डित ने परिचय-रूप में गुमानी से नाम पूछा। गुमानी ने अविलम्ब ही निम्न श्लोक कहकर नवागत पण्डित को अपनी प्रखर बुद्धि, विद्वत्ता, पाण्डित्य एवं काव्य-कुशलता का सुन्दर परिचय देकर उसे भ्रम में डाल दिया।

'कोर्मध्यमो ह्रस्वतृतीयेण स्वरेण दीर्घप्रथमेन युक्तः।
पोरन्तिमस्तोश्चरमस्तु वर्णो दीर्घद्वितीयेन ममाभिधानम् ॥'[५]

नवागत पण्डित पर्याप्त मनन के पश्चात् श्लोक का अर्थ लगा सका तथा कविवर के नाम से परिचित हो सका। फिर दोनों में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ; परन्तु विजय और पराजय का निर्णय न हो सका, इस पर मध्यस्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई। योग्य मध्यस्थ के अभाव में महाराज ने निर्णय किया जो विद्वान् 'टिहरी' नाम पड़ने का कारण बता सकेगा उसे विजयी घोषित किया जाएगा। कविवर गुमानी ने तत्क्षण ही निम्नलिखित पद्य बनाकर महाराज के सम्मुख प्रस्तुत किया :

सुरगंगतटी रसखानमही धनकोशभरी यहु नाम रह्यौ।
पद तीन बनाय रच्यौ बहु विस्तर वेगु नहीं[-]जात कह्यौ।
इन तीन पदों के बसान बस्यों[-]अक्षर एक ही एक लह्यौ।
जन राज सुदर्शन साहपुरी टिहिरी यही कारण नाम रह्यौ॥

प्रतिस्पर्द्धी पण्डित से कुछ न बन सका और लज्जित होकर चला गया। गुमानीजी अपनी इस प्रत्युत्पन्नमतित्व के कारण पर्वतीय राज्यों में ही विख्यात नहीं थे, किन्तु कुमाऊँ से सैकड़ों मील दूर बिहार राज्य तक उनकी प्रसिद्धि थी[६]। इस प्रकार गुमानी अपने शिल्प-वैचित्र्य, और प्रत्युत्पन्नमतित्व के लिए प्रसिद्ध थे। गुमानी ने काव्य-रचना हिन्दी-मिश्रित संस्कृत, कुमाऊँनी, नेपाली, हिन्दी, संस्कृत और ब्रजभाषा में की

---

५. कवर्ग का मध्यम वर्ग 'ग' तृतीय ह्रस्व स्वर 'उ' से युक्त (गु), प वर्ग का अन्तिम वर्ण 'म' प्रथम दीर्घ स्वर 'आ' से युक्त (मा), त वर्ग का चरम वर्ण 'न' द्वितीय दीर्घ स्वर से युक्त (नी)—इनसे मेरा नाम बनता है।

६. This and some subsequent verses were collected in Tirhut are said to be Gumani Kavi of Patna. His name is, however, unknown in Patna itself.—Curiosities of Indian Literature—The Indian Antiquary Vol. XIV, April, 1885.

है। समस्यापूर्ति के लिए गुमानी उस युग में सर्वोपरि थे; और उनकी विशिष्टता थी शिल्प-वैचित्र्य अनेक भाषाबद्ध पद, गूढ़ाशय और शिक्षा भरी लोकोक्तियों का समावेश। गुमानी वर्णवृत्त, दोहा, कुंडलियाँ और चौपाई में काव्य-रचना किया करते थे। गुमानी की कविताओं में विशेषतः अद्‌भुत और हास्यरस, स्वभावोक्ति अलंकार और आर्या छन्द पाया जाता है। गुमानी की निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं :

१. रामनामपंचपंचासिक
२. राम महिमा वर्णन
३. गंगा शतक
४. जगन्नाथाष्टक
५. कृष्णाष्टक
६. रामसहस्र गणदंडक
७. चित्रपदावलि
८. राममहिम्न
९. रामाष्टक
१०. कालिकाष्टक
११. रामविषयभक्तिविज्ञप्तिसार
१२. तत्त्व विनोदिनी पंच पंचासिका
१३. नीतिशतकशतोपदेश
१४. रामविषय विज्ञप्तिसार
१५. ज्ञान भैषज्य मंजरी

इनके अतिरिक्त गुमानी की अनेक भाषाओं में लिखी हुई रचनाएँ 'गुमानी नीति' में संग्रहीत हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' में गुमानी कवि की दो रचनाओं का उल्लेख किया है। एक है 'गुमानी-नीति', जिसका सम्पादन रेवादत्त उप्रैती ने १८९४ ई० में किया था और दूसरी है 'गुमानी काव्य-संग्रह' जिसका संकलन एवं सम्पादन देवीदत्त शर्मा ने १८९७ ई० में किया था। इनके अतिरिक्त गुमानी की कविताओं का कोई संग्रह प्रकाशित न हो सका। पण्डित देवीदत्त शर्मा को प्रामाणिक सज्जनों से ज्ञात हुआ है कि यदि इनके लिखे हुए सभी खर्रे मिल सकते तो इनकी समस्त कविता एक लक्ष्य (लाख) पद से कम न होती। 'इन रचनाओं के अतिरिक्त गुमानी की अन्य संस्कृत रचनाओं का उल्लेख मिलता है जो उन्होंने तत्कालीन नरेशों के विषय में लिखी हैं। कवि गुमानी ने पटियाला महाराज कर्णसिंह के पराक्रम के विषय में सात सर्ग, अलवर-नरेश वनेसिंह देव की कुशल नीति के विषय में पाँच सर्ग और नहान के भूपति फतेहप्रकाश के सुख-शक्तिपूर्ण राज्य के विषय में तीन सर्ग के सरस एवं सुन्दर काव्य की रचना की जो आज भी सम्बन्धित राजपुस्तकालयों में उपलब्ध है।

गुमानी ने अधिकांश काव्य सृजन संस्कृत में किया है। इन्होंने किसी महाकाव्य की रचना न कर शतक, सतसई अथवा मुक्तक पदों की रचना की है। संस्कृत में ही शतक या सतसई हैं, परन्तु कुमाऊँनी, नेपाली, ब्रज, खड़ी बोली में मुक्तक पदों की रचना की है।

गुमानी शिक्षा ग्रहण-काल से ही कविता लिखने लगे थे। अतः हम उनका

रचनाकाल १८१० ई० के लगभग मान सकते हैं। यह काल हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के अन्तर्गत आता है परन्तु रीतिकाल की शृंगारिकता से इनकी सम्पूर्ण रचनाएँ अछूती रही हैं। उस समय काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का प्रचलन था, किन्तु गुमानी ने खड़ी बोली को ही काव्यभाषा के रूप में अपनाया। गुमानी की रचनाओं में खड़ी बोली का परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप मिलता है। खड़ी बोली का ऐसा रूप अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा उनके परवर्ती कवियों में ही पाया जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार प्रायः आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की इस उक्ति का समर्थन करते हैं कि भारतेन्दु-काल में खड़ी बोली काव्य भाषा के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थी तथा इसमें लालित्य, ओज आ ही नहीं सकता था। परन्तु ये विद्वान् सम्भवतः इस तथ्य से आज भी अपरिचित हैं कि हिमालय के अंचल में कूर्मांचल के कवि गुमानी खड़ी बोली को उस समय काव्य-रूप दे चुके थे जिस समय भारतेन्दु का पदार्पण साहित्य-जगत् में तो दूर रहा इस जगत् में भी नहीं हुआ था। अगर पहेलियों को भी काव्य की संज्ञा दी जाए तो खड़ी बोली में अमीर खुसरो की पहेलियों के बाद गुमानी की ही कविताएँ मिलती हैं। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत श्रीधर पाठक को हिन्दी का प्रथम कवि स्वीकार किया जाता है; परन्तु इनका रचनाकाल गुमानी के रचनाकाल से एक शताब्दी बाद का है। गुमानी की खड़ी बोली की रचनाएँ काव्यशास्त्र की कसौटी पर खरी उतरती हैं। उनकी रचनाओं में काव्य के सभी गुण विद्यमान हैं। इसलिए यह निर्विवाद तथ्य है कि खड़ी बोली के प्रथम कवि गुमानी ही हैं।

पहले निवेदन किया जा चुका है कि गुमानी का रचनाकाल रीतिकाल के अन्तर्गत आता है; परन्तु गुमानी रीतिकालीन शृंगारिकता के पंक से सर्वथा मुक्त रहे हैं। उन्होंने कविता-कामिनी को नरेशों के प्रासादों की चारदीवारी से निकलकर जन-साधारण के बीच में लाकर खड़ा किया। उनकी कविता में नख-शिख व नायक-नायिका के मनोभावों का उद्वेगपूर्ण व विरह-चित्रण न होकर समाज का यथार्थ चित्रण है। उन्होंने समकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति से अपनी काव्यधारा को नवीन दिशा दी और वह दिशा है सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना का स्वर।

गुमानी ने जब आँखें खोलीं उन्हें जगत् एवं समाज का कटु अनुभव हुआ। उन्होंने अपनी जन्मभूमि कूर्मांचल में गोरखाली राज्य के भीषण अत्याचार, अनाचार देखे तथा समाज की दिन-प्रतिदिन की गिरती हुई दशा का अवलोकन किया। उनके कवि हृदय पर इस दशा से जो आघात पहुँचा वही वाणी के रूप में मुखरित हो गया।

तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का चित्रण कवि के काशीपुर-वर्णन में मिलता है। गोरखाली राज्य के भय से आतंकित होकर कुमाऊँ की अधिकांश जनता तराई भावर की ओर आ गई थी। वहाँ एकदम अधिक जनसंख्या के बढ़ने से जनता में अनेक

दुगुणों का समावेश हुआ। प्रकाण्ड पण्डितों, ब्राह्मणों व वैद्यों की नकल कर अन्य लोग भी अपनी जीविका चलाने लगे :

'कथा वाले सस्ते फिरत धर पोथी वगल में,
लई थैला गोली घर घर हकीमी सब करें।
रंगीला सा पन्ना कर धरत शोशी सब बनें,
अजब देखा काशीपुर सारे जगत में।'

पृ० ४८।

अपने लहलहाते खेतों को छोड़कर कुमाऊँ के किसान काशीपुर आ गए थे। वहाँ आकर अपने परिवार के पेट भरने के लिए आजीविका की खोज में वे दिन-रात इधर-उधर भटकने लगे :

'कदी जसपुर पट्टी फिर कदी तो चिलकिया।
कदी घर में सोते भर नयन भोरे उठ चले।।
सभी टट्टू लादें बनजरुजगारी सब बनें।
अजब देखा काशीपुर शहर सारे जगत में।।"

शादी-विवाह तथा अन्य धार्मिक कार्यों में मित्रों, सगे-सम्बन्धियों तथा ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना हमारे धर्म में पुण्य माना जाता है। कूर्मांचल में भी ब्रह्मभोज कराना तीर्थस्नान के समान पुण्य एवं महान् कार्य समझा जाता है। परन्तु समय एवं परिस्थिति से विवश होकर आमन्त्रित व्यक्तियों के साथ अन्य भी आने लगे तो कवि इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहता है :

'जहाँ पूरी गर्म्मागरम तरकारी चटपटी,
दही बूरा दूने भर भर भले ब्राह्मण छकें।
छहे न्यौतारे सुनकर अठारे बढ़ गए,
अजब देखा काशीपुर शहर सारे जगत में।

समाज का दूसरा छोर जो सदैव पंकमय रहा है उसका चित्रण कवि ने निम्न-लिखित पंक्तियों में किया है :

यहाँ ढेला नद्दी ढिग रहत मेला दिन छिपे,
जहाँ पट्टी पातुर झलकत परीसी महल में।
तले ठोकर खाते फिरत सब गडूगलिन में।
अजब देखा काशीपुर शहर सारे जगत में।।

और धर्म के नाम पर पलने वाले का चित्रण करते हुए कवि ने कहा है:

यहाँ ढेला नदी उत वहत गंगा निकट में।
यहाँ भोला भोटेश्वर रहत विश्वेश्वर वहाँ।।

यहाँ संडे दंडे कर धर फिरे शाह उत ही
फरक क्या है काशीपुर शहर काशी नगर का।

गुमानी ने अपने जीवन के आरम्भ में गोरखाली राज्य की बर्बरता देखी और बाद में अंग्रेज़ी राज्य की छल-कपट पूर्ण नीति। कवि ने अंग्रेज़ी राज्य-वर्णन संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में किया है और इसे 'छाई रहा काले भूतल में' चित्रित किया है। ३ मई, १८१५ ई० को अलमोड़े के किले पर यूनियन जैक का झण्डा लहराया था। इस समय तक कूर्मांचलवासी स्वदेश-मुक्ति के प्रयत्नों में लगे थे और उन्हें पूर्ण आशा भी थी कि वे इसमें सफल होंगे। चन्द्रवंशी-नरेश महेन्द्र चन्द्र अपने चाचा कुंवर लालसिंह के साथ अपनी सैन्यशक्ति संगठित करने में लगे हुए थे। परन्तु अंग्रेज़ों ने इस कपट नीति से कुमाऊँ को हड़प लिया तो सबकी आशाएँ मिट्टी में मिल गईं। सम्पूर्ण कुमाऊँ अंग्रेज़ों के अधिकार में चले जाने से वहाँ की श्री और समृद्धि लुप्त हो गई और ऐतिहासिक स्थानों एवं भवनों का भी ध्वंस होने लगा। कवि का भावुक हृदय कुमाऊँ की दुर्दशा पर कराह उठता है।

आइ रहा कलिभूतल में छाई रहा[-]पाप निशानी।
हेरत है पहरा कछु और ही ढेरत है कवि विप्र गुमानी॥

और 'कलि' के भूतल पर छा जाने से प्राचीन मन्दिरों, धार्मिक स्थानों का ध्वंस-कार्य आरम्भ हो गया तथा इस तोड़-फोड़ से अलमोड़े का नक्शा और का और ही हो गया—जिसका चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है :

विष्णु का देवाल उखाड़ा, ऊपर बंगला बना खरा।
महाराज का महल ढवाया बेड़ीखाना तहाँ धरा॥
मल्ले महल उड़ाई नन्दा बंगलों से भी तहाँ भरा।
अंग्रेजों ने अलमोड़े का नक्शा औरै और करा॥

अंग्रेज़ों ने अपने ऐश्वर्य के लिए अलमोड़े के ऐतिहासिक स्थानों को तोड़कर अपने लिए बंगले बनवाए। यहाँ तक कि नन्दा देवी के मन्दिर तक को हटवाकर उस क्षेत्र में अपने लिए बंगले बनवाए।

इतना ही नहीं, जनता के सुख की ओर तो अंग्रेज़ों ने तनिक भी ध्यान न दिया। कुमाऊँ कृषि-प्रधान प्रदेश है। प्रत्येक परिवार पशु पालता है जिनके चारे के लिए जंगल एवं बंजर भूमि की आवश्यकता होती है। उन जंगलों में भी सैनिकों की छावनियाँ आदि बनाकर अंग्रेज़ों ने वहाँ की जनता की परेशानियों को बढ़ा दिया :

करै फिरंगी राज आबादी धरती में जंगल हैं।
कंपू पल्टन जगे जगे पर किले कोतघर बंगले हैं॥
चूढ़े और चमार धनन्धर, बामन बनिये कंगले हैं।
अधम जाति के पढ़े-लिखे सब बाबू मिस्टर बनते हैं॥

कुमाऊँ की शासन-व्यवस्था कुछ सीमा तक वर्ण-व्यवस्था पर आधारित थी। कुमाऊँ के प्रमुख नागरिक व विद्वानों को कोई महत्ता या प्रतिष्ठा न मिली। जो अंग्रेज़ों की खुशामद कर सकता था उसी का बोलवाला होता था :

पुल्दर्याव जगे जगे सड़क ना जोर है,
चोर का राजी रय्यत है सिपाह वश में दुश्मन भी खुशमन है।
दुनियाँ में अंग्रेज़ की यह अमल्दारी अजब क्या कहें,
होती पूरण रामराज सम जो दुखी न होते गुनी ॥

अंग्रेज़ों के राज्य में प्रतिभा, पुरुषार्थ, पांडित्य के लिए कोई स्थान नहीं रह गया। धन के बल पर ही व्यक्ति की मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा, व्यक्तित्व आदि आँका जाने लगा। रुपया ही सम्पूर्ण आचार, व्यवहार एवं सम्बन्ध का माध्यम बन गया है। अंग्रेज़ी राज्य में बढ़ती हुई स्वार्थपरता और अर्थप्रियता का चित्रण कवि ने सुन्दर शब्दों में किया है :

जिसके खातर प्रेम बिसर के पूत पिता के संग लड़ा,
जिसके खातर चोरी आफत कैदखाने बीच पड़ा।
जिसके खातर भाई बन्धु और इष्ट मित्र से वैर पड़ा।
कहै गुमानी सो सबसे कलिदार रुपप्या एक बड़ा॥

होता रहे धुरन्धर पंडित पढ़ें भागवत भारत है।
होता रहे बड़ा ज़ोरावर लड़े जंग नहीं हारत है।
होता रहे अजब खूबसूरत रूपकला छवि धारत है,
कहै गुमानी जग में गुण कलिदार बिना सब गारत है॥

पैसे के बल पर सब कुछ किया जा सकता है—इसका चित्रण कवि ने कितना यथार्थ किया है :

खासे कपड़े सोने के तो बने बनाए तोड़े लो,
पश्मीने गजगाज चंवर वे भोट देश के घोड़े लो।
बड़े पान के बीड़े खासे बढ़ के शाल दुशाले लो,
कहै गुमानी नगदी है तो चीज़ सबी अल्मोड़े लो।

अंग्रेज़ों के राज्य में जो कुछ है वह या तो रुपया है या अंग्रेज़ सरकार। बस इन दोनों के अतिरिक्त और सब व्यर्थ है :

उसी की विपत सब पलक में फिरेगी।
उसी के परी चौक गाती फिरेगी।

उसी पर चंवर छत्र जोड़ी फिरेगी।
जिसी पर मिहर्बान होगा फिरंगी।।

जिस पर अंग्रेज सरकार की कृपादृष्टि होती थी उसे आठों सिद्धि नवों निधि की समृद्धि प्राप्त हो जाती थी। वस्तुतः अंग्रेजों के राज्य में उनके चाटुकारों को ही हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती थीं। जनसाधारण तो उनसे सदैव आतंकित रहा और प्रतिभाएँ उनकी आँखों में सदा खटकती रहीं। कवि ने अपनी रचनाओं में इनका यथार्थ चित्र अंकित किया और उस समय किया जब अंग्रेजों के विरुद्ध एक शब्द भी बोलना काल के मुँह में अपना सिर देने के समान था। ये रचनाएँ कवि के अतुल साहस, उत्साह और निर्भीकता की द्योतक हैं।

प्राचीन काल में भारतीय दण्डविधान में इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि वास्तविक अपराधी को ही दण्ड मिले और न्याय-व्यवस्था आज की भाँति सन्तोष-जनक न थी। परन्तु अंग्रेजों की शासन-प्रणाली एवं दण्ड-विधान कितना दोषपूर्ण था और न्याय किस प्रकार चाँदी के चन्द टुकड़ों में खरीदा जा सकता था इसका चित्रण कवि की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है :

आए गोरे ना रही राजगद्दी,
झूठे रिश्वतखोर मुंशी मुसद्दी।
ना पैदा है अन्न घोरे नद्दी,
अल्मोड़े से दूर को खैंच लद्दी।।

रिश्वतखोरी इस सीमा तक बढ़ गई कि रिश्वत के सौ-पचास रुपये देते ही सारा फैसला ही बदला जा सकता था। यही रिश्वतखोरी की प्रवृत्ति मुल्क को चट्ट कर गई :

सौ पच्चास इस मुकद्दमें पर खर्च करे तो झट्ट,
घर मजमून जमाव मसौदा करूँ चित का पट्ट।
ऐसा रिश्वतखोर मुसद्दी करे मुलक सब चट्ट।
कदी फिरंगी जाने तो सब ये पहुँचे मरघट्ट।।

आज भी यही प्रवृत्ति भारत के शासन-तन्त्र के रग-रग में समाई हुई है। आए दिनों दस-बीस की नहीं लाखों-करोड़ों रुपये के गवन तथा रिश्वतखोरी की घटनाएँ सुनने व पढ़ने में आती हैं और यह रिश्वतखोरी निम्न स्तर तक ही सीमित नहीं अपितु उच्च-स्तर तक व्याप्त है। गुमानी ने तो उस समय का चित्रण किया जब इसका जन्म ही

हुआ था अब तो इसकी जड़ें बहुत गहरे तक पहुँच चुकी हैं। इस रिश्वतखोरी की प्रवृत्ति के सम्मुख गंगाजल आदि की कसम भी व्यर्थ है। अगर यों कहें कि इस रिश्वतखोरी की प्रवृत्ति ने पैसे के सम्मुख नैतिक मान्यताओं का मूल्य ही हटा दिया। पैसे के लिए लोग धर्म तक गँवा देते हैं। कवि को इस पर आश्चर्य होता है कि ऐसे पापियों का उद्धार कैसे होगा ?

रिश्वत खाय गवाह विरानी वजह सबूती करते हैं,
गंगाजल हरिवंश हल्फ की राह हाथ पर धरते हैं।
पैसे खातर धर्म गँवाया मौत पराई मरते हैं,
कहै गुमानी अब ये पापी कैसे पार उतरते हैं।

अंग्रेज़ी राज्य द्वारा निर्धारित तर्क-जाल के ताने-बाने से बुना हुए छिद्रमय दण्ड-विधान से तो अपराधी साफ बच निकलता है और सच्चा ईमानदार रो-रोकर मरता है। कवि ने ऐसे शासन-तन्त्र एवं दण्डविधान का यथार्थ चित्रण किया है। फिरंगी सरकार को कटु-सत्य का बोध कराया है :

जो है जाली बड़ा सवाली पापों से ना डरता है,
लिखे बनाए तमस्सुक झूठे गवाहों को धरता है।
सौ रिश्वत से डिग्री पावे सच्चा रो रो मरता है,
कहै गुमानी जुलम फिरंगी अमला तेरा करता है।।

वस्तुतः अंग्रेज़ों का राज्य एक व्यवसायी सम्प्रदाय का राज्य था जिनका मुख्य उद्देश्य देश की समृद्धि को मिटाकर अपने व्यवसाय के लिए क्षेत्र बनाना था। अंग्रेज़ों ने देश की सम्पूर्ण दौलत को लूटा-खसोटा, कला को नष्ट किया और देश की आर्थिक दशा को दयनीय बना दिया। कवि ने इन शब्दों में इसका मार्मिक चित्रण किया :

छोटे पै पोशाक बड़े पै ना धोती ना टोपी है
कहै गुमानी सुन ले बानी होनी है सो होती है।
अंग्रेज़ों के राज भरे में लोहा मँहगा सोने से,
दौलत खैंची दुनिया की सो पानी पीवें दोने से।।

गुमानी ने गोरखाली और अंग्रेज़ी शासनकाल में कूर्मांचल प्रदेश का सामाजिक यथातथ्य चित्रण किया। समाज के सम्मुख शासन-तन्त्र की दुर्बलताओं तथा उसके परिणामस्वरूप सामाजिक दुर्गति का चित्रण समाज के सम्मुख रखकर उसमें नव जागरण नवचेतना की भावना लाने का प्रयास किया। तत्कालीन परिस्थितियों, तथा ब्रिटिश राज्य के दमनचक्र, छल-कपट पूर्ण नीति को देखते हुए गुमानी इतना कुछ कह गए, महान् गौरव की बात है। भारतेन्दु-युग में समाज का चित्रण हुआ। नारी-उद्धार की

पुकार हुई। किसानों और दीनों की दरिद्रता का चित्रण हुआ और उन्होंने यह सब उस समय कहा जब लोगों में कुछ साहस उत्पन्न हो चुका था। परन्तु गुमानी ने शासन-तन्त्र पर सीधी चोट की है और उस समय जब अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध बोलने वाला गोली का निशाना बनाया जाता था। गुमानी ने शासन-तन्त्र का एवं तत्कालीन समाज का ही चित्रण नहीं किया अपितु राष्ट्रीय-भावना की पवित्र धारा भी प्रवाहित की। उन्होंने भारतीय वीरों को ललकारा है। उनकी ललकार उसी प्रकार है जिस प्रकार राजा जनक ने धनुष-यज्ञ में वीरों को ललकारा था—गुमानी की रचना में ललकार के साथ-साथ उन दुर्बलताओं का अंकन भी है जिनके कारण देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा गया :

विद्या की जो बढ़ती होती फूट न होती राजन में,
हिन्दुस्तान असम्भव होता वश करना लख बरसन में।
कहे गुमानी अंग्रेजन से कर लो चाहो जो मन में,
धरती में नहीं वीर वीरता तुम्हें दिखाता जो रण में।

इस पराधीनता को कवि कलियुग का आगमन मानता है :

आइ रहा कलि भूतल में अब छाइ रहा छल पाप निशानी,
हेरत है पहरा कुछ और ही टेरत है कवि विप्र गुमानी।

और निम्नलिखित पद में शासन से उत्पन्न निराशा पूर्ण भावनाएँ व्यक्त की हैं :

जा दिन सेतुन ते नदियाँ सब रेतिन में अटकाय घिरंगी,
जा दिन नाव समान बनी कहूँ, भारी शिला जल पाय तरंगी।
जा दिन मेघ घटा धरती पर ऊपर ते बलखाय गिरंगी।
वा दिन जानि गुमानी कहै छति छोड़ विलायत जाय फिरंगी।

कवि अंग्रेजों को कलिकाल का भेजा हुआ मानता है। भारत धर्मप्रधान देश है। उसकी सभ्यता, संस्कृति विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में से है इसलिए इसके ह्रास के लिए कलिकाल ने अंग्रेजों को भारत भेजा है :

अपने घर से चला फिरंगी पहुँचा पहले कलकत्ते
अजब टोप बन्नाती कुर्ती न कपड़े ना कुछ लत्ते।
सारा हिन्दुस्तान किया सर बिना लड़ाई कर फत्ते,
कहे गुमानी कलियुग ने यों सुब्बा भेजा अलबत्ते ।।

कवि अंग्रेज़ों की किस्मत की प्रशंसा भी करता है जिन्होंने भारत-जैसे वीरों के

देश को अपने अधीन कर लिया, परन्तु कवि की इस प्रशंसा में एक टीस है, एक व्यंग है और भारतीयों के लिए पुनर्जागृति का सन्देश है :

दूर विलायत से जल का रास्ता करा जहाज सवारी है।
सारे हिन्दुस्तान भरे की धर्ती वश कर डारी है।
और वड़े शाहों में सबसे [-] वड़ी कुछ भारी है,
कहै गुमानी धन्य फिरंगी तेरी किस्मत न्यारी है।।

गुमानी ने कुमाऊँ में गोरखों का युद्ध देखा, उसका नरसंहार देखा और अंग्रेज़ों का युद्ध भी देखा। इन युद्धों से प्रदेश की जनक्षति हुई। अन्य महान् आपत्तियाँ आईं। कई घर सूने पड़ गए। गाँव के गाँव ध्वंस हुए। सन् १८४० के लगभग अंग्रेज़ों को कुमाऊँ में अपनी सत्ता जमाए पच्चीस वर्ष हो गए थे। उन्हीं दिनों सिख-सरदार जोरावरसिंह ने लद्दाख के मार्ग से कुमाऊँ के सीमान्त के किनारे-किनारे हिमालय के उत्तरी ढाल पर तिब्बती सेना को हराकर कैलाश मानसरोवर तक अपनी धाक जमा ली थी। कवि को उस मार्ग से युद्ध की आशंका हुई तो उसने वेदना-भरे हृदय से निराशापूर्ण भावना व्यक्त की है :

को जाने था जल के मारग,
यहाँ फिरंगी आएगा।
को जाने था हिकमत करके,
हिन्दुस्तान दवाएगा।
को जाने था सिक्खों का भी,
राज इसी बस आएगा।
कहै गुमानी हरि इच्छा का,
कोई पार न पाएगा।

गुमानी की रचनाओं में तत्कालीन समाज का चित्रण मिलता है, इनमें देश, जाति के उत्थान, पुनर्जागरण की भावना निहित है। इसलिए गुमानी खड़ी बोली के प्रथम कवि ही नहीं ठहरते अपितु प्रथम राष्ट्रीय कवि भी ठहरते हैं। राष्ट्रीय कवि वह है जो देश, जाति और समाज की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करे, जिसकी रचनाओं में जातीय उत्थान, जागरण, सामाजिक चित्रण, संस्कृति की अभिव्यंजना, मानवता का कल्याण और पराधीनता की मुक्ति का आह्वान निहित हों। गुमानी की रचनाओं में इन सभी भावनाओं का परिपाक हुआ है। गुमानी एक जाति के, एक अंचल के, एक वर्ग के कवि न होकर सम्पूर्ण भारत के कवि हैं। अंग्रेज़ी राज्य की पराधीनता के कारण देश में फैला हुआ भ्रष्टाचार, दरिद्रता, नैतिक हीनता, सांस्कृतिक पतन का चित्रण

सम्पूर्ण भारत का है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि गुमानी खड़ी बोली के प्रथम राष्ट्रीय कवि एवं जनकवि हैं। राष्ट्रीयता की पावन धारा का स्रोत गुमानी प्रवाहित कर गए थे जिसने आगे चलकर महानदी का रूप ग्रहण किया। ऐसे महान् कवि का देहावसान सं० १६०३ में आषाढ़ कृष्ण अष्टमी को हुआ।

गुमानी शिल्प-वैचित्र्य और शब्द चमत्कार के लिए प्रसिद्ध थे। वे बड़े विनोदी स्वभाव के थे। विनोद में कई रचनाएँ लिख डालते थे—कुमाऊँनी बोली में इस प्रकार की कई रचनाएँ मिलती हैं जैसे अन्य विक्रय कारि खशोक्ति, महालया श्राद्धविप्रोक्ति, पं० मनोरथ पंतोक्ति, पं० जयदेव पन्त विषयोक्ति आदि प्रसिद्ध हैं।

गुमानी की लिखी कुमाऊँनी कविताएँ मर्मस्पर्शी और स्वाभाविक हैं। 'काफल', 'हिसालू', 'केला', 'दाड़िम', आदि फलों पर लिखी उनकी कविताओं में प्रकृति के प्रति उनकी जागरूक संवेदनशीलता के साथ-साथ उनके विनोदप्रिय स्वभाव का भी प्रदर्शन है। सुख किसे कहते हैं और कौनसा मनुष्य इस संसार में सुखी है। इसका दार्शनिक विवेचन कवि गुमानी ने कुमाऊँनी भाषा के इन पदों में किया है :

कुणकुणों रवट हो कणिक मडुओ को, हो साग या लूण हो।
घर को घ्यू आंगुलेक हो, भुटणसू या तेल चोख्यूण हो।
ह्यूना म्हैण प्रभात घाम, देलि में या ब्याल को तैल हो।
वाड़ो लगभग कुनको सदा हो, साग हरियो मेलो भलो गेल हो।
निक लुकड़ा, हथकान बिन, खसमकी जो घींण ज्वेकन नि हो।
ये है लग खुशि नै सिवाय घर में, जो ऋण कतुक नि हो।

मडुवे के आटे की गुनगुनी रोटी हो, साथ में साग हो, या केवल नमक हो।
रोटी चुपड़ने को थोड़ा सा घर का घी हो, बघारने के लिए तेल हो।
हेमन्त मास में प्रातःकाल देहली में, घाम आए अथवा सायंकाल की धूप हो। (घर के आगे हो अपनी ही वाटिका), सदा हो (उसमें) साग हरा-हरा, उर्वरी बस्ती हो। अच्छे कपड़े (या) ज़ेवर न पाने पर भी पति की यदि घृणा पत्नी को न हो। (तो) इससे अधिक खुशी नहीं कोई सिवाए इसके कि घर में ऋण किंचित् भी (देना) न हो।

अनेक भाषाओं में रचना करना गुमानी की एक और विशेषता है। निम्न-लिखित पद की प्रथम पंक्ति हिन्दी, दूसरी कुमाऊँनी, तीसरी नेपाली और चौथी संस्कृत में है :

वाजे लोग त्रिकोकनाथ शिव की पूजा करैं तो करैं।
च्के च्के भक्त गणेश का जगत में बाजा हुनीत हुन ।।

राम्रो ध्यान भवानि का चरण में गर्दन कसेले गरन।
धन्यात्मातुलधामनीह रमते रामे गुमानी कविः ।।

गुमानी की इस प्रकार की बहुभाषा-बद्ध रचनाएँ अनेक मिलती हैं, जिनकी प्रथम तीनों पंक्तियाँ संस्कृत में होती हैं और चौथी हिन्दी या कुमाऊँनी में[1]।

गुमानी की रचनाएँ प्रमुखतया हिन्दी और संस्कृत में हैं। अन्य भाषाओं—ब्रज, कुमाऊँनी, नेपाली—की रचनाएँ विनोदपूर्ण क्षणों की रचनाएँ हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार—

वे (गुमानी) संस्कृत और हिन्दी के आढ्य लेखक थे। उनकी कृतियों की प्रशंसा उनकी जन्मभूमि में आज भी बहुत अधिक होती है, परन्तु उनकी प्रसिद्धि भारत के मैदानों में अधिक है। ये मैदान जैसा कि हम देख चुके हैं तिरहुत तक फैले हैं, जो उनकी जन्मभूमि से लगभग ५०० मील दूर हैं[2]।

निम्नलिखित पद की प्रथम तीन पंक्तियाँ संस्कृत में और चौथी पंक्ति हिन्दी में है :

शिरसि जटाजूट बिभ्रत् कौपीनन्धृतवान्।
भस्माशेषे वपुषि दधानो हरिचर्याम्बरवान् ।।
तृष्णामुक्तः स्वैरविहारी योगकलाविद्वान्।
अलख निरंजन जपता योगी ओन्नमोनारान् ।।

(अवधूत वर्णनम्)

गुमानी ने कुमाऊँनी, हिन्दी एवं गोरखाली लोकोक्तियों को समस्यापूर्ति के रूप में लिया है।

समस्या—(पीड़ कुठौर कि वैद जेठाणो)

---

1. He composed principally in Sanskrit, but he is neverthless best known for a number of curious verses, in each of which the first three lines are in Sanskrit while the fourth is in Kumaoni or Hindi. These are very popular in Northern India. Sir George Grierson —Linguistic Survey of India Vol. 9, Part IV pp 109.

2. He (Gumani) was a prolific author both in Sanskrit and in Hindi. His works were still greatly admired in the land of his birth but his reputation in the plains of India, which, as we have seen, extends to Tirhut, some five hundred miles away. The Indian Antiquary—Vol 38 July, 1909.

पूर्ति — स्वप्नगत स्मरसूनुनिमित्तं कष्मलमाप्तवतीमधिचित्तम् ।
हेतुमपृच्छद्दुगामिति वाणों पीड़कुठौर कि वैद्य जेठाणो ।।

समस्या—चोरहि कुतिया मिल गए पहरा किसका होय ।

पूर्ति — मन्त्रिभिररिमिलितैः कृतो हृतराज्यः सुरथोहि ।
चोरहि कुतिया मिल गए पहरा किसका होय ।।

इसी प्रकार कवि ने अनेक भाषाओं की लोकोक्तियों को समस्यापूर्ति के रूप में लिया है। गुमानी के समस्यापूर्ति के विषय में सर जार्ज ग्रियर्सन के शब्द उल्लेखनीय हैं :

उन्होंने मुख्यतः संस्कृत में रचनाएँ की हैं, परन्तु वे ऐसी कई मुकरियों के लिए प्रसिद्ध हैं जिनमें पहली तीन पंक्तियाँ संस्कृत की होती थीं और चौथी कुमाऊँनी या हिन्दी में होती थी। ये मुकरियाँ उत्तर भारत में अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

निहंगों की भाषा

डॉ० नवरत्न कपूर

'निहंग' फ़ारसी भाषा का शब्द है, जिसके 'तलवार'[1], 'घोड़ा'[2], 'लेखनी', 'मकर'[3] अर्थ हैं। इसे संस्कृत शब्द मानने वाले इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताते हैं :

(क) निःशंक (विशेषण) अर्थात् जिसे मृत्यु की चिन्ता न हो=बहादुर[4]।

(ख) निःसंग (संज्ञा) अर्थात् निःसंग्रह, निर्लिप्त, आत्मज्ञानी[5]।

आजकल 'निहंग' शब्द का प्रयोग सिक्खों के एक सम्प्रदाय-विशेष के लिए होता है। एक विद्वान् के अनुसार यह शब्द गुरु ग्रन्थ साहिब में उपलब्ध तो होता है किन्तु गुरु गोविन्दसिंह विरचित 'चण्डी दी वार' नामक रचना में इसका प्रयोग योद्धा (सूरमा) के लिए हुआ है[6]।

उक्त सम्प्रदाय के अनुयायी नीले कपड़े (कच्छा या जाँघिया, कुर्ता और पगड़ी) पहनते हैं। इनकी पगड़ी कुल्ले की भाँति ऊपर को उठी रहती है और माथे से ऊपर की ओर इसका वृत्ताकार (मीनार सदृश) क्रमशः छोटा रूप होता जाता है। ऊपरी भाग से एक छोर निकला रहता है जो दाएँ या बाएँ कान तक लटका रहता है। इस पगड़ी को दुमाला (दुमालड़ा), दस्तार कहते हैं।

ये लोग दुमाला पर बराबर-बराबर दूरी पर लोहे के तीन-चार चक्र, गले में लोहे का (कभी-कभी जंजीरदार भी) कंठा, कमर में छोटी कृपाण, हाथ में भाला, तलवार आदि शस्त्र धारण किए रहते हैं। बलिदान के लिए सदैव तत्पर निहंग मृत्यु का भय त्यागे तथा धन-ऐश्वर्य से निर्लिप्त रहते हैं।[7]

---

१ वाहत निहंग। उठत फुलिंग ।। (सलोह)

२. बिचरे निहंग। जैसे पिलंग ।। (गुरु गोविन्दसिंह : विचित्र नाटक)।

३. जनकु लहिर दरयाव ते निकसयो वडो निहंग। (गुरु गोविन्दसिंह : चण्डी चरित्र)।

४. निरभउ होइश्रो भइआ निहंग। (गुरु ग्रन्थ साहिब, आसा महल्ला ५)।

५. (क) निहंग कहावै सो पुरख दुख सुख मन्ने न अंग। (प्राचीन पन्थ प्रकाश)।

(ख) मुल्ला ब्राह्मण ना बूझै बूझै फकर निहंग। (मक्के मदीने की गोष्ठी)।

६. ज्ञानी लालसिंह संगरूर : गुरमति मारतंड (भाव) गुरमति निर्णय भंडार; जनक पुस्तक भंडार, संगरूर (द्वितीय संस्करण, १९४९), पृष्ठ ३९५।

७. भाई कान्हसिंह : गुरु शबद रतनाकर (महान कोश); भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला (१९६० संस्करण), पृष्ठ ५२७।

निहंग सम्प्रदाय के आरम्भ की कथा जनश्रुतियों में उलझी हुई है। वे इस प्रकार हैं :

(क) दसवें गुरु श्री गोविन्दसिंह के पुत्र श्री फतेसिंह (संवत् १७५५-१७६२) होली के दिनों में खेल-खेल में सिर पर दुमाला[८] बाँधकर आए। इस विचित्र लीला को देखकर पिता बड़े प्रसन्न हुए और उसी प्रकार का वेषधारी सम्प्रदाय चलने का वरदान दिया।

(ख) माछीमाड़ा (पंजाब) से जाते समय गनी खाँ, नबी खाँ और भाई दयासिंह ने शाही सेनाओं को भुलावा देने के लिए गुरु गोविन्दसिंह का नाम 'उच्च का पीर' बताया था। इस नाम को विरोधियों ने 'उच्च नगर निवासी पीर'[९] समझ लिया था। सुरक्षित स्थान पर पहुँचकर गुरु ने 'उच्च का पीर' वाला नीलावेष अग्नि में जला दिया। उसमें से एक टुकड़ा कटार से बाँध लिया और नीलाम्बरी' (निहंग) सम्प्रदाय चलाया। भाई सन्तोखसिंह-प्रणीत 'गुरु प्रताप सूर्य' में इस तथ्य का उल्लेख यों हुआ है :

'सगले फूक चुके नीलांबर तनिक तिसी ते राख लिया,
जमधर संग बँधकर सोऊ पंथ वेख हित सभिन छया।'

किन्तु इस ग्रन्थ के अन्य प्रसंग से यह भ्रम हो जाता है कि गुरु ने भाई मानसिंह को निहंग सम्प्रदाय चलाने का वरदान दिया था। यथा :

ह्वै प्रसन्न बर देवत जोवै।
पन्थ खालसे में तव होवै।

---

८. 'सिर पर गोल ढीली पगड़ी, कमर पर ढीला कच्छा, कन्धे पर लाठी तथा मुँह से 'फतह' का ऊँचा शब्द बोलते हुए।...'—महंत गणेशसिंह, मन्त्री (अखाड़ा पंचैती निरमला) भारत मत दरपण: वैदक भंडार, अमृतसर (कातिक संवत् १९८३) पृष्ठ २०१।

९. (क) गुरु प्रताप सूर्य के आधार पर 'नगर उच्च को बासी भारवत दीरघ पीर रीति लखयंत'—भाई कान्हसिंह : गुरु शबद रतनाकर (महान कोश), पृष्ठ ३ (१९६० संस्करण)।

(ख) रियासत बहावलपुर (पाकिस्तान) की तहसील अहमदपुर में सतलुज के दक्षिणी किनारे पर 'उच्च' नामक एक नगर है। यह बहावलपुर से ३८ मील दक्षिण-पूर्व में है। इसका पुराना नाम देवगढ़ था। बारहवीं शताब्दी ईस्वी के अन्त में राजा देवसिंह सैयद जलालुद्दीन बुख़ारी (मुलतान निवासी सन्त शेख बहाउद्दीन का शिष्य) से परास्त होकर मारवाड़ की ओर भाग गया। सैयद जलालुद्दीन ने देवगढ़ को लूट लिया और राजा देवसिंह की पुत्री 'सुंदरपरी' से विवाह कर लिया। उस नगर का नाम 'उच्च' रखा। मुसलमान लोग इसे 'उच्च शरीफ़' के नाम से अभिहित करते हैं। यह अनेक पीरों का निवास-स्थान है। अब यह आसपास बसी तीन बस्तियों का नाम है। 'गुरु नानक प्रकाश' में इसके विषय में गहा गया है : 'उच्च जहाँ सैयद बहु बासी'। भाई कान्हसिंह : गुरु शबद रतनाकर (महान कोश), पृष्ठ ३ (१९६० संस्करण)।

तुझ सम बेख सुभाउ विसाली।
नाम निहंग अनेक अकाली।

(ग) ऐसा भी बताया जाता है कि सिर पर दुमाला धारण करने की प्रथा, ध्वज के प्रतीक के रूप में, गुरु श्री गोविन्दसिंह ने चलाई थी। किन्तु इस विषय में दूसरा मत यह है कि दुमाले का व्यवहार बाबा नैणासिंह (नारायण सिंह) की बुद्धि की उपज है। प्रस्तुत मत को मान्यता देने वालों का कथन है कि यह दुमाला बाबाजी ने सेना के आगे चलने वाले ध्वजवाहक के सिर पर फहराया था, जिससे उसे हाथ में ध्वज धारण भी न करना पड़े और हाथ खाली रहने पर वह शस्त्रास्त्रों का प्रयोग भी आसानी से कर सके।

इस सन्दर्भ में दूसरी धारणा यह है—एक नैणासिंह प्रतापी हुआ। उसके साथ हमेशा लंगर होता था। ग़रीब सिक्ख साथ रहा करते थे। एक दिन उसने बहुत-सी भाँग पीकर अपनी पगड़ी को ऊपर की ओर ऊँची करके खड़ी कर ली और सिर हिलाकर पढ़ा:

'मेरा ग़ुर मिल उच [ ] दमालड़ा।'

'यह शब्द उस समय फबकर उसके मुँह से निकला। उस दिन से कई सिक्ख पगड़ी को ऊपर की ओर खड़ी करके बाँधने लगे, इसलिए निहंग कहलाने लगे। इन दुमालों को 'नैणासिंघीए दमाले' कहते हैं, असल में यह नैणासिंह के दल का निशान था[१०]।'

निहंग सम्प्रदाय को 'नीलांबरी' (नीलवसनधारी), विहंगम[११] (विचरणशील), के अतिरिक्त 'अकाली' भी कहा जाता है। यह नाम इसलिए पड़ा है, क्योंकि ये लोग 'अकाल' की उपासना करते हैं और अकाल! अकाल!! का जप करते रहते हैं, जैसे:

कमल ज्यों माया जल विच्च है अलेप सदा
सभ दा सनेही चाल सभ तों निराली है
करके कमाई खावे मंगणा हराम जाणे
भाणे[१२] विच्च विपदा नूं मन्ने[१३] खुशहाली है,
स्वारथ तों बिना गुरुद्वारिआँ दा चौकीदार
धरम दे जंग लई[१४] चढ़े मुख लाली है,

---

१०. महंत गणेशासिंह (मंत्री) अखाड़ा पंचैती निरमला: भारत मत दरपण; वैदक भंडार, अमृतसर (कातिक संवत् १९८३), पृष्ठ २०२।

११. ज्ञानी लालसिंह संगरूर: गुरमति मारतंड (भाव) गुरमति निरणय भंडार, जनक पुस्तक भंडार, संगरूर (द्वितीय संस्करण, १९४९), पृष्ठ ३९५।

१२. प्रभु की इच्छा।

१३. स्वीकार करना।

१४. धर्मयुद्ध के लिए।

पूजे न अकाल बिना होर कोई देवी देव
सिक्ख दशमेश[१५] दा सो कहिए अकाली है।

एक अन्य कवि के शब्दों में इनकी विशेषताएँ हैं :

धर्म के धुरंधर उदारता के धाराधर
भोले भाल भ्राजते भकोले[१६] प्रेम रंग मैं,
सर्वलोह[१७] प्यारे अर्व खर्व लौ न दर्व बंध
नैक हूँ न गर्व पुन्न पर्व याके संग मैं,
साज के सुवानो[१८] सूर गाजकै मृगेंद्र भूरि
भाजकै गनीम[१९] को विदारैं जोर जंग मैं
मोद के तरंग मैं उमंग कै उतंग पथ[२०]
लोक दंग कैवो को[२१] सुकीने ए निहंग मैं ॥

निहंग लोग सिक्ख धर्म के नियमों पर पूर्ण आस्था रखते हैं। दशवें गुरु श्री गोविन्दसिंह की ('दशम ग्रन्थ' में संकलित) वाणी का खूब पाठ करते हैं। कच्छ, केश, कड़ा, कृपान और कंघा इन पाँच ककारों का सदा व्यवहार करते हैं। श्री गुरु ग्रन्थ साहिब को बाइँ ओर रखकर परिक्रमा करते हैं[२२]। 'बुड्ढा दल' पुराना जत्था है, ये गुरुडम प्रचार के घोर विरोधी हैं। जत्थेदार (दलनेता) का आदेश पूरी तरह पालन करते हैं।

भोजनादि के लिए अधिकतर लोहे के बर्तनों का प्रयोग करते हैं। मन-बहलाव के लिए भाँग का प्रयोग कर लेते हैं। तम्बाकू और सिगरेट इनके लिए एकदम त्याज्य है। कभी-कभी दस्तार धारण करनेवाली एक-दो निहंग माइयाँ (महिलाएँ) भी देखने को मिलती हैं, पर अधिकाँशतः इस सम्प्रदाय के अनुयायी पुरुष ही हैं। अब यह सम्प्रदाय पूर्ववत् विकासशील नहीं है।

प्राचीन परम्पराओं में अटल आस्थावान् ये निहंग सिक्ख अब भी गुरपर्वों पर घुड़सवारी, गतका खेलना, बनावटी युद्ध करना, प्रभृति प्रवृत्तियों का परिचय देते हैं।

---

१५. दसवें गुरु श्री गोविन्दसिंह।

१६. मग्न।

१७. लोहे के बने सारे पात्र, साज-सज्जा की वस्तुएँ।

१८. सुन्दर वेष।

१९. शत्रु।

२०. उमंग एवं खुशी में विकासशील।

२१. लोगों को आश्चर्यचकित करने के लिए।

२२. ज्ञानी लालसिंह संगरूर : गुरमति मारतंड (भाव) गुरमति निरणय भंडार; जनक पुस्तक भंडार, संगरूर (द्वितीय संस्करण, १९४९), पृष्ठ ३६५

दशहरे पर चमकौर साहिब (ज़िला रोपड़, पंजाब), दीपावली पर दरबार साहिब (अमृतसर, पंजाब), फिर ननकाना साहिब (ज़िला शेखूपुरा, पाकिस्तान), होला (होली त्योहार से अगले दिन) पर आनन्दपुर साहिब (ज़िला रोपड़, पंजाब), वैशाखी (१३ अप्रैल) पर दमदमा साहिब (ज़िला भटिंडा, पंजाब) के गुरुद्वारों की यात्राओं को पुनीत मानते हैं। 'बुड्ढा दल' वर्षा ऋतु में संगरूर (पंजाब) के घने जंगलों में तीन-चार महीने डेरा लगाता था। स्वाधीनता से पूर्व कई-एक गुरुद्वारों को सिक्ख रियासतों की ओर से रसदें (वार्षिक वृत्ति) लंगर चलाने के लिए लगी हुई थीं[२३]।

आम लोगों की अपेक्षा निहंगों की भाषा भी भिन्न एवं निजी होती है। इनकी भाषा को 'खालसे दे बोल्ले', 'गड़गज्ज बोल्ले' या 'सिक्खों दे बोल्ले' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। समय की गति के साथ अनेक शब्द विस्मृति के गर्त में लुप्त हो रहे हैं। किन्तु गुप्त भाषा की इतनी लम्बी शब्दावली शायद ही किसी सम्प्रदाय विशेष की संपत्ति हो। निजी महत्त्व होने के कारण यह शब्दावली संग्रहणीय है। क्रमशः यह सूची इस प्रकार है:

(क) अस्त्र-शस्त्र और युद्ध क्रिया

शब्द	अर्थ
अकासी फौज	शहीदी फौज
अकाली	अकाल का उपासक। निहंग सिक्ख
असवारा	कूच, प्रस्थान
असवारा करना	कूच करना, चढ़ाई करना
अकाली बाँगा	सत्य श्री अकाल का जयकार
आहू लाहुण	कत्ले आम करना, मार काट करना
कंघा करना	नाश करना, सिर फोड़ना
कृपाण	तलवार
खस्सी फौज	स्त्रियों का टोला
गजगाह	लोहे का शस्त्र, जिसके सिर पर खंडा और बीच में सर्वथा लोहे के बने अर्धचन्द्र होते हैं। इसे दुमाले पर सजाया जाता है।
गज्जणा	सिंहनाद करना
गिद्दड़	कायर, भगौड़ा

२३. ज्ञानी लालसिंह संगरूर: गुरमति मारतंड (भाव) गुरमति निरणय भंडार; जनक पुस्तक भंडार (द्वितीय संस्करण, १९४९), पृष्ठ ३९५।

शब्द	अर्थ
गैवी फौजाँ	शहीदों की गुप्त सेनाएँ
घमासान	झगड़ा, बिखेड़ा, युद्ध
घल्लूघारा	भयंकर युद्ध, सर्वनाश
घाण	युद्ध
चकरी	सिर पर पहनने का छोटा चक्र
चक्र	सिर अथवा गले में पहनने का छोटा चक्र, यह प्राचीन समय में युद्ध में व्यवहृत होता था।
चढाई	आक्रमण, प्रस्थान
चढ़ाई	आक्रमण, प्रस्थान
चण्डी	तलवार, लड़ाई
जथा	योद्धाओं का दल
जथेदार	दल का नेता
जानभाई	सवारी का घोड़ा
जैकारा	ऊंची ध्वनि में सत्य श्री अकाल का सिंहनाद
ज्वालामणि	तोप, बन्दूक
टाँगू	वृक्ष पर बैठा हुआ आदमी, जो दूर से आते हुए शत्रु की सूचना दे।
ढाला	ढाल
तिआर बर तिआर	शस्त्र-वस्त्र पहनकर तैयार हुआ, सावधान
तोड़ा	सर्वलोह की जंजीर, जिसे निहंग सिक्ख दुमाले पर सजाते हैं। बन्दूक का फीता।
तोड़ा झाड़ना	बन्दूक चलाना
दवड़ू घुसड़ू	कायर
पंजा	हाथ के पंजे के आकार का शस्त्र, जिसे निहंग सिक्ख दुमाले पर पहनते हैं।
फते कुमैत	काले रंग का डंडा
भगौता	कृपाण, तलवार
भगौती	कृपाण, तलवार
मारा बकारा	सिंहनाद करके वैरी को डराना
मोरचा लाउणा	युद्ध आरम्भ करना
रामजंगा	बन्दूक

शब्द	अर्थ
वहीर पाउणा	कूच करना, चढ़ाई करना
शहीद	धर्म के लिए प्राण देने वाला योद्धा
शहीदगंज	शहीदों के युद्ध और दाहकर्म का स्थान
शहीदी	युद्ध में किया हुआ बलिदान, शहीद की पदवी।
शहीदी फ़ौज	अकाल की गुप्त सेना, सिर धड़ की बाजी लगाने वाले सिक्खों की सेना।
शहीदी मार	कुकर्मी को शहीद सिक्खों से प्राप्त दुःख, शहीद सिक्खों की ओर से दी गई ताड़ना।
श्री साहिब	तलवार, कृपाण
सजना	शस्त्र-वस्त्र पहनना
सत्त श्री अकाल	आक्रमण के समय उच्चारण किया गया जयकार
सफ़ाजंग	कुल्हाड़ी
सरबलोह	शस्त्र, लोहा
सवालक्ख फौज	अकेला योद्धा[२४]
सार	शस्त्र, फौलाद, लोहा
होल्ला खेडणा	युद्ध करना

(ख) आदर सत्कार

कमरकसा खुल्हाउणा	अभ्यागत को निवास देना और उसकी सेवा करना

(ग) आराधना तथा धार्मिक कार्य

अंग संग	कर्तार, ईश्वर, वाहिगुरु
अंम्रितीआ	जिसने खंडे का अमृत छका हुआ हो
अखंड पाठ	श्री गुरु ग्रन्थ साहिब का वह पाठ जो निरंतर चलता रहे। जब तक भोग न पड़े (समाप्ति न हो) प्रति पर रूमाल नहीं ढका जाता[२५]।
अती अखंड पाठ	श्री गुरु ग्रन्थ साहिब का वह पाठ, जिसको एक ही आसन पर आठ या नौ घण्टे निरन्तर बैठकर समाप्त करे।

---

२४. सवा लाख सिउ एक लड़ाऊँ (रहितनामा)।

२५. यह पाठ १३-१६ पहर तक होता है। यह रीति खालसा के 'बुड्ढ दल' ने चलाई है।

शब्द	अर्थ
अती अखंडपाठी	अकेला पाठक—जो गुरु ग्रन्थ साहिब का सारा पाठ एक ही आसन पर बैठकर समाप्त करे।
अरदासा[२६]	प्रार्थना, विनय, गुरुद्वारा अविचल नगर, हज़ूर साहिब, चौथा तख़्त।
अरदासा सोधना	किसी काम के प्रारम्भ अथवा समाप्ति के समय ईश्वर के सम्मुख प्रार्थना करना।
अरदासिया	प्रार्थना करने वाला सिक्ख, जिसने पाठ का व्यय वहन किया हो।

२६. मनोरथों की सफलता एवं अपराधों की क्षमा के लिए अकाल पुरुष के समक्ष की गई प्रार्थना का महत्त्व यों है :

'अरदास विना जो काज सिधावै।
भेट कीए विन कुछ मुख पावै।
त्यागी वस्तु ग्रहिण जो करै।
बिन त्रिय अपनी सेज जु धरै।
दान योग नहि देवै दान।
सो नहि पावै दरगाहि मान।'

अरदास इस प्रकार की जाती है :
'धरि जीअरे इक टेक तूं लाहि बिडानी आस। नानक नाम धिआइए कारज आवै रास।'
(गउड़ी म: ५)
सुख दाता भै भंजनो, तिस आगै कर अरदास। मेहर करे जिस मेहरवान ना कारज आवै रास।
(सिरी राग म: ५)
कीता लोड़ीऐ कम्म्म सु हरि पहि आखीऐ। कारज देइ सवार सतिगुरु सच साखीऐ।
संता संग निधान अंम्रित चाखीऐ। भै भंजन मिहरवान दास की राखीऐ।
नानक हरि गुण गाइ अलख प्रभ लाखीऐ।
(पउड़ी सिरी राग म: ४)

तूं ठाकुर तुम पहि अरदास। जीउ पिंडु सभु तेरी रास।
तुम मात पिता हम बारिक तेरे। तुमरी क्रिपा सूख घनेरे।
कोइ न जाने तुमरा अन्त। ऊचे ते ऊचा भगवन्त।
सगल समग्री तुमरै सूत्रधारी। तुमते होइ सु अगिआकारी।
तुमरी गति मिति तुमही जानी। नानक दास सदा कुरबानी।
(सुखमनी म: ५)

—ज्ञानी लालसिंह (पंच ख़ालसा दीवान अर्थात् खालसा पार्लिमेण्ट) : सिक्ख कानून, पृष्ठ ८५-८६, (पंचम संस्करण, सितम्बर १९४६), भाई जवाहरसिंह, बाज़ार माई सेवाँ, अमृतसर।

शब्द	अर्थ
असवारा	श्री गुरु ग्रन्थ साहिब की बीड़ (प्रति)।
असवारा साहिब प्रकाशना[२७]	श्री गुरु ग्रन्थ साहिब को रूमाल से खोलकर चौकी पर रखना।
कड़ाह प्रसाद	श्री गुरु ग्रन्थ साहिब के पाठ की समाप्ति पर बाँटा जाने वाला हलवा। इसे पाँचों उँगलियों से उठाकर प्रसाद लेने वाले की हथेली पर रखा जाता है। कलुछी अथवा चम्मच आदि का प्रयोग विवर्जित है। इसे पंचामृत या तिहावल[२८] भी कहते हैं। इसमें घी, मैदा और खाण्ड तीनों पदार्थ समान मात्रा में मिलाए जाते हैं।
कलगीधर	श्री गुरु गोविन्द सिंह
कारमेट	सत्गुरु निमित्त वंधान की पूजा
कीरतन	गुरुवाणी का गाना
कुणका	कड़ाह प्रसाद का कणमात्र
खडगकेतु	अकाल
खालसा	अमृतधारी सिक्ख
गहरा गप्फ़ा	कड़ाह प्रसादादि तरल भोजन
गुरदुआरा / गुरद्वारा	गुरधाम, सिक्खों का धर्म मन्दिर
गुरमत	गुरु साहब का मत, गुरु सिद्धान्त
गुरमता	खालसा दीवान में बैठकर की गई मन्त्रणा
गुरमता सोधना	मन्त्रणा करना, विचार करना

---

२७. (क) प्रकाश करने वाले को स्नान करके प्रकाश करना चाहिए···पाठी स्वच्छ वस्त्र धारण करे।—ज्ञानी लालसिंह (पंच खालसा दीवान) : सिक्ख कानून; भाई जवाहरसिंह कृपालसिंह, बाजार माई सेवाँ, अमृतसर। (प्रथम संस्करण, १९४६)। पृष्ठ ३८ (पा० टि०)।

(ख) श्री गुरु ग्रन्थ साहिब के रूमालों के लिए पहले से किसी काम में प्रयुक्त हुआ कपड़ा नहीं दिया जा सकता (अर्थात् कोरा होना चाहिए)। न ही गुरु ग्रन्थ साहिब के लिए प्रयुक्त रूमाल किसी और काम में लाए जा सकते हैं। एक चँवर का प्रयोग भी पूर्णतः गुरु ग्रन्थ साहिब के लिए ही होना चाहिए।—तत्रैव, पृष्ठ ३९।

२८. करहु तिहावल होवत भोग।
पठ अरदास युगम कर जोग॥
(नानक प्रकाश)

शब्द	अर्थ
गुरमरजादा	वह रीति-रिवाज, जो गुरु के सिद्धान्त के अनुसार हो। सच्चे गुरु की बताई हुई रीति।
गुरमुख	गुरु साहिब की आज्ञा मानने वाला सिक्ख।
गुरमुखी	गुरु साहिब-विरचित लिपि[२९] (स्क्रिप्ट), जिसमें पंजाबी भाषा लिखी जाती है। इसे पैंतीस अक्खरी भी कहते हैं।
गोलक	गुरु निमित्त अर्पित धन, जो गागर आदि में एकत्र किया जाता है।
चौकी	चार रागियों की टोली। कीर्तन मण्डली। नियत समय पर शब्द-कीर्तन। कड़ाह प्रसाद रखने की चौकी (देखें 'आराधना' वर्ग)
छावनी	निहंग सिक्खों का डेरा
जहाज	सिक्ख धर्म
जहाज चढ़ना	अमृतपान करके सिक्ख धर्म में सम्मिलित होना
जोड़ मेल	सिक्खों की एकत्रता, विशेषतः गुरुपर्व के दिन
तखत	गुरु साहब के बैठने का सिंहासन, विशेषतः अकाल बुंगा, पटना साहब, केसगढ़ एवं अबिचल नगर।
तत्तखालसा	दसवें गुरु श्री गोविन्द सिंह द्वारा बताए हुए धार्मिक नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करने वाला। रहितवान खालसा (देखें 'रहित')
तिआर बर तिआर	धर्म-कर्म में दृढ़
निशान साहिब	झण्डा
पंचांमृत	कड़ाह प्रसाद

२९. गुरुमुखी लिपि के ३५ अक्षर यों हैं :

ੳ	ਅ	ੲ	ਸ	ਹ
ਕ	ਖ	ਗ	ਘ	ਙ
ਚ	ਛ	ਜ	ਝ	ਞ
ਟ	ਠ	ਡ	ਢ	ਣ
ਤ	ਥ	ਦ	ਧ	ਨ
ਪ	ਫ	ਬ	ਭ	ਮ
ਯ	ਰ	ਲ	ਵ	ੜ

शब्द	अर्थ
पंजककारी[30]	सिक्खों के पाँच चिह्न (कच्छ, केश, कृपाण, कंघा, कड़ा) धारण किया हुआ व्यक्ति।
पंजपिआरे	१. गुरु साहब के पाँच प्रिय व्यक्ति—दयासिंह, धर्मसिंह, मुहकमसिंह, हिम्मतसिंह, साहिबसिंह। २. अमृत तैयार करने वाले पाँच सिक्ख।
पंजमुकते	ईसरसिंह, टहलसिंह, देवासिंह, फतेसिंह, रामसिंह।
पंजलक्ख	पाँच सिक्ख
पन्थ	सिक्ख धर्म
पाजड़	धर्म विरुद्ध चलने वाले का दोबारा धर्म में प्रवेश
पाहुल	खंडे का अमृत
बाटा	अमृत तैयार करने का पात्र
बाटे दा साँझी	जिसने एक ही बर्तन में अमृत छका हो (देखें 'सुनहिरीआ')
बिबेक	धर्म-मर्यादा का विचार। खालसा धर्मानुसार शुद्धि
बिबकी	विचारशील सिक्ख।
बिरद	धर्मचिह्न, वेषभूषा
बिरद बाणा	खालसा धर्म अनुसार पहरावा
बिराजना	सभा में बैठना
भगौता / भगौती	तलवार, कृपाण
भाई	गुरु भाई। गुरु ग्रन्थ साहब का पाठी (ग्रन्थी) धर्मानुसार हरेक सिक्ख के लिए संबोधनात्मक शब्द।
भाउणी	श्रद्धा

---

३०. (क) نشان سکھی ایں پنج حرف 'ک' ÷ ہرگز نہ باشد ای پنج معاف
کڑا کارد و کاچھ- کنگھا بدان ÷ بنا کیش پنج است جملہ نشان

(خالصہ رہت نامہ)

(ख) कच्छ केस कंघा किरपान।
कड़ा और जो करो बखान।
इह कक्के पंज तुम मानो।
गुरु ग्रन्थ को सम तुम जानो॥ (खालसा रहितनामा)

शब्द	अर्थ
भाणा	ईश्वर की इच्छा, अकाल का आदेश
भाणा वरतणा	अकाल के आदेशानुसार कार्य होना
मंजी साहिब	गुरु ग्रन्थ साहिब को स्थापित करने के लिए रखी गई छोटी खटिया, जिन स्थानों पर गुरु साहिब बैठ चुके हैं, उन पर बने चबूतरे।
मसतगढ़	गुरु ग्रन्थ साहिब की स्थापना करके गुरुद्वारा में परिणत मस्जिद।
महाप्रसाद	कड़ाह प्रसाद
मेवड़ा	अरदास करने वाला, संगत को सत्गुरु की सेवा में उपस्थित करने वाला (देखें 'अरदासिया')।
रहणी	सिक्ख नियमों के धारण करने की विधि।
रहणी बहणी	धर्म-रीति और व्यवहार, धर्म-नियम एवं आचरण
रहित	सिक्ख नियमों को धारण करना।
रहितनामा	सिक्ख धर्म के नियम दर्शाने वाला ग्रन्थ।
रहतीआ	सिक्ख नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला।
वहीर	विचरण करने वाले निहंगों का दल, सिक्ख धर्म में आस्था रखने वाले सिक्खों का वह दल जो गुरुद्वारों की यात्रा करता है और धर्म सेवकों से अपनी धर्म-विषयक शंकाओं का समाधान करता है। देश-विदेश में भ्रमण करके सिक्ख धर्म का प्रचार करनेवाला दल।
वहीरीआ	वहीर का सदस्य
शबद	गुरबाणी का पद
शबद कीरतन	गुरबाणी का गायण
शबद भेंट	गुरबाणी पढ़ने और गाने वालों की भेंट (पारिश्रमिक)
श्री साहिब	अमृत तैयार करने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली कृपाण।
शहीदी प्रसाद	कड़ाह प्रसाद, पाँच प्यारों के लिए भावनापूरित तैयार किया गया भोजन।
सच्चखंड	गुरु की नगरी, खालसा दीवान, गुरुद्वारा अबिचल नगर, हुज़ूर साहिब।
सच्चखंड निवास	गुरु की नगरी में निवास करना
सच्चा पातशाह	सत्गुरु, अकाल पुरुष

शब्द	अर्थ
सजना	सभा में बैठना
सत्तश्री अकाल	दीवान (धार्मिक सत्संग) की समाप्ति पर उच्चारण किया गया जयकार।
सरबलोह	अकाल पुरुष
सवारा	देखें 'असवारा'
सवारा करना	देखें 'असवारा करना'
सिंघ	खण्डे का अमृत[31] छका हुआ सिक्ख पुरुष
सिंघणी	सिंघ का स्त्रीलिंग वाचक शब्द
सुजाखा	ज्ञानी
सुनहरा	अमृत तैयार करने के लिए एकमात्र लोहे का बना पात्र
सुनहरीआ	वह गुरुभाई, जिसने एक ही पात्र में अमृतपान किया हो।
संतोखणा	गुरु ग्रन्थ साहिब को रूमाल में लपेटना
सोध / सोधना	धर्म विच्युत (कुरहितिए) को दण्ड देकर शुद्ध करना।
हज़ूर साहिब	तख्त श्री अबिचल नगर
हज़ूरिया	जिसने अबिचल नगर की यात्रा कर ली हो। हज़ूर साहिब के गुरुद्वारे का सेवक।
हाजरी भरनी	किसी गुरुद्वारे में हो रहे दीवान (धार्मिक सम्मेलन में प्रातःकाल और सायंकाल में उपस्थित होना।

३१. अमृतपान करने का आशय सिक्ख धर्म को ग्रहण करना तथा गुरु धारण करना है। पहले गुरुवाणी द्वारा अमृत जल पिलाकर गुरुमन्त्र दिया जाता था। किन्तु श्री गुरु गोविन्दसिंह ने वैशाखी संवत् १७५६ से पाँच प्यारों द्वारा अमृत पिलाने की मर्यादा स्थापित कर दी, जिसका नाम 'खण्डे दा अमृत' है। पुरुष तथा स्त्रियों को एक ही तरह का खण्डे का अमृत पान कराने का विधान है। बच्चों को जो अमृतपान कराया जाता है, उसे 'जन्म संस्कार' कहते हैं। सभी को एक ही बाटे (पात्र) में अमृतपान कराया जाना चाहिए। अमृत तैयार करने के लिए एकमात्र लोहे का बाटा (बड़ा कटोरा) होना आवश्यक है। खण्डा (छोटी कृपाण) भी लोहे का होना अपेक्षित है। बताशे या मीठा जल मिलाना भारी भूल है। अमृत में प्राकृतिक मिठास रहती है। अमृत तैयार करने वाले पाँचों प्यारों को बारी-बारी से एक-सी वाणी (क्रमशः जपु, जाप, सवैये १०, रहिरास, सोहिला) पढ़नी चाहिए। पाँचों प्यारों का बराबर का स्थान रहता है। अमृतधारी को पाँच धार्मिक नियमों (कच्छ, केश, कड़ा, कृपाण, कंघा) को धारण करना चाहिए। पाँच कुरहितों (धार्मिक अवगुण) से बचना चाहिए, ये हैं: पर स्त्री या पर पुरुष गमन, तम्बाकू का सेवन, हलाल माँस, अधर्मियों का मारा हुआ माँस खाना, शरीर के बालों को काटना।—ज्ञानी लालसिंह : सिक्ख कानून, पृष्ठ २२६-२२९ के आधार पर। (पंचम संस्करण, सितम्बर १९४६), भाई जवाहरसिंह कृपालसिंह, अमृतसर।

(घ) आराम और तत्सम्बन्धी वस्तुएँ

शब्द	अर्थ
अफलातून	रजाई, लिहाफ
अफलातूनी	दुलाई
कोतल	चारपाई
कोतलकस	विछावन
टहला	सेवा
टेढ़गिग्रान	लेटना
ठाणा	आश्रम, डेरा
दुशाला	कम्बल
पचरंग	खाट
पौण प्रकाश	पंखा
विराजना	लेटना
लाचा	ऊन का आसन
सवज़मंदर	वृक्ष के नीचे निवास
सुखदई	तुलाई, खाट पर बिछाने वाला रुँईदार वस्त्र
शीशमहल	टूटा हुआ झोंपड़ा, जिसके छप्पड़ से आकाश दिखाई पड़े।

(ङ) खाद्य पदार्थ एवं पाक-क्रिया से सम्बद्ध वस्तुएँ

अंम्रिती	नमकीन कढ़ी
इक्कटंगी बटेरा	बैंगन
केसर	हल्दी, वेषवार
कराड़ी	मूली
खार समुंदर	छाछ, तक्र, लस्सी
खजूराँ	सूखे बेर
खिचड़ पुलाओ	खिचड़ी
खुरमा	बेर
खुशक पुलाओ	चवेना, भुने चने
गफ़्फ़ा	उत्तम तरल भोजन
गहरा गफ्फा	कड़ाह प्रसादी तरल भोजन
गफ़्फ़ा लाउणा	तृप्त होकर उत्तम भोजन करना

शब्द	अर्थ
गरड़े	चावल
गुछड़	दूध की मलाई
गुविंदीआँ	गाजरें
गुविंदे	खरबूजे
गुरमुखी प्रसादा	मोटी रोटी (मन्नी)
चंडी	अग्नि
चटन पुलाउ	चटनी
चाँदनी पुलाउ	भुनी हुई ज्वार
चुटका प्रसाद	नमक और पिसी हुई मिर्चें, इनसे रूखी रोटी खाई जाती है।
चूना	आटा
चुप्प	खाँड
चोवचीनी	लाल मिर्चें
चौथा	नमक
जलेबी	जंड की फली
छिल्लड़	बादाम
छेवाँ	तेल
जक्का	दही
ज्वाला	आग
तर पुलाउ	खुश्क रोटी, बिना घी तथा साग-दाल का भोजन।
तसमई	खीर
तहतोड़	पराँठा—जिसकी पेड़ी की तहों में घी लगाया गया हो और तले जाने पर जिसकी अलग-अलग पर्तें दिखाई पड़ें।
थहि पईआँ	बड़ियाँ, मगौड़ी
दाख	पीलु
दाला	दाल
देग	तैयार किया हुआ खाद्य पदार्थ, लंगर, रसोई
देग मसत	भोजन तैयार न होना, खाद्य सामग्री का अभाव होना।
देग सजाउणी	भोजन तैयार करना
नाखाँ	गोल्हाँ

शब्द	अर्थ
पंचामृत	हलवा
पंजरतना	गाजर, मूली, शलजम, बैंगन, सीतलफल मिला हुआ सलूना व्यंजन
पंजवाँ	घी
परसा	जल
परसादा	रोटी
परसादा फट्टड़ करना	रोटी खाना
पाढ़ी	गाजर
वटेरा	बैंगन
वदाम	चने
वव्वरू	खमीरे की रोटी
वसन्त कौर	पीला मक्का
वसन्तर	अग्नि
बाटा	गहरा बर्तन, कटोरा
वामणी	खीर (देखें 'तसमई')
बूंदी	उवला हुआ अन्न
भगमुखी	गेहूँ
भाजा	तरकारी (वनी हुई)
भुइसुर	शलजम
भुटेरा	विना तवे के गर्म राख में पकाया हुआ आटे का गोला
भोंसूर	शलजम
मरचौना	काली मिर्चें
मसालाँ	ईंधन, लकड़ी
मिठिआई	शकरकन्दी
मुरगाईआँ	गट्ट (एक तरह की पानी में उगने वाली तरकारी)
मैदा	आटा (देखें 'चूना')
रंघड़	शहतूत
रंघड़ी	मक्की का भुट्टा
रामचौका	भोजन पकाने तथा खाने के समय चौके का विचार न करना।
रामरस	नमक

शब्द	अर्थ
रामलड्डू	तरबूज़, मतीरा
रुप्पा	प्याज
रूपकौर	काढ़नी (दूध गरम करने वाली हाँडी)
रोड़	मोठ
रोड़ प्रसाद	करीर के कच्चे फलों का अचार (डेले)
लंगर मसत	रसोई तैयार न होना
लड्डू	टिंडा
लाचीदाना	बाजरा
लोह लंगर	खाद्य सामग्री
सबज़ पुलाओ	साग
समुंदर	दूध
सरबरस	नमक
साउणी	हरे चने
साबी	मूँग
सिरखिंडी	शक्कर
सिरजोड़	गुड़
सुरमेई दाला	लोहे के पात्र में पकाई हुई दाल
होलाँ	इलायची
सेओ	पैवन्दी (ग्राफ्टेड) बेर

(च) दण्ड सूचक शब्द

अकलदान	डण्डा
आकी होणा	दण्ड स्वीकार करना, हार मानना
कानूँगो	छड़ी
जमदण्ड	दल के नेता (जत्थेदार) की ओर से दिया गया दण्ड
मुतहिरा	डंडा
सलोतर	छोटा किन्तु मोटा डण्डा
सोझा देणा	अपराधी को दण्ड देकर सुधारना
तनखाह	धर्म दण्ड

शब्द	अर्थ
देनदार	धर्मदण्ड का अधिकारी

(छ) दान, भिक्षा धन आदि

उगराही	भिक्षा
गप्फ़ा	लूट का माल
गहरा गप्फ़ा	युद्ध में प्राप्त हुआ बहुत-सा धन
गिद्दड़	कमाई न करके माँगने वाला
छिल्लड़	रुपया
टुक्कर	बादशाह की ओर से प्राप्त जागीर और वृत्ति
ठीकरी	रुपया
ताँबा	पैसा
दमड़ा	रुपया, पैसा, नकदी
मसन्द	अपने हित के लिए धन उगराहने वाला, गुरु के धन को हड़पने वाला पुजारी।
मुआमला लैणा	गाँव से भिक्षा-रूप में अन्न, दूध, चन्दा आदि लेना।
राम रोटी	वह जागीर जो रामगढ़ किले के साथ लगी हुई थी, भिक्षा की रोटी

(ज) नशीले पदार्थ तथा नशा करने वाले

खोती	चिलम
गधी	हुक्का
गधी चुंधणी	हुक्का पीना
गंगा जल	शराब, मदिरा
चिमनी बेगम	अफ़ीम
चुगल	पोस्त के बीज
चुगल मलने	पोस्त के बीज मसलना
छत्रधार	अफ़ीम
जगत झूठ	हुक्का
नड़ीमार	हुक्का पीने वाला
नुगदा	भाँग छानने पर रूमाल में बचे हुए फोकट की बनाई हुई गोली

शब्द	अर्थ
विख्या	तम्बाकू
शहीदी देग	मीठी भाँग की कड़ाही
शाहजहाँ	पोस्त का पौधा
शेर दे क़न्न	भाँग छानने के रूमाल के कोने
सरदाई	घुटी हुई भाँग
सलोतर	भाँग घोटने का डण्डा
सुक्खा	भाँग
सुख निधान	भाँग
सुखई सिंघ	भाँग घोटकर पिलाने वाला

(झ) पञ्चतत्त्व

इन्द्र	मेघ, बादल
इन्द्रजल	वर्षा का पानी
इन्द्राणी	पवन, वायु
इन्द्राणी जप्फियाँ पाँवदी है	हवा बड़ी सुहावनी लगती है
चण्डी	अग्नि
ज्वाला	अग्नि
परसा	जल
भूतनी	आँधी

(ञ) पशु-पक्षी (जीव-जन्तु)

अकास परी	बकरी
अत्थक	मरियल टट्टू, थका हुआ घोड़ा
अराकण / अराकी	घोड़ा, घोड़ी, टैर, टैरा (छोटे क़द का घटिया घोड़ा)
ऐरापत	भैंसा
कट्टा	हाथी
कसतूरा	सूअर
काजी	मुर्गा
कुतबदीन	कुत्ता
जलतोरी	मछली

शब्द	अर्थ
जैकारा	जूओं का झुण्ड
थानेदार	गधा
दच्छ	बकरा
नीलवरणी	गधी
परी	भेड़
पौण तुरंग	मरियल टट्टू
भरथरी	साँड
मलिका	बिल्ली
मुहम्मदी सवारी	ऊँट
हरनी	मक्खी, जूं, जोंक, खटमल

(ट) पात्र तथा औज़ार और उनके कार्य

कठौती	लकड़ी का पात्र
करदौना	छोटी करद
कही दा शिकार	दराँती के साथ घास अथवा फ़सल काटना
कारदार	फावड़ा
कुही	दराँती
कोतवाल	चाकू, कलम तराश
गुणग्राही	छाज
चलाकण	रंभी
चलाका	मोटी सूई
जगन्नाथी	हाँडी
जड़पुट्ट	मोचना
जोड़ मेलनी	सूई
डड्डू	मटका
दुनाली	त्रिशूल के आकार का बना किसान का औज़ार, जिससे काँटेदार चीज़ें उठाई जाती हैं।
निहकलंक	घड़ा
परसराम	कुल्हाड़ा
पलट्टा	खुरचना
पाताल मोचनी	कसी

शब्द	अर्थ
फिरनी	चक्की
फिरनी दी सवारी	चक्की में अनाज पीसना
वसावा	तवा
वाज	खुरपा, रंभा
वाज उडाउणा } वाज दा शिकार }	खुरपे से घास खोदना, घास खुरचना
वेमुहताजी	दुसांगी लकड़ी, जिसमें कपड़ा लटका कर भाँग छानी जाती है।
मुँहताणी	कैंची
मुतहिरा	ठंढाई घोटने का सोंटा
मुहम्मदी पौला	उस्तरा
रज्जी	कलुछी
रामडोल	चमड़े का डोल
रूपकौर	काढ़नी (दूध गरम करने की हाँडी)
लोह	छोटा तवा
वरतावा	बड़ी कलुछी
शिकरी	काँटा निकालने की चिमटी
सुजाखा	चलनी
सुन्दरी	झाड़ू
सुनहरा	कूंडा
सोझा देणा	माँजना, साफ करना

(ठ) पेड़, पौधे, बीजादि

इलाची	फुलाही
कपड़बीज	विनौला
खिचड़ पुलाओ	वेरी के फूल
चूरमा	भूसा, नीरा
धनन्तर	नीम
पूरी	जंगली पेड़ों के पत्ते
वदाणा	करीर के फूल
बामण	पीपल

शब्द	अर्थ
ब्रह्मरस	ईख, कमाद
मखमली फरश	हरी घास वाली भूमि
मिट्ठत	वेर का पेड़
शाहजहाँ	पोस्त का पौधा
सदा गुलाव	ववूल

(ड) मत मतान्तर

अंजनी	काली देवी
अन्नमतीआ	सिक्ख धर्म से भिन्न धर्म का
अन्नहा	मूर्तिपूजक हिन्दू
कच्चा पिल्ला	मर्यादा पालन करने में ढीला
कच्चा वोल्ला	झूठा वचन
कच्ची वाणी	गुरवाणी से भिन्न वाणी, अकाल की महिमा से हीन वाणी।
काणा	तुर्क, मुसलमान
कावुली कुत्ता	अहमदशाह दुर्रानी
कुड़ीमार	कन्या का वध करने वाला, कन्या वेचने वाला
कुरहित	खालसा धर्म के विरुद्ध आचरण
गंढल	जिसने कुरहित करके दोबारा अमृत छका हो
गिद्दड़रंगा	भगवे वस्त्र धारण करने वाला
घालामाला	सिक्ख धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले को विना प्रायश्चित्त-दण्ड के फिर से मिला लेना।
चुरासी	सिक्खों के अतिरिक्त अन्य सांसारिक प्राणी
तनखाह }	खालसा धर्म के विरुद्ध कर्म
तनखाहिआ }	खालसा धर्म के विरुद्ध कर्म करने वाला
तिटंगी	गायत्री जाप
तुरक	मुसलमान
तुरकनी	मुसलमानी
दवड़ू घुसड़ू	धर्म-कर्म में सुस्त
दुवाजरा	एक इष्ट को छोड़कर दूसरे मत को स्वीकार करने वाला

शब्द	अर्थ
पंजपीरीआ	विष्णु, सूर्य, शिव, गणेश, दुर्गा में आस्था रखने वाला, कई गुरुओं और पीरों को मानने वाला।
पंजमेल	मीणे, मसन्द, धीरमल्लीए, रामराई से, सिरगुम्म
पम्मा	ब्राह्मण
मनमत	इच्छानुसार किया हुआ काम, जो सिक्ख धर्म के विरुद्ध हो
मनमतीआ, मनमुख	गुरु के आज्ञा के विरुद्ध, इच्छानुसार कार्य करने वाला
मीणा	बाबा पृथ्वीचन्द के वंश का सोढ़ी जिसने अमृत नहीं छका
मोरधुज	सोढी मिहरवान के सम्प्रदाय का उदासी
लंडी बुच्ची	सिक्ख-धर्म विरोधी तथा कुकर्मी, शरारती लोग
साकत, साखत	सत्यगुरु से विमुख, माया का दास, धर्म से पतित
सिरगुम्म	जिसने अमृत छककर सिर मुंडवा दिया हो।
सिरधसा	मुण्डित, संन्यासी

(ढ) माँस

कुट्ठा	मुस्लिम रीति से काटा हुआ जीव का माँस, हलाल
झटका	एक ही प्रहार के साथ 'सत्य श्री अकाल' कहकर जीव का धड़ सिर से अलग करने की क्रिया, झटके हुए जीव का माँस।
डला	सूअर के माँस की बोटी
पटका	जो जीव एक प्रहार में मारा न गया हो पटके हुए जीव का माँस ('झटका' का विपर्ययवाची)
महाप्रसाद	झटके का माँस
संखी	माँस की हड्डी
गुपाल फल, गुपाल लड्डू	मुर्गी के अण्डे

(ण) मृत्यु

अंगीठा	चिता
असवारा	मौत

शब्द	अर्थ
असवारा करना	परलोक गमन
काठगढ़	चिता
खण्ड	भस्म, राख
चढाई, चढ़ाई	मरण
चलाणा	प्राणत्याग
जोति जोति समाणा	सत्यगुरुओं का देह त्याग कर अपनी ज्योति में लीन होना
फते गजाउणी	निधन
फते गजा गिआ	मृत
भाणा वरतणा	मृत्यु प्राप्त होना
मारू गाणा	मृत्यु के समय मारू राग के शब्द गाना
वहीर पाउणा	परलोक यात्रा
सच्च खण्ड वासा	स्वर्गवास
हुक्मसत्त	देहांत

(त) यातायात के साधन[३२] तथा सम्बद्ध वस्तुएँ

जहाज	गड्डा (बैलगाड़ी)
जान भाई	सवारी का घोड़ा
भूतनी	रेलगाड़ी
पालका	काठी, ज़ीन
पालका सजाणा	घोड़े पर ज़ीन कसना

(थ) रीति-रिवाज, खेल, त्यौहार

आनन्द	सिक्ख धर्मानुसार विवाह पद्धति[३३]

---

३२. शेष शब्द 'पशु-पक्षी' (जीव-जन्तु) वर्ग में देखिए ।

३३. यह प्रथा प्रथम सिक्ख गुरु श्री नानक देव के समय से प्रचलित है। सन् १९०९ में अधिनियम सं० ७ के अनुसार इस कानून का नाम दिया गया—'दि आनन्द मैरेज ऐक्ट १९०९।'

जहाँ तक सम्भव होता है आनन्द कार्य गुरुद्वारा में मनाना श्रेष्ठ माना गया है, पर अब अधिकतर वधू के घर पर ही होता है। इसके लिए किसी लग्न, मुहूर्त का ध्यान नहीं रखा जाता, किन्तु ऊषा-काल अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।

आनन्द कार्य के लिए भुजंग (वर) तथा भुजंगणी (वधू) की सम्मति ले ली जाए तो बड़ा अच्छा है—प्रायः दोनों की सहमति होती ही है। वर और वधू गुरु ग्रन्थ साहिब की चार बार

शब्द	अर्थ
नुकदा मारना	भाँग छान लेने पर बचे हुए फोकट की गोली बनाकर शत्रु का नाम लेकर दीवार अथवा वृक्ष पर मारना। उस समय ये शब्द कहे जाते हैं : 'आइआ नुगुदा, तेरे वाल-वच्चे नूं चुगदा (को चुगता हुआ)।'
होल्ला खेडणा होल्ला महल्ला	चैत्र वदी प्रतिपदा के दिन कृत्रिम युद्ध करके त्यौहार मनाना
पालका	काठी, ज़ीन
पालका सजाउणा	घोड़े पर ज़ीन कसना

(थ) वस्त्राभूषण

अत्थक सवारी	जूती
कछहरा	कच्छ, जाँघिया
खिसकू	कौपीन, लंगोट
गुरमुखी दसतारा	सीधी पगड़ी, पुराने समय के समान वाँधी गई पगड़ी
घोड़ा	जूता
चरणदासी	जूती
चोली	अंगिया

परिक्रमा (चार लावाँ) करते हैं। परिक्रमा के समय 'अनन्द रामकली महल्ला ३' का पाठ होता है। परिक्रमा के समय लड़का आगे रहता है। लड़की का घूंघट काढ़ना विवर्जित है। आनन्द कार्य करवाने का अधिकार केवल अमृतधारी सिक्ख को है।

सिक्ख धर्म के अनुसार विवाह के तीन प्रकार हैं : स्वयंवर आनन्द, आनन्द तथा पुनः आनन्द। लड़का और लड़की अपनी इच्छा से आनन्द करवाएँ अथवा लड़की वर को स्वयं पसन्द कर ले तो इसे 'स्वयंवर आनन्द' कहते हैं। यदि माँ-वाप पुत्री के लिए पति ढूंढ़ें और पसन्द करें तो इसका नाम 'आनन्द' है। विधवा अथवा विधुर के पुनर्विवाह को 'पुनः आनन्द' कहा जाता है। उक्त प्रथा की महत्ता यों बताई गई है :

(क) 'आनन्द बिना जो भोगे नार। जमपुर बधे होइ खुआर॥
बिन आनन्द बिभचार समाने। कर अनन्द निज नार पछाने॥

(खालसा रहितनामा)

(ख) पक्ख सिख का सिख करत सीस देन लौ जाते।
बिना आनन्द पढ़ाए तीमत, को नहि अंग छुहाते॥

(पन्थ प्रकाश)

(ज्ञानी लालसिंह विरचित 'सिक्ख कानून', पृ० २४५-२५६ के आधार पर)

शब्द	अर्थ
टहलुआ	पैर झाड़ने का रूमाल, हाथ-मुँह साफ़ करने का कपड़ा (अंगोछा)
डोकल	घुटनों से लंबा कच्छा, ढीली झोली वाला कच्छा (बन्दई कच्छ)
दसतारा	पगड़ी
दीदारा	शीशा
दुसांगा	पाजामा
दुसांगी, दुबुरजी	औरत की पाजामी (सुथनिया)
दुमाला	निहंग सिक्ख की पगड़ी
घूड़कोट	घाघरा, लहंगा
बुँगा	दसतारा, निहंग सिक्ख की पगड़ी
रेशम	पटसन
रेशमी नाला	पटसन की रस्सी का कमरबन्द
हंकारिआ होइआ	चिथड़े
हजार मेखी	गुदड़ी, टाँकियों वाली गुदड़ी
हजूरी परना	हाथ-मुँह साफ़ करने का तौलिया
हूँझा	तहमद, तम्वा

(द) वृत्ति, वर्ण

शब्द	अर्थ
चौथा पौड़ा	मज़हवी सिक्ख (निम्न श्रेणी का) रविदासिया, रंघरेटा
जलखिच्च सिंघ	कहार
ज्ञानी सिंघ	गुरु ग्रन्थ साहिव की कथा करने वाला सिक्ख
नहेरना सिंघ	नाई
निरंकारी	निरंकार पूजक सिक्ख, गुरु नानक देव का सिक्ख
निरवाणीआँ	उदासी साधु
निहंग सिंघ	ऊँचे दुमाले और नीले वस्त्रों वाला (लेखक का वर्ण्य-विषय)
फौज	रमता एक सिक्ख
फौजाँ	रमते कई सिक्ख
विचित्र सिंघीआ	लुवाणा सिक्ख, राजपूत सिक्ख

शब्द	अर्थ
विहंगम	विचरण करने वाला सिक्ख, गुरुद्वारों का यात्री
भुजंगी	वर
भुजंगण	वधू
मजह्बी	भंगी से बना हुआ सिक्ख
लांगरा सिंघ	भोजन पकाने वाला, रसोइया
सरव लोहिग्रा	वह सिक्ख, जो केवल लोहे के पात्रों में भोजन करता है।
सुखई सिंघ	भाँग घोटकर पिलाने वाला
सूवेदार	झाड़ू देने वाला सिक्ख

(ध) शरीर तथा शारीरिक क्रियाएँ, कष्ट

ग्रडंग बडंग होणा	लेटना, सो जाना
ग्रनहत शवद	खर्राटे लेना
ग्राकड़ भन्न	रोग
ग्राकी होणा	जेल होना, हवालात में डाला जाना
ग्रानन्द	पूर्ण तृप्त
कंघा करना	वाल साफ़ करना
कड़ाका	भूख, निराहार रहना, मुसीवत
कलगा	गंजा
काजा	भूखा, निराहार रहना
काजा खोल्हणा	भोजन करना
कुरली	ग़रारे करना, कुल्ला करना
गुपता	गूँगा
गुरमुखी दाढ़ा	खुली दाढ़ी
गोपाल चन्दन	घाव पर लगाने का लेप, मरहम
घोड़ा	लिंग
घोड़ा काजे करना	यति बनाना
घोड़ा दौड़ाउणा	मैथुन करना
चितौड़गढ़ तोड़णा	पेशाव करना
चीता	मूत्र
चीता कुदाउणा चीता भजाउणा	पेशाव करना

शब्द	अर्थ
चुबारे चढ़िया	बहरा
चुला	भोजनोपरांत कुल्ला करना और ईश्वर-सम्मुख कृतज्ञता व्यक्त करना
छकणा	भोजन करना
छरग छड्डणा छर्रा छड्डणा	खड़े-खड़े पेशाब करना
छाल मारनी	गिर पड़ना
जंगल जाणा	शौचादि से निवृत्त होना
जमराज दी धी	नींद
ठाकुर	अण्डकोश
ठीकर	देह, शरीर
डाइन	व्यभिचारिणी स्त्री
तिमरलंगीआ	लंगड़ा
तुरकनी नाल जुद्ध	मुसलमानी से सम्भोग
दाढ़ा	दाढ़ी
धरमराज दा पुत्र	ताप, ज्वर
धरमराज दा पुत्र सेवा करदा है	ज्वर से पीड़ित है
धरमराज दी धी	नींद
नेत्र ठोका	सुरमा, अंजन, सुरमा लगाने की सलाई
पंच इसनाना	हाथ (दो) पैर (दो) और मुँह (एक) धोना
पंजक्खा	काना
बिराजना	लेटना
बुद्ध अवतार	लूला
बोल्ला	बोली, भाषा
मड़ोली	देह, शरीर
सदा गुलाब दा मुँह माँजणा	बबूल की दातून
मरोड़ चुला	पानी न मिलने पर केवल मुँह पर हाथ फेरकर साफ़ करने की क्रिया
मसाणी दा सुर ढिल्ला	दस्त लगना
मसालाँ	नेत्र
मारू गाना	रोना, पीटना, आर्तनाद

शब्द	अर्थ
मुख माँजणा	दातून करना
मुछहरा	मूँछें
मुशकाँ कसणीआँ	दाढ़ी बाँधना
मुसलीधर	मुसलमानी रखने वाला
मुहम्मदी इसनान	विना जाँघिया पहने नंगा होकर स्नान करना
मैदान जाना	शौच निवृत्त होना
रणसिंगा	पाद
रणसिंगा वजाउणा	पाद मारना
लखनेत्रा	काना
लखवाहाँ	एक वाजू वाला
लवेरा	जिसके दाढ़ी न हो
वेहले सिर वाला	गंजा, जिसके सिर पर लम्बे वाल न हो
शहीदी सोध	प्राकृतिक पीड़ा
शिकारी	व्यभिचारी, परस्त्री गामी
सुकमाँज	निराहार, भूखा
सुचाला	लंगड़ा
सुचेता	मलत्याग, पंच स्नान (देखें 'पंज इसनाना')
सुचेता ताड़णा	हाथ, मुँह, पैर धोकर तैयार होना
सुचेते जाणा	जंगल जाना
सुरग	विपदा, निद्रा, सुषुप्ति
सुरगदुआरिआ	नकटा
सुरगवास	प्रगाढ़ निद्रा
सूरमा	अन्धा, नेत्रहीन
हत्थ सुचेत करना	हाथ धोना
हन्ना	लिंग, इन्द्रिय
हरन होणा	भागना
हरा करना	धोना, साफ़ करना, सुखाना
हिमंचल	पचा हुआ पदार्थ, पाचन
हिरनखुरी	भग, योनि
हीरा	सफ़ेद वाल
हीरे चुगणा	सफ़ेद वाल तोड़ना

(न) समयावधि, प्रकाश

शब्द	अर्थ
अंजनी	रात
अंम्रितवेला	प्रातःकाल
अकासी दीवा	सूर्य और चन्द्रमा
उजागर	दीया, चिराग़
उजागरी	लालटेन
प्रकासा सिंघ	दिन

(प) फुटकर

खड़े दा खालसा	आँख की लिहाज़
गढ़	जंगल, सघन वन
गढ़ तोड़ना	कार्य सिद्ध करना, कठिन कार्य को सरल बनाना,
गुरमुखी वरतारा	सबसे समान व्यवहार
धाला माला	बिना निर्णय किए बात टाल देना
चढ़दी कला	उत्साह, उमंग, उन्नति
छकणा	शोभित होना
छाँदा	बाँटना, भाग
झोला	बड़ा थैला
डाइन	माया
ढहिंदी कला	निराशा, अवनति ('चढ़दी कला' का विपर्ययवाची)
ढाई लक्ख	दो व्यक्ति
ढाले हेठ	आश्रित
तरातरी	अत्यधिक
दाईआ	हठ, प्रण, दावा
दीदारे	दर्शन
प्रकासा सिंघ	मीनार
फते गजाउणी	विदा होना
फते गजा गिआ	चला गया, फट गया, ढह पड़ा

शब्द	अर्थ
भाउनी	श्रद्धा
मखमली फरश	हरी घास वाली भूमि
मसत	वस्तु का अभाव, घाटा, चौपट
मोरचा लाउणा	किसी कार्य का श्रीगणेश करना
रंधड़	अहंकारी
रंघड़ी	कटुभाषिणी स्त्री
राम बाग	संसार, जंगल
राम रोटी	भिक्षा की रोटी
लेखे लाउणा	किसी चीज़ का प्रयोग कर लेना, किसी वस्तु को बाँट लेना तथा प्रयोग करना, भगवान के नाम पर खर्च करना
वटाऊ	पथिक, विनाश होने वाला
वरतावा	बाँटने वाला
सरदाई	छप्पर का पानी
सरदौना	सर्दी, शीत
सरदौना मुट्ठियाँ भरदा है	पाला लगता है, कपकपी छूटती है।
सवाइया	थोड़ा, कम
सवा लक्ख	एक, अकेला
सुरमई	सुरमे के रंग का, काला, नीला
सोभा देणा	माँजना, साफ़ करना
हंकारिआ होइआ	फटा हुआ, चिथड़ा
हरा	सूखा

भाषागत विशेषताएँ

निहंग सिक्ख वीर रस में पगे रहते हैं। धर्म में गूढ़ आस्था रखते हैं। लंगर (सम्मिलित भोज) में विश्वास रखते हैं। फलतः इस वर्ग से सम्बद्ध शब्दों की सूची काफ़ी लम्बी और बहुत कुछ पूर्ण है। अन्य विषयों से सम्बन्धित शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं।

इस सम्प्रदाय को अधिकतर युद्धों में भाग लेना पड़ा। इसलिए आवश्यक था कि ये अपनी भाषा को अधिक से अधिक रहस्यमयी बनाते। इन्होंने अपनी भाषा के निर्माण-

हेतु संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के विपुल भण्डार का आलोड़न किया है। किन्तु यथा-वश्यक इन शब्दों को रुचि के अनुसार अपने बनाने का प्रयास किया है। पंजाबी भाषा क्योंकि अपभ्रंश के समीप है, इसीलिए संस्कृत शब्दों के रूप बहुत-कुछ अपभ्रंश-सदृश हैं। शब्द-निर्माण की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ इस भाषा में द्रष्टव्य हैं :

(क) आदिस्रोत : संस्कृत :

गुरमरजादा (गुरु मर्यादा), पंचामृत, बिवेक (विवेक), बिवेकी (विवेकी) भगमुखी

(ख) आदिस्रोत : फ़ारसी :

जहाज़, छावनी, तखत (तख़्त), तिआर बर तिआर (तैयार), हाजरी भरनी (हाज़िरी भरना), अफलातूनी (अफ़लातूनी)

(ग) प्रतीकात्मक शब्द :

१. भूतनी—रेलगाड़ी [भूत का रंग काला माना जाता है गाड़ी का इंजिन भी काले रंग का होता है]

२. मेवड़ा—अरदास करने वाला, फल-प्राप्ति का इच्छुक [सूखे फलों, बादाम किश्मिश आदि को 'मेवा' कहा जाता है। उसी वजन पर यह शब्द निर्मित हुआ है।]

३. सरब लोह—अकाल, ईश्वर [अंग्रेज़ी में इसे कहेंगे : 'All Steel', पूर्णशक्ति-वाला, सर्वशक्तिमान]

४. सिंघ—सिक्ख [गुरु गोविन्दसिंह ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए वीरों की सेना 'खालसा' नाम से सजाई थी। सिंघ (सिंह) बहादुरी का बोधक है।]

५. संतोखणा—समाप्त करना [वस्तुतः 'सन्तोष' से व्युत्पन्न; सन्तुष्ट होने पर ही मनुष्य किसी कार्य को करना रोक देता है।]

६. फिरनी—चकनी [मूल अर्थ में पिसे चावल में दूध मिलाकर बनाए गए मिष्टान्न को कहते हैं। किन्तु यह शब्द 'फिरना' (घूमना) से बनाया गया है। खाली चक्की किसी काम की नहीं। घूमने से ही वह सार्थक है।]

७. सदा गुलाब—कीकर [कीकर (बबूल) सदा हरा रहता है। उसकी पंजाब में विशेष महत्ता है। सुबह बबूल की दातून करने का रिवाज है। उपयोगिता का भाव इस शब्द में निहित है।]

८. चुरासा—चौरासी योनि [किंचित् साम्प्रदायिक लेशयुक्त है। इसमें सिक्ख धर्म में आस्था रखने वालों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों को सम्मिलित किया गया है।]

(घ) संख्यावाचक शब्द :

इनका व्यवहार कहीं-कहीं संख्यासूचक है। कहीं-कहीं अन्य अर्थों में। सवा लक्ख (एक), ढाई लक्ख (दो), सवाइआ (घाटा), पंजवाँ (पंचम=घी), छेवाँ (छठा=तेल)।

(ङ) शब्द-सारूप्य :

भगमुखी (गेहूँ), हिरनखुरी (योनि); 'भग' शब्द 'योनि' का ही बोधक है, किन्तु उपर्युक्त शब्दावली में स्थानच्युत है।

(च) पर्यायवाची शब्द :

बहुल-परिमाण में प्राप्त हैं, यथा :

कायर—गिद्दड़, दबड़ू घुसड़ू

बन्दूक—रामजंगा, ज्वालामणि

सिंहनाद—गज्जणा, मारा बकारा

तलवार—चण्डी, भगौती, भगौता

जूता—घोड़ा, चरणदासी, अत्थक सवारी

(छ) बहुलार्थक शब्द :

काफ़ी बड़ी संख्या में हैं,

अंजनी—रात, काली देवी (कालिका)

गप्फा—धन, उत्तम तरल भोजन

चढ़ाई—प्रस्थान, आक्रमण, मृत्यु

सरदाई—घुटी हुई भाँग, छप्पड़ का पानी

सुजाखा—चलनी, ज्ञानी

(ज) भिन्नार्थक शब्द :

१. मूल्यवान वस्तुओं की तुच्छता—

शब्द	सामान्य अर्थ	निहंग भाषा का अर्थ
बदाम	बादाम	भुने चने
साउगी	किश्मिश	हरे चने
हरा	हरा भरा	सूखा

२. साधारण वस्तुओं की महानता—

शब्द	सामान्य अर्थ	व्यवहृत अर्थ
छिल्लड़	छिलका	बादाम, रुपया
खस्सी फौज	नपुंसक सेना	स्त्रियों की सेना
होलाँ	हरे चनों को भाड़ में भूनना	इलायची

३. व्यंग्य-भरपूर शब्द : अत्थक (अनथक : मरिअल टट्टू); काजी (मुसलमान निर्णायक=मुर्ग़ा); थानेदार (गधा); दच्छ (बकरा); पौण तुरंग (पवन की भाँति तेज़ चलने वाला घोड़ा=थका हुआ टट्टू); कुतबदीन (प्रसिद्ध मुस्लिम-सम्राट् कुतबुद्दीन ऐबक—कुत्ता); अफलातून (प्रसिद्ध दार्शनिक=रजाई, लिहाफ़); काबुली कुत्ता (अहमदशाह दुर्रानी); तिमरलंगिआ (लंगड़ा)।

(झ) एक शब्द के जोड़ पर अन्य शब्द :

(१) 'सिरखिंडी' का शाब्दिक अर्थ है जिसका सिर बिखरा हुआ हो। सम्भवत: यह शब्द 'श्रीखण्ड' के वजन पर बन गया हो। चीनी के दाने बिखरे रहते हैं, इसीलिए यह नामकरण प्रतीत होता है।

(२) 'सिर जोड़' शब्द का प्रयोग 'गुड़' के लिए हुआ है। क्योंकि ढेले के रूप में गुड़ के कण जुड़े रहते हैं।

(३) 'बाँगा' शब्द 'बाँग' से मिलता-जुलता है। सुबह के समय मुर्ग़े की बाँग (आवाज़) सावधान करती है कि दिन चढ़ आया है। सुस्ती दूर करके काम-काज में लीन हो जाओ। 'अकाल बाँगा' के रूप में 'सत्त श्री अकाल' की गूंज के द्वारा भी वीरों को चेताया जाता है। धर्मानुयायियों को धार्मिक कार्य में लगने की प्रेरणा दी जाती है।

(ञ) शब्द की पुनरावृत्ति : 'बिरद बाणा' दोनों पदों का अर्थ 'वेशभूषा' है।

(ट) मुहावरे : मसाणी दा सुर ढिल्ला (दस्त लगना); फते गजाउणी (परलोक सिधारना); अरदासा सोधना (कार्य का श्रीगणेश); सरदौना मुट्ठियाँ भरदा है (कंप-कंपी छूटती है)।

(ठ) विशेषण लगने पर अर्थ की भिन्नता :

प्रकासा सिंघ—दिन

पौण प्रकाश—पंखा

लड्डू—टिण्डा

गुपाल लड्डू—मुर्ग़ी के अण्डे

(ड) सिक्ख-धर्म-सूचक शब्दों में आदर-भाव दर्शाने हेतु 'साहिब' शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा 'श्री साहिब' (कृपाण), निशान साहिब (धर्म ध्वज), हजूर साहिब (गुरुद्वारा श्री अबिचल नगर)।

(ढ) 'राम' शब्द का प्रयोग भी शुभ अर्थ में हुआ है। क्योंकि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में निरंकार ब्रह्म के लिए 'राम' शब्द अनेक बार आया है। देखिए 'राम बाग' (विश्व); रामरस (नमक—सर्वरस नायक); रामजंगा (बन्दूक)।

व्याकरणिक स्वरूप

१. शब्दों में विशेष बाहुल्य की प्रवृत्ति है, यथा—अकासपरी (बकरी), गुविंदे (गोविन्द से सम्बद्ध—खरबूजे) आदि।

२. 'क्रिया रूप' बनाने में भी विशेषण का अधिक प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ: मसाणी दा सुर ढिल्ला (स्वर ढीला पड़ना); सरदौना जप्फियाँ पाँवदा है (शरीर को स्पर्श करती है, गलबाँही डालती है); प्रसादा फट्टड़ करना (घायल करना)।

३. लिंग-भेद में एकरूपता नहीं है। कई शब्द ऐसे हैं, जिनमें सामान्य प्रवृत्ति के आधार पर लिंग-परिवर्तन होता है, यथा:

भुजंग (वर)—भुजंगण (वधू)

किन्तु वामण (पीपल—वामणी (खीर) में अर्थ बदल गया है।

ऐसे ही अकासपरी (बकरा) का पुलिंगवाचक शब्द बदल गया है। वह है दच्छ (बकरा)। गुविंदे (खरबूजे) और गुविंदिआँ (गाजरें) भी 'वामण' और 'वामणी' के सदृश हैं।

४. भाषा में ओजगुण का प्राधान्य है। प्राय: स्त्रीलिंग वाचक शब्दों को पुलिंग-वाचक बनाने की प्रवृत्ति है। 'सिक्खी प्रभाकर' का उदाहरण द्रष्टव्य है:

बरछा ढाला कटारा तेगा
कड़छा देगा गोला है।
छका प्रसाद सजा दसतारा है
अर करदौना टोला है।
सुभट सुचाला अर लखबाहाँ
कलगा सिंघ सुचोला है।
... ...
अपर मुछहिरा दाढ़ा जैसे
तेस बोला होला है।

व्यक्तित्व के अनुरूप निहंगों की यह भाषा ओज गुण-प्रधान एवं जीवन्त है।

卐

राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी लिपि

डॉ० भोलानाथ तिवारी

जिस प्रकार किसी बहुभाषी राष्ट्र के लिए राष्ट्र एवं राज्य-भाषा के रूप में कोई एक भाषा अपेक्षित है, उसी प्रकार बहुलिपि वाले राष्ट्र के लिए राष्ट्रलिपि के रूप में एक लिपि भी अत्यन्त आवश्यक है। कहना न होगा कि भारत इसी प्रकार का एक बहुलिपि वाला राष्ट्र है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि किस लिपि को भारत की राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

भारत की प्रमुख प्राचीन तथा आधुनिक लिपियाँ ये हैं :

ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त, कुटिल, देवनागरी, शारदा, बंगला, तेलुगु, कन्नड़, ग्रन्थ, कलिंग, तमिल, वट्टेलुत्तु, मलयालम, गुरुमुखी, गुजराती, मैथिली, मोड़ी, कैथी, महाजनी तथा उर्दू।

अंग्रेजी के साथ हमें रोमन लिपि मिली है। उसे मिलाकर कुल प्रमुख लिपियाँ २२ हुईं, जिनसे किसी न किसी रूप में भारत का सम्बन्ध है।

उपर्युक्त सूची पर यदि दृष्टि दौड़ाएँ तो इनके दो वर्ग बनाए जा सकते हैं—

(क) अप्रचलित अथवा प्राचीन लिपियाँ—जैसे ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त तथा कुटिल आदि।

(ख) प्रचलित लिपियाँ—जैसे देवनागरी, बंगला, तमिल, गुरुमुखी आदि।

इनमें से जो अप्रचलित लिपियाँ हैं, आज की जनता से पूर्णतः दूर हैं। उनका प्रयोग लेखन में कोई नहीं करता। उनकी जानकारी भी मात्र कुछ लिपि-विशेषज्ञों या पुरातत्त्ववेत्ताओं आदि को ही है। उनमें पुस्तकें भी प्रायः नहीं छपतीं। ऐसी स्थिति में उनको राष्ट्रलिपि बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मृतभाषा की भाँति उन्हें मृतलिपि कहा जा सकता है। प्रचलित लिपियों में महाजनी, कैथी, मोड़ी, शारदा आदि बिलकुल सीमित क्षेत्रों में प्रचलित हैं और विशिष्ट लोगों द्वारा ही प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार उनका ज्ञान बहुत ही कम लोगों को है। राष्ट्र की जनसंख्या में उनको जानने वालों का प्रतिशत अत्यन्त नगण्य है। अतएव इनमें भी कोई राष्ट्रलिपि होने के योग्य नहीं है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की लिपियों को छोड़ देने पर अब भारत की वे प्रमुख लिपियाँ ही शेष रहती हैं, जिनका प्रयोग भारत की प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण भाषाओं के लेखन

में होता है। ये लिपियाँ सम्बद्ध भाषाओं के साथ नीचे दी जा रही हैं :

देवनागरी लिपि—संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा मराठी के लिखने में इसका प्रयोग होता है। मनीपुरी भाषाभाषी मनीपुरी भाषा के लिए बँगला छोड़कर इसके प्रयोग पर विचार कर रहे हैं। भारत के सिन्धी भी अरबी लिपि पर आधारित सिन्धी (जो उर्दू से भिन्न नहीं है) को छोड़कर, उसके स्थान पर देवनागरी लिपि को अपनाने के पक्ष में होते जा रहे हैं। उर्दू भाषा के लिए भी देवनागरी लिपि के प्रयोग की बात चल रही है। उत्तर प्रदेश में उर्दू वालों की एक समिति भी बन गई है, जो इस प्रश्न पर सभी दृष्टियों से विचार कर रही है। उर्दू के प्रायः बहुत से प्रसिद्ध कवियों एवं लेखकों का साहित्य देवनागरी लिपि में प्रायः ज्यों का त्यों आ चुका है। उर्दू की 'उर्दू-साहित्य' (इलाहाबाद) तथा कुछ और पत्रिकाएँ भी देवनागरी में सफलतापूर्वक प्रकाशित हो रही हैं। पंजाबी भाषा लिखने में कुछ लोग देवनागरी का प्रयोग करते हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं तथा बँगला आदि के भी कुछ ग्रन्थ देवनागरी में प्रकाशित हो चुके हैं और होते जा रहे हैं। भारत के बाहर नेपाल की लिपि भी देवनागरी है।

उड़िया लिपि—उड़िया भाषा लिखने में प्रयुक्त।

तमिल लिपि—तमिल भाषा लिखने में प्रयुक्त।

तेलुगु लिपि—तेलुगु भाषा के लिखने में प्रयुक्त।

मलयालम लिपि—मलयालम भाषा के लिखने में प्रयुक्त।

गुजराती लिपि—गुजराती के लिखने में प्रयुक्त।

गुरुमुखी—पंजाबी के लेखन में प्रयुक्त।

उर्दू या फारसी-अरबी लिपि—उर्दू, काश्मीरी तथा सिन्धी भाषा के लेखन में प्रयुक्त।[1]

रोमन—अंग्रेज़ी लेखन में प्रयुक्त। कुछ लोग अन्य प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं को भी इसमें लिखते हैं।

उपर्युक्त प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि देवनागरी का प्रयोग ही सर्वाधिक होता है। इसी कारण देवनागरी का ही राष्ट्रलिपि के रूप में नाम लिया जा रहा है। यह उल्लेख्य है कि राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी के नाम का सामने आना कोई नई बात नहीं है। आज से लगभग आधी सदी पूर्व सं० १९६४ विक्रमी में एक ऐसे प्रदेश में यह आवाज सबसे पहले सुनाई पड़ी थी, जो न तो हिन्दी या मराठी प्रदेश है और न जहाँ देवनागरी

---

१. कश्मीरी भाषा के लेखन में पहले शारदा लिपि का प्रयोग होता था। अब केवल कुछ ब्राह्मण-परिवार ही शारदा का प्रयोग करते हैं। अतः कश्मीरी भाषा की लिपि शारदा नहीं है, जैसा कि ऑफिशल लैंग्वेज कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया है, अपितु उर्दू है। कश्मीरी तथा सिन्धी के लिए प्रयुक्त लिपि भी उर्दू भाषा के लिए प्रयुक्त लिपि से विशेष भिन्न नहीं है।

लिपि दैनिक काम-काज में ही प्रयुक्त होती है। वह प्रदेश बंगाल था। बंगाल आज इन बातों का चाहे कितना भी विरोधी क्यों न हो, पिछली तथा इसी सदी के पूर्वार्ध में वह इस क्षेत्र में एक प्रकार से अग्रणी रहा है। इसका कारण यह था कि वहाँ सामान्य प्रबुद्धता अन्य प्रान्तों की तुलना में प्रायः पहले आई। वहीं राजा राममोहन राय ने पहले-पहले राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी का नाम लिया है और वहीं इस सदी के पहले दशक में कलकत्ता हाईकोर्ट के जस्टिस श्री शारदाचरण मित्र ने सर्वप्रथम देवनागरी लिपि को राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार करने का सुझाव दिया। यों इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती (ध्यान देने योग्य है कि ये भी मराठी या हिन्दी प्रदेश के नहीं थे) पहले संकेत कर चुके थे। मित्र महोदय की प्रेरणा से देवनागरी लिपि के देशव्यापी प्रचार-प्रसार के लिए 'एक लिपि-विस्तार-परिषद्' की स्थापना हुई और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'देवनागर' नामक पत्रिका निकाली गई, जिसे देश के हर कोने से सहयोग प्राप्त हुआ।

देवनागरी के साथ ही कुछ कोनों से रोमन को राष्ट्रलिपि बनाने का स्वर भी सुनाई पड़ रहा है। इन दो के अतिरिक्त किसी अन्य लिपि का नाम राष्ट्रलिपि के रूप में नहीं लिया जा रहा है। इसका कारण है अन्य लिपियों का अपेक्षया सीमित एवं मात्र क्षेत्रीय प्रचार एवं उपयोग। अब विचार्य है कि देवनागरी और रोमन में राष्ट्रलिपि होने के योग्य कौन-सी लिपि है। जैसा कि अधिकांश लोग कह रहे हैं तथा कई दशकों से कहते आ रहे हैं, यह स्थान नागरी ही ले सकती है, रोमन नहीं। इससे सम्बद्ध प्रमुख तर्क नीचे दिए जा रहे हैं।

रोमन लिपि राष्ट्रलिपि क्यों नहीं हो सकती ?

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी-जैसे कुछ भाषाशास्त्रविद् तथा कुछ अंग्रेज़ी-प्रेमी रोमन को राष्ट्रलिपि बनाने के पक्ष में हैं। किन्तु निम्नांकित बातों के कारण ऐसा होना कठिन-सा प्रतीत होता है :

(१) सब से बड़ी बात तो यह है कि रोमन एक विदेशी लिपि है। इसके साथ विदेशी भावनाएँ सम्बद्ध हैं। विज्ञान के विमान पर बहुत ऊँचे उड़कर भी मानव अभी तक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय भावनाओं को तिलाञ्जलि नहीं दे सका है। इस प्रसंग में कुछ लोग तुर्की का नाम लेते हैं। तुर्की ने अरबी लिपि छोड़कर रोमन लिपि अपना ली। ऐसे लोग कदाचित् यह भूल जाते हैं कि तुर्की की समस्या हमारी समस्या से पूर्णतया भिन्न थी। पहली बात तो यह है कि उनकी अपनी लिपि कोई न थी। ऐसी स्थिति में जब दूसरे की चीज़ ही लेनी है तो अच्छी चीज़ क्यों न ली जाय, यह भावना उन लोगों में कार्य कर रही थी। दूसरे अरबी लिपि बहुत अवैज्ञानिक तथा उनके लिए अपर्याप्त थी, अतः सुविधा-जनक भी नहीं थी। भारत में ये दोनों ही बातें नहीं हैं। हमारे पास अपनी लिपियाँ हैं,

साथ ही उनमें से कई हमारे लिए आवश्यकताओं की दृष्टि से पूर्ण एवं सुविधाजनक हैं।

(२) रोमन के जानने वाले देवनागरी आदि भारतीय लिपियों की तुलना में बहुत ही थोड़े हैं। ऐसी स्थिति में, जिस लिपि के जानने वाले प्रायः अत्यल्प ही नहीं, सर्वाल्प हैं, उसे राष्ट्रलिपि कैसे बनाया जा सकता है ?

(३) रोमन लिपि, लिपि-विकास की दृष्टि से, अत्यन्त विकसित तथा वर्णात्मक (alphabetic) अवश्य है, किन्तु जिन भाषाओं के लिए इसका प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से हो रहा है, उनमें भी इसका वैज्ञानिक रूप सामने नहीं आया है। आशय फ्रेंच और अंग्रेज़ी आदि से है। इन दोनों भाषाओं में वर्तनी (spelling) तथा उच्चारण के बीच की दुर्गम खाई इसका स्पष्ट प्रमाण है। इसमें सी (c) जैसे ऐसे भी अक्षर हैं, जिनका ध्वन्यात्मक मूल्य प्रायः अनिश्चित-सा है। हम अंग्रेज़ी के माध्यम से रोमन लिपि से परिचित हुए हैं और अंग्रेज़ी में आई (i), यू (u) आदि कई अक्षरों का प्रयोग एकाधिक ध्वनियों के लिए होता है। इस प्रकार अपनी वैज्ञानिकता के बावजूद रोमन का जो स्वरूप हमारे सामने है, उसे बहुत वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। भारतीय भाषाओं के लिए रोमन अक्षरों का अंग्रेज़ी आदि से अलग ध्वन्यात्मक मूल्य निर्धारित करने की बात भी की जाती है। इस प्रसंग में एक कठिनाई की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। अंग्रेज़ी से हमारा सम्बन्ध रहा है, और आगे भी रहेगा। ऐसी स्थिति में एक ही अक्षर से दो ध्वन्यात्मक मूल्यों को—एक अंग्रेज़ी के लिए और दूसरा भारतीय भाषाओं के लिए—एक साथ स्वीकार करना व्यावहारिक दृष्टि से सुविधाजनक नहीं कहा जा सकता।

(४) किसी भाषा के लिए सबसे वैज्ञानिक लिपि वह है, जिसमें इस भाषा में प्रयुक्त सभी ध्वनियों के लिए अलग-अलग चिन्ह या अक्षर हों। इस दृष्टि से रोमन बहुत पीछे रह जाती है। भारतीय भाषाओं में पचास से ऊपर ध्वनियाँ हैं, जब कि रोमन में केवल २६ अक्षर ही हैं, और इनमें भी एक्स (x) आदि कुछ ऐसे हैं, जिनको ध्वन्यात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र अक्षर मानना चिन्त्य है। इस तरह भारतीय भाषाओं को दृष्टि में रखने पर रोमन में आधे—अर्थात् लगभग २५ अक्षर हैं। २५ रोमन अक्षरों के आधार पर ५०-५५ भारतीय ध्वनियों को व्यक्त करना कितना असुविधाजनक तथा अव्यावहारिक होगा, कहने की आवश्यकता नहीं। इस बात को कुछ और विस्तार से देखा जा सकता है। रोमन की अक्षर-विषयक अपर्याप्तता को क्रमशः लिया जा रहा है[1] :

---

१. अंग्रेजी के लिए रोमन लिपि का प्रयोग बहुत दिनों से होता आ रहा है, किन्तु अंग्रेज लोग भी इससे सन्तुष्ट नहीं रहे। बर्नर्ड शा ने तो इसके विरुद्ध लिखा भी था। अभी हाल में वहाँ रोमन में काफ़ी सुधार करने का सुझाव दिया गया है और २६ अक्षरों के स्थान पर ४३ अक्षरों की रोमन लिपि का सुझाव आया है। हैरो के प्राइमरी स्कूल में प्रायोगिक रूप में इसका प्रयोग भी चल रहा है। सम्भावना इसी बात की है कि जिस रोमन लिपि को भारत में अपनाने की बात की जा रही है, वह अपने मूल रूप में इंग्लैण्ड से अपदस्थ होकर रहेगी। इसका मूल कारण यह है कि उसमें पर्याप्त चिह्न नहीं हैं।

(क) रोमन में कुल ५ स्वर चिह्न हैं : a, e, i, o, u। देवनागरी को भारत की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का प्रतिनिधि मानें तो कह सकते हैं कि यहाँ मोटे रूप से ११ स्वर हैं, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ। यह संख्या, दक्षिण भारत के ह्रस्व ओ तथा ह्रस्व ए, और संस्कृत एवं प्राचीन दक्षिणी भाषाओं के लृ, ॠ आदि को छोड़कर है। स्पष्टतः रोमन को अपनाने पर ५ अक्षरों से ११ या उससे भी अधिक ध्वनियों को व्यक्त करना पड़ेगा, जो बहुत ही असुविधाजनक होगा। डाइक्रिटिक मार्क या विशिष्ट चिह्नों के आधार पर इन पाँच से आठ-दस को व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु विशिष्ट चिह्नों की बैसाखियों की भी एक सीमा होती है। लिपि में इसकी जितनी कम सहायता ली जाय उतना ही अच्छा है। अन्यथा घसीट लिखी भाषा को पढ़ने में बड़ी परेशानी होती है। किसी वर्णमाला के अधिक से अधिक दो-चार अक्षरों को विशिष्ट चिह्नों के युक्त कर सकते हैं। किन्तु यहाँ रोमन के तो सारे के सारे अक्षरों पर विशिष्ट चिह्न लगाने की बात है, क्योंकि स्वर-व्यंजन सब मिला कर २५ अक्षरों के द्वारा ५० से ऊपर ध्वनियों को व्यक्त करना है। ऐसी स्थिति में नागरी को जो इस दृष्टि से पूर्णतः पूर्ण है, छोड़कर रोमन को अपनाना एक व्यर्थ की परेशानी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। स्वर की दृष्टि से कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी हैं। ऋ, लृ आदि को व्यक्त करने के लिए रोमन में व्यंजनों की सहायता लेनी पड़ती है। यह भी बहुत वैज्ञानिक नहीं है। वैज्ञानिक यही है कि स्वर के लिए स्वर-चिह्न प्रयुक्त हों, अन्यथा इससे स्वर के व्यंजन होने का भ्रम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार औ, ए की स्थिति भी विचारणीय है। रोमन की सहायता से, जैसा कि प्रचलन चल पड़ा है, अउ और औ दोनों को एक ही प्रकार से (अर्थात् a u) लिखते हैं। हिन्दी की बोली भोजपुरी से एक उदाहरण लेकर इसके द्वारा उत्पन्न अव्यवस्था की ओर संकेत किया जा सकता है : भोजपुरी में कउड़ा और कौड़ा दो शब्द हैं। प्रथम का अर्थ है 'तापने की आग' और दूसरे का अर्थ है 'बड़ी कौड़ी'। देवनागरी में लिखने में कोई परेशानी नहीं है। दोनों को दो प्रकार से लिखेंगे, अतः स्पष्टतः दो प्रकार से पढ़ लेंगे; किन्तु रोमन में दोनों को एक प्रकार से लिखेंगे, अतः पढ़ने वाला बिना पूरा सन्दर्भ जाने शब्द का उच्चारण कर ही नहीं सकता। और यदि शब्द वाक्य में प्रयुक्त नहीं है, अलग रोमन में लिखा गया है तो एक व्यक्ति उसी को 'कौड़ा' पढ़ेगा और दूसरा 'कउड़ा'। अइ और ए के सम्बन्ध में भी ऐसी ही कठिनाई है। रोमन में दोनों को एक ही प्रकार से (ai) लिखते हैं, किन्तु भारतीय भाषाओं और बोलियों में दोनों को दो प्रकार से लिखने की आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं किया जाएगा तो भोजपुरी का गइल (गया) और हिन्दी गैल (रास्ता, गली) दोनों एक हो जाएँगे।

(ख) व्यंजनों में पहले महाप्राण ध्वनियों को ले सकते हैं। अधिकाँश भारतीय भाषाओं में ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ आदि महाप्राण ध्वनियाँ हैं। उर्दू लिपि

की भाँति ही रोमन में भी इन ध्वनियों के लिए स्वतन्त्र अक्षर नहीं हैं। एच् (h) की सहायता से इन ध्वनियों को रोमन में व्यक्त करते हैं। इसमें प्रमुखतः दो कठिनाइयाँ हैं। पहली बात तो यह है कि एक ध्वनि के लिए दो अक्षरों को मिलाकर प्रयोग (जैसे ख के लिए kh आदि) बहुत वैज्ञानिक नहीं है। वैज्ञानिक लिपि वही है जिसमें हर ध्वनि स्वतन्त्र अक्षर द्वारा व्यक्त की जा सके। रोमन इस दृष्टि से बहुत अवैज्ञानिक है। ख, घ, भ आदि सभी महाप्राण व्यंजन इसमें दो अक्षरों के योग से व्यक्त किए जाते हैं।

और दो ही क्यों? छ (chh) में तो तीन अक्षर जोड़ने पड़ते हैं। ऐसे प्रयोगों में व्यर्थ में स्थान तो अधिक घिरता ही है, दो या तीन ध्वनियों के होने का भी भ्रम हो जाता है। दूसरी बात है लिपि की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में। वैज्ञानिक लिपि वही है जिसमें मूल ध्वनियों के साथ संयुक्त ध्वनियों को भी सुविधापूर्वक विना किसी भ्रम के लिखा जा सके। इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि नागरी में क्ह, प्ह और ख, फ, को अलग-अलग व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु रोमन में दोनों के लिए kh, ph ही लिखेंगे। वैज्ञानिक दृष्टि से क्ह ख या प्ह फ एक नहीं है। यह बात दूसरी है कि भारतीय भाषाओं में इस प्रकार की संयुक्तता प्रायः नहीं है। इस तरह महाप्राण व्यंजनों की दृष्टि से रोमन भारतीय भाषाओं के लिए बिल्कुल ही दोषपूर्ण है।

(ग) व्यंजनों में महाप्राण के बाद ङ, ञ, त, द, ड़, श, प, ळ आदि उन अन्य ध्वनियों को लिया जा सकता है, जो भारतीय भाषाओं में आवश्यक हैं, और जिनके लिए देवनागरी आदि में अक्षर हैं, किन्तु रोमन में नहीं हैं। इनको यदि रोमन में व्यक्त करना चाहें तो विशिष्ट चिह्न लगाने पड़ेंगे, किन्तु यहाँ फिर वही प्रश्न उठेगा, जिसके सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है। अर्थात् विशिष्ट चिह्नों की वैसाखी से पंगु व्यक्ति कितना चल सकता है? साथ ही यदि विशिष्ट चिह्न लगाएँ भी तो कई अक्षरों के सम्बन्ध में अन्य प्रकार की कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दी ड़ के लिए कुछ लोग r तथा कुछ लोग d लिखते हैं किन्तु इन्हीं r और d का प्रयोग क्रमशः ऋ और ड के लिए भी चलता है। इसी प्रकार रोमन l के नीचे विन्दु देकर ḷ करते हैं। इसका प्रयोग भी ॡ और ळ दोनों के लिए चलता है। यों अन्य प्रकार के चिह्न लगाकर यह गड़बड़ी किसी सीमा तक दूर की जा सकती है, किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, अतिरिक्त चिह्न जितने ही अधिक बढ़ेंगे, व्यवहारतः लिपि उतनी ही असुविधाजनक होती जाएगी।

इस प्रकार रोमन लिपि, विदेशी, कई दृष्टियों से भ्रामक एवं अवैज्ञानिक, हमारी ध्वनीय आवश्यकताओं की दृष्टि से अपर्याप्त, एवं देवनागरी आदि लिपियों की तुलना में भारत में अल्प प्रचलित होने के कारण राष्ट्रलिपि के रूप में ग्राह्य होने के सर्वथा अयोग्य है।

हम जानते हैं कि तेलुगु लिपि में एक ही अक्षर दोनों च को प्रकट करता है, अतः देवनागरी में भी एक ही चिह्न दोनों के लिए पर्याप्त समझा जाना चाहिए। यदि 'च' के लिए दो अक्षर रखे जाएँ, तो भाषाविज्ञानवेत्ता या बहुशिक्षित तो उनका प्रयोग सरलता से कर लेगा, किन्तु सामान्य जनता के लिए एक समस्या खड़ी हो जाएगी और उसके लिए यह जानना बहुत कठिन होगा कि कहाँ एक अक्षर का प्रयोग करें और कहाँ दूसरे का। उस बेचारे को क्या पता कि कौन 'च' दंत्य है और कौन तालव्य है ? इसी कठिनाई की दृष्टि से इस प्रसंग में वास्तविक उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों के भेदों-विभेदों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि हर भाषा में प्रयुक्त अक्षरों या लिपि-चिह्नों का, जिनका कि सर्वसामान्य लोग प्रयोग करते हैं, क्योंकि राष्ट्रलिपि भाषाविज्ञानविदों के लिए नहीं, अपितु सामान्य लोगों के लिए है। हाँ, भाषाविज्ञानविद् यदि उसे अपने लिए प्रयुक्त करना चाहें, तो, जैसे रोमन के आधार पर अनेक प्रकार की ध्वन्यात्मक लिपियाँ विश्व में बनी हैं, उसी प्रकार विशिष्ट चिह्नों के आधार पर देवनागरी लिपि को भी ध्वन्यात्मक लिपि (Phonetic Script) का रूप दे सकते हैं।[४]

यहाँ अलग-अलग भाषाओं को लेकर उनके लिए अपेक्षित अतिरिक्त लिपि-चिह्नों या अक्षरों की दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

मलयालम

मलयालम भाषा के लेखन में मलयालम या केरल लिपि का प्रयोग होता है। देवनागरी से तुलना करने पर यों तो मलयालम वर्णमाला में प्रमुखतः कुल ९-१० नये अक्षर मिलते हैं, किन्तु सामान्य प्रयोग में ये सभी प्रचलित नहीं हैं। मलयालमभाषियों तथा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के अधिकारियों से बात करने पर, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ह्रस्व ए, ह्रस्व ओ, विशेष प्रकार का तेज़ र, प्रतिवेष्ठित मूर्धन्य र, तथा इस र के द्वित्त उच्चारण की दंतमूलीय 'ट' जैसी ध्वनि, ये पाँच ध्वनियाँ या अक्षर मलयालम लिपि में ऐसे हैं, जिनके लिए देवनागरी लिपि में यदि अक्षर बना लिए जाएँ, तो मलयालम भाषा को देवनागरी लिपि में लिखने में कोई कठिनाई न होगी। यहाँ मैंने 'ळ' का उच्चारण नहीं किया है। यह ध्वनि यद्यपि हिन्दी भाषा में प्रयुक्त देवनागरी लिपि में नहीं है, किन्तु मराठी में प्रयुक्त देवनागरी लिपि में है। ऐसी स्थिति में यह भी

---

४. देवनागरी लिपि के आधार पर ध्वन्यात्मक लिपि बनाने के प्रयास किए जा चुके हैं। देखिए, 'भाषाविज्ञान', भोलानाथ तिवारी, तीसरा संस्करण, पृ० ४२०-२१। इस दिशा में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया के नाम उल्लेखनीय हैं।

देवनागरी का ही एक अक्षर है और इसे नवस्वीकृत चिह्नों में नहीं रखा जा सकता। उपर्युक्त नये अक्षरों के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के सुझाव दिए गए हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने ह्रस्व ए के लिए ˘ रखा है तो ह्रस्व ओ के लिए 'ॉ' 'ॉ' में कठिनाई यह है कि हिन्दी में वृत्तमुखी ऑ के लिए इसका प्रयोग चल रहा है, जैसे कॉलिज, ऑफिस आदि। इसी प्रकार तेज 'र' के लिए नरवणे आदि कुछ लोगों ने 'र्' का प्रयोग किया है, किन्तु देवनागरी लिपि में यह स्पष्ट ही दो र हैं, जैसे 'हुर्रे'। मलयालम आदि में यह र द्वित्त न होकर दन्तमूलीय लुंठित है, अतः इसे 'र्' लिखने में भ्रम की सम्भावना है। ऐसी स्थिति में इसे स्वीकार्य नहीं माना जा सकता। सभी दृष्टियों से विचार करने पर उपर्युक्त मलयालम अक्षरों के लिए क्रमशः निम्नांकित अक्षर नागरी में स्वीकार किए जा सकते हैं :

ऍ (कॆ), ऒ (कॊ), ऱ, ऴ,[५] ट़

तमिल

इसकी वर्णमाला में नागरी की तुलना में यों तो काफ़ी अक्षर कम हैं, किन्तु कुछ अक्षर ऐसे भी हैं जो नागरी में नहीं हैं। ऐसे अक्षरों की संख्या चार है। इनमें एक वर्ण 'न' के लिए है। इस प्रकार तमिल वर्णमाला में 'न' के लिए दो चिह्न हैं। दोनों के उच्चारण में अब कोई भेद नहीं है, यद्यपि प्राचीन काल में रहा होगा। व्याकरण के प्राचीन नियमों के अनुसार कुछ स्थानों पर एक चिह्न का तथा कुछ पर दूसरे का प्रयोग होता है। आधुनिक प्रवृत्ति अल्प प्रचलित ऩ (जैसे मऩरम=इमारत का न) के स्थान पर अधिक प्रचलित 'न' लिखने की है, इस प्रकार अब एक 'न' चिह्न पर्याप्त माना जा रहा है। यदि तमिल भाषी उसे आवश्यक मानें तो 'न' और 'ऩ' रूप में दो न नागरी में रखे जा सकते हैं। शेष तीन अक्षर वे ही हैं, जिनका ऊपर मलयालम में वर्णन किया जा चुका है, अर्थात् ऍ, ऒ, ऴ। इस प्रकार नागरी में इन्हें स्वीकार कर लेने पर तमिल को सरलता से नागरी में लिखा जा सकता है।

तेलुगु

तेलुगु की पूर्ण वर्णमाला में नागरी की तुलना में यों तो कुल लगभग ६ लिपि-चिह्न ऐसे हैं जिनके लिए देवनागरी में अक्षर नहीं हैं, किन्तु ये सभी आज प्रयोग में नहीं हैं। प्रयोग की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण हैं उनके लिए मलयालम आदि की भाँति ही ऍ, ऒ, ऱ चिह्न देवनागरी में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। उच्चारण में, मराठी की भाँति ही,

५. इसे कुछ लोग ष़ भी लिख रहे हैं। सुनने में यह ध्वनि ष की अपेक्षा ल़ के निकट है, अतः इसे ऴ रूप में लिखना अधिक उचित है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति अनेक विदेशी विद्वानों ने विदेशी लिपियों से मानी है। उदाहरणार्थ, कुपेरी के अनुसार यह चीनी लिपि से; प्रिंसेप और सेनार्ट के अनुसार यूनानी लिपि से और वेबर आदि के अनुसार फोनीशियन लिपि से उत्पन्न है। किन्तु जैसा कि अन्यत्र दिखलाया जा चुका है, ये मत सत्य से बहुत दूर हैं[1]। प्रश्न यह उठता है कि फिर ब्राह्मी लिपि आई कहाँ से? इस प्रश्न को लेकर एडवर्ड टॉमस, डॉ० राजबली पांडेय, श्री आर० शाम शास्त्री, जगन्मोहन वर्मा तथा डाउसन आदि ने सविस्तार विचार किया है, किन्तु कोई बहुमान्य एवं निश्चित मत सामने नहीं आ सका है। इसी कारण डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का यह कथन ही प्रायः प्रामाणिक माना जाता रहा है—'जितने प्रमाण मिले हैं, चाहे प्राचीन शिलालेख के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते हैं कि लेखन-कला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी···उसके आरम्भिक विकास का पता नहीं चलता[2]।'

मुझे ऐसा लगता है कि सिन्धु घाटी की लिपि से इस लिपि का सम्बन्ध है। आज से १२ वर्ष पूर्व १९५६ ई० में, इन पंक्तियों के लेखक ने सिन्धु घाटी की लिपि के साथ ब्राह्मी का तुलनात्मक अध्ययन किया था और निष्कर्षतः यह मत व्यक्त किया था कि ब्राह्मी लिपि सिन्धु घाटी की लिपि से निकली है। साथ में दोनों लिपियों में से कुछ समान लिपि-चिह्नों का एक चार्ट भी प्रस्तुत किया था[3]। कई लेखकों ने लिपि पर लिखते हुए अपनी पुस्तकों तथा लेखों में इस मत तथा चार्ट को ससंदर्भ या असंदर्भ, दोनों ही रूपों में उद्धृत किया है।

इस प्रकार सम्भावना यही है कि भारतीय लिपियों का मूल सिन्धु घाटी की लिपि में है, और यह लिपि अपने मूल में कदाचित् चित्र लिपि थी। सिन्धु और ब्राह्मी के अधिकांश लिपि-चिह्नों को एक-दूसरे से सम्बद्ध करना सम्भव नहीं हो रहा है। ५वीं सदी ई० पूर्व से ब्राह्मी के लेख मिलते हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि इस लिपि का आरम्भ बहुत पहले हो चुका था। इस प्रकार ब्राह्मी के प्रारम्भकाल के सम्बन्ध में सनिश्चय कहना कुछ कठिन है। इसके बाद इसकी दो शैलियाँ हो गईं—उत्तरी शैली और दक्षिणी शैली। दक्षिणी शैली से तमिल, कन्नड़, ग्रन्थ, कलिंग, वट्टेलुत्तु आदि का विकास हुआ। उत्तरी शैली से गुप्त (४-५वीं सदी), कुटिल (६-८वीं सदी), प्राचीन देवनागरी (८-१५ वीं सदी), नागरी (१६ वीं सदी) तथा शारदा, टाकरी, डोगरी, गुरुमुखी, गुजराती, कैथी, बंगला,

---

१. भाषा-विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, पृष्ठ ४६५-६८।

२. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, तीसरा संस्करण, पृ० ३०।

३. भाषा-विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, इलाहाबाद, दूसरा संस्करण, पृ० ३५५।

मैथिली तथा उड़िया आदि विकसित हुईं। इस प्रकार मूलतः सभी भारतीय लिपियाँ (उर्दू और रोमन को छोड़कर) आपस में सम्बद्ध हैं, और इसी कारण उनमें आन्तरिक समानता है।

राष्ट्रलिपि की दृष्टि से देवनागरी में अपेक्षित परिवर्धन

ऊपर हम देख चुके हैं कि अन्य भारतीय लिपियों की तुलना में देवनागरी राष्ट्र-लिपि होने के अधिक उपयुक्त है किन्तु इसे ज्यों की त्यों राष्ट्रलिपि नहीं बनाया जा सकता। इस दृष्टि से इसके समक्ष प्रमुख समस्याएँ दो हैं। एक तो यह कि, कुछ भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं, जिनके लिए देवनागरी में लिपि-चिह्न या अक्षर नहीं हैं, अतः उनके लिए नये अक्षरों के बनाने की आवश्यकता है, और दूसरी यह कि इसमें कुछ अवैज्ञानिकताएँ या कमियाँ हैं, जिनकी दृष्टि से इसमें सुधार अपेक्षित हैं। यहाँ क्रम से दोनों को लिया जा रहा है।

राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी में सभी भाषाओं की ध्वनियों के अंकन की शक्ति होनी चाहिए। यहाँ सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ बातें विचारणीय हैं। भाषाओं का प्रति-लेखन ((Transcription) दो प्रकार का होता है—(क) स्थूल या सामान्य प्रतिलेखन (Eroad Transcription) तथा (ख) सूक्ष्म या विशिष्ट प्रतिलेखन (Narrow Tra-nscription)। स्थूल में, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, ध्वनियों का अंकन स्थूल रूप से करते हैं, अर्थात् इसमें प्रायः ध्वनिग्राम (Phoneme) का ही अंकन होता है, संध्वनियों (Allophones) का नहीं। दैनिक कार्य या सामान्य व्यावहारिक लेखन के लिए यही पद्धति उचित मानी जाती है। सूक्ष्म प्रतिलेखन भाषा-उच्चारण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का अंकन करता है। अर्थात् उसमें संध्वनियों तथा बलाघात आदि के अंकन का पूरा ध्यान रखा जाता है। राष्ट्रलिपि के प्रसंग में हमारा ध्यान प्रमुखतः स्थूल प्रतिलेखन पर होगा, क्योंकि सूक्ष्म प्रतिलेखन की आवश्यकता लिपि के सर्वसामान्य प्रयोक्ता को नहीं होती। स्थूल प्रतिलेखन में यह आवश्यक नहीं है कि हमारा ध्यान उन सारी ध्वनियों की ओर जाय, जिनका भाषा-विशेष में प्रयोग हो रहा है। हाँ, हमारा ध्यान उन सारे लिपि-चिह्नों या अक्षरों पर अवश्य जाना चाहिए, जिनका उस भाषा-विशेष में प्रयोग हो रहा है। अर्थात् जिस भारतीय भाषा के लेखन में जिन-जिन अक्षरों का प्रयोग हो रहा है, उन सारे अक्षरों के लिए देवनागरी लिपि में अक्षर या लिपि-चिह्न अपेक्षित हैं। इस समय व्यावहारिक आवश्यकता यही है। भाषावैज्ञानिक सूक्ष्मता के आधार पर किसी भाषा की हर ध्वनि के लिए देवनागरी में अक्षरों को बढ़ाना, समस्या को और उलझा देगा। उदाहरणार्थ, हमें पता है कि तेलुगु में दो प्रकार के 'च' हैं। किन्तु इसके लिए इस समय देवनागरी लिपि में हमें एक और 'च' बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है।

देवनागरी लिपि क्यों राष्ट्रलिपि हो सकती है ?

(१) देवनागरी लिपि रोमन की भाँति विदेशी लिपि नहीं है, अपितु पूर्णतः भारतीय है। इसकी उत्पत्ति और इसका विकास दोनों ही भारत-भूमि में हुआ है, इस प्रकार इसकी जड़ें देश के इतिहास और संस्कृति में हैं।

(२) भारत में जितनी भी लिपियाँ प्रचलित हैं, उनमें, देवनागरी लिपि को जानने वालों की संख्या सर्वाधिक है। रोमन के जानने वाले ३% से भी कम होंगे। बँगला, गुरुमुखी, उड़िया, तमिल, तेलुगु आदि अन्य लिपियों को जानने वाले भी ५% से लगभग ८% के बीच में हैं, किन्तु देवनागरी जानने वालों की संख्या १५% से भी ऊपर है। इस अधिकता के प्रमुख कारण ये हैं :

(क) देवनागरी लिपि पूरे हिन्दी प्रदेश में प्रयुक्त होती है, और हिन्दीभाषी जनता भारत में हिन्दीतर भाषा-भाषी जनता से अधिक है।

(ख) हिन्दी के अतिरिक्त मराठी भाषा की लिपि भी यही है, अतः वहाँ के लोगों में भी इसी का प्रचार है।

(ग) ऐसे लोगों में भी जो हिन्दी और मराठी नहीं जानते, ऐसे लोगों की संख्या पर्याप्त है, जो या तो धार्मिक दृष्टि से संस्कृत, पालि, अर्धमागधी आदि से न्यूनाधिक रूप से परिचित हैं, अतः देवनागरी लिपि से भी अपरिचित नहीं हैं, क्योंकि इनके ग्रन्थ प्रायः देवनागरी में ही छपे हैं, या फिर अपने प्राचीन साहित्य, संस्कृति या दर्शन आदि के अध्ययन के लिए जिन्होंने संस्कृत, पालि, प्राकृत या अपभ्रंश आदि का अध्ययन किया है और इस प्रकार देवनागरी लिपि से पूर्णतः परिचित हैं। प्रमुखतः दक्षिण भारत में तथा बंगाल में ये बातें बहुत अधिक हैं। इस प्रकार हिन्दी और मराठी जनता के अतिरिक्त, अन्य शिक्षित भारतीयों का भी एक अच्छा प्रतिशत धर्म, दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, साहित्य आदि में रुचि रखने के कारण देवनागरी लिपि से पूर्णतः अपरिचित नहीं कहा जा सकता।

(३) जैसा कि आगे हम देखेंगे, भारत की सभी लिपियाँ प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी से निकली होने के कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साम्य रखती हैं। देवनागरी लिपि मध्यदेशीय लिपि होने के कारण ब्राह्मी की सीधी परम्परा में है, साथ ही रूपात्मक दृष्टि से भी बीच में पड़ती है, इस तरह अन्यों की तुलना में अन्य सभी लिपियों से अधिक निकट है। इसी कारण गुजराती, बंगाली आदि लिपियों को जानने वाले बिना जाने मात्र अनुमान से ही नागरी के काफी अक्षरों को पहचान सकते हैं। इसका आशय यह भी हुआ कि अन्य भारतीय लिपियों की तुलना में लोग इसे अपेक्षाकृत अधिक सरलता से सीख सकते हैं।

(४) यों तो सभी लिपियाँ अपने जानने वालों के लिए सरल होती हैं, किन्तु

यदि वह बात छोड़ दी जाए, तो यह कहा जा सकता है कि देवनागरी पर्याप्त सरल है। इसमें दक्षिण भारत तथा उड़िया आदि की लिपियों की भाँति जटिल अक्षर प्रायः नहीं हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी विदेशी को तमिल, मलयालम, कन्नड़, तेलुगु, उड़िया लिपि के साथ देवनागरी लिपि सिखलाई जाय, तो वह देवनागरी, अपेक्षाकृत कम समय में सीख लेगा। यह बात अनुमान पर नहीं कही जा रही है। इन पंक्तियों के लेखक ने एक फ्रांसीसी, एक कम्बोडियन तथा एक अमेरिकन से अलग-अलग इस सम्बन्ध में प्रयोग करवाए और निष्कर्ष इस प्रकार निकला—(क) देवनागरी लिपि तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम और उड़िया लिपि से सरल है और कम समय में सीखी जा सकती है; (ख) देवनागरी, बंगाली और गुरुमुखी लिपियाँ इस दृष्टि से लगभग समान हैं; (ग) गुजराती और उर्दू सबसे सरल हैं।

(५) भारत के बाहर नेपाल की लिपि भी देवनागरी ही है।

(६) संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के अध्ययन का मूलाधार होने के कारण भारत की प्रतिनिधि या प्रमुख लिपि के रूप में विश्व के सभी कोनों में कुछ न कुछ लोग देवनागरी को जानते हैं। प्रमुखतः भाषा-विज्ञान, दर्शन, प्राचीन इतिहास, भारतीय पुरातत्त्व एवं संस्कृति आदि क्षेत्रों के विद्वानों एवं कार्यकर्ताओं में यह पूर्ण प्रचलित है।

(७) वैज्ञानिक लिपि में, जिस भाषा के लिए वह प्रयुक्त हो, उसकी सभी आवश्यक ध्वनियों के लिए अलग-अलग चिह्न होने चाहिए। भारत में प्रचलित लिपियों में इस दृष्टि से सबसे अपूर्ण लिपि रोमन तथा उर्दू हैं। तमिल में भी स्थिति लगभग यही है। क्योंकि उसके कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग में देवनागरी आदि की तरह ५-५ अक्षर न होकर मात्र २-२ हैं। देवनागरी में इस प्रकार की अपूर्णताएँ नहीं हैं, और जैसा कि हम आगे देखेंगे कुछ ही नये अक्षरों के जोड़ देने पर यह सभी भारतीय भाषाओं को सरलता से लिख सकती है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि भारत की ही नहीं विश्व की कोई भी लिपि ऐसी नहीं है जो बिना परिवर्धन के भारत की सभी भाषाओं में स्पष्टतापूर्वक लिख सकें। थोड़ा-बहुत परिवर्धन सभी में आवश्यक है। देवनागरी में जो परिवर्धन अपेक्षित है, वह विश्व की किसी भी लिपि से अधिक नहीं है। इस प्रकार इस दृष्टि से भी देवनागरी, राष्ट्रलिपि होने के सर्वथा उपयुक्त है।

भारतीय लिपियों का आपसी सम्बन्ध

इस प्रसंग में संक्षेप में हमारी लिपियों का सम्बन्ध भी द्रष्टव्य है। इस आधार पर पीछे कुछ बातें कही जा चुकी हैं। भारत की प्राचीनतम लिपि सिन्धु घाटी की लिपि है। उसके प्रायः तीन-साढ़े तीन हज़ार वर्ष बाद ब्राह्मी लिपि का प्रयोग मिलता है।

तेलुगु में भी च, ज दो-दो प्रकार के हैं। एक तालव्य और दूसरा दन्त्यमूलीय। किन्तु लिखने में इनके लिए एक ही लिपि-चिह्न का प्रयोग होता है। इसीलिए नागरी में भी इनके लिए स्वतन्त्र चिह्न अपेक्षित नहीं हैं। (यों करना ही हो तो च च़, ज ज़ प्रयोग में आ सकते हैं। ज़ के स्थान पर कुछ लोगों ने ज़ के प्रयोग का सुझाव दिया है, जो भ्रमोत्पादक है। हिन्दी में 'ज़' वर्त्स्य संघर्षी ध्वनि का द्योतन करता है, जबकि मराठी, तेलुगु आदि का ज दन्त्यमूलीय स्पर्श-संघर्षी है, इस प्रकार यह 'ज़' से अलग है) तेलुगु में च और छ तथा ज झ के बीच दो और अक्षर प्राचीन काल में थे, किन्तु अब वे प्रायः लुप्त हो गए हैं, अतः उनके लिए अक्षर अनपेक्षित हैं।

कन्नड

कन्नड वर्णमाला के द्योतन के लिए देवनागरी में एं, ओं को सम्मिलित कर लेना पर्याप्त है। प्राचीन कन्नड में तीन अन्य अक्षर भी थे जो 'र', और 'ल' से उच्चारण में मिलते-जुलते थे। अब वे प्रयुक्त नहीं होते, अतः उनके लिए देवनागरी में परिवर्धन की आवश्यकता नहीं है।

मराठी

मराठी की लिपि जैसा कि संकेत किया जा चुका है, देवनागरी ही है। उत्तर भारत में प्रचलित देवनागरी की तुलना में इसमें 'ळ' चिह्न अधिक है। उच्चारण की दृष्टि से मराठी में च, छ, ज, झ, ये चारों ही ध्वनियाँ दो-दो प्रकार की हैं। एक तो तालव्य और दूसरी दन्त्यमूलीय। मराठी लोग इन दोनों के ही लिए एक ही प्रकार के चिह्न प्रयुक्त करते हैं। अभ्यास के कारण मराठी-भाषी सहज ही दोनों के अलग-अलग उच्चारण कर लेता है। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक मराठी के लिए इनके लिए अलग-अलग चिह्न व्यर्थ हैं। (यों यदि अलग करना चाहें ही तो च़, छ़, ज़, झ़ मान सकते हैं। ज के नीचे विन्दु न रखकर रेखा रखने का कारण यह है कि 'ज़' हिन्दी की नागरी में वर्त्स्य-संघर्षी ध्वनि है, जब कि मराठी का विशिष्ट ज दन्तमूलीय स्पर्श संघर्षी है। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, ऐसी स्थिति में दोनों ही के लिए एक लिपि-चिह्न 'ज़' का प्रयोग भ्रामक होगा।)

हिन्दी

हिन्दी की लिपि देवनागरी है। यों हिन्दी में ध्वन्यात्मक दृष्टि से १९ स्वर तथा दो व हैं, किन्तु व्यावहारिक लिपि में इन सूक्ष्मताओं को लाने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार हिन्दी ध्वनियों की दृष्टि से नागरी में कुछ परिवर्धन करने की आवश्यकता नहीं है।

गुजराती

गुजराती लिपि देवनागरी की ही तरह है। केवल शिरोरेखा नहीं है। गुजराती को नागरी में लिखने में किसी भी अतिरिक्त अक्षर की आवश्यकता नहीं है।

पंजाबी

पंजाबी की गुरुमुखी लिपि में नागरी की तुलना में अतिरिक्त चिह्न नहीं हैं, अतः उसे भी नागरी लिपि में लिखने में कोई कठिनाई नहीं है। ध्वनि की दृष्टि से शब्दारम्भ में पंजाबी के घ, झ, ढ, ध, भ, कुछ विचित्र रूप में उच्चरित होते हैं। डॉ० चटर्जी का कहना है कि ये महाप्राण सघोष व्यंजन पंजाबी में अल्पप्राण अघोष अर्थात् क, च, ट, त, प हो जाते हैं, किन्तु वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। इनकी ध्वनि कुछ विचित्र सी अल्पप्राण अघोष और 'ह' से युक्त होती है; जैसे 'भोली' का 'प्-होली'। किन्तु लिखने में इनके लिए सामान्य घ, झ, ढ, ध, भ का ही प्रयोग होता है, अतः नागरी में भी इन्हीं अक्षरों का प्रयोग किया जा सकता है।

बंगाली

बंगाली लिपि में नागरी की तुलना में कोई अतिरिक्त अक्षर नहीं हैं, अतः बंगाली के लिए भी नागरी में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

उड़िया

उड़िया वर्णमाला के सभी अक्षर नागरी में हैं, उड़िया में ज-जैसे उच्चारण का 'य'-जैसा एक अतिरिक्त अक्षर भी कभी प्रयुक्त होता था, किन्तु अब वह प्रयोग में नहीं है। अतः उड़िया के लिए भी देवनागरी में किसी अतिरिक्त अक्षर की आवश्यकता नहीं है।

असमिया

असमिया भाषा की लिपि बंगाली ही है। इसके उच्चारण की कुछ अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं, जैसे एक विशेष प्रकार 'ह' जो ख जैसा सुनाई पड़ता है तथा च, छ का कहीं-कहीं 'स' जैसा उच्चारण आदि। किन्तु लिखने में उनके लिए कोई विशिष्ट अक्षर नहीं हैं, अतः नागरी में इसे भी सरलतापूर्वक लिखा जा सकता है।

उर्दू

उर्दू लिपि अरबी-फ़ारसी लिपि में भारतीय ध्वनियों की आवश्यकताओं के अनुरूप (टे, डाल, ड़े आदि) परिवर्धन करके विकसित की गई है। प्राचीन नागरी की तुलना

की यह विशिष्टता रूसी सीखने वाले हिन्दी-भाषी छात्रों के लिए विशेष कठिनाई पैदा करती है। हिन्दी में किसी-किसी शब्द के व्यञ्जनों में कोमलता का आभास होता है, जैसे : 'प्यार' के 'प्' में। लेकिन ऐसे उदाहरण एकाकी हैं, बहुत-से नहीं मिलते। इस कठिनाई का निराकरण विशेष अभ्यास, क्रम से पहले सरल, फिर कठिन, अक्षरों से युक्त शब्दों और व्यञ्जनों के पृथक्-पृथक् उच्चारण द्वारा किया जा सकता है।

रूसी भाषा के ध्वनि-विधान की दूसरी विशिष्टता व्यञ्जनों का घोष और अघोष के रूप में वर्गीकरण है। ध्वनि-विज्ञान में यह वर्गीकरण बहुत महत्त्व रखता है। घोष और अघोष व्यञ्जनों के भी रूसी में युग्म हैं तथा कुछ के केवल घोष या अघोष रूप ही हैं। उच्चारण में घोष-अघोष व्यञ्जन एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। शब्द के अन्त में तथा अघोष व्यञ्जन से पूर्व आने पर घोष व्यञ्जन अघोष उच्चरित होते हैं। यथा—

गोद् (वर्ष) [गोत्]—शब्दान्त में गोष 'द्' का अघोष उच्चारण।

लोद्का (नाव) [लोत्का]—अघोष 'क्' से पूर्व घोष 'द्' का अघोष उच्चारण।

इस नियम का अपवाद यह घोष व्यञ्जन हैं—ल्, म्, न्, र् और 'य्' अर्थात् शब्द के अन्त में तथा अघोष व्यञ्जन के पूर्व आने पर भी ये घोष ही उच्चरित होते हैं।

घोष व्यञ्जन से पूर्व आने पर अघोष व्यञ्जन घोष उच्चरित होते हैं। जैसे—

वोक्ज़ाल (स्टेशन) [वोग्ज़ाल]—घोष 'ज़्' के प्रभाव से अघोष 'क्' का घोष उच्चारण।

ऊपर गिनाए गए घोष व्यञ्जन पूर्ववर्ती अघोष व्यञ्जनों को प्रभावित भी नहीं करते। जैसे—

स्लोवो (शब्द) का घोष 'ल्' पूर्ववर्ती अघोष 'स्' के उच्चारण को प्रभावित नहीं करता।

वैसे तो हिन्दी में भी व्यञ्जनों का घोष व अघोष के रूप में वर्गीकरण किया गया है, किन्तु अभी तक हिन्दी के ध्वनि-वैज्ञानिकों एवं वैयाकरणों द्वारा घोष-अघोष व्यञ्जनों के इस प्रकार के उच्चारणगत परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया गया है, यद्यपि इस प्रकार के उदाहरण हिन्दी से भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यथा—

अब क्या होगा?

यहाँ 'अब' का उच्चारण 'अप्' की तरह होता है क्योंकि घोष 'ब्' के बाद अघोष 'क्' आया है। इसी तरह 'बहुत देर' में 'बहुत' का उच्चारण 'बहुद्' होता है, क्योंकि अघोष 'त्' के बाद घोष 'द' आया है। संस्कृत के बहुत-से सन्धि-नियम भी घोषीकरण तथा अघोषीकरण पर आधारित हैं। जगत्+ईश=जगदीश; वाक्+देवी=वाग्देवी में घोषीकरण हुआ है—'त्' का 'द्' और 'क्' का 'ग्'।

रूसी की घोष-अघोष ध्वनियाँ कठिनाई का कारण नहीं बनतीं, क्योंकि इनसे सम्बन्धित उच्चारण के नियम बड़े स्वाभाविक हैं।

बलात्मक स्वराघात रूसी ध्वनि-विधान की तीसरी प्रमुख विशिष्टता है। कोमल-कठोर व्यञ्जनों के अन्तर की तरह स्वराघात का स्थानान्तरण भी अर्थ-भेद पैदा करता है। रूसी में एकाक्षर, द्वयाक्षर या अधिक अक्षर वाले शब्द हैं। स्वराघात एक ही अक्षर पर पड़ता है और उस अक्षर का उच्चारण विशेष बल के साथ किया जाता है। शब्द के अन्य सभी अक्षरों की स्वर-ध्वनियाँ अस्पष्ट-सी हो जाती हैं। स्वराघात किसी भी अक्षर पर पड़ सकता है। स्वराघात शब्द के व्याकरणिक अर्थ को, वर्तनी में बिना किसी परिवर्तन के, किस तरह प्रभावित करता है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

प्लाचू'[2] (मैं भुगतान करता हूँ) [प्लचू']

प्ला'चू (मैं रोता हूँ) [प्ला'चु]

हिन्दी भाषियों के लिए बलात्मक स्वराघात वैसी कठिनाई नहीं पैदा करता, जैसी कि कठोर-कोमल व्यञ्जन पैदा करते हैं। लेकिन हिन्दी के ध्वनि-विधान की एक अन्य विशेषता इसमें बाधक बनती है। हिन्दी में स्वरों के दो रूप हैं—ह्रस्व और दीर्घ। रूसी में जहाँ एक ही अक्षर पर स्वराघात पड़ता है, वहाँ हिन्दी में एक ही शब्द में एकाधिक ह्रस्व या दीर्घ स्वर होते हैं। रूसी के बलात्मक स्वराघात के नियमानुसार केवल स्वराघातयुक्त अक्षर ही विस्पष्ट रूप से उच्चारित होता है; अन्य सभी अक्षर विशेष नियम के अन्तर्गत अस्पष्ट-से हो जाते हैं। हिन्दी में एक शब्द में एकाधिक दीर्घ स्वरों के होने के कारण उन रूसी शब्दों के उच्चारण में अशुद्धि हो जाती है जिनमें स्वराघात किसी आरम्भिक अक्षर पर पड़ता है और अन्तिम अक्षर, जिसके अन्त में स्वर रहता है, स्वराघातहीन उच्चरित होता है। ऐसी स्थिति में अतिरिक्त रूप से अन्तिम अक्षर का भी स्वराघातयुक्त उच्चारण छात्र कर देते हैं। यह अशुद्धि आरम्भ में रहती है, जिसका निराकरण अक्षरों का पहले पृथक्-पृथक् उच्चारण, फिर दो या अधिक अक्षरों का संयुक्त उच्चारण, फिर पूरे शब्द का बार-बार उच्चारण करके किया जाता है। आरम्भ से ही स्वराघातयुक्त अक्षर का अधिक बल के साथ उच्चारण करने से आगे चलकर स्वराघात स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है और एक से अधिक अक्षरों का स्वराघातयुक्त उच्चारण दूर हो जाता है।

ध्वनि-विधान और भाषा-शिक्षण की दृष्टि से रूसी और हिन्दी की कतिपय

---

२. शिरोरेखा के ऊपर ['] चिह्न का प्रयोग अमुक अक्षर पर बलात्मक स्वराघात दिखलाने के लिए किया जाता है।

इ की मात्रा छोटी रखने का, अर्थात् ई=ी (की), इ=ि (की=कि)। दूसरा है इ की मात्रा को पीछे की ओर और ई की मात्रा को आगे की ओर मोड़ने का। उदाहरणार्थ की=कि, तथा की=की। घसीट कर लिखने में प्रथम सुझाव के अनुसार रेखा के छोटी-बड़ी होने में, भ्रम की सम्भावना है, अतः दूसरा सुझाव अधिक अच्छा है। इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई भी नहीं है, साथ ही भ्रम की भी सम्भावना नहीं है।

(ख) ख में प्रायः र व का या र व में ख का भ्रम हो जाता है। इसके लिए उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा अपनाया गया रूप सर्वोत्तम है। अर्थात् र व तो र व लिखा जाय किन्तु ख को ख लिखा जाय।

(ग) र के देवनागरी में र, /, ़, ^ चार रूप हैं। वस्तुतः केवल एक रूप 'र' को ही रखा जाना चाहिए और शेष को छोड़ देना चाहिए। इसी के आधार पर संयुक्त रूप भी बनाए जा सकते हैं। जैसे—क्र=क्र, ट्र=ट्र, र्म=र्म आदि।

(घ) कुछ अक्षरों के दो रूप प्रचलित हैं। जैसे अ-अ, ल-ळ, ण-ण, श-श आदि। इन युग्मों में एक-एक, जो सरल हों स्वीकार किए जा सकते हैं और दूसरे को छोड़ा जा सकता है।

इस प्रसंग में एक अन्य बात भी उल्लेख्य है। शीघ्र लिखने की दृष्टि से अक्षरों को शिरोरेखा-विहीन रूप में प्रयुक्त करना अधिक अच्छा होगा। घ ध, म भ में भ्रम होने की गुंजाइश हो सकती है, अतः अन्तर रखने के लिए ध, भ को घुंडीदार रूप में (ध,भ) रखा जा सकता है।

उपर्युक्त परिवर्धनों तथा सुधारों को स्वीकार कर लेने पर देवनागरी लिपि भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त राष्ट्रलिपि बन सकती है।
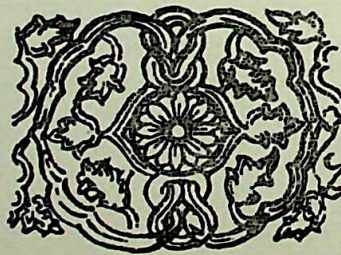
रूसी और हिन्दी का ध्वनि-विधान : उच्चारण के मौलिक भेद

हेमचन्द्र पांडे

दो भाषाओं के ध्वनि-विधान का तुलनात्मक अध्ययन ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण होने के अतिरिक्त भाषा-शिक्षण की प्रणाली की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। शुद्ध उच्चारण सिखलाना भाषा-शिक्षण की प्रथम अवस्था है।

रूसी और हिन्दी के ध्वनि-विधान में कई मौलिक भेद हैं जो कि रूसी भाषा सीखने वाले भारतीय छात्रों और हिन्दी सीखने वाले रूसी-भाषी छात्रों के लिए विशेष कठिनाई का कारण बनते हैं। प्रस्तुत लेख में भारतीय छात्रों को, विशेषकर हिन्दी-भाषी छात्रों को, रूसी ध्वनियों का उच्चारण सीखने में होने वाली कठिनाइयों के स्थूल पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

रूसी भाषा के ध्वनि-विधान की एक विशिष्टता व्यञ्जनों का द्विविध—कठोर और कोमल—वर्गीकरण है। रूसी के अधिकांश व्यञ्जनों के इस प्रकार के युग्म हैं। अन्य में से कुछ केवल कठोर हैं और कुछ केवल कोमल। कोमल व्यञ्जनों के उच्चारण में व्यञ्जन-विशेष के प्रमुख उच्चारण-प्रयत्न के अतिरिक्त जीभ का मध्य भाग अग्र तालु की ओर अतिरिक्त रूप से उठता है। इससे ध्वनि में कोमलता आ जाती है। कठोर व्यञ्जनों के उच्चारण में ऐसा नहीं होता। उनमें केवल मुख्य उच्चारण-प्रयत्न ही घटित होता है। रूसी भाषा में व्यञ्जन की कठोरता या कोमलता शब्द का अर्थ निर्धारित करती है। जैसे :

ब्रात् (भाई) का 'त्' कठोर है।

ब्रात्'[1] (लेना) का 'त्' कोमल है।

हिन्दी में ध्वनियों का इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं है। इसलिए रूसी उच्चारण

---

१. पूर्ववर्ती व्यञ्जन की कोमलता द्योतित करने के लिए उसके बाद शिरोरेखा के नीचे ['] चिह्न का प्रयोग किया गया है। रूसी में इसके लिए विशेष कोमल चिह्न का प्रयोग होता है। यदि कोमल व्यञ्जन के बाद स्वर-ध्वनि नहीं होती तो यह चिह्न प्रयुक्त होता है, अन्यथा उचित स्वर-वर्ण का प्रयोग किया जाता है।

में इसमें से, हे, खे, ज़ाल, ज़े, झे, स्वाद, ज़्वाद, तोय, ज़ोय, ऐन, ग़ैन, फ़े, क़ाफ़ ध्वनियाँ अधिक थीं। किन्तु हिन्दी भाषा में प्रयुक्त नागरी लिपि में उर्दू शब्दों के उच्चारण के लिए ख़, ज़, ग़, फ़, क़ ध्वनि-चिह्न आधुनिक काल में जोड़ दिए गए। शेष में 'से' का उच्चारण अब 'सीन' या हिन्दी 'स' से भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार ज़ाल, ज़े, झ़, ज़्वाद, ज़ोय, भी प्राय: 'ज़' की भाँति ही उच्चरित होते हैं। इसी प्रकार 'तोय' ते या 'त' तथा ऐन अ है। निष्कर्षत: यदि हिन्दी में प्रयुक्त नागरी को दृष्टि में रखें तो उर्दू को लिखने के लिए नागरी में किसी अतिरिक्त चिह्न की आवश्यकता नहीं है। उर्दू वाले यदि अपने विशिष्ट अक्षरों के लिए भी नागरी में विशिष्ट चिह्न चाहें ही तो से-स़, हे-ह़, ज़ाल--ज़़, ज़े-ज़़, झे-झ़, ज़्वाद-ज, ज़ोय-ज, स्वाद--स़, तोय--त़, ऐन-अ़ रूप में व्यक्त किए जा सकते हैं, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह अनावश्यक है।

कश्मीरी

'ऑफ़िशल लैंग्वेज कमीशन' की रिपोर्ट में कश्मीरी की लिपि 'शारदा' कही गई है। पहले बात ऐसी अवश्य थी, किन्तु अब शारदा का प्रयोग केवल कुछ ब्राह्मणों आदि में ही है। अन्य लोग कश्मीरी को अरबी-फ़ारसी लिपि में लिखते हैं जो उर्दू से बहुत भिन्न नहीं है। आज जिस रूप में कश्मीरी लिखी जाती है, उस रूप में बिना किसी कठिनाई के इसे नागरी लिपि में भी लिखा जा सकता है। यों कश्मीरी में अ, आ, उ, ऊ आदि स्वरों के एकाधिक रूप हैं, तथा व्यंजनों में मराठी की तरह दन्तमूलीय च ज आदि भी हैं, किन्तु सामान्य लेखन में उनका ध्यान नहीं रखा जाता। अत: इनके लिए भी देवनागरी में किसी अतिरिक्त अक्षर की आवश्यकता नहीं है।

सिन्धी

सिन्धी लिपि अरबी-फ़ारसी लिपि पर आधारित है। इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अन्तर्मुखी (Implosive) ध्वनियाँ भी होती हैं।[६] इनके उच्चारण के समय स्वर-यन्त्र को नीचे कर देने के कारण ध्वनि भीतर जाकर बाहर आती हुई सुनाई पड़ती है। सिन्धी में ग, ज, ड, द, न, पाँच अन्तर्मुखी व्यंजन हैं। भाषाविज्ञान में इनके लिए उलटे कॉमें (ग') का प्रयोग किया जाता है। सामान्यत: लिखने में यों तो

---

६. अरबी-फ़ारसी लिपि के आधार पर बनी सिन्धी लिपि (जो वहाँ अखबारों तथा स्कूलों आदि में चलती रही है) में भी इन सभी विशिष्ट (Implosive) ध्वनियों के लिए चिह्न नहीं हैं। ग, चाहे सामान्य हो या विशिष्ट, उसके लिए सामान्य गाफ़ (گ) का ही प्रयोग चलता रहा है।

इन ध्वनियों के लिए अलग चिह्न अपेक्षित नहीं है, किन्तु कुछ लोग अरबी-फ़ारसी लिपि में नीचे दो बिन्दु रखकर इन्हें प्रकट करते हैं। नागरी में भी यदि इन्हें अलग लिखना हो तो बिन्दु या कॉमे से काम चलाया जा सकता है। किन्तु व्यावहारिक लिपि में मराठी-तेलुगु के च, ज आदि की भाँति इसे भी सामान्य अक्षरों से ही लिखना उचित है। ऐसी स्थिति में इनके लिए नागरी लिपि में किसी अतिरिक्त अक्षर की आवश्यकता न होगी।

ऊपर विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त लिपियों को लेकर नागरी वर्णमाला में नये अक्षरों की आवश्यकता पर विचार किया गया। हमने देखा कि सर्वसामान्य प्रयोग की दृष्टि से देवनागरी लिपि को यदि राष्ट्रलिपि बनाना चाहें तो उसमें केवल पाँच नये अक्षर जोड़ने पड़ेंगे :

ऎं, ऒं, ऴ, ऱ, ट

इनके जोड़ देने पर देवनागरी लिपि सभी भारतीय भाषाओं को कम से कम उतनी सरलता, सुबोधता एवं स्पष्टता के साथ लिख सकती है, जितनी सरलता, सुबोधता एवं स्पष्टता के साथ भाषाएँ अपनी-अपनी लिपियों में लिखी जाती हैं। यही नहीं, तमिल, उर्दू आदि कुछ भाषाओं के लिए तो यह लिपि उनकी मूल लिपि से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। निष्कर्षत: राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी में निम्नांकित अक्षर हो सकते हैं :

स्वर—अ, आ, ऑ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ऎं, एँ, ऐ, ऒं, ओ, औ।

व्यंजन—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, ळ, व, श, ष, स, ह, क़, ख़, ग़, ज़, ट़, ड़, ढ़, फ़, ऱ, ऴ, ं, : ।

दूसरी समस्या सुधार की है। नागरी लिपि में सुधार पर कई दशकों से विचार किया जा रहा है। इस दिशा में अनेक संस्थाओं, व्यक्तियों तथा प्रांतीय सरकारों ने काम किया है। उत्तर प्रदेश में सुधरी हुई लिपि का कुछ दिन तक कुछ कथाओं में प्रयोग भी हुआ था, किन्तु बाद में बन्द कर दिया गया। वस्तुत: यह समस्या ऐसी नहीं है, जिसकी ओर ध्यान न देने से हमारा काम चल जाए। विश्व की कोई भी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है, किन्तु मात्र यह कह देना ही पर्याप्त नहीं है। लिपियों को यथासाध्य वैज्ञानिक रूप दे देना प्रयोक्ताओं के लिए सुविधाजनक ही होता है, अत: उस दिशा में कार्य होना चाहिए। यहाँ इस विषय के पूरे विस्तार में तो हम नहीं जा सकते, क्योंकि यह एक स्वतन्त्र लेख का विषय है, हाँ, अत्यन्त संक्षेप रूप में नागरी की प्रमुख कमियों एवं उन्हें दूर करने के उपायों का संकेत किया जा सकता है।

(क) नागरी लिपि में सबसे अधिक अवैज्ञानिकता इ (ि) के मात्रा में है। इसे वहाँ नहीं लिखा जाता, जहाँ इसका उच्चारण किया जाता है। उदाहरणार्थ 'चन्द्रिका' शब्द लें। इसमें उच्चारण के अनुसार 'ि' क के पूर्व है (Chandrika) किन्तु लिखने में वह न् के पूर्व है। इसके लिए दो सुझाव बहुत पहले से आ चुके हैं। एक तो दीर्घ ई से ह्रस्व

विशिष्ट ध्वनियों का भी महत्त्व है। यह वे ध्वनियाँ हैं, जो एक भाषा में तो मिलती हैं लेकिन दूसरी में नहीं। थोड़ी-बहुत मिलती-जुलती ध्वनियों से ये ध्वनियाँ पृथक् हैं। इनकी विशिष्टता उच्चारण-स्थान व उच्चारण-प्रयत्न में है। रूसी की कुछ विशिष्ट ध्वनियाँ तो आसानी से उच्चरित हो जाती हैं, किन्तु कुछ ध्वनियों का शुद्ध उच्चारण सीखने के लिए विशेष अभ्यास करना पड़ता है। इसी तरह हिन्दी की भी अपनी कई विशिष्ट ध्वनियाँ हैं जिनमें से कुछ तो रूसी ध्वनियों का उच्चारण सीखने में सहायक होती हैं, कुछ बाधक और अन्य इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। रूसी की एक विशिष्ट स्वर-ध्वनि है : 'उइ'।[३] इसका प्रयोग केवल कठोर व्यञ्जनों के बाद ही होता है। इसके उच्चारण में जीभ का मध्य भाग मध्य तालु की ओर उठता है। इसके अशुद्ध उच्चारण के तीन रूप परिलक्षित किए गए हैं। इसका उच्चारण मिथ्या साम्य के कारण या तो 'उइ', या 'अइ', या 'इ' से मिलती-जुलती ध्वनि के रूप में किया जाता है। ऐसे उच्चारण में एक विरोधात्मक अशुद्धि भी है और वह यह कि हिन्दी 'इ' के उच्चारण में जीभ का अगला भाग अग्र तालु की ओर उठता है (रूसी के कोमल व्यञ्जनों की अपेक्षा कम), जिससे पूर्ववर्ती व्यञ्जन कोमल उच्चरित होता है। यह देखा गया है कि पूर्ववर्ती दन्त्य व्यञ्जनों—द्, न्, स्, ज़्, त्, त्स्, र्—या ओष्ठ्य व्यञ्जनों—ब्, म्, प्—या ओष्ठ्य-दन्त्य—व़्, फ़्—के साथ 'उइ' का उच्चारण अपेक्षाकृत अधिक सरलता से होता है। आरम्भ में, इसलिए, सीखने वालों की कठिनाई को देखते हुए उक्त तीन में से किसी एक वर्ग के व्यञ्जनों के साथ इस स्वर-ध्वनि का अभ्यास करना समीचीन है। फिर क्रमशः उच्चारण की कठिनतर स्थितियों का अभ्यास करना उचित है।

हिन्दी की अनुनासिक ध्वनियों (न्, म् को छोड़कर), मूर्द्धन्य व्यञ्जनों (ष् को छोड़कर) तथा सघोष महाप्राण व्यञ्जनों (घ्, ढ्, ध्, भ्) का रूसी-भाषा-शिक्षण में ध्वनि-विधान की दृष्टि से महत्त्व नहीं है। मूर्द्धन्य 'ष्' रूसी दन्त-तालव्य अघोष 'ष्' के उच्चारण के सीखने में सहायक होता है। इसका समानान्तर घोष व्यञ्जन 'झ्' है। रूसी की इन दो ध्वनियों के उच्चारण में जीभ का अगला भाग अग्र तालु के निकट पहुँच जाता है। घोष 'झ़' हिन्दी में किसी भी रूप में नहीं मिलता है। इसलिए इसके उच्चारण की अशुद्धि या तो 'ज़्', या 'झ्' या इसके कोमल उच्चरित करने में होती है। इसका निराकरण इन ध्वनियों के उच्चारण-प्रयत्न में भेद बतलाकर और विशेष अभ्यास के द्वारा किया जाता है। सरल मार्ग है अंग्रेज़ी के मेझ़र (measure), प्लेझ़र (pleasure), शब्दों में विद्यमान 'झ़' ध्वनि का उदाहरण, क्योंकि यह रूसी 'झ़्' के समान है। मिथ्या साम्य के कारण हिन्दी की 'झ्' ध्वनि रूसी की इस ध्वनि का शुद्ध उच्चारण सीखने में बाधक भी हो जाती है।

---

३. देवनागरी में इसका शुद्ध लिप्यन्तरण दुरूह है।

ऊपर वर्णित रूसी और हिन्दी के ध्वनि-विधान की विशिष्टताओं में से रूसी के कोमल-कठोर व्यञ्जनों का कठिनाई की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व है। यह रूसी भाषा के भारतीय छात्रों के लिए एक नयी चीज़ है, जो कि व्यावहारिक कठिनाई पैदा करती है। अन्य सब उच्चारणगत दोष तो लगभग दूर हो जाते हैं, लेकिन कुछ कोमल व्यञ्जनों का कठोर व्यञ्जनों से भिन्न एवं पृथक् उच्चारण अन्त तक कठिनाई पैदा करता है। इसीलिए रूसी ध्वनि-विधान के इस पक्ष पर हमेशा विशेष बल दिया जाता है।

ग़ालिब की कविता

वच्चन
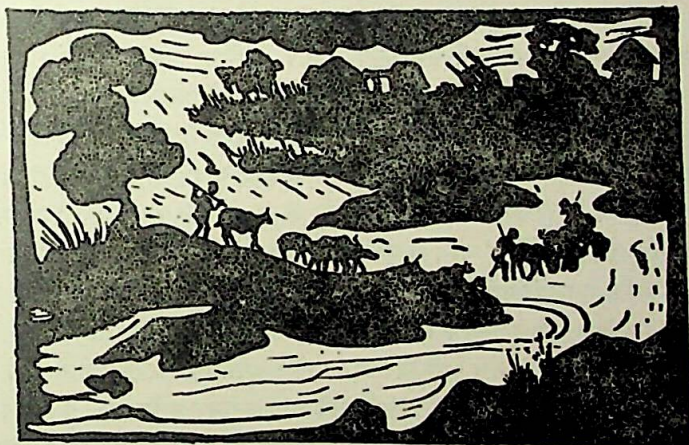
इक़वाल ने कहा था कि Many a poet is born after his death. बहुत से कवियों का जन्म तो उनकी मृत्यु के पश्चात् होता है। किसी काव्य की श्रेष्ठता का इससे बड़ा और क्या सबूत हो सकता है कि वह काल की सीमाओं को पार कर भी अपनी सत्ता वनाए रहे, देश की सीमाएँ भी पार कर सके तो क्या कहना, पर यहाँ अनुवादों की आवश्यकता होगी।

ग़ालिब की कविता ने अपनी सत्ता ही नहीं वना रखी, उसने समय के साथ अपनी श्रेष्ठता भी सिद्ध की है। उर्दू के वे सबसे बड़े शायर माने जाते हैं और हिन्दी जाननेवालों में भी उनके प्रेमियों-प्रशंसकों की कमी नहीं रही। आंशिक रूप में उनकी कविताएँ कई बार नागरी अक्षरों में पहले भी प्रकाशित हुई थीं, इधर पिछले कुछ वर्षों में उनके पूरे दीवान नागरी अक्षरों में प्रकाशित हुए हैं। कई ख्याति प्राप्त हिन्दी साहित्यकारों ने टीका-टिप्पणी के साथ उनके दीवान को सर्व साधारण के लिए सुलभ बनाने का भी प्रयत्न किया है। सर्व साधारण में तो उनकी कविता ने उनके जीवन के प्रति भी रुचि जगाई; मुझे याद है कई वर्ष हुए 'मिर्ज़ा ग़ालिव' नाम से एक फिल्म भी बना था जो वहुत लोकप्रिय हुआ। और सुनते हैं कि शताब्दी वर्ष में एक और फिल्म ग़ालिव पर बनाया जाने को है। सरकार की ओर से 'ग़ालिव' पर वृत्तचित्र भी बनाया जा रहा है। पर जन साधारण ने केवल उनकी जीवन-घटनाओं में रुचि नहीं दिखाई। पाकेट-बुक्स और छोटे संकलनों में उनकी रचनाएँ बहुत बड़ी संख्या में बिकी हैं और उनकी माँग बराबर बनी रहती है। यहाँ ग़ालिब के महान कवि होने का एक-दूसरा सबूत है। संसार में जितने भी बड़े कवि हुए हैं वे विद्वानों की तो प्रशंसा पाते ही है—जो प्रवन्ध बुध नहिं आदरही, सो श्रम वादि वालकवि वरही—वे जन साधारण में भी लोकप्रिय होते हैं। तुलसी दास ने अपने रामायण के विषय में कहा था 'जन रंजन सज्जन प्रिय एहा' ग़ालिब की कविता भी जन रंजनी और सज्जन प्रिय सिद्ध हुई है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग़ालिब इस देश के महान् कवियों में हैं। बड़े-बड़े विद्वानों, आलोचकों ने उनके काव्य को समझने, उसका विवेचन करने का प्रयत्न किया है, तो जन साधारण ने उनकी पंक्तियों में अपनी भावना को मूर्तिमान पाया है, अपने उल्लास-

अवसाद, अथवा जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में ग़ालिब का शेर पढ़कर, या उसे उद्धृत कर, अपने आपको व्यक्त किया है, अपने को बहलाया है या अपने घावों को सहलाया है।

जीवन में कविता का उपयोग क्या है ? उसके उत्तर में लोग उसे पाठ्य-क्रम में रखने से लेकर शोध-रिसर्च का विषय तक बता सकते हैं। कविता का यह उपयोग भी होता है, पर मेरी दृष्टि में कविता का यह मूल उपयोग नहीं। कवि जगत् और जीवन के प्रति अपनी आवेगपूर्ण भावनाओं, विचारों को भी व्यक्त करता है, और पाठक या श्रोता उसी कवि की वाणी को दुहराता है जो केवल अपनी नहीं, उसकी भावनाओं को भी व्यक्त करने में सफल होता है। यह वही कवि कर सकता है जो अपने को जग और जीवन, युग युग की समस्याओं और उनसे जूझने वाली जनता से अपने को एकात्म करके लिखता है; जो अपने को समझने में, अपने प्रति ईमानदार रहने में, मानवता को ही समझ लेता है, मानवता के प्रति ईमानदार हो जाता है। मेरी दृष्टि में ग़ालिब ऐसे ही कवि थे। वे अपने प्रति पूर्णतया ईमानदार और सच्चे हैं, पर अपने को जैसा माध्यम बनाकर उन्होंने मानवता के ही दुख, दर्द, सुख, संघर्ष और शत-शत भावों के प्रति सच्चाई और ईमानदारी बरती है।

मिर्ज़ा ग़ालिब की फारसी कविता परिमाण में बहुत अधिक है। लेकिन 'ग़ालिब' की ख्याति उनकी उर्दू कविता के ही कारण है। और उर्दू में भी मिर्ज़ा ग़ालिब की शैलियाँ हैं—कहीं तो फारसी के बिल्कुल करीब और कहीं पर सीधी-सादी खड़ी बोली। मैं स्वीकार करना चाहता हूँ कि मैंने ग़ालिब को, यानी उनकी उर्दू कही जानेवाली कविता को, नागरी अक्षरों में ही पढ़ा है। उनके फ़ारसी-पाक शेरों में क्या बुलन्दी है उसको बताने का मैं अधिकारी नहीं हूँ, पर गहराई उनकी सरलतम भाषा में ही आई है। ग़ालिब की सरलता कोई सस्ती सरलता नहीं—सस्ती सरलता से उर्दू पटी पड़ी है। पर ग़ालिब की सरलता बड़ी गम्भीरता, बड़े-दर्द, बड़ी गहरी अनुभूति की सरलता है। साहित्य में सैकड़ों उदाहरण हैं कि जब किसी गम्भीर स्थिति को सरलतम शब्दों में व्यक्त किया गया है वह अधिक मार्मिक हो पाई है। गम्भीर स्थिति में सरलता ही स्वाभाविक होती है, पर यह भी जान लेना चाहिए कि हर सरल अभिव्यक्ति गम्भीरता ही नहीं प्रकट करती। कुछ पंक्तियाँ आपके सामने प्रस्तुत करूँ तो आप स्वयं देखेंगे कि उसके पीछे कितना कुछ है—उनमें कितना वज़न है :

दिल में ज़ौके वस्लो यादे यार तक बाक़ी नहीं।
आग इस घर को लगी ऐसी कि जो था जल गया।।

शेर के दूसरे छन्द में एक भी शब्द ऐसा नहीं जो किसी अपढ़ को भी न मालूम हो पर कितने बड़े विध्वंस की पीड़ा इसके पीछे है। और देखिए :

किससे महरुमिए क़िस्मत की शिकायत कीजे ?
हमने चाहा था कि मर जायें, सो वो भी न हुआ।

यहाँ भी पहली पंक्ति में तो कठिन शब्द है, पर दूसरी पंक्ति कितनी सीधी-सादी भाषा में हैं। पहली पंक्ति कुछ तथ्य-सा रखती है, दूसरा परिणाम निकालती है, या कभी-कभी पहला परिणाम बता देती है, दूसरा कारण बताती है। ग़ालिब की कितनी ही ऐसी सरल पंक्तियाँ मुहावरा बन गई हैं—मुहावरा वही तो बनता है जिस में मानवता अपने युग-युग के अनुभवों की सच्चाई को बाँध देती हैं। जैसे :

आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसाँ होना।

यहाँ 'आदमी और 'इन्सान' का अन्तर कितनी सूक्ष्मता से बताया गया है। 'आदमी' होना तो जैसे पैदाइशी अधिकार है और 'इन्सान' अपने को संस्कार से, साधना से, अध्यवसाय से बनाना पड़ता है। इसी तरह के दो-एक और उदाहरण आपके सामने रखूँ।

न हो मरना तो जीने का मज़ा क्या ?
मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसाँ हो गई।
रात दिन गर्दिश में है सात आसमाँ
हो रहेगा कुछ-कुछ घबरायँ क्या।
लाग हो तो हम उसे समझे लगाव
जब न हो कुछ भी तो धोखा खायँ क्या
दर्द का हम से गुज़रना है दवा हो जाना।

इसी प्रकार कितनी ही ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जिनमें भाषा की सरलता, भावों की गहराई और अनुभव की ऐसी सार्वजनिता हैं कि उन्हें मुहावरे की तरह इस्तेमाल किया जाता है।

मैं कहना चाहूँगा कि अपने उर्दू ज्ञान की सीमा में, मुझे 'ग़ालिब' की सही सरल-गम्भीर सार्वजनिक और सर्वकालीन अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ अधिक आकर्षक और मार्मिक लगी है। सुना है, किसी समय ग़ालिब स्वयं अपने फ़ारसी काव्य को अधिक महत्त्व देते थे, पर धीरे-धीरे उन्हें सरल-सीधी भाषा का जादू मालूम हुआ। मोमिन का एक शेर है :

तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता।

ग़ालिब इन सरलतम शब्दों में अभिव्यक्त गहराई पर, कहा जाता है इतने मुग्ध हो गए थे कि उन्होंने कहा था काश मोमिन उनका पूरा दीवान ले लेते और अपना यह एक शेर उन्हें दे देते। इससे स्पष्ट है कि ग़ालिब भी सरल-सहज अभिव्यक्ति, और गम्भीरता

को व्यक्त करने की उसकी क्षमता के कायल हो गए थे। विद्वान लोग ग़ालिब की कला पर न जाने कितना कुछ कहें—लिखेंगे, पर साधारण जनता के लिए ग़ालिब की यही सरल उक्तियाँ मन्त्रवत वन कर मन मोहती ग्रौर उनके दिलों में चुभती रहेंगी।

ग़ालिब के समकालीनों में मोमिन ग्रौर ज़ौक बड़े मशहूर शायर थे। खालिस ग़ज़ल लेखकों में मोमिन का दर्जा वहुत ऊँचा माना जाता था। ज़ौक भाषा के शृंगारक समझे जाते थे। ग़ालिव को दार्शनिक समझा जाता था। ग़ालिव ने स्वयं लिखा था।

ये मसायले तसव्वुफ़, ये तेरा वयान ग़ालिव।
तुझे हम वली समझते, जो न वायाख्वार होता।।

तसव्वुफ का ग्रर्थ है दर्शन। पता नहीं ग़ालिव के विशेषज्ञ उनके ऊपर कैसा दर्शन थोपते हैं। मैं कवि से कविता की प्रत्याशा करता हूँ, दर्शन की नहीं। जिस ग़ालिब को मैं समझता हूँ उसका दर्शन ग्रगर कोई है तो वह मानव-ग्रनुभूतियों का दर्शन है, जिसे दिमाग़ में सोचा-विचारा नहीं गया, वल्कि जिसको नस नाड़ी में भोगा गया है।

एक दूसरी चीज़ जो मुझे ग़ालिव के निकट लाती है वह उसकी ग्रवसाद में डूबी हुई ग्रावाज़। शेली का यह कथन—Our sweetest songs are those that tell of saddest thought—ग़ालिव पर भी लागू होता है। ग़ालिब का पूरा दीवान पढ़ने पर मुझे ग्रक्सर लगा है कि वह किसी निराश, उदास, हताश ग्रौर परिणाम स्वरूप गम्भीर वन गए व्यक्ति की ग्रावाज़ है। ग़ालिब कहते हैं :

न गुले नग्मा हूँ न पर्दए साज़।
मैं हूँ ग्रपनी शिकस्त की ग्रावाज़।।

जीवन ग्रौर जगत् में कुछ ऐसा है कि भावप्रवण व्यक्ति उसे ग्रपने ग्रनुकूल न पा सकता है, ग्रौर न बना पाता है। ऐसी दशा में पराजित या परास्त या शिकस्त होने की भावना से ग्रभिभूत होना कोई ग्रस्वाभाविक नहीं।

कलाकार की महत्ता इसी में है कि वह इस जग-जीवन से ग्रसन्तुष्ट होकर भी सृजन में लगा रहता है ग्रौर कम से कम ग्रपनी सृजन की दुनिया को ऐसी बताने का प्रयत्न करता है कि उसपर कोई उँगली न रख सके।

लिखता हूँ 'ग्रसद' सोज़िशे दिल से सुखने गर्म।
ता रख न सके कोई मेरे हर्फ़ पर ग्रँगुश्त ?

ग़ालिब का 'सुखने गर्म' कभी ठंडा न हो ग्रौर उसपर कोई उँगली न रख सके।

卐

साहित्य और पत्रकारिता

बालकृष्ण राव

यदि यह कहा जाय कि साहित्य और पत्रकारिता में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, उनकी पृथकता केवल निमित्तभेद पर आधारित है, तो अपने को साहित्यकार मानने वाले अनेक व्यक्ति तुरन्त इस स्थापना से अपनी असहमति प्रकट करेंगे। सम्भव है अनेक पत्रकार भी इससे सहमत न हों, पर निश्चय ही साहित्यकारों की अपेक्षा पत्रकारों की ओर से साहित्य और पत्रकारिता के पार्थक्य का आग्रह कम ही किया जाता है और यह बात समझ में भी आती है : इसे हम लोक की गतानुगतिकता का प्रमाण मानें या बुद्धिमानी का, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि सामान्यतया साहित्यकार के प्रति जो आदर का भाव लोगों के मन में रहता है वह पत्रकार के प्रति नहीं रहता। साहित्यकार लेखक-समाज का विप्र है, पत्रकार शूद्र।

पर क्या सचमुच ही साहित्य और पत्रकारिता का अन्तर मात्र निमित्तभेद का ही नहीं है ?

यदि हम उन तथाकथित साहित्यिक उपलब्धियों को देखें जो हमें चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया की बाढ़ में मिलीं, और उनकी तुलना उन समाचारपत्रों में प्रकाशित लेखों और टिप्पणियों से करें जिनकी प्रेरणा का स्रोत भी वही था, शायद हम इस स्थापना को बहुत आसानी से अस्वीकृत न करें। चीनी आक्रमण से राष्ट्र को जो मार्मिक आघात लगा उसने अनेक व्यक्तियों को लेखनी उठाने की प्रेरणा दी। जो अपनी लेखनी का जैसा उपयोग करने के लिए अभ्यस्त था उसने उसका वैसा ही उपयोग किया; जिसके लिए जो भाषा, जो विधा स्वाभाविक थी, उसने वही भाषा, वही विधा अपनायी। हिन्दी कवि ने हिन्दी में कविता लिखी, पंजाबी कहानीकार ने पंजाबी में कहानी लिखी, मराठी नाटककार ने मराठी एकांकी लिखा, तमिल पत्रकार ने तमिल समाचारपत्र के लिए लेख लिखे। लिखा सबने, सभी के लेखन की सार्थकता उसकी प्रेषणीयता थी—तो फिर वह कौन-सा निष्कर्ष है जिसके आधार पर हम 'साहित्य' की अलमारी में सजाने और पत्रकारिता की टोकरी में डालने के लिए चीज़ों का चुनाव करें ?

मात्र विधा के आधार पर किसी रचना को 'साहित्य' अथवा 'पत्रकारिता' की

कोटि में रखने का निर्णय करना कठिन है, क्योंकि पत्रकारिता की ऐसी कोई विशिष्ट विधा नहीं है जो साहित्य-सर्जना के लिए उपयुक्त न बनाई जा चुकी हो। रिपोर्ताज, डायरी, स्केच आदि तो पूरी तरह साहित्य की विधाओं के रूप में स्वीकृत हो ही चुके हैं, रेडियो नाटक, 'फीचर' आदि भी तेज़ी से साहित्यिक विधा की मान्यता प्राप्त करते जा रहे हैं। डिलन टाम्स ने तो फ़िल्म का एक 'सिनारियो' ही लिख दिया जिसका अच्छे-अच्छे समीक्षकों ने निःसंकोच श्रेष्ठ साहित्यिक कृति के रूप में अभिनन्दन किया। सच तो यह है कि इसकी कल्पना ही सम्भव नहीं है कि शब्दों से निर्मित कोई भी रचना ऐसी हो सकती है जिसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक साहित्य के स्तर तक न पहुंचा सके। और यदि हम यह मान सकते हैं तो फिर यह कैसे न स्वीकार करें कि पत्रकारिता के लिए साहित्य के स्तर तक उठ जाना सहज सम्भव है—क्योंकि दोनों की निर्मिति का आधार भाषा है, शब्द है।

एक बात और, यदि पत्रकारिता का साहित्य के स्तर पर पहुँच जाना सम्भव है—दूसरे शब्दों में, यदि अन्तर केवल स्तरों का है—तो हमें यह भी मानना ही होगा कि साहित्य के लिए भी सम्भव है कि वह पत्रकारिता के स्तर पर पहुँच जाय। चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया की प्रेरणा से प्रणीत बहुतेरा साहित्य पत्रकारिता से सर्वथा अभिन्न था।

यह सत्य है कि लोग साधारणतया केवल विधा के आधार पर पत्रकारिता और साहित्य में अन्तर नहीं करते, यद्यपि कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि को साहित्य की अपनी विशिष्ट विधाओं के रूप में स्वीकार अवश्य करते हैं। इतना ही नहीं, घटिया से घटिया कहानी को भी—'निकृष्ट रचना' कहने के बावजूद—'साहित्य' की कोटि में ही रखते हैं और, मात्र इस कोटि में रखे जाने योग्य होने के कारण, उसे अच्छे से अच्छे अग्र-लेख से ऊँची चीज़ मान लेते हैं। इस मान्यता के पीछे वही परम्परा के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है जो विवाह-संस्कार सम्पन्न कराने के लिए शुद्ध समझ में आने वाली हिन्दी की अपेक्षा अर्द्धशिक्षित ब्राह्मण की अटपटी संस्कृत को अधिक उपयुक्त माध्यम मानती है।

पर, जैसा मैं कह चुका हूँ, साहित्य और पत्रकारिता के बीच ऊँच-नीच का भाव भले ही हमें साहित्य की विशिष्ट विधाओं के प्रति एक विशिष्ट दृष्टि रखने के लिए प्रेरित करता हो, विधाओं के आधार पर हम साहित्य और पत्रकारिता को एक-दूसरे से पृथक् करने के अभ्यस्त नहीं हैं। साधारणतया हम यह मानते हैं कि पत्रकारिता के लिए तात्कालिक प्रभाव प्रधान होता है, साहित्य के लिए नहीं। जो अतिवादिता और दुराग्रह की सीमा तक जाने के लिए तैयार नहीं हैं, वे भी साहित्य की शाश्वतता पर बल देते ही हैं। इतना तो कहते ही हैं कि साहित्यक।र केवल समसामयिक भावकों को ही सम्बोधित नहीं करता, उसका निवेदन-मात्र अपने समय और अपने समाज के लिए ही नहीं है, उसके 'कथ्य' सार्थकता अजर-अमर हैं, उसकी रचना का सौष्ठव अनीश्वर है। पत्रकार अपने

समय की समस्याओं से उलझता है, समकालीनों को सम्बोधित करता है, उन्हें किसी विशिष्ट दिशा में कुछ करने, कहने अथवा सोचने की प्रेरणा देना उसका तात्कालिक ही नहीं, प्रधान उद्देश्य होता है। अन्ततः साहित्य और पत्रकारिता का अन्तर चिरन्तनता और क्षणिकता, स्पष्ट सोद्देश्यता और प्रायः—निरुद्देश्यता का है।

जो यह मानते हैं वे इस बात को भुला देते हैं कि अनेक मान्य साहित्यकारों और साहित्य की अनेक श्रेष्ठ उपलब्धियों के विषय में, बहुधा कई पीढ़ियों बाद, शोध के परिणामस्वरूप यह ज्ञात होता रहता है कि उनका समकालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में कोई ऐसा अर्थ भी था जो पहले हमें ज्ञात नहीं था। शेक्सपियर के अनेक नाटकों के अनेक स्थलों के विषय में हमें शोध करने वाले विद्वानों ने यह बताया कि वास्तव में उनके उस रूप में और उन शब्दों के लिखे जाने का कारण नाटककार के मन की तरंग या दैवी प्रेरणा नहीं थी, बल्कि कोई नितांत स्थूल, लौकिक, व्यावहारिक, परिस्थितिजन्य बिवशता थी। बाइरन के समाज और संसार के प्रति किए गए अनेक तीखे व्यंग्यों का कारण उसकी शारीरिक पीड़ाओं में ढूंढ़ा गया है। पर मात्र इन आविष्कारों के कारण न शेक्सपियर की प्रतिष्ठा में बट्टा लगा, न ही बाइरन को संसार ने कवि मानने से इन्कार किया। प्रेरणा के स्रोतों पर आज हम विशेष बल नहीं देते, क्योंकि हम डार्विन और फ्रायड और मार्क्स से परिचित हो चुके हैं। हम अब यह कहने का दुःसाहस नहीं कर सकते कि रचनाकार की प्रेरणा का उद्भव हम कभी भी पूरी तरह किसी एक ज्ञेय स्रोत तक सीमित कर सकते हैं। और केवल साहित्यकार ही नहीं, न्यूनाधिक परिमाण में प्रत्येक प्रकार के लेखक के लिए सत्य है।

समसामयिक परिवेश से किसी न किसी रूप और किसी न किसी अंश में प्रत्येक लेखक प्रेरणा ग्रहण करता है, चाहे वह साहित्यकार हो या पत्रकार। पत्रकार के लिए तो यह बात स्पष्ट ही है, पर साहित्यकार के लिए संसार इसे इतना स्पष्ट नहीं मान सकता—क्योंकि उसके लिए सत्य इतना स्पष्ट है ही नहीं। पर इसे स्पष्ट न देख पाने के कारण ही यदि हम यह कहें कि साहित्यकार समसामयिक परिवेश से सर्वथा अप्रभावित रह सकता है तो यह बात उतनी ही ग़लत होगी जितनी यह कि पत्रकार का लेखन केवल उसके अपने समय के लिए ही सार्थक होता है। दोनों ही लेखक हैं, दोनों ही सर्जनाकार हैं, दोनों के कार्य किन्हीं ऐसे गुणों की अपेक्षा करते हैं जो दोनों के लिए अपरिहार्य हैं—अनाविल दृष्टि, चिन्तन, लेखन में प्रेषणीयता की शक्ति। दोनों देश और काल के आयामों पर अपनी-अपनी विशिष्ट परम्पराओं के अतिरिक्त उस संश्लिष्ट सांस्कृतिक परम्परा से, उस सामाजिक चेतना-प्रवाह से भी सम्बद्ध हैं जिससे उन्हें अपनी बात औरों के प्रति निवेदित करने की प्रेरणा और शक्ति मिलती है। प्रत्येक पत्रकार अंशतः साहित्यकार भी है, प्रत्येक साहित्यकार अनिवार्यतः पत्रकार भी। बर्नार्ड शॉ के शब्दों में : 'ऐसा कुछ भी

साहित्य के रूप में बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता जो पत्रकारिता भी न हो।' जो व्यक्ति अपने और अपने समय के बारे में लिखता है, केवल वही सचमुच मनुष्यता और सभी युगों के लिए लिख सकता है।

सत्य तो यह है कि साहित्य और पत्रकारिता का अन्तर समसामयिक परिवेश से सम्बद्ध करने वाले सूत्रों की स्पष्ट-दृश्यता और अदृश्यता पर आधारित है। यों कहें कि पत्रकारिता वह साहित्य है जिसके समकालीन परिवेश से उसे जोड़ने वाले सूत्र स्पष्ट देखे जा सकते हैं, साहित्य वह पत्रकारिता है जिसे सामयिक परिवेश से जोड़ने वाले सूत्र भावक की ही नहीं बहुधा साहित्यकार की अपनी दृष्टि के लिए भी अलक्ष्य होते हैं। अकबर इलाहाबादी ने कहा था :

मग़रिब ने खुर्दबीं से कमर उनकी देख ली,
मशरिक की शायरी का मज़ा किरकिरा हुआ।

पत्रकारिता की शायरी का मज़ा इस कारण बिल्कुल ही किरकिरा हो जाता है कि उसकी यह कमर बिना खुर्दबीन के ही साफ़ दीख जाती है।

चरित्र की केसर

गिरिजाकुमार माथुर

संचित कर लेने दो धन
चारित्र्य - फूल से लेकर
अनछुए नये केसर-कन

व्यक्तित्व सिंधु बन जाए
तल कूलहीन हो जाए
डूबे सम्पूर्ण हिमालय
पर ऊपर लहर न आए

बाहर के सब आन्दोलन
उतरें गहरे अन्तर में
ज्यों धूल बैठ जाती है
समतल पाकर थिर जल में

आँधियाँ विरोधी आएँ
तूफ़ान कठिन टकराएँ
भूचाल फटें भावों के
बादल षड्यन्त्र रचाएँ

टूटे बिजली भयबल की
गजमंथर भाव न छूटे
रवि गिरे स्याह पत्थर बन
नभ का ठहराव न टूटे—

मन में जितने अनुभव गहरे
उतना ही मौन सधा मुख पर
हैं घेरे जितनी ज्वालाएँ
उतना ही शीतल है अन्तर

पृथ्वी जैसा संतोष परम
मिट्टी-सा मन उर्वर उदार
वाणी हो जाए मन्त्र-छन्द
फ़सलों जैसे ऊगें विचार

तू बात कहे जो एक बार
वह कोटि कण्ठ-स्वर दुहराएँ
तू बोए जो भी भाव-बीज
वे सदियों तक उगते जाएँ

दुख के दानव-ग्रह वुझें सभी
सामाजिक ज्वाला राख बने
इन्सान बने खुद ही ईश्वर
मानवता उजला पाख बने

शरद हासिनी

चन्द्रचूड़ मणि

शरद हासिनी, खिली चाँदनी
दुग्धधवल धरती पर विलसित—
शुभ्र ज्योत्स्ना अलस यामिनी।

मन्द मन्द बह चला गन्धवह
ले पराग कुमुदों से अहरह,
खिले कांस कुड्मलित मालती
छवि उँडेलती नव सुहासिनी।

शिथिल चरण जा रही शर्वरी
कर शृंगार अभिराम सूनरी,
शीत-रश्मिमय शरद इन्दु से
ज्योति झर रही मधु-प्रसारिणी।
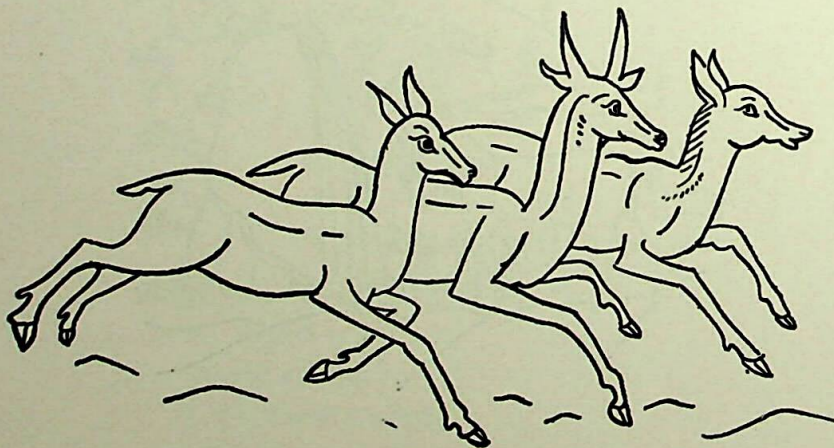
डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ

ललित कला तथा साहित्य

डॉ० प्रभाकर माचवे

इन्दौर में १९३५ में महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन के अखिल भारतीय अधिवेशन में मैंने 'साहित्य में ललित कला-तत्त्व' नामक एक तीस पृष्ठों का निबन्ध मराठी में लिखा था। तीन वर्ष पूर्व केरल में उद्योगमंडलम् में एक अखिल भारतीय लेखक-सम्मेलन में मुझे अंगरेज़ी में इसी विषय पर लिखना-बोलना पड़ा; शिमला में दो वर्ष पूर्व एक सेमिनार में 'परम्परा और आधुनिकता' के सन्दर्भ में मैंने एक निबन्ध पढ़ा और इस प्रकार से इस विषय पर मुझे अनेक वर्षों से सोचने-विचारने, बोलने-लिखने और पढ़ने का अवसर मिला है। उसी के आधार पर नीचे कुछ विचार-चर्चा के लिए अधिक, जिज्ञासा के रूप में सुधीजनों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

क्या कलाओं और साहित्य की मूलभूत सौन्दर्य-भावना एक ही है? या माध्यम-सन्दर्भ से वह भिन्न है। भावक, रसज्ञ, गुणग्राहक यदि मनुष्य ही है—और चित्र, संगीत, शिल्प-स्थापत्य का तथा काव्य का निर्माता और स्रष्टा भी मनुष्य ही है, तो सौन्दर्य की उद्भावना और मूल्यांकन दोनों ही मानव-सापेक्ष—अर्थात् समाज-सापेक्ष और इसी कारण से देश-काल-परिस्थिति द्वारा मर्यादित होंगे। फिर शुद्ध कला और शुद्ध काव्य की चर्चा का क्या अर्थ है? और आधुनिकता-बोध के सन्दर्भ में यह परस्परावलंबन, न केवल व्यक्ति और समाज के जटिलतर सम्बन्धों के साथ-साथ, कला और साहित्य में भी अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। क्या इसका कोई परम्पराश्रित आधार है?

पहले हम संस्कृत-ग्रंथों का आधार लें तो पता चलेगा कि हमारे वेद-उपनिषद्, महाभारत-रामायण, पुराणेतिहास और काव्य-नाटकों में शिल्प-संगीत-चित्र आदि के न केवल अगणित उल्लेख हैं; परन्तु उनमें से कई आज भी बहुत सार्थक हैं। महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा से श्री लक्ष्मीनाथ बदरीनाथ शास्त्री ने एक गुजराती-ग्रंथ प्रकाशित किया है जिसमें इन उल्लेखों का बहुत विस्तार से वर्णन है। मैं उसी ग्रंथ के आधार पर कुछ चुने हुए सूत्र यहाँ देना चाहता हूँ।

संगीत-नृत्य

पेशांसि अधिवपते नृत्रीव उषा।

(ऋग्वेद मडल १, सूक्त ९२, मन्त्र ४)

अर्थ—उषा नर्तकी की भाँति सुन्दर रूप धारण करती है।

यद् देवा: अद: सलिले सुऽसंदब्धा: अतिष्ठत।
अत्र व: नृत्यतां ऽइव तीव्र: रेणु: अ आयत॥
(ऋग्वेद, मं० १०, सू० ७२, मं० ६)

अर्थ—हे देवो, जैसे जलाशय में तुम एक-दूसरे से अलग रहते थे, और जब विश्व जलमय था, उसी समय नाचते हुए पैरों से जैसे धूल उड़ती है, वैसे ही खूब धूल उड़ी।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' के प्रथम अध्याय में मधुर स्वर वाली वाणी और ऐसे वाणी वाले ऋत्विक् का माहात्म्य दिया गया है :

'तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसम्पन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव।'

'वाल्मीकि रामायण' में बालकाण्ड में चतुर्थ सर्ग में रामायण-गायन का उल्लेख यों है :

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभि: सप्तभिर्बद्धं तन्त्रीलय समन्वितम्॥ ८॥
... ...
तौ तु गन्धर्वतत्त्वज्ञौ मूर्छना स्थान कोविदौ॥ १०॥

रावण की लंका में घर-घर से संगीत के स्वर निकलते हुए हनुमान ने सुने। सुन्दरकांड में रावण के अन्त:पुर में हनुमान ने सोई हुई स्त्रियों के पास अनेक वाद्यों का उल्लेख किया है जिनके नाम हैं : मड्डुक, पटह, वंश, विपंथी, मृदंग, पणव, डिण्डिभ, आडम्बर, कलशी इत्यादि।

'वायुपुराण' उत्तरार्ध में अध्याय २४, श्लोक ३६ में कहा गया है :

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनास्त्वेकविंशति।
तालास्त्वेकोनपञ्चाशदित्येतत्स्वरमण्डलम्॥

सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनाएँ और उन पचास तालों के स्वरमंडल का यहाँ वर्णन है।

नृत्य के सम्बन्ध में 'विष्णु धर्मोत्तर सूत्र' में खंड ३, अध्याय ३४ में कहा गया है—जोकि आज के व्यावसायिक, सिनेमाई युग में कितना सटीक और सही है—

नृत्तेन वृत्तिं य: कुर्यात्स तु वर्ज्य: प्रयत्नत:।
कुशीलवाद्यैर्य: कुर्यान्नृत्तविक्रयकारक:॥ २८॥
देवताराधनं कुर्याद्यस्तु नृत्तेन धर्मवित्।
स सर्वकामानाप्नोति मोक्षोपायं च विन्दति॥ २९॥

अर्थ—जो व्यक्ति नृत्य से आजीविका करता है, उसे (श्राद्ध में) वर्ज्य करना चाहिए। जो नट वगैरह का धन्धा करता है वह नृत्य का विक्रय करने वाला माना जाता है। नृत्य धन, कीर्ति, आयुवृद्धि, स्वर्ग, बड़े लोगों का सहवास प्राप्त करने वाली कला है। पीड़ितों की पीड़ा दूर करनेवाली, मूर्खों को उपदेश देने वाली, स्त्रियों का सौभाग्य-वर्द्धन करने वाली, शान्तिकारक, पुष्टिकारक, कामना सिद्ध करने वाली विद्या है।

महाकवि भास के 'चारुदत्त' नाटक के तृतीयांक में नायक कहता है :

वयस्य ! वीणा नामसमुद्रोत्थितं रत्नम्। कुतः
उत्कण्ठितस्य हृदयानुगता सखीव
संकीर्णदोषरहिता विषयेषु गोष्ठी।
क्रीडारसेषु मदनव्यसनेषु कान्ता
स्त्रीणां तु कान्तरतिविघ्नकरी सपत्नी॥

अर्थ—वीणा विरहोत्कंठित व्यक्ति के लिए सखी के समान है, वह दोष-विरहित संलाप करने वाली, वह कामपीड़ितों के लिए कान्ता के समान है। पतियों के साथ विलास करने वाली सौत है।

संगीत और नृत्य के उल्लेख संस्कृत नाटकों में और काव्यों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। अश्वघोष-कृत 'बुद्धचरित' में सर्ग २, श्लोक ३७ में बुद्ध को आकर्षित करने वाली स्त्रियों के विषय में कहते हैं—

मधुरं गीतमन्वर्थं काचित्साभिनयं जगौ।

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में विदूषक वसन्तसेना के महल के अलग-अलग प्रकोष्ठों में संगीतवाद्य का विशद वर्णन देता है। चारुदत्त तीसरे अंक में रेभिल के गायन की स्तुति में कहता है :

तं तस्य स्वर संक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टे च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम्।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
वत्सत्यं विरतेऽपि गीत समये गच्छामिश्रृण्वन्निव॥

महाकवि कालिदास की तो हर कृति में संगीत-नृत्य का उल्लेख मिलता है। 'मालविकाग्निमित्र' में विशेष रूप से पाया जाता है। पंडित कौशिकी संगीत की प्रतियोगिता पर अपना अभिमत दूसरे अंक में देते हैं। 'रघुवंश' में अग्निवर्ण के स्वयम् संगीत-निपुण होने का उल्लेख है। 'मेघदूत' में महाकालेश्वर के वर्णन में संध्या-समय के नृत्य का बहुत ही चित्रोपम और नादमधुर वर्णन है। कालिदास के साहित्य का क्या कहना !

चित्रकला

चित्रकला के उल्लेख 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में बहुत तफ़सील से आते हैं :

स्थानप्रमाण भूलम्वो मधुरत्वं विभक्तता।
सादृश्यं क्षयवृद्धिश्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिताः ।। ९ ।।
रेखा च वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च।
विज्ञेया मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ।। १० ।।

अर्थ—स्थान, प्रमाण, मूलव (आधार), माधुर्य, विभक्तता (एक-दूसरे से विशेषता), सादृश्य, क्षय और वृद्धि—ये सब चित्र के गुण कहलाते हैं। रेखा, वर्तना, आभूषण और रंग चित्र की शोभा बढ़ाते हैं।

आगे चित्र के गुण-दोषों की भी चर्चा करने वाले कई श्लोक हैं।

भास ने चित्रकला के विषय में कहा है। 'दूतवाक्य' नाटक के प्रथम अंक में, द्रौपदी वस्त्र हरण का चित्रपट दिखाते समय, उस प्रसंग का पूरा चित्र खड़ा कर दिया है—

अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः। एष दुःशासनो द्रौपदीं केशहस्ते गृहीतवान्। एषा खलु द्रौपदी, दुःशासनपरामृष्टा सम्भ्रमोत्फुल्ललोचना। राहुवक्त्रान्तरगता चन्द्रलेखेव शोभते।

'स्वप्न वासवदत्ता' नाटक में भी छठे अंक में वासवदत्ता की माता वत्सराज उदयन को एक चित्रफलक दिखाती है।

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में वसन्तसेना-मदनिका सम्वाद में चारुदत्त को देखकर वनाये चित्र की चर्चा है। महाकवि कालिदास, हर्ष, बाणभट्ट, भवभूति आदि की रचनाओं में चित्रकला-सम्वन्धी उल्लेखों के कुछ नमूने ये हैं :

१. वकुलावलिका—शृणु चित्रशालां गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागां चित्ररेखामालोकयन्ती चिरं तिष्ठति।

कालिदास : मालविकाग्निमित्र, अंक १

२. ······सद्मसु चित्रवत्सु

कालिदास, रघु० १४।२५

३. उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथादशि तथैव भैमी।
तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय ।।

हर्ष, नैषध० ६।३७

४. प्रत्यग्रलिखितमांगल्यालेख्याज्वलितभित्तिभागमनोहारिणि।

वाणभट्ट : कादंबरी में विलासवती का कक्ष-वर्णन

५. सीता—भवत्यार्यपुत्र भवतु। एहि। प्रेक्षागृहे तावते चरितम्।
लक्ष्मण—इदं तदालेख्यम्।।

भवभूति, उत्तररामचरिते, अंक १

शिल्प-स्थापत्यादि—

'अमरकोश' में 'शिल्पं कर्म कलादिकम्' शूद्रवर्ग में आता है। पर उससे भी पुराना उल्लेख 'ऋग्वेद' के नवम मंडल में रात्रि और उषा के वर्णन में 'सुशिल्पे' शब्द आता है। स्थापत्य का उल्लेख 'ऋग्वेद' के चतुर्थ मंडल में इन्द्र ने हव्यदाता दिवोदास को सौ पाषाणों से निर्मित पुरियाँ अर्पित कीं, ऐसा कहा गया है :

शतं अहमन्मयीनां पुरां इन्द्रो व्यास्यत्
दिवोदासस्य दाशुषे।

वैसी ही सातवें मंडल में लौह-नगरियों का उल्लेख है।

'महाभारत' की मय-नगरी और लाक्षागृह-निर्माण की कथाएँ आखिर किसी आधार पर ही रही होंगी।

'रामायण' में दशरथ के राजकुल (राजमहल) की पाँच कक्षाओं का और राम के प्रासाद का वर्णन है। तीन कक्षाओं में राम रथ में बैठकर गये और दो में पैदल गये, ऐसा उल्लेख है :

राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन्
स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिकम्य वाजिनिः।।

पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः।
स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः।।

अयोध्याकांड, १६।२०-२१

पुराणों में 'मत्स्य पुराण' में वास्तु-शास्त्र के प्रवर्तकों के बारे में श्लोक हैं :

ऋषय ऊचु :

प्रासादभवनादीनां निवेशं विस्तराद्वद।
कुर्यात्केन विधानेन कश्च वास्तुरुदाहृतः।।

सूत उवाच :

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा गयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।

मत्स्यपुराण, २४२।१-२

भास ने 'प्रतिमा' नाटक में मूर्तिशिल्प का, 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में नकली हाथी का 'अविमारक' के तीसरे अंक में 'कन्यान्तःपुर' का और 'अभिषेक' में रावण के प्रासाद का वर्णन मिलता है।

अश्वघोष ने सिद्धार्थ के महल और कपिलवस्तु के नगर-वर्णनों में प्राचीन भवन-निर्माण-कला पर लिखा है।

काव्य मीमांसकों में राजशेखर ने 'कवि रहस्य' के दशम अध्याय में राजा कलाकारों का सम्मान कैसे करे इसका बड़ा अच्छा विवेचन किया है—"राजा कवि हो तो सारी प्रजा कवि बनती है। काव्य की परीक्षा के लिए वह एक सभामण्डप बनाए। उसमें सोलह स्तम्भ, चार द्वार, आठ मत्तवारिणी हों। इस मण्डप के पास राजा का क्रीडागृह हो। उस सभामण्डप के मध्य चार स्तम्भ के बीच में एक हाथ ऊँची मणिजटित वेदी हो। उस पर राजा का आसन रखा जाए—उसके चारों ओर संस्कृत भाषा के कवि बैठें। कोई कवि अनेक भाषाएँ जानता हो तो जिस भाषा में वह प्रवीण हो उसी का उसे कवि माना जाए।" इत्यादि। मूल यों है :

"राजा कविः कविसमाजं विदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्। स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत्। सा षोडषभिः स्तम्भैश्चतुर्भिर्द्वारैरष्टाभिर्मत्तवारिणीभिरुपेता स्यात्। तदनुलग्नं राज्ञः केलिगृहम्। मध्येसभं चतुःस्तम्भान्तरा हस्तमात्रोरभेधा समणि भूमिका वेदिका। तस्यां राजासनम्। तस्य चोत्तरतः संस्कृतः कवयो निविशिरन्। बहुभाषाकवित्वे यो यत्राधिकं प्रवीणः सः तेन व्यपदिश्यते।"

काव्यगोष्ठी, शास्त्रचर्चा के साथ-साथ राजा के वैज्ञानिकगोष्ठी में भी रुचि लेने की बात राजशेखर ने कही थी।

संस्कृत काव्य-शास्त्रोत्कर्ष-काल में ऐसे विभेद नहीं थे। सभी ललित कलाओं का ज्ञान विदग्ध के लिए आवश्यक था। आजकल जैसे हिन्दी के समीक्षक कोरे शास्त्र-ग्रन्थों के ज्ञाता होते हैं, और अन्य कलाओं के रसग्रहण से एकदम विरक्त या कोरे होते हैं, वैसा तब नहीं था। मध्ययुग तक यह कला काव्य की परस्परावलम्विता चलती रही। नटमन्दिर के शिल्प में, चिदम्बरम् देवालय-द्वारों में नृत्यमुद्राओं में, संगीत के काव्यमय ग्रन्थों में यह सब देखा जा सकता है।

परन्तु आधुनिक काल में, विशेषतः अंग्रेज़ों के आगमन के बाद और अंग्रेज़ी शिक्षा में काव्य और संगीत के क्षेत्र परस्पर भिन्न निर्देशित किए जाने के बाद, विशेषतः बीसवीं

सदी में विशिष्टीकरण शुरू हो गया। यद्यपि प्री-राफैलाइट कवियों में रोजैटी बन्धु-भगिनी चित्रकार और कवि एक साथ थे। फिर भी वह परम्परा बाद में बहुत कम मिलती है— अंग्रेजी कवियों में। भारत में रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपवाद हैं। महादेवीजी ने चित्र और काव्य की, या 'निराला' जी ने काव्य और संगीत की एक-सी उपासना की—पर शिल्पकार-कवि, या नर्तक-चित्रकार ऐसे दो कलाओं के ज्ञाता कम ही पाए जाते हैं। संगीत-नृत्य के या शिल्प-चित्र के सहोपासक तो अनेक मिलेंगे।

इन सबका साहित्य के सृजन और समीक्षा पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता गया है। कला-समीक्षा विकसित न होने से एक ओर जहाँ भारतीय संगीत शास्त्रीय रूढियों में जकड़ा रहा, नृत्य भी बहुत ही अधिक पारम्परिक प्ररीतियों में पड़ा रहा; चित्रकला और शिल्प-स्थापत्य ने भी आधुनिकतम अमूर्त और विसंगत, पाश्चात्य प्रयोगों का मुहावरा अपना लिया है। क्या भारत का दृक्प्रत्यय आधुनिक होता जा रहा है, और श्रुति-प्रत्यय उसी मार्गी साँचे में है? इन दो परस्पर-विरोधी खिंचावों के कारण इन इन्द्रियानुभूतियों का जहाँ परिपाक होता है, ऐसे काव्य-नाटक आदि में कभी बहुत स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई देते हैं। भारतीय नाटक का विकास अवरुद्ध रहा है। और काव्य का प्रवास अधिकाधिक जटिल बनता जा रहा है।

भारतीय साहित्य-समीक्षा में भी पश्चिम के अनुकरण में, कला-समीक्षा में प्रयुक्त आलोचनात्मक शब्दावली साहित्य-काव्य आदि शाब्दी मध्यम की कलाओं में भी प्रयुक्त होने लगी है। उसकी सार्थकता तो अवश्य है। परन्तु उसके पीछे कलाकारों और साहित्यकारों के बीच यूरोप-जैसा 'संश्रय' आवश्यक है। उसके अभाव में इस शब्दावलि का खोखलापन या अनुकरणप्रधानता स्पष्ट है। रामकुमार जैसे हिन्दी कहानीकार-चित्रकार या विजयन् जैसे मलयाली उपन्यासकार-व्यंग्य-चित्रकार बहुत थोड़े हैं। रांगेय राघव चित्र-संगीत-कविता पर समान रूप से अधिकार रखते थे, या जगदीश गुप्त अच्छे चित्रकार और कवि हैं। पर ऐसे लोग उँगलियों पर गिनने योग्य हैं। गायक कवि तो कई हैं, उनमें कुछ गायक अधिक और कवि कम हैं। पर स्थापत्य या शिल्प में समान भाव से रुचि रखने वाले लेखक मेरे सीमित ज्ञान में बहुत ही थोड़े हैं। गुलाममुहम्मद शेख गुजराती के तरुण चित्रकार और कवि हैं; मराठी के माधव आचवल शिल्प-स्थापत्यज्ञाता और समीक्षक हैं; अंग्रेजी में जार्ज कीट चित्रकार और कवि एकसाथ रहे हैं। जब तक इस प्रकार का सर्वंकष संस्कार नहीं बढ़ता, तब तक हमारी सौन्दर्य-समीक्षा अधूरी और एकांगी, पंगु और प्रभावशून्य ही बनी रहेगी। रामावतार चेतन चित्रकार और कवि एक साथ हैं, शमशेर बहादुरसिंह कवि और रेखाचित्रकार, कृष्णनारायण कक्कड़ रेखाचित्रकार और कलासमीक्षक हैं, 'अज्ञेय' चित्रकारी और फोटोग्राफी में माहिर रहे हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी और गार्गी, नेमिचन्द्र जैन और ठाकरे कुशल छायाचित्रकार रहे हैं। नेमि-

चन्द्र संगीत के भी ज्ञाता हैं। ऐसे खोजने पर कई मिलेंगे—कई पुस्तकों के लिए डिज़ाइन बनाने वाले और चित्रों में ग्रन्थ को उद्धृत करने वाले भी मिलेंगे। दिनकर कौशिक और जगदीश मित्तल काष्ठचित्रकार और लेखक रहे हैं। शान्तिनिकेतन में ऐसी परम्परा अवनीन्द्र बाबू और नन्दलाल बोस की रही है। महाराष्ट्र में करमरकर शिल्पी और लेखक रहे। र० कृ० फडके भी। तमिष् में कई तरुण चित्रकार लेखक-कवि भी हैं। परन्तु ये सब अपवाद हैं, नियम नहीं।

भारतीय कला तथा बृहत्तर भारत

डॉ० वासुदेव उपाध्याय

कला तथा धर्म से घनिष्ठतम सम्बन्ध रहा है। इस कारण भारतीय धर्म के प्रचार के साथ कला का प्रसार अवश्यम्भावी था। भारत की भौगोलिक सीमा के बाहर भी धर्म-दूत भेजे गए थे जिनका कार्य धर्म-प्रचार तक ही सीमित रहा। कालान्तर में भारतवासियों ने अपना सम्पर्क बाहरी देशों से स्थापित किया और क्रमशः व्यवसाय के साथ भारतीय रीति-रिवाज, धार्मिक मान्यताएँ तथा भारतीय कला का विकास हो गया। उन भूभागों में मध्य एशिया (तरीम की घाटी), तिब्बत तथा चीन भारत के उत्तर में स्थित देशों में प्रमुख थे। दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीप-समूह (जावा, सुमात्रा, वालि, वोर्नियो), बर्मा, मलाया, चम्पा, कम्बुज देश आदि की भी गणना होती है जो बृहत्तर भारत-सम्बन्धी ऐतिहासिक चर्चा में उल्लेखनीय हैं।

भारतवासी हिमालय के पर्वतीय भागों को पार कर तरीम के काँठे में जाकर बसने लगे। पश्चिमोत्तर प्रान्त से होकर हिन्दुकुश तथा पामीर पार कर काश्गर तथा यारकन्द को अपना निवास-स्थान बनाया। इसी प्रकार लद्दाख (काश्मीर) के प्रसिद्ध नगर लेह एवं कर्राकोरम दर्रा को पार कर खोतान तक पहुँच गए। क्रमशः भारतवासियों का बढ़ाव तरीम नदी के उत्तर तथा दक्षिणी प्रदेशों में होने लगा। दोनों मार्गों में दक्षिणी मार्ग सर्वविख्यात 'रेशम-मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसके सहारे चीन का रेशम पश्चिमी एशिया तथा पूर्वी यूरोप तक जाया करता था। ईसा-पूर्व पहली सदी में मध्य एशिया से होकर शक गन्धार प्रान्त में शासन करने लगे, जिसमें कुषाण-नरेश कनिष्क का साम्राज्य तरीम घाटी से वाराणसी तक विस्तृत हो गया। कनिष्क की स्वर्ण-मुद्राएँ तथा अभिलेख इसके प्रमाण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय तथा व्यापार के लिए सोने के सिक्कों का प्रचलन आवश्यक था। इसीलिए वीभ तथा कुषाण-वंशी नरेशों ने ताँबे के अतिरिक्त सोने की मुद्राएँ प्रचलित कीं। यह ऐसी ऐतिहासिक घटना थी जिससे भारत का बाहरी सम्बन्ध स्वतः प्रकट हो जाता है। भारत के व्यापारी मध्य एशिया के नगरों—कूचा, तुरफान (तरीम के उत्तर), खोतान, नीया, मीरन, चरचेन तथा तुमेन हुआंग (नदी के दक्षिणी भाग) में आने-जाने लगे तथा उपनिवेश भी बनाया। यही कारण था कि भारतीय संस्कृति का विस्तार मध्य एशिया में हो गया। उस भूभाग की खुदाई योरपीय विद्वानों

तथा भारतीय पण्डितों के द्वारा सम्पन्न हुई जिसमें उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन किया जा सकता है। यह तो सर्वविदित है कि कनिष्क के शासन-काल में महायान मत का प्रादुर्भाव हो गया था। अतएव गान्धार में बुद्ध की प्रतिमा तैयार की गई तथा पूजित होने लगी। महायान के अनेक योगदानों में संस्कृत भाषा का प्रयोग तथा बोधिसत्त्व की मूर्ति की गणना होती है। चूंकि उस प्रदेश में प्रतिमा-निर्माण के लिए भूरे प्रस्तर तथा मिट्टी-मिश्रित चूना (Stacco) ही सुलभ था अतः इन दोनों पदार्थों का उपयोग किया था। उसका परिणाम यह हुआ कि गन्धार-कला शैली में समस्त प्रतिमाएँ इन दो सामग्रियों की ही बनने लगी। कनिष्क युग में बौद्ध मत के प्रचारक मध्य एशिया पहुँचे, अतएव महायान का प्रचार सरलता से हो गया। भूरे रंग की प्रस्तर-प्रतिमाएँ अधिक संख्या में मध्य एशिया के मरु-उद्यानों की खुदाई से प्रकाश में आई हैं। मिट्टी-मिश्रित चूना से तैयार बोधिसत्त्व की मूर्तियों तथा बुद्ध के सिर अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। कहने का अर्थ यह है कि मध्य एशिया के खनन के क्रम में भारतीय सामग्रियों—हस्तलिखित पुस्तक एवं प्रतिमाओं का ढेर मिला था। उसी आधार पर महायान के प्रस्तर, गन्धार-शैली की मूर्तियों का प्रचलन तथा भारतीय लिपि एवं साहित्य के अध्ययन की ऐतिहासिक चर्चा की जाती है। मूर्तियों की उपलब्धि से धर्म तथा कला के विस्तार का प्रामाणिक वृत्तान्त उपस्थित किया गया है। ह्वेनत्सांग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि खोतान के गोमती-विहार में महायान धर्म-ग्रन्थों (संस्कृत भाषा में) का अध्ययन हो रहा था। इसका निष्कर्ष यही है कि भारतीय धर्म-कला एवं साहित्य का प्रचार मध्य एशिया में हो गया था। मध्य एशिया का इतिहास यह बतलाता है कि काश्मीर के पाण्डित कुमारायन ने कूचा की राजकुमारी से विवाह किया, जिसकी सन्तान कुमारजीव महान् विद्वान् हुआ। पहली सदी से कई सदियों तक गन्धार का प्रभाव मध्य एशिया पर बना रहा। गन्धार कलात्मक नमूनों के अतिरिक्त (प्रतिमाओं को छोड़कर) तुरफान नीमा, मीरान, तुमेनहुआंग के गुहाओं में भित्तिचित्रों की चित्रकारी भारतीय ढंग पर की गई थी। उनके परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयता की छाप मध्य एशिया के भित्तिचित्रों पर पड़ी है। बुद्ध तथा भिक्षुओं का पहनावा भारतीय है। अजन्ता की चित्रकारी के सदृश तुमेनहुआंग के भित्तिचित्र बुद्ध के जीवन तथा जातकों का प्रदर्शन करते हैं। प्रतिमाओं के उष्णीष तथा वस्त्रों का आवर्तन गन्धार-शैली के समान है तो गुफाओं के भित्तिचित्र अजन्ता के सदृश हैं। तात्पर्य यह है कि मध्य एशिया कि कला में भारतीय शैलियों का पूर्ण विकास दीख पड़ता है।

ईसवी सन् के पश्चात् मध्य एशिया पर चीन के सेनापतियों ने आक्रमण किया और विहार में रहने वाले भिक्षुओं को भी बन्दी बना लिया। चीन के कारागार में भिक्षुओं की विद्वत्ता की परख हुई, अतः कालान्तर में सभी मुक्त कर दिए गए। इस प्रकार

चीन तथा भारत का सम्पर्क स्थापित हुआ। भारत के विषय में अधिक जानकारी की उत्कण्ठा चीनियों में बढ़ने लगी और ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए बौद्ध-यात्री फाहियान तथा ह्वेनत्सांग मध्य एशिया के मार्ग से होकर भारत में प्रविष्ट हुए। चीन के इतिहास से भी प्रकट होता है कि मध्य एशिया द्वारा भारतीय सम्पर्क उत्तरी चीन से हुआ। हान-वंश के शासन-काल में काश्यप मातंग तथा धर्मरक्ष नामक भिक्षुओं को चीन बुलाया गया। उन लोगों द्वारा भारतीय धर्म-ग्रन्थ तथा बौद्ध-प्रतिमाएँ वहाँ पहुँचीं। इस प्रकार महायान धर्म तथा भारतीय मूर्तिकला का प्रचार चीन में हुआ। ईसा की तीसरी सदी तक बौद्धमत का प्रसार होता रहा, किन्तु पाँचवीं सदी में तातार लोगों के हाथों बुद्धमत की क्षति हुई। बौद्ध प्रतिमाओं को नष्ट किया गया। परन्तु कुछ दिनों के पश्चात् स्थिति अनुकूल हो गई और बौद्ध-विहार उत्तर तथा दक्षिणी चीन में बनाए गए। क्रमशः मन्दिरों का निर्माण हुआ तथा बुद्ध की मूर्तियाँ स्थापित की गई। छठीं से आठवीं सदियों तक भारतीय विद्वानों ने बौद्ध-ग्रन्थों का पठन-पाठन तथा अनुवाद भी किया था। कई भारतीय पण्डितों ने अपना जीवन चीनी भाषा के अनुवाद में व्यतीत किया जिससे बुद्धमत ने सारे चीन में घर बना लिया। टोइस्ट मत का सदा के लिए लोप हो गया।

जहाँ तक चीन में बौद्ध कला के प्रचार का प्रश्न है चीनियों ने अपनी कुशलता का परिचय दिया। बौद्ध मत के पूर्व चीन के कलाकार सांसारिक घटनाओं—युद्ध का दृश्य राजमहल की झाँकी, जुलूस, शिकार, जानवरों की आकृतियाँ अथवा मिट्टी के पात्रों के निर्माण तथा प्रदर्शन में अपनी कुशलता प्रदर्शित करते रहे, किन्तु धार्मिक प्रवृत्तियों से दूर थे। काँसा, मिट्टी तथा लकड़ी का प्रयोग अधार्मिक वस्तुओं के निर्माण में हुआ था। बौद्धमत के अनुयायी हो जाने पर चीनी कलाविदों ने उसी दक्षता तथा प्रयोगात्मक शैली का प्रदर्शन बुद्ध-प्रतिमाओं में भी किया। उसका परिणाम यह हुआ कि चीन में भारतीय कला श्रेष्ठता को पहुँच गई। इस कारण नवीन परिस्थिति में चीन में मिश्रित कला (चीनी भारतीय) का प्रादुर्भाव हुआ। इस विषय की पुनरावृत्ति होगी यदि यह कहा जाय कि मध्य एशिया होकर भारतीय कला चीन पहुँची। गन्धार-कला के सम्बन्ध में मध्य एशिया के निवासी जानकारी रखते थे, उसी के साथ मथुरा तथा गुप्त कला-शैलियों का भी चीन में पदार्पण हुआ। गान्धार-शैली की बुद्ध-प्रतिमा को मथुरा के कलात्मक दृष्टान्तों ने स्थानान्तरित कर दिया। वस्त्रों के गहरा आवर्तन को मथुरा के लहरयुक्त चीवर ने हटा दिया। मथुरा की स्थूलकाय मूर्तियों का अनुकरण यत्र-तत्र मिलता है। परन्तु चीनी कलाकारों ने गुप्त-शैली को गम्भीरतापूर्वक अपनाया। उसमें प्रतिमा शान्त एवं गम्भीर भाव-सहित खुदी रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिमा किसी दार्शनिक विचारधारा की अभिव्यक्ति के निमित्त तैयार की गई थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि चीन में भारतीय कला का विस्तार मध्य एशिया के माध्यम से हुआ था। परन्तु यह सर्वथा

युक्तियुक्त नहीं है। गुप्त-युग में भारतीय संस्कृति एशिया के दक्षिण-पूर्व द्वीप-समूह में फैल चुकी थी। वहीं से उसका विस्तार जलमार्ग होकर दक्षिणचीन में हुआ। अतएव यह कहना उचित होगा कि स्थल तथा जलमार्ग द्वारा गुप्त-कला-शैली चीन में कार्यान्वित हुई।

भारत के समीपवर्ती पर्वतीय प्रदेश तिब्वत से भारतीय सम्पर्क की बड़ी रोचक कहानी है। सातवीं सदी तक तिब्वत का इतिहास अन्धकारमय था। संयोगवश वहाँ के शासक गम्वो का विवाह नेपाल की राजकुमारी से हुआ। उसी ने तिब्वत वालों को बौद्ध-मत का सन्देश सुनाया। नेपाल से बुद्ध-प्रतिमाएँ वह साथ में लेती गई, जिसका बहुत प्रभाव पड़ा। यद्यपि आरम्भ में युद्ध-प्रेमी तिब्वत-निवासी बुद्ध धर्म के विरोधी थे। उनकी आस्था प्राचीन वोन-पा (रहस्यवादी मत) धर्म पर थी, किन्तु तन्त्रयान के प्रचार से मन्त्र एवं तन्त्र की पूजा द्वारा तिब्वतवालों का ध्यान आकर्षित हुआ और बुद्धधर्म (तन्त्रमान) का प्रचार होने लगा। आठवीं शदी में तिब्वती राजा ने नालंदा महाविहार के प्रधान भिक्षु—पद्मसम्भव तथा कमलशील को निमन्त्रित कर बौद्ध-ग्रन्थों का तिब्वती भाषा में अनुवाद कराया। कालान्तर में दीपंकर श्री ज्ञान ने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद कर वहाँ बौद्धमत की नींव मज़बूत कर दी। शान्तिरक्षित की भी गणना उन विद्वानों में की जाती है जिन्होंने तिब्वत में वहुत बड़ा कार्य किया था। तिब्वत में मठ निर्मित हुए तथा भारतीय कला का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इमारतों के अतिरिक्त तिब्वत में बौद्ध-मूर्तियाँ नालंदा-शैली की तैयार हुईं। प्रस्तर के अतिरिक्त धातु-प्रतिमाओं को साँचे में ढाल कर सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित किया गया। तन्त्रयान के समस्त देवता-समूह का प्रचार तिब्वत में हो गया। अतएव बुद्ध के साथ अन्य देवतागण लामा आदि की भी मूर्तियाँ तैयार की गईं। तिब्वत की कला सर्वथा भारतीय शैली की अनुकरण-मात्र है। बुद्ध, वोधिसत्त्व जातक-प्रदर्शन सर्वत्र पाया जाता है। तिब्वती कलाकार झण्डों पर भी देवी-देवता का चित्र तैयार करने लगे जिनका विषय वौद्धधर्म से ओत-प्रोत था। मठ की दीवाल तथा हस्तलिखित पोथियों में भी कोई न कोई चित्रकारी दीख पड़ती है। कपड़ों पर चित्रकारी कर उसे लपेट कर सन्दूक में रख दिया जाता एवं समयानुकूल उन झण्डों को खोल कर प्रदर्शित किया जाता था। उन पर अजन्ता की चित्रकारी का प्रभाव है। परन्तु तिब्वत के झण्डे तन्त्रयान के देवसमूह का प्रदर्शन करते हैं। उन पर स्वर्ग-नरक, लामा, सिद्धों तथा दिक्पालों के भी चित्र दिखलाई पड़ते हैं। लोकेश्वर का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। तिब्वत में कला के अभ्युदय का श्रेय लामा साधुओं को है, जिन्होंने अपने निर्देशन में सारा कार्य सम्पन्न किया तथा तिब्वत की कला में भारतीय शैली को अपनाया। ब्रश से रंग भरना, कनवास पर सफेद जमीन तैयार करना, वनस्पति से रंग बनाना तथा चित्रकारी से पूर्व क्षेत्र की सीमा निर्धारित करना आदि सम्बन्धित कार्य भारतीय मूल रूप से

भिन्न नहीं थे। तन्त्रयान की प्रसार होने तथा धार्मिक भावना की दृढता के कारण तिब्बत में भारतीय कला फूली, फली तथा उसका अनुकरण हुआ।

एशिया का दक्षिण-पूर्वी भाग तथा द्वीप-समूह भी भारतीय संस्कृति से पूर्ण रूप से प्रभावित हुए थे। वर्मा, थाइलैंड, कम्बुज तथा चम्पा में भारतवासियों ने आराकान को पार कर पदार्पण किया था, किन्तु द्वीप-समूह,—स्वर्ण द्वीप, जावा, सुमात्रा, वाली, वोर्नियो तथा मलाया में भारतीय जहाज़ के सहारे पहुँच सके। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त ने समतट, डवाक पर विजय प्राप्त कर, उत्तरी भारत का द्वीप-समूहों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया। ताम्रलिपि (वर्तमान तामलुक, पूर्वी पाकिस्तान) नामक बन्दरगाह से द्वीपों का सम्वन्ध दृढतर होता गया और भारतीय संस्कृति का विस्तार सर्वत्र होने लगा। उत्तरी भूभाग में केवल बौद्ध-धर्म तथा कला का विस्तार दृष्टिगोचर होता है किन्तु एशिया के दक्षिण-पूर्वी भाग में बौद्ध तथा ब्राह्मण मतों का विकास हुआ। जिसका परिणाम यह था कि ब्राह्मण धर्म के साथ हिन्दू देवी-देवताओं की भी पूजा होने लगी। चम्पा में शिव-मत की प्रधानता थी तो कम्बुज देश में वैष्णव धर्म से लोग अनभिज्ञ न थे। वर्मा में ब्राह्मण देवताओं की अनेक प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। जावा तथा वाली में वैष्णव मूर्तियाँ तथा रामकथा का पर्याप्त प्रचार था। गुप्तकाल में भारतीय संस्कृति का विस्तार अधिक हुआ था, अतएव ब्राह्मण धर्म एवं कला ने द्वीपसमूहों को प्रभावित किया। मलाया या अन्य द्वीपों के मन्दिरों के भग्नावशेष आज भी उस अतीत की वातें सुनाते हैं। जावा के डींग प्रदेश के हिन्दू-मन्दिर तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा, गणेश की प्रतिमाएँ हिन्दू संस्कृति का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। मध्य जावा की एक विशिष्ट विष्णु-प्रतिमा विशालकाय गरुड़ के कन्धों पर स्थित उल्लेखनीय है। ऐसी ही प्रधानता शिव प्रतिमा को चम्पा में दी गई थी। वहाँ त्रिदेवों में शिव को प्रधान माना गया है तथा हिन्दू देवताओं की जितनी मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं उनसे शिव की प्रमुखता प्रकट होती है। भारतवर्ष के सदृश शिव लिङ्गरूप में अथवा मनुष्य के आकार में पूजित होते रहे और दोनों प्रकार की मूर्तियाँ कलाकार तैयार करते थे। चौथी तथा पाँचवीं सदियों में चम्पा के शासक अपना नाम भी मूर्ति के साथ सम्बन्धित कर देते और उसी नाम से लिङ्ग मन्दिरों में स्थापित हुए थे। मनुष्य के आकार-सदृश निर्मित प्रतिमा के साथ शिव-परिवार—उमा, गौरी, गणेश आदि देवी-देवता समूह में तैयार मिलते हैं। कई अभिलेखों में ब्रह्मा का नाम उल्लिखित मिलता है। जिसका तात्पर्य यह है कि प्रायद्वीय या द्वीप-समूहों में ब्राह्मण-मत के प्रसार के साथ त्रिदेवों की प्रतिमा पूजित होने लगी। यही कारण है कि एशिया के दक्षिण-पूर्वी भाग में पाँचवीं अथवा छठी शताब्दी तक ब्राह्मण-कला का प्रचार अक्षुण्ण रूप से मिलता है।

पूर्व मध्ययुग से उस भूभाग को बौद्ध धर्म ने आच्छादित कर लिया। बंगाल के

बौद्ध-मन्दिरों की शैली के सदृश जावा का वोरोवुदुर मन्दिर निर्मित किया गया। उसके सीढ़ीनुमा आकार में जो प्रस्तर जुड़े हैं, उन पर बौद्ध-मूर्तियाँ खुदी हैं। बुद्ध तथा बोधि-सत्त्व प्रतिमा की सर्वत्र प्रधानता है। कालानन्तर में नालंदा के वज्रयान का प्रभाव भी द्वीप-समूहों में फैला, इस कारण वज्रयान देवतागण का प्रचार हुआ। लोकेश्वर की अनेक प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। आश्चर्य तो यह है कि जिस 'हरि हरि हरि वाहनो लोकेश्वर' का वर्णन तन्त्रयान साहित्य में मिलता है, उसका उदाहरण भारत में नहीं, सुदूर जावा से प्राप्त हुआ है। पूर्वी भारत में बौद्धों तथा हिन्दुओं के पारस्परिक विवाद तथा शास्त्रार्थ की बातें साहित्य में वर्णित हैं, किन्तु कालात्मक उदाहरण कम उपलब्ध हुए हैं। नालंदा की खुदाई से त्रैलोक्य-विजय की प्रतिमा मिली है जो शिव-पार्वती को पैरों से कुचल रहा है। पटना संग्रहालय में बौद्ध-देवी अपराजिता गणेश को पददलित करते दिखलाई गई है। उसी प्रकार जावा के लोकेश्वर की प्रतिमा विष्णु के कन्धे पर स्थित खोदी गई है। ऐसा द्वेषपूर्ण तथा हीन-प्रदर्शन अन्यत्र नहीं दीख पड़ता। तात्पर्य यह है कि नालंदा के भूभाग में बौद्ध तथा ब्राह्मण मतानुयायियों के मध्य जो वाद-विवाद चलता रहा तथा जिसका समर्थन कलात्मक दृष्टांतों से होता है, वही विषाक्त भावना जावा तक पहुँच गई। इससे नालंदा तथा जावा के साथ घनिष्ठ सम्पर्क का परिज्ञान होता है। इतना ही नहीं जावा के शासक बाल-पुत्रदेव ने नालंदा में एक विहार की स्थापना की जिसके निवासी भिक्षुओं के दैनिक-व्यय के लिए पाल-नरेश देवपाल से पाँच ग्राम अग्रहार के रूप में उन्होंने माँगा था। 'सुवर्णद्वीपा-धिपम् महाराज श्री वालपुत्र देवेन दूतक मुखेन व्यम्विज्ञापिताः यथा मयाश्री नालन्दायाम्वि-हारः कारितः तत्र भगवतो बुद्धभट्टारकस्य प्रज्ञापारमितादि सकलधर्म्मने चातुर्द्दिशाय-भिक्षुसंघस्य वलिचरुसश्च चीवरिपिण्ड पात शयनासन ग्लान प्रत्यय भेषज्याद्यर्थं धर्म रत्नस्य लेखनाद्यर्थं शासनीकृत्य प्रतिपादित'। नालंदा ताम्रपत्र लेख

इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के चोल-नरेशों के शासन-काल में एक बड़ा विहार जावा-नरेश ने तैयार कराया था। इस प्रकार उनके बौद्धमतानुयायी होने का परिचय मिलता है। वर्मा के पैगोडा भी बौद्धमत के प्रचार की वार्ता सुनाते हैं। भारतीय वास्तु-कला के अनुकरण पर विहार, स्तूप तथा मन्दिरों का निर्माण हुआ था, जिनकी स्थिति अथवा भग्नावशेष भारतीय छाप का इतिहास उपस्थित करते हैं। द्वीप-समूह को पार कर भारतवासी दक्षिण-चीन में भी पहुँचे। वहाँ बौद्धमत का पहले ही प्रचार था। ऊँची श्रेणी के लोगों ने बौद्धमत को अपना लिया था। तन्त्रयान के प्रसार द्वारा मन्त्र-तन्त्र का प्रचार हुआ, जिसके फलस्वरूप निम्न-वर्ग की चीनी जनता ने इसका स्वागत किया। यों तो भारत से प्रतिमाएँ उन देशों में पहुँच चुकी थीं। उन्हीं का अनुकरण विभिन्न कला-कारों ने किया भी, परन्तु स्थानीय आकृति की झलक मूर्तियों के चेहरों पर देखी जा

सकती है। भारतीय संस्कृति के विस्तार-क्रम में कलात्मक उदाहरणों का विशिष्ट देशों में ऐसा प्रभाव दिखलाई पड़ता है कि वर्तमान काल में सर्वेक्षण करने पर भारतीयता का अध्ययन सरल हो जाता है। भारत के अतीत की कथा इन कला के दृष्टान्तों द्वारा नवीन हो जाती है तथा प्रत्येक भारतवासी गौरव का अनुभव करता है।
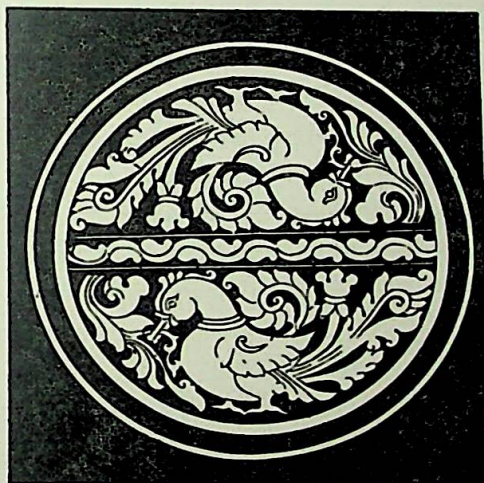
मुगल चित्र-कला : उद्भव, विकास और परिणति

डॉ० रघुनन्दन प्रसाद तिवारी

मुगल चित्र-कला का आधार ईरानी चित्र-कला है। चित्र-कला के मूल में सम्बन्धित देश का जीवन-दर्शन होता है। ईरानी जीवन-दर्शन की पृष्ठभूमि, मध्य एशिया में होने वाले अरबों के आक्रमणों का इतिहास है। ये आक्रमण प्रायः ध्वंसात्मक रहे, जिनका प्रारम्भ सातवीं शताब्दी से होता है। कुछ ही समय में बड़े नगरों को धूल में मिला दिया गया, जिनकी सांस्कृतिक गाथा कहने को 'स्टेसीफोन' के अवशेष तथा टाइग्रस की बड़ी वीरान मेहराब, वास्तु-कला के प्रतीक-रूप में शेष रह गए। इस विध्वंस के उपरान्त जिन नये नगरों का निर्माण हुआ उनमें जिस सभ्यता और संस्कृति का रूप सामने आया वही ईरानी जीवन-दर्शन था, जो कि चित्र कलागत रूढि और परम्पराओं के लिए प्राचीन संस्कृति का आभारी बना रहा। बग़दाद और बसरा के बारहवीं शताब्दी के जो चित्र मिलते हैं उसमें प्राचीन रासानिक प्रभाव रूपांकन-विधा में पाया जाता है। बग़दाद के ख़लीफ़ा अब्बाशीद (तेरहवीं शताब्दी) के समय का शेपर्स और हरीरी का विविध चित्रण भी इसी तरह का है। समीक्षा की दृष्टि से चित्रों का यह प्रारम्भिक सँवरता हुआ अनगढ़ स्वरूप है। यह इसलिए, क्योंकि यहाँ मूर्ति चित्रांकन की परम्परा में धार्मिक दृष्टि से अनुदार होने के कारण इन्हें अपनी अभिव्यक्तियों के लिए पड़ोसी कला-परम्पराओं पर निर्भर करना पड़ा है। हरीरी के चित्रांकन में चित्रकारों ने बैजान्टिक चित्रकला से रूपादि सज्जापरक आधार तथा शैली को किन्हीं अंशों तक अपनाया है। इसी तरह मंगोल में इस्लाम पहुँचने के बाद जब शासकों को भवन-निर्माण तथा कला-सज्जा आदि की आवश्यकता अनुभव हुई, तब चीनियों का सहारा लेना पड़ा। ईरान को जहाँ अपनी प्रेरणाओं और कार्यविधियों के लिए पश्चिम पर निर्भर करना पड़ा, वहाँ मंगोल को पूर्व पर। मंगोल अपनी सौन्दर्य-चेतना की समृद्धि के लिए, जब भी चीन पर आक्रमण करता था तब वहाँ की धन-सम्पत्ति के साथ चीनी कलाकरों का अपहरण भी किया करता था। मंगोल-शासक हुलगू के समय में लगभग सौ चीनी चित्रकारों के परिवारों को मंगोल लाया गया तथा वहाँ से ईरान के सूबों को भेजा गया। चौदहवीं शताब्दी तक चीनी प्रभाव समाप्त हो गया था और ईरान की चित्रकला

बाबर नामा का एक चित्रित पृष्ठ, मुगल शैली, सन् १५९७ ई०

मुग़ल सामन्त—संगीत और मदिरा का आनन्द लेते हुए, मुग़ल शैली.
अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ

मंगोल राज्य की प्रान्तीय कला के रूप में विकसित हो गई थी। इस समय मारगाह, अजर-बाईजन, तबरेज़ आदि प्रमुख कला-केन्द्र थे। अमीर तैमूर के समय में इस्फ़हान राजधानी होने के कारण कला का केन्द्र रहा। समरकन्द और बुखारा भी इसी तरह के प्रमुख कला-केन्द्र थे। अमीर तैमूर कला का प्रशंसक होने के साथ ही कला को प्रोत्साहन देनेवाला शासक था। इसके समय में कवि, गायक, दार्शनिक, वास्तुकलाविद्, चित्रकार, सभी सम्माननीय थे। इसके उत्तराधिकारी शाहरूख ने भी कला को इसी तरह का बढ़ावा दिया। शाहरूख की चित्रशाला में लगभग चालीस चित्रकार मौलाना ज़फ़र की देखरेख में कार्य किया करते थे। कला के अध्ययन और समृद्धि के लिए अब्दुल रज्ज़ाक के मातहत एक शिष्टमण्डल भारत भेजा गया था। सुल्तान हुसैन मिर्ज़ा और उमर शेख के समय में चित्र-कला का स्वरूप निखर चुका था। इनके समय में ईरानी चित्र-कला-शैली का प्रसिद्ध चित्र-कार विहज़ाद हुआ। विहज़ाद ने चित्र-कला को वैयक्तिक रूप दिया तथा एक निश्चित पद्धति कायम की। किन्तु इसी समय शाह इस्माइल के नेतृत्व में ईरान, तैमूरी शासन से स्वतन्त्र हो गया। विहज़ाद और उसके शिष्य शाह इस्माइल के प्रश्रय में चले गये।

तैमूर राजवंश सांसारिक सुख-भोग के प्रवल अभिलाषी थे, इस कारण इस समय के चित्रों में इसी तरह की विचारधारा तथा वातावरण पृष्ठभूमि में हैं। नया राजवंश सूफी सिद्धान्तों को मानने वाला था, इसी कारण सफावी राजवंशी भी कहलाया। सूफी-सिद्धान्त में ऐसा विश्वास किया जाता है कि मानवीय-प्रेम आगे चलकर ईश्वरीय-प्रेम में वदल जाता है अतएव चित्र-कला में मानवीय प्रेम को प्रतिपादित किया जाने लगा। चूँकि विहज़ाद प्रौढ चित्रकार था इसलिए उसकी कृतियों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है, किन्तु उसके शिष्यों में यह परिवर्तन देखा जा सकता है।

बावर, अमीर तैमूर की पाँचवीं पीढ़ी में हुआ था। ईरान पहले ही स्वतन्त्र हो चुका था। समरकन्द भी इसके हाथ में नहीं था। यह फरग़ना प्रान्त का शासक था किन्तु अमीरों ने इसे खदेड़ दिया। अपने राज्य को हथियाने के अनेक संघर्षों में भी यह सफल न हो सका, तव फिर काबुल से भारत की ओर बढ़ा और सन् १५२६ ई० में इब्राहीम लोधी को हराकर दिल्ली का शासक हो गया। सन् १५३० ई० तक बाबर जीवित रहा। इस बीच, वावर कला तथा साहित्य का संग्रह करता रहा। बावर की माँ, मंगोल शासक चंगेज़ वंश की थी तथा स्वयं तैमूर वंश का था। अतः कला-साहित्य के प्रति रुझान होना स्वाभाविक है। बावर ने विशेषकर चित्र-कला को प्रोत्साहन दिया है, इस तरह के सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होते। उसकी कृतियों से यह निश्चित है कि वह कवि था और अच्छी कविता करता था। कला एवं साहित्य का प्रेमी था। इस बीच ईरान में शाह तहमास्प के द्वारा चित्र-कला का प्रसार हो रहा था। तबरेज़, हिरात और शीराज़ प्रमुख कला-केन्द्रों के रूप में थे।

सन् १५३० ई० में हुमायूँ गद्दी पर बैठा। हुमायूँ किसी तरह शासन का निर्वाह

करता रहा, किन्तु सन् १५४० ई० में शेरशाह सूरी ने इसे भारत से खदेड़ दिया। यह पन्द्रह वर्ष तक बाहर रहा। एक वर्ष यह ईरान के शाह तहमास्प की शरण में बना रहा। इस दौरान हुमायूँ ईरान के प्रमुख शहरों की यात्रा करता रहा। चित्रकारों, दार्शनिकों से साक्षात करता रहा। विहज़ाद की मृत्यु हो चुकी थी। आग़ा मिराक, सुल्तान मुहम्मद और मुज़फ़्फ़र अली आदि चित्रकारों के नेतृत्व में चित्रकला का कार्य सम्पन्न हो रहा था। ये चित्रकार विहज़ाद के समान प्रतिभाशाली तो न थे फिर भी उसकी परम्परा को बनाये हुए थे। इन चित्रकारों के अतिरिक्त भी ईरान में अनेक प्राचीन कला-केन्द्र थे जो जन-सामान्य में कला के प्रति रुझान पैदा कर रहे थे। शाह तहमास्प के यहाँ रहते हुमायूँ का सम्बन्ध यहाँ के दो चित्रकार मीर सैय्यद अली, जो मीर मानसर का पुत्र था तथा ख्वाजा अब्दुल समद से हुआ। मीर सैय्यद अली के पिता विहज़ाद के समय के चित्रकार थे तथा उन्होंने विहज़ाद के साथ काम किया था। ख्वाजा अब्दुल समद कुशल चित्रकार के साथ ही निपुण लिपिकार भी था। यह शीराज़ के सूबेदार शाहशुजा के वज़ीर का पुत्र था। इन दोनों ही चित्रकारों को हुमायूँ ने अपने साथ ले चलने का आग्रह किया। कुछ समय बाद ही हुमायूँ ईरान से काबुल आ गया। सन् १५४९ ई० में ये दोनों ही चित्रकार हुमायूँ के आश्रय में आ गये। बाँकीपुर पुस्तकालय के तैमूरनामा के अनुसार यहाँ स्वयं हुमायूँ ने और उसके पुत्र अकबर ने इन चित्रकारों से चित्र-कला की शिक्षा कुछ समय तक ली। इस समय के कुछ चित्र उपलब्ध होते हैं। अब्दुल समद का बनाया हुआ एक चित्र तेहरान संग्रहालय में है जिसमें अकबर एक छोटा चित्र हुमायूँ को सौंप रहा है। इस चित्र में प्रस्तुत वेशभूषा मुगल वेषभूषा से मेल खाती है। मीर सैय्यद अली का झुकाव प्रकृति के चित्रण के प्रति अधिक रहा है। उसने ईरानी चित्रकारों की परम्परा का अनुसरण करने की अपेक्षा प्रकृति का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जिसका प्रभाव उसके चित्र 'खिसियानी बिल्ली', 'खेमे का तानना' तथा कुछ व्यक्ति-चित्रों में लक्षित होता है।

परिस्थितियों को देखते हुए मेरा ऐसा निजी विश्वास है कि मीर सैय्यद अली की देखरेख में 'दास्ताने-अमीर-हमज़ा' का कार्य हुमायूँ के ही समय में प्रारम्भ हो गया था। अब्दुल समद, मीर सैय्यद अली का प्रमुख सहायक रहा है। सन् १५५५ ई० में हुमायूँ ने पुनः दिल्ली को प्राप्त कर लिया था। सन् १५५६ ई० में हुमायूँ की मृत्यु पुस्तकालय से उतरते हुए होती है। इस समय हुमायूँ का पुस्तकालय समृद्ध स्थिति में था, क्योंकि विगत १५ वर्षों के प्रवास-काल में अपने पूर्वजों की कला-साहित्य की सामग्री को एकत्र करता रहा था। अतएव 'दास्ताने-अमीर-हमज़ा' का कार्य प्रारम्भ होकर चलता रहा तथा भारत में अनुकूल परिस्थितियों को पाकर, इस कार्य में अनेक भारतीय व ईरानी, चित्र-विशारदों को भी लगाया गया। यह कार्य बाद में अकबर के समय में पूरा हुआ है। मीर सैय्यद अली बीच ही में अपने भाई को 'दास्ताने-अमीर-हमज़ा' का कार्य सौंपकर मक्का तीर्थ को चला

गया था। इसका चित्रांकन सन् १५७५ ई० के लगभग समाप्त हुआ। ऐसा विश्वास किया जाता है कि १२ जिल्दों में १२०० से १४०० तक चित्रों को लगभग तैयार किया गया। कागज़ के अभाव में यह कार्य कपड़े पर २४" × २८½" की माप में तैयार किया गया।

अकबर का समय सन् १५५६ ई० से सन् १६०५ ई० तक रहा। इस समय की चित्रकला का विकास तीन समयों में बँट जाता है। अकबर के आरम्भिक १५ वर्ष तो राज्य की दृढ़ व्यवस्था में व्यतीत हो जाते हैं। इस कारण से वह अपना अधिक समय ललित-कलाओं को नहीं दे सका है। अतएव सन् १५७० ई० तक के चित्र अधिकतर ईरानी चित्र-शैली पर निर्भर करते हैं, अलबत्ता इन चित्रों का वातावरण भारतीय है। इस समय के कुछ चित्र बहुर्चाचित हैं। पहला, जिसमें अकबर हुमायूँ की मृत्यु का समाचार सुनता हुआ चित्रित किया गया है, दूसरा, तालुक खान द्वारा शाह अब्दुली माली का पकड़ा जाना तथा तीसरा, तानसेन अकबर के दरबार में पहुँचा है। पहले दो चित्र हुमायूँ की मृत्यु के समय के बनाये हुए हैं तथा तीसरा सन् १५६२ ई० का है। इस समय तक चित्रकार स्वेच्छा से कार्य कर रहे थे। सन् १५७० ई० में अकबर फतेहपुर सीकरी में स्थिर हुआ तथा वहीं चित्रशाला को प्रारम्भ किया। इस चित्रशाला में हुमायूँ के साथ आये हुए चित्रकार मीर सैय्यद अली और ख्वाजा अब्दुल समद की सहायता से अनेक भारतीय व ईरानी चित्रकार कार्य में रत हुए। इसी समय रज्मनामा (महाभारत) का चित्रांकन अकबर ने कराया। यह चित्रशाला सन् १५८५ ई० तक नियमित रूप से चलती रही। यह अकबर के समय की चित्र-कला का दूसरा दौर था। तीसरा दौर अकबर के लाहौर सन् १५८५ ई० में चले जाने के बाद से सन् १६०५ तक का है। इस काल में अकबर कुछ चित्रकारों को लाहौर किले में भित्ति-सज्जा के लिए अपने साथ लेता गया था तथा कुछ को आगरा किले में सज्जा-कार्य के लिए लगा दिया था। शेष चित्रकार, जोकि पटना, राजस्थान, गुजरात आदि सुदूर प्रान्तों से आये थे, वापस चले गए। इसी समय में ईसाई यात्रियों और पादरियों द्वारा लाये गए धर्म-चित्रों से, यहाँ चित्रकारों ने योरोपीय चित्र-कला का प्रभाव ग्रहण किया है। यह प्रभाव अकबर के अन्तिम समय के चित्रों में परिलक्षित होता है।

अकबर की फतहपुर सीकरी की चित्रशाला में चित्रण का कार्य विभाजित रूप में सम्पन्न होता था। सबसे पहले चित्रफलक पर फूलकारी-युक्त सीमा-सज्जा का कार्य होता था। इसके उपरान्त चित्र की शैली निश्चित की जाती थी। इसमें चित्र किस तरह का बनना है, यह तय किया जाता था। इसके बाद 'चेहरानुमा' के पास चेहरों का निर्माण होता था। फिर सूरत वाले के पास समूची रेखाओं में चित्र तैयार होने को चला जाता था। यह सब हो चुकने पर चित्र 'रंगमेज़ी' के पास रंग-लेपन के लिए पहुँचता था। इस तरह एक चित्र अनेक चित्रकारों द्वारा सम्पन्न होता था। अकबर ने चित्रकारों के अध्ययन और अभ्यास के लिए प्राचीन प्रसिद्ध ईरानी चित्रकारों के चित्रों का संग्रह किया था।

चित्रकार उन चित्रों का अध्ययन करते तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण करते थे। इसी समय कुशल ईरानी चित्रकार फरूखवेग, शासकीय सेवा में नियुक्त किया गया। यह मध्य एशिया से सन् १५८५ ई० में आया। 'बाबरनामा' में बनाये हुए इसके कुछ चित्रों में मंगोल और चीन की चित्रकला का प्रभाव मिलता है। इस तरह के शाहीठिकाने के निर्माण होने से आरम्भिक चित्रों में ईरानी-शैली का प्रभाव रहा है, किन्तु यह क्रमशः कम होता गया है और स्वतन्त्र पद्धति पर चित्रकला का विकास हुआ; जिसे कि आगे चलकर मुगल-शैली या मुगल चित्र-कला का सम्बोधन दिया। यूरोपीय धर्म-चित्रों के आगमन से इस समय की चित्र-कला में गहराई तथा छायांकन को अपनाया गया है। वेशभूषा के रूप में अष्टपदी या अटपटी पगड़ी, ऊँचा चमकदार जामा, बगैर किसी सजावट के, चित्रित किया गया है। कमरबन्द डेढ़ ही गाँठ का है। नारी-चित्रों की आकृतियाँ राजपूत महिलाओं से मिलती-जुलती चित्रित की गई हैं। पहिनावे में छोटी चोली, खुला पेट पारदर्शी घाघरा तथा ओढ़नी है। 'दास्ताने-अमीर-हमज़ा', 'बाबरनामा', 'रज्मनामा', 'अकबरनामा' का चित्रण उल्लेखनीय कार्य है। अकबर की ही आज्ञा से फतहपुर सीकरी की दीवालों पर चित्रांकन का कार्य शुरू हुआ। इस चित्रांकन के अवसर पर जहाँगीर बहुधा उपस्थित रहता था।

जहाँगीर सन् १६०५ ई० में गद्दी पर बैठा। इस समय इसकी अवस्था ३७ वर्ष की थी। जहाँगीर की प्रारम्भ से ही दिलचस्पी चित्र-कला में रही। इसने अकबर के समय १५८६ ई० में हेरात का चित्रकार अक़ारिजा को अपनी सेवा में रखा था। अक़ारिजा स्वयं कुशल चित्रकार तो न था, पर इसका बेटा अबुल हसन कुशल चित्रकार निकला। जहाँगीर के प्रारम्भिक वर्षों में चित्रकला का स्वरूप प्रौढ—सुथरा हुआ नहीं रहा है। इसलिए जहाँगीर ने चित्र-विद्या के सिद्धान्तों को निश्चित किया तथा मुगल-शैली को प्रौढ रूप दिया। अति लघु चित्रों का प्रचलन, इस समय की शैली की अपनी विशेषता रही है। चित्रकला को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का भी आग्रह रहा है। अतएव वस्तुओं का रेखांकन यथार्थ के अति निकट हुआ है। प्रकृति का स्वतन्त्र-चित्रण भी जहाँगीर का प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम का प्रतीक है। उसने प्रकृति-सौन्दर्य का बोध दरबारी चित्रकारों को कराया तथा इन चित्रकारों ने जहाँगीर के सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण को वास्तविक रूप प्रदान किया। इसके लिए जहाँगीर जहाँ भी जाता था, अपने साथ चुने हुए चित्रकारों का एक दल रखता था। अतएव जहाँ भी जो चित्र उसे पसन्द आता था, उसका तत्काल चित्रण कराता था। यद्यपि चित्रण के लिए वह समर्थ चित्रकारों को चित्र-सेवा में नियुक्त करता था। सन् १६१८ ई० का इनायत खाँ का मृत्यु-शैय्या पर का चित्र इसी तरह का है। अजीब पशु, पक्षी के चित्रण को भी महत्त्व दिया गया है जिनमें कि प्रकृति का यथार्थ वातावरण प्रस्तुत किया जाता था। अजमेर में जहाँगीर ने 'चश्म-ए-नूर' भित्ति-सज्जा करवाई जिसका वातावरण इसी तरह का है।

चित्रकारों में अबुल हसन जहाँगीर का खास चित्रकार था। उस्ताद मानसर पशु-पक्षियों की चित्रकारी में निपुण था। इसके समय में समरकन्द के दो चित्रकार मुहम्मद नादिर और मुहम्मद मुराद आये, जोकि फरुखबेग के अन्तर्गत कार्य करते थे। संवलदास, जगन्नाथ, गोवरधन और ताराचन्द भी इसके प्रसिद्ध दरबारी चित्रकार थे। सरटामस रो भी इसी समय में अपनी कला-सामग्री के साथ सन् १६१५ ई० के लगभग इसके दरबार में आया। इस कला-सामग्री से तत्कालीन चित्रकार प्रभावित हुए हैं।

जहाँगीर ने अपने समय में न केवल चित्रकारों को ही प्रोत्साहित किया है अपितु प्राचीन चित्रों का संग्रह भी किया है। वह अपने समय का प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ था। उसके राजदूत ईरान के कला-केन्द्रों की चित्रों को खरीद के लिए जाया करते थे तथा उस समय के कला-व्यवसायी, प्रसिद्ध चित्र जहाँगीर को बेचने के लिए, आया करते थे। जहाँगीर प्रायः उन्हें उचित ऊँची कीमत देकर खरीदा करता था। जहाँगीर का चित्रकला के साथ इतना मेल हो चुका था कि वह चित्र को देखकर, उस चित्र के निर्माण का समय, स्थान तथा चित्र-कार का नाम, रंग, रेखाओं तथा शैली के आधार पर बता देता था। जहाँगीर ने चित्र-कला के सौन्दर्य-पक्ष की वृद्धि में सहयोग दिया; दरबारियों ने सांस्कृतिक पक्ष को प्रौढ बनाया तथा दरबारी चित्रकारों ने आकृति, रंग-रूप देकर मुगल-शैवी को उज्ज्वल और प्रशस्त किया। अकबर और जहाँगीर का समय मुगल चित्र-कला का स्वर्ण-युग रहा है। जहाँगीर की मृत्यु ५८ वर्ष की उम्र में सन् १६२७ ई० में हुई। इसके साथ ही मुगल-चित्रकला का विकास भी समाप्त हो जाता है।

शाहजहाँ सन् १६२७ ई० में गद्दी पर बैठा। इस समय तक मुगल-शैली अपनी पूर्णता तक पहुँच उज्ज्वल, प्रभावकारी तथा परिपक्व हो चुकी थी। मुहम्मद फखरुल्ला खान शाहजहाँ का मुख्य चित्रकार था। इसी समय का मीर हसीन व्यक्ति चित्र बनाने में कुशल था। मुगल शाही चित्रशाला में इसके समय में भी समरकन्द से कुछ चित्रकार आये थे। इस समय के चित्रों में फूलकारी आदि का प्रयोग बहुलता से हुआ है। पटकों में और कमरबन्द तथा चोग़ा के ऊपर फूलों की आकृतियाँ अंकित होती थीं। पगड़ी का पट्टा जहाँगीर के समय से कुछ अधिक चौड़ा है। इस समय में स्याह रंग की रेखाओं का प्रचलन बढ़ा है। रंगमय चित्रों में स्वर्ण रंग की प्रचुरता है। कमरबन्द पट्टे के रूप में आ जाता है। जामा लम्बा फूलदार है। जामा का आकार अकबर के समय से क्रमशः लम्बा होता गया और औरंगजेब के समय तक पंजों तक लम्बा हो गया था।

शाहजहाँ की अभिरुचि चित्र-कला की अपेक्षा वस्तु-कला में अधिक थी। इसके बड़े लड़के दाराशिकोह ने चित्रकारों को प्रोत्साहित किया था। इसके हस्ताक्षरों-सहित अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। इसके हस्ताक्षरवाला चित्रों का अलबम इंडिया आफिस लायब्रेरी, लन्दन, में सुरक्षित है।

सन् १६५८ ई० में औरंगज़ेब ने गद्दी को हथिया लिया। इसकी कठोर धार्मिक नीति के फलस्वरूप ललित-कलाओं की राजाश्रयता समाप्त हो गई। चित्रकार अमीर, उमराव, सामन्तों के पास चले गए। कुछ चित्रकार स्वतन्त्र रूप से कार्य करते रहे। औरंगज़ेब ने स्वयं अपने हाथों से असरमहल, वीजापुर के कला-सौन्दर्य को नष्ट किया था। फिर भी औरंगज़ेब के समय में चित्रकला चलती रही है। औरंगज़ेब के सामन्तों ने औरंगज़ेब के दरवारी दृश्यों को तथा अन्तःपुर के दृश्यों को अंकित कराया है। गोलकुण्डा-विजय का तात्कालिक चित्र, इसी तरह का है। इस समय के चित्रों में प्रस्तुत आकृतियाँ लम्बी हो गई हैं। पगड़ी के वीच का पट्टा शाहजहाँ के समय से अधिक चौड़ा हो गया है। चेहरे पर प्रकाश के साथ छाया गहराई में दिखाई गई है। कलम में वह तीक्ष्णता और कोमलता नहीं रह गई है जो शाहजहाँ के समय के चित्रों में उपलब्ध होती है। मुगल चित्रकला का ह्रास औरंगज़ेब के प्रारम्भिक समय से ही शुरू होता है और मृत्यु-समय सन् १७०७ ई०, तक मुगल चित्र-कला का पतन हो चुकता है। प्रायः यहाँ के कलाकार पास के राजाओं के दरवारों में पहुँच जाते हैं जहाँ कि वे स्थानीय स्वरूप को ग्रहण करते हैं।

औरंगज़ेब के उपरान्त मुहम्मद शाह सन् १७४८ ई० तक रहा। इस वादशाह ने चित्रकला या चित्रकारों को प्रोत्साहन देना तो दूर रहा, वल्कि चित्र-कला के संग्रह को वितरित करना प्रारम्भ कर दिया। अकवर के समय का प्रसिद्ध रज्मनामा, जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह को उपहार में दे दिया। इसी तरह की अन्य कला-सामग्री का भी वितरण कर दिया। इसके उपरान्त मुगल चित्र-कला मुगल दरवार से विदा ही हो जाती है।

भारतीय संगीत-कला की पृष्ठभूमि

डॉ० दुर्गाप्रसाद पाण्डेय

कला मानव की प्राण-शक्ति और आनन्दबोध का भावरंजित वाह्यरूप है। सृष्टि के हृदय में स्वाभाविक रूप से प्रवहमान शिव और सुन्दर जब सत्य के रूप में उल्लसित होने के लिये जागरूक होते हैं तब उन्हें अनायास ही सहारा मिलता है आत्मा के मूल रूप आनन्द का[1] और वे रंग, रूप, क्रिया, रस, स्वर, ताल, भाव और छन्द के माध्यम से रस की सृष्टि करते हैं। यह रस ही उस चरम सत्य के साक्षात्कार का साधन बनता है, इसीलिये अन्तर्द्रष्टाओं ने कहा है—'रसो वै सः।'

संगीत-कला में रस की अनुभूति को सहज और स्वाभाविक रूप में कराने की अद्भुत क्षमता है। साधना और विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि संगीत केवल मानव को ही आत्म-विभोर नहीं बनाता बल्कि पशु-पक्षी और पेड़-पौधों में भी आनन्द की लहर और तन्मयता की झंकार पैदा करने की अद्भुत शक्ति उसमें है,[2] और यहाँ तक कि प्रकृति के नैसर्गिक तरङ्गों में भी उससे उद्वेलन पैदा हो जाया करता है। संगीत से दीपक का जल जाना, बादल का उमड़-घुमड़ कर बरसने लगना आदि बातें अनुभव और प्रयोगसिद्ध हैं।

संगीत एक प्राण-धर्मी वस्तु है। प्राण के प्रकाश को, आनन्द के प्रवाह को व्यक्त करने के लिये आदि मानव से लेकर आज तक का मनुष्य दुनिया के हर कोने में, समाज के हर स्तर पर और उन्नति के हर पहलू में संगीत का सहारा लेता रहा है और लेता है। उन सब के संगीत की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं और अपना एक खास स्थान है,[3] पर भारतीय संगीत की विशेषता बेजोड़ है।

विश्व में हर देश का संगीत जन-मानस को आप्लावित करनेवाले श्रद्धा और भक्ति, प्रेम और विरह, दुःख और करुणा तथा उत्साह और शौर्य के संवेग को मूर्तरूप

---

१. आनन्दमेवाऽमृतं विभाति यत्।

२. इस सम्बन्ध में डॉ० सर जगदीशचन्द्र बोस एवं पशुविज्ञान के विशेषज्ञ डॉ० जार्ज केर नित्स की खोज प्रसिद्ध है।

३. तत्तद्देशस्थया रीत्या यत् स्याल्लोकानुरंजनम्।
गीत वादित्रनृत्यानां रक्तिः साधारणो गुणः॥

संगीत दर्पण १।६

देने का रसभीना माध्यम रहा है और है, पर भारतीय संगीत में उपरोक्त गुणों के साथ-साथ कुछ और भी है। भारतीय संगीत, साहित्य और कला का आदर्श केवल रसानुभूति और रस-परिणति तक ही सीमित नहीं बल्कि रस-रूप का साक्षात्कार है, इसीलिये भारतीय-कला के परिवेश में दर्शन, योग और तन्त्र का सुन्दर समन्वय है।

भारतीय ऋषियों ने सृष्टि के उद्भव का कारण परमात्मा की इच्छा-शक्ति (Cosmic Desire) को माना है—'एकोऽहं वहुस्याम', और इस इच्छा-शक्ति के प्रसारण और संकोचन के विलास में ही सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया का दर्शन किया है। प्रकृति परमात्मा की इच्छा-शक्ति का आलम्बन है और जगत् है उसके स्फुरण का प्रतिविम्व। जगत् को साधन बनाकर ही जगन्नियन्ता की साधना और साक्षात्कार को पाया जा सकता है। यही भारतीय जीवन का दर्शन है और भारतीय दर्शन की प्राणधारा।

इस तथ्य को भारतीय-संगीत के सर्जकों ने गहराई से अनुभव किया था। यही कारण है कि उन्होंने 'नाद' को ब्रह्म का रूप—'नादो ब्रह्म समाख्यातं'[४], स्वीकार करते हुए जगत् के प्राण और स्पंदन को 'नाद' का विलास तथा इच्छा-शक्ति का स्फुरण माना है, तथा जगत् की चेतना का आधार 'नाद' को ही स्वीकार किया है—'तस्मान्नादात्मकं जगत्'[५]।

संगीत का आधार है 'स्वर' और स्वर का उत्स है 'नाद' जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का दाता है—'चतुर्वर्ग फलप्रदम्'[६]। इतना ही नहीं भारतीय संस्कृति ने संगीत को साधना का साधन[७], और ईश्वर के साक्षात्कार के लिए एक आध्यात्मिक सहारा माना है।[८] इसे

---

४. संगीत दर्पण, १।१४

५. वही।

६. नारद संहिता, १।१७

७. पूजा-कोटिगुणं ध्यानं, ध्यानात् कोटिगुणं जपः।
जपात् कोटिगुणं गानं, गानात् परतरं न हि॥
गीतज्ञो यदि गीतेन (योगेन इति, ३।११६, याज्ञवल्क्य स्मृति धृत पाठः)
चाप्नोति परमं पदम्। रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते॥ संगीत संहिता, १।३६-३७

८. त्रिवर्ग फलदाः सर्वे दानाध्यय जपादयः।
एकं संगीत विज्ञानं चतुर्वर्गफलप्रदम्॥
हर्षादि सुखदो धर्मो धनकामौ नृपादितः।
निष्कामं तदनुष्ठानं मोक्षस्तस्मात्तदभ्यसेत्॥ गान्धर्व वेदः
काव्यालापाश्च ये केचित् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मनः।
सर्वेषामेव पुण्यानामस्ति संख्या यशस्विनी।
क्रमाच्चगीयते येन तस्य संख्या न विद्यते॥ विष्णु पुराण, १।२२।८३

यज्ञ-पूजन, क्रिया-कर्म का आवश्यक अंग तथा भौतिक सुख के लिए समर्थ साधन के रूप में भी स्वीकार किया है;[९] और इसे पंचम वेद के रूप में भी अंगीकार किया है।[१०]

उपरोक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए संगीत-कला की पृष्ठभूमि का विवेचन करने के पूर्व दो बातों को स्पष्ट कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है—एक तो भारतीय संगीत में सांस्कृतिक समन्वय का अद्भुत दर्शन और दूसरा 'संगीत' शब्द का अपने वर्तमान अर्थ में व्यवहृत किए जाने की ऐतिहासिकता।

सम्भवतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि विश्व में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ अनेकों संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आईं—विजेता के रूप में, जिज्ञासु के रूप में, व्यापार की लालसा से और इसकी मनोहरता से प्रेरित होकर, पर सबकी रस-वाहिनी को भारतीय संस्कृति की जाह्नवी ने इस तरह आत्मसात् कर लिया कि वे गंगा के पावन-प्रवाह की तरह एक रूप, एक रस और निर्मलता का एक अंग बन गईं। भारतीय जीवन और भारतीय दर्शन ने उनसे बहुत कुछ पाया और उन्हें अपने रूप में परिणत कर लिया। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक अद्भुत अनुभूति की कविता ने इस तथ्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है :

हे मोर चित्त, पुण्यतीर्थे जागोरे धीरे,
एई भारतेर महामानवेर सागर तीरे।
केह नाहि जाने, कार आह्वाने, कतमानुषेर धारा,
दुर्वार स्रोते एलो कोथा हते, समुद्रे हलो हारा।
हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे होलो लीन।
रणधारा बहि, जयगान गहि, उन्माद कलरवे,
भेदि मरुपथ, गिरि-पर्वत यारा एसोछिलो सबे,
तारा मोर माझे सबाई विराजे केहो नहे नहे दूर,
आमार शोणिते रयेछे ध्वनित तारि विचित्र सूर।[११]

इसका आशय यह है कि भारत देश महामानवता का पारावार है। ओ मेरे हृदय!

---

९. सुखिनि सुखनिधानं दुःखितानां विनोदः,
श्रवण-हृदयहारी मन्मथस्याग्रदूतः।
अतिचतुर-सुगम्यो वल्लभः कामिनीनाम्,
जयति जयति नादः पञ्चमश्चोपवेदः॥ संगीत भाष्य, १।३६

१०. पूर्ण चतुर्णां वेदानां सारामाकृष्य पद्मभूः।
इदं तु पञ्चमं वेदं संगीताख्यमकल्पयत्। वही, १।३९

११. संचयिता, पृ० ५०६, षष्ठ संस्करण

इस पवित्र तीर्थ में श्रद्धा से अपनी आँखें खोलो। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किस के आह्वान पर मनुष्यता की कितनी धाराएँ दुर्वार वेग से बहती हुई कहाँ-कहाँ से आईं और इस महासमुद्र में मिलकर खो गईं। यहाँ आर्य हैं, यहाँ अनार्य हैं, यहाँ द्रविड़ और चीन-वंश के लोग भी हैं। शक, हूण, पठान और मोगल, न जाने कितनी जातियों के लोग इस देश में आए और सबके सब एक ही शरीर में समाकर एक हो गए। समय-समय पर जो लोग रण की धारा बहाते हुए एवं उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तान को पार कर एवं पर्वतों को लाँघ कर इस देश में आए थे, उनमें से किसी का भी अब अलग अस्तित्व नहीं है। वे सब के सब मेरे भीतर विराजमान हैं। मुझसे कोई भी दूर नहीं है। मेरे रक्त में सबका सुर ध्वनित हो रहा है।'

भारतवर्ष के इतिहास के करीब चार हज़ार वर्ष पूर्व के उस दृश्य को सामने कीजिए जहाँ मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर थी। भव्य-भवन, सुन्दर पक्की गलियाँ, स्नानागारों पर का जमघट, रंग-बिरंगे छपे-रँगे कपड़ों में सजे-धजे इन्द्र-धनुषी नर-नारी, सोने-चाँदी के ज़ेवरों की चमचमाहट, हास-विलास और रंगरेलियों से भरा हुआ जीवन तथा योग की साधना और पशु-पूजन में आस्था, और दूसरी ओर दक्षिण-भारत की विकसित और समृद्ध द्रविड़-सभ्यता, अपने देवी-देवताओं, पूजा-अर्चन तथा गान, ज्ञान और ध्यान से भरी हुई। इनके अलावा तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना और पितृ-पूजा में आस्थावान तरह-तरह के आदिवासियों की जीवन्त और मोहक सभ्यताओं से लहलहाता हुआ भारतवर्ष का सुन्दर, सुघड़ और समृद्ध कलेवर, और फिर देखिए : 'गावो में प्राणः' के विश्वासी प्रतिभाशाली, पर मस्त, अल्हड़, भावुक, आनन्दी और प्रकृति के प्रेमी, हट्टे-कट्टे, आजानुबाहु और वृषभकन्ध आर्यों का दल। बढ़ते आ रहे हैं इस विश्वास पर कि 'चलते चलो, क्योंकि चलने से ही तो मधुपान करने के लिए मिलता है और चलने से ही स्वादिष्ट उदुम्बर (गूलर) खाने को मिलते हैं—"चरैवेति, चरन् वै मधुविन्दति चरन् स्वादु उदुम्बरम् चरैवेति।" चलते रहते हैं और आ पड़ते हैं सिन्धु नदी के तट तक। वहाँ की सभ्यता और वहाँ के लोग उन्हें आकर्षक मालूम पड़ते हैं और यह आकर्षण ही युद्ध का कारण बन जाता है। इन घुमक्कड़ों का सामना जीवन में मदमस्त और ऐश्वर्य से नाजुक मोहनजोदड़ो-हड़प्पा के लोग नहीं कर पाते हैं। सारी सिन्धु घाटी गूँज उठती है :

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं
जयन्तम् अज्म प्रमृणन्तम् ओजसा।
इमं सजाता अनु वीरयध्वम्,
इन्द्रं सखायो अनु संरभध्वम्॥

ऋग्वेद, १०।१०३।६

'किलों को तोड़ने वाले, धरती को जीतने वाले, बिजली को धारण करने वाले, जो सेना को परास्त करते हैं और अपनी शक्ति से उसका विनाश कर देते हैं, उस इन्द्र के साथ-साथ ऐ साथियो चलते चलो। बहादुर और दोस्त की तरह अपने कर्तव्य को पूरा करो।'

यायावर प्रकृति की स्वाभाविक प्रेरणा तथा अपनी विजय के उत्साह, उमंग और विश्वास के बल पर ये हिमालय से कन्याकुमारी तक अपनी दुन्दुभि से उद्घोषित कर डालते हैं। आर्यों का आगमन, विजय और मिलन एक नई संस्कृति, नई परम्परा और नये जीवन-दर्शन का प्रादुर्भाव भारत में करता है। यजुर्वेद की यज्ञवहुल और अथर्ववेद की तरह-तरह के विश्वास और आस्थाभरी सभ्यता का जन्म होता है। यह सामासिक सभ्यता भारतीय संस्कृति की आधारशिला है और भारतीय जीवन-दर्शन का मूल स्रोत है।

यहाँ इसका संक्षेप में मैंने इसलिए उल्लेख किया है कि इसको ध्यान में रखे विना हम भारतीय संगीत-कला के उद्भव एवं विकास का ठीक-ठीक अन्दाज़ नहीं लगा सकते। आर्चिक, गाथिक, सामिक, स्वरान्तर, औड़व, षाड़व एवं सम्पूर्ण गान के स्वरों का विकास-क्रम तथा उनका देशी और मार्ग-संगीत की श्रेणी में विभाजन की प्रक्रिया इस बात को स्पष्ट कर देती है कि किस तरह संस्कृतियों के समन्वय, अदान-प्रदान ने भारतीय संगीत-कला के शरीर को पुष्ट और मोहक बनाया है। यह सोचना आधारहीन न होगा कि ऋग्वैदिक-काल के आर्यों का संगीत केवल लोक-संगीत के रूप में रहा होगा जबकि एक, दो या तीन स्वर में ही उनके सारे आर्चिक, गाथिक और सामिक गान का कलेवर पूर्ण हो जाया करता था[१२], पर धीरे-धीरे उन्होंने उन सारी जातियों के संगीत की विशेषताओं को अपने संगीत में अन्तर्मुक्त कर लिया जो उनके सम्पर्क में आती गईं। प्रचलित संगीत को 'देशी', और उनकी विशेषताओं से अपने संगीत को परिमार्जित, परिवर्धित कर उसे 'मार्गी' के नाम से सम्बोधित किया, क्योंकि उनकी यह नई संगीत-परम्परा 'मार्गी'-खोजी हुई और मार्ग पर लगाई हुई, थी। इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न आगे किया जाएगा।

संगीत शब्द का व्यवहार आज जिस अर्थ में किया जाता है उस अर्थ में इसका प्रयोग कब से होने लगा, इसकी स्पष्टता भी आवश्यक है। 'संगीत' शब्द नृत्य, गीत और वाद्य, इन तीनों कलाओं को एक साथ व्यक्त करता है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि 'मकरन्द'-कार नारद के पहले इस शब्द का उपयोग इस अर्थ में किसी ने नहीं किया है। सबसे पहले नारद ने ही : 'गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते[१३]'

---

१२. बाल-संगीत और लोक-संगीत में दो या तीन स्वर ही लगा करते हैं। सामिक गान में चार पाँच, छः और सात स्वरों का समावेश भी पाया जाता है, पर ऐसा जान पड़ता है कि यह आर्य-संस्कृति के साथ लोक-संस्कृतियों के मिलन और आदान-प्रदान का ही परिणाम है

१३. संगीत मकरन्द, १।३।९

कहा है। नाट्यशास्त्रकार भरत से प्रारम्भ करके दण्डिल (या दत्तिल), ब्रह्मा, कश्यप, याष्टिक, दुर्गाशक्ति, कोहल, विश्वाखिल, अश्वतर, विश्वावसु, तुम्बुरु, शिक्षाकार नारद और यहाँ तक कि पार्श्वदेव तक ने अपने-अपने संगीत-ग्रन्थों 'संगीत' शब्द का व्यवहार नहीं किया है।[१४] प्रातिशाख्य और शिक्षा के युग में तथा ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद के किसी भी प्रातिशाख्य में, या नारदी, याज्ञवल्क्य, मनःसार प्रभृति शिक्षा ग्रन्थों में—कहीं भी 'संगीत' शब्द का व्यवहार उपरोक्त अर्थ में नहीं हुआ है। ब्राह्मण, संहिता और धर्मसूत्रों में भी 'संगीत' शब्द का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। 'संगीत' शब्द का जिस अर्थ में आज व्यवहार होता है उसके लिए उपरोक्त ग्रन्थों में 'गान', 'गीति', 'गाथा' और 'गान्धर्वगान' शब्द का व्यवहार हुआ है। इसके अतिरिक्त आर्षेय एवं सामविधान ब्राह्मण में तथा सामतन्त्र में अरण्यगेयगान, ग्रामगेयगान, उहगान तथा स्तोभ एवं रहस्यगान का उल्लेख है। वैदिक साहित्य में वाद्य की जहाँ चर्चा है वहाँ वीणा, मृदंग, वेणु आदि का वर्णन है और नृत्य तथा गान का अलग-अलग करके उल्लेख किया गया है। वैदिक युग में पुरोहित वैदिक मन्त्रों का गान करते थे और विज्ञजन यज्ञवेदी के चारों ओर बैठकर ताली वजा-बजाकर गाथिक, सामिक और स्वरान्तर लय में ऋचाओं का गान करते थे। नाट्य शास्त्रकार भरत ने 'नृत्य' और 'नृत्त' शब्द के स्थान पर 'नाट्य' शब्द का व्यवहार किया है। नाट्य की पूर्णता एवं रसात्मकता गान, वाद्य, नृत्य और कथोपकथन की प्रांजलता एवं सामंजस्य पर निर्भर करती है, इसीलिए नाट्यकला का निरूपण करते हुए उन्होंने कहा है—'एवं गानं च विविधा श्रयम्।'[१५] इससे यह सोचा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र कार ने भी गान का परिपोषक नाट्य और नृत्य को माना है, पर उन्होंने इसे स्पष्ट रूप से कहीं कहा नहीं है। नाट्यशास्त्र से लेकर बृहद्देशी, मकरन्द, रत्नाकर, पारिजात, राग-विबोध, संगीत दर्पण एवं संगीत समयसार के समय तक गीत, वाद्य और नृत्य का काफी प्रचलन था। पर 'संगीत' शब्दका प्रयोग उपरोक्त तीनों कलाओं का बोधक केवल ७वीं से ११वीं शताब्दी तक ही रहा। आज संगीत शब्द केवल गान-मात्र का बोधक रह गया है।

यह पहले कह आए हैं कि संगीत का आधार है 'स्वर' और स्वर का उत्स है 'नाद'। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने योगशास्त्र, तन्त्रशास्त्र आदि में नाद की विवेचना जितनी गहराई से की है उतनी ही गहराई और तन्मयता के साथ भारतीय संगीत-शास्त्र के निष्णात आचार्यों ने इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। नाद शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—'न' प्राणवायु का द्योतक है और 'द' द्योतक है अग्नि का, इसलिए

---

१४. स्वामी प्रज्ञानानन्द, 'राग और रूप' पृ० ७२; इन्हीं का प्रबन्ध 'संगीत मकरन्द ओशिक्षाकार नारद', प्रवासी, १३५३ वैशाष संख्या, पृ० ४४-५०

१५. नाट्यशास्त्र, (काशी संस्करण) २८, ७

'नाद' मानव की उस शक्ति का द्योतक है जो उसके प्राण के स्पन्दन और जीवन की आग को प्रकट किया करता है।

नकारः प्राण वायुः स्यात् दकारो हव्यवाहनः।
तत् समुत्पद्यतेयस्मात्तस्मान्नादोऽयमुच्यते ॥[16] नारद संगीत

नाद के प्रकटीकरण की इस प्रक्रिया को संगीत दर्पण[17] ने स्पष्ट करते हुए कहा है : आत्मा से प्रेरित चित्त जब शरीर की अग्नि (इच्छा-शक्ति या प्राणवायु) का सहारा लेता है तब ब्रह्मग्रन्थि[18] में रहने वाला प्राण उसे प्रेरित करता है और वह इस प्रकार प्रेरित होकर ऊपर की ओर चक्रों[19] में घूमता हुआ नाभि में अत्यन्त सूक्ष्म, पर हृदय में कुछ सूक्ष्म

१६. नकारं प्राण नामानं (प्राणमानन्दो) दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्नि संयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥
आकाशाग्नि-मरुज्जीवो नाभेरूर्ध्वं समुच्चरन।
मुखेऽभिव्यक्तिमायाति यः स नादः प्रकीर्तितः ॥
नारद संहिता, १।१७-१८

१७. १।२४-२७; संगीत मकरन्द, ४।१८; संगीत रत्नाकर, १।३।६

१८. आधाराद् द्वयङ्गुलादूर्ध्व मेहनाद् द्वयङ्गुलादधः।
एकाङ्गुलं देह मध्ये तप्त जाम्बूनद प्रभम् ॥
तत्रास्तेऽग्निशिखा तन्वी चक्रात्तस्मान्नवाङ्गुलैः ॥
देहस्य कन्दो ह्युत्सेधो यन्नाभ्यां चतुरङ्गुलः।
ब्रह्म ग्रन्थि रिति प्रोक्तमस्य नाम पुरातनैः ॥
संगीत रत्नाकर, १।२।१४५-१४७

१९. गुदलिङ्गान्तरे चक्रमाधाराख्यं चतुर्दलम्।
स्वाधीष्ठानं लिङ्गमूले षड्दलं चक्र संज्ञकम् ॥
नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरक संज्ञकम्।
हृदयेऽनाहतं चक्रं शिवस्य प्रणवाकृतेः ॥
पूजास्थानं तदिच्छन्ति युतं द्वादशभिर्दलैः।
कण्ठे तु भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम् ॥
तत्र षड्जादयः सप्त स्वराः सम्यक् प्रभेदतः।
ललनाख्यं घण्टिकायां चक्रं द्वादश पत्रकम् ॥
भ्रूमध्ये द्विदलं चक्रमाज्ञासंज्ञं मनोरमम्।
ततो प्यस्ति मनश्चक्रं षड्दलं सर्व सौख्यदम् ॥
ततोऽपि षोडशदलं सोम चक्रं प्रकीर्तितम्।
चक्रं सहस्र पत्रन्तु ब्रह्मरन्ध्रे सुधाधरम् ॥
तत् सुधासारधाराभिरभि वर्धयते तनुम्।
सुषुम्नया ब्रह्मरन्ध्रमारोहत्यवरोहति ॥
जीवः प्राण समारूढो रज्वा कोलाटिको (रज्वा कोल्लाटको, इति पाठान्तरम) यथा :
एवं विधे तु देहेऽस्मिन् मल सञ्चय सम्वृते।
प्रसाधयन्ति धीमन्तो भुक्ति मुक्तिमुपासतः ॥
संगीत दर्पण, शरीर विवेक, १।१२-२६

होता हुआ मुख में कृत्रिमता के साथ, अर्थात् व्यक्ति की संस्कृति, शिक्षा एवं वातावरण के अनुकूल बनता हुआ, प्रकट हुआ करता है।

आत्मना प्रेरितं चित्तं वह्निमाहन्ति देहजम्।
ब्रह्मग्रन्थिस्थितं प्राणं स प्रेरयति पावकः।।
पावकः प्रेरितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वं पथे चरन।
अति सूक्ष्म ध्वनिर्नाभौ हृदि सूक्ष्मं गले पुनः।।
पुष्टं शीर्षेत्वपुष्टं च कृत्रिमं वदने तथा।
आविर्भावयतीत्येवं पञ्चधा कीर्त्यते बुधैः।।

प्राणवायु[२०] को दर्शनशास्त्र ने 'शब्द ब्रह्म' तथा तन्त्रों ने 'कुण्डलिनी' आदि नामों से व्यवहृत किया है।

नाद दो प्रकार का है—एक 'आहत' और दूसरा 'अनाहत'। आहत नाद का आधार आकाश है—'शब्द गुणकं हि आकाशम्'। एक ध्वन्यात्मक है दूसरा वर्णात्मक। एक व्यक्ति को आह्लादित करने वाला है और दूसरा मुक्तिदायक।

आकाश सम्भवो नादस्तथानाहत उच्यते।
आहतो नाद माकृष्य तथानाहत संज्ञकम्।।
एको ध्वन्यात्मको ज्ञेयः परोवर्णात्मकस्तथा।
स नादो द्विविधः प्रोक्तो नादशास्त्र विशारदैः।।

---

२०. प्राणापान तथा व्यान समानोदान संज्ञकाः।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः।।
(दशेति वायु विकृतिस्तथा गृह्णाति लाघवम्।)
तेषां मुख्यतमः प्राणो नाभिकन्दादधः स्थितः।
चरत्यास्ते नासिकयोर्नाभौ हृदयपंकजे।।
शब्दोच्चारण निःश्वासोच्छ्वासकासादिकारणम्।
अपानस्तु गुदे मेढ़े कटि जङ्घोदरेपु च।।
व्यानोऽक्षि श्रोत्रगुल्फेपु कट्यां घ्राणे च तिष्ठति।
समानो व्याप्य निखिलं शरीरं वह्निना सह।।
(द्विसप्तति सहस्रेपु नाड़ि रन्ध्रेपु संचरन्।
भुक्त पीत रसान् सम्यगानयन् देहपुष्टिकृत।।
उदान पादयोरास्ते हस्तयोरङ्ग सान्धिपु।
त्वगादि धातुनाश्रित्य पञ्चनागादयः स्थिताः।।

संगीत रत्नाकर, १।२।५६-६७

आहतो रञ्जकः प्रोक्तोऽनाहतो मुक्तिदायकः ।
सोयं प्रकाशते पिण्डे तस्मात् पिण्डोऽभिधीयते ।।[२१]

उपरोक्त विवेचन के बाद हमारे सामने यह स्पष्ट है कि नाद की रंजकता स्वर के रूप में प्रकट होती है—'स्वयं यो राजते नादः स स्वरः परिकीर्तितः' (संगीतदर्पण, १।२८) मानव की सारी भाव-धारा को मोहक एवं मूर्तरूप देने का श्रेय स्वर को है और यह स्वर ही संगीत का प्राण है ।

आज का संगीत सात स्वरों के विलास का रस-रंजित प्रदर्शन है। पर ये सात स्वर किस प्रकार भारतीय संगीत में अन्तर्भुक्त हुए यह एक विवेचना का विषय है। हम पहले यह संकेत कर आये हैं कि आर्चिक युग के संगीत में—जिसे हम भारतीय संगीत के इतिहास का एकमात्र ज्ञात पुरातन युग कह सकते हैं, केवल एक स्वर का ही उपयोग हुआ करता था[२२]। वह स्वर षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद, इन

---

२१. तत्रानाहत नादन्तु मुनयः समुपासते ।
गुरूपदिष्ट मार्गेण मुक्तिदं नतु रञ्जकम् ।।
सनादस्त्वाहतो लोके रञ्जको भव भञ्जकः ।।
—संगीत दर्पण, १।१४-१६

आहतो रञ्जकः प्रोक्तोऽनाहतो मुक्तिदायकः ।
—नारदपुराण

सच शक्ति विहीनत्वान्नमनोरञ्जकोनॄणाम् ।
—रागतत्त्व रत्नाकर, ६।७-१२

आकाश संभवो नादो यः सोऽनाहत संज्ञितः ।
तस्मिन् अनाहते नादे विरामं प्राप्य देवताः ।।
योगिनोऽपि महात्मानस्तदानाहत संज्ञके ।
मनो निक्षिप्य संयान्ति मुक्ति प्रयतमानसः ।।
—संगीत रत्नाकर, १।४-५

आहतोऽनाहतश्चेति सनादो द्विविधोमतः ।
यत्रोभयश्च संयोगः आहतः स प्रकीर्तितः ।।
नारद संगीत

न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वरः ।
न नादेन विना ग्रामस्तस्मान्नादात्मकं जगत् ।। वही,

२२. श्री हुलुगार कृष्णाचारी ने—*The Journal of the Music Academy* (Madras), Vol. I, January (1930), No 1,p. 158, आश्वलायन श्रौत सूत्र का हवाला देते हुए कहा है कि आर्चिक गान एकस्वरी गान ही हुआ करते थे 'एक श्रुत्यम्' एक श्रुति सतत-मनुब्रुयान् । परः सन्निकर्षः । १।१।१

एकस्वर प्रयोगोह्यार्चि कस्त्वभि धीयते ।
गाथिको द्विस्वरो ज्ञेयस्त्रिस्वरश्चैव सामिकः ।।

उद्धृत—*Hindustani Music, An out Line of its Physics and Asthetics*, G. H. Ranade, पृ० १८२ ।

सात स्वरों में से कौन स्वर था, इसे आज तक सर्वमान्य मान्यता नहीं मिल पाई है। पर, अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि मध्यम याने 'म' को ही आर्चिक युग का स्वर मानना चाहिये[२३]। कुछ विद्वानों ने निषाद 'नि' स्वर को ही आदि स्वर माना है। पर नारदी शिक्षाकार नारद ने, 'यः सामगानं प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः' कहकर मध्यम—'म' को ही प्रथम स्वर के रूप में स्वीकार किया है। सामवेद के भाष्योपक्रम शिक्षा में आचार्य सायण ने 'धैवत', 'ध' को प्रथम स्वर माना है। श्री स्वामी शंकरानन्द ने वैदिक देवताओं के क्रमिक विकास की तरह सात स्वरों का भी क्रमिक-विकास माना है। उन्होंने कहा है—'This evolutionary process of the musical notes is very much the same as that of the vedic dieties in the Aryan society."[२४] श्री स्वामीजी ने कहा है कि वरुण या आकाश सृष्टि के आदि देवता हैं, क्योंकि ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल के प्रारम्भ में ही वरुण का उल्लेख मिलता है। वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में वरुण की कल्पना 'आकाश' के रूप में की गई है। उसी तरह 'अपः' का अमृत, इन्द्र, समुद्र, अग्नि, मित्र या सूर्य के रूप में उल्लेख किया गया है। वैदिक युग में आकाश की कल्पना जो समुद्र (क्षीरोद समुद्र) के रूप में की गई है, उसका निदर्शन ऋग्वेद तथा शतपथ, वाजसनेयी ब्राह्मण और संहिता-ग्रन्थों में पाया जाता है। जैसे 'द्यौ समुद्रः' (वाजसनेयी, २३।४२), 'द्याम् वर्षयताम्' (ऋग्वेद, ५।६३।६), 'आपो पूर्वे समुद्रे योनिः···तस्यपूर्वे समुद्रे योनिः (वृहदारण्यक, १।१।२)। अपः (जल) को अग्नि के रूप में भी स्वीकार किया गया है, 'अग्निम् समुद्रवाससम्' (ऋग्वेद ४।१०२।४, ४।५।६); वरुण को सूर्य के रूप में कल्पित किया गया है—'स वा एषो (सूर्यः)ऽपः प्रविश्य वरुणो भवति', (कौषीतकी, १८।८); 'वरुण आदित्यः', (तैतरेय ब्राह्मण, १।२४); 'यो वै वरुणः सोऽग्निः', (शतपथ ब्राह्मण, ५।२।४।२३); 'आपो वा अर्कः' (वृहदारण्यक उप० १।१।२) इत्यादि ग्रन्थों में इसके अनेकों उल्लेख हैं।

वेद और ब्राह्मण युग में द्यौ, पृथिवी, वरुण तथा अग्नि और मित्र प्रधान देवता के रूप में स्वीकार किये गये हैं, पर वरुण इस क्रम में प्रथम देवता के रूप में माने गये हैं। द्वितीय स्तर पर मित्र या सूर्य और तृतीय स्तर पर पृथ्वी को स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद तथा सारे पुराणों ने भी यह स्वीकार किया है कि विश्व सृष्टि के पूर्व में जल से

---

२३. श्री सुब्बाराव ने अपने निबन्ध—'*A Plea for a Rational Interpretation of Sangita* Sāstra' में सात स्वरों की उत्पत्ति का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। इन्होंने 'म' को ही आदि स्वर माना है। देखिए—*The Journal of the Music Academy* (Madras 1938), Vol. IX. Parts 1-IV, pp. 49-67

२४. '*The Rigvedic Culture of the Pre-Historic Indus*' Vol. II, p. 50.

आवृत था, इसलिये यह जल तत्त्व ही सृष्टि का आदि तत्त्व है। इस आदि तत्त्व का वर्ण-बीज 'तन्त्राभिधान'[२५] के मत से मध्यम स्वर (म) है। वैदिक देवता तन्त्रशास्त्र में बीज के रूप में प्रकट किये गये हैं। मध्यम 'म' को इसलिये आदि स्वर के रूप में स्वीकार करना उचित है। मध्यम स्वर को ही सोमनाथ ने अपने 'राग विबोध' ग्रन्थ में 'स्वयम्भू' के रूप में स्वीकार किया है।[२६] सार्ङ्गदेव ने अपने 'संगीत रत्नाकर' में कहा है—'ग्रामे स्यादविलोपित्वान्मध्यमस्तु पुरः सरः', (१।४।६)। इनके टीकाकार कल्लीनाथ ने अपनी टीका में, 'मध्यमस्याविनाशित्वमिति' कहकर मध्यम स्वर के स्वयम्भूत्त्व को एक प्रकार से स्वीकार किया है। भरतमुनि के समसामयिक दत्तिल का भी यही मत है, इसका उल्लेख भी कल्लीनाथ ने किया है, 'मध्यमस्याविलोपित्त्वमुक्तं दत्तिलेन···अलोपिनं विजानीयात् सर्वत्रैव तु मध्यमम्।' यही कारण है कि षाड़व, औड़व और सम्पूर्ण ठाटों में भी मध्यम स्वर का लोप नहीं हुआ करता। आज भी मध्यम स्वर को सभी 'ठाटों' के बीच का स्वर मानकर चलते हैं। सिंह भूपाल ने कहा है—'षड़वि तत्त्वं औड़वि तत्त्वे च मध्यमस्य लोपो नास्ति, देवकुले उत्पन्नत्वात्।' मध्यम को आधार बनाकर ही पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग रागों का निर्णय किया जाता है। उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आर्चिक युग का स्वर मध्यम ही था धैवत और निषाद नहीं थे।

संगीत में आर्चिक युग के बाद हम गाथिक युग को पाते हैं। गाथाओं के गान में दो स्वरों का ही उपयोग किया जाता था। इस युग के प्रधान वैदिक देवता थे मित्र और वरुण और व्यवहार में लाये जाने वाले स्वर थे पञ्चम और मध्यम। तन्त्राभिधान के मत से मित्र और वरुण का बीजमन्त्र है 'प' और 'म'। इसी तरह तीन स्वरों को व्यवहार में लाने वाले युग को सामिक युग के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके प्रधान देवता थे द्यौ (आकाश), पृथिवी और मित्र (सूर्य) और प्रचलित प्रारम्भिक स्वर थे मध्यम, षड्ज और पञ्चम और 'म', 'स', 'प' इन देवताओं के वर्णबीज थे। इस बात को पण्डित हुलूगार कृष्ण चारी[२७] तथा श्री सुब्बाराव[२८] ने भी स्वीकार किया है।

विकास-क्रम के हिसाब से एक स्वर से सात स्वरों का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ है और उनके वैदिक नाम तथा देवता क्या थे और उनके लौकिक नाम का उल्लेख

---

२५. श्री पंचानन भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, बीजनिघण्टू, बीजाभिधान, मन्त्रार्थाभिधान, वर्ण-बीजकोप, मुद्रनिघन्टू के साथ, द्वितीय संस्करण, १९३१।

२६. इन्होंने पञ्चम और षड्ज स्वर को भी स्वयम्भू माना है।

२७. *The Journal of the Music Academy* (Madras), Vol. I, April (1930), No. 2, p. 159.

२८. वही, Vol. IX, (1938), parts I-IV, p. 49.

राग और रूप[२९], ग्रन्थ के विद्वान् लेखक श्री स्वामी प्रज्ञानन्द ने निम्नलिखित रूप में किया है :

संख्या	स्तर या युग	वैदिक देवता	लौकिक स्वर	वैदिक स्वर
१.	आर्चिक	वरुण	मध्यम	प्रथम
२.	गाथिक	वरुण और मित्र	मध्यम-पञ्चम	प्रथम-कुष्ट
३.	सामिक	वरुण, मित्र, पृथिवी	मध्यम पञ्चम षड्ज	प्रथम, कुष्ट चतुर्थ
४.	स्वरान्तर	वरुण, मित्र, पृथिवी अग्नि	मध्यम, पञ्चम, षड्ज, गान्धार	प्रथम, कृष्ट चतुर्थ, द्वितीय
५.	औड़व	वरुण, मित्र, पृथिवी अग्नि, आकाश	मध्यम, पञ्चम, षड्ज, गान्धार ऋषभ	प्रथम, कृष्ट, चतुर्थ, द्वितीय तृतीय
६.	षाड़व	वरुण, मित्र पृथिवी, अग्नि आकश, द्यौ	मध्यम, पञ्चम, षड्ज, गान्धार, ऋषभ, निषाद	प्रथम, कृष्ट, चतुर्थ, द्वितीय, तृतीय, अति-स्वायी
७.	सम्पूर्ण	वरुण, मित्र, पृथिवी, अग्नि, आकाश, द्यौ, मरुत	मध्यम, पञ्चम षड्ज, गान्धार ऋषभ, निषाद धैवत	प्रथम, कृष्ट, चतुर्थ, द्वितीय, तृतीय, अति-स्वायी, मन्द्र

अब हमें देखना यह है कि वैदिक स्वर-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के साथ उपरोक्त स्वयंभू स्वरों—म-स-प का मेल किस तरह बैठता है। उदात्त से उच्च स्वर, अनुदात्त से निम्न स्वर और स्वरित से उच्च और निम्न दोनों के बीच का समतारक्षक स्वर का ज्ञान होता है। याज्ञवल्क्य के मत में गान्धर्ववेद के सात स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के ही अन्तर्भुक्त हैं। कुछ लोगों ने उदात्त आदि को तीन स्वर न मानकर स्वर के तीन स्थान माने हैं। इस बात का अनुमोदन ऋक् तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने किया है—'त्रिणी मद्रं मध्यममुत्तमञ्च'। पर, काशिका वृत्तिकार ने इसे नहीं माना है। उनका

२९. 'राग और रूप', प्रकाशक, श्री रामकृष्ण वेदान्त आश्रम, दार्जिलिंग, प्रथम संस्करण, १९४९, पृ० ७७।

कहना है कि यदि कोई ऊँचा बोलता है या ऊँचे पढ़ता है तो उसे यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह उदात्त में बोलता या पढ़ता है—'उच्चैरिति च श्रुति प्रकर्षो न गृह्यते। उच्चैभापते उच्चै पठतीति।' पाणिनी के सूत्र ४-२-२६ की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने कहा है—'उदात्तादिशव्दः स्वरे वर्णधर्मे लोकवेदयोः प्रसिद्धः।' यहाँ 'लोकवेदयोः प्रसिद्धः' कहकर वृत्तिकार ने काफी ग्रड़चन पैदा कर दी है, क्योंकि इतना तो सर्वमान्य है कि लौकिक ग्रौर वैदिक स्वरों का जो प्रयोग किया जाता था वह एक तरह से नहीं होता था। दोनों का स्वर-संस्थान ग्रौर उच्चारण का ढंग एक तरह का नहीं है। इसे लेकर मतभेद तो वहुत हैं, पर विद्वान् शोधकर्ता यदि गहराई से छानवीन करें तो इस रहस्य का उद्घाटन होना कुछ कठिन नहीं है।

नारदी, पाणीनीय तथा माण्डूकी ग्रादि शिक्षा-ग्रन्थों के ग्रनुसार उदात्त ग्रादि वैदिक स्वर ही विकास-क्रम से सात स्वरों के जन्मदाता हैं।

ऊच्चौ निषाद गान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिताज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

यों निश्चित निर्णय पर पहुँचने के लिए ग्रभी काफी ग्रध्ययन एवं शोध की ग्रावश्यकता है, पर स्वरों के विकास-क्रम की रीति को देखने से यही स्पष्ट होता है कि 'म-प-स' ये ही तीन स्वर सामिक युग के ग्रादि स्वर थे।

भारतीय मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्यकला या संगीतकला, किसी भी कला को लें सवके ग्राधार के उत्थापन के लिए भारतीय मनीषियों ने प्रकृति के वैभव ग्रौर निरीक्षण की ग्रनुभूतियों का ही सहारा लिया है। चाहे वे संगीत के ग्राधारभूत तत्त्वों का वर्णन कर रहे हों या चित्र, मूर्ति या स्थापत्य का विवेचन कर रहे हों, विषय को सरल एवं वोधगम्य बनाने के लिए वे प्रकृति के परिवेश से ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

संगीत के ग्राधारभूत सात स्वरों का निरूपण करते हुए ग्रथर्ववेदीय माण्डूकी शिक्षा ने कितना ग्रासान तरीका ग्रपनाया है। प्रकृति के वीच में ही भारतीय जीवन ग्रौर दर्शन पनपा है इसलिए मयूर की बोली ग्रौर गाय का रँभाना किसके लिए ग्रपरिचित हो सकता है, इसलिए बड़े विश्वास के साथ समझा दिया—मयूर षड्ज स्वर में बोलता है, गाय ऋषभ में रँभाती है, बकरी गांधार स्वर में मिमियाती है ग्रौर क्रौञ्च पञ्चम में चहकता है, ग्रौर फूलों से भरी प्रकृति में कोकिल भी पञ्चम स्वर में ही कूकती है। घोड़ा धैवत स्वर में बोलता है ग्रौर हाथी का स्वर निषाद है।

षड्जो वदति मयूरो गावो रंभति चर्षभे।
ग्रजा वदति गान्धारे क्रौञ्चनादस्तु पञ्चमे॥

पुष्प साधारणे काले कोकिलः पञ्चमे स्वरे।
अश्वस्तु धैवते प्राह कुञ्जरस्तु निषादवान् ।।
माण्डूकी शिक्षा, ६-१०; संगीत रत्नाकर (अडयार सं०) पृ० ६१

'संगीत रत्नाकर' की टीका में कल्लीनाथ ने कहा है—'लोकतोऽपि षड्जादि स्वर रूप परिज्ञानाय मयूरादि प्राणिविशेषश्चेति निदर्शनाभिप्रायेणाह—मयूरेति।' टीकाकार सिंह भूपाल ने भी कहा है—'मयूरः षड्जमुच्चरति, चातक ऋषभम्, छागो गान्धारम्, क्रौञ्चौ मध्यमम्, कोकिलः पञ्चमम्, दर्दुरो धैवतम्, गजो निषादमिति च।' पर, दुःख की बात तो यह है कि भारतीय संगीत के इस आधारभूत तत्त्व की प्रामाणिकता के परीक्षण के लिए न तो सरकार की ओर से कोई कदम उठाया गया है और न यहाँ के प्राणी-विज्ञान के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। अभी तक यह तथ्य केवल कपोल-कल्पना के स्तर तक ही बना हुआ है। यह आवश्यक है कि उपरोक्त सिद्धान्त को विज्ञान की कसौटी पर परखने एवं स्थिर करने का प्रयत्न किया जाय।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि संगीत के सात स्वरों के अधिष्ठाता कोई-न-कोई वैदिक देवता हैं और उनका निश्चित तान्त्रिक वर्णबीज है। उदाहरण के रूप में षड्ज स्वर का वैदिक देवता पृथ्वी है, तान्त्रिक बीज 'लं' है और प्राणी के रूप में उसका प्रतीक मयूर है। इसी तरह ऋषभ स्वर का प्राणी प्रतीक वृष है, गान्धार का अज, मध्यम का सारस, पञ्चम का कोकिल, धैवत का अश्व और निषाद का हस्ती है। स्वामी शंकरानन्द जी ने अपनी गवेषणापूर्ण पुस्तक 'Rigvedic Culture of the Prehistoric Indus (Vol. II, p. 49) में एक परिचिति (Chart) दिया है जो उपरोक्त कथन को स्पष्ट करती है :

प्राणी-प्रतीक	स्वर	तान्त्रिक वर्णबीज	तान्त्रिक बीज अनुयायी वैदिक देवता
मयूर	षड्ज	लं (ल)	पृथ्वी
वृष	ऋषभ	शं (श)	वरुण या आकाश
अज	गान्धार	ऐं (ऐ)	अग्नि
सारस	मध्यम	सं (स)	अप (वरुण)
कोकिल	पञ्चम	पं (प)	मरुत् (सूर्य)
अश्व	धैवत	: (विसर्ग)	मरुत् (सूर्य)
हस्ती	निषाद	शं (श)	आकाश

नारदी और माण्डूकी आदि शिक्षा-ग्रन्थों ने शरीर के विभिन्न अंगों से सात

स्वरों की उत्पत्ति माना है[३०], पर उन्हें केवल संकेत मात्र समझना चाहिए। वे उन स्वरों के उत्पत्ति-स्थान नहीं कहे जा सकते।

कण्ठादुत्तिष्ठते षड्ज ऋषभः शिरसस्तथा।
नासिकायास्तु गान्धार उरसो मध्यमस्तथा।।
उरः शिरोभ्यां कण्ठाच्च पञ्चमः स्वर उच्यते।
धैवतश्च ललाटाद्वै निषादः सर्वरूपवान्।।
शिक्षा संग्रह (काशी संस्करण) पृ० ४१८, ४६४

भारतीय संगीत की कई समस्यायें हैं, जिनका संक्षिप्त में इस लेख में उल्लेख किया गया है, उनमें एक है सात स्वरों की उत्पत्ति की वात। इस सम्वन्ध में संगीत शास्त्र के आचार्यों के जो भी मत मिलते हैं उनमें नारदी शिक्षाकार नारद का मत बहुत हद तक तर्कसंगत जान पड़ता है। नारदी शिक्षा के पञ्चमी कण्डिका के प्रथम से वारहवें श्लोक तक[३१] यह प्रतिपादित किया गया है कि नाभि से जो वायु उठती है और कण्ठ आदि शरीर के भागों को स्पर्श करती है उससे स्वभावतः जो ध्वनिभेद पैदा होता है वही स्वरों के भेद का कारण है।

नाभ्यां कण्ठमुरुस्तालू जिह्वा दन्ताश्च संश्रितः।
षड्भिः सञ्जायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः।।

इसी प्रकार ऋषभादि स्वर एवं वैदिक प्रथम आदि स्वरों का युक्तियुक्त परिचय देने एवं विश्लेषण करने को चेष्टा उन्होंने की है। शिक्षाओं में लौकिक सात स्वरों के अतिरिक्त अभिनिहित, आश्लिष्ट, जत्य, क्षैप्र, पादवृत्त, तैरवञ्जन एवं तिरोविराम या तैरोविराम, इन सात वैदिक स्वरों का परिचय भी वहाँ पाया जाता है।[३२] छान्दोग्य उपनिषद् (१।१२।१) में सामगान में प्रयुक्त होने वाले सात स्वर—विनर्दि, अनिरुक्त, निरुक्त, मृदश्लक्ष्ण, क्रौञ्च तथा अपध्वान्त का उल्लेख है, पर इन स्वरों का प्रचलन कहीं पाया नहीं जाता।

यह पहले कहा जा चुका है, कि ऋग्वेद ही प्रथम वेद है, और सामवेद ने ऋक् और यजुर्वेद की ऋचाओं को स्वर-ताल में बाँधा है। सामवेद का प्रधानतः दो रूप था एक पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक। इन दोनों में कौन आगे था और कौन पीछे इसे लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। मि० क्यालाण्ड ने अपने सम्पादित 'ताण्डय तथा पञ्चविंश ब्राह्मण' के अंग्रेजी संस्करण की भूमिका में इसकी आलोचना की है और वे इस निष्कर्ष पर

३०. 'राग ओ रूप', पृ० ८०।
३१. शिक्षा संग्रह, (वही) पृ० ४८९।
३२. वही, पृ० ४६९।

पहुँचे हैं कि उत्तरार्चिक आगे हैं, इसलिये प्राचीन है। पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक के भी दो भाग हैं। पूर्वार्चिक का ग्रामगेय और अरण्यगेय, और उत्तरार्चिक का उह और उह्य।
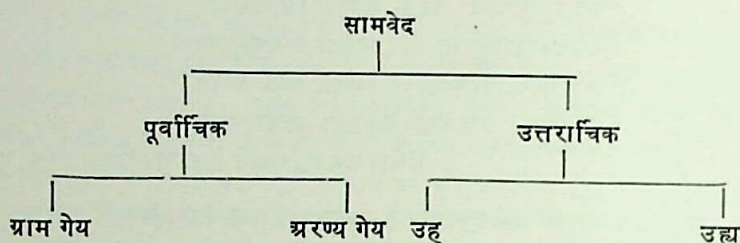
उह में मन्त्रों की आवृत्ति होती है और उह्य उह और रहस्य-गान का सम्मिश्रण है। मि० क्यालाण्ड ने इसे निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया है :
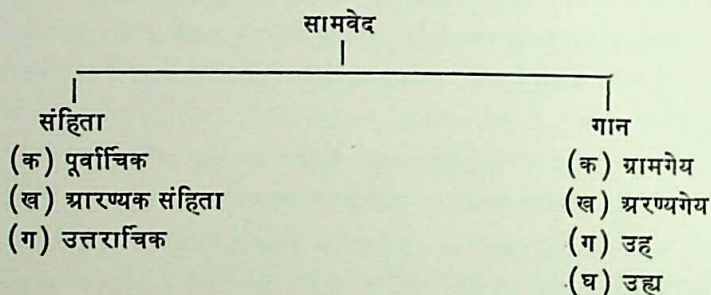
मि० क्यालाण्ड के मत में सबसे प्रथम उत्तरार्चिक हैं। उसके बाद पूर्वार्चिक और आरण्यक संहिता, और उसके बाद ग्रामगेय, अरण्यगेय, उह और उह्य हैं। सामगान को साधारण रूप से सात भागों में विभक्त किया गया है—१. हुँकार, अर्थात् मंत्र-पाठ के आरम्भ में सभी याज्ञिक पुरोहित 'हुँ' शब्द का उच्चारण करते थे; २. प्रत्वा, अर्थात् प्रस्तोता सामगान की सूचना के रूप में गान करते थे; ३. उद्गीथ—यह सामगान का वह भाग होता था जिसमें उद्गाथा लोग स्वर की आवृत्ति करते थे; ४. प्रतिहार, इसके द्वारा प्रतिहारी लोग सामगान के तीसरे चरण के शेष में गान करते थे; ५. उपद्रव, यह गान-क्रम का वह भाग होता था जिसे उद्गाथा तृतीय चरण के शेष में गाते थे; ६. निधान, इसमें सभी याज्ञिक पुरोहित सामगान के परिशेष अर्थात् पूर्णाहुति का गान करते थे, और सबके अन्त में प्रणव, अर्थात् ओंकार का सामूहिक उच्चारण होता था। यही था सामगान का मोटामोटी विभाग। पर सामगान में कौन-कौन और कितने स्वरों का प्रयोग होता था इसे लेकर बहुत मतभेद है। आज भी सामवेद का पाठ करने वाले कहीं-कहीं कुछ लोग रह गए हैं पर, उनके पाठ की पद्धति एक नहीं है और उनके स्वर-प्रयोग में बड़ा भेद है, इसलिए

साम-स्वरों के प्रारम्भिक रूप को निर्णय करने में बहुत कठिनाइयाँ हैं।[33]

भारतीय संगीत के क्रम विकास की गहराई में जाने पर हमें यह सोचने का आधार मिलता है कि वैदिक युग में ही यज्ञानुष्ठान के लिए एक तरह के गान और उत्सव एवं आनन्द के लिए दूसरी तरह के गान का प्रचलन हो गया था। मैं मिस्टर क्यालाण्ड से सहमत हूँ कि उत्तरार्चिक सामवेद का प्राचीनतम रूप है। ऋग्वेद का सस्वर पाठ 'उह' था, और उह के साथ जब रहस्यगान भी जुड़ जाता था तब उसे 'उह्य' कहते थे। यह रहस्यगान क्या था? क्या ऋग्वेद के वे मन्त्र जो किसी रहस्य की ओर संकेत करते थे या ऋत्विगों द्वारा प्रयुक्त किसी रहस्य का उद्‌बोधन? यह पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है, पर इतना तो निश्चित है कि तब तक, याने उत्तरार्चिक युग तक, वैदिक आर्य अपने देवताओं की आराधना के लिए और यज्ञानुष्ठान में भी उह और उह्य का प्रयोग करते थे। अपने अन्तस् की कोमलतम भावनाओं से रंजित आनन्द के उद्वेग को शब्द और स्वर के माधुर्य में ढालने के लिए वे जिस माध्यम का व्यवहार करते थे वह गान कुछ और ही था। यह संकेत हम पहले कर आए हैं कि ज्यों-ज्यों वे भारतीय मूल निवासियों के साथ घुलने-मिलने लगे उनकी संस्कृति में जीवन की एक नई आस्था, नये उमंग और नये सिहरन का प्रवेश और प्रादुर्भाव होने लगा। संगीत के क्षेत्र में, पूर्वार्चिक युग में, उनके ग्रामगेयगान तथा अरण्य-गेय गान का विभाग इस अनुमान की ओर निश्चित संकेत है। गाँवों में गाया जाने वाला गान भारतीय संगीत का आदि रूप है जिसे आर्यों ने अपनी शैली में ढाल कर 'मार्गी' या 'मार्ग संगीत' के नाम से व्यवहृत किया। अरण्यगेय गान विशुद्ध सामगान के रूप में यज्ञानुष्ठान के लिए रह गया।

ग्रामगेय गान को मार्ग-संगीत के नाम से व्यवहृत करने के पीछे एक मनोवैज्ञानिक

---

३३. इस संबंध में विशेष विवेचन के लिए देखिए—'राग ओ रूप', स्वामी प्रज्ञानानन्द, पृ० ५४-५५; The Ragas of Karnatic Music, श्री एन० एस० रामचन्द्रन, पृ० १३; Journal of the Music Academy (Madras), Vol. V (1934), Nos. 1-IV, श्री एन० एस० राम स्वामी अइयर; The Poona Orientalist, Vol.IV April-July, 1939, Nos. 1-2, श्री लक्ष्मीशंकर भट्ट द्राविड़।

सामगान में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वरों का व्यवहार होता था और अब भी होता है। नारदी और माण्डूकी शिक्षा में यह निर्देश किया है कि सामगान के स्वरों का स्थान उँगुली के निर्देशन से बतलाया जाता था, जो संकेत आज भी सामगान के गायक व्यवहार में लाते हैं।

अङ्गुष्ठस्योत्तमे क्रुष्ठोऽङ्गुष्ठे प्रथमः स्वरः।
प्रादेशिकायान्तु गान्धार ऋषभस्तदनन्तरम्॥
अनामिकायां षड्जस्तु कनिष्ठिकायां च धैवतः।
तस्याधस्ताच्च योन्यास्ते निषादं तत्र विन्यसेत्॥

नारदी शिक्षा

सत्य निहित है। आर्य लोग भारत में विजेता के रूप में घुसे पर ज्यों-ज्यों वे यहाँ के मूलनिवासियों के सम्पर्क में आते गए, उनकी विकसित सभ्यता तथा उनके जीवन की आनन्द-आमोदभरी पूर्णता का अनुभव उन्हें होने लगा। उन्हें एक अननुभूत मानसिक ऊहा-पोह का सामना करना पड़ा। विजेता का गर्व प्रोत्साहित करता था कि विजितों का दर्प, जन-जीवन और मान्यता-आस्था को चूर्ण-विचूर्ण करके मटियामेट कर दिया जाय जिससे उनका कोई अस्तित्व न रह जाय, और दूसरी ओर आर्यों के चरित्र भी स्वाभाविक मानवीयता, गुणग्राहकता ने उन्हें भारत के मूलनिवासियों की समृद्ध, सुन्दर और सुललित संस्कृति की महनीयता से इतना अभिभूत कर दिया था कि वे अपने विजेतों के सामने हीनता की भावना (Inferiority Complex) का अनुभव करने लगे थे। पहली बात इसलिए नहीं की जा सकती थी क्योंकि मूलनिवासियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उन्हें मिटाया नहीं जा सकता था और न उनकी अद्भुत वैभवशालिनी संस्कृति की उपेक्षा ही की जा सकती थी। दूसरी ओर हिचक और परेशानी यह थी कि हीनता की भावना को हृदय में घर न करने दिया जाय अन्यथा आर्यों की विजय की महत्ता ही क्या रही, जब विजितों के सांस्कृतिक वैभव के सामने उन्होंने अपने को तुच्छ और हीन समझ लिया! अब केवल तीसरा रास्ता बाकी था, वह था उनमें घुल-मिल जाया जाय और उनका जो प्रेय और श्रेय है उसपर आर्यों का रंग चढ़ाकर आर्य-संस्कृति का अंग बना लिया जाय। यही हुआ उनका दर्शन, उनका साहित्य, उनकी कला, सब कुछ थोड़ा-बहुत जोड़-तोड़ करके आर्य संस्कृति के अंग बन गए। संगीत की परम्परा में 'मार्ग-संगीत' का प्रचलन इसी सांस्कृतिक गठबन्धन का परिणाम है।

मार्ग संगीत के सम्बन्ध में संगीत-शास्त्र के आचार्यों ने जो कुछ कहा है उसकी चर्चा संक्षेप में करने के पूर्व मैं अपनी आस्था को विद्वानों के सामने रखना चाहता हूँ। मेरा अनुमान है (अनुमान इसलिए कि इस आस्था के अनुमोदन एवं पुष्टि में शास्त्रकारों के प्रमाण उद्धृत नहीं किए जा सकते) कि मार्ग संगीत के आधार हैं: श्रुति, ग्राम और जाति; पर उस अर्थ में नहीं जिनमें इनका प्रयोग साधारण रूप से और परम्परा-क्रम के अनुसार किया जाता है। अभी यह चर्चा की जा चुकी है कि सामवेद का ग्रामगेय गान ही मार्ग-संगीत का जनक है। गाँवों में जनता के जीवन के सुख-दुःख, उत्सव-उछाह, पीड़ा और वेदना तथा पूजा और समर्पण में गूँथे हुए शब्द और स्वर उनके निजी व्यक्तित्व के उद्बोधक हैं। हर गाँव, हर जाति और हर प्रदेश का लोक-संगीत वहाँ के जन-मानस का स्वर-चित्र हैं। जिसमें जनता अपने को पाती है, अपने को देखती है और अपनों में घुल-मिल जाती हैं और उससे उसे जो परितृप्ति, सन्तोष और अनन्दातिरेक का अनुभव होता है वह दुर्लभ और अनिर्वचनीय है। यह तथ्य जैसा आज है वैसा ही वैदिक युग में भी था। आर्यों का सामगान फिर इससे अछूता कैसे रहता! गान जनता के लिए है और वह तभी

तक गान है जब तक जन-मानस में उसके लिए स्थान है। इस सत्य को आर्यों ने अनुभव किया और गाँवों में गाए जाने वाले ग्राम की स्वर-लहरी को अपने सामगान में अन्तर्मुक्त कर लिया। तब से 'ग्राम' शब्द ग्रामों के विशेष स्वर-विन्यास[३४] को बतलाने के लिए लाक्षणिक बन गया। धीरे-धीरे करके वह षड्जग्राम, मध्यमग्राम और गान्धारग्राम के नाम से व्यवहृत होने लगा।[३५]

बृहद्देशी की टीका में यह प्रश्न उठाया है कि षड्ज-मध्यम के स्वरों को ग्राम के नाम से क्यों व्यवहृत किया है। उसका उत्तर देते हुए विद्वान् टीकाकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वे देवकुल में उत्पन्न हुए थे इसलिये :

'ननु कथं षड्जमध्यम स्वराभ्यां ग्राम व्यपदेश उच्यते-असाधारणत्वेन, ताभ्यां ग्राम व्यपदेशः। असाधारणत्वं च देवकुलोत्पन्नत्वेन।' बृहद्देशी, श्लोक ६५ की टीका।

यह अनुसन्धान का विषय है कि वे 'देवकुल' थे कौन। पर, इतना तो निश्चित है कि उन देवकुलों में, उनके ग्रामों में प्रचलित जो लोक-संगीत था उनमें वे स्वर-समूह अपना विशेष स्थान रखते ने जिनको षड्जग्राम, मध्यमग्राम और गान्धार ग्राम के नाम से स्वीकार किया गया है। इन ग्रामों में प्रचलित स्वर-विन्यास की अपनी विशेषता (endeviduality) है जिसे उन स्वरों में प्रयुक्त आरोह-अवरोह की मूर्छना (गायकी का एक खास रूप) के द्वारा अलग किया जाता था—'मूर्छनास्तान्निवर्तकाः।'

---

३४. 'ग्रामः स्वर समूहः स्यात्', संगीतमकरन्द, १।४६; संगीत रत्नाकर, १।४।१; संगीत दर्पण, १।६५। 'स्वराणां निवहो ग्रामो मूर्छना च तदाश्रया', नादपुराण (उद्धृत) संगीत कल्पद्रुम, पृष्ठ ५।

३५. "ग्रामौ द्वौ षड्जमध्यमौ। केचिद् गान्धारमप्याहुः स (तु) नेहोपलभ्यते।" दत्तिल—

अथग्रामास्त्रयः प्रोक्ताः स्वर सन्दोह रूपिणः।
षड्जमध्यमगान्धार संज्ञाभिस्ते समन्विताः॥
मूर्छनाधारभूतास्ते षड्जग्रामस्त्रिषूत्तमः।
रागाः ग्रामद्वयालभ्याः षड्जग्रामोद्भवा इति॥

अहोवल, संगीत पारिजात, ६७-६८।

देशीरागाश्च सकलाः षड्जग्राम समुद्भवाः। स्वर कल्पद्रुम, ५।१७।

गान्धारमध्यमग्रामौ अप्रयोजनकौ मतौ।
गान्धारमध्यमग्रामौ यदि भ्रान्त्या प्रकल्पितौ
तर्हि तल्लक्षणं प्रोक्तमर्थाङ्गीकार मात्रतः॥

—रागतत्त्व विबोध

ग्राम शब्द की तरह ही 'श्रुति'[३६] शब्द भी विद्वानों की गवेषणा की अपेक्षा करता है। वेदों को 'श्रुति' कहा गया है क्योंकि वे अपौरुषेय हैं—अन्तरात्मा में स्वतः प्रकाशित सत्य के उद्‌बोधन हैं; उसी प्रकार संगीत के वे स्वर-समूह भी श्रुति हैं जो लोक-जीवन में आनन्दातिरेक को व्यक्त करने के लिये बिना प्रयास ही फूट पड़े थे, अपनी मनोरमता में अद्वितीय, लालित्य में अद्‌भुत और मधुरिमा में अननुभूत। वे सुने गये थे केवल देवकुलों में, उनके ग्रामों में, उनके बैठक और चौपालों में, पर वे माधुर्य और सौन्दर्य में इतने निखरे हुए और आह्लादक थे कि उनको अपनाये बिना रहा नहीं जा सकता था। उनको 'श्रुति' कहकर, उन्हें अपनी संगीत-परम्परा में जोड़कर आर्यों ने अपने संगीत के वैभव को बढ़ा लिया था। कुछ ऐसा अनुमान होता है कि 'श्रुति' के द्वारा जो स्वरों की जानकारी हुई उसीने सामगान के स्वरों में एक से सात स्वरों की संख्या की वृद्धि की, और सम्भवतः इसीके द्वारा लौकिक स्वरों की परिकल्पना वैदिक 'क्रुष्ट' आदि स्वरों में अलग की गई। बाद में समय-क्रम से 'श्रुति' शब्द 'ग्राम' शब्द की तरह ही लाक्षणिक बन गया। श्रुतियों के नाम और उनकी संख्या में परिवर्धन और परिमार्जन किन परिस्थितियों में और किसलिये किया गया यह भी अपने खोज की अपेक्षा रखता है।

मूर्छना के सम्बन्ध में संगीत के प्राचीन शास्त्रकारों में बहुत मतभेद है। 'संगीत रत्नाकर' ने कहा है कि सात स्वरों का जो क्रम से आरोह और अवरोह है उसे ही मूर्च्छना कहते हैं और वे प्रत्येक ग्राम में सात-सात हैं :[३७]

'वायु पुराण' के ८६-८७वें अध्याय में संगीत की चर्चा है। वहाँ मूर्च्छना का जो वर्णन है वह शिक्षाकार नारद, भरत, मकरन्दकार नारद और रत्नाकर कार शार्ङ्गदेव के मत से नहीं मिलता है। उदाहरण के रूप में मध्यमग्राम की मूर्च्छना को लें, उसकी

---

३६. 'संगीत समय सार' में पार्श्वदेव ने २२ नाड़ियों के आधार पर २२ श्रुतियों की उत्पत्ति माना है—

त्रीणि स्थानानि हृत्कण्ठ शिरांसिरासीति समासतः ।
एकैकमपि तेषु स्यात् द्वाविंशति विधायुतम् ॥

श्रुतियों के नाम और संख्या के लिये देखिये—

संगीतदर्पण, १।५३-५६; संगीत रत्नाकर, १।३।३७-३६; और संगीतभाष्य जिसमें श्रुतियों के नाम सबसे भिन्न पाये जाते हैं ।

३७. मूछनाओं की संख्या तथा वर्णन के लिये देखें—स्वर्गीय श्री कृष्णानन्द रागसागर द्वारा विरचित—'राग कल्पद्रुम', (कलकत्ता, संवत् १६७१), पृष्ट ४-५ ।

क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
मुर्छनेत्युच्यते ग्रामस्त्रये ताः सप्त सप्त च ॥
—संगीत रत्नाकर, १।४।६

विभिन्नता देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनके रूप और नाम के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में मतैक्य नहीं है।

शिक्षाकार नारद	भरत	मकरन्दकार नारद	रत्नाकर कार शार्ङ्गदेव	वायु पुराण
१. आप्यायनी	सौवीरी	संवीरा (री)	सौवीरी	सौवीरी
२. विश्वमता	हरिणाश्वा	हरिणाश्वा	हरिणाश्वा	हरिणास्या
३. चन्द्रा	कलोपनता	कलोपनता	कलोपनता	कलोपवला
४. हेमा	शुद्धमध्या	शुद्धमध्या	शुद्धमध्या	शुद्धमध्यमा
५. कर्पादिनी	मार्गवी	मादली	मार्गी	शार्ङ्गी
६. मैत्री	पौरवी	पौरकी	पौरकी	पावनी
७. वार्हती	हृष्यका	हृष्यका	हृष्यका	हृष्टका

इसी तरह गान्धार ग्राम की मूर्च्छना को लेकर भी मत भेद है। 'नारदी शिक्षा' के अनुसार मूर्च्छनायें पन्द्रह हैं—'पञ्चदशेच्छन्ति', पर इनके साथ संगीतमकरन्द और वायु-पुराण का कोई मेल नहीं है। नारदी शिक्षा के मत में गान्धार ग्राम की मूर्च्छनायें हैं—नन्दा, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा और वला। मकरन्द के मत में—संरा, विशाला, सुमुखी, चिता, चित्रावती, शुभा और आलापा; एवं वायुपुराण के मत में—अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, पौण्ड्रिक, आश्वमेधिक, राजसूय, चक्रसुवर्णक, गोसव, महा-वृष्टिक, ब्रह्मदान, प्राजापत्य, नाग पक्षाश्रय, गोतर, हयकान्त आदि।

मूर्च्छनाओं के उपरोक्त नाम यहाँ इसलिए उल्लेख किये गए हैं कि इससे यह स्पष्ट हो जाय कि शास्त्रकारों में इनके सम्वन्ध में मतभेद तो है ही, इन नामों के उपयोग की पृष्ठभूमि भी कुछ है, जिसके सम्वन्ध में न तो शास्त्रकारों ने कहीं खुलकर कुछ कहा है और न ही इन पर कोई खोज ही हुई है। केवल वायु पुराण ने मूर्च्छनाओं के नामों की सार्थकता दिखाने का कुछ प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि मूर्च्छना हरिणास्या का नाम हरिणास्या इसलिए है कि उसकी उत्पत्ति हरिदेश में हुई थी और उसके आदि-देवता इन्द्र हैं। पर इस स्पष्टीकरण के साथ-साथ उसने यह भी उलझन खड़ी कर दी कि आखिर यह 'हरिदेश' है कौन सा। इसी तरह शुद्धमध्यमा के लिए कहा है कि वह मरुदेश में प्रचलित थी और इसके अधिदेवता गन्धर्व हैं। वायुपुराण में प्राप्त मूर्च्छनाओं के नाम वैदिक युग के सम्वन्ध को घोषित करते हैं। उनमें कई पौराणिक नाम भी हैं। ये नाम हमारे इस अनुमान की पुष्टि करते हैं कि 'ग्राम', 'जाति' आदि की अपनी विशेषताओं को प्रदर्शित करने वाली विशिष्ट संगीत-प्रणाली या गायकी को प्रकट करने की आधारभूत प्रक्रिया को मूर्च्छना कहते थे।

नादपुराण में एक श्लोक बड़े महत्त्व का है :

नादश्रुति स्वर ग्रामाः मूर्छनास्तन्निवर्तकाः।
स्वराः ग्रहांशन्यासाद्याः ग्रामजाति क्रमादिह ।।

उद्धृत, संगीत कल्पद्रुम, पृ० ५

यह श्लोक भारतीय संगीत के विकास-क्रम की ओर संकेत करता है। सबसे पहले नाद और नाद के बाद श्रुति द्वारा स्वरों का ज्ञान, फिर अलग-अलग ग्रामों की विशेषताएँ जो उनकी मूर्च्छनाओं के द्वारा विभक्त की जा सकती थीं। इस तरह स्वर, ग्रह, अंश, न्यास आदि ग्राम और जाति के प्रभाव और सम्पर्क से क्रमपूर्वक विकसित हुए।

भारतीय संगीत की परम्परा में 'जाति' शब्द का प्रयोग भी अपनी प्राचीनता एवं आयोजन की परिस्थिति के खोज की अपेक्षा करता है। क्या यह मान लिया जाय कि प्राचीन भारत की जन-जातियों में उनका जो अपना एक विशेष लोक-संगीत था उनकी विशेषताओं की ओर संकेत करने के लिए 'जाति' शब्द की उपादेयता है या अलग-अलग अवसरों पर गाए जाने वाले अलग-अलग तरह के गीतों की विशेष लयकारी के विभेद को स्पष्ट करने के लिए इस शब्द का व्यवहार किया गया है ?

आज भी भारतीय लोक-संगीत अपनी विविधता एवं मोहकता में बेजोड़ है। देश के किसी भी भाग में जाइए वहाँ के जन-जीवन के उत्सव, उछाह तथा अन्तस् के उद्वेगों को मूर्त करने के लिए अलग-अलग गाने हैं और उनका अपनी ही तर्ज है। जो लोग भोज-पुरी या अवधी के लोक-संगीत से परिचित हैं, वे जानते हैं कि वहाँ जीवन के रस और भावनाओं की विविधता को लय और पैथस में रँग कर गाए जाने वाले खास तरह के गाने हैं, जैसे—सोहर, मुण्डन, व्रतवन्ध, विवाह, विदाई, तीज-त्यौहार के लिए अलग-अलग स्वर और भाव के गाने हैं। चक्की पीसते समय गाए जाने वाले, परिश्रम की सार्थकता एवं आनन्द तथा गृहिणी-जीवन की भावधारा को व्यक्त करने वाले 'जांता के गीत', धान रोपने के समय हर नन्हे पौधे को धरती की छाती से लगाते हुए 'रोपनी के गीत', बैल लादकर एक जगह से दूसरी जगह व्यापार के लिए चलने वाले व्यापारियों का, बैलों की घण्टी तथा टिक-टिक के सम पर तारों की टिमटिमाहट तथा रात के धुंधलाके में गाये जाने वाले 'बनजारों के गीत', तथा प्रेम और विरह के वर्णन में लाजवाब 'नयकवा और विरहा'। गर्मी की लू के बाद काले-काले बादलों की उमड़-घुमड़, चमक-गरज तथा मेह के रिम-झिम के साथ ढोलकी की थपकी के साथ बढ़ने वाले और सूखी हड्डियों में भी खून का जोश और उत्साह की फरफराहट पैदा करने वाले 'आल्हा-ऊदल का गान', तथा ऋतु-सम्बन्धी गान जैसे, सावन की कजरी, फागुन का फाग, चैत का चैता आदि। और इतना ही नहीं जाति और देहात के भेद से उनके तर्ज और लयकारी में भी भेद है।

पर, भारतीय संगीत-शास्त्र के आचार्यों ने 'जाति' शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। मतंग ने कहा है: 'श्रुतिस्वर ग्रामसमूहाज्जायन्त इति जातयः', या 'ग्रहादिभ्यो जायन्त इति जातयः', अथवा 'जायते रस प्रतीति याभ्य इति जातयः' (वृहद्देशी, त्रिवेन्द्रम संस्करण, पृ० ५५-५६)। इसका आशय यह है कि जातियों की उत्पत्ति हुई है श्रुति, स्वर, ग्रामों के समूह से, या जाति उसे कहेंगे जिससे रस की प्रतीति हो। कुछ ने यह भी कहा है कि रागों के जन्म का कारण होने के कारण इसे 'जाति' कहते हैं—'रागादेर्जन्म-हेतुत्वाज्जातय इति'। पर इनमें से कोई भी व्याख्या समस्या के मूल में नहीं जाती, केवल पारम्परिक मान्यता को दोहरातीभर है। 'संगीत रत्नाकर' ने यह कहा है—'जातिभ्यो जातानामपि ग्रामराग[३८]...'और कल्लीनाथ ने टीका में[३९] भरत का हवाला देते हुए कहा है—'उच्यते—भरतवचनादेवासौ विशेषो लभ्यते, तथा चाह भरतमुनिः[४०]—'जाति सम्भूतत्वाद् ग्राम रागानाम् इति।' इससे 'जाति' शब्द के प्रयोग की उपादेयता पर कुछ प्रकाश पड़ता है, क्योंकि ग्राम रागों की उत्पत्ति यहाँ जातियों के समूह से माना है।

अब देखना यह है कि क्या ये 'ग्रामराग' जिनका हवाला रत्नाकर ने दिया है, आज के राग-रागिनियों के मूलस्रोत हैं, और भारतीय संगीत में 'राग' का प्रचलन कब से प्रारम्भ हुआ। यह पहले कहा जा चुका है कि सामवेद के समय में ही गान 'ग्रामगेय गान' और 'अरण्यगेय गान' के रूप में, दो भागों में, विभक्त हो गया था, और ग्रामगेय गान मार्गी और देशी के रूप में दो स्पष्ट भागों में विभक्त हो गये थे। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला के रूप में ग्रामरागों का उल्लेख किया है:

प्रथमा मागधी ज्ञेया द्वितीया चार्ध मागधी।
सम्भाविता तृतीया च चतुर्थी पृथुला मता॥

नाट्यशास्त्र (काशी सं०) २९।२७

मतंग ने अपने वृहद्देशी में यह स्पष्ट कहा है कि ग्रामरागों से ही भाषा, विभाषा और अन्तर्भाषा के गानों का प्रादुर्भाव हुआ है:

ग्राम रागोद्भवाभाषा भाषाभ्यश्च विभाषिकाः।
विभाषाभ्यश्च संजातास्तथा चान्तरभाषिकाः॥

वृहद्देशी, पृ० १०५

---

३८. अडचार संस्करण, द्वितीय भाग, रागविबोधाध्याय, ८।१४।

३९. वही।

४०. यहाँ 'भरत' शब्द से नाट्यशास्त्रकार भरत को नहीं लिया जा सकता, क्योंकि नाट्यशास्त्र की मुद्रित पुस्तकों में यह वाक्य नहीं मिलता है। यहाँ, इसलिये, 'भरतार्णव' के प्रणेता नन्दी भरत या 'अभिनव दर्पण' के प्रणेता नन्दिकेश्वर भरत को ले सकते हैं।

वेङ्कटमुखी ने अपने 'चतुर्दण्डी प्रकाशिका' में ग्रामराग और देशीराग के विषय में कहा है :

रागास्तावद्दशविधा भरताद्यैरुदीरिताः ।
ग्रामरागाश्चोपरागा रागाः भाषा विभाषिकाः ।।
तथैवान्तरभाषाख्या रागाङ्गाख्यास्ततः परम् ।
भाषाङ्गानि क्रियाङ्गानित्युपाङ्गानीति च क्रमात् ।।
दशस्त्रेतेषु रागेषु ग्रामरागोदयः पुनः ।
रागास्त्वन्तरभाषान्ता मार्गरागाः भवन्ति षट् ।।
तस्माद्रागाङ्ग भाषाङ्ग क्रियाङ्गोपाङ्ग संज्ञिताः ।
रागाश्चत्वार एवैते देशीरागाः प्रकीर्तिताः ।।

चतुर्दण्डी प्रकाशिका (मद्रास सं०) पृ० ५७

संगीतशास्त्र के आचार्यों के उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि प्रचलित राग-रागिनियों का प्रादुर्भाव मार्गी और देशी गान से हुआ है।[४१]

राग शब्द 'रजि' या 'रञ्ज' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—रंगा जाना, रंगमय होना, चमकदार हो उठना तथा भावनाओं के उद्रेक का होना इससे यह अर्थ निकलता है कि राग उसे कहेंगे जो मनुष्य के मन को भावनाओं एवं रसों के रंग में रंग दे। मतंग ने रागों का परिचय देते हुए कहा है कि उसे ही राग कहते हैं जो जन-मानस को आनन्द में रँग दे 'रञ्जको जनचित्तानां स च रागः' या 'रञ्जनाज्जायते रागः।'

राग शब्द का व्यवहार कब से आरम्भ हुआ यह तथ्य गम्भीर खोज की अपेक्षा करता है। पर, कुछ विद्वानों का कहना है कि सबसे पहले शिक्षाकार नारद (२-३ य शताब्दी) ने अपनी नारदीशिक्षा[४२] में 'स्वर-राग विशेषेण ग्राम रागा इति स्मृताः', कह कर ग्राम-राग का उल्लेख किया है। यदि शिक्षाकार नारद के समय ग्रामरागों का प्रचलन नहीं होता तो वे छन्द और गानों की आलोचना के प्रसङ्ग में स्वरों का हवाला देते हुए उनका उल्लेख नहीं करते :

अन्तरं स्वर संयुक्ताः काकलिर्यत्र दृश्यते ।
तं तु साधारितं विद्यात् पञ्चमस्थं तु कैशिकम् ।। आदि

---

४१. मेरी मान्यता तो यह है कि देशीगान जिसे राजा, रंक, साधु, फकीर, सभी अपना लिये थे और आर्यों के मार्गी संगीत से भी जब वे अधिक लोकप्रिय होने लगे थे तब दोनों की विशेषताओं को सम्मिलित करके एक नये प्रकार के सम्भ्रान्त गायन की प्रक्रिया को स्थान मिला जिसे राग कहा गया :

अवला बालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया ।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ।।

बृहद्देशी, (त्रिवेन्द्रम सं०) नादोत्पत्ति लक्षणम्, पृ० २

४२. शिक्षा संग्रहः, (चौखम्भा सीरीज, काशी), पृ० ३९९।

इसकी टीका करते हुए भट्ट शोभाकर ने कहा है : "···षड्जारम्भे···साधारितं सदृश श्रुति कैशिकसंज्ञं गीतकं भवतीति मध्यमे ग्रामरागे लक्षणं च···"[४३] इससे स्पष्ट है कि नारद और कश्यप के समय में मध्यम-पंचम, पंचम, कैशिक आदि रागों का प्रचलन था-

'गानस्य तु दशविधा गुणवृत्तिस्तद् यथा रक्तं पूर्णमलंकृतं प्रसन्नं···

ऋषभोत्थितं षड्जहतो धैवत सहितश्च पञ्चमो यत्र।

"निपतति मध्यम रागे तन्निषादं षाड्वं विद्यात् ।।"[४४]

इस तरह उन्होंने सात प्रकार के रागों का उल्लेख किया है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में यद्यपि राग के रूप में और नाम से कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर 'जाति रागं श्रुतिञ्चैव नयन्तेत्वन्तरे स्वराः'[४५] और 'यस्मिन् वसति रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्तते'[४६] इन दो स्थानों पर 'राग' शब्द को देख कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भरतमुनि के समय[४७] (२०० ई० पू०) जातिरागों का प्रचलन था। 'जातिमिदानी वक्षामः' कह कर नाट्य-शास्त्रकार ने अठारह जातिगान और जातिरागों का परिचय दिया है। जैसे—(१) मध्य-मोदीच्यवा, (२) नन्दयन्ती, (३) गान्धार-पञ्चमी, (४) धैवती, (५) पञ्चमी, (६) गान्धारोदीच्यवा, (७) आर्षभी, (८) निषादी, (९) षड्जकैशिकी, (१०) षड्जो-दीच्यवती, (११) कर्मारवी, (१२) आन्ध्री, (१३) मध्यमा, (१४) गान्धारी, (१५) रक्तगान्धारी, (१६) षाड्जी, (१७) कैशिकी, (१८) षड्जमध्यमा।[४८] यहाँ पञ्चमी और कैशिकी नाम के उल्लेख से यह निर्णय लिया जा सकता है कि भरतमुनि के समय इन रागों का प्रचलन था।

महाकवि कालिदास के समय (३४५ से ४१४ ई०) में रागों का प्रचलन हो गया था और उनका ऋतु के अनुसार भी प्रयोग होने लगा था। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रथम अङ्क में नाटक प्रारम्भ करने के समय सूत्रधार से नटी पूछती है—किस ऋतु को आलम्बन

---

४३. शिक्षा संग्रह, पृ० ४०९

४४. वही, पृ० ४०१

४५. नाट्यशास्त्र (काशी सं०), २८।३५

४६. वही, पृ० २८।७२

४७. कुछ लोग भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का समय ३०० ई० पू० के भी ऊपर मानते हैं, देखिये *Hindustani Music*, G. H. Ranade, (Second Ed. 1951) पृ० ३; *Northern Indian* Music, Vol. I. (Caltutta 1949) के विद्वान् लेखक श्रीशिव शर्मा (Alain Danielau) ने अपनी पुस्तक के पृ० २२ से ३५ तक में संगीत शास्त्र के प्रणेताओं के समय के सम्बन्ध में विचार किया है। इनके मत में नाट्यशास्त्र का समय ईसापूर्व दो शताब्दी से लेकर चतुर्थ शताब्दी तक माना जा सकता है। 'राग ओ रूप' के विद्वान् लेखक स्वामी प्रज्ञानानन्द ने भरत का समय ३-५ ईसवी शताब्दी निश्चित किया है, पृ० ५५

४८. नाट्यशास्त्र (का० सं०) २८।७१

कर वे अपना गान आरम्भ करें—'अथ कदमं उन उदूं अधिकरी अ गाइससम् ।' और वसन्त ऋतु को लेकर उसने गाया है :

इसीसि चुम्बि आइ भमरे सुउमार केसर सिहाई।
ओदंस अन्ति दअमाणा पमदा सिरीस कुसुमाई ।।

यह गान सारंग राग में गाया गया था ऐसा अनुमान—'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभंमनः। एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणाति रंहसा।' इस पद में 'सारङ्गेण' इस शब्द के पन से लगाया जा सकता है।[४९] पञ्चतन्त्र (५म शताब्दी) में भी राग के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारत के 'कुडुमिया मालाई' नामक स्थान पर एक शिलालेख मिला है जो सातवीं शताब्दी के चालुक्य अक्षर में लिखा है[५०] उसमें भी उन्हीं सात रागों का उल्लेख मिलता है जो नारदी शिक्षा में वर्णित हैं[५१]। सातवीं से तेरहवीं शताब्दी के वीच लिखे गये बौद्ध महायान के ग्रन्थ 'चर्यापद' आदि ने भारतीय संगीत की परम्परा की वृद्धि में एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उस समय बौद्ध सिद्धाचार्य साधारण जनता की भाषा में अपने सिद्धान्तों को, पद-गान के रूप में, नाना राग-रागिनियों में वाँध कर गान करते थे, उनमें कुछ के नाम हैं—पटमञ्जरी, गवड़ा, अरू, मारू, गुञ्जरी, देवक्री, देशाख, भैरवी, कामोद, धानशी, रामक्री, वराड़ी, शिखी, वलाड्डी, मल्लारी, कह्नगूजरी, वाङ्गाला आदि। इनके अतिरिक्त उन्होंने गाथाओं एवं चर्याओं की रचना भी की है। इनकी रचना के लिये उन्होंने एक स्वतन्त्र भाषा का प्रयोग किया है, जिसे 'सान्ध्य भाषा' कहते हैं, क्योंकि इस भाषा में प्रयुक्त कुछ शब्द ऐसे हैं जो स्पष्ट हैं और कुछ लाक्षणिक अर्थ में हैं या यों कह लीजिये कि वे एक तरह के कोड शब्द की तरह हैं। जैसे सन्ध्या के समय कुछ प्रकाश भी रहता है और कुछ अन्धकार भी उसी तरह यहाँ भाषा कुछ स्पष्ट है और कुछ अस्पष्ट (उन लोगों के लिये जो साधना की परिपाटी से अपरिचित हैं)। इस तरह की भाषा का प्रयोग हिन्दू और बौद्ध, दोनों ही तन्त्र-ग्रन्थों में है। यही रहस्य भाषा अपनी चरम परिणति में 'वीज' के रूप में व्यवहृत होती है।

चर्या और पद के गाने वाले इन सिद्धों को तिब्बती सिद्धों के नाम से वहुत लोग जानते हैं, पर वात यह है नहीं। वे बौद्ध साधक थे और भारतवर्ष के ही रहने वाले थे। नाथ धर्म के सिद्धाचार्य-गोरक्षनाथ, मीननाथ, शवर आदि भी बौद्धसिद्धगणों से प्रभावित

---

४९. *Hindustani* Music, p. 5;
५०. *Epigraphica Indica*, vol. XII, p. 226
५१. *Sangeeta*, vol. II, No. 1, (September, 1933)

थे। नाथधर्म बौद्धधर्म से बाहर आरम्भ अवश्य हुआ, पर वह था बौद्धधर्म के प्रभाव का ही एक अलग उद्‌बोधन।[५२]

वज्रयान सम्प्रदाय के कुछ बौद्ध-तान्त्रिक सिद्ध, जिनमें सरहपा (६३३ ई०) सबसे प्रथम हैं, अपने गानों को राग-रागिनियों में लिखा है उनका वर्णन 'बुद्धगान-ओ-दोहा' नामक पुस्तक में निम्न लिखित है।[५३]

(१) सिद्धाचार्य विरुपा ने गवड़ा रागिनी में, (२) गुण्डरीपा ने अरू और गुज्जरी में, भूसुक ने पटमंजरी और देवकरी में, कण्हपा ने देसाख और मालसी गौड़ में, सरहपा ने भैरवी और मालसीमें, भूसुक ने कामोद, वराड़ी, मलारी और वङ्गला में, द्रोम्भिया ने धनासी में, सन्तिया ने रामकरी में और सिवरी (आसावरी) में और जलन्धरपा ने रागिनी वेद में अपने पदों को लिखा है।

इनके अतिरिक्त लुईपाद का 'लुईपाद गीतिका'; दीपंकर श्रीज्ञान का 'वज्रासन-वज्र गीति', चर्यागीति, दीपंकर-श्रीज्ञान धर्मगीतिका; भूसूक (शान्तिदेव) का 'सहज-गीति'; कृष्णाचार्य का 'वज्रगीति', सरह का 'दोहाकोषगीति', 'दोहाकोपचर्यागीत', 'डाकिनी वज्र गुह्यगीति'; कंकन का 'चर्या दोहा कोष गीतिका'; विरूप का 'विरूपगीतिका', 'विरूप वज्र गीतिका'; शबर का 'मोहमुद्रा वज्रगीति' एवं 'चित्तगुह्य गम्भीरार्थगीति' आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य है।[५४] सहजिया धर्म के आचार्यों ने भी असंख्य पदों की रचना राग-रागिनियों में की है। 'डाकार्णव,[५५] ग्रन्थ के १३वें पटल में—'गायनं नृत्यनं वाद्यं षाडवादिस्तु काकिला' के द्वारा यह जाना जाता है कि चर्यापदों में अधिकतर गान-संगीत के शुद्ध रूप में हुआ करते थे। गाने के साथ नृत्य और वाद्य का भी व्यवहार होता था।

मेरा अनुमान है कि चर्यापदों के गायकों का प्रभाव भारतीय संगीत में रागों के साथ रागिनियों की कल्पना और समावेश पर वहुत अधिक पड़ा, क्योंकि उनमें शक्ति की, स्त्री तत्त्व की, उपासना प्रधान थी। इनके बाद भारतीय संगीत की परम्परा को जिन्होंने एक नया मोड़ दिया वे थे वैष्णव सन्त जिनमें श्री चैतन्यदेव प्रमुख थे। वैष्णव सन्तों द्वारा

---

५२. देखिए, महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री की भूमिका, श्री एन० एन० वसु की पुस्तक *Modern Budhism and its Followere in Orissa* (1911) के पृ० ८-६ पर।

५३. डा० मोतीचन्द्र, *Journal of U. P. Historical Society, Vol XX*, Parts 1-12, p. 16; तथा गंगा, जनवरी १६०३, पृ० ५३।

५४. विशेष विवरण के लिए देखिए श्री मनीन्द्रमोहन वसू द्वारा सम्पादित 'चर्यापद' (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६४३) पृ० १००

५५. 'शत साहस्रिका-प्रज्ञापारमिता-रत्न सञ्चय गाथा' का समय छठी शताब्दी है। डाकार्णव ग्रन्थ मे ८४ सिद्धों की संख्या में ७६ सिद्धों के नाम पाए जाते हैं, पर 'वर्णन रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में इन सभी सिद्धों के नाम मिलते हैं। वर्णन रत्नाकर के लेखक कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर मिथिला-नरेश राजा हरिसिंह (१३०० से १३२१ ई०) के सभा-कवि थे।

संगीत में भक्तिरस और प्रेमतत्त्व की प्रधानता आई। उनकी संगीत-लहरी संकीर्तन के रूप में जन-मानस को तृप्त एवं पावन बनाने लगी। सनातन गोस्वामी, श्रीरूप, रघुनाथ, श्रीजीव, अद्वैताचार्य, नित्यानन्द और श्री चैतन्य स्वयं भी संकीर्तन पदावली का गान करते थे। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि संकीर्तन के गान को ही पद कहते थे जिसका अनुकरण कर के चर्यापदों की रचना बौद्ध-साधकों ने की।[५६]

मकरन्दकार नारद (७ म-८ शताब्दी) ने राग-रागिनियों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है।[५७] मकरन्द के समय तक भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित 'जाति' का स्थान रागों ने ले लिया था[५८]। मकरन्द कार के बाद संगीत-शास्त्र का जिन्होंने विस्तृत विवेचन किया है वे हैं 'संगीत रत्नाकर' के प्रणेता शार्ङ्गदेव जिनका समय विद्वानों ने १२१० से १२४९ तक माना है। शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' को सात अध्यायों में बाँटा है—स्वराध्याय, रागाध्याय, प्रकीर्णाध्याय, प्रबन्धाध्याय, तालाध्याय, वादाध्याय और नृत्याध्याय। इनकी पुस्तक को देखने से पता चलता है कि इनके समय में ही संगीत में मुसलमान युग का सूत्र-पात होने लगा था। इनके समय तक आकर पुराने रागों में नये-नये परिवर्तन हुए। शार्ङ्ग-देव ने रागों के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न तो किया है पर अपनी मान्यता को ये स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। यह देखा जाता है कि उत्तर और दक्षिण, भारत के दोनों भागों के संगीत साधकों ने इन्हीं की पुस्तक को अपने संगीत के लक्षण का आधार बनाया था। शार्ङ्गदेव के कुछ ही बाद याने १३वीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों ने दक्षिणभारत पर आक्रमण किया और देवगिरि के यादवों को परास्त कर दिया। यादव राजाओं ने भारतीय संगीत के उत्थान में बड़ा सहारा दिया था। उनकी हार का परिणाम यह हुआ कि एक बार फिर से भारतीय-संगीत में एक नई धारा का प्रवेश हुआ। परसियन प्रभाव घुसने लगा और उत्तर भारत और दक्षिण भारत की संगीत-पद्धति में अलगाव होने लगा। विद्वानों का मत है कि उत्तर भारत के संगीत में परसियन प्रभाव को बैठानेवाले अमीर खुसरू[५९] थे। इन्होंने भारतीय राग-रागिनियों में नये तरह के साज और तर्ज को जोड़ा और सितार को एक नये वाद्य के रूप में निर्माण किया।

मुस्लिम प्रभाव के कारण भारतीय संगीत में जो परिवर्तन और परिवर्धन हुए उनका पता 'शार्ङ्गधर-पद्धति'; हरिपाल प्रणीत 'संगीत सुधाकर' (१०९-१३१२; लक्ष्मी-

---

५६. 'बौद्ध गान ओ दोहा' (१३२३ बंगला) पृ० १६

५७. जी० रच० रानाडे, *Hindustani Music* पृ० ६

५८. देखिए, संगीत रत्नाकर (आनन्दाश्रम संस्करण) पृ० १८५

५९. अमीर खुसरू ने कहा है—"मैं एक भारतीय हूँ। अगर मैं तुर्क हूँ तो मैं अपनी प्रेरणा को इजिप्ट से नहीं पाता इसलिए मैं अरेनिया के बारे में बोलता भी नहीं। मेरी तन्त्री तो केवल भारतीय भावनाओं को ही व्यक्त करती है, उद्‌धृत '*Hiudu,tani Maeic*', पृ० ८

नारायण के 'संगीत सूर्योदय' (१५०६-१५४६); रामामात्य के 'स्वरमेल कलानिधि' (१५५०), पुण्डरीक के 'सद्राग चन्द्रोदय' (१५६०); सोमनाथ के 'राग विबोध' (१६०६); गोविन्द दीक्षित के 'संगीत सुधा' (१६१८); वेङ्कटमुखी के 'चतुर्दण्डी प्रकाशिका' (१६२०); दामोदर मिश्र के 'संगीत सुधा' (१६२५); अहोवल के 'संगीत पारिजात' (१७००); लोचन कवि के 'राग तरंगिणी' (१७००); श्रीनिवास पंडित के 'राग तत्त्व विबोध' (१७००-१७५०) से मिलता है। उस समय (१७वीं और १८वीं शताब्दी में) हरिदास, तानसेन, सूरदास, तुलसीदास, जगन्नाथ सदारंग और अधरंग जैसे प्रतिभावान और स्वर के धनी गायक हुए, जिन्होंने राग और रागिनियों को सचमुच का स्वर-जीवन दिया। संगीताचार्यों के मत-मतान्तरों से परिचित न होते हुए भी इन्होंने संगीत की राग-परम्परा को सजीव और सरस बनाया। उपरोक्त आचार्यों के अतिरिक्त जिन्होंने संगीत की मान्यताओं को निखारा है वे हैं 'हृदय कौतुक' के रचयिता हृदय नारायण (१६६६); 'संगीत सारामृत' के तुलजा (१७२६-१७३५); 'संगीत नारायण' के राजा नारायण (१८००); 'संगीत सरणी' के कवि नारायण (१८००); 'कवि चिन्तामणी' के गोपीनाथ (१८००) और 'नग़मत-ए-असफी' के मोहम्मद रजा (१८१४) आदि। मोहम्मद रज़ा ने राग-रागिनियों के पुत्र आदि की बातों को फज़ूल मान कर इस बात पर जोर दिया कि राग-रागिनियों के बीच में कोई ऐसी चीज होनी चाहिये जो उनमें एक-दूसरे से सामञ्जस्य स्थापित करें और उनकी एकतानता को बनाये रखें।

हम यह पहले कह आये हैं कि संगीतमर्मी अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत में परशियन प्रभाव को स्थापित किया और 'मोकाम', 'शोभा' और 'गुम्फा' का प्रचलन किया। भारतीय संगीत में जिस प्रकार ६ प्रधान राग और ३६ प्रधान रागिनियों का उल्लेख है, उसी प्रकार उन्होंने परशियन और अरबी-संगीत को मिलाकर १२ मोकाम (राग) बनाये और प्रत्येक मोकाम की दो-दो शोभा (रागिनियाँ) बनाईं; और मोकाम और शोभा के संयोग से प्रत्येक के चार-चार गुम्फा (पुत्र) बनाये।[६०]

हमें अब देखना यह है कि भारतीय राग-परिवार के निर्माण में भारतीय परम्परा और शास्त्रीय मान्यताओं का कितना हाथ है। यह चर्चा पहले कर आये हैं कि सामवेद का ग्रामगेय गान ही भारतीय संगीत का उत्स है। वही मार्गी, देशी और जाति के रूप में चलता हुआ मुस्लिम शासकों के दरबार में पहुँच कर नये साज-शृंगार और नये रूप-रंग में बन-सँवर उठा और अपनी नैसर्गिकता खोकर दरबारी बन गया। पहले का गान प्रकृति की गोद में पलने और प्रकृति के सौन्दर्य में विभोर हो उठने वाली जन-जातियों के आनन्द और उत्साह का प्रतीक और भावनाओं का वाहक था। बौद्ध साधकों एवं तन्त्राचार्यों ने

---

६०. देखिए, सर एस० एम० टैगोर का 'Universal History of Music' (1896) पृ० ६५; श्री क्षेत्रमोहन गोस्वामी का 'संगीत सार' पृ० २७ तथा 'राग ओ रूप' पृ० ४७

उसे अपनी उपासना का आलम्बन तथा अपनी धार्मिक भावना के प्रचार और प्रसार के साधन के रूप में उपयोग किया और अपनी आस्था के अनुकूल राग-रागनियों के रूप में परिचित कराया। शक्ति के उपासकों ने संगीत में भी स्त्री-तत्त्व की प्रधानता को ही अंगीकार करते हुए रागिनियों के रूप में उसका स्वागत किया। वैष्णव भक्तों ने अपनी लाड़िली राधा और मनमोहन की लीलाओं के वर्णन में इसमें नये-नये तत्त्वों का समावेश किया। नायिका-भेद और शृङ्गार-प्रधान राग-रागिनियों का प्रचलन भक्तिमार्ग की ही देन है। मुग़ल दरबार में आकर ये केवल भक्ति और निर्मल आनन्द के वाहक नहीं रह गये, उससे अधिक विलास के दूत और दूती बन गये।

मेरी यह धारणा है कि संगीत में राग-रागिनियों के समावेश तथा उनके नामकरण में दो बातों का विशेष महत्त्व है :

१—जाति और देश की परम्परा की स्वीकृति, और

२—तान्त्रिक, शैव और भक्तिमार्गी आस्थाओं का प्रभाव।

प्राचीन संगीताचार्य उमापति ने रागसृष्टि के प्रसंग में कहा है :

शुद्धं तु शिव रूपेण शक्ति रूपेण सालगम्।
द्वयोर्मिश्रं तु संकीर्णमतस्ते द्विविधा मताः ।।[६१]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि उमापति ने तान्त्रिक भाव-धारा के प्रभाव के कारण ही रागों के रूप का निरूपण किया है।

'वृहज्जाल उपनिषद्' में शिव के पाँच मुखों का वर्णन है। और इन से ही पंचभूत और पंचवर्ण की उत्पत्ति हुई है ऐसा उल्लेख है। संगीत के पांचराग पंचमुखी शिव के विभिन्न पाँच मुखों से निस्सृत हुए हैं ऐसा मानते हैं। जैसे अघोर मुख से भैरवराग, सद्योजात से श्रीराग, वामदेव से वसन्तराग, तत्पुरुष से पंचमराग, और ईशान से मेघराग की उत्पत्ति हुई है।

शिव के मुख	भूत	वर्ण	राग
१. सद्योजात	पृथिवी	कपिलवर्ण	श्रीराग
२. वामदेव	जल	कृष्णवर्ण	वसन्त
३. अघोर	वह्नि	रक्तवर्ण	भैरव
४. तत्पुरुष	वायु	श्वेतवर्ण	पंचम
५. ईशान	आकाश	चित्रवर्ण	मेघ

यहाँ भूतों में पृथिवी को और रागों में श्रीराग को जो प्रधानता दी हुई है उससे

६१. 'राग विबोध' (अड्यार सं०) पृ० १०४; रत्नाकर (अड्यार सं०) द्वितीय भाग, पृ० ११२

यह अनुमान होता है कि वृहज्जाल उपनिषद् में तान्त्रिक भावधारा का अधिक प्रभाव है। कुछ संगीताचार्यों ने भैरव को ही आदि राग माना है।[६२] तन्त्र और योगशास्त्र में—विशेषकर 'षट्चक्रनिरूपण' और 'हठ योग प्रदीपिका' में पंचभूतों के बीज का भी नामोल्लेख है। पर, तन्त्र की पुस्तकों में जो वर्ण और बीज उल्लिखित हैं उनमें 'वृहज्जाल उपनिषद्' में वर्णित वर्णों के साथ सादृश्य नहीं है। जैसे—

शिव के मुख	भूत	बीज	चक्र या भूमि	राग
सद्योजात	पृथिवी	लं	मूलाधार	श्रीराग
वामदेव	अप्	वं	स्वाधिष्ठान	वसन्त
अघोर	तेज	रं	मणिपूर	भैरव
तत्पुरुष	मरुत्	यं	अनाहत	पंचम
ईशान	व्योम	हं	विशुद्ध	मेघ

तान्त्रिक आम्नाय में शिव के सात मुखों की कल्पना है, पर पुराणों ने शिव के पंचमुख को ही स्वीकारा है। पुराणों के पंचानन वेदों के रुद्र ही हैं। यह हम पहले कह आये हैं कि रुद्र, मित्र और अग्नि तेज के परिचायक हैं, और शिव का पंचमुख सूर्य या अग्नि की भिन्न-भिन्न रश्मि का ही बोधक है। नाद भी देहस्थित वह्नि की उपज है, और वह स्वरों का मूल है इसीलिये रागों का जनक है।

रागिनियों की कल्पना में यद्यपि तान्त्रिक भावाधारा का बहुत बड़ा हाथ है, पर पुरुष-शिव और स्त्री-शक्ति या प्रकृति की उद्भावना सृष्टि के मूल कारण के रूप में बहुत प्राचीन भारतीय-आस्था है। मनु ने कहा है :

द्विधाकृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

मनु संहिता १।३२

'वृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा है—'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव, सोऽकामयत जाया मे स्यात् (१।४।१७) और 'स हैतावावास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिश्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नीचाभवताम् (१।२।३)। शिव-शक्ति या अर्धनारी-

---

६२. श्री अर्धेन्दुकार गंगोपाध्याय ने 'राग ओ रूप' की भूमिका में पृ० ६ पर लिखा है कि संगीत शास्त्र की प्राचीन पुस्तकों में प्राचीनतम राग-रागिनियों के नाम की सूची में भैरव राग का कोई चिह्न भी नहीं मिलता। बहुत बाद से भैरवी रागिनी का उल्लेख पाते हैं, पर भैरवी रागिनी से पहले भैरव राग का जन्म भी नहीं हुआ था। बहुतों का विश्वास यह है कि भैरव राग से भैरवी का जन्म हुआ है, पर इतिहास इसके विपक्ष में साक्षी देता है। यह एक अनुसन्धान का विषय है।

श्वर की धारणा वेदों में भी पाई जाती है—'उतधाने यो प्रस्तुतः पुमां इति ब्रुवे पणिः सवै-रदेय इत्समः (ऋग्वेद ५।६।८)। सायण ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—'नेमः अर्धः जाया-पत्योर्मिलित्वैक कार्यकर्तृत्वादेक एवं पदार्थः अर्ध शरीरस्य।'' इससे यह स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन काल से ही अर्द्धनारीश्वर की कल्पना चली आ रही है। शिव और शक्ति, पुरुष और प्रकृति तथा नर और नारी के बिना सृष्टि का क्रम नहीं चल सकता फिर भावनाओं के उद्रेक के लिये केवल राग कैसे पूरे पड़ते, रागिनी की कल्पना आवश्यक थी।

राग-रागिनियों की चाक्षुष मूर्ति की परिकल्पना का भी मनोवैज्ञानिक आधार है। यह हम सबका अनुभव-बोध है कि हम उसी वस्तु को अपने हृदय के निकट पाते हैं, अपनी श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और ममता का आलम्बन मानते हैं जिसमें हमारा पूरक बनने की शक्ति है और जो हमारी इस मिट्टी की दुनिया में हमारी इन्द्रियों के विषय और उनके व्यवहार का आधार बनने की क्षमता रखता है। निराकार सर्वव्यापक ईश्वर हमारे मनन और चिन्तन का विषय तो हो सकता है, पर प्रेम-समर्पण के लिये तो उसे मनमोहन बनना ही होगा। श्रद्धा पाने के लिये उसे मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथी राम के रूप में अवतरित होना ही होगा; 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्' उस राम में योगी अपनी सत्ता को चाहे भले ही एक रूप कर दें, पर श्रद्धा का आधार बनने के लिये तो उसे जगत् में आना ही होगा।

मनुष्य का स्थूल-जगत् उसके भाव-जगत् का परिणाम है। भाव-जगत् को रूपा-यित एवं लीलायित करने में मुख्यतः तीन प्रवृत्तियों का हाथ है—जीने की इच्छा, विस्तार की इच्छा और कल्पना। मानव में जीने की इच्छा केवल भोग-विलास से ही शान्त नहीं होती : मनुष्य स्वभाव से ही अतृप्त है। वह जीवन के रहस्य को जानना चाहत है और पहुँचना चाहता है, उस मूल पर जहाँ जीवन सबसे पहले स्फुरित और जागरूक हुआ था; और इतने से ही उसे सन्तोष नहीं होता; वह परिचित होना चाहता है जीवन के उस पहलू से भी, जिसे मृत्यु कहते हैं जो 'नास्ति' नहीं 'अस्ति' की ही एक रहस्यमयी सत्ता है। इसी रहस्य की खोज ने मनुष्य में धर्म की भावना को उद्बुद्ध किया, भोग को बहुमुखी बनाया, उदात्त प्रवृत्तियों के मूल्य को निर्धारित किया। प्रेय और श्रेय को विभाजित किया, और मनुष्य में कठिनाइयों, विपत्तियों एवं बाधाओं में रस और उत्साह के साथ जूझने की प्रेरणा दी, जिसने मनुष्य को मृत्युञ्जयी बना दिया।

मनुष्य में दूसरी प्रबल-प्रवृत्ति है विस्तार की—'एकोऽहं बहुस्याम' के आदि भावना की। मनुष्य में जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है उसे सब में देखने, सबके लिये सुलभ बनाने और सब में पाने का प्रयास मानव-सत्ता की चिर-परिणति है। सौन्दर्य का बोध, सौन्दर्य का सृजन औरसुन्दर में प्रवहमान रस-रूप से तादात्म्य इसी में उसके जीवन का ताना-बाना बुना हुआ है। कल्पना सहायिका बनती है उपरोक्त दोनों प्रवृत्तियों की पूर्णता एवं परिणति में।

सौन्दर्य की साधना कल्पना का सहारा लेकर शिल्प, साहित्य एवं कला का रूप

धारण करती है। कलाकार साधक है, स्रष्टा है और स्वयं रसरूप होकर रस का वितरक है। जिस प्रकार सारा विश्व-ब्रह्माण्ड विधाता के आनन्दरूप का प्रतिविम्ब है, उसी प्रकार कला कलाकार की साधना और आनन्दानुभूति का रस-सिञ्चित स्थूल रूप है। यही भावना है जिसने नाद-ब्रह्म को राग-रागिनियों के रूप में परिवर्तित किया। गायक ने अपनी संगीत-साधना में नाद के जिस रूप, रंग, स्फुरण और रसता का अनुभव किया उसे दूसरों के लिये अनुभव एवं बोधगम्य कराने के लिये किसी स्थूलरूप का सहारा लेना उसके लिये आवश्यक हो गया। यही आवश्यकता राग-रागिनियों के चाक्षुपरूप का कारण वनी। मैं यह पहले कह आया हूँ कि साधकों एवं भक्तों ने उसे देवी-देवताओं के रूप में देखा और भोगियों ने नायक-नायिकाओं के रूप में उसका अनुभव किया।

मध्ययुग की यह विशेषता रही कि साधक अपने आराध्य देवी-देवताओं के चाक्षुष-रूप की कल्पना विस्तार से करने लगे। साधनमालाओं में इस तरह के मन्त्र भरे पड़े हैं जो देवताओं की प्रार्थना में उनके रूप, रंग, आकार एवं प्रभाव-विस्तार का विशद वर्णन करते हैं। इस तरह की आस्था का प्रभाव संगीत-साधकों पर भी पड़ा और उन्होंने भी नाद-ब्रह्म के ध्यान-मन्त्रों की परियोजना उनके विभिन्न रूपों में की।

शार्ङ्गदेव (१३वीं शती का प्रारम्भिक भाग) ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने रागों के भाव और इसका वर्णन किया और वाद के आचार्यों ने, जिन में हनुमान मुख्य हैं, राग-रागिनियों के ध्यान-मन्त्रों का समावेश संगीतशास्त्र में किया। पण्डित सोमनाथ के 'राग-विवोध' में राग-रागिनियों के ध्यान-मन्त्र हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि नारद ने अपनी पुस्तक 'पंचमसार संहिता' में राग-रागिनियों के ध्यान-मन्त्रों को दिया है, पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि नारद ने पण्डित सोमनाथ से पहले ध्यान-मन्त्रों को बनाया था[६३]। यह ध्यान देने योग्य वात है कि शार्ङ्गदेव का 'संगीत रत्नाकर' यद्यपि 'रागमाला' चित्रों का आधार बना, पर चित्रकारों ने राग के रस रूप के आलेखन एवं अंकन में अपनी स्वतन्त्रता वरती हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि राग-रागिनियों के ध्यान-मन्त्र की आवश्यकता क्यों पड़ी, और उनके मूर्ति की कल्पना का आधार क्या बना? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय विचारक के लिये कठिन नहीं है। भारतीय संस्कृति ने संगीत को साधना का साधन तथा मोक्ष-प्राप्ति का सहारा माना है। मानव की तन्मयता, जो ब्रह्म-साक्षातकार की साक्षी है संगीत के द्वारा जितनी आसानी से उपलब्ध की जा सकती है उतनी आसानी से दूसरे साधनों से दुर्लभ है। नाद को ब्रह्म का रूप माना है और नाद जब रस के उद्रेक का साधन बनता है तब वह स्वर, ताल, लय एवं छन्द में ढल जाता है और साधक-गायक के मानस-चक्षु के सामने नाना

---

६३. राग-रागिनियों के ध्यान-मन्त्रों का बड़ा विस्तृत संग्रह 'राग कल्पद्रुम' में है।

रंग और नाना रूप में अपने देव-तनु में प्रकट होता है और तब मुग्ध साधक का मन उस रूप के ध्यान में तन्मय हो जाता है और मन्त्र उसकी प्रार्थना में स्वयं फूट उठते हैं। सुन्दरता चाहे नाद की हो चाहे रूप की, हर हालत में ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अनुभूति कराने में सक्षम है। रस स्वयं सच्चिदानन्द का रूप है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भक्ति रसायन' ग्रन्थ में कहा है—'भगवान् परमानन्द स्वरूपो हि···रसतामेति (भक्ति रसायनम् १।१०) श्रुति ने कहा है—'रसो वै सः।'

मनुष्य की भावना ज्यों-ज्यों परिणति की ओर अग्रसर होती है, गहराई बढ़ती जाती है और वह स्थायी भाव का रूप ग्रहण कर लेती है। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में (काशी संस्करण ६।१७) स्थायीभावों को गिनाया है :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥

श्रीशंकु, भट्टलोल्लट, अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ ने अपने-अपने ग्रन्थों में रस और भाव का बड़ा विशद विवेचन किया है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'उज्ज्वलनीलमणि', 'भक्ति-सन्दर्भ', 'प्रीति सन्दर्भ' आदि वैष्णव-ग्रन्थों में इसकी विस्तृत आलोचना है। विश्वनाथ आदि प्रमुख आलंकारिकों ने 'वात्सल्य' को तथा नवीन आलंकारिकों ने 'शान्त' को नवम रस के रूप में माना है। भरतमुनि ने रसों का श्रेणी-विभाग करते हुए कहा है :

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीर भयानकाः।
वीभत्साद्‌भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसास्मृताः॥

वही ६।२५

इन रसों की विशेषता को ध्यान में रखते हुए भरत मुनि ने प्रत्येक रस के साक्षी अलग-अलग देवताओं का भी उल्लेख किया है :

शृङ्गारो विष्णुदेवत्यो हास्यो प्रमथ दैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदेवतः॥
वीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेन्द्रदेवः स्याददद्‌भुतो ब्रह्म दैवतः॥

वही ६।४४-४५

इतना ही नहीं उन्होंने यह भी कहा है कि प्रत्येक रस का एक रंग होता है जो उस रस को उद्दीप्त करने में सहायक होता है :

श्यामो भवेत्तु शृङ्गारः सितो हास्य प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥

गौरो वीभत्स विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः रसः।।

वही ६।४२-४३

आज मनोविज्ञान तथा भौतिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि जब मनुष्य में किसी एक भावना का उद्रेक होता है तो उसमें एक खास तरह के रंग की तरंगें उद्वेलित हो उठती हैं और उसे वही रंग प्रिय लगने लगता है। रंगों का भावना के साथ के इसी सम्बन्ध को आधार बनाकर cromopathy नामक उपचार का आविष्कार हुआ है। जीव-विज्ञानी इंजीनियर डॉ० जान जेक्य ने कुछ ही दिन पहले एक ऐसे एक्स-रे का आविष्कार किया है जो शरीर में से गुज़रते समय ध्वनि-तरंगों के रंग को दिखा देता है। उसका नाम उन्होंने दिया है—'अल्ट्रा साउंड कलर केज डिस्प्ले सिस्टम।'

प्रत्येक स्वर के कम्पन (vibration) के परिणामस्वरूप ही उसमें अलग-अलग रंगों की तरंगें पैदा होती हैं, प्रोफेसर उडवर्थ (Prof woodworth) ने कहा है—"At the red end of spectrum, the wave length of the light is 760 mellionths of a millimetre, and at the violet end it is 390 mellionths. In between are waves of every intermediate length, appearing to the eye as orange, yellow, green and blue, with all their transitiaval hues. A wave-lenght of 600 gives yellow, one of 500 gives green, one of 470 gives blue, etc."

प्रोफेसर हेल्महोट्ज़ (Helmholtz) का उद्धरण देते हुए प्रो० तेन (Prof. Taine) ने कहा है—"An increase of spead and diminution of length in the waves are sufficient to determine the viberations which are sensation of colour undergoes in passing from red to violet... Helmholtz distinguishes the following successive colours red, orange, golden yellow, pure yellow, green, blue of water, cyanic blue, indigo, violet, and ultra violet."

श्री सी० एच० ए० जेरेगोयार्ड (C. H. A. Bjerregward) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Great Mother में पाश्चात्य संगीत के बारह स्वरों के रंगों का परिचय दिया है। भारतवर्ष के मनीषियों ने भी ईसा के दूसरी-तीसरी शताब्दी में ही भारतीय संगीत के सात स्वरों के रंग को निश्चित कर दिया था जब कि भौतिक विज्ञान के वैज्ञानिक-प्रणाली का कहीं नामो-निशान भी नहीं था। नारदी शिक्षाकार नारद (२ य—३ य शताब्दी) ने सात स्वरों के वर्णों के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए कहा है:

पद्मपत्रप्रभः षड्ज ऋषभः शुकपिञ्जरः।
कनकाभस्तु गान्धारो मध्यमः कुन्दसप्रभः।।

पञ्चमस्तु भवेत् कृष्णः पीतकं धैवतं विदुः।
निषादः सर्व वर्णः स्यादित्येताः स्वर वर्णता ।।[६४]

—शिक्षा संग्रह (काशी संस्करण) पृ० ४०५

भारतीय एवं पश्चात्य संगीत के स्वरों के रंगों के विभाजन की तुलना निम्नलिखित है :

प्राच्य	पाश्चात्य
सा—नारंगी रंग	सि—लाल सि—शार्प—रक्त कमल
रे—पिञ्चर	डी—नारंगी रंग डी—शार्प—हरित् कमल
ग—धूसर	ई—हरित्
म—कुन्द के पुष्प का रंग	एफ—सरित्—सब्ज एफ—शार्प—सब्ज
प—श्याम	जि—नील—सब्ज जि—शार्प—नील
ध—पीत	ऐ—नील—बैंगनी ऐ—शार्प—बैंगनी
नी—चितकबरा, (बहुत रंग मिश्रित)	वि—रक्त—बैंगनी

इसे स्वामी प्रज्ञानानन्द जी ने अपने ग्रन्थ 'राग श्रो रूप' (पृ० ८४) में निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया है।

रस	शृंगार	हास्य	करुण	रौद्र	वीर	भयानक	वीभत्स	अद्भुत
भाव	रति	हास्य	शोक	क्रोध	उत्साह	भय	जुगुप्सा	विस्मय
वर्ण	श्याम	सित	कपोत	रक्त	गौर	कृष्ण	नील	पीत
देवता	विष्णु	प्रमथ	यम	रुद्र	महेन्द्र	काल	महाकाल	ब्रह्मा

६४. शार्ङ्गदेव ने अपने 'संगीत रत्नाकर' में स्वरों के वर्ण, रस और देवता का उल्लेख किया है—

पद्माभः पिञ्जरः स्वर्ण वर्ण कुन्द प्रभोऽसितः।
पीतः कर्वूर·································॥
वह्नि ब्रह्मसरस्वत्यः शर्वश्रीशगणेश्वराः।
सहाश्रांशुरिति प्रोक्ताः क्रमात् षड्जापि देवताः॥
सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे धो वीभत्से भयानके।
कार्यो गनी तु करुणे हास्यशृंगारयोर्मयौ॥

संगीत रत्नाकर (अड्यार संस्करण) प्रथम भाग, पृ० ९६

यह कहा जा चुका है कि स्वरों के कम्पन के कारण ही उनके ध्वनि-तरंगों में अलग-अलग रंग दिखने लगते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों में इन ध्वनि-तरंगों की कम्पन-संख्या में मतैक्य नहीं है। कुछ का कहना है :

स्वर	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
कम्पन-संख्या	२४०	२७०	३००	३२०	३६०	४०	३५०	४८०
कुछ के मत से	सा	रि	ग	म	प	ध	नि	
	२५६	२८८	३२०	३४१$\frac{1}{3}$	३८४	४२६$\frac{2}{3}$	४८०	

उपरोक्त विवेचन केवल यह बात कहने के लिये किया गया है कि भारतीय संगीत-साधकों एवं मनीषियों ने जो राग-रूप की कल्पना, उनके रस की परिणति, उनके ध्यान-मन्त्र और उनके देव-तनु से सम्बन्धित वर्ण की उद्भावना की थी वे केवल साधना और धर्मभावना की प्रेरणा के ही परिणाम नहीं बल्कि मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों पर भी खरे उतरते हैं। आवश्यकता है कि राग-रागिनियों के ध्यान-मन्त्र, चाहे वे संस्कृत में हो, हिन्दी में हों या फारसी में या देश की किसी भी भाषा में हों[६५], उनका विश्लेषण और अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जाय और देखा जाय कि उन ध्यान-मन्त्रों के पीछे कौन से सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व काम कर रहे हैं। यह अध्ययन मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, संगीतशास्त्र तथा इतिहास और संस्कृति के अध्येताओं के लिये बड़े काम का होगा। ध्यान-मन्त्रों पर आधारित राग-मालाओं में राग-रागिनियों के जो चित्र पाये जाते हैं उनसे इस अध्ययन में बड़ी मदद मिल सकती है। राग-रागिनियों के चित्रों में प्रदर्शित वातावरण, रंगों का चयन तथा रूप-विन्यास एवं भाव-प्रदर्शन विद्वानों द्वारा नये ढंग से अध्ययन-अनुसंधान की अपेक्षा रखते हैं।

राग-रागिनियों के चित्र जो उपलब्ध हैं वे 'रागमाला' में मिलते हैं।[६६] इनमें राजस्थानी 'रागमाला' सबसे प्राचीन है। डॉ॰ कुमार स्वामी ने अपने Rajpoot Painting (oxford 1916) नामक अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ में कहा है कि राजस्थानी रागमाला के चित्र १३वीं शताब्दी से आरम्भ कर १९वीं शताब्दी तक बने[६७], पर पर्सी ब्राउन राजस्थानी

---

६५. राजा सर सौरिन्द्र मोहन ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'संगीत सार संग्रह' (बंगवासी संस्करण, कलकत्ता) में राग-रागनियों के ध्यानमन्त्र जो तब तक कहीं भी उपलब्ध थे, उनका संग्रह किया है।

६६. देखिए, स्वामी प्रज्ञानानन्द—Iconography of Indian Music. Roop Lekha Vol, XXXI, No. 2, December 1960, pp. 14-27; डा॰ मोतीचन्द—The Representation of the Musical Ragas in Painting', Journal of the U. P. His. Society, Vol, XX, Parts 1-2, July-December, 1947, pp. 13-31.

६७. "Rajasthani paintings are those works which have been executed in Rajputana, from Bikaner to the border of Gujrat, and from jodhpur to Gwaliar and Ujjain. We either know, or may infer

राग माला को १५५० से १६०० ई० तक का मानते हैं[६८]। श्री नन्दलाल, चमनलाल मेहता का कहना है कि १५वीं शताब्दी के कवियों एवं चित्रकारों ने राग-रागिनियों के चाक्षुष-मूर्ति के सम्बन्ध में न कुछ कहा है और न कुछ उरेहा है। श्री मेहता ने अपनी पुस्तक 'Studies in Indian Painting' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राग-रानिनियों के चित्र सबसे पहले १६वीं शताब्दी में बने। श्री मेहता की युक्ति बहुत प्रमाणिक नहीं है।

अन्त में मैं अपने पाठकों का ध्यान अपने उस कथन की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जहाँ मैंने यह कहा है कि 'भारतीय संगीत में सांस्कृतिक समन्वय का अद्भुत दर्शन मिलता है, अब तक आप के सामने 'भारतीय संगीतकला की पृष्ठभूमि' को अपनी मान्यता के आधार पर संक्षेप में रखने का प्रयास मैंने किया है। पर मेरा यह आग्रह नहीं कि जो मैंने कहा है वह शेष प्रश्न का शेष उत्तर है। यह तो अधिकारी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये केवल संकेतमात्र है या यों कह लीजिये केवल उकसावाभर है। भारतीय संगीत की आधारभूत विशेषतायें, जो अपने में बे-जोड़ हैं मानव-संस्कृति के निखार एवं विचार में सहायक सिद्ध हों, इस आदर्श एवं प्रेरणा को दृष्टिकोण में रखकर अधिकारी विद्वान् निष्पक्ष भाव से इस क्षेत्र में काम करें यही मेरी कामना है।

भारतीय संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय संगीत के कलेवर को पुष्ट, सुन्दर एवं मोहक बनाने में केवल आर्यों का ही हाथ नहीं रहा है बल्कि अनेकों अनार्य जातियों, भारत के मूल निवासी और आर्यों के आगमन के बाद उनके सम्पर्क में आने वाले अनेकों लोगों, जातियों एवं संस्कृतियों का योगदान इसमें रहा है और भारतवर्ष की 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की नीति ने उन्हें केवल अपनाया ही नहीं है, अपना अंग बना लिया है।

साधारणतः यह देखा जाता है कि अविकसित लोक-संगीत और बालकों के संगीत में केवल तीन या चार स्वर ही हुआ करते हैं। आर्य संगीत और मार्ग संगीत की विशेषता यही है कि उसमें चार से अधिक स्वर—औड़व, षाडव एवं सम्पूर्ण, याने पाँच, छः और सात स्वरों का समावेश है। संगीतशास्त्र के प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ 'बृहद्देशी' में कहा है—'चतुः

---

that the great Centres of Rajasthani Paintings have been Jaipur, Orchha and Bikaner, and presumably Udaipur and Ujjain, possibly also Mathura at an earliest date...Its period may be taken as from about the beginning of the 13th Century A.D....to the middle of the 19th Century."

६८. स्वामी प्रज्ञानानन्द के ऊपर उल्लिखित लेख में उद्धृत।

स्वरात् प्रभृति न मार्गः-शवर-पुलिन्द-काम्बोज-वङ्ग-किरात-वाह्लीक-अन्ध्र-द्रविड़-वनादिषु प्रयुज्यते' (पृष्ठ ५९)।

उदाहरण के तौर पर यहाँ कुछ-एक ऐसे राग-रागिनी का उल्लेख कर रहे हैं जो आर्येतर जातियों की देन हैं, जैसे भैरवी। यह 'भीरवा' नामक अनार्य जाति की देन है और आज शैवधर्म की प्रतिनिधि की तरह भारतीय संगीत की लाड़ली बनी हुई है। यह विचारणीय है कि यह रागिनी भैरव राग से नहीं निकली है। संगीत की प्राचीन पुस्तकों में भैरव राग का कहीं उल्लेख नहीं है। भैरवी रागिनी भैरव राग के प्रचलित होने के बहुत पूर्व सम्माननीय स्थान ग्रहण कर चुकी थी। पुलिन्दी को 'संगीत रत्नाकर' में 'पुलिन्दजन वल्लभा'[६९] कहा है। कुछ विद्वानों[७०] का मत है कि पुलिन्द नाम की एक अनार्य जाति थी, जिसकी राजधानी थी पुलिन्द नगर, जो प्राचीन विदिशा (अब भिलसा) के दक्षिण-पूर्व में थी। कालिन्दी या कालिङ्गी रागिनी कलिङ्गदेश की देन है। इसे अब कालांड़ा नाम से जानते हैं। इसके सम्बन्ध में 'बृहद्देशी' ने कहा है—'गान्धारांशा हि कालिन्दी धैवतांशा चतुस्वरा।' बृ०, पृ० १२७। इसी तरह है टक्क राग जो मालव राग और हिन्दोलराग के पूर्व पुरुष की तरह है, और आर्येतर जन-जातियों की देन है। टक्क प्रदेश अटक के आस-पास था। इस जाति की लिपि अब भी जम्बू, काश्मीर, कांगड़ा और पंजाब में टाकरी लिपि के नाम से जीवित है। मालविका, मालवश्री आदि मालव जाति की देन हैं, गुर्जरी, गुजरात की; आभीरी, अहीर जाति की और आसावरी एवं सावेरी शबर जाति की स्मृति को लिये चल रही हैं। आन्ध्री आन्ध्र जाति की एवं सातवाहिनी, सातवाहन लोगों की धरोहर है। इसी तरह मालवी, खम्भावती, देवगन्धार, कान्हर, विलावल, आसावरी, केदारा, बंगाली, गौड़ी, कन्नौजी, भूपाली, सौराष्ट्री आदि अपने-अपने स्थान और जाति का आर्य सभ्यता में योग-दान की स्मृतिवाहिका है[७१]।

---

६९. एषा स्वन्तरभाषा वै पुलिन्देन तु गीयते।

बृहद्देशी, पृ० १२७

७०. देखिए, Some Indian Tribes, श्री विमला चरन ला; और The wild Tribes in Anceint History, by Saletore.

७१. देखिए, 'राग ओ रूप' पृ० ८-१४; डा० मोतीचन्द्र, Journl of the U. P. Historical Society Vol. XX, pp. 16-17. pp. 18-19.

卐

भारतीय सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति

डॉ० राय गोविन्दचन्द

पाषाण तथा मृन्मूर्तियों के अतिरिक्त हनुमान की मूर्ति भारतीय सिक्कों पर भी मिलती है। परन्तु ये मूर्तियाँ मध्यकालीन सिक्कों पर ही हैं, प्राचीन सिक्कों पर इनका दर्शन नहीं होता। प्रथम इनका स्वरूप रतनपुर के कालचूरियों के ताम्बे के सिक्कों पर दिखाई देता है। इन सिक्कों में कमलराज या कलिंगराज के सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति का अंकन है। इन सिक्कों के पीछे ये दौड़ते जाते हुए दिखाये गये हैं। इनके वायें हाथ में पर्वत है।[१] दूसरी ओर राजदेव अंकित हैं। इसे लल्लन जी गोपाल ने कलिंग राजदेव या कमल-राजदेव पढ़ा है। कन्निंघम ने ब्रिटिश म्यूजियम में रखे दो ताम्बे के सिक्कों को प्रकाशित किया है।[२] इन पर भी हनुमान अंकित हैं। ये सिक्के जगल्लदेव के हैं जो कदाचित् कलिंग-राज देव के पश्चात् गद्दी पर बैठे। इनके पश्चात् श्रीमद् पृथ्वीदेव के ताम्बे के सिक्कों पर पीछे हनुमान अंकित मिलते हैं। इन सिक्कों पर कुछ में चार हाथवाले हनुमान हैं। इनके ऊपर के वायें हाथ में गदा है और ऊपर के दक्षिण कर में पर्वत, नीचे के दोनों हाथों से ये दो राक्षसों को मार रहे हैं। वायीं ओर के राक्षस को पददलित भी कर रहे हैं। कुछ सिक्कों पर हनुमान दक्षिण की ओर हैं और एक परिचारक वायीं ओर है। कुछ पर हनुमान वायीं ओर हैं और उनकी दाहिनी ओर एक परिचारक है। हनुमान अपनी वायीं ओर एक राक्षस को पददलित कर रहे हैं।[३] इस प्रकार कलचूरियों के सिक्कों पर चार प्रकार की हनुमान की मूर्तियों के दर्शन होते हैं।

सम्भवत: चन्देल राजाओं ने कालचूरियों के सिक्कों की नकल करके अपने सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति अंकित की।[४] इन सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति कमलराज देव के सिक्कों की मूर्ति से वहुत-कुछ मिलती-जुलती है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह हनुमान

---

१. लल्लन जी गोपाल—अर्ली मेडइवल क्वायन टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया—न्युमिसमेटिक नोट्स ऐंण्ड मॉनोग्रापस नं० १२—न्युमिसमाटिक सोसाइटी, वाराणसी १९६६ पृ० ४९; जे० एन० एस० आई० १९५६, अंक ८, प्लेट ८, १७

२. कन्निंघम—सी० एम० आई०—पृ० ७३; लल्लन जी गोपाल—प्लेट ९-१२

३. लल्लन जी गोपाल—उपरोक्त—पृ० ५१, प्लेट १०-१, २, ३

४. उपरोक्त—पृ० ४९

की मूर्ति नहीं है।[5] परन्तु अब बहुत से सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति उनकी पूँछ के साथ मिल जाने पर यह मत कुछ जँचता नहीं। इसे थोड़े दिन पूर्व तक बुन्देलखण्ड में हनुमन्तैय्या के नाम से सम्बोधित करते थे। यह भी इस बात का प्रमाण है कि इन सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति बनी है। हल्ललक्षण देव वरमन के ताम्बे के सिक्कों पर हनुमान को एक गोल तोरण के नीचे अंकित किया गया है।[6] जय वरमन ने भी इसी प्रकार की हनुमान की मूर्ति अपने कुछ सिक्कों पर अंकित की है, परन्तु कुछ सिक्कों पर आकाश में उड़कर जाते हुए हनुमान की मूर्ति अंकित है।[7] पृथ्वी वरमन के सिक्कों पर हनुमान की पुनः गोल मेहराब के नीचे मूर्ति बनी हुई है।[8] इसी प्रकार की मूर्ति चन्देलों के राजा मदन वरमन के भी सिक्कों पर है।[9] इन सिक्कों के दूसरी ओर राजाओं के नाम हैं। चन्देलों के सिक्कों को आज भी बुन्देलखण्ड में हनुमन्तैय्या कहा जाता है। इन सिक्कों के छोटे होने के कारण हनुमान के आभूषण इत्यादि का दर्शन नहीं होता।

इसी प्रकार हांगल के कदम्ब राजाओं के सिक्कों पर भी हनुमान अंकित हैं। इन राजाओं के हनुमान पारिवारिक देवता थे तथा इनकी मूर्ति ये अपने झण्डों पर भी अंकित करते थे, जैसा उनके अभिलेख से पता लगता है।[10] कदम्ब राजाओं का घराना बड़ा प्राचीन था। प्रायः ५वीं शताब्दी से जब गुप्त-सम्राट् उत्तर भारत में राज्य कर रहे थे इनका नाम मिलने लग जाता है। इनको कुन्तल-राज कहा जाता था तथा इनका गुप्त राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध हो गया था जैसा एक अभिलेख से ज्ञात होता है।[11] पुलकसेन द्वितीय द्वारा पराजित होने पर कदम्बों का प्रायः २५० वर्ष तक कोई इतिहास नहीं मिलता (६०७-१००० ई० तक)। चट्टदेव के समय में कदम्बों का राज्य पुनः स्थापित हुआ। प्रायः यह घटना १०२० के आस-पास की होनी चाहिए। इन्हें हांगल कदम्ब कहते थे। एक लेख के अनुसार जो १०३७ का है राजगुरुदेव को कदम्ब-राज्य का स्थापित करने वाला कहा गया है।[12] हनुमान की मूर्ति से सुशोभित एक सिक्का हागल के कदम्बों

---

५. एम० जी० दीक्षित

६. लल्लन जी गोपाल—उपरोक्त, पृ० ७५

७. उपरोक्त—प्लेट १० नं० १०

८. उपरोक्त—प्लेट १० नं० ११

९. उपरोक्त—प्लेट १० नं० १४

१०. ज्यार्ज एम० मोरेस—दी कदम्ब कुल—बी० एक्स, फुटता एण्ड संस, बम्बई १९३१, पृ० ३८५

११. उपरोक्त—पृ० २२

१२. उपरोक्त—पृ० १०४

का एम० जी० दीक्षित ने प्रकाशित किया है।[13] यह सुवर्ण का है इसकी तौल १२० ग्रेन और वृत्त '८२" है। इसमें हनुमान आकाश में उड़ते हुए दिखाये गये हैं। इनके दक्षिण कर में एक लम्बी-सी गदा है। इस सिक्के पर इनकी मूर्ति के चारों ओर फेरे में चार सिंह अपनी ग्रीवा के पीछे की ओर मुड़ कर बैठे दिखाये गये हैं। इन सिंहों के बीच में दो बार श्री अंकित है, अंकुश तथा सु और ग भी इसी घेरे में है। इस सिक्के का पीछे का भाग बिल्कुल सादा है। ऐसे ही दो सिक्के इलियट द्वारा प्रकाशित किये गये थे। इन पर के हनुमान विविध भावों में हैं।[14] मूर्ति में नीचे 'नकर' शब्द कन्नड़ भाषा में है। यहाँ मूर्ति बैठी हुई है और मस्तक पर एक मुकुट है। कदाचित् यह नकर शब्द बंकापुर के नकरेश्वर की ओर संकेत करता हो। इसी प्रकार का एक सिक्का बेलगाँव से प्राप्त हुआ था जो इण्डियन हिस्टारिक इन्स्टीट्यूट में है। इसमें हनुमान की मूर्ति इलियट द्वारा प्रकाशित सिक्के से बड़ी है तथा नकर शब्द छोटा है।[15] इन सिक्कों के पीछे की ओर पत्रों के मुट्ठों का आकार है।

कलकत्ते के भारतीय संग्रहालय में एक सिक्का है जिसे कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों का कहा जाता है।[16] इस सिक्के पर हनुमान को आकाश में उड़ते हुए दिखाया गया है। इनका मुख दक्षिण की ओर है तथा दक्षिण की ओर हाथ उठा हुआ है, जैसे पर्वत धारण किये हुए हनुमान की मूर्तियों में रहता है। शरीर के पीछे की ओर इनकी लाँगूल है। बायाँ पैर बायीं ओर बढ़ा हुआ है। मूर्ति के चारों ओर एक घेरे में चार बार 'ह' शब्द अंकित है और चार बार सूर्य को अंकित किया गया है। पीछे की ओर यह सिक्का सादा है। यह सिक्का कटोरी की भाँति गढ़ेदार है। इसकी तौल ५३.५ ग्रेन है।[17] इस प्रकार के सिक्कों को पद्म टंका कहा जाता था।[18]

हनुमान की मूर्ति विजयनगर के राजाओं के सिक्कों पर भी मिलती है। सर्वप्रथम हरिहर प्रथम ने अपने सुवर्ण तथा ताम्बे के सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति अंकित की। यह संगम कुल के थे। ये सिक्के हनुमन्तराव वाराह कहे जाते थे। इसी प्रकार के सिक्के इसी कुल के द्वितीय राजा बुक्का प्रथम ने चलाये। सुग्रीव द्वारा शासित किष्किन्धा से इनका सम्बन्ध होने के कारण सम्भवतः इन्होंने अपने सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति अंकित की।[19]

---

१३. एम० जी० दीक्षित—सम गोल्ड क्वायन्स आफ दी कदम्ब डाइनेस्टी—जे० एन० एस० आई० खण्ड ११-२, दिसम्बर १६४९, पृ० ६१-६२

१४. डब्लू० इलियट—क्वाइन्स आफ सदर्न इण्डिया—प्लेट २, नं० ७८

१५. मोरेस—कदम्ब कुल—पृ० ३८५

१६. सम्भव है कि यह भी सिक्का कदम्बों का हो

१७. विनसन्ट स्मिथ—काटलाग आफ क्वाइन्स इन दी इण्डियन म्यूजियम—पृ० ३१४

१८. उपरोक्त—पृ० ३११

१९. विजयानगर सेक्स सेन्टेनरी कमेमोरेशन वाल्यूम—धारवार १६३६, पृ० १०९

कदाचित् इसका यह भी कारण हो सकता है कि महाराजा हरिहर का सम्बन्ध प्राचीन कदम्ब कुल वाले राजाओं से था। पहले लिखा जा चुका है कि इनकी ध्वजा पर हनुमान की मूर्ति रहती थी। इन सिक्कों के लेख कन्नड़ अक्षरों में है।[20] इन सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति दक्षिणाभिमुख जाते हुए दिखायी गयी है। इनका दक्षिण कर थप्पड़ मारने की मुद्रा में है। बायें में कदाचित् कमल है। बायाँ पैर उठा हुआ है। दक्षिण पद बायीं ओर मुड़ा है। मस्तक पर मुकुट है।[21] इसी प्रकार विजयानगर के तीसरे कुल के वेंकटराय प्रथम के कुछ सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति है।[22] ये राजा आरवीडु कुल के थे तथा वैष्णव थे। इनके कुल देवता वेंकटेश थे।

लंका के पराक्रमबाहू, विजयबाहू, रानी लीलावती, साहसमल, धर्माशोक देव, भुवनैकबाहू के सिक्कों पर एक ओर राजा की आकृति बनी हुई है। इनमें इनके कमर बन्द के छोर पैरों के दोनों ओर लटक रहे हैं। बायाँ हाथ उठा हुआ है, उसमें एक फूल है। दाहिने कर के नीचे एक वृक्ष की डाल है। इस कर में नाव के लंगड़ की भाँति का चार दाँत वाला आयुध है। दूसरी ओर एक कपि की आकृति है। उनका बायाँ हाथ हनुमान के हाथ के सदृश उठा हुआ है। दक्षिण कर के नीचे राजा का नाम है। पराक्रमबाहू के सिक्कों पर 'श्री पराक्रमबाहू' लिखा है। इसी प्रकार विजयबाहू के सिक्कों पर श्री विजयबाहू लिखा है। लीलावती के सिक्कों पर भी राजा लीलावती अंकित मिलता है। साहसमल के सिक्कों पर श्री साहसमल्ल; धर्माशोक के सिक्कों पर श्री धर्माशोक देव तथा भुवनेकबाहू के सिक्कों पर श्री भुवनेकबाहू है। अक्षर नागरी के हैं। विनसेण्ट स्मिथ के अनुसार इन राजाओं ने चोल सिक्कों की नकल की।[23] इन सिक्कों पर सिक्कों के बनने की तिथि अंकित नहीं है फिर भी ऐसा समझा जाता है कि प्राय: ११७५ ई० में पराक्रमबाहू के सेनापतियों ने चोल-राज्य पर आक्रमण किया, उसी समय से इस प्रकार के सिक्के लंका में भी गढ़े जाने लगे।

कपि की आकृति इन सिक्कों पर इस प्रकार मिलती है—उठे हुए बायें कर पर पहाड़ के ऐसी कोई वस्तु है; दक्षिण कर में दाँतदार आरे-ऐसा आयुध है जो कदाचित् पेड़ की डाल का रूप हो। इस मूर्ति में इन्हें दोनों पैर फैलाये उकडूँ बैठा दिखाया गया है। इनके शरीर के नीचे एक सर्प ऐसी आकृति है। राजाओं के नाम इनके बायें कर के नीचे अंकित हैं। इन सिक्कों पर इनका मुख और शरीर दूसरी ओर की राजा की आकृति से मिलता-जुलता ही है। राजा खड़े हैं और ये बैठे हुए हैं। इससे ऐसा भान होता है कि

२०. विजयानगर सेक्स सेन्टेनरी कमेमोरेशन वाल्यूम—पृ० १११

२१. उपरोक्त—पृ० १०४ के सामने, प्लेट १०६, नं० ६

२२. उपरोक्त—पृ० १०८ तथा १११

२३. विनशेण्ट स्मिथ—काटलाग आफ़ क्वायन्स इन दी इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता—पृ० ३२७

इनको देवत्व का प्रतिपादन किया गया हो। नीचे की सर्पाकृति इनको रुद्र से जोड़ने का प्रयत्न दिखायी देता है[२४]।

इस प्रकार के ताम्बे के सिक्के अभी हाल में राजस्थान से मिले हैं जिनके दोनों ओर हनुमान की मूर्ति बनी है। यह कहना कठिन है कि ये किस राजा के हैं।

इस अध्ययन से यह पता लगता है कि मध्ययुग के हनुमान की, रक्षक के रूप में उपासना होने लगी थी और उनकी मूर्तियाँ सिक्कों पर भी अंकित की जाने लगी थीं। इनके संकटमोचन या संकटहरन स्वरूप ने लोगों को कदाचित् बहुत प्रभावित किया।

---

२४. विनशेण्ट स्मिथ—काटलॉग आफ़ क्वायन्स इन दी इण्डियन म्यूजियम—प्लेट ३१, नं० १-८।
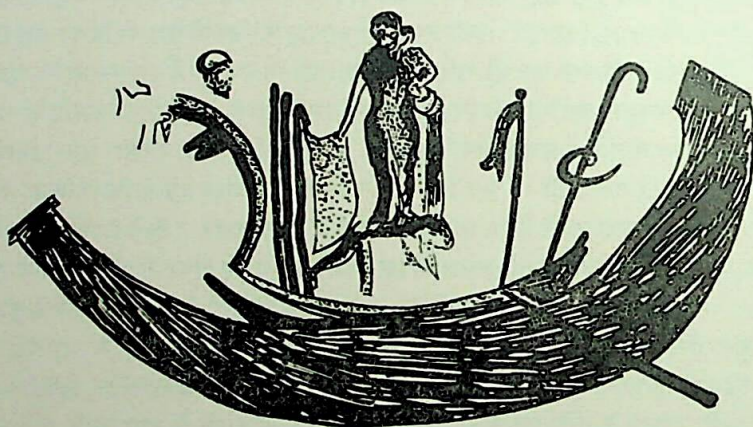
डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ

आदिम कश्मीर के 'गर्त्त-वासी'

बृजमोहन पाण्डे

विषय-प्रवेश तथा प्रारम्भिक सूचना

आदिम कश्मीर के पुरातात्त्विक अवशेषों की दृष्टि से श्रीनगर ज़िले का एक गाँव बुर्ज़-होम (अक्षांश ३४°१०' उ०; देशान्तर ७४°५४' पू०) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह गाँव श्रीनगर शहर से २४ किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित है। यहाँ समय-समय पर किये गये उत्खनन से कश्मीर की घाटी में आदिम काल की नवाश्मयुगीन संस्कृति के उल्लेखनीय उपकरण प्राप्त हुए जिनके फलस्वरूप भारतीय पुरातत्त्व में एक नया एवं महत्त्वपूर्ण अध्याय जुड़ा।

इससे पहले भारत के सांस्कृतिक विकास-क्रम में नवाश्म-युग के बारे में हमारा ज्ञान मूलतः दक्षिण एवं पूर्वी भारत की नवाश्मयुगीन संस्कृतियों तक ही सीमित था। बुर्ज़होम के टीले की खुदाई के बाद उत्तर-पश्चिमी नवाश्मयुगीन संस्कृति भी भारतीय नवाश्मयुगीन संस्कृतियों के सन्दर्भ में जुड़ गई।

बुर्ज़होम के पुरातात्त्विक अवशेषों का सर्वप्रथम पता सन् १९३५ में येल-केम्ब्रिज अभियान ने लगाया था[1] जब कि टीले के मध्य में क्रम से लगाये गये पत्थरों ने उनका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। पुरातात्त्विक शब्दावली में इस प्रकार के विशाल पत्थरों को 'मेनहिर' (menhir) (तमिळ, नडुगल) की संज्ञा दी गई है और यह महाश्मों (megaliths) के अन्तर्गत आते हैं। डी टेरा और पेटर्सन के दल ने इन नडुगलों के निकट ही सीमित उत्खनन भी किया।

डी टेरा और पेटर्सन को सीमित खुदाई में स्लेटी व् भूरे रङ्ग के हाथ से बने मृद्भाण्ड, हड्डी तथा पत्थर के बने औज़ार व् हथियार प्राप्त हुए। दुर्भाग्यवश उनका उत्खनन न तो नियमबद्ध था और ना ही उन्होंने प्राकृतिक मिट्टी के स्तर तक खोदा। मृद्भाण्डों के ऊपर चित्रित डिज़ाइनों की सहायता से उन्होंने इस स्थल से प्राप्त अवशेषों

---

१. डी टेरा तथा टी० टी० पेटर्सन, 'स्टडीज़ ऑन दि आइस एज इन इण्डिया एण्ड एसोसिएटेड ह्यूमन कल्चर्स' (वाशिंग्टन, १९३९), पृ० २३३-३४

का काल लगभग आठवीं शताब्दी ईसा-पूर्व और पहली सदी ईस्वी के मध्य निर्धारित किया।[२]

बुर्ज़होम का उत्खनन—संक्षिप्त विवरण

सन् १९६० में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने बुर्ज़होम के पुरावशेषों का विस्तृत अध्ययन करने के लिये यहाँ दोबारा खुदाई करवाई जो सन् १९६९ तक चलती रही।[३] इस उत्खनन से प्राप्त सांस्कृतिक अवशेषों का अनुक्रम डी टेरा तथा पेटर्सन द्वारा प्रस्तावित सांस्कृतिक अनुक्रम से सर्वथा भिन्न है। डी टेरा तथा पेटर्सन द्वारा की गई खुदाई अनुसंधान की दृष्टि से भी अपूर्ण थी।

बुर्ज़होम की इन वर्षों की वैज्ञानिक विधि से की गई खुदाई से मिले अवशेषों को चार प्रकालों (phases) में विभाजित किया गया है। प्रथम दो प्रकाल नवाश्मयुगीन संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं, तीसरे प्रकाल की विशेषता है बुर्ज़होम में नडुगलों के रूप में महाश्मों की उपस्थिति।[४] चौथे काल के अवशेष ऐतिहासिक काल से सम्बद्ध हैं तथा तिथिक्रम के अनुसार ईस्वी पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दियों के आसपास रखे जा सकते हैं (देखिये, चित्र १)।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बुर्ज़होम से प्राप्त अवशेषों का सांस्कृतिक क्रम कश्मीर की घाटी में आदिम सभ्यताओं के विकास का निरूपण कराता है।

मिट्टी में खोद कर बनाये गये 'वास-गर्त्त' बुर्ज़होम के प्रथम प्रकाल (नवाश्मयुग प्रथम प्रकाल) के लक्षण थे। ये 'वास-गर्त्त' यहाँ की प्राकृतिक मिट्टी लोएस (loess) में खोदे

---

२. डी टेरा तथा पेटर्सन, 'स्टडीज़ ऑन दि आइस एज इन इण्डिया एण्ड एसोसिएटेड ह्यूमन कल्चर्स' पृ० २३३-३४। भारत की अन्य पाषाण संस्कृतियों के वृहत सन्दर्भ में बुर्ज़होम से प्राप्त अवशेषों के सम्बन्ध में एक लेख डी० एच० गॉर्डन ने प्रकाशित किया जिसमें डी टेरा तथा पेटर्सन द्वारा प्रस्तावित कालक्रम ही लगभग सही मानकर, बुर्ज़होम का सर्वप्राचीन काल लगभग ईसा से बारह सौ वर्ष पूर्व निर्धारित किया। देखिए, डी० एच० गॉर्डन, 'दि स्टोन इण्डस्ट्रीज़ ऑफ दि हॉलोसीन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान,' एन्शेण्ट इण्डिया, सं० ६ (जनवरी, १९६०), पृ० ८०-८२

३. ए० घोष (सम्पादक), इण्डियन आर्केओलौजी १९६०-६१—ए रिव्यू, पृ० ११; १९६१-६२, पृ० १७-२१; १९६२-६३, पृ० ९-१०; १९६४-६५, पृ० १४-१५; १९६५-६६ (प्रेस में)। बुर्ज़होम का उत्खनन श्री टी० एन० खजान्ची, सुपरिंटेण्डिंग आर्केओलोजिस्ट, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, सीमान्त मण्डल, की अध्यक्षता में हुआ। लेखक ने इस टीले के उत्खनन के पहले तीन वर्षों में सक्रिय भाग लिया।

४. कश्मीर में नडुगल की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि महाश्मयुगीन अवशेष अब तक दक्षिण भारत, मध्य भारत और उत्तर प्रदेश तक ही सीमित थे। इस सन्दर्भ में आगे इनके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है; देखिए, नीचे, पृ० ४६०। प्राचीन तामिळ परम्परा में स्मृति-चिह्न के रूप में प्रतिष्ठित प्रस्तर को 'नडुगल' (अंग्रेज़ी=मेनहिर) कहा जाता है।

बुर्ज़होम (कश्मीर)
अनुभाग आयोजन
ऐतिहासिक
चतुर्थ प्रकाल
महाश्म
तृतीय प्रकाल
नवाश्म
द्वितीय प्रकाल
प्रथम प्रकाल
भरण
पीली मिट्टी
राख युक्त मिट्टी
काली राख युक्त मिट्टी
मेनहिर
पत्थर की दीवाल
स्तम्भ विवर
मिट्टी की दीवाल
नाली
चूल्हा
स्तम्भ विवर
सीढ़ियाँ
लोएस
वर्गाकार वास-गर्त्त
गोलाकार वास गर्त्त
गोलाकार
वास-गर्त्त

रेखाचित्र संख्या १

गये थे।[५] इन्हीं गर्त्तों में निवास करने के कारण बुर्ज़होम के सर्वप्रथम निवासियों को 'गर्त्त-वासी' की संज्ञा दी गई है। यह 'वास-गर्त्त' साधारणतया गोलाकार थे तथा कठोर मिट्टी के अन्दर काटकर बनाये गये थे। इनका व्यास ऊपर की ओर तो कम था पर नीचे क्रमशः अधिक था। इस प्रकार के गर्त्त आदिम कश्मीरियों ने न केवल निवास के लिये बनाये थे वरन् भण्डार के लिये भी, जिनमें वे शायद उपज तथा अन्य सामग्री रखते थे। ऐसे ही एक गर्त्त में जले और अधजले भोजपत्र के कई टुकड़े, जला हुआ धान एवं भूसा, पकी मिट्टी, टूटे मृद्भाण्ड तथा एक हड्डी का बना हार्पून (harpoon) भी मिला।

उत्खनन में इस प्रकार के गर्त्त बहुत बड़ी संख्या में पाये गये। इनमें सबसे बड़े गर्त्त का व्यास ऊपर की ओर २·७४ मीटर तथा नीचे ४·५७ मीटर था। गर्त्त की दीवारों में लोएस मिट्टी से ही पलस्तर भी किया गया था। सबसे गहरे गर्त्त में नीचे उतरने के लिये सीढ़ियाँ भी बनाई गई थीं। कम गहराई वाले गर्त्तों में उतरने के लिये सम्भवतः रस्सियों अथवा लकड़ी की बनी सीढ़ी प्रयोग में लाई जाती थी।[६] कुछ गर्त्तों की दीवार में आले भी बने थे। एक उदाहरण ऐसा भी मिला है जिसमें दो गर्त्तों को ज़मीन के अन्दर ही गलियारे से मिलाया गया था। इस गलियारे की दीवारों में भी पलस्तर किया हुआ था।[७]

इन गर्त्तों के किनारे-किनारे स्तम्भ-विवर (postholes) भी मिले। इन गढ़ों—जो कि निस्सन्देह इन भण्डार–अथवा 'वास-गर्त्तों' की छत के लिये गाड़े गये स्तम्भों के अवशेष हैं—के अतिरिक्त जले भोजपत्र तथा बाँस के टुकड़ों की प्राप्ति के कारण यह कहा जा सकता है कि इन गर्त्तों की छत भोजपत्र तथा घास-फूस की बनी होती थी।

तीन गर्त्तों के अन्दर अनगढ़े, बड़े-बड़े पत्थरों की प्राप्ति भी उल्लेखनीय है। ये आकार में ०.९१ मी० से १.५१ मी० लम्बे तथा ०·२२ मी० से ०·४४ मी० चौड़े थे।[८]

गोलाकार गर्त्तों के अतिरिक्त, बुर्ज़होम के नवाश्मयुगीन निवासी आयताकार तथा वर्गाकार गर्त्तों में भी रहते थे। परन्तु इन गर्त्तों की गहराई गोलाकार गर्त्तों के बराबर नहीं थी। इनके चारों किनारे पर पानी के बहाव के लिये नालियाँ भी बनी थीं तथा गर्त्त के लगभग मध्य में पत्थर रख कर चूल्हे भी बनाये गये थे। इस प्रकार के चूल्हे न केवल इनके भीतर

---

५. बुर्ज़होम की पहले वर्ष की खुदाई की रिपोर्ट (देखिए इण्डि० आर्के०, १९६०-६१, पृ० ११) के अनुसार यह "वास-गर्त्त" 'करेवा' मिट्टी काटकर बनाए गए थे। परन्तु बुर्ज़होम में सर्वप्रथम आदिम मनुष्य ने अपने वास 'लोएस' मिट्टी में ही बनाए। भूस्तरिक क्रम में भी 'करेवा' 'लोएस' के नीचे पड़ती है तथा उत्खनन में भी 'करेवा' मिट्टी में किसी भी प्रकार के सांस्कृतिक अवशेष नहीं मिले हैं।

६. इण्डि आर्के०, १९६१-६२, पृ० १७

७. इण्डि० आर्के०, १९६०-६१, पृ० ११

८. इण्डि० आर्के०, १९६१-६२, पृ० १७-१८

ही थे, वल्कि ज़मीन के ऊपर प्राकृतिक मिट्टी की सतह पर भी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये लोग ग्रीष्म काल में अथवा सूर्य निकलने पर गर्त्तों के बाहर भी रहते थे।

बुर्ज़होम के गर्त्तवासियों द्वारा निर्मित वस्तुएँ भी गर्त्तों के समान अपूर्व हैं। इन उपकरणों में अन्यतम हैं पत्थर तथा हड्डियों से बने औज़ार व हथियार। पत्थर के हथियारों में मुख्य हैं : कई प्रकार की कुल्हाड़ियाँ, सिल-बट्टे, छैनी, फ़सल काटने के लिये चाकू इत्यादि। फ़सल काटने के इन हथियारों का एक सिरा चाकू के सदृश पैना था तथा उसके ऊपरी सिरे पर दो या तीन छिद्र होते थे जिनमें चमड़े या किसी अन्य वस्तु की डोरी डालकर हाथ या लकड़ी में आड़ा बाँध लिया जाता था। इस प्रकार के हथियारों का सांस्कृतिक आदान-प्रदान की दृष्टि से विशेष महत्त्व है (देखिये, नीचे, पृ० ४६१)। पत्थर के बने ये हथियार व् औजार बड़ी कुशलता से बनाये गये थे तथा इनको घिसकर अथवा रगड़ कर चमकदार भी बनाया गया था। तकनीकी दृष्टि से ये हथियार नवाश्मयुग के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस प्रकाल के हड्डी के औजार व् हथियार भी अनेक प्रकार के हैं, जैसे मछली मारने के लिये हार्पून, सूइयाँ, सूआ इत्यादि।

इस प्रकाल के मृद्भाण्ड हाथ से गढ़े गये थे, क्योंकि बुर्ज़होमवासियों को सम्भवत: तब तक चाक का ज्ञान नहीं हुआ था। मिट्टी के बर्तन बनाने की पद्धति भी विशेष प्रकार की थी। मिट्टी गूँथ कर तैयार करने के बाद लम्बी और पतली पट्टियाँ बना ली जाती थीं। फिर उन पट्टियों को एक के ऊपर रखकर मिट्टी से ही जोड़ लिया जाता था। बर्तनों की मज़बूती के लिये मिट्टी में ही घास-फूस तथा धान के छिलके मिला दिये जाते थे। बर्तन गढ़ते समय चटाई के ऊपर रखा जाता था, जिसके निशान बर्तन के तले में रह जाते थे। बुर्ज़होम से इस प्रकार के तले में चटाई के निशान वाले बर्तन बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। इनसे उस काल की चटाइयों की बुनाई के कई कलापूर्ण प्रकारों के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ मृद्भाण्डों में ठप्पे अथवा नाखून द्वारा कुरेद कर भी कई प्रकार के अलङ्करण उकेरे गये थे। मिट्टी के इन बर्तनों का रङ्ग मुख्यत: मटमैला, स्लेटी अथवा भूरा था।

प्रथम प्रकाल में मृतकों का विसर्जन किस प्रकार होता था, निश्चित रूप से यह कहना कठिन है। किन्तु उत्खनन में किसी भी प्रकार की कब्र तथा अन्य अवशेष न मिलने से यह कहना ग़लत नहीं होगा कि बुर्ज़होम के प्रथम प्रकाल के नवाश्मयुगीन वासियों के शव-विसर्जन की प्रणाली गर्त्तोत्सर्ग (दफ़न) न होकर किसी और प्रकार की थी।

बुर्ज़होम के सांस्कृतिक क्रम में दूसरा काल भी नवाश्मयुग के अन्तर्गत आता है और इसी कारण इसे नवाश्मयुग का दूसरा प्रकाल कहा गया है। इस प्रकाल की विशिष्टता मिट्टी से बनाये गये निवास-गृह थे जो प्रथम प्रकाल में अप्राप्य हैं। इसके अतिरिक्त इस काल के लोग ईंटों से बने मकानों में भी रहते थे और अनगढ़े पत्थरों से भी निर्माण होने

लगा था। प्रथम प्रकाल के 'वास-गर्त्त' भी तब तक भर चुके थे जिनको मिट्टी से पाटकर इन्होंने फ़र्श के रूप में बरतना शुरू कर दिया। इनके फ़र्श चूने तथा मिट्टी से बने होने के कारण काफ़ी मज़बूत थे। कहीं-कहीं तो फ़र्श को गेरू से लीपा भी गया था।

मिट्टी या ईंट की दीवारों के अतिरिक्त इनके मकानों में लकड़ी के खम्भों पर घास-फूस अथवा भुर्ज-पत्र के छप्पर पड़े रहते थे। खुदाई में पक्के फ़र्श के ऊपर कई स्तम्भ-विवर मिले हैं; एक स्थान में तो इन स्तम्भ-विवरों की संख्या पैंतालीस थी। ये एक सुनियोजित क्रम में ३·९६ × १·२१ मीटर क्षेत्र घेरे हुए थे।[९] सम्भवतः यह किसी विराट सामूहिक गृह का अवशेष था। कुछ मिट्टी के चबूतरे भी मिले जिनमें विभाजन दीवार भी बनी थी।

इसी प्रकाल के सपाट खड़े पत्थर तथा अनगढ़े पत्थरों के एक आयताकार गृह के भग्नावशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अन्दर रेत भरी थी। इन्हीं सपाट पत्थरों में से एक में शिकार का दृष्य अङ्कित था।[१०] आदिम कला के इस अपूर्व उदाहरण में दो व्यक्तियों को एक बारहसिंघे का शिकार करते हुए दिखाया गया है। शिला में उत्कीणित इस चित्र में एक शिकारी को बारहसिंघे को सामने धनुष-बाण से मारते हुए दिखाया है, जबकि दूसरा शिकारी पीछे की ओर से बर्छे से वार कर रहा है। इनके अतिरिक्त एक कुत्ता तथा दो प्रतीकात्मक चिह्न भी अङ्कित हैं। नवाश्मयुगीन कला का यह उदाहरण, भारतीय पुरातत्त्व में अद्वितीय है।

इस प्रकाल के मृद्‌भाण्ड और पत्थर तथा हड्डियों के बने हथियार तथा औज़ार यद्यपि प्रथम प्रकाल के ही समान हैं, परन्तु तकनीकी दृष्टि से अधिक उन्नत हैं; इनके प्रकार भी पहले से अधिक हैं। इस प्रकाल में मृत्पात्रकला की विशेष प्रगति एक सर्वथा नये प्रकार के ओपदार मृद्‌भाण्डों में परिलक्षित होती है।

परन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं इस द्वितीय प्रकाल के मनुष्यों तथा पशुओं के अस्थि-अवशेष[११] जिन्हें आवास-क्षेत्र में ही फ़र्शों के नीचे गोलाकार कब्रों में दफ़नाया गया था। इन कब्रों को अन्दर से चुनखड़ी मिट्टी से लीपा गया था। इनका व्यास ३ फुट १० इंच (१·१७ मी०) से लेकर ६ फुट ८ इंच (२·०३ मी०) तक था तथा इनको पत्थर के टुकड़ों और ठीकरों से भरा गया था। कुछ कब्रों में मानव-अवशेषों के साथ ही जान-

---

९. इण्डि० आर्के० १९६१-६२, पृ० १९

१०. इस सम्बन्ध में लेखक का एक विश्लेषणात्मक लेख प्रकाशनाधीन है।

११. इण्डि० आर्के० १९६२-६३, पृ० ९; बुर्जहोम से प्राप्त मृतावशेषों के सम्बन्ध में एक शोध-लेख प्रकाशित हो चुका है। इसी के आधार पर उपरोक्त विवरण दिया गया है; देखिए, ए० के० शर्मा, 'निओलिथिक ह्यूमन बरियल्स फ्रॉम बुर्जहोम, कश्मीर,' जर्नल ऑफ दि ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट (बड़ौदा), खण्ड १६, संख्या ३ (मार्च, १९६७), पृ० २३९-२४२

वरों की हड्डियाँ भी दफ़नाई हुई थीं। शव इस प्रकार से गाढ़े गए थे कि उनका सिर उत्तर-पूर्व अथवा दक्षिण-पूर्व दिशा में रखा होता था। परन्तु एक शिशु तथा एक वयस्क का सिर पश्चिम दिशा की ओर रखा गया था।

इन छः समाधियों में द्वितीय दफ़न (secondary interment) के दो उदाहरण हैं। इनमें हड्डियों के रखने का तरीका देखकर यह कहा जा सकता है कि मृतकों को गाड़ने से पहले उनके शरीर से मांस निकाल लिया जाता था। फिर उनकी हड्डियों को इकट्ठा करके उन पर गेरू लगा दिया जाता था, विशेष रूप से खोपड़ी तथा हाथ-पैर की हड्डियों में। एक गेरू से पुते शव के पैरों के पास दो लम्बे पत्थर भी गाढ़े गए थे। इसके हाथ तथा पैरों को कुहनी तथा घुटने से ऊपर की तरफ़ मोड़ दिया गया था। इस शव-गर्त्त में एक पेस्ट का बना मनका भी मिला तथा ऊपर की तरफ़ एक मृद्भाण्ड जिसमें गेरू भरा था।

दूसरे उदाहरण में भी खोपड़ी तथा हाथ-पैर की हड्डियों को गेरू से पोतकर एक गढ़े में दफ़नाया गया था तथा सिर उत्तर-पूर्व दिशा में रखा था।

प्रथम दफन (primary interment) के चार उदाहरणों में से तीन शव भ्रूण की भाँति स्थापित किये गए थे, जबकि चौथे को सीधा (extended) लिटाया हुआ था। इस चौथे शव की दिक्-स्थिति दक्षिण-पूर्व (सिर) से उत्तर-पूर्व (पैर) थी। इस शव का सिर गढ़े में पत्थर भरने के कारण टूट-फूट गया था। प्रसंगवश, यह उल्लेखनीय है कि यह कब्र प्रथम-प्रकाल से 'वास-गर्त्त' को काटकर बनाई गई थी। प्रथम विसर्जन के उपरोक्त उदाहरणों में से एक शव शिशु का था जिसकी आयु लगभग दो वर्ष थी। इस शिशु के शव में दूध के दाँत भी मौजूद थे।

दूसरा उदाहरण एक वयस्क का शव है जिसका अधिस्थापन दक्षिण-पूर्व और उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर किया गया था तथा इसे बाईं तरफ़ लिटाया गया था। इसकी गर्दन के पास ही पाँच कार्नेलियन (carnelian) के बने मनके भी प्राप्त हुए।

तीसरे उदाहरण में हड्डियों को गेरू से पोता गया था जो कि प्रथम विसर्जन की विशेषता थी। इस शव को एक अण्डाकार कब्र में दफ़नाया गया था तथा कब्र को चुनखड़ी से पलस्तर किया गया था। शव-गर्त्त को बन्द करके उसके ऊपर ही फ़र्श भी बना हुआ था। शव मुड़ी हुई अवस्था में दाईं ओर लिटाया गया था तथा उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पूर्व दिशा में था। इस शव के सिर में ग्यारह छेद थे जिनमें भरने के लक्षण नहीं थे। सम्भवतः सिर की शल्य-क्रिया के फलस्वरूप ही इस व्यक्ति की मृत्यु हुई होगी। मृतक की हड्डियों में गेरू भी सम्भवतः माँस गलने के बाद ही लगाया गया था जिसके लिए मृतक को दफ़नाने के कुछ दिन बाद कब्र से दोबारा निकाला गया होगा। इसी कब्र में जानवरों की हड्डियाँ, कंकाल तथा बारहसिंघे के सींग भी मिले। एक जानवर के निचले जबड़े में

गेरू पुता हुआ था। इसके अतिरिक्त इस समाधि से खड़िया पत्थर का बना एक मनका भी मिला।

द्वितीय प्रकाल से मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं के भी मृतावशेष मिले। ये भी कब्रों में दफनाए गए थे तथा मानव-शवों की ही भाँति इनका भी प्रथम दफ़न तथा द्वितीय दफ़न किया गया था। इस प्रकार के अवशेषों में कुत्ता, भेड़िया, बारहसिंघा तथा लम्बे सींगों वाली जंगली बकरी (ibex) महत्त्वपूर्ण हैं।

एक और उल्लेखनीय बात है बुर्ज़होम का सांस्कृतिक अनुक्रम जो प्रथम से तृतीय प्रकाल तक क्रमबद्ध और अविराम है। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से तृतीय प्रकाल पृथक् माना गया है, क्योंकि इस समयावधि में महाश्म-प्रथा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी जो यहाँ के मेनहिरों के रूप में उपस्थित है।

तृतीय प्रकाल के अवशेष मुख्यतः प्रथम दो प्रकालों के ही समान हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि इस प्रकाल के मृद्भाण्ड अधिकतर चाक पर बनने लगे थे तथा कई रंगों के ओपदार बर्तन भी गढ़े जाने लगे थे। वैसे मिट्टी के बर्तन हाथ से भी बनाए जाते थे। तुलनात्मक दृष्टि से पत्थर तथा हड्डी के हथियारों और औज़ारों में भी विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु इस काल का सर्वाधिक प्रखर लक्षण है धातु का प्रयोग।[१२]

तृतीय प्रकाल में भी मनुष्यों तथा पशुओं के शव प्राप्त हुए। यहाँ प्रसंगवश बताना उचित होगा कि नडुगल भी—अन्य प्रकार के महाश्म स्मारकों की भाँति—एक प्रकार के अन्त्येष्टि-स्मारक ही हैं। बुर्ज़होम में नडुगलों की संख्या आधे दर्जन के लगभग है जिनमें से केवल एक नडुगलों ही यथास्थान खड़ा है और अन्य ढह चुके हैं। इन नडुगलों को एक अर्धवृत्ताकार क्रम से गाड़ा गया था। बुर्ज़होम में किन्तु नडुगलों के तले किसी प्रकार की भी मानव अथवा पशुओं की अस्थियाँ नहीं प्राप्त हुईं यद्यपि एक नडुगल के तले एकमात्र शव-संधान का उदाहरण मिला जिसका भूस्तरिक क्रमानुसार नडुगल से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।[१३] इस शव के पैरों के निकट पाँच बहुत छोटे बर्तन भी रखे थे जिनका प्रयोजन सम्भवतः वैधिक ही था। इस प्रकाल के अन्य शव भी चुनखड़ी से पुती कब्रों में गाड़े गए थे।

इस प्रकाल में भी आवास मिट्टी के ही थे। एक अनगढ़े पत्थरों की बनी दीवार भी उत्खनन में मिली जो सम्भवतः किसी सार्वजनिक आवास का भाग रही होगी।

---

१२. बुर्ज़होम के द्वितीय प्रकाल के ऊपरी स्तर से धातु का बना एक तीर का फल प्राप्त हुआ। परन्तु जिस गढ़े (trench) से यह फल मिला उसका भूस्तरिक क्रम स्पष्ट नहीं है। इस एकमात्र उदाहरण के अतिरिक्त प्रथम तथा द्वितीय प्रकाल में धातु का प्रयोग नहीं था।

१३. इण्डि० आर्के० १९६२-६३, फलक २५ ए; इस शव को ग़लती से द्वितीय प्रकाल का बताया गया है। देखिए, ए० के० शर्मा, वही, पृ० २४१-२४२, फलक ३

चौथे प्रकाल के ग्रवशेष ऐतिहासिक काल के हैं तथा इनका समय ईसा की पहली शताब्दी के ग्रास-पास निर्धारित किया गया है। इसके बाद बुर्ज़होम का टीला उजड़ गया। ग्राधुनिक बुर्ज़होम गाँव इस टीले के दक्षिण में स्थित है। टीले का उत्तर-पश्चिमी भाग ग्राजकल कब्रिस्तान के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

कश्मीर की घाटी में ग्रन्वेषण

बुर्ज़होम के उत्खनन के साथ ही कश्मीर की घाटी का पुरातात्त्विक ग्रन्वेषण भी ग्रारम्भ किया गया। इस ग्रन्वेषण के बाद कश्मीर की घाटी में ग्रनेक नवाश्मयुगीन स्थल प्रकाश में ग्राए जो मुख्यत: झेलम नदी के किनारे-किनारे तथा झीलों के ग्रासपास स्थित थे। इनमें मुख्य हैं : गुरहोम साङ्गरी, जो वुल्लर झील के किनारे एक ऊँची समतल भूमि (terrace) में बसा था;[१४] श्रीनगर से दस किलोमीटर दूरी पर पर दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित दामोदर करेवा;[१५] ग्रनन्तनाग ज़िले में झेलम नदी के किनारे, ४८ किलोमीटर के क्षेत्र में ग्रनन्तनाग ग्रौर पाँपोर के बीच, बेगगुण्ड, गोफ़क्राल, हरिपरिगोम, जयदेवी-उडर, ग्रोल्चिबाग़, पाँपोर, पंज़गोम, सोंबुर तथा थजिवोर।[१६] इन सब स्थलों में बुर्ज़होम के ही समान नवाश्मयुगीन ग्रवशेष प्राप्त हुए। इन में से गोफ़क्राल, ग्रोल्चीबाग़ तथा सोंबुर (प्राचीन सिंहपुर) में बुर्ज़होम के समान 'वास-गर्त्त' थे। इसके ग्रतिरिक्त बेगगुण्ड, गोफ़क्राल, हरिपरिगोम तथा पाँपोर में नडुगल भी देखे गये।

उपसंहार

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बुर्ज़होम के उत्खनन तथा कश्मीर की घाटी के ग्रन्वेषण से मिले ग्रवशेषों से न केवल भारतीय पुराततत्त्व में एक नया पृष्ठ खुलता है, वरन् सांस्कृतिक उत्कर्ष एवं ग्रादान-प्रदान के भी प्रमाण मिलते हैं। उपरोक्त प्रमाणों का दो दृष्टिकोण से ग्रध्ययन कर सकते हैं : (१) कश्मीर की घाटी में प्राचीन सांस्कृतिक उत्कर्ष, तथा (२) कश्मीर की नवाश्मयुगीन सभ्यताग्रों के भारतेतर सम्बन्ध।

(१) ग्रादिम-युगीन कश्मीर में सांस्कृतिक उत्कर्ष

यह तो सर्वविदित है कि प्राति-नूतन युग (Pleistocene) के ग्रारम्भ में कश्मीर

---

१४. इण्डि० ग्रार्के० १९६१-६२, पृ० ९८; इस स्थल की खोज लेखक ने की थी।

१५. वही, पृ० ९८; यह स्थान ऐतिहासिक काल में भी बसा था तथा कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में इसका उल्लेख है।

१६. इण्डि० ग्रार्के० १९६२-६३, पृ० ९; इन स्थलों को सर्वेक्षण के सीमान्त मण्डल के टेक्निकल असिस्टेण्ट, श्री राजेन्द्रकुमार पन्त तथा श्री सरदारीलाल प्रकाश में लाए।

की पूरी घाटी एक विशाल ह्रद के रूप में थी।[१७] प्राति-नूतन युग की तृतीय अन्तर्हिम अवस्था (Third Interglacial) में इस ह्रद का सारा पानी बह गया और इसके अवशेष 'करेवा' मिट्टी के रूप में कश्मीर घाटी में बच गये।[१८] भूस्तरीय क्रमानुसार 'करेवा' निक्षेपों (deposits) को दो भागों में बाँटा गया है जो प्रथम तथा तृतीय अन्तर्हिम काल के हैं। इन दो निक्षेपों से यह अनुमान लगाया गया है कि कश्मीर का ह्रद पहली बार प्रथम अन्तर्हिम तथा दूसरी और अन्तिम बार तृतीय अन्तर्हिम काल में बह गया था। 'ऊपरी करेवा' के ऊपर ही लोएस (loess) निक्षेप हैं जो बुर्ज़होम की प्राकृतिक मिट्टी है। इसी लोएस मिट्टी में नवाश्मयुगीन 'वास-गर्त्त' खोदे गये थे। दुर्भाग्यवश नवाश्मयुग से पहले के मानव अवशेषों के सम्बन्ध में अधिक प्रमाण नहीं मिलते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह तो विदित ही है कि बुर्ज़होम तथा कश्मीर की घाटी से प्राप्त नवाश्मयुगीन अवशेष सर्वथा नये प्रकार के हैं। किन्तु उल्लेखनीय बात तो यह है कि नवाश्मयुग के बाद भी कश्मीर में क्रमबद्ध सांस्कृतिक उत्कर्ष के प्रमाण मिलते हैं।[१९] उपरोक्त प्रमाणों के बल पर यह कहा जा सकता है कि बुर्ज़होम तथा अनन्तनाग ज़िले में प्राप्त मेनहिर भी सम्भवतः प्रारम्भिक नवाश्मयुगीन परम्पराओं से ही विकसित हुए। बुर्ज़होम के उत्खनन में अनेक गर्त्तों में कई गेरू पुते बड़े-बड़े पत्थर मिले;[२०] द्वितीय प्रकाल में तो ऐसे कुछ पत्थर शवों के साथ भी रखे गए थे। शवों के साथ इस प्रकार के पत्थर रखने की प्रथा न केवल नवाश्मयुग में ही थी वरन् महाश्मयुग में भी चलती रही। इस दृष्टि से यह मानना अनुचित नहीं होगा कि कश्मीर में नडुगलों का

---

१७. कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' (प्रथमस्तरङ्गः २५-२७) में भी इसका वर्णन है :

पुरा सतीसरः कल्पारम्भात्प्रभृति भूरभूत्।
कुक्षौ हिमाद्रेरर्णोभिः पूर्णा मन्वन्तराणि षट् ॥२५॥
अथ वैवस्वतीयेस्मिन्प्राप्ते मन्वन्तरे सुरान्।
द्रुहिणोपेन्द्ररुद्रादीनवतार्य प्रजासृजा ॥२६॥
कश्यपेन तदन्तःस्थं घातयित्वा जलोद्भवम्।
निर्ममे तत्सरो भूमौ कश्मीरा इति मण्डलम् ॥२७॥

१८. डी टेरा तथा पेटर्सन, पृ० ८७-८९ तथा ११६-११८।

१९. यहाँ यह बताना आवश्यक है कि कश्मीर के महाश्मयुगीन अवशेष भी भारत के अन्य स्थानों की महाश्मयुगीन संस्कृतियों से निम्न हैं। काले-व्-लाल रङ्ग (Black and red were) के मृद्भाण्ड जो दक्षिण भारतीय महाश्मयुगीन संस्कृतियों में विशिष्ट रूप से मिलते हैं, कश्मीर में सर्वथा अप्राप्त हैं। प्रसंगवश, दक्षिण भारत के एक स्थल नागार्जुनकोण्डा, (जिला गुण्टूर, आंध्र प्रदेश में नवाश्मयुगीन "वास-गर्त्त" के सम्बन्ध में देखिए, एच० सरकार, 'निओलिथिक पिट-ड्वेलिङ्ग इन इण्डिया', इण्टरनेशनल कॉन्फ्रेन्स ऑन एशियन आर्केओलौजि, समरीज़ ऑफ पेपर्स, नई दिल्ली, १९६१।

२०. इण्डि० आर्के० १९६१-६२, पृ० १७-१८, फलक ३४, बी।

आदि-रूप नवाश्मयुग में ही निर्धारित हो चुका था। वैसे भी बुर्ज़होम के प्रथम प्रकाल से लेकर तृतीय प्रकाल के मृद्भाण्ड, पत्थर तथा हड्डी के हथियारों तथा औज़ारों में मूलतः विशेष अन्तर नहीं है—नये प्रकारों का प्रवर्त्तन केवल सांस्कृतिक उत्कर्ष के कारण ही हुआ। इसके अतिरिक्त बुर्ज़होम के 'वास-गर्त्त' या (भण्डार-गर्त्त) से साम्य रखने वाले गर्त्त द्वितीय (नवाश्म) तथा तृतीय (महाश्म) प्रकाल में भी बनाए गए थे यद्यपि दो परवर्त्ती प्रकालों में इनका उद्देश्य भिन्न था। बुर्ज़होम से मिले प्रमाणों के अतिरिक्त कश्मीर की घाटी के अन्वेषण में भी इसी प्रकार के सांस्कृतिक अनुक्रम वाले स्थलों से भी यही सिद्ध होता है। संक्षेप में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कश्मीर की घाटी में महाश्म-प्रथा (Megalithism) का आविर्भाव नवाश्मयुग में ही हो चुका था।

केवल इतना ही नहीं, मृत्यु-पर्यन्त जीवन के सम्बन्ध में भी नवाश्मयुगीन धारणाएँ मृतक की अस्थियों में गेरू लगाने से परिलक्षित होती है। सम्भवतः गेरू (या लाल रंग) रक्त का प्रतीक माना जाता था और मृत्यूपरान्त जीवन में विश्वास के कारण ही ऐसा किया जाता होगा। और सम्भवतः इसी कारण उनके शव भी निवास-स्थानों के नीचे ही फ़र्श में गाढ़े जाते थे।

बुर्ज़होम के नवाश्मयुग का काल रेडियो-कार्बन पद्धति द्वारा २५०० से १५०० ईसा-पूर्व निर्धारित किया गया है।[२१]

(२) भारतेतर सम्बन्ध

जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है, बुर्ज़होम तथा कश्मीर की घाटी से प्राप्त नवाश्म एवं महाश्मयुगीन अवशेष भारत में अन्यत्र प्राप्त अवशेषों से सर्वथा भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, कश्मीर के नवाश्मयुगीन पत्थरों के हथियार तकनीकी दृष्टि से भी पूर्वी तथा दक्षिणी भारत के नवाश्मयुगीन हथियारों से सम्बद्ध नहीं हैं। यही बात हड्डी के बने औज़ारों व हथियारों तथा मृद्भाण्डों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

इसके अतिरिक्त विशेषता थी 'वास-गर्त्त'। लोएस मिट्टी में खोदे गए इस प्रकार

---

२१. डी० पी० अग्रवाल तथा शीला कुसुमगर, 'रेडियो कार्बन डेट्स ऑफ सम निओलिथिक एण्ड अर्ली हिस्टौरिक साम्पल्स,' करेण्ट साइन्स, २० जनवरी, १९६५, खं० ३४, सं० २, पृ० ४२-४३; डी० पी० अ० वाल, शीला कुसुमगर तथा एम० उन्नीकृष्णन, 'रेडियो कार्बन डेट्स ऑफ साम्पल्स फ्रॉम एन० बी० पी० वेयर एण्ड-प्री-एन० बी० पी० वेयर साम्पल्स,' क० सा०, ५ जनवरी, १९६६, खं० ३५, सं० १, पृ० ४-५। बुर्ज़होम की रेडियो-कार्बन तिथियों का भारतीय पुरातत्त्व के अन्तर्गत विश्लेषण के लिए देखिए, बी० बी० लाल, 'ए पिक्चर एमर्जेस—ऐन ऐसेसमेण्ट ऑफ़ दि कार्बन-१४ डेटिंग्स ऑफ दि प्रोटोहिस्टोरिक कल्चर्स ऑफ दि इण्डो-पाकिस्तान सबकण्टिनेण्ट,' एन्शेन्ट इण्डिया, सं० १८-१९ (१९६२-१९६३), पृ० २१७-२१९, फलक ५३

के 'वास-गर्त्त' भारतेतर नवाश्मयुगीन संस्कृतियों में बहुतायत से मिलते हैं, विशेषकर, रूस[२२], चीन[२३] और जापान[२४] में। दो छेद वाला फ़सल काटने का चाकू चीन[२५] तथा जापान[२६] की नवाश्मयुगीन संस्कृतियों का एक प्रमुख उपकरण है। उसी प्रकार बुर्ज़होम के शवों में गेरू पोतकर संरक्षित करने की पद्धति के समान उदाहरण भी भारतेतर स्थलों से प्राप्त हुए हैं।

एशिया में आदिम संस्कृतियों के इस संगम-स्थल में उपलब्ध पुरावशेषों का अध्ययन एकाङ्गी दृष्टिकोण से नहीं वरन् कश्मीर की सीमाओं से बाहर पूर्वोत्तर, पश्चिमोत्तर तथा पश्चिमी क्षेत्रों में प्राप्त अवशेषों की तुलना में करना नितान्त आवश्यक है।[२७]

---

२२. आ० एल० मोङ्गाएत, आर्खेओलोगिया वे एस. एस. एस. एर. (मूल रूसी में) (मास्को, १९५५), पृ० ८३-११४

२३. विलियम वाट्सन, आर्केओलोजी इन चाइना (लण्डन, १९६०), फलक ७, ८, ३३ बी; चेङ ते कु'न, आर्केओलौजी इन चाइना, प्रथम खण्ड, प्रीहिस्टौरिक चाइना (केम्ब्रिज, १९५९); जे० जी० ऐण्डरसन, रिसर्चेज़ इण्टू दि प्रीहिस्ट्री ऑफ दि चाइनीज़ (स्टौकहोम, १९४३)

२४. गेरोर्ड जे० ग्रूट, दि प्रीहिस्ट्री ऑफ जापान (न्यूयॉर्क, १९५१); जे० ई० किड्डर जूनियर, जापान बिफोर बुद्धिज़्म (लण्डन, १९५९), पृ० ४२-४९

२५. वॉटसन, वही, फलक १७ ए

२६. विशेषकर योमोन संस्कृति तथा यायोई काल के अवशेष; देखिए किड्डर, वही, पृ० ९५, चित्र २०

२७. इतालवी पुरातत्त्व दल द्वारा स्वात (प० पाकिस्तान) में किए गए उत्खनन तथा अन्वेषण में बुर्ज़होम से मिलते-जुलते पुरावशेष प्राप्त हुए। इसका विवरण ईस्ट एण्ड वेस्ट में प्रकाशनाधीन है। अप्रेल, जून १९६७ में हुए इस अन्वेषण के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिए, जी० स्ताकूल, "प्रेलिमिनरी रिपोर्ट ऑन दि प्री० बुद्धिस्ट नेक्रोपोलिसेस इन स्वात (वेस्ट पाकिस्तान)', ईस्ट एण्ड वेस्ट, १६ (१९६६), पृ० ३७-७९; डा० स्ताकूल से इस विषय पर लेखक का पत्र-व्यवहार भी हुआ।
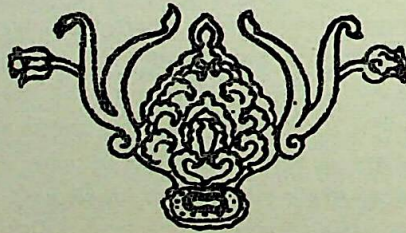
तिब्बत की संस्कृति

डॉ० श्रीमती शारदा रानी

तिब्बत-निवासी अपने देश को 'बोद् युल्' कहते हैं। पुरुष 'बोद् पा' और नारी 'बोद् मा' कहलाती है। तिब्बत शब्द के 'ति' का अर्थ है बड़ा और ब्वत का अर्थ है भोट अर्थात् बड़ा भोट। हम भारतीय इसे भोट कहते हैं। इसी 'भोट' शब्द से भोटिया शब्द निकला है। वड़े भोट का तात्पर्य देश के पश्चिमी और मध्य भाग से है। स्पष्टता के लिए पूर्वी भाग को 'मे बोद्' कहते हैं अर्थात् निम्न भोट। हिमालय की पर्वत-श्रेणियों के मध्य स्थित इस भूखण्ड को एशिया-मानव के लिए मर्मस्थल की संज्ञा दी जाय तो अत्युक्ति न होगी। भौगोलिक दृष्टि से देखा जाय तो भोट की दक्षिणी सीमा वर्मा, आसाम, भूटान, सिक्किम, नेपाल, बंगाल, उत्तरप्रदेश और हिमाचल प्रदेश को छू रही है और पश्चिमी सीमा पंजाब, कश्मीर और लद्दाख से मिली है। उसकी सीमा चीन के सिंक्याङ् प्रान्त (चीनी तुर्किस्थान) से और पूर्वी सीमा चीन देश से छू रही है। भोट देश पर्वत-मालाओं से परिपूर्ण है। प्रायः ये पर्वतश्रृंखलाएँ पश्चिम दिशा से पूर्व की ओर फैली हैं। प्रमुख श्रेणियाँ 'ताङ्ला श्रेणियाँ' हैं। यहाँ की भूमि पठारी और पथरीली है। यहाँ की प्रमुख झीलें ज़िलिङ्छो, थेंरि नोर (यह १००० वर्गमील विस्तृत देश के सर्वथा मध्य में है), दारूछो, दाङ्रायुम्छो हैं। भारत का पवित्र मानसरोवर यहीं स्थित है। मानसरोवर के समीप सुप्रसिद्ध कैलास पर्वत से ब्रह्मपुत्र (भोट भाषा में त्साङ्पो) दक्षिणी भाग में बहती हुई आसाम में प्रवेश करती है। सतलज और सिन्धु नदियों के उद्गम-स्थान भोट-देश के पश्चिमी भाग में हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया में बहने वाली साल्विन और मेकोङ् नदियाँ भोट देश के पूर्वी भाग से निकलती हैं। तिब्बत का उत्तरी भाग छाङ्ताङ् समभूमि और घाटियों से पूर्ण होते हुए भी अत्यधिक शीत के कारण जनशून्य है। यहाँ कोई पेड़-पौधा भी नहीं उग सकता। दक्षिणी तथा पश्चिमी भाग समस्त देश की जनसंख्या की तुलना में सघन बसा हुआ है। यहीं त्साङ्पो (ब्रह्मपुत्र), सिन्धु तथा सतलज नदियों की घाटियाँ होने के कारण उपज हो जाती है। इस भाग को दो प्रान्तों में बाँटा गया है। उ, त्साङ्। उ प्रान्त की राजधानी ल्हासा है, जो समस्त देश की भी राजधानी है, और त्साङ् की राजधानी शिगात्से है। प्रमुख नगर ग्यांत्से और यातुङ् यहीं स्थित हैं। व्यापार और आवागमन का प्रमुख क्षेत्र यही है। पूर्वी तिब्बत खाम् युल् कहलाता है। यहाँ के निवासी खाम्पा कहलाते हैं।

पश्चिमी भाग जो लद्दाख के समीप है ङारी कहलाता है, यहाँ के लोग ङारी-पा कहलाते हैं। भोट देश का क्षेत्रफल पाँच लाख वर्गमील है। सामान्यतः समुद्र-स्तर से १२ सहस्र से लेकर १६ सहस्र पाद ऊँचाई है। जनसंख्या ४० लाख और ५० लाख के बीच है। जलवायु की दृष्टि से यह बहुत ठंडा देश है। उष्णता में भी पर्वत-शिखर हिमावृत रहते हैं। शीत-ऋतु में चारों ओर हिम का साम्राज्य रहता है और तापमान शून्य से ४० संख्या नीचे गिर जाता है। वर्षा बहुत न्यून होती है, वर्ष में १२ इंच से अधिक नहीं। शरीर को कँपाने वाली तीखी वायु दिन-भर बड़े वेग से चलती रहती है। अधिक उपजाऊ क्षेत्र न होने के कारण खेती थोड़ी होती है। देश के दक्षिणी भाग में जौ, गेहूँ, नाशपाती, सेव, अखरोट इत्यादि उगाए जाते हैं। कहीं-कहीं आलू और शाक इत्यादि भी। खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में अभी बहुत कम खोज हुई है। इस भूगर्भ में क्या-क्या अमूल्य निधियाँ पड़ी हैं ये प्रायः अज्ञात हैं। पश्चिमी भाग में जालुङ् नामक स्थान में सुवर्ण की सुप्रसिद्ध खान है। नदियों की रेती में थोड़ा सुवर्ण और रजत मिला हुआ है। पूर्वी भाग में ताँबा, लोहा, सुहागा, सोना और चाँदी की खानें हैं।

भारतवर्ष से तिब्बत जाने के लिए तीन प्रमुख व्यापारी-मार्ग हैं, जिनमें कालि-म्पोङ् वाला मार्ग बहुत लोकप्रिय है। लोग प्रायः खच्चर, घोड़े और चमरी गाय पर आते-जाते हैं। कालिम्पोङ् नगर से नाथूला दर्रे द्वारा अथवा जेलेप्ला द्वारा चुम्बी घाटी में पहुँचते हैं और वहाँ से फारि। फारि से ल्हासा के लिए दो मार्ग हैं, एक ह्राम्त्सो झील से और अन्य लम्बा मार्ग ग्यान्त्से होता हुआ है। द्वितीय मार्ग श्रीनगर—लेह्—शिगात्से—ल्हासा है। तृतीय, आसाम से त्सेथाङ् होता हुआ ल्हासा पहुँचता है। तिब्बत की राज-धानी ल्हासा है। ल्हासा का अर्थ है देवभूमि। राजा स्रोङ्चाङ्गाम्पो के पूर्वजों ने इसे बसाया था। ल्हासा की जनसंख्या ४ लाख से ज्यादा नहीं है। दूसरा प्रमुख नगर शिगात्से है जो ल्हासा से १३० मील दूर है। शिगात्से से ६० मील दूर ग्यान्त्से नगर है। यह भारत-ल्हासा मार्ग का अतिव्यस्त व्यापारिक नगर है।

तिब्बत के लोग शारीरिक रूप से बहुत पक्के होते हैं। स्त्रियाँ शारीरिक परिश्रम में पुरुषों के समान ही हैं। व्यापार में भी भाग लेती हैं। तिब्बत से ऊन, चंवर, जड़ी-बूटी इत्यादि भारत आती हैं, और भारत से, सूती वस्त्र, चावल, शक्कर, चाय, तेल, साबुन तम्बाकू तिब्बत जाते हैं। तिब्बतियों का प्रमुख भोजन जौ का सत्तू है जिसे येत्साम्पा कहते हैं। ये दिन-भर में ३०-४० कटोरे चाय पी जाते हैं। चाय को सोडा और नमक डाल कर पकाते हैं। जब पक जाती है तब मक्खन डाल कर मथते हैं, फिर चाँदी अथवा लकड़ी के बने कटोरों में डाल कर पीते हैं। आतिथ्य का प्रमुख अंग चाय पिलाना है। माँस खाने का बहुत प्रचलन है, किन्तु मछली नहीं खाते। चावल, फल और शाक केवल

धनी लोग विशेष अवसर पर बनवाते हैं। यह वैभव का चिह्न माना जाता है। जौ से बनी छाङ् अर्थात् मदिरा का सेवन भी बहुत होता है।

तिब्बती उत्सवों और मेलों में बहुत भाग लेते हैं। नववर्षारम्भ पर लगभग एक मास तक उत्सव मनाते हैं। सुप्रतिष्ठित आचार्य चोंखापा के निर्वाण-दिवस पर घी के दीप जलाते हैं। यह हमारी दीपावली के समान है। अमावस्या, पूर्णिमा तथा प्रतिपदा को मन्दिरों और विहारों में विशेष पूजा और अखण्ड पाठ होता है। तिब्बत में तिथि-गणना भारत के कालचक्र संवत्सर के आधार पर है। प्रत्येक व्यक्ति के पास प्रार्थना-चक्र होता है जिसे वह कार्य के बीच-बीच में भी चलाता रहता है। इसके अन्दर 'ओं मणिपद्मे हूं' मन्त्र लाखों बार लिखा रहता है। एक बार घुमाने से यह चक्र बहुत से चक्कर काटताहै। इसका अर्थ भक्त को उतनी बार मन्त्र पढ़ने का पुण्य मिल गया। इसी प्रकार बड़े-बड़े प्रार्थना-चक्र विहारों और मन्दिरों में भी लगे हैं। भक्त-जन आते-जाते इन्हें घुमाते हैं।

तिब्बत और भारत के धार्मिक-सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ और प्राचीन हैं। धार्मिकता के साथ-साथ बहुत से सामाजिक संस्कारों में भी परस्पर सामंजस्य है। नवजात शिशु का तीन दिन के पश्चात् शुद्धि-संस्कार होता है। सब दिशाओं में शुद्धि-जल छिड़कते हैं। सम्बन्धी और मित्र निमन्त्रित किए जाते हैं। ज्योतिषी को बुलाया जाता है। वह जन्म-कुण्डली बनाता है और बच्चे को आशीर्वाद देता है। सब परिजन भी बच्चे और माँ को उपहार देते हैं।

विवाह का आयोजन माता-पिता करते हैं। ज्योतिषी को बुलाकर शुभ मुहूर्त में वर-वधू की जन्मपत्री मिलवाते हैं। कुण्डली देखकर ज्योतिषी दोनों के गुण मिलाता है। नक्षत्रों की दशा बताता है। यदि कुण्डली मिल जाती है तो विवाह का निश्चय होता है। शुभमुहूर्त निकाल कर वर-वधू के पिता को सूचना दे देता है। विवाह संस्कार ज्योतिषी सम्पन्न करवाता है। बरात में वर वधू के घर नहीं जाता, अपितु वर के सम्बन्धी मित्र इत्यादि वधू के लिए वस्त्र, अमूल्य आभूषण तथा पाँच रंगबिरंगे वस्त्रों में लिपटा हुआ बाण लेकर वधू के यहाँ जाते हैं। बाण वधू के पास भिजवा दिया जाता है। वरपक्ष के वस्त्र-आभूषण पहनकर वधू बाण को कन्धे पर लटका लेती है। बहुत-सी सखियाँ उसको सजा-धजा कर उसे पहुँचाने वर-पक्ष के घर तक जाती हैं। मार्ग में कई स्थानों पर वर-पक्ष की स्त्रियाँ वधू के स्वागत में तीन दिशाओं में त्रिरत्नों के लिए छींट देती हैं। घर में प्रवेश के समय ज्योतिषी मन्त्र-पाठ करता है। एक कोष्ठ में लामा मन्त्र-पाठ करते रहते हैं। अतिथि बहुत बड़ी संख्या में आते हैं। जितना बड़ा व्यक्ति होता है उत्सव उतनी ही धूमधाम से ८-१० दिन तक चलता रहता है। वधू को बीच में बिठा कर नीलम और मूँगे से जड़ा हुआ सिर पर पहनने का टीका दिया जाता है। विवाहोत्सव सम्पन्न होने पर सब अतिथि अपने घर चले जाते हैं तो वधू अपने पति के साथ रहने लगती है।

तिब्बत में मृत्यु-संस्कार के समय भी ज्योतिषी बुलाया जाता है। वह मृत्यु-समय के अनुसार संस्कार का मुहूर्त निकालता है। मृत शरीर की पूजा करके उसकी आत्मा के पुनर्जन्म के लिए मन्त्र-पाठ करते हैं। फिर उसे श्मशान-भूमि, जोकि एक ऊँचे पर्वत पर बनी रहती है, में ले जाते हैं। वहाँ शव के खण्ड करके गिद्धों और चीलों को खिला देते हैं। तिब्बती कहते हैं मिट्टी से उत्पन्न शरीर पुन: मिट्टी में मिल जाएगा, यदि उस मिट्टी से किसी का पेट ही भर जाए तो कल्याण ही है। उसका पुण्य उसे आगामी जन्म में मिलेगा। सामान्य व्यक्तियों का संस्कार तो ऐसे किया जाता है परन्तु बड़े लामा तथा पुजारियों को समाधि-अवस्था में ही रखा जाता है। मृत शरीर पर नमक लगा कर तीन दिन तक रखा रहने देते हैं। नमक से सारे शरीर का पानी निकल जाता है। फिर शरीर पर एक विशेष प्रकार की मिट्टी चढ़ा देते हैं। फिर सोने के पत्र से सारा शरीर मढ़ देते हैं। हाथ में कलश अथवा कोई भी वस्तु पकड़ा देते हैं। फिर उसके लिए विशेष मण्डप और मन्दिर बनवाते हैं। उसमें मूर्ति की प्रतिष्ठा करते हैं। कई बार छोर्तेन् (चैत्य) में रखकर चारों ओर से बन्द कर देते हैं। लामा के उपयोग में लाई गई पुस्तकें इत्यादि सब वस्तुएँ चैत्य में बन्द कर देते हैं।

छठी शताब्दी तक तिब्बत में विशेष धर्म और सभ्यता नहीं थी। भूत-प्रेत, जादू-टोने से ओतप्रोत बोन् मत का प्रसार था। सातवीं शताब्दी में सोङ्चाङ्गाम्पो नामक एक शक्तिशाली सम्राट् हुआ। इसने तिब्बत के छोटे-छोटे राज्यों को जीत कर एक बड़ा साम्राज्य बनाया। चीन का भी बहुत-सा भाग जीतकर अपने में मिला लिया। सोङ्चाङ्गाम्पो ने नेपाल-नरेश अंशुवर्मा की पुत्री भृकुटी देवी तथा चीन के राजा की पुत्री वन्छङ् से विवाह किया। दोनों रानियाँ बौद्ध थीं। नेपाल की राजकुमारी अपने साथ अक्षोभ्य बुद्ध, मैत्रेय और चन्दन-निर्मित तारा-देवी की मूर्तियाँ लाई और चीन की राजकुमारी शाक्यमुनि की रत्नजटित मूर्ति लाई। राजा पर दोनों रानियों का बहुत प्रभाव पड़ा और वह स्वयं बौद्ध-धर्म के प्रसार में जुट गया। राजा ने दोनों रानियों की मूर्तियों के लिए अलग-अलग मन्दिर बनवाए अक्षोभ्य के लिए जोखाङ् का परम ऐतिहासिक मन्दिर बनवाया और शाक्यमुनि के लिए रासा में मन्दिर बनवाया। यह रासा शब्द ही कालान्तर में ल्हासा नाम से प्रसिद्ध हो गया। सोङ्चाङ्गाम्पो के राज्यकाल में बौद्धधर्म राजधर्म बना। दोनों रानियाँ तारा-देवी का अवतार मानी जाने लगीं। नेपाल की हरित तारा, और चीन की श्वेत तारा के रूप में पूजी जाने लगीं। अभी तक तिब्बत की भाषा का कोई लिखित रूप न था। रानियों की प्रेरणा से राजा ने थोम्मि सम्भोट को भोट भाषा के लिए लिपि और धार्मिक ग्रन्थ लाने के लिए १६ व्यक्तियों के साथ भारतवर्ष भेजा। थोम्मि सम्भोटने भारत में ब्राह्मण लिपिदत्त और पण्डित देववित्सिंह के अधीन वर्षों तक अध्ययन किया। जब अपने देश लौटे तो अनेक ग्रन्थ साथ ले गए और नागरी के पूर्वरूप से भोट लिखने के लिए लिपि

बनाई। थोम्मि सम्भोट ने कारण्डव्यूह का अनुवाद भोट में किया और संस्कृत व्याकरण के आधार पर भोट व्याकरण बनाया। सोङ्चाङ्गाम्पो ने इन ग्रन्थों का अध्ययन चार वर्ष तक किया। इसके पश्चात् राजा का पौत्र ठिस्रोङ्देत्सन् बहुत शक्तिशाली हुआ। इसका पुरोहित शान्तरक्षित था। शान्तरक्षित के आग्रह से राजा ने नालन्दा विश्वविद्यालय के तान्त्रिक योगाचार्य पद्मसम्भव को ७४७ में तिब्बत बुलाया। इन्होंने तिब्बत में तान्त्रिक महायान की स्थापना की। बोन् मत के देवी-देवताओं को भी बौद्ध देवी-देवताओं के साथ स्थान दिया। दीक्षा की प्रथा डाली। पद्मसम्भव ही तिब्बत में लामा-धर्म के जन्मदाता हैं। इनका तान्त्रिक धर्म-नाम पीछे से निङ्मापा (रक्तोष्णीष) कहलाया। इन्होंने साप्ये विहार की स्थापना की। शान्तरक्षित को प्रथम मठाधीश बनाया। साप्ये विहार मगध के ओदन्तपुरी की शैली का बना है। ठिस्रोङ्देत्सन् के राज्य-काल में बहुत से भारतीय पण्डित तिब्बत गए। संस्कृत से भोट भाषा में अनुवाद सहस्रों की संख्या में हुआ। संस्कृत-भोट कोष-महाव्युत्पत्ति इस युग की अमर कृतियों में से है। इस राजा के पश्चात् नवीं शताब्दी के अन्त में राल्याचन् नामक धर्मप्रिय राजा हुआ। इसने संस्कृत से भोट भाषा में अनेक ग्रन्थ अनुवाद करवाए। संस्कृत और भोट अनुवादकों की समिति बनाई और स्वयं अध्यक्ष बना। बौद्ध धर्म को सुसंगठित किया और भारत के अनुसार माप-तोल बनवाए। भारत के समान सिक्के चलाए। ११वीं शताब्दी में दीपंकर श्रीज्ञान अतीश तिब्बत आए। इन्हें मञ्जुश्री का अवतार माना जाता है। अतीश ने धर्म का सुधार किया और कादम्पा सम्प्रदाय की स्थापना की। ३०० वर्ष पश्चात् यह कादम्पा सम्प्रदाय गेलुक्पा (पीतोष्णीष) बन गया, जो कि आज तक चला आ रहा है। १३वीं शताब्दी में चीनी-सम्राट् कुब्लइ खाँ ने अपनी सभा में सब धर्मों के प्रतिनिधियों की सभा बुलाई। बौद्ध, मुसलमान और ईसाई सब उपस्थित हुए। तिब्बत से साचापण्डित तथा अन्य लामा गए। राजा ने कहा कि कोई ऐसा अनोखा कृत्य उपस्थित करो जिससे तुम्हारे धर्म की श्रेष्ठता प्रकट हो। सब चुपचाप बैठे रहे। बौद्ध लामाओं ने भूमि पर रखा चषक अज्ञात, अदृश्य मनःशक्ति द्वारा राजा के मुँह तक पहुँचा दिया। समस्त सभाजन और प्रतिनिधि चकित रह गए। उस दिन से कुबलइखाँ स्वयं बौद्धधर्म के प्रचार में जुट गए। साचा पण्डित को तिब्बत का शासक घोषित कर दिया। इसने मोंगोल देश में बहुत से विहार और मन्दिर बनवाए तथा पैकिङ् में एक बड़ा भारी बौद्ध-विहार बनवाया। जो भारतीय ग्रन्थ भोट में अनुवाद हो गए थे उनका मोंगोल में अनुवाद करवाया। १५वीं शताब्दी में चोंखापा नामक शक्तिशाली विद्वान् लामा ने अतीश के सम्प्रदाय को सुधार कर गेलुक्पा सम्प्रदाय की स्थापना की। सर्वप्रथम लामा गेदेन्डुप् था। इसी ने सुप्रसिद्ध टाशिल्हुम्पो विहार की स्थापना की। इसके महागुरु आजकल पाण्छेन् लामा कहलाते हैं। तीसरे महालामा को मोंगोल सम्राट् आल्तान् खाँ ने दलाई लामा की उपाधि दी। दलाई मोंगोल भाषा का

शब्द है जिसका अर्थ सागर है। दलाई लामा उपाधि आज तक चली आ रही है। इसके पश्चात् पाँचवें दलाई लामा बहुत शक्तिशाली हुए। अवलोकितेश्वर के अवतार माने जाने लगे। इन्होंने पोतल नामक राजप्रासाद बृहद् रूप में बनवाया। पोतल संस्कृत का शब्द है। अवलोकितेश्वर के निवास-स्थान का नाम पोतल है। छठे-सातवें-आठवें दलाई लामाओं के समय राजव्यस्था पूर्ववत् चलती रही। आठवें के पश्चात् चार दलाई लामा वाल्यावस्था में ही मारे गए। तेरहवें दलाई लामा ने १८९३ में राज्यभार सम्भाला। १९३३ में इनकी मृत्यु हो गई। १४वें दलाई लामा ६ जून १९३५ में उत्पन्न हुए और १९४० में गद्दी पर बैठे। ये वर्तमान दलाई लामा हैं जो कि तिब्बत पर चीनी आक्रमण होने के कारण अपने मन्त्रिमण्डल सहित अप्रैल १९५९ को भारत आ गए और आजकल हमारे शासन के सम्मानित अतिथि के रूप में रह रहे हैं। तिब्बत के कोने-कोने में सहस्रों विहार, मन्दिर और चैत्य हैं। इनके पूर्ण विस्तार के लिए सहस्रों पृष्ठ चाहिए। भारत में सातवीं शताब्दी में जिस प्रकार के विहार बनते थे, तिब्बत में उसी शैली के विहार हैं। सबसे प्राचीन साम्ये विहार है। यह ल्हासा से ३० मील दूर है। यह भारतीय आचार्य पद्मसम्भव और शान्तरक्षित के निरीक्षण में मगध के ओदन्तपुरी मठ की शैली पर आधारित है। विश्वरूप की कल्पना पर भवन का निर्माण हुआ है। इसमें चार विशाल विद्यालय हैं, जिनमें लामाओं को शिक्षा दी जाती है। मूर्तियाँ सुवर्ण-निर्मित हैं, और अमूल्य वस्त्र आभूषणों से अलंकृत हैं।

गेलुक्पा सम्प्रदाय के प्रमुख चार विहारों के नाम गादेन्, ड्रेपुङ्, सेरा और टाशि-ल्हुम्पो हैं। गादेन् विहार की स्थापना चोंखापा ने की थी। यह ल्हासा से २५ मील उत्तर में है। इसमें चोंखापा के हाथ के लिखे ग्रन्थ रखे हुए हैं। यहाँ ३३०० लामा हैं। इनका अध्ययन-अध्यापन भारतीय दर्शन, तन्त्र, ज्योतिष इत्यादि के आधार पर होता है। विहार की राजनीतिक शक्ति बहुत रही है। सम्पूर्ण तिब्बत में इसका बहुत आदर रहा है।

ड्रेपुङ् विहार कलिङ्ग (भारत) के तान्त्रिक विहार श्रीधान्यकटक के आधार पर बना है। यह ल्हासा से तीन मील पश्चिम में स्थित है। ड्रेपुङ् विहार में नालन्दा विश्व-विद्यालय के पाठ्यक्रम के अनुसार अध्ययन होता है। दर्शन और तर्कशास्त्र जैसे गम्भीर विषयों पर लामा यहाँ शास्त्रार्थ करते हैं। यहाँ ७००० लामा निवास करते हैं। यहाँ की मूर्तियाँ भारत की कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अनन्त भवनों में सहस्रों सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित हैं। नित्य इनकी पूजा होती है। यहाँ साइबेरिया, मोंगोल देश तथा मंचूरिया से बौद्ध-भिक्षु अध्ययन हेतु आया करते थे। यह सबसे बड़ा विहार है।

ल्हासा से डेढ़ मील उत्तर में सेरा विहार है। सेरा और ड्रेपुङ् सदा से प्रति-द्वन्द्वी विहार रहे हैं। ड्रेपुङ् का अर्थ है धान्य-राशि और सेरा का अर्थ है हिमवृष्टि अर्थात् हिमवृष्टि से धान्य नहीं उग सकता। सेरा लामाओं और ड्रेपुङ् लामाओं का संघर्ष पुराना है। सेरा का चिह्न वज्र है। लामाओं की संख्या ५५०० है। यहाँ भारतीय योग-प्रक्रिया

के अनुसार लामा समाधि लगाते हैं। वैसे तो सभी विहार पर्वतों पर स्थित हैं किन्तु सेरा विहार के पर्वत हरितिमा से आवृत हैं। क्रमशः ऊँचाई होने के कारण भवन भी उसी प्रकार से बने हैं। यहाँ बहुत-सी ऐतिहासिक मूर्तियाँ सुन्दर वस्त्र-आभूषणों से सजी खड़ी हैं। इसका पुस्तकालय अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थों से परिपूर्ण है।

टाशिल्हुम्पो का अर्थ है मंगलकूट। यह पाण्छेन् लामा का निवास-स्थान है। ये अमिताभ बुद्ध के अवतार माने जाते हैं। इनकी स्थिति दलाई लामा के पश्चात् दूसरी है। टाशिल्हुम्पो विहार की स्थिति साङ्पो (ब्रह्मपुत्र) नदी के दक्षिणी तट पर है। शिगात्से नगर इससे एक मील की दूरी पर है। यह तारा-देवी नामक पहाड़ी पर स्थित है। लामाओं की संख्या ४००० है। विहार के मध्य में १०० उच्च स्तम्भों पर आधारित एक विशाल सभा-भवन है जिसमें ३००० लामा एक साथ बैठ सकते हैं। इस विहार में चार बड़े विद्यालय हैं। प्रत्येक विहार थंकाओं (पट-चित्रों) से सुसज्जित रहता है, किन्तु यहाँ इतने विशाल थंका हैं कि ग्रीष्म उत्सव के समय पहाड़ी पर बने ऊँचे भवन से उन्हें जनता के दर्शनार्थ नीचे लटका देते हैं। शिगास्ते की सारी जनता इन पटचित्रों से, जिनमें देवी-देवताओं के स्वर्गीय चित्र बने रहते हैं—देखकर तृप्त हो जाती है। एक-एक थंका की लम्बाई २०० फुट तक होती है। विशेष उत्सव के समय मन्दिर के प्रांगण में लामा 'छाम्' अर्थात् धर्म-नृत्य करते हैं।

ल्हासा में नोर्बुलिका और पोतल के मध्य छाक्योरि पहाड़ी पर आयुर्वेदिक विद्यालय स्थित है। इस विद्यालय में शिक्षा वाग्भट-विरचित अष्टाङ्गहृदय के आधार पर दी जाती है। अष्टाङ्गहृदय का अनुवाद भोट भाषा में बहुत पहले ही हो चुका है। यहाँ भारत के आयुर्वेद के आधार पर चिकित्सा की जाती है। जड़ी-बूटियों को कूट कर औषधियाँ बनाई जाती हैं। शरीर के अध्ययन के लिए भित्तियों पर मनुष्य-अवयवों को प्रदर्शित करने वाले चित्र लटके हैं। ऐसे बहुत से ग्रन्थ हैं जिनमें शल्यकर्म करने के लिए विभिन्न प्रकार के यन्त्रों के चित्र हैं, औषधियों के लक्षण और चित्र हैं। भैषज्यगुरु अधिष्ठातृदेव हैं। मन्त्रचिकित्सा का भी बहुत प्रचलन है। इसी विद्यालय का बहुत अनुभवी और आयुर्वेद में निष्णात वैद्य दलाई लामा जी का चिकित्सक होता है। त्रिदोष पद्धति से समस्त चिकित्सा की जाती है।

तिब्बत की कला के दर्शन विहारों और मन्दिरों में होते हैं। कला के अनुपम भण्डार यहीं सुरक्षित हैं। प्रायः कलाकार लामा ही होते हैं। थंका (पट-चित्र), मूर्ति, मन्दिर के पूजा-पात्र तथा नित्य प्रयोग के पात्र, पूजा-पटल इत्यादि वस्तुओं में कला का सौन्दर्य फूट पड़ता है। पत्थर, लकड़ी, वस्त्र-जैसी जड़ वस्तुएँ भी कला का आश्रय पाकर शाश्वत सौन्दर्य का प्रतिपादन करने लगती हैं। थंका कौशेय, सूती वस्त्र और पत्र पर बनाए जाते हैं। बड़ी साधना के पश्चात् कलाकार के मनःपटल पर कोई चित्र प्रस्फुटित

होने लगता है। बम उसी का प्रतिविम्ब पट पर बना देता है। सुनहरा और रूपहरा रंग वास्तविक सुवर्ण और रजत से, मणियों का रंग मणि को घिसने से बनाया जाता है। थंकाओं में देवी-देवताओं, स्वर्ग, भूतल और नरक, प्रकृति के दृश्य, इत्यादि के चित्र होते हैं। प्रत्येक में किसी न किसी धार्मिक कृत्य का प्रतिपादन है। चित्र प्रायः शाक्यमुनि, अवलोकितेश्वर, चोंखापा, अतीश, पद्मसम्भव, दिक्पाल, धर्मपाल, तारादेवी इत्यादि के होते हैं। चित्र के बन जाने पर उसमें चारों ओर अलंकृत प्रान्त लगाते हैं और लटकाने के लिए सुतली। यह भित्ति पर लटका दिया जाता है। मूर्तियाँ सोने, चाँदी, पीतल, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर इत्यादि की बनी होती हैं। बड़ी से बड़ी मूर्ति २०० पाद (फुट) और छोटी से छोटी मूर्ति आधे इंच की होती है। देवी-देवता, रक्षक देवता, धर्मपाल इत्यादि की असंख्य मूर्तियाँ एक-एक विहार में सुसज्जित रहती हैं। मूर्ति बन जाने पर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। जिस देवी-देवता की मूर्ति है उसका आह्वान किया जाता है। मन्त्र-पाठ द्वारा देवता की आत्मा उसमें प्रतिष्ठित की जाती है। फिर मूर्ति के तले में रत्नमणि, मन्त्र आदि रखकर उसे बन्द कर देते हैं। मन्दिर की सब ही मूर्तियाँ प्राण-प्रतिष्ठित होती हैं।

पूजा-पात्र तथा लामाओं के सामान्य उपयोग के पात्र चाँदी, पीतल आदि के बने होते हैं। पूजा के पात्र, घण्टा, वज्र, स्तूप, नव-रत्नों के रूप, कलश, श्रीवत्स, चैत्य, दीपक आदि बहुत सुन्दर बने होते हैं। प्रतिदिन के प्रयोग के चाय और भोजन के पात्र प्रायः चाँदी, पीतल तथा लकड़ी के होते हैं। चाय के पात्र विशेष आकर्षक होते हैं। प्रत्येक विहार में चाय बनाने का पात्र इतना बड़ा होता है कि २०००-३००० व्यक्तियों की चाय एक साथ बन सकती है। चाय पीने के लिए कटोरे होते हैं। वस्तु रखने के लिए चौकियाँ बहुत सुन्दर चटक रंगों से चित्रित रहती हैं। इनमें स्वस्तिक, अष्टमंगल, नवरत्न इत्यादि बने रहते हैं। पुस्तक रखकर पढ़ने के लिए भी इनका प्रयोग किया जाता है। प्रायः बैठने के लिए भी चौकियों का प्रयोग किया जाता है।

मन्दिर की छतें बाहर से सुनहरे रंग से पुती रहती हैं। ये छतें कलश, धर्मचक्र, मृगदाव के प्रतीक दो मृग आदि से सुशोभित होती हैं। छत के अन्दर के भाग में मण्डल बने रहते हैं।

भोट भाषा देश के विभिन्न भागों में थोड़े-थोड़े भेद से बोली जाती है किन्तु ल्हासा की भाषा सब समझते हैं। सातवीं शताब्दी तक यहाँ कोई साहित्य न था। बौद्ध-धर्म के प्रवेश से संस्कृत के ग्रन्थ अनुवाद होने लगे। बुद्ध के मुख से निकले वचनों का संग्रह कंजूर ग्रन्थमाला में हुआ और उन पर टीकाएँ तंजूर ग्रन्थमाला में संगृहीत हुईं। कंजूर के १०८ भाग हैं और तंजूर के २२५ भाग हैं। एक-एक भाग में एक-एक सहस्र पृष्ठ हैं। ये ग्रन्थ लकड़ी के फट्टों पर खोदकर फिर हाथ के बने पत्र पर छापे जाते हैं। एक-एक

भाग को कौशेय वस्त्र में लपेट कर ऊपर विषय और अंक की पट्टी लगाकर अलमारी में रखते हैं। प्रत्येक मन्दिर और विहार में इनकी कई प्रतियाँ होती हैं। कंजूर में विनय, प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, अवतंसक, सूत्र और तन्त्र विषय हैं। तंजूर में धारणी, स्तोत्र, तन्त्र, प्रज्ञापारमिता, मध्यमक दर्शन, सूत्र, योगाचार, अभिधर्म, विनय, जातक, पत्र, न्याय, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, रसायन-शास्त्र, नीति आदि हैं। प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में स्पष्ट लिखा रहता है कि यह संस्कृत भाषा से अनुवाद किया गया है। संस्कृत का मेघदूत, काव्यादर्श, छन्दोरत्नाकर, वृत्तमाला, पाणिनिसूत्र, चाणक्य-नीतिशास्त्र, सुभाषितरत्न-निधि, अमरकोष, विश्वलोचन कोष, अष्टाङ्गहृदय, प्रतिमामानलक्षण तथा अन्य असंख्य ग्रन्थ भोट भाषा में मिलते हैं। इस अमूल्य निधि को सुरक्षित रखने में भारतीयों को पूर्णरूपेण सहयोग देना चाहिए। यह निधि भारतीय इतिहास के विलुप्त अध्यायों पर प्रकाश डालने में समर्थ है।

भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषता

सुधाकर दीक्षित

माननीय श्रीमान् आदित्यनाथ झा महोदय सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न एक अप्रतिम शासक तथा भारतीयता के पोषक हैं। उनके अभिनन्दन से सम्बद्ध ग्रन्थ में यदि मैं भारतीय अर्थशास्त्र की चर्चा करूँ, तो यह अप्रासंगिक न होगा। क्योंकि शासन तथा अर्थ-व्यवस्था का बहुत ही गहरा एवं परस्पर-सापेक्ष सम्बन्ध है। अर्थ-व्यवस्था की सफलता आर्थिक सन्तुलन बनाए रखने पर ही निर्भर है। यह प्रश्न है तो बहुत जटिल; क्योंकि सब काम धन से ही होते हैं; इसलिए यत्नपूर्वक धन का अर्जन करना चाहिए :

"धनमूलाः क्रियाः सर्वा यत्नस्तस्यार्जने मतः।"

(नारद)

यह सर्वमान्य स्वभाविक तथ्य है। ऐसी स्थिति में धन-अर्जन में सभी की स्वाभाविक प्रवृत्ति होना अनिवार्य है। जब प्रत्येक व्यक्ति धन-अर्जन के लिए जी-जान से प्रवृत्त होगा तब परस्पर संघर्ष, आर्थिक विषमताएँ, अर्थोपार्जन के लिए अनुचित साधनों तक का भी एकत्रीकरण—ये सब दुष्परिहार्य हो जाते हैं और ये ही सब शासन को दुर्बल या समाप्त करने के लिए आधारशिला बन जाते हैं। अतः अर्थशास्त्र का मुख्य कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसी व्यवस्था शासक को दे जिसके अनुसार सभी को अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए उचित मात्रा में अर्थ तो प्राप्त होता रहे, पर अर्थोपार्जन के प्रश्न पर परस्पर टकराव न हो, इसके लिए यद्यपि आधुनिक अर्थशास्त्र बहुत कुछ सोच-समझ रहा है, पर भारतीय अर्थशास्त्र का भी दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में समझना बहुत आवश्यक है।

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि मुख्य रूप में अर्थार्जन का अधिकारी किसी वर्ग-विशेष को—जिसकी अर्थार्जन में स्वाभाविक प्रवृत्ति हो—बनाकर ही अर्थार्जन से सम्बद्ध पारस्परिक संघर्ष को मिटाया जा सकता है, और जिस वर्गविशेष को यह अधिकार दिया जाय उसे कुछ ऐसे स्वाभाविक नियमों से सहज रूप में आबद्ध कर दिया जाय कि वह अधिकाधिक धनार्जन में ही अपनी ज्येष्ठता समझे पर उसके संरक्षण एवं अपनी श्रेष्ठता का मेरुदण्ड तथा अपने जीवन का मूल आधार अर्जित धन के उचित वितरण को ही समझे ऐसा होने पर अन्य विभिन्न वर्ग राष्ट्र की उन्नति में असाधारण सहायक किन्हीं अन्य

कार्यों में निश्चिन्त होकर लगे रहेंगे तथा अहमहमिकया धनार्जन का संघर्ष और आर्थिक-असन्तुलन सदा के लिए समाप्त रहेगा।

इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर भारतीय अर्थशास्त्र में वैश्य-वर्ग को धनोपार्जन के उचित साधन एवं उपार्जित धन का अध्यक्ष बनाया गया है और उसे धनोपार्जन के लिए पूर्ण उत्साहित करने के साथ-साथ कर्त्तव्य कोटि में परिगणित ऐसे धार्मिक नियमों से नियमित किया गया है, जिससे वह शरीर में विद्यमान उदर की भाँति स्वयं समस्त धन का संग्राहक होता हुआ भी पूरे समाज में यथासमय उचित रूप में आवश्यक पोषक-तत्त्व पहुँचाता रहे। फलतः निःसीम आर्थिक असन्तुलन, शोषक-शोषित की भावना सदा के लिए समाप्त हो जाय जिससे शासन की नींव सदा सुदृढ़ बनी रहे।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' का चतुर्थ ब्राह्मण देखने से स्पष्ट है कि प्रजापति ने परि-पालयिता क्षत्रिय-जाति की सृष्टि करने के अनन्तर धनोपार्जयिता के बिना सृष्टिसंरक्षण एवं पालन असम्भव देखकर धनोपार्जन करने के लिए वैश्यजातीय अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, विश्वदेव आदि देवताओं की सृष्टि की और इन्हीं वैश्यजातीय अष्टवसु आदि देवताओं से अधिष्ठित तमोगुण के साथ रजोगुण-प्रधान वैश्यजातीय मनुष्यों को भी 'ऊरूदतस्य यद्वैश्यः' इस ऋचा के अनुसार अपने ऊरु से उत्पन्न किया। यह ऋचा ऋग्वेद (ऋक् सं० ८।४।१८।१२) में तथा यजुर्वेद (यजु० सं० ३१।११) में समुपलब्ध है।

गम्भीरता से विचार किया जाय तो एकमात्र धनोपार्जन के लिए सृष्ट अष्टव-स्वादि से अधिष्ठित तथा तमोगुण के साथ रजोगुण-प्रधान इन वैश्यों की धनोपार्जन की ओर स्वतः प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में कहीं वे अनुचित रीति से धनो-पार्जन कर या उपार्जित धन का दुरुपयोग कर व्यष्टि एवं समष्टि को क्षतिग्रस्त न कर सकें इसके लिए उनके स्वभाव के अनुरूप धनोपार्जन के ही साधन कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि धर्म के रूप में उन्हें समुपदिष्ट हैं, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट ही कहा है कि तम के साथ रजोगुण-प्रधान होने से वैश्यों का स्वभावज कर्म कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य है :

"कृषि गोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।"

१८।४४

कौटिल्य ने भी कहा है—

कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च॥

अधि० १ अध्याय ३

इसके अतिरिक्त जबकि धन सभी कार्यों की सम्पन्नता के लिए अत्यन्त उपयोगी है तब भी अतिरिक्त तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं शूद्र के लिए उसका अनर्जन अनावश्यक मानकर प्रजापति ने धनोपार्जन विषयक स्वाभाविक प्रवृत्ति से युक्त एकमात्र वैश्य को

ही अपने ऊरु से उत्पन्न किया। इसी से निश्चित ही वैश्यों के एक आवश्यक एवं असा-धारण धर्म का स्पष्ट संकेत मिलता है कि जैसे एकमात्र ऊरु समस्त शरीर का आधार होने के साथ-साथ शरीर के ऊर्ध्वभाग एवं अधोभाग के बीच सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित करता है. वैसे ही वैश्य भी वेद-शास्त्रोक्त स्वधर्मपालन करता हुआ पूरे समाज का एक सुदृढ़ आधार होने के साथ-साथ ऊपर से नीचे तक समस्त समाज को एक दृढ़तर परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध से सदा आबद्ध रखे; अर्थात् दम्भ-मोह विरहित, सत्यवाक्, स्वभार्यारत वैश्य ने धन को जिस समाज से कमाया है उसी समाज का उस धन को धरोहर समझकर स्वयं एक ट्रस्टी या अध्यक्ष के रूप में समाजहित को दृष्टि में रखते हुए उसी की सेवा में उस धन का उपयोग करे। मनु ने स्पष्ट ही कहा है कि वैश्य सदा धर्मपूर्वक धन बढ़ाने के लिए प्रयत्न करता रहे और सब जीवों को अन्न देता रहे।

धर्मेण च द्रव्य वृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥

मनु० ९।३३३

ऐसा करते हुए—जितने से उदरभरण हो सके उतने में ही अपना स्वत्त्व समझना चाहिए, अधिक में निजी स्वत्त्व की भावना रखने वाला चोर के समान दण्ड्य है—

यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्त्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

श्रीमद्भागवत, स्क० प्र० अ० १४ श्लो० १८

जितने के बिना काम न चल सके उतने की ही इच्छा रखें, उससे अधिक की इच्छा रखने वाले से यदि कोई प्रश्न करे तो उसका वह क्या उत्तर देगा?—

वर्त्तते येन न विना नरो वाच्यतु नाम तत्।
ततोऽधिकार्थप्रणयी पृष्ठो दद्यात् किमुत्तरम्॥

इस आदर्श के अनुरूप यदि वैश्य अपना जीवन व्यतीत करने लगें, तो निश्चित ही आज का विषमतामय सामाजिक स्तर बिना किसी प्रकार के संघर्ष या खूनी क्रान्ति के ही केवल स्वयं अपने ऊपर नियन्त्रण एवं पारस्परिक सहयोग के बल पर एक ऐसे शाश्व-तिक शान्तिमय साम्य से ओत-प्रोत हो सकता है जिसकी कल्पना भी आज के आधुनिक साम्यवादी नहीं कर सकते।

यह एकमात्र वन्य कन्द-मूल फलाशी परम कारुणिक महर्षियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही माहात्म्य है कि व्यष्टि एवं समष्टि दोनों धार्मिक, आर्थिक आदि सभी दृष्टियों से पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी पूरक एवं पूरित के रूप में परस्पर अनुपमेय समन्वय स्थापित कर किसी भी परिस्थिति में देश का वर्तमान एवं भविष्य समुज्ज्वल बना सकते हैं।

इधर तो भारतीय अर्थशास्त्र ने—

"वैश्यानां धान्यधनतः।"

मनु० २।१५५

"वलं वित्तञ्च वैश्यानाम्।"

चाणक्य नी० २।१६

"वैश्यानां धान्यधनवान्।"

(महाभा० वि० भ० ३८।१७)

आदि वचनों के द्वारा वैश्यों की श्रेष्ठता अधिक धनोपार्जन से ही सम्भव है, ऐसा उपदेश देकर उचित रीति से सतत धनोपार्जन करने के लिए वैश्यों को पूर्ण उत्साहित किया और इधर—

"नादत्तं कस्यचिदुपतिष्ठते।"

(विना दिए किसी को कोई वस्तु नहीं मिलती) आदि अनेक वचनों के आधार पर दान का सर्वातिशायी महत्त्व वताते हुए—

"दद्याच्च सर्वभूतानां भक्तमेव प्रयत्नतः।"

(प्राणिमात्र को अन्न आदि सभी आवश्यक वस्तुएँ प्रयत्नपूर्वक देनी चाहिए) आदि वचनों के द्वारा उपार्जित धन को प्रसन्नता के साथ अपने हाथों समाज में सोत्साह वितरण करने के लिए प्रेरित किया जिससे पारलौकिक उत्कृष्ट फल-प्राप्ति के साथ छीना-झपटी, लूट-खसोट के विना ही, सारा समाज उचित रीति से अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर ले।

इतने पर भी यदि कोई तमः प्रकृतिक वैश्य उचित रीति से धनोपार्जन एवं उपार्जित धन का सोत्साह वितरण करने के लिए प्रस्तुत न हो तो उसकी—

"द्वावम्भसि निवेष्टव्यो गले वद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनिनं चाप्रदातारं दरिद्रञ्चातपस्विनम्॥

(दान न देने वाले धनिकों और तपस्या न करने वाले दरिद्र के गले में पत्थर बाँधकर समुद्र में डुवो देना चाहिए) आदि वचनों के द्वारा निन्दा किया तथा दण्ड का विधान किया जैसा कि मनु ने स्पष्ट कहा है—राजा वैश्य से वाणिज्य, कुसीद, कृषि एवं पशुरक्षण अवश्य कराए, अर्थात् यदि वैश्य यह सहन करे तो दण्ड्य है—

वाणिज्यं कारयेद् वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशूनां रक्षणञ्चैवः·················॥

मनु० ८।४।१०

अनुर्वाणो वैश्यशूद्रौ राज्ञा दण्डयावित्येवमर्थमिहोपदेशः।

कुलनूक भट्टः

जैसे उदाहरणार्थ वैश्य के अन्यतम धर्म कृषि को ले सकते हैं। क्षेत्र (खेत) पर

सर्वात्मना क्षेत्रिक (खेतिहर) का ही अधिकार है। फिर भी क्षेत्रिक के पशु द्वारा ही उसी के क्षेत्र के धान्य की हानि हुई अथवा क्षेत्रिक की ही असावधानी से उसी से क्षेत्र में यथा-समय बीजवपन न होने से या असमय में बीजवपन होने से धान्य की हानि हुई, तो राज-भाग की जितनी हानि हुई हो उसका दशगुणित क्षेत्रिक को दण्ड होगा और क्षेत्रिक न जान पाए। ऐसी दशा में उसके भृत्यों ने उक्त प्रकार से धान्य की हानि की हो तो राज-भाग की जितनी हानि हुई हो, उसका पञ्चगुणित क्षेत्रिक को ही दण्ड होगा।

मनु० ३।४

इस व्यवस्था का स्पष्ट तात्पर्य यही है कि कृषि तथा अन्य भी इसी प्रकार के धनोपार्जन के साधन या उपार्जित धन के भले ही 'विकेन्द्रित सत्तावाद' के आधार पर वैश्य अधिकारी रहें, पर उन्हें सावधानीपूर्वक यथानियम समय से धनोपार्जन एवं उपार्जित धन का वितरण करना ही होगा, जिससे राष्ट्र को क्षति न पहुँचे तथा वे भी समृद्ध रहें।

इस तरह आज साम्यवादी या समाजवादी दृष्टिकोण के आधार पर सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में 'विकेन्द्रित सत्तावाद' को दूषित करने के लिए जितनी भी शंकाएँ उठाई जाती हैं, उनका सही रूप में समाधान हो जाता है।

मनु ने वैश्यों का असाधारण धर्म दो प्रकार का बताया है—एक धर्मार्थ और दूसरा जीविकार्थ। जीविकार्थ तो वाणिज्य, पशुपालन, कृषि आदि हैं और धर्मार्थ दान, अध्ययन तथा त्याग—

"...............वणिक् पशुकृर्षिविशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥"

मनु० १०।७९

इनमें भी जीविकार्थ अभिहित (कहे गए) वाणिज्य आदि धर्म के द्वारा उपार्जित धन का धर्मार्थ अभिहित दान, अध्ययन, याग में ही उपयोग करना—जिसे 'वार्त्ताकर्म' कहते हैं—वैश्य का विशिष्ट धर्म है—

"वार्त्ताकर्मैव वैश्यस्य" (मनु० १०।८०)

'वृत्तिः अस्यामिति वार्त्ता' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस उपाय से प्राणीमात्र का जीवन-निर्वहण हो सके, उसे ही वार्त्ता कहते हैं, और इस ढंग के उपाय कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि ही माने जाते हैं—

"कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्या चेतिवार्त्ता"

(नीतिवाक्यामृत)

ऐसी स्थिति में वार्त्ता के द्वारा अर्जित धन से दान आदि का सम्पादन होता है, इस दृष्टि से कृषि-वाणिज्य आदि (वार्त्ता) के द्वारा उपार्जित धन से दान, अध्ययन एवं योग के सम्पादन को 'वार्त्ता कर्म' कहा गया है।

इसी तथ्य को अत्रि, व्यास, याज्ञवल्क्य, मनु आदि ने विभिन्न स्थलों में स्पष्ट किया है। बौधायन ने भी "वैश्य कुसीदमुपजीवेत्" (बौधा० धर्मसूत्र, प्रथम प्रश्न, क. ५, ख. १० सू० २२) आदि सूत्रों के द्वारा कुसीद आदि को वैश्य का ही धर्म बताते हुए—वैश्य द्रव्य पर मनमानी वृद्धि लेकर समाज को आकुलित न कर सके, इसके लिए द्रव्य पर कितनी वृद्धि किस प्रकार लेनी चाहिए, इसका भी नियम किया है। मनु ने द्रव्यवृद्धि के लिए धर्म्य नियम बताया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया गया है (यह सब वहीं से जानना उपयुक्त होगा, लेख का कलेवर बढ़ जाने की आशंका से यहाँ नहीं लिखा जा रहा है।) उसी के अनुरूप कुसीद करना वैश्य के लिए धर्म है, अन्यथा नहीं।

वैश्य के लिए ही मणि, मुक्ता, प्रवाल, विद्रुम, लोहा, वस्त्र, गन्धयुक्त कर्पूरादि पदार्थ और रसयुक्त लवण आदि उत्तम-मध्यम पदार्थों का देशकाल के अनुसार कम या अधिक मूल्य अच्छी प्रकार जानना विशेष रूप से आवश्यक होता है। सब प्रकार के बीज बोने, भूमि का दोष-गुण जानने और नाप-तौल का विधान जानने में भी उसे ही विशेष रूप से प्रवीण होना भारतीय अर्थशास्त्र के अनुसार धर्म्य माना गया है। वैश्य के लिए आवश्यक है कि उसे सब वस्तुओं की पहचान हो, और देशों के गुण-दोषों, व्यापार की वस्तुओं की लाभ-हानि तथा पशुओं को बढ़ाने के उद्योगों का पर्याप्त ज्ञान रखे। नौकरों के वेतन, विभिन्न देशों के मनुष्यों की भाषायें, वस्तुओं के मिलने तथा उनके इकट्ठा करने के स्थान और उनके क्रय तथा विक्रय का विधान जानने में भी कुशल होना वैश्य का प्रतिस्विक कर्त्तव्य है।

(मनु० अ० ७।३२६-३३६)

भारतीय अर्थशास्त्र की इस व्यवस्था के अनुसार सन्तुलित रूप में अर्थार्जन एवं उसके वितरण में दक्ष वैश्यों के इतिवृत्त पुराणों में मिलते हैं। महाभारत शान्तिपर्व में तुलाधार वैश्य का वर्णन है। तपोमूर्ति जाजालि ऋषि जब उसके यहाँ गए, तब उसने कहा कि "मैं कभी किसी को कोई वस्तु उचित मात्रा से कम नहीं देता और न उचित मात्रा से अधिक किसी से लेता ही हूँ। बिना प्रवंचना के मद्य से अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का रस दूसरों से खरीदकर उचित मूल्य में न्यायपूर्वक बेचता हूँ। जो मनुष्य सबका मत्र है और मन, वाणी, कर्म से सबकी भलाई में प्रवृत्त है, वही धर्मज्ञ है। न मैं किसी को दु:ख देता हूँ और न किसी से शत्रुता रखता हूँ। मेरी तुला सबके प्रति एक-सी रहती है।

महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म २६१

पद्मपुराण के अनुसार तो सीधे-सादे रूप में जीवन-निर्वाह करता हुआ भी तुलाधार सहस्रों स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराता था। इतिहास में भी ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व लिखित जैनियों के 'उपासकदशासूत्र' नामक ग्रन्थ में

'आनन्द' नाम के एक गृहस्थ वैश्य का वर्णन मिलता है। उसके कोष में चार करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें सुरक्षित थीं। चार करोड़ पर ब्याज चलता था। चार करोड़ की जमीन्दारी थी। इसके अतिरिक्त चालीस हजार गाय-भैंस, पाँच सौ हल और पाँच सौ बैलगाड़ियाँ रहती थीं। जलमार्ग से विदेशी वाणिज्य के लिए चार बड़े जहाज और देश में व्यवसाय के लिए चार छोटे जहाज तथा कितनी ही नावें थी, पर यह सब होते हुए भी उसका जीवन बड़ा ही साधारण था और वह अपना धन समाज में उचित मात्रा में वितरित करता रहता था।

बंगाल के जगत् सेठ का नाम प्रसिद्ध ही है। कहा जाता है कि उनके यहाँ 'लक्ष्मी बँधी रहती थीं।' बंगाल का सारा खजाना उन्हीं के यहाँ जमा होता था। आगरा, दिल्ली आदि में उनकी कोठियाँ खुली थीं। बंगाल के नवाब की ओर से वे प्रतिवर्ष डेढ़ करोड़ रुपया हुण्डी द्वारा दिल्ली सम्राट् के यहाँ भेजा करते थे। उनकी वंश पत्रिका देखने से पता चलता है कि वे इतने सम्पत्तिशील होते हुए भी कितने उच्च हृदय थे। एक बार दिल्ली सम्राट् मुहम्मदशाह सुबेदार मुर्शिदकुली खाँ पर अप्रसन्न हो गये। वे उसके स्थान पर 'जगत् सेठ' फतेहचन्द को बंगाल का राजा बनाना चाहते थे, परन्तु विशाल हृदय फतेहचन्द ने अपने पूर्व उपकारी मुर्शिदकुली खाँ का अनिष्ट न चाहा और उसीको नवाब बनाने के लिये मुहम्मदशाह से प्रार्थना की।

ऐसी ऊँची भावनाएँ भारतीय अर्थशास्त्र की ही देन हैं। वर्तमान में क्या ऐसी भावनाएँ भारतीय अर्थशास्त्र के माध्यम से प्रतिष्ठित कर भारत ही नहीं समूचे विश्व की आर्थिक उलझन नहीं समाप्त की जा सकती।

वर्तमान में पूँजी सीमित लोगों के हाथ में है, वे उसे और बढ़ाने में इतने परेशान हैं कि वस्तुओं का मूल्य कितना भी बढ़े—भले ही मूल्य के बढ़ने से जनता त्रस्त रहे—उसकी उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं है चिन्ता की बात तो दूर रही वे प्रसन्नता का ही अनुभव इसमें करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थार्जन तथा करुणा का कोई परस्पर सम्बन्ध ही नहीं है। प्रत्युत अर्थार्जन के साथ सदा ही निष्कृपता जुटी रहती है। इसीका दुष्परिणाम है कि आये दिन हड़ताल घेराव, प्रदर्शन, हत्यायें आदि भीषण काण्डों का भारत गढ़-सा बनता जा रहा है। क्या इस भीषण स्थिति से मुक्ति पाना आवश्यक नहीं है। यदि है ? तो इसके लिये आधुनिक अर्थशास्त्र—जिसकी मूल भित्ति आध्यात्मिकता तथा तन्मूलक वर्णाश्रम व्यवस्था से कोसों दूर है—कभी भी उचित समाधान नहीं दे सकता। हम भारतीय प्राचीन अर्थशास्त्र का मनन करें, उसे निष्पक्ष होकर टटोलें, आध्यात्मिकता के आधार पर उसकी मूल मान्यताओं को अपनायें तो कोई कारण नहीं कि वर्तमान आर्थिक दुरवस्थाएँ सदा के लिये न ध्वस्त हो जायँ।

भारतीय अर्थशास्त्र के अनुसार अर्थार्जन के साधन ही ऐसे हैं कि उन्हें अपनाने के साथ ही प्रथम चरण में ही विनीतता, करुणा एवं सदाशयता अपनाना अवश्यक हो जाता

है। और 'अर्थ की रक्षा उसके वितरण में ही है'—यह भावना सुदृढ़ होने लगती है। भारतीय अर्थशास्त्र कहता है कि—

"उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तड़ागोद संस्थानां परीवाह द्वाम्भसाम्॥"

(उपार्जित वित्त का त्याग ही उसकी सुरक्षा है ठीक उसी तरह जैसे तड़ाग में इकट्ठे जल का निकालना ही उसके जल की सुरक्षा है।

क्या ये आदर्श वर्त्तमान आर्थिक असन्तुलन एवं तन्मूलक सङ्घर्ष के उन्मूलन में समर्थ नहीं हैं ? अवश्य हैं। अतः भारतीय अर्थशास्त्र के अनुसार अर्थ-व्यवस्था के लिये आज के अर्थ-शास्त्रियों को अवश्य विचार करना चाहिये।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। हम लोगों के यहाँ नीतिशास्त्र का स्पष्ट अभिमत है। और सुपरिक्षित तथ्य है कि विद्यावृद्धों के साथ विद्याचिन्ता करते रहने से ही वे आदर्श जन-जन के हृदय में प्रतिष्ठित होते हैं, जो त्याग—एवं भोग का यथावत् समन्वय कराकर आर्थिक सन्तुलन की ओर अग्रसर करने में समर्थ हैं।

अतः 'विद्या चिन्ता' अत्यावश्यक है। विद्या वही है जिससे 'धर्म एवं ईश्वर के सम्बन्ध में सुदृढ़ आस्था बनती रहे।'

"तचायं प्रथमो पायो यद्विद्यावृद्धैः सार्थं विद्या चिन्ता।
विद्या प्रतिवद्धत्वा-ल्लोक स्थितेः॥"

'साविद्या तन्मतिर्यया।' यह विद्या आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्ड नीति रूप में विभक्त होकर भारतीय संस्कृत साहित्य के माध्यम से ही उपलब्ध है :

"आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
विद्या ह्येताश्चतस्त्रस्तु लोक संस्थिति हेतवः॥"

अतः इन के अध्ययन की सुचारु व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये, तभी स्थिर रूप में वर्त्तमान आर्थिक दुरवस्था का समाधान हो सकता है। इसीलिये माननीय झा महोदय ने भी वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति के रूप में संस्कृत एवं तन्मूलक विद्याओं को बढ़ाने के लिये स्तुत्य प्रयास किया है। वर्त्तमान में भी वे संस्कृत-साहित्य के पुनरुज्जीवन के लिये सदा सचेष्ट रहते हैं।

इन्हीं शब्दों के साथ मैं माननीय झा जी के अभिनन्दन के प्रसङ्ग में उनकी अनन्तायु की कामना करता हुआ अपना निवेदन समाप्त करता हूँ।

卐

यज्ञों के सुसम्पादन में याज्ञवल्क्य की व्यवहार कुशलता

डॉ० आशाराम त्रिपाठी

अज्ञानान्धजनानां तु येन ज्ञानशलाकया ।
उन्मीलितानि चक्षूंषि याज्ञवल्क्यं नमाम्यहम् ।।

शतपथ ब्राह्मण का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि याज्ञवल्क्य एक व्यवहारकुशल याज्ञिकाचार्य थे। उन्होंने अपने मतों में व्यावहारिकता को समुचित स्थान दिया है। इस विषय पर विभिन्न स्रोतों से प्रकाश पड़ता है। आइये, संक्षेप में उन स्रोतों का पर्यवेक्षण कर लिया जाय।

(अ) लोक-व्यवहार के प्रति समादर की भावना

यज्ञ-विधियों में तर्कयुक्त मतों की पुष्टि के लिये लोक-व्यवहार को भी आधार बनाया गया है। उदाहरणस्वरूप अग्निचयन भाग में आहुति प्रदान के समय "अध्वर्यु को वेदी पर किस दिशा से चढ़ना चाहिये ?" इस विषय में कुछ आचार्यों ने पूर्व (सामने) से या पश्चिम से (पीछे) से चढ़ने, आरोहण करने का मत प्रस्तुत किया है।

याज्ञवल्क्य ने अग्निवेदी (fire alter) को पशु माना है। उनके विचार से पूर्व (सामने) से चढ़ने पर वह पशु अपने सींगों से और पश्चिम (पीछे) से चढ़ने पर वह अपने पिछले पैरों से घायल कर देगा। लौकिक व्यवहार का आश्रय लेकर याज्ञवल्क्य ने अग्नि-वेदी पर उत्तर दिशा (मध्य शरीर) से आरोहण करने का मत प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि लोक-व्यवहार में घोड़े या अन्य पशुओं पर बायीं ओर से ही तो चढ़ा जाता है।

—शतपथ ब्रा० ७।३।२।१७

व्यावहारिकता के प्रसंग में एक दूसरा उदाहरण पठनीय है।

कुछ आचार्यों के विचार से अभ्रि[1] एक ओर ही तेज होनी चाहिये। आकार सादृश्य

---

१. खदिर, विकंकत, वरण अथवा उदुम्बर (गूलर) के काष्ठ की बनी होती है। यह एक अरत्नि अर्थात् २४ अँगुल लम्बी और तेज मुख वाली होती है। इसका उपयोग वेदी के निर्माणार्थ भूमि खोदने के लिये होता है।

को ध्यान में रखते हुए उन आचार्यों ने कहा कि जीभ भी एक ओर तेज़ होती है।

याज्ञवल्क्य के मत से अभ्रि दोनों ओर तेज़ होनी चाहिये, क्योंकि जिह्वा भी दोनों ओर तेज़ होती है। कैसे ? —वह (जिह्वा) देवभाषा तथा मानुषी भाषा बोलती है, वह सत्य के साथ असत्य भी बोलती है।

— शतपथ ब्रा० ६।३।१।३४

दोनों ओर तेज़ होने का रहस्य यह है कि एक ओर धार कम होने पर दूसरी ओर से भी खोदाई की जा सकती है।

(आ) प्राकृतिक व्यवहार के प्रति आस्था

याज्ञवल्क्य ने सृष्टि में प्रकृति द्वारा किये जाने वाले व्यवहारों के प्रति समादर की दृष्टि रखी है। उन्होंने अपने मत को सबल करने के लिये यत्र-तत्र उनका सदुपयोग भी किया है। उदाहरणस्वरूप, वेदी को स्त्री मानकर उसका पश्चिमांश (पिछला भाग) पृथु (चौड़ा) करने का निर्देश किया है, क्योंकि स्त्री का पिछला भाग (नितम्ब भाग) पृथुल होता है।

—शतपथ ब्रा० ३।५।१।११

दधि-ग्रह (दही रखने का पात्र विशेष) से दही निकालने की दिशा में मतभेद होने पर तैत्तिरीय शाखा (तै० सं० ६।५।६।४) के आचार्यों ने ग्रह के बीच से (मध्यभाग से) दही निकालने का निर्देश किया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार दधि-ग्रह से पश्चिम (पीछे) की ओर से दही निकालना चाहिये। क्यों ? कारण यह है कि पशुओं के पश्चिम (पिछले) भाग में ही दूध होता है।

—शतपथ ब्रा० ४।३।५।१३

अतएव पश्चिम की ओर से ही दही निकालने में व्यवहार की रक्षा होती है।

(इ) सामर्थ्य-विचार

अनेक बातों के साथ ही याज्ञवल्क्य ने शक्य और अशक्य पर भी समुचित विचार किया है। कोई भी प्राणी अपनी शक्ति के अनुसार ही कार्य कर सकता है। सामर्थ्य की सीमा का याज्ञवल्क्य को सदैव ध्यान रहता था। सामर्थ्य से अधिक कार्य-भार हो जाने पर कर्त्ता को भी कष्ट होता है और कार्य भी उचित रूप से नहीं होता। प्रवर्ग्य यज्ञ में यजमान के लिये बहुत से कठिन नियमों का विधान किया गया है; उनमें कुछ ये हैं—शरीर पर वस्त्र न रखना, सूर्य के प्रकाशित रहने पर थूकना नहीं चाहिये, सूर्य के तपते रहने पर मूत्र विसर्जन नहीं करना चाहिये, काष्ठ से अग्नि जलाकर रात में भोजन करना इत्यादि।

याज्ञवल्क्य ने मनुष्य के लिये इन नियमों को कठिन समझ कर इन पर बल नहीं

दिया। उन्होंने इन नियमों के स्थान पर सत्य-भाषण का विधान किया है। (शतपथ ब्रा० १४।१।१।३३)। उनके मत से यजमान सत्य बोलने से ही अन्य कठिन नियमों के पालन का फल प्राप्त कर लेता है।

याज्ञवल्क्य ने मानव-सामर्थ्य के साथ ही साथ छन्द-सामर्थ्य का भी ध्यान रखा है। उदाहरण के लिये कुछ आचार्यों ने—

१—"पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक्स्वाहुतः।
अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट्॥

—ऋ० सं० ३।२७।५

२—तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः।
आचक्रुरग्निमूतये॥"

—ऋ० सं० ३।२७।६

इन दो धाय्या ऋचाओं को आठवीं सामिधेनी-ऋचा (जिसे अग्नि प्रज्ज्वलित करते समय पढ़ा जाता है)।

"अग्नि दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ (शतपथ ब्रा० १।४।१।३४)"

—ऋ० सं० १।१२।१

के पहले रखने का मत प्रस्तुत किया।

याज्ञवल्क्य ने आठवीं ऋचा के सामर्थ्य का ध्यान रखकर उपर्युक्त मत का निषेध किया है और दोनों धाय्या ऋचाओं को आठवीं ऋचा के बाद नवीं और दसवीं के बीच पढ़ने का निर्देश किया है। उनके विचार से आठवीं के पहले दोनों ऋचाओं के पाठ से आठवीं ऋचा में गायत्री का सामर्थ्य नहीं रहेगा, क्योंकि वह दसवीं हो जायेगी। स्थान-च्युत होने पर वह पूरा फल न दे सकेगी।

—शतपथ ब्रा० १।४।१।३७

(ई) उपयोगी और अनुपयोगी का विचार

याज्ञिकाचार्य याज्ञवल्क्य ने प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता का भी ध्यान रखा है। उनके अनुसार सारहीन वस्तु का क्या मूल्य। कुछ याज्ञिकों के मत से अग्निहोत्र के लिये प्रयोग में आने वाले दूध को बुद्बुदे उठने के समय तक पकाना चाहिये।

—शतपथ ब्रा० २।३।१।१४

याज्ञवल्क्य ने दूध को अग्नि का वीर्य बताया है। वीर्यरूप दूध को पकाने से उसका

तत्त्व जल जाता है। वीर्य में सदैव उष्णता (तेजस्विता) रहने के कारण दूध को कुछ समय के लिये अग्नि पर रखकर उष्णता प्राप्त कर लेने पर हवन करना चाहिये।

—शतपथ ब्रा० २।३।१।१५

(उ) निरर्थक बुद्धि-व्यायाम की अवहेलना

शतरुद्रिय होम के समय भयभीत यजमान अध्वर्यु के मुख से दशों-दिशाओं में वर्तमान रुद्र को नमस्कार करता है। यजमान जिनसे द्वेष करता है तथा जो यजमान से द्वेष करते हैं उन्हें रुद्र के जवड़ों के बीच किया जाता है। अध्वर्यु मन्त्र पढ़ता है—

"तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो।
यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥"

—शु० य० सं० १६।६६

दूसरे आचार्यों के मत से 'तमेषां जम्भे दध्मः' के स्थान पर 'अमुमेषां जम्भे दधामि' का और 'अमुम्' के स्थान पर यजमान जिससे द्वेष करता हो उसका नाम रखना चाहिये।

याज्ञवल्क्य ने इस मत का खण्डन किया। उनका कहना है कि—यजमान जिनसे द्वेष करता है उनके लिये निर्देश की सिद्धि 'यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषाम्' इस अभिधान से ही हो जाती है।

—शतपथ ब्रा० ६।१।१।३९

इस प्रकार दूसरे आचार्यों का मत निरर्थक बुद्धि-व्यायाम ही सिद्ध होता है।

(ऊ) भेद-दृष्टि का अभाव

व्यावहारिकता की रक्षा में भेद-दृष्टि के अभाव का एक विशिष्ट स्थान है। याज्ञवल्क्य ने याज्ञिक समाज में यज्ञ-सम्पादकों को समान दृष्टि से देखा है। उन्होंने सब वर्णों के प्रति समभाव रखा है। यज्ञ-सम्पादन में सहायक सभी पशु समान हैं। उनकी दृष्टि में कोई छोटा-बड़ा नहीं। अग्न्याधान के प्रसंग में कुछ आचार्यों ने होता, अध्वर्यु, अग्नीत् और ब्रह्मा के लिये ओदन (ऋत्विज ब्राह्मणों के लिये भात) पकाने का मत प्रस्तुत किया है।

याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मौदन-पाक का निषेध किया है। उनके विचार से यज्ञ के दिन यजमान के घर में ब्राह्मणों (यज्ञ-सम्पादक तथा असम्पादक) के निवास-मात्र से ही ओदन (भात) खिलाने से मिलने वाली कामना पूरी हो जाती है।

—शतपथ ब्रा० २।१।४।४

ब्रह्मौदन-पाक के निषेध करने का कारण यह हो सकता है कि याज्ञवल्क्य ने विचार

किया होगा—चार ब्राह्मणों के लिए ओदन (भात) पकाने पर अन्य असम्पादक ब्राह्मण भी भात के लिये लालायित होंगे। चार ब्राह्मण भोजन करें और दूसरे बिना भोजन किये रहें—यह उचित भी नहीं है।

याज्ञवल्क्य के मन में वर्णों के प्रति भेद-दृष्टि नहीं थी। इस पुष्टि के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पितृमेध यज्ञ में समाधि-परिमाण के विषय में विभिन्न मत हैं। कुछ याज्ञिकों के मत से क्षत्रिय के लिये ऊर्ध्ववाहु तक, ब्राह्मण के लिये मुख तक, स्त्री के लिये कूल्हे के ऊपर तक, वैश्य के लिये ऊरु (जाँघ) तक, शूद्र के लिये घुटने तक ऊँची समाधि वनायी जानी चाहिए।

—शतपथ ब्रा० १३।८।३।११

याज्ञवल्क्य ने साम्य को ध्यान में रखकर सवके लिये घुटने के नीचे तक की ऊँची समाधि का विधान किया है।

—शतपथ ब्रा० १३।८।३।१२

विभिन्न उद्धरणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि याज्ञवल्क्य ने अपने मतों में व्यावहारिकता को समुचित स्थान दिया है।

हमारे गुरुजनों के भी गुरु पूज्यपाद महामहोपाध्याय डॉ॰ श्री गङ्गानाथ जी झा के सुपुत्र, आदरणीय, लोकप्रिय डॉ॰ आदित्यनाथ जी झा राज्यपाल, दिल्ली के अभिनन्दन-ग्रन्थ में स्थान पाकर यह लेख कुछ उपयोगी वन सकेगा, ऐसी आशा है।

लोकतन्त्र और समाजवाद

मन्मथनाथ गुप्त

भारत में लोकतन्त्र की स्थापना तब हुई, जब यूरोप में लोग लोकतन्त्र से लगभग निराश हो चुके थे और उससे उसी प्रकार से चिपके हुए थे जैसे लोग असफल शादी से चिपके रहते हैं कि शायद विकल्प इससे बुरा हो। ऐतिहासिक रूप से देखा जाए तो जिस रूप में आज हम लोकतन्त्र की सराहना करते हैं, वह पहले ज्ञात नहीं था। हर आदिम समाज में जिसमें भारत के कई आदिम समाज भी हैं, किसी न किसी रूप में लोकतन्त्र का प्रचलन था, पर स्मरण रहे कि इस प्रकार के लोकतन्त्र बहुत-कुछ कबीले वाले लोकतन्त्र थे, जिसमें लोकतन्त्र की धारणा एक कबीले तक ही सीमित थी और उसके मूल में उस तरह का कोई दर्शन नहीं था, जैसे बालिग मताधिकार, जो आज उसके साथ पूर्ण रूप से संयुक्त है। न उसमें प्रतिनिधि शासन की ही धारणा थी।

ग्रीस में पहले-पहल राजनीतिक लोकतन्त्र का (कबीले वाले लोकतन्त्र से अलग) दर्शन होता है, पर यह भी अपूर्ण लोकतन्त्र था। इसमें स्त्रियों को वोट का अधिकार नहीं था और इससे भी बुरी बात यह है कि गुलाम-प्रथा ज़ोरों पर थी। गुलाम नागरिक नहीं माने जाते थे। इस प्रकार ग्रीक नगरों का यह सीमित लोकतन्त्र व्यावहारिक रूप में कई बार अल्पतन्त्र का ही एक रूप था, क्योंकि गुलामों और स्त्रियों को मिलाकर देखने पर अधिकतर निवासियों को पूरे नागरिक अधिकार नहीं थे। हाँ जो लोग नागरिक माने जाते थे, वे सब बराबर समझे जाते थे और उनके अधिकार एक-से होते थे। इस प्रकार नागरिकों की समानता का सिद्धान्त उन पर लागू होने पर भी मनुष्य-मात्र की समता स्वीकृत नहीं थी।

ग्रीक-नगर-गणतन्त्रों में एक कमी थी, वह यह कि उसमें प्रतिनिधियों के ज़रिए स्वशासन की कोई गुंजायश नहीं थी। सब लोग एक सभा में एकत्र होते थे और वहीं सब समस्याएँ रखी जाती थीं और उन पर निर्णय होते थे। कहना न होगा कि इस प्रकार की शासन-प्रणाली केवल नगरों, सो भी छोटे नगरों तक ही सीमित रह सकती थी। अक्सर ग्रीक-नगर-गणतन्त्रों के नागरिकों की संख्या दस हज़ार के लगभग थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज के अधिक आबादी वाले राष्ट्रों की बात तो दूर रही, हमारे महानगरों में भी इस तरह का गणतन्त्र व्यावहारिक रूप में कार्य नहीं कर सकता। हाँ, इस बीच छापा-

खाना और लाउडस्पीकर आदि यन्त्रों का आविष्कार हुआ है, जिनसे नागरिकों के सामने सारी बातें रखी जा सकती हैं। पर केवल समस्याओं को सामने रखने का प्रश्न नहीं है, उन पर राय जानने का प्रश्न रह ही जाता है।

बाद को एथेन्स ने यह चेष्टा की कि एक बड़ा-सा गणतन्त्र ऐसा बने जिसके सदस्य स्वतन्त्र नगर हों, ऐसे स्वतन्त्र नगर जो प्रचलित लोकतन्त्र की पद्धति पर विश्वास रखते हैं। पर यह प्रयोग सफल नहीं हो सका। स्पार्टा की ओर से आक्रमण हुआ, उसके बाद यह प्रयोग समाप्त हो गया।

ग्रीस के महान् दार्शनिकों ने लोकतन्त्र को पांच या छः मुख्य शासन-पद्धतियों में गिनाया है। पर उन्होंने इसे वह महत्त्व नहीं दिया, जो बाद के युग में दिया जाने लगा और अब भी कहीं-कहीं दिया जाता है। सबसे मज़ेदार बात यह है कि अफलातून ने अपनी 'प्रजातन्त्र' नामक पुस्तक में लोकतन्त्र को भ्रष्टाचार की दृष्टि से निरंकुश अत्याचारी शासक के शासन के बाद ही दोयम दर्जा दिया है। दूसरे शब्दों में उस समय तक लोकतन्त्र के सम्बन्ध में जो प्रयोग हो चुके थे, उससे उस युग की दृष्टि से अफलातून ऐसे वस्तुवादी दार्शनिक पर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उसमें स्पष्ट भ्रष्टाचार को अन्तर्निहित माना। अवश्य अरस्तू ने लोकतन्त्र को इतना घटिया दर्जा नहीं दिया। पर उनकी कृतियों में भी हम लोकतन्त्र के लिए कोई विशेष जोश नहीं देखते।

ग्रीस में इस प्रयोग के बाद लगभग २००० वर्ष तक लोकतन्त्र का कोई विशेष नामलेवा और पानीदेवा दृष्टिगोचर नहीं होता। यों ढूँढ़ने पर यत्र-तत्र लोकतन्त्र सम्बन्धी प्रवृत्ति बराबर मिल सकती है। कई दार्शनिक मनुष्य की समानता के सिद्धान्त में आस्था रखते थे, यह स्वयं लोकतन्त्र के लिए एक आधारभूत विचारधारा है। ग्रीस के बाद रोम का उदय हुआ। वह लोकतन्त्र नहीं था, बल्कि वह एक तरह का अल्पतान्त्रिक प्रजातन्त्र था, जो बाद को अल्पतान्त्रिक साम्राज्य में परिणत हो गया।

अपेक्षाकृत आधुनिक काल में जब लोकतन्त्र का झण्डा फिर से उठने लगा, तो उसके साथ स्वयं ही प्रतिनिधियों के ज़रिए शासन का विचार संयुक्त हो गया। इस प्रकार से लोकतन्त्र अब बड़े राज्यों में भी लागू हो सकता था। इंग्लैण्ड को ही यह गौरव प्राप्त है कि सबसे पहले लोकतान्त्रिक विचारों की विजय हुई। यहाँ १७वीं शताब्दी के मध्य तक राजा और संसद् के बीच संघर्ष तीव्र होकर सामने आ गया। इस रस्साकशी में अन्त तक संसद् की विजय हुई और राजा का सिर काट लिया गया।

इस प्रकार लोकतन्त्र का वह रूप प्रतिष्ठित हुआ जो अधिक आबादी वाले देशों के अनुकूल था। जिन दिनों लोकतन्त्र जीतेगा या निरंकुश राजतन्त्र, यह स्पष्ट नहीं हुआ था, उस युग में इंग्लैण्ड में दो दार्शनिकों का जन्म हुआ। एक थे हाब्स, जिन्होंने निरंकुश सत्ता का प्रतिपादन किया। दूसरे दार्शनिक थे लॉक। उन्होंने १६९० में प्रकाशित अपनी

एक पुस्तक में यह प्रतिपादन किया कि लोकतन्त्र ही एकमात्र सही शासनतन्त्र है । इन दोनों दार्शनिकों में से किसी ने भी राजा को बिल्कुल हटा देने की बात नहीं कही । ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि १८वीं शताब्दी के मध्य तक इंग्लैण्ड में यह प्रथा-सी बन चुकी थी कि राजा उन्हीं लोगों को मुख्य रूप से अपने मन्त्रिमण्डल में लेता था, जिन पर संसद् का विश्वास होता था । जब मन्त्रियों पर से संसद् का विश्वास उठ जाता था, तो मन्त्री निकाल दिए जाते थे । इस प्रकार से इंग्लैण्ड में लोकतन्त्र की विजय हो गई । इस कारण ब्रिटिश संसद् सभी संसदों की माँ या दादी मानी जाती है ।

इसी कारण लोकतन्त्र के सम्बन्ध में विचारों का स्पष्टीकरण इंग्लैण्ड में इससे आगे नहीं हुआ । बल्कि गाड़ी पीछे की ओर चली । राजा की सत्ता केवल सीलमुहर तक सीमित रही, पर धनिक-वर्ग लोकतन्त्र पर छा गया । एक वर्ग, सो भी लगभग सौ दो सौ परिवार राजनीति पर छा गए । दलों की लड़ाई का तमाशा रहा, दो दल असल में एक ही शासक-वर्ग के दो मुँह रहे । यहाँ तक कि श्रमिक दल भी इसी सर्वग्रासी गुट में समा गया । अभी-अभी जान ग्रिग ने जो कुछ कहा है, उससे ब्रिटिश लोकतन्त्र के बारे में बड़ी निराशा होती है । उनका कहना है —"परम्परागत ब्रिटिश लोकतन्त्र कतई लोकतान्त्रिक नहीं है, बल्कि बहुत अधिक सीमा तक अल्पतान्त्रिक है और हमारी पद्धति शाब्दिक या आन्तरिक किसी भी दृष्टि से लोकतान्त्रिक नहीं है ।" इस प्रकार संसदों की दादी की पोल खुल जाती है ।

१७६२ में जां जाक रूसो ने 'सामाजिक ठेका' नामक पुस्तक लिखी । इसमें लोकतन्त्र-सम्बन्धी विचारों की तुलना में कहीं अधिक स्पष्टीकरण किया गया । पर उनके भी विचार यथेष्ट स्पष्ट नहीं थे, क्योंकि उन्होंने अपने विचारों को ऐतिहासिक क्षेत्र में उतारते समय बहुत गड़बड़ी कर दी । उन्होंने एथेन्स की बजाय स्पार्टा और रोम को अपना आदर्श माना जबकि यह एक तथ्य है कि स्पार्टा और रोम में एथेन्स की तुलना में लोकतन्त्र कहीं सीमित था । सच्ची बात तो यह है कि प्राचीन काल में स्पार्टा और रोम के कारण ही मानव-मात्र की समानता पर आधारित लोकतन्त्र की धारणा आगे नहीं बढ़ सकी । हां रूसो ने आम जनता के मत को बहुत महत्त्व दिया और यही कहा कि जब तक जनमत के आधार पर कानून न बने, तब तक कानून कानून ही नहीं है । पर जैसा कि हम बता चुके हैं रूसो अपने विचारों को बिल्कुल तार्किक आधार पर स्थापित नहीं कर सके । इसलिए यद्यपि अपने समय में उनकी पुस्तक बाइबिल के बाद ही महत्त्वपूर्ण हो गई, और उसके बाद भी उसका बड़ा प्रभाव पड़ा, पर रूसो का कोई स्कूल या शिष्ट-वर्ग नहीं बन सका । लोगों ने उनके विचार अपनाए, पर किसी ने अपने को रूसोवादी नहीं कहा ।

लोकतन्त्र के विचारों को वाल्तेयर ने भी अपने ढंग से जोर पहुंचाया । इस महान्

लेखक ने समाज में प्रचलित बहुत से अंगों पर बड़ी तेज़ी से हमला किया। यह हमला इसलिए आवश्यक था कि सामन्तवाद को समाप्त करने के लिए उसके साथ गठबन्धन में संयुक्त गिरजों और पुरोहितों पर भी हमला करना ज़रूरी था। यही कारण है कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) के पहले को विचारधारा भौतिकवाद का बाना पहनकर सामने आई। पर बाद को सामन्तवाद को उखाड़ फेंकने वाली पद्धति पूँजीवाद ने धर्म के साथ समझौता कर लिया, क्योंकि धर्म ने इस बीच सामन्तवाद को छोड़कर पूँजीवाद को नैतिक समर्थन देना शुरू कर दिया था। ईसाई धर्म का इस प्रकार सामन्तवाद का पल्ला छोड़कर पूँजीवाद का पल्ला पकड़ना, इस प्रकार पूँजीवाद के धर्मविरोधी रूप का विलोप एक बहुत ही रोमांचकारी कहानी है। पर हम यहाँ पर उसके लिए ब्यौरे में नहीं जाएँगे। समाजवादी देशों में भी धर्म ने इसी प्रकार मोर्चा बदलने की चेष्टा की, पर वह कहानी अभी अधूरी है।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति तीन नारे देकर सामने आई—स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। पर जैसा कि किसी ने बताया है कि शक्ति प्राप्त करने वाला नया उत्पादक-वर्ग यदि स्वतन्त्रता चाहता था, तो पुराने सामन्तवादियों के मुकाबले में और उनसे अपने व्यापार को मुक्त कराना चाहता था। फ्रांस छोटे-छोटे सामन्तों के शासन में बँटा हुआ था, जो उन्नत व्यापार और उत्पादन के प्रतिकूल पड़ता था और माल को एक ही देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ले जाने में कई बार टैक्स देना पड़ता था। इसके अलावा सामन्तवादी राजा, ड्यूक आदि अपने को बहुत ऊँचा समझते थे, सामाजिक और अन्य दृष्टि से। इसलिए समानता का नारा भी उपयुक्त ही था। इसी परिप्रेक्ष्य में भ्रातृत्व का नारा भी उस युग के अनुकूल एक नारा था।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने समाज को एक कदम और आगे बढ़ा दिया। वह क्रान्ति सामन्तवाद के विरुद्ध पूँजीवाद के शासन को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा थी और इसी रूप में वह सारे यूरोप में फैली। कैसे यह क्रान्ति जब अपनी सीमाओं का (दोनों अर्थों में) अतिक्रमण करके आगे बढ़ने लगी और सचमुच जनक्रान्ति की तरफ गई, उसे पीछे ढकेल दिया गया, वह भी इतिहास की एक बहुत दिलचस्प कहानी है। पर उसके ब्यौरे में भी यहाँ जाने की हमें ज़रूरत नहीं है। यहाँ इतना ही बता देना यथेष्ट है कि सामन्तवादी शासन के मुकाबले में पूँजीवादी शासन क्रान्तिकारी था। सामन्ती राज्य टूटकर मुख्यतः भाषा पर आधारित देशमूलक राष्ट्रों का उदय हुआ। इसीलिए यह माना जाता है कि पूँजीवाद के साथ-साथ आधुनिक अर्थों में राष्ट्रवाद का उदय हुआ।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता है कि यूरोप में राष्ट्रों का इस रूप में निर्माण फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के इर्द-गिर्द हुआ, जबकि प्राच्य देशों और अफ्रीका में राष्ट्रों का निर्माण अभी चालू है। भारत तथा अन्य प्राच्य देशों में राष्ट्रीयता और

लोकतन्त्र के विचार तब प्रतिष्ठित हो पाए, जब ये विचार पश्चिम में बहुत कुछ सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं।

अमरीका की स्वतन्त्रता के साथ लोकतन्त्र के विचार ने और एक ज़बरदस्त डग भरा। अमरीका, इंग्लैण्ड का एक उपनिवेश था और उसी रूप में उसका शासन होता था। हज़ारों मील दूर बैठी हुई सरकार द्वारा शासन के अधीन अब अमरीका की उन्नति नहीं हो सकती थी। वह शासन पग-पग पर अमरीका के नागरिकों की उन्नति की लिप्सा को रोक रहा था। इसलिए अमरीका में ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह हुआ और अमरीका स्वतन्त्र हो गया। इस स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अमरीका तेज़ी से उन्नति करने लगा और साथ ही फ्रांस से भी आगे बढ़ गया। वह इस अर्थ में कि इंग्लैण्ड में एक राजा बराबर कायम रहा, वह अब तक कायम है। संसार के बहुत से महान् चिन्तक यह समझ नहीं पाते कि अंग्रेज़ ऐसी बुद्धिमान जाति, राजा का अस्तित्व, चाहे वह किसी भी अजागल-स्तन रूप में हो, कैसे स्वीकार कर लेती है। फ्रांस में जो क्रान्ति हुई थी उसमें राजा का अन्त हो गया। पर क्रान्तिकारी नेताओं में आपस में युद्ध हुआ। आमतौर से यह तो समझा और कहा जाता है कि रोबस्पीयर, दांतो, मारा आदि क्रान्तिकारी अपनी उच्चा-कांक्षाओं के कारण मारे गए और एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ते रहे, पर यह बात ग़लत है। असल में इन नेताओं के पीछे विचारधाराओं की लड़ाई चल रही थी। रोबस्पीयर अपने युग का ही नहीं, सर्वयुग का एक महान् क्रान्तिकारी है, पर वह ऐसी परिस्थितियों में पड़ गया कि इसके लिए सफल होना सम्भव नहीं था। वह युग से बहुत आगे था।

जब क्रान्ति पीछे हटने को बाध्य हुई, तो नेपोलियन ऐसे सैनिक शासक, अधि-नायक और बाद को सम्राट का उदय हुआ, जिसके कारण फ्रांस की राज्यक्रान्ति को एक कदम पीछे हटना पड़ा। इसके विपरीत अमरीका में लोकतन्त्र की जो स्थापना हुई, सो हो गई। पीछे उसका पैर फिर राजतन्त्र के कीचड़ में नहीं फँसा। इस दृष्टि से वहाँ लोक-तन्त्र पीछे की ओर नहीं हटा, क्योंकि एक तो अमरीका में राजसिंहासन का कोई दावेदार नहीं था और दूसरे वहाँ किसी ने राजा के अस्तित्व को कोई महत्त्व नहीं दिया।

पर अमरीकी लोकतन्त्र में भी आरम्भ से ही लोकतान्त्रिकता पूरी रही हो, ऐसी बात नहीं। वहाँ स्त्रियों को मताधिकार देर में मिला। लगता है कि उन युगों के क्रान्ति-कारी स्त्रियों को विशेष महत्त्व देने को तैयार नहीं थे।

यों जैसा कि हमने बताया, आधुनिक लोकतन्त्र के लिए लड़ाई का पहला मोर्चा इंग्लैण्ड में ही फतह हुआ था। पर वहाँ १९२८ में चल कर ही स्त्रियों को पूर्ण रूप से मताधिकार प्राप्त हुआ। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में भी बालिग़ मताधिकार पूर्ण रूप से १८४० तक ही लागू हुआ यानी स्वतन्त्रता की घोषणा के तीन पीढ़ी बाद यह प्रगति हुई। इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य यह है कि अमरीका की स्वतन्त्रता की

लेखक ने समाज में प्रचलित बहुत से अंगों पर बड़ी तेज़ी से हमला किया। यह हमला इसलिए आवश्यक था कि सामन्तवाद को समाप्त करने के लिए उसके साथ गठबन्धन में संयुक्त गिरजों और पुरोहितों पर भी हमला करना ज़रूरी था। यही कारण है कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) के पहले की विचारधारा भौतिकवाद का बाना पहनकर सामने आई। पर बाद को सामन्तवाद को उखाड़ फेंकने वाली पद्धति पूँजीवाद ने धर्म के साथ समझौता कर लिया, क्योंकि धर्म ने इस बीच सामन्तवाद को छोड़कर पूँजीवाद को नैतिक समर्थन देना शुरू कर दिया था। ईसाई धर्म का इस प्रकार सामन्तवाद का पल्ला छोड़कर पूँजीवाद का पल्ला पकड़ना, इस प्रकार पूँजीवाद के धर्मविरोधी रूप का विलोप एक बहुत ही रोमांचकारी कहानी है। पर हम यहाँ पर उसके लिए ब्यौरे में नहीं जाएँगे। समाजवादी देशों में भी धर्म ने इसी प्रकार मोर्चा बदलने की चेष्टा की, पर वह कहानी अभी अधूरी है।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति तीन नारे देकर सामने आई—स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। पर जैसा कि किसी ने बताया है कि शक्ति प्राप्त करने वाला नया उत्पादक-वर्ग यदि स्वतन्त्रता चाहता था, तो पुराने सामन्तवादियों के मुकाबले में और उनसे अपने व्यापार को मुक्त कराना चाहता था। फ्रांस छोटे-छोटे सामन्तों के शासन में बँटा हुआ था, जो उन्नत व्यापार और उत्पादन के प्रतिकूल पड़ता था और माल को एक ही देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ले जाने में कई बार टैक्स देना पड़ता था। इसके अलावा सामन्तवादी राजा, ड्यूक आदि अपने को बहुत ऊँचा समझते थे, सामाजिक और अन्य दृष्टि से। इसलिए समानता का नारा भी उपयुक्त ही था। इसी परिप्रेक्ष्य में भ्रातृत्व का नारा भी उस युग के अनुकूल एक नारा था।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने समाज को एक कदम और आगे बढ़ा दिया। वह क्रान्ति सामन्तवाद के विरुद्ध पूँजीवाद के शासन को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा थी और इसी रूप में वह सारे यूरोप में फैली। कैसे यह क्रान्ति जब अपनी सीमाओं का (दोनों अर्थों में) अतिक्रमण करके आगे बढ़ने लगी और सचमुच जनक्रान्ति की तरफ गई, उसे पीछे ढकेल दिया गया, वह भी इतिहास की एक बहुत दिलचस्प कहानी है। पर उसके ब्यौरे में भी यहाँ जाने की हमें ज़रूरत नहीं है। यहाँ इतना ही बता देना यथेष्ट है कि सामन्तवादी शासन के मुकाबले में पूँजीवादी शासन क्रान्तिकारी था। सामन्ती राज्य टूटकर मुख्यतः भाषा पर आधारित देशमूलक राष्ट्रों का उदय हुआ। इसीलिए यह माना जाता है कि पूँजीवाद के साथ-साथ आधुनिक अर्थों में राष्ट्रवाद का उदय हुआ।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता है कि यूरोप में राष्ट्रों का इस रूप में निर्माण फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के इर्द-गिर्द हुआ, जबकि प्राच्य देशों और अफ्रीका में राष्ट्रों का निर्माण अभी चालू है। भारत तथा अन्य प्राच्य देशों में राष्ट्रीयता और

लोकतन्त्र के विचार तब प्रतिष्ठित हो पाए, जब ये विचार पश्चिम में बहुत कुछ सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं।

अमरीका की स्वतन्त्रता के साथ लोकतन्त्र के विचार ने और एक ज़बरदस्त डग भरा। अमरीका, इंग्लैण्ड का एक उपनिवेश था और उसी रूप में उसका शासन होता था। हज़ारों मील दूर बैठी हुई सरकार द्वारा शासन के अधीन अब अमरीका की उन्नति नहीं हो सकती थी। वह शासन पग-पग पर अमरीका के नागरिकों की उन्नति की लिप्सा को रोक रहा था। इसलिए अमरीका में ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह हुआ और अमरीका स्वतन्त्र हो गया। इस स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अमरीका तेज़ी से उन्नति करने लगा और साथ ही फ्रांस से भी आगे बढ़ गया। वह इस अर्थ में कि इंग्लैण्ड में एक राजा बराबर कायम रहा, वह अब तक कायम है। संसार के बहुत से महान् चिन्तक यह समझ नहीं पाते कि अंग्रेज़ ऐसी बुद्धिमान जाति, राजा का अस्तित्व, चाहे वह किसी भी अजागल-स्तन रूप में हो, कैसे स्वीकार कर लेती है। फ्रांस में जो क्रान्ति हुई थी उसमें राजा का अन्त हो गया। पर क्रान्तिकारी नेताओं में आपस में युद्ध हुआ। आमतौर से यह तो समझा और कहा जाता है कि रोबस्पीयर, दांतो, मारा आदि क्रान्तिकारी अपनी उच्चाकांक्षाओं के कारण मारे गए और एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ते रहे, पर यह बात ग़लत है। असल में इन नेताओं के पीछे विचारधाराओं की लड़ाई चल रही थी। रोबस्पीयर अपने युग का ही नहीं, सर्वयुग का एक महान् क्रान्तिकारी है, पर वह ऐसी परिस्थितियों में पड़ गया कि इसके लिए सफल होना सम्भव नहीं था। वह युग से बहुत आगे था।

जब क्रान्ति पीछे हटने को बाध्य हुई, तो नेपोलियन ऐसे सैनिक शासक, अधिनायक और बाद को सम्राट का उदय हुआ, जिसके कारण फ्रांस की राज्यक्रान्ति को एक कदम पीछे हटना पड़ा। इसके विपरीत अमरीका में लोकतन्त्र की जो स्थापना हुई, सो हो गई। पीछे उसका पैर फिर राजतन्त्र के कीचड़ में नहीं फँसा। इस दृष्टि से वहाँ लोकतन्त्र पीछे की ओर नहीं हटा, क्योंकि एक तो अमरीका में राजसिंहासन का कोई दावेदार नहीं था और दूसरे वहाँ किसी ने राजा के अस्तित्व को कोई महत्त्व नहीं दिया।

पर अमरीकी लोकतन्त्र में भी आरम्भ से ही लोकतान्त्रिकता पूरी रही हो, ऐसी बात नहीं। वहाँ स्त्रियों को मताधिकार देर में मिला। लगता है कि उन युगों के क्रान्तिकारी स्त्रियों को विशेष महत्त्व देने को तैयार नहीं थे।

यों जैसा कि हमने बताया, आधुनिक लोकतन्त्र के लिए लड़ाई का पहला मोर्चा इंग्लैण्ड में ही फतह हुआ था। पर वहाँ १९२८ में चल कर ही स्त्रियों को पूर्ण रूप से मताधिकार प्राप्त हुआ। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में भी बालिग़ मताधिकार पूर्ण रूप से १८४० तक ही लागू हुआ यानी स्वतन्त्रता की घोषणा के तीन पीढ़ी बाद यह प्रगति हुई। इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य यह है कि अमरीका की स्वतन्त्रता की

घोषणा में यह कहा गया था कि सारे मनुष्य जन्म से समानता के अधिकारी हैं और सरकारों को शासितों की सम्मति से ही शासन की न्यायोचित शक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रसंग में और एक बहुत मार्के की बात यह है कि फ्रांस, जहाँ पर न केवल लोकतन्त्र ने एक बहुत बड़ी विजय पाई, बल्कि नये वर्ग का शासन पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर पूँजीवादी क्रान्ति हुई, वहाँ भी जहाँ तक वोट के अधिकार का सम्बन्ध है, सभी बालिग़ पुरुषों को १८७५ में ही मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ। पर उस समय भी स्त्रियों को वोट का अधिकार नहीं मिला। १९४४ में ही फ्रांस की स्त्रियों को वोट देने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ। अपने को लोकतन्त्र कहने वाले कई देश, जैसे स्वीज़रलैण्ड, अब भी ऐसे हैं, जहाँ स्त्रियों को बाकी सारे अधिकार होते हुए भी वोट का अधिकार प्राप्त नहीं है।

इस प्रकार सारे इतिहास को मन्थन करने के बाद जो चित्र हमारे सामने उभरता है, वह बहुत गड़बड़ है और उसका सही मूल्यांकन करना टेढ़ी खीर है। एक बात यह स्पष्ट है कि इतिहास में लोकतन्त्र का विचार धीरे-धीरे जोर पकड़ता गया, पर साथ ही चिन्तकों और शासकों के दल इस विचार को सम्पूर्ण रूप से अपनाने, ग्रहण करने और जीवन में अनूदित करने के लिए तैयार नहीं थे। नतीजा यह है कि उसकी अजीब-अजीब अभिव्यक्तियाँ देखने को मिलती हैं। यह गड़बड़ी ग्रीक नगर-राष्ट्रों से शुरू होकर अब तक लोकतन्त्र के सम्बन्ध में जो चिन्तन हुआ है, उन सब में पाई जा सकती है।

एक तरफ कहा जाता है कि सारे मानव समान हैं और दूसरी तरफ केवल कुछ ही लोगों तक मताधिकार को सीमित रखा जाता है। यहाँ तक कि स्त्रियों को मत देने का अधिकार नहीं दिया जाता। इसके लिए स्त्रियों को बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ती है, जिसका एक अलग उज्ज्वल इतिहास है। सौभाग्य से हमारे देश में स्त्रियों को इस तरह की कोई लड़ाई नहीं लड़नी पड़ी और उन्हें स्वतन्त्रता के साथ-साथ ही वोट देने का अधिकार प्राप्त हो गया। इस दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय लोकतन्त्र के संस्थापक अधिक प्रगतिशील थे, क्योंकि उसमें शुरू से ही स्त्रियों को उनका उचित और न्यायपूर्ण अधिकार दिया गया।

इसके विपरीत अमरीका के लोकतन्त्र में प्रारम्भिक रूप से न तो स्त्रियों को ही मतदान का अधिकार था और न नीग्रो लोगों को। इसके लिए वहाँ काफी संग्राम किया गया और जहाँ तक नीग्रो लोगों की बराबरी की लड़ाई है, वह एक देशव्यापी गृहयुद्ध के बाद भी अब तक समाप्त नहीं हुई। अभी तक नीग्रो-दमन के समाचार आते रहते हैं और इस सम्बन्ध में लिंचिग एक शब्द है जो संसार के कोश को अमरीका के गोरों का ही दान है। सौभाग्य से सभी अमरीकी चिन्तक यह मानते हैं कि नीग्रो लोगों को वे ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए जो दूसरे अमरीकियों को प्राप्त हैं।

पर कई इलाकों के उच्च शिक्षित अमरीकी भी अपने महान् चिन्तकों के इस

विचार को अभी तक नहीं पचा पाए हैं, जैसा कि हमारे यहाँ, इसे इसी साँस में कहने की आवश्यकता है, लाखों भारतीय कथित अछूतों की समानता के विचार को नहीं पचा पाए ।

भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि कोई भी अछूत नहीं है। जब यह प्रसंग छिड़ गया, तो इसके सम्बन्ध में भी कुछ बातें सूत्र-रूप से कह दी जाएँ। किसी देश के संविधान में कोई विचार आ जाने से ही वह विचार वहाँ की जनता के रक्त में नहीं पहुँच जाता। छूआछूत को केवल कानून से नष्ट करने का प्रयास कहाँ तक सफल होगा इसमें सन्देह है। महात्मा गांधी छूआछूत के प्रबल विरोधी रहे, जैसा कि राजाराम मोहनराय, दयानन्द से लेकर सभी विचारक इसके विरुद्ध रहे। गांधीजी ने छूआछूत के विरुद्ध वर्षों तक संग्राम किया। उनके संग्राम का प्रारम्भिक रूप यह था कि वह वर्णाश्रम के ढाँचे को कायम रखते हुए उसके विरुद्ध जेहाद करते रहे। पर बाद को बिल्कुल अन्तिम दिनों में उनकी समझ में यह आ गया कि जात-पाँत के ढाँचे को रखते हुए छूआछूत दूर नहीं हो सकता। इसलिए अस्पृश्यता के विरुद्ध अपने सारे लेखों के एक संग्रह की भूमिका लिखते हुए उन्होंने यह स्पष्ट रूप से लिखा—आज तक जो कुछ मैंने लिखा उसके बावजूद मैं अब इस नतीजे पर पहुँच गया हूँ कि जात-पाँत को कायम रखते हुए छूआछूत को नष्ट करना सम्भव नहीं है।

अत्यन्त दुःख का विषय है कि गांधीजी के इस लोकतान्त्रिक विचार को किसी प्रकार से सरकारी या दलीय आधार पर कार्यान्वित करने की चेष्टा नहीं की गई। हर महापुरुष के साथ जो ट्रेजेडी होती है, वह गांधीजी के साथ भी हुई। उनके इन विचारों को एक हद तक ज़बानी स्वीकृति देकर संविधान के अन्दर समादृत कर दिया गया, जो अपेक्षाकृत सरल था और शासक-वर्ग को स्वीकार्य था। बाकी जात-पाँत को आमूलचूल उखाड़ फेंकने के विचार को बालाएताक रख दिया गया, यहाँ तक कि भुला दिया गया।

जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि चाहे अमरीका हो चाहे भारत, कहीं भी सर्व-मानव की समानता का विचार तब तक केवल एक कागज़ी रूप में ही रह जाएगा जब तक कि सही अर्थों में सब मानव समान मर्यादा के अधिकारी नहीं हो जाते। लोकतन्त्र में जात-पाँत, छूआछूत, वर्णद्वेष की कोई गुंजायश नहीं है।

अब तक हमने जो कुछ कहा है उसमें केवल लोकतन्त्र की ही बात कही गई। अब हम इस लेख के दूसरे अंश पर आते हैं। लोकतन्त्र स्वयं में कोई मंज़िल नहीं है। यह बात पहले ही लोग समझ चुके हैं। इसलिए भारत में स्वतन्त्रता के साथ-साथ लोकतन्त्र की स्थापना होने पर भी प्रगति यहीं पर नहीं रुक सकती और न वहाँ वह रुकी। पहले भारत को एक गणतन्त्र घोषित किया गया, फिर भी भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहा। किस तरह से एक गणतन्त्र राष्ट्रमण्डल का सदस्य रह सकता है, अपने गणतन्त्र-चरित्र

को बिना हानि पहुँचाए, यह एक पहेली है जिसे बहुत से चिन्तक नहीं समझ पाते, पर जवाहरलाल नेहरू ने इसकी परिपाटी डाली। पर राजनीतिज्ञों ने इसमें भी भलाई देखी। हर भारतीय अपने को एक गणतन्त्र का ही सदस्य मानता है और राष्ट्रमण्डल की सदस्यता नाममात्र की ही रह गई है। पर भारतीय लोकतन्त्र का विकास अपने को एक गणतन्त्र घोषित करके ही रुक नहीं सकता था, इसलिए जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत सरकार और देश की सबसे बड़ी राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ने अपना लक्ष्य समाजवाद घोषित किया।

प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ ? क्या ऐसा जवाहरलाल तथा थोड़े से अन्य वामपक्षी कांग्रेसियों की खब्त के कारण हुआ या इसके गम्भीर सामाजिक-राजनीतिक कारण हैं ? हमारे इस देश में कुछ लोग अब भी ऐसे हैं, जो यह समझते हैं कि समाजवाद का यह जो झमेला लगा दिया गया है, इसकी कोई ज़रूरत नहीं थी, पर ऐसे लोग विचारों की जड़ तक नहीं जा पाते और दीवार पर लिखे को पढ़ नहीं पाते।

ऐतिहासिक दृष्टि से रूस की क्रान्ति (१६१७) चिन्तन को एक और कदम आगे बढ़ाती है। सौभाग्य से भारत ने स्वतन्त्रता के कुछ वर्षों अन्दर ही समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित किया है। यह सही है कि शासक दल ने अभी समाजवाद की कोई वैज्ञानिक परिभाषा नहीं की है, पर नेहरू ने इस सम्बन्ध में अपनी आत्मकथा में जो कुछ कहा उससे लेकर आवडी और भुवनेश्वर तक जो कुछ हुआ है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि गाड़ी जब जाएगी तो आगे की ही ओर जाएगी, वह किसी प्रकार पीछे की ओर नहीं जा सकती। उसे बरबस आगे की ओर ही दौड़ना पड़ेगा।

प्रश्नों का प्रश्न अब यह है कि क्या लोकतन्त्र की गाड़ी जहाँ की तहाँ रुकी रह सकती है, या उसे समाजवाद में परिणत होना पड़ेगा। लॉस्की ऐसे चिन्तकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि लोकतन्त्र तभी तक कायम रह सकता है, जब तक शासक-वर्ग उदार नीति का तामझाम और विलासिता कायम रख सकता है।

उन्होंने लिखा है—"लोकतन्त्र के दबाव में आकर शासक-वर्ग अपने गढ़ के बाहरी मोर्चों को त्याग सकता है, पर वह बिना लड़ाई के अन्दरूनी गढ़ पर दूसरों का अधिकार होने नहीं दे सकता। पतन के युग में सामाजिक सुधार के कार्य को आगे ले जाने का अर्थ है कि सम्पत्ति के सम्बन्धों में फ़र्क पैदा करना। इसका मतलब यह है कि शासक-वर्ग रियायतों से हाथ धो ले। अन्ततोगत्वा इसका परिणाम यह होगा कि एक आर्थिक अल्पतन्त्र की जगह पर ऐसे लोगों के हाथ में उत्पादन के साधन आ जाएँ जिससे शासक-वर्ग की रियायतों की समाप्ति हो जाए। जैसा कि हमेशा हुआ है, जब भी सम्पत्ति-सम्बन्धी विचार खतरे में पड़े हैं, तब-तब सम्पत्ति के मालिक घबरा गए हैं। ऐसी हालत में राजनीतिक लोकतन्त्र को दुश्मन करार दिया जाता है, क्योंकि राजनीतिक लोकतन्त्र से

जनता के हाथों में औपचारिक विधायक शक्ति आ जाती है।"

आगे लॉस्की ने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए कहा है—"अक्सर यह कहा जाता है कि यह जो संघर्ष पैदा होता है, वह इस कारण पैदा नहीं होता कि शासक-वर्ग सुधारों के विरुद्ध है, बल्कि वह इस कारण पैदा होता है कि सुधारक जिस गति से सुधार की गाड़ी को चलाना चाहते हैं, वह गति उन्हें मन्जूर नहीं होती। इसका एक ऐतिहासिक उदाहरण यह है कि लायड जार्ज ने कुछ आर्थिक सुधार पेश किए, जो आज हमें बहुत ही नरम लगते हैं, पर हाउस आफ लार्ड्स ने उसे नामन्जूर कर दिया। पर यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी। १९०६ में ही लार्ड बाल्फूर ने यह कह दिया था कि हम सभी लोगों का यह कर्तव्य है कि महान् यूनियनिस्ट दल का ही इस महान् साम्राज्य पर नियन्त्रण रहे, चाहे वह शक्ति-आरूढ़ हो या विरोध में हो। उस समय उनका असली कथ्य क्या था यह तीन महीने बाद खुला जब १९०६ के शिक्षा-सम्बन्धी विधेयक पर विचार करते हुए उन्होंने यह घोषणा की कि—"असली बातचीत कहीं और ही होनी चाहिए।"

इस प्रकार से लॉस्की ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दलों की ऊपर से दीखने वाली वितण्डा आधारभूत नहीं है और वह लगभग एक तमाशा है, जिसके द्वारा मतदाताओं के सामने यह भ्रान्तिपूर्ण जाल फैलाया जाता है कि असली शक्ति किसके हाथों में है। लॉस्की ने यह दिखलाया है कि केवल इंग्लैण्ड में ही नहीं, संयुक्त राज्य अमरीका में भी यही परिस्थिति थी। वहाँ राष्ट्रपति कई बार ऐसे सुधार सामने लाते हैं, जिन पर उन्हें नीचा देखना पड़ता है। लॉस्की ने कई उदाहरण दिए थे, जैसे सान फ्रांसिसको की हड़ताल जो १९३४ के पतझड़ की कपड़ा मिलों की हड़ताल, जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई थी। रूज़वेल्ट बहुत उदार विचार के राजनीतिज्ञ माने जाते हैं, पर लॉस्की का कथन है—रूज़वेल्ट भी स्वतन्त्रता का झण्डा लेकर चलते हैं, पर उनके स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि अमरीकन समाज में वे ही परिस्थितियाँ कायम रखी जाए जिनसे वर्तमान संकट उत्पन्न हुआ है।

इस सम्बन्ध में यदि हम दूसरे महायुद्ध के पहले और उसके बाद उत्पन्न स्थितियों को देखें, तो हमें कई बहुत महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं पर पहुँचना पड़ता है। हिटलर लोकतन्त्र के ज़रिए से ही शक्ति आरूढ़ हुआ। आज प्रचार-कार्य की कला बल्कि विज्ञान इतना महीन कातता है कि जनता यह समझती रहेगी कि वह स्वतन्त्र चिन्तन कर रही है और स्वतन्त्र रूप से मत दे रही है, पर असल में उसे विज्ञापन की तकनीकों से सम्मोहित किया जा रहा है, जिसका उसे भान नहीं होता। इन तकनीकों के सम्बन्ध में आम लोगों के लिए 'रेप आफ दि मासेस' आदि जाने कितनी पुस्तकें लिखी गईं, जिनमें विज्ञापन और प्रचार के इन तरीकों का पर्दाफाश किया गया। हमारे देश में जहाँ लोग कम शिक्षित हैं, वहाँ तो

मतदाताओं को गुमराह करना, धर्म खतरे में है, भाषा खतरे में है, गोवध इत्यादि का हौवा पैदा करके जनता को गुमराह करना इतना आसान है कि यह खतरा और भी स्पष्ट है।

इस सम्वन्ध में स्मरण रहे कि जर्मन जाति, संगीत, साहित्य, नाटक, विज्ञान, मनोविज्ञान—सभी दृष्टियों से संसार की अग्रगण्य जाति होने पर भी उस जाति को गुमराह करके कम से कम दो बार संसार का सर्वनाश किया गया। हिटलर ने जो कुछ किया उसकी तो इतिहास में कोई तुलना है ही नहीं। पर हिटलर कैसे शक्ति आरूढ़ हुआ, कैसे उसे एक एकाधिकारमूलक शक्ति मिली, जब हम इन वातों की जड़ में झाँकते हैं, तव हमें ज्ञात होता है कि लोकतन्त्र के लिए कितने प्रकार के खतरे हो सकते हैं। लोकतन्त्र या तो समाजवाद में परिणत होगा या उसे मजबूरन पीछे की ओर किसी न किसी प्रकार के फासिस्टवाद में जाना पड़ेगा। यह ज़रूरी नहीं है कि हर देश में हिटलर ही उत्पन्न हो, उसका नाम कुछ और तो होगा ही, रूप भी कुछ भिन्न हो सकता है। हिटलरवाद का असली तत्त्व है लोकतन्त्र का विरोध। भारत में इसका खतरा कोई काल्पनिक नहीं है। यदि जनता यथेष्ट जागरूक न रहे, तो किसी भी साँस से भारत में फासिस्टवाद का भण्डा बुलन्द होकर यहाँ तक स्थिति विगड़ सकती है कि गोडसे वीर हो जाए और गाँधी, भगतसिंह, अशफाकुल्ला राष्ट्र द्रोही हो जाएँ।

इस प्रसंग में उस सुप्रचलित धारणा का भी निराकरण कर दिया जाए कि शिक्षित किसी भी प्रकार अशिक्षितों के मुकावले में कम गुमराह किए जा सकते हैं। कुछ लोगों को तो यह लगता है कि भारत में शिक्षितों को गुमराह करना और उन्हें खरीदना ज्यादा आसान है, क्योंकि उनमें से हरेक के माथे पर 'मैं विकाऊ हूँ।' यह तख्ती लगी हुई है। पर परिस्थिति शायद इतनी खराब नहीं है। पर इस सम्वन्ध में एक विशेष तथ्य की ओर दृष्टि आकृष्ट किए विना मैं नहीं रह सकता कि जवाहरलाल आदि ने तो समाजवाद को भारतीय राष्ट्र का ध्येय करार दिया और केवल ध्येय ही करार नहीं दिया, वल्कि घोषणापत्र में भी वैंकों के राष्ट्रीयकरण को अपना लिया, उस ध्येय को हमारे शिक्षित वर्गों में सवसे आगे वढ़ा हुआ वर्ग (या सवसे पिछड़ा हुआ) लेखक और साहित्यकार अपना नहीं सका। स्वराज्य के पहले स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र को सारे शिक्षित-वर्ग का, विशेषकर लेखक, पत्रकार, साहित्यकार वर्ग का, आशीर्वाद प्राप्त था, पर समाजवाद हमारे देश का लक्ष्य घोषित किए जाने पर भी हमारा शिक्षित-वर्ग उसे अपना नहीं सका है, पचाना और उसके लिए अपनी आवाज़ वुलन्द करना, जैसा सार्त्र ने किया है, तो बहुत दूर की वात है। यह समाजवाद के लिए उतना नहीं जितना लेखकों के लिए खतरनाक है।

आधारभूत वात यह है कि लोकतन्त्र तभी स्वस्थ हो सकता है, जब उसकी गति समाजवाद की ओर हो। समाजवाद की कोई भी परिभाषा की जाए। उसकी एक सर्वमान्य

परिभाषा है,वह यह कि यह एक ऐसी पद्धति है,जिसमें मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त होता है। इस सर्वमान्य परिभाषा को अपना कर हमारे लोकतन्त्र को आगे बढ़ना है। अमरीकी राष्ट्रपति सुप्रसिद्ध चिन्तक उडरो विल्सन ने प्रथम महायुद्ध के सिलसिले में लक्ष्य के रूप में यह बताया था कि मेरे मित्र-पक्ष का लक्ष्य संसार को लोकतन्त्र के लिए निरापद बनाना है। इसी तरह एक अन्य अमरीकन राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने कहा था कि लोकतन्त्र वह पद्धति है,जिसमें जनता द्वारा जनता के लिए जनता की सरकार स्थापित होती है। इन सभी का निचोड़ यह है लोकतन्त्र का रुख समाजवाद की ओर हो। पर किसी ने हाल ही में यह भी कहा कि लोकतन्त्र के नाम पर जो कुछ जारी है, वह है कि राजनीतिज्ञों के द्वारा राजनीतिज्ञों के लिए राजनीतिज्ञों की सरकार। इसी को लोकतन्त्र का भारी-भरकम नाम दिया जाता है। पर असल में यह बाघ की खाल ओढ़े हुए गदहा है और इस पद्धति में जनता का तेल पेर कर अल्पतन्त्र का जोंक मोटा होता है।

उग्रवादी दार्शनिकों का कहना है कि कोई भी सरकार निष्पक्ष नहीं है। वह छिपे या खुले रूप में किसी न किसी वर्ग का अधिनायकवाद है। अवश्य चेष्टा यह की जाती है कि ढकोसला कायम रहे कि सरकार निष्पक्ष है, पर ज्योंही किसी अवसर पर शासक वर्ग के मूल अधिकार खतरे में पड़ जाते हैं, ज्यों ही वह अपने असली रूप में प्रकट होता है। लीबवनेख्त ने इसीलिए लोकतन्त्र को अंजीर का वह पत्ता बताया है, जिसके द्वारा शासक-वर्ग अपनी नग्नता को छिपाए रखता है, पर किसी भी मौलिक हित के खतरे में पड़ते ही वह नंगा नाच करने लगता है। लीबवनेख्त के युग तक फासिस्टवाद का उदय नहीं हुआ था, उसके बाद फासिस्टवाद का उदय हुआ और हम जानते हैं कि भारतीय लोकतन्त्र के सामने फासिस्टवाद का खतरा है। अभी-अभी भारत में जो चुनाव हुआ है, उसमें धन ने जो हिस्सा अदा किया और चुनाव लड़ना जिस प्रकार व्ययसाध्य साबित हुआ, उससे गरीब या मध्यवित्त, पर योग्य लोगों के लिए चुनाव लड़ना असम्भव प्रमाणित हुआ। इससे बचने के लिए जनतन्त्र को समाजवाद की ओर जाना ही पड़ेगा।

वेदना स्थापन (Analgesics, Antalgies; Anodynes)

श्री विश्वनाथ द्विवेदी

वेदना की परिभाषा

सामान्य अनुभूति (ज्ञानानुभव) को वेदना कहते हैं। यह मन व शरीर के सम्पर्क से अनुभव में आती है। इसके दो भेद हैं :

१. सुखात्मक } वेदना
२. दुःखात्मक }

यथा—वेदनानामधिष्ठानोमनोदेहश्चसेन्द्रियः।
द्विविधं सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्त्तकः ।।

च० शा० १

रूढार्थ—चिकित्सा में या साधारण बोलचाल में वेदना का ग्रहण दुःखात्मक वेदना के ग्रहण के रूप में ही चलता है। वेदना स्थापन भी इसी अर्थ में उचित ज्ञात होता है अतः इसकी परिभाषा निम्न है :

वेदना स्थापन

जो द्रव्य दुःखात्मक वेदना को शान्त कर शरीर को प्रकृतिस्थ बना देते हैं उन्हें वेदना स्थापन[1] कहते हैं।

वेदना के ज्ञान के मार्ग व विविधता

वेदना शरीर व मन के संयोग से होने वाली सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति है। यह अनुभूति चाहे शारीरिक हो या मानसिक, वेदनोत्पादन की हेतु बनती है। इसको अनुभूति (Sensation) कह सकते हैं।

---

१. वेदनायां संभूताया तां निहत्य शरीरं प्रकृतौ स्थापयतीति वेदनास्थापनम्।

चक्रपाणिद

आधुनिक मत में वेदना की रूपरेखा यों है

Pain may be defined as that sensation, which usually disagreeable which provokes a protective withdrawal response because of anticepated injury.

अर्थात् —वह अनुभूति जो पसन्द न हो और जिसके हानिकारक प्रभाव को रोकने के लिए चेष्टा होती हो।

बड़ी वेदनायें शरीर के अंगों पर हानिकारक भयंकर प्रभाव को डालती हैं और उनके परिणामस्वरूप लोगों को निष्क्रियता-हानि व और शरीरनाशक भाव उत्पन्न कर मृत्यु तक ला देती हैं। एक रोगी की वेदना सरलता से दूर हो सकती है। दूसरे की बहु उपक्रम करने पर भी कठिनता से जाती है। तीसरे की सब उपक्रम करने पर भी लाभ नहीं होता और मारक सिद्ध होती है। अतः वेदना की मात्रा का ज्ञान करना चिकित्सक का कर्तव्य है।

वेदना के मार्ग

वेदनाप्रद अनुभूति जिन मार्गों से एक से दूसरे स्थान तक पहुँचती है उनको तीन-चार प्रधान भेदों में बाँट सकते हैं। यथा :—

१. स्पर्शनेन्द्रियगत या त्वगीय वेदना (Superficial or cutaneous pain)

सारी त्वचा नाड़ी द्वारा गवाक्षित है। इसमें की नाड़ियाँ दो तरह की हैं। मेदस विधान सहित व मेदस विधान रहित। ये नाड़ियाँ स्पर्शनेन्द्रिय में चारों तरफ़ सूक्ष्मनाड़ी गंडों और नाड़ीचक्रों द्वारा एक-दूसरे से संवृद्ध रहती हैं। इनका अन्तिम भाग (छोटा) त्वगीय प्रान्त होता है। इन्हें नाड्यन्त भाग (Nerve end) कहते हैं। नाड्यन्त भाग—कर्णिका-उदरावरण, फुफ्फुसावरण तथा अन्य-अन्य विशेष स्थानों के हिस्सों में भी रहते हैं। यह सब प्रकार की वेदना का ज्ञान कराती है। चाहे वह अभिघातज हों—अग्निदग्धज हो—विद्युत् प्रयोगज हों इत्यादि यह किसी एक प्रकार की ही वेदना की अनुभूति कराते हों ऐसा नहीं, यह विविध वेदना की अनुभूति कराती है।

कुछ स्थान की बनावट भी वेदना ज्ञानार्थ ही बनी होती है ऐसा ज्ञात होता है। जो साधारण वेदना का ज्ञान कराती हैं। यथा :—दाँत के माँस (tooth pulp) वक्षीय क्षेत्र (Sternal cavity), शिरस्य क्षुद्राघ्मनी (Little mengial artery at the base of the brain) जो मस्तिष्क के प्रारम्भिक भाग में हैं। कुछ मस्तिष्क की रक्तवहाशिरावें विशेषकर शंख प्रदेश की जिनके नाड़ी-तंतु शीघ्र वेदना की अनुभूति कराते हैं।

शरीर के कुछ भागों की बनावट में क्षुद्रनाड़ी तंतु अधिक होते हैं जैसे—नाखूनों की जड़। जहाँ से वेदनाएँ धीरे-धीरे ऊपर ज्ञात होती हैं। अतः गर्मतार या सूची-वेधन का ज्ञान धीमा होता रहता है। अंगुलियों से अग्रभाग के मांस शीघ्र ज्ञान की अनुभूति करते हैं।

गम्भीर वेदना (Deep sensation & pain)

गम्भीर वेदनायें माँसपेशियों, अस्थि, अस्थ्यावरण या संधि के स्नायुओं तथा वक्ष व उदर की कलाओं में पाई जाती हैं। गम्भीर वेदना सामान्य वेदना की तरह दूर-वर्ती ज्ञात नहीं होती। यह तो जब तेज़ होती है तो साथ में अन्य लक्षण भी लाती है। यथा—

स्वेदागम, मुखवैरस्य, छर्दि, वमन, रक्तभार की कमी, नाडीमंदता आदि।

उदर व वक्षगत वेदनायें कठिनाई से अनुभूत होती हैं। क्योंकि सौषुम्न नाड़ियाँ उदर व वक्ष के क्षत्र में नाडीसूत्र भेजती हैं जो अपना ज्ञान स्वतन्त्र नाडीमंडल के तार को दे देती हैं और फिर त्वचा तक पहुँचने के लिए शरीर की अन्य नाड़ियों को देकर त्वचा तक अनुभूति पहुँचाती है। अतः इसमें स्वतंत्र नाड़ी-मंडल व सांवेदनिक नाड़ी-मंडल दोनों के तारों का संयुक्त कार्य होने से वेदना का मार्ग एक न होने से सीधा अनुभव ही होता है।

यही कारण है कि हृच्छूल की वेदना वामबाहु में और उण्डूक पुच्छ विद्रधि (Appendicitis) या शोथ मेकाशूल उस उदर के आमाशयिक क्षेत्र के पास ज्ञात होती है।

यह भी हो सकता है वक्षोदरीय क्षेत्र के नाड़ी·सूत्र अधिक वेदनानुभव करते हैं। उदाहरणार्थ कह सकते हैं कि—आमाशय, अन्त्र, पिताशय, गर्भाशय या अन्य स्थानों का शोथजन्य दर्द तत्स्थानीय दीवालों की नाड़ियों के तनाव से होता दिखाई पड़ता है। चाहे वेदना मंद हो या तीव्र।

कुछ लोगों का कथन है कि वेदनानुभव केवल वेदनानुभव मात्र है किन्तु यह मानसिक व दैहिक दोनों मिश्रित[२] होकर होते हैं। यथा—क्रोध, भय, असुखात्मक (Unpleasant), अरति, बेचैनी, मनोवस्थिति। जैसे हिस्टीरिया में वेदनाकाल में वेदना अज्ञात रहती है और वेग बीतने पर थकावट, आलस्य आदि रूप में प्रकट होती है।

संक्षेप में त्वगीय वेदना कोष्ठीय वेदना से भिन्न होती है। और इसका स्वरूप प्राभाविक होता है। तीव्र कोष्ठीय शूल-गुरुता (Dull pain), वेदना (Aching) या दाह

---

२. These are not only pain sensation but of a associated sensations that are emmotional and effective state as well.

(burning) के रूप में होते हैं। जो अंग के कार्य का अवरोध करते हैं और स्वेद, वमन, दुर्बलता व थकावट पैदा करते हैं।

इस प्रकार जो व्यक्ति वेदना की अनुभूति कम करते हैं वे सत्यवान या सहनशील (Phlegmatic) और सत्त्वहीन या डरपोक (Hypo-Condriac) हैं जो जरासी वेदना में चीख उठते हैं। इन पर ध्यान दें तो वेदनाप्रद इच्छायें जिन भागों से एक से दूसरे प्रांत में जाती है उनके तीन प्रधान मार्ग हैं।

त्रयोरोग मार्गा :—इति

(१) शाखा—रक्तादयो धातवः त्वक् च

(२) मर्मास्थि-संधय

(३) कोष्ठ

शाखा—त्वक् व सप्त धातु—यह वाह्य मार्ग है।

मर्मास्थि संधय—वस्ति, हृदय, मूर्धा आदि अस्थि-संधियों व उनमें निवद्ध स्नायु मध्यम मार्ग हैं।

कोष्ठ—महास्रोतस के मध्यकाय स्थित आमाशय—पक्वाशय आदि उदर व वक्षगत कोष्ठ आदि यह आभ्यंतर मार्ग है।

शाखागत वेदना—सामान्य वेदना होती है।

इसी प्रकार जैसे रोग के तीन मार्ग हैं—प्रधान मार्ग वेदना के भी तीन ही हैं। शरीर-रचना क्रमानुसार इनका मार्ग निम्न प्रकार का है।

१—वेदना की अनुभूति स्पर्शेन्द्रिय के भीतर के नाड़ी-क्षत्रों से समग्रत्वक्प्रान्त में पहुँचती है। अन्य अनुभूतियाँ सामान्यरूप से त्वगीय वनावटों के स्थल में होती हैं। साथ ही पृष्ठीय नाड़ीगंडों के सेलों की वनावट भी अनुभूति-हेतुक होती है। यह नाड़ी-गंड अच्छी तरह नाड़ी आवरणों से युक्त (Seathed) होते हैं। या अल्प आवरण वाले होते हैं। इन वेदनाओं की गति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। इन नाड़ी-गंडों के छोटे तंतु वेदना धीमी गति से प्रसारित करते हैं ऐसे सूत्र सुषुम्ना कांड के पश्चिमीय नाड़ी-गंडों में पाये जाते हैं (Posterior root ganglia of spiral cord) इनके सूत्र क्षुद्र अर्धवृत्त नाड़ी सूत्रवत् होते हैं। बड़े नाड़ी वृत्त, बड़ी वेदना को ले जाते हैं जैसे दाह, जलन, अथवा प्रारम्भिक वेदना (Protopathic pain) उन नाड़ी-सूत्रों (Dendrites) से घूमकर पश्चिमीय नाड़ीगंडों से आती है। अर्थात् साम्त्रेदनिक उंगलियां और श्वेतरैमी (rame) से होकर आती हैं। यह भी वेदना का प्रसार करती है। इस प्रकार के नाड़ी-सूत्र उदर प्रान्तीय (Veceral pain) वेदना या समीपस्थ स्थानों की वेदना लाती है।

२—सुषुम्ना काण्ड के पश्चिमीय कालम को संवृद्ध करने वाले न्यूरोन (Connecting nerrones in Posterior colmn of Spinal cord)

३—वे नाड़ीसूत्र जो सुषुम्नाकांड से थैलमस तक इस पार से उस पार को क्रॉस करते हैं। अथवा वे सब जो चढ़कर जाते हैं (Fibers crossed ascend on the opposite side via spinothal mic tract to thalamus.)

४—थेलमस व मानसक्षत्र की गतियां (Thalamo cartical implulses) मस्तिष्क के पश्चात् पृष्ठीय चक्रांग (Post central gyrus) और आभ्यन्तर कैपसूत्र होकर वहां से अधिक वेदना की अनुभूति कराती है। मस्तिष्क का ललाटीय भाग वेदना की प्रतिक्रिया की अनुभूति करता है।

वेदनानुभूतियां (Pain Sensations)

वेदना शरीर के किसी भाग से उठ सकती है। साम्वेदनिक नाड़ियाँ सारे शरीर में इसका प्रसार करती हैं। अतः इसके लिए किसी अंग विशेष को नहीं कहा जा सकता। इसमें तीन प्रकार की वेदनायें स्पष्ट अनुभव में आती हैं :

१—सामान्य वेदना या त्वगीय वेदना (Superficial or cutaneous Pain)

२—गम्भीर वेदना—इसमें मांसपेशियों, स्नायु, संधियों व मलायतनों (Fascia) की वेदनायें सम्मिलित हैं।

३—कोष्ठीय क्षेत्रीय (Visceral Pain) वेदनायें—

प्रथम दो प्रकार की वेदनायें शारीरिक वेदना (Somatic pain) के रूप में मानी जाती हैं और इनका ज्ञान विद्युत्, यांत्रिक या अग्नि द्वारा अथवा रासायनिक द्रव्यों के प्रयोग द्वारा जाने जाते हैं। इनका विवरण पूर्व में दे चुके हैं।

मात्रावत् वेदना—नाड्यंत भागों से पंचेन्द्रिय ज्ञान की बातों का अनुभव होता है। यह अनुभूति प्रथम उत्तेजनपूर्वक होती है। रूपरंग, शब्दगंध, भार स्पर्श की अनुभूति तत्स्थानीय उत्तेजन (Stimuli) पूर्वक होती है। शब्द का कर्ण की नाड्यंत भागों द्वारा रूप व वर्ण के नेत्रीय भाग द्वारा ऐसे ही गंधक नासास्थानीय व स्पर्श व भार का त्वगीय नाड्यंतों द्वारा ज्ञान होता है। इनको दो भेदों में विभक्त कर सकते हैं।

१—सामान्य

२—विशेष

सामान्य (Leminal)—वह उत्तेजन की मात्रा जो एक साधारण उत्तेजनात्मक ज्ञान की अनुभूति का स्वरूप दे दे सामान्य उत्तेजन या मात्रावत संवेदन (Leminal thresh hold) लिमिनल थ्रेश होल्ड या (Absulute thresh) वेदनात्मक अनुभूति कहते हैं। यह मात्रावत अनुभूति है।

विभेदक

इसी प्रकार दो या अधिक प्रकार की अनुभूति की मात्रा जो भिन्न-भिन्न रूप में होती है। इनको विविधात्मक मात्रानुभूति (Differential thresh hold of the stimulus) कहते हैं। इसमें एक ही प्रकार के शब्द या रंग की विभिन्नता की मात्रानुभूति होती है। इनकी मात्रा तरतम के रूप में सामान्य व तीव्र कही जा सकती है। ये सब मात्रायें उत्तेजन (Stimuli) व इच्छा (Impulse) की स्थिति के अनुकूल होती हैं। इन्हें निम्नरूप में कह सकते हैं :
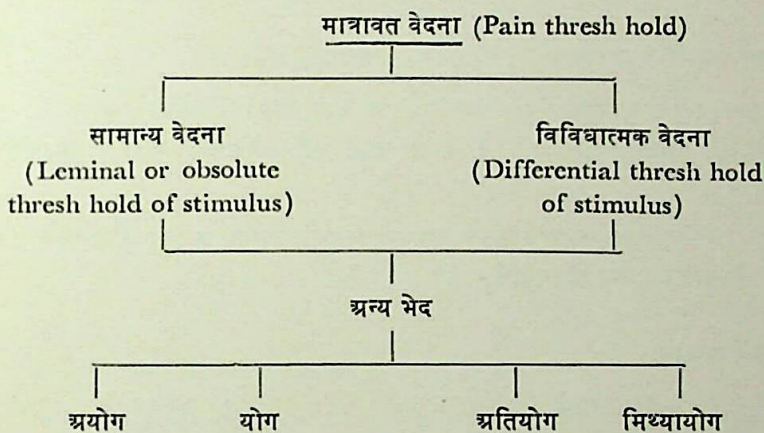
इस प्रकार वह मात्रा की शक्ति जिस पर शीत, उष्ण, दुःख-सुख की अनुभूति निर्भर करती है मात्रावत वेदना की संज्ञा में आती है यह सम्यक् होने पर सम्यक् योग—अधिक होने पर अतियोग और सहनशील मात्रा से अनुचित रूप में होने पर मिथ्यायोग—ठीक योग न होने पर अयोग कहलाती है। इन मात्राओं का प्रवाहण भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न मात्रा में होता है।

१—एक सूई के चुभाने पर वेदना कुछ होकर समाप्त हो जाती है।

२—दंतमांस की वेदना तीन-चार चषक देकर एकदम रुक जाती है, कुछ देर बाद फिर होती है।

३—आंत्र की वेदना होती है, कुछ देर रहकर कम होती है, फिर होती है।

४—हृच्छूल—एक बार होकर देर तक होती है—मात्रा स्थायी होती है।

५—लगातार वेदन—बराबर होती है और उसकी अनुभूति कम-अधिक बनी ही रहती है। कभी कम कभी अधिक।

चित्र में निम्नरूप से प्रकट कर सकते हैं :—

सूची वेधन

१—सूची वेध
२—दन्तशूल
३—आंत्रगत
४—हृच्छूल
५—लगातार वेदना

वेदना का मात्रामात्रत्व—(Pain Standardization)

वेदना के मात्रामात्रत्व के ज्ञान के विषय में प्राचीन चिकित्सकों के व नवीनों के मत में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल साधन जो मापन के हैं उनका ही अन्तर है। यथा—

आत्रेय पुनर्वसु-धन्वन्तरि-अग्निवेश-चरक-सुश्रुत-वाग्भट-काश्यप आदि महर्षियों ने वेदना के मापन के कई साधन प्रकार रखे थे।

जिनमें प्रधान

(१) शीत संस्पर्श
(२) उष्ण (दग्ध) संस्पर्श
(३) अभिघातन
(४) च्छेदन (ताड़नम्)
(५) लुंचन
(६) अवघर्षण (विमलापन)
(७) अवसेचन-परिषेचन
(८) निभंजन

आधुनिक चिकित्सकों में वुल्फ (Wolf), हारडी (Hardy), वानफ्रे (Vanfrey), सीवर (seaver), पीफर (Pfeefer) व गुड़डल (Goddal) इत्यादि कई विचारकों ने वेदना की मात्रा पर विचार किया है। उनके ज्ञानार्थ साधन समयानुसार निम्न होते हैं :

१—अग्नि प्रयोग (Tharmal heat)
२—विद्युत् प्रयोग (Electrical)
३—अभिघातन (Mechanical effect)
४—परिघर्षण (Pressure)

प्राचीन काल के चिकित्सकों ने वेदना के विविध भेद किये थे। अतः उनके ज्ञानार्थ भिन्न-भिन्न साधन अपनाये जाते हैं—

वातवर्णवेदना	पित्तवर्णवेदना	श्लेष्मवर्णवेदना
१—शीतोष्ण स्पर्श	१—औष्ठ्य	१—शैत्य
२—तोदन	२—दाह	२—गौरव
३—भेदन	३—पाक	३—स्थैर्य
४—पाटन	४—कण्डू	४—स्तम्भ
५—विदारण	५—परिवर्तित क्रम—	५—बंध
६—शूल	स्वेद	६—उपदेह
७—व्यथा	राग	७—कण्डू
८—खंज	स्राव	श्वैत्य
९—पाण्डुत्व	शोथ	क्लेद
१०—संकोच		स्नेह
११—हर्ष—रोमहर्ष		
१२—स्तम्भ		

प्रतिवर्तित रूप में

स्रंस	व्योस	कम्प	सुप्ति	चाल
भ्रंश	साद	शोष	वर्ण	

इन वेदनाओं के ज्ञानार्थ जो उपक्रम किये जाते हैं वे निम्न हैं :

आत्रेय सम्प्रदाय ने इन वेदनाओं के मानदण्ड के ज्ञानार्थ कई उपक्रम किये हैं। धन्वन्तरि सम्प्रदाय में कुछ और जोड़ा है। इन त्रिविध वेदनाओं के मात्रा के माप-दण्ड को जानने के लिए आत्रेय पुनर्वसु ने इनके तीन भेद किये हैं। यथा :

१—सामान्य वेदना }
२—मृदु वेदना }
३—मध्य वेदना
४—तीव्र वेदना

इनके मात्रामात्रत्व पर निम्न उपक्रम संक्षेप में आते हैं :

स्पर्शात्मक	उष्णक्रिया	शीतक्रिया
१—विमलापनम्	उष्णस्वेद-उष्णचैलिक	१—शीत चैलिक
२—अभ्यंग-मर्दन	दग्ध	२—परिषेक
३—स्वेदन	प्लुष्ट	३—प्रदेह
४—परिषेचन	लेप	४—अवगाहन

स्पर्शात्मक	उष्णक्रिया	शीतक्रिया
५—दाहन	परिषेक	५—लेप
६—ताडन-वेधन	प्रमेह	
७—लेपन	अवगाहन-मज्जन	

रोग व व्याधि की दशा में मृदु-मध्य-तीव्र वेदना मात्रा में भिन्न-भिन्न विचार करना पड़ता है।—वेदना की मात्रा के अनुसार ऊपर के क्रियात्मक—प्रयोग निम्न रूप में हैं चाहे वह उष्णात्मक प्रयोग हो या शीतात्मक या स्पर्शात्मक ही क्यों नहीं।

१—रोगेषु व्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽति मृदुर्न च।
द्रव्यवान कल्पिते देशे स्वेदः कार्यकरो मतः।।
२—व्याधौ शीतेशरीरे च महान् स्वेदो महाबले।
दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमोहितः।।

—च० सू० अ० १४-७-८

३—वातश्लेष्मणि वाते व कफे वा स्वेद दृष्यते।

१–घर्षण

सामान्य वेदना में—सामान्य क्रिया :

१—विमलापन (लघुघर्षण)

२—अभ्यंग

ये दो उपक्रम आते हैं। सामान्य सूचीवेधन करके उस वेदना के शान्त्यर्थ वहाँ घर्षण—रगड़ लगाने से वेदना शान्त होती है। साधारण श्रेणी की वेदना में तैलादि मर्दन से वह जाती रहती है।

२–स्वेदन

इससे वेदना की मात्रा अधिक हो तो—उष्ण स्वेद का प्रयोग वेदना का उपशम करता है।

स्वेदन की मात्रा व्याधि वेदना व स्थानानुकूल बतलायी गई है। यथा :

स्थानानुकूल

मृदु स्वेद—(१) वृषणौ—हृदयं दृष्टि स्वेदयेन मृदु नैव वा।

मध्यम् — (२) मध्यमं वक्षणौ शेषमंगावयव निष्ठतः।

तीव्रस्वेद - (३) तीव्र वेदना में उचित स्थान पर।

वेदनानुकूल चरक में मृदु-मध्य-तीव्र स्वेद के लिए निम्न क्रम लिखे हैं :

मृदु —उपनाह-(प्रदेह-प्रलेप), उष्ण, पिण्डस्वेद, उष्णचैलिक स्वेद-नाडीस्वेद।

मध्यम —परिष्येक-अवगाहन-नाडीस्वेदन-प्रस्तरस्वेद-कुम्भी स्वेद।

तीव्र —कूप-होलाक-अश्मघन-कुटी-भू-जेन्ताक स्वेद।

(१) यह क्रमशः करोष्मा से लेकर—धीरे-धीरे वस्त्रोष्मा—लेप—से परिषेक अवगाहन तक तीव्र स्वेद।

(२) सामान्य स्वेद से जेन्ताक स्वेद तक मध्य तीव्र स्वेद देकर।

जिस वेदना की जो मात्रा है वह उतने ही स्वेद में शान्त होती है।

उस वेदना की वही मात्रा है। मात्रा के विषय में विचार निम्न हैं :

शीतशूलव्युवरमे स्तम्भ गौरव निग्रहे।
संजातेमार्द्वे स्वेदेनाविरतिर्मता ॥

—चरक

शीतकर्म

शीतकर्म में भी शीतल परिषेक-प्रदेह-लेप-परिषेक-अवगाहनादि उष्णाताजनित वेदना में शीतक्रिया द्वारा उपशम करते हैं। यथा :

मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैः भोजनैरपि।
जलार्द्रैर्जल्यजैर्हस्तैः स्विद्यतौ हृदयं स्पृशते ॥

उष्णकर्म में धन्वन्तरि सम्प्रदाय ने एक और ही विधि अपनायी थी वह थी अग्नि-कर्म उष्णक्रिया—

धन्वन्तरि सम्प्रदाय ने उष्मा का प्रयोग केवल स्वेदन तक ही सीमित नहीं रखा था वल्कि एक नयी विधि का प्रयोग और क्रिया और वह थी अग्नि-कर्म—

अग्निकर्म में उष्णता की कितनी मात्रा कहाँ प्रयोग करना वेदना मात्रायत अग्नि की मात्रा का एक नया प्रयोग प्रारम्भ किया जिसमें यह निर्दिष्ट किया गया था कि अग्नि-कर्म के कौन व्यक्ति हैं कौन अयोग्य हैं। इसमें दो विधियों का आश्रय लिया गया था :

१—प्लुष्ट

२—दग्ध

वेदनानुसार एक और विधि का आविष्कार सुश्रुत ने किया था और वह था[३] वेधनम्।

---

३. अर्थमानि दहनोपकरणानि भवति। तद्यथा-पिप्पल्यजाशकृत् गोदन्त शर-शलाका-जाम्बवोष्ठे तरलौहाः क्षौद्रगुड़लेहाश्च। तत्र-पिप्पल्यजाशकृत् गोदन्तशर शलाकासत्वग्गतानां जाम्बवौष्ठेतरलोहामांस-गतानां, क्षौद्रगुडस्नेहीः शिरास्नायुसंध्यस्थिगतानाम्। —सु० सू० १२-४

इन विधियों का प्रयोग वेदनानुकूल किया जाता था। चरक की तरह, सुश्रुत ने भी चौथा प्रकार वेदना-स्थापन के मानदण्ड के निर्धारण के लिए और प्रयोग किया था। वह था औषधि प्रयोग। महती वेदना में औषधि की बड़ी मात्रा और लघु वेदना में लघ्वी-मात्रा का प्रयोग इसमें दो प्रकार थे :

१—औषधि का वाह्य प्रयोग।
२—आभ्यन्तर प्रयोग।

१—वाह्य प्रयोग में अग्निवत कर्म करने वाले क्षारों का प्रयोग।

२—आभ्यन्तर प्रयोग में—उष्णतीक्ष्ण व्यवायी विकाशी औषधियों का वाह्य व आभ्यन्तर प्रयोग।

अग्नि-कर्म के माध्यम निम्न थे

(१) पिप्पली, (२) गोदन्त, (३) अजाशकृत, (४) शर, (५) शलाका, (६) जाम्ववोष्ठ लौह या पाषाणकृत, (७) क्षौद्र, (८) गुड़, (९) स्नेह आदि।

—सु० सू० ११-४

इनका प्रयोग वेदनानुसार व स्थानानुसार किया जाता है :

(१) सामान्य वेदना या त्वग्गत वेदना

पिप्पली—दग्ध
अजाशकृत—दग्ध
गोदन्त—दग्ध
शर—दग्ध
शलाका—दग्ध

करना चाहिए

(२) तीव्र वेदना

मांसगत वेदना
१—जाम्ववोष्ठ दग्ध
२—लौह दग्ध

(३) तीव्र वेदना

शिरास्नायु सन्धि अस्थिगत वेदना में।

१—क्षौद्र दग्ध

२—गुड़ दग्ध

३—स्नेह दग्ध

करना चाहिए

भिन्न-भिन्न रोगों में वेदना की मात्रा तीव्र व तीव्रतम होती है। उसी के अनुसार अग्निदग्ध स्थान व मात्रा का मापदण्ड है। शिरोरोग व अधिमन्थ में भयंकर तीव्र वेदना होने पर भ्रू-ललाट या शंख प्रदेश में जहाँ तीव्र वेदना हो वहीं पर दग्ध करना चाहिए इत्यादि। यही माध्यम चरक ने भी बतलाये हैं :

मधुच्छिष्टेन तैलेन मज्जमक्षौद्रवसाघृतैः।
तप्तैर्वा विविधैर्लोहै र्देहैद्दाहविशेषवित्॥

—च० चि० अ० २५-१०३

इनका प्रयोग द्विव्रणीय चिकित्साध्याय में गल-गण्डमाला-श्लेष्मग्रन्थि रुधिराति प्रवृत्ति में दग्धार्थ बतलाया गया है।

वेधन-तोदन-ताड़न कर्म

वेदना के शान्त्यर्थ चरक व सुश्रुत दोनों ने सूची से वेधन करना—या शिरा ताड़न का विचार प्रकट किया है। गम्भीर मूर्च्छा व वेदना में इनका प्रयोग होता है। यथा :

यथा संन्यास में

तीक्ष्ण अंजन, अवपीड़नस्थ व धूम्र सूची द्वारा तोदन नासान्तर माँस में तोदन व दाह—केश व लोम का लुंचन दाँतों से ज़ोर से फाटना, आत्मगुप्ता—का घर्षण आदि प्रयोग किये जाते थे। यथा :

१—अंजनान्यवपीडांश्च धूम्राः प्रधमनानि च।
सूचीभिस्तोदनं शस्तं, दाहः पीड़ा नखान्तरे॥
लुंचनं केश लोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च।
आत्मगुप्तावघर्षश्च हितं तस्याववोधने॥

—च० सू० अ० २४-४६-४७

२—चूर्णेप्रधमनैतीक्ष्णेर्विषार्त्तं समुपाचरेत।
ताडयेच शिराः क्षिप्रं तस्य शाखाललाटयोः॥
तास्वप्नसिच्यमानासु मूर्ध्निशस्त्रेण शस्त्रवित्।
कुर्यात् काक पदाकारं व्रणमेवं स्रवन्ति ताः॥

—सु० चि० अ० ५।४०-४५

संन्यास में

तीक्ष्णांजनाभ्यंजन धूम योगैस्तथानखाभ्यन्तरतोत्रवातः।
वादित्र गीतानुनयैरपूर्वै, विद्यद्दृढैर्गुप्तफलावघर्षैः॥
तोत्रसूची प्रमेह

—सु० उ० अ० ४६-२२

इस प्रकार गम्भीर व साधारण वेदना की शान्ति के लिये प्राचीन लोगों ने इन विधियों को वेदना की मात्रा में प्रयोग करके वेदना के मानदण्ड का निर्धारण किया था।

आधुनिक वेदनामापन की विधि

कई प्रकार की विधियों व यन्त्रों द्वारा वेदनाहर औषधियों की चयन प्रणाली निर्धारित की गई है। वेदना मापक यन्त्रों (Dolonimeters or Analgesemeters) के आधार निम्न वस्तु हैं। इनके ज्ञानार्थ :

(१) अग्नि (Thermal)
(२) विद्युत् (Electricity)
(३) अवघातन (Mechanical effects)

का सहयोग लेना पड़ता है।

अग्नि कर्म—ताप प्रणाली (Pedient heat)

इसके प्रमुख कार्यकर्त्ता—वुल्फ (wolf) व हार्डी (Harde) और गुडूल (gooddol) है। इनकी प्रणाली सामान्य है परन्तु रोगी-शय्या पर इनका प्रयोग दुष्कर है। क्रम—

१—उष्णातार (Warm wiredevence) इस तार को गर्म करके उष्णता की सामान्य व दुःखद मात्रा का ज्ञान करते हैं—

२—क्रमागत विद्युत् प्रवाह (Graded electrical stimula) एक धातु के पतले तार को जिसमें विद्युत् की मात्रा क्रमशः बढ़ाई जा सके वेदना-ज्ञापक मात्रा प्रयोग कर जाने जाते हैं।

अभिघातन-कंटक-कड़ेवाल का प्रयोग

१—वानफ्रे (Vonfrey) ने वेदना के ज्ञानार्थ कंटक का प्रयोग किया है। यह घोड़े के वने कड़े वालों के ब्रश का प्रयोग भी करते थे।

२—सीवर (Seaver) व पीफर (Pfeeffer) ने भी इसी विधि का प्रयोग किया था।

इस प्रकार पीतल या ताम्र के तारों का ब्रुश व काँटों का प्रयोग कर त्वचा पर

आघात पहुँचाकर वेदना नापते थे। अभिघातज प्रणाली का प्रयोग (चोट लगाकर) भी किया गया है।

भारतीय चिकित्सकों ने अभिघात की मात्रा पर शीत व उष्ण विधि का प्रयोग किया था। यथा—वेदनानुरूप इनकी प्रणाली का प्रयोग सामान्याभिघात—यथा—नेत्र में धूलिकण—तीव्रवात के प्रयोग पर—

(१) करतलोष्मा
(२) मुखवाय्वोष्मा का प्रयोग

विशेष मात्राभिघात पर

(१) सामान्य स्वेद
(२) घर्षण
(३) प्रलेप
(४) उत्कारिकादि का सुखोष्णोपलेप।

इसका प्रयोग पूर्व में बतलाया जा चुका है।

औषधि प्रयोग

कई प्रकार की औषधियाँ व रासायनिक द्रव्यों का प्रयोग जो दाहक, उत्तेजक व अवसादक कार्य करते हैं प्रयोग करके वेदना की मात्रामात्रत्व का पता लगाया जा चुका है।

प्राणियों पर वेदना-ज्ञापन का प्रयोग

छोटे-छोटे प्राणियों पर वेदना-ज्ञापन मात्रा (Thresh hold) का प्रयोग कर पता लगाना सरल नहीं है। क्योंकि वे अपनी वेदना की मात्रा को बतला नहीं सकते। उनकी मुखाकृति व अरति से सक्रिय मात्रा (Reaction thresh hold) का ज्ञान नहीं होता। वास्तव में मनुष्य-शरीर ही इस प्रकार की वेदना-ज्ञापन की उचित मात्रा का समाधान बुद्धिपूर्वक बतला सकता है।

वेदना के कम करने वाले उपक्रम

१—शोथ वेदना की मात्रा को कम करता है।

२—उष्णजल—मात्रा में अधिक उष्णजल वेदनाप्रद होता है।

३—स्थानीय माँसपेशी मर्दन (Local ischemia) से माँसगत वेदना कम होती है।

४—सार्वांगिक मर्दन—किसी स्थान का वेधन दूसरे स्थान की वेदना कम कर देता है। एक स्थान पर जोर का बन्ध ५ से १० मिनट बाँधने पर वेदनाप्रद हो जाती है।

५—कार्बनद्विओषित (Hypercapnia) ५ से ७ प्रतिशत कार्बन द्विओषित की मात्रा शरीर में होने पर वेदना ज्ञान बढ़ा देता है। नींद ला देता है।

६—कण्डूयन—वेदना व उष्णता-प्रदाह (Brigh and burning nervefiber) व कण्डूयन वेदनास्थल की वेदना को शान्ति कर देता है। कण्डूयन ने उत्तेजन होकर वेदना शान्त हो जाती है।

७—सामान्य घर्षण से इंजेक्शन के वेधन की वेदना उपशमित होती है।

वेदनाज्ञापन की मात्रा व क्रम

पूर्व में त्रिविध वेदना

वात वर्ण वेदना

पित्त वर्ण वेदना व

श्लेष्म वर्ण वेदना का विवरण वतला चुके हैं। इन में कुछ स्वतः होते हैं कुछ प्रत्यावर्तित क्रिया द्वारा होते हैं।

इनके ज्ञानार्थ निम्न कोष्ठक देखिए—

वातात्मक			पित्तात्मक			श्लेष्मात्मक	
स्रंस	+	आर०	दाह	+		श्वैत्य	+
भ्रंश	+	„	औष्ण्य	+		शैत्य	+
व्यास	+	„	पाक	+		कण्डू	+
भेद	+		स्वेद	+	आर	स्थैर्य	+
साद	+		क्लेद	+	„	गौरव	+
हर्ष	+		शोथ		„	स्नेह	आर
कम्प	+	„	कण्डू	++		स्तम्भ	+(++)
वर्च	—		स्राव		„	सुप्ति	+(+++)
चाल	—		राग			क्लेद	आर
तोद	+		—			उपदेह	+

वातात्मक		पित्तात्मक	श्लेष्मात्मक	
व्यथा	+	—	वन्ध	+
चेष्टा	—			
सुप्ति	+++			
शोष	—			
शूल	++			
संकोचन	+			
स्तम्भ	+(+++)			
खंज	+			

ऊपर जिनमें + धन के चिह्न हैं नाडी की क्रियाधिक्य में होते हैं। उनके साथ जिनमें ग्रार० लगा है वह प्रत्यावर्तित क्रिया द्वारा होते हैं। क्रिया या चेष्टाधिक्य में + धन का चिह्न चेष्टा ह्रास का चिह्न है।
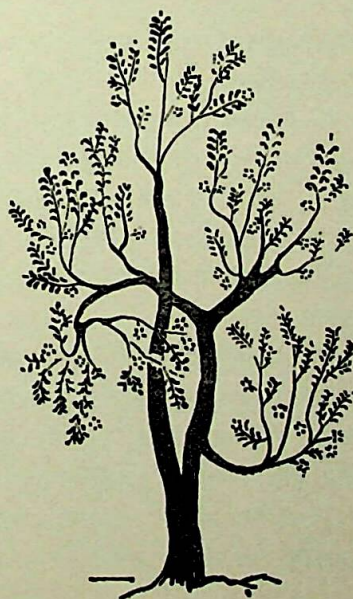
आयुर्वेद में मन और उसका स्वरूप

अयोध्याप्रसाद अचल

मन की व्याख्या करते हुए हमारे शास्त्रकारों ने लिखा है—"मन्यते, बुध्यते अनेन इति मनः" अर्थात् जो मनन करने का, सोचने-समझने का साधन हो वही मन है। मनन शब्द का प्रयोग इस सन्दर्भ में बहुत ही व्यापक अर्थ में किया गया है। इसके अन्तर्गत हमारी वे सारी क्रियाएँ, सारा व्यवहार आ जाता है जिसे हम आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मानसिक या मनोजन्य कहते हैं : संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, ध्यान, स्मरण, चिन्तन, कल्पना, भाव, संवेग आदि सभी इसकी वस्तु-वाचकता में समा जाते हैं। बुद्धि, चित्त, सत्त्व, अन्तःकरण आदि शब्द प्रायः इसके पर्यायवाची शब्दों के रूप में व्यवहार किए जाते हैं।

मन के भेद

आयुर्वेद में मन को तीन प्रकार का बतलाया गया है—सात्त्विक, राजस और तामस। इनकी विशेषताएँ निम्न हैं[1]—

सात्त्विक मन—दया, बाँटकर अथवा दान देकर भोगने की वृत्ति, क्षमा, सत्य, धर्म, आस्तिक्य, ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति, धृति और अनासक्ति।

राजस मन—दुःख की अधिकता, भ्रमणशीलता, अधीरता, अहंकार, असत्य बोलने की प्रवृत्ति, क्रूरता, दम्भ, मान, हर्ष, काम और क्रोध।

तामस मन—मानसिक उद्विग्नता, नास्तिकता, अधर्म, बुद्धि का निरोध, अज्ञान, मूढ़ता, आलस्य एवं निद्रालुता।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मन का निर्माण उक्त तीनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों से मिलकर होता है। प्रत्येक जीवधारी में उक्त तीनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। अन्तर केवल यही है कि किसी में किसी प्रकार की प्रवृत्तियों का बाहुल्य है और किसी में किसी दूसरी प्रकार की। इसी आधार पर जिसमें जिस प्रकार की प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता है उसके मन को उसी तरह से पुकारने लगते हैं। चरक के शब्दों में—"जिस गुणवाला सत्त्व पुरुष पर एक बार अनुवर्तन करता है उस पुरुष के मन

---

१. सु० शा० १।१६।

को मुनि लोग उसी गुण से युक्त बताते हैं। उदाहरण के लिए जिसके मन में सात्त्विक प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता है उसके मन को सात्त्विक, जिसके मन में राजसी प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता है उसके मन को राजस और जिसके मन में तामसी प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता है उसके मन को तामसी कहा जाता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से सत्त्व की वृद्धि मानसिक स्वास्थ्य की निशानी है। सात्त्विकता का ह्रास और रज की ओर प्रवृत्ति मानसिक चंचलता, द्वन्द्व और तनाव की सूचक है। और, तम की वृद्धि स्पष्ट रूप से मानसिक विकारों—रोगों का प्रतीक है।

मन की उत्पत्ति

हमारे यहाँ मन की उत्पत्ति अहंकार से मानी गई है। अतः मन को समझने के लिए अहंकार को समझना ज़रूरी है। भारतीय चिन्तकों ने 'मैं-पन' के अभिमान को ही अहंकार के नाम से विभूषित किया है। हमारे शास्त्रों में अहंकार का विवरण प्रायः दो रूपों में मिलता है—एक तो शुद्ध तात्त्विक रूप और दूसरा व्यावहारिक। व्यावहारिक से यहाँ हमारा तात्पर्य जीव की अहं की अनुभूति से है। इसका अनुभव हम दिन-प्रतिदिन के जीवन में बराबर करते रहते हैं। "सब कुछ मेरे लिए है", "मैं ही सब विषयों का कर्ता हूँ"—आदि लोकानुभवों में जो अभिमान की भावना दृष्टिगोचर होती है वह अहंकार का ही स्वरूप है। इसके दार्शनिक चिन्तन से अपने को पृथक् रखते हुए अब हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। 'जीव के अन्तर्गत अहंकार' का जो स्वरूप भारतीय दर्शन में दिखलाया गया है वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक के 'ईगो' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक में 'ईगो' का तात्पर्य व्यक्ति की अपने-आपकी अनुभूति अथवा 'स्व' प्रत्यय से है। इसे वह एक गत्यात्मक ईकाई के रूप में स्वीकार करता है। व्यक्ति में नवजात शिशु से लेकर उसकी प्रौढ़ावस्था तक उसके 'स्व' के विकास की कहानी एक लम्बी कहानी है। उसके प्रत्यक्षीकरण के विकास, उसकी मनोवृत्तियों के निर्माण के साथ-साथ इसका भी आविर्भाव होता है। जिस समय बालक जन्म लेता है उसे अपने 'स्व' का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, पर जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है उसे अपने शरीर का उन बाहरी चीज़ों से जो उसे घेरे रहती हैं पृथक् भान होने लगता है। धीरे-धीरे वह अनुभव करता है कि वह अपने चारों ओर की चीज़ों से किसी-न-किसी रूप में पृथक् है। कुछ ऐसा मालूम होता है कि शनैः-शनैः उसमें कर्तापन की अनुभूति जागने लगती है। वह समझने लगता है कि वातावरण में जो कुछ भी है वह उसी के लिए है। उसका अपना शरीर है, अपनी चीज़ें हैं, अपनी माता है, अपना पिता है, अपना परि-वार है, अपना घर है, अपना स्कूल है, अपना नगर है, अपना देश है, अपना राष्ट्र है, अपनी जाति है, अपना धर्म है, आदि—इसी प्रकार वह संसार की नाना वस्तुओं को अपने-

आपके, 'स्व' के घेरे में समेटता जाता है। ये असंख्य विभूतियाँ ही उसकी जिन मनोवृत्तियों का निर्माण करती हैं उन्हींके सामूहिक रूप को हम 'ईगो' के नाम से पुकारते हैं। अतः स्पष्ट है कि आधुनिक मनोविज्ञान 'ईगो' को जन्मजात नहीं अर्जित मानता है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति-विशेष के 'ईगो' का निर्माण बहुत अंशों तक उस संस्कृत और वातावरण की भिन्नताओं पर निर्भर है जिसके अन्तर्गत उसका पालन-पोषण हुआ है। इस दृष्टिकोण से 'ईगो' गत्यात्मक एवं परिवर्तनशील है। उसका रूप सदा एक-सा नहीं रहता। जिस प्रकार बाल्यावस्था में वह विकसित होता है, प्रौढ़ावस्था में उसके स्वरूप में परिवर्तन आता है उसी प्रकार आगे भी जीवन में कभी भी वह अप्रत्याशित और भयानक परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर आमूल परिवर्तित हो सकता है, विघटित हो सकता है।

'ईगो' के सम्बन्ध में मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के जन्मदाता डा० फ्रायड् का अपना मत है। उन्होंने इसे कुछ सीमित अर्थ में लिया है। उनके अनुसार जन्मकाल में बालक में केवल मूलप्रवृत्तिजन्य शक्ति ही रहती है और उसी से वह प्रेरित होता है। पर जैसे-जैसे वह बाह्य वास्तविकता के सम्पर्क में आता जाता है उस सम्पर्क की स्मृतियाँ ही उसमें 'ईगो' के रूप में विकसित होती हैं। यह ईगो ही व्यक्ति में बाह्य संसार की चेतना है। डा० फ्रायड् के एक प्रबल अनुयायी फेरेन्जी ने बालकों में इस चेतना के विकास का गहन अध्ययन किया है और उन्होंने इसके विकास की चार प्रमुख अवस्थाएँ बतलाई हैं। प्रथम, शुरू-शुरू में बालक अपने-आपको सर्वशक्तिमान अनुभव करता है, क्योंकि उसकी कोई इच्छा उत्पन्न हुई नहीं कि तुरत उसकी पूर्ति हो जाती है। द्वितीय, कुछ बड़ा होने पर वह अनुभव करता है कि उसमें कोई विशेष रहस्यमय (जादुई) शक्ति है। उसने अपना मुँह खोला नहीं, किसी अंग-विशेष को हिलाया नहीं कि उसकी इच्छा की पूर्ति हो गई। तृतीय अवस्था वह होती है जबकि वह प्रत्येक वस्तु को सप्राण समझता है और तदनुकूल व्यवहार करता है। अन्तिम अथवा चतुर्थ अवस्था में उसमें अपने से पृथक् भी कुछ है इस तथ्य की पूर्णरूपेण चेतना प्राप्त हो जाती है। यह बात ध्यान देने की है कि हम अन्धविश्वासों तथा पागलों में चिन्तन की इन स्थितियों के प्रमाण प्राप्त कर सकते हैं[२]।

फ्रायड् द्वारा प्रतिपादित इस ईगो की निम्न विशेषताएँ बतलाई गई हैं—यह मन का वह भाग है जो (१) अधिकांश में चेतन है। (२) विचारशील है। (३) अधिकतर बाह्य जगत् और वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है। (४) यह मनुष्य की दैविक और पाशविक प्रवृत्तियों के बीच मध्यस्थता करता है। (५) नियमित रूप से नैतिक मापदण्डों से संचालित होता है। (६) व्यक्ति के सो जाने पर भी उसकी अचेतन-मन की इच्छाओं

---

२. चरक सू० ८।६।

पर नियंत्रण रखता है। (७) इसके विषय-विचार शब्दों के रूप में होते हैं।

अतः फ्रायड् के मतानुसार 'ईगो' मन का एक विशिष्ट भाग है और व्यक्ति के मानसिक जीवन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। पीछे श्रुत-संहिता से उद्धृत अंश में भी हम देख चुके हैं कि अहंकार को मन के गुण-विशेष के रूप में ही स्वीकार किया गया है। अहं की उत्पत्ति द्वैत की उत्पत्ति पर आधारित है। जब तक व्यक्ति को अपने से पृथक् किसी सत्ता का बोध नहीं होता तब तक हम अहं की कल्पना भी नहीं कर सकते। और साथ ही जब तक मनन करने के लिए इन अनुभूति-विषयों का आविर्भाव नहीं होता मन की सत्ता की कल्पना भी निष्प्राण मालूम होती है। अतः इस दृष्टिकोण से अहंकार से मन की उत्पत्ति काफी तर्कसंगत मालूम होती है। कर्ता के अस्तित्व से पृथक् कर्म की और शक्तिमान से अलग शक्ति की कल्पना न तो न्यायसंगत ही है और न व्यवहारिक ही। जब तक 'मैं' नहीं तब तक मनन किसका, किसके द्वारा और किस लिए। 'मेरे' बाद ही अथवा बहुत हुआ तो 'मेरे साथ ही' मेरे मन का सवाल उठ सकता है।

शास्त्रों ने अहंकार को भी तीन प्रकार का माना है—सात्त्विक, राजस और तामस। और चूंकि मन की उत्पत्ति अहंकार से मानी गई है इसीलिए मन में भी इन तीनों गुणों की कल्पना की गई है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि फ्रायड की मन की गत्यात्मक कल्पना में भी तीन प्रकार की शक्तियाँ ही काम करती हुई दिखलाई गई हैं—इदम् (ID) अहं (EGO) और नैतिक मन (Super Ego) पाठकों की जानकारी मात्र के लिए आगे इदम् और नैतिक मन का वर्णन भी अति संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

'इदम्' फ्रायड के अनुसार मानव-मन का वह मूल अथवा प्राचीनतम भाग है जिसे वह लेकर उत्पन्न होता है। इसमें वे सारी क्षमताएँ रहती हैं जिन्हें वह अपनी वंश-परम्परा से पाता है।[३] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह समग्र मानसिक कही जाने वाली शक्तियों का मूल स्रोत है। व्यक्ति की दमित वासनाएँ इसी में रहती हैं। यह पूर्णतः अचेतन एवं नैतिकता की भावना से रहित होता है। इसकी वास्तविकता एवं तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिए कोई डर-भय नहीं। यह मात्र सुख की भावना से परिचालित होता है। जिसमें सुख मिलता है उसे करता है और जिसमें सुख नहीं मिलता है उसे नहीं करता। इसमें कोई संघर्ष, कोई द्वन्द्व नहीं होता। एक से एक परस्पर-विरोधी विचार यहाँ एकसाथ रह सकते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इदम् मानव में पशुता का प्रतीक है। इसका स्वभाव बहुत कुछ अबोध शिशुओं अथवा पशुओं के समान होता है।

नैतिक-मन अथवा सुपर-ईगो अहं अर्थात् ईगो का ही एक विकसित भाग है। इसे

३. ऐलेन : मार्डन डिस्कवरीज इन मेडिकल साइकालोजी, पृ० ९२।

बोलचाल की भाषा में 'अन्तरात्मा' कहा जा सकता है। यद्यपि यह कभी-कभी अन्तरात्मा से कहीं अधिक नैतिक, कहीं अधिक कठोर होता है। यह केवल नैतिकता के सिद्धान्त से ही चालित होता है। नैतिकता के लिए वास्तविकता की वलि दे देना इसके लिए साधारण वात है। यह अहं पर कठोर नियंत्रण रखता है। उसके कार्यों की निर्मम समीक्षा करता है। इसी के कठोर नियन्त्रण के फलस्वरूप अहं एक अज्ञात अपराध-भावना का शिकार होता है। इदम् से ही इसका सीधा सम्वन्ध रहता है। फ्रायड के अनुसार सुपर-ईगो प्राणि में एक प्रकार से अभिभावकों की निषेधाज्ञाओं का ही प्रतीक है। बालकों द्वारा अभिभावकों की निषेधाज्ञाओं के आत्मीकरण के द्वारा ही इसका निर्माणय होता है। यह उसी का अवशेष हैं।[४]

अब यदि हम इंदम् के कार्यों की मन की तामस वृत्तियों से, अहं के कार्यों की मन की राजस वृत्तियों से और नैतिक मन के कामों की मन की सात्त्विक वृत्तियों से तुलना करें तो इनमें वहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होगा। फ्रायड के अनुसार वालक जव जन्म लेता है उसका समग्र मनोलोक इदम् मात्र होता है और वाद में जैसे-जैसे वाह्य जगत् का प्रभाव उस पर पड़ता है इदम् के ही कुछ भाग अहं और नैतिक मन के रूप में विकसित होते हैं। भारतीय चिन्तकों के दृष्टिकोण से मन अपने मूल रूप में सात्त्विक है। राजस और तामस उसके विकार हैं। कुछ चिन्तक तो सात्त्विक वृत्तियों को भी मन का विकार ही मानते हैं। फ्रायड के और भारतीय दृष्टिकोण की इस भिन्नता का वहुत अधिक अंश पूर्व और पश्चिम के दर्शनों से प्रभावित मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि मालूम होती है। जहाँ अधिकतर भारतीय चिन्तक मनुष्य में देवत्व की प्रतिष्ठा के, आत्मा और ब्रह्म की एकता के पृष्ठ-पोषक हैं वहीं फ्रायड स्पष्ट ही डारविन के विकासवाद से, मानव में पशुता की प्रतिष्ठा से प्रभावित है।

मन का अधिष्ठान

आयुर्वेद शास्त्रों ने अधिकांश में हृदय को ही चेतना का अथवा मन का अधिष्ठान माना है। यहीं से वह मनोवह स्रोतों द्वारा सारे शरीर में प्रसारित होकर अपने कार्यों को सम्पादित करता है। केवल भेल-संहिता में मन का स्थान सिर वतलाया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान स्नायु-संस्थान को ही मन अथवा मानसिक कार्यों की आधारशिला मानता है। स्नायु-संस्थान का भी सर्वप्रमुख भाग वृहत् मस्तिष्क ही समस्त संकल्प-विकल्पों का, उच्चतर, मानसिक क्रियाओं का केन्द्र-स्थल माना जाता है। इसी से मेल बैठाने के लिए महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन जी ने हृदय शब्द की व्याख्या दूसरे ढंग

४. फ्रायड : ऐन आउटलाइन आफ साइकोएनालिसिस, पृ० २।

से की है। उनका कहना है कि यह हृदय छाती में रहने वाला हृदय नहीं प्रत्युत् मस्तिष्क मूलस्थित आज्ञाचक्रांश मूल ब्रह्म-हृदय है।[5] योगियों ने षट्चक्रों का निरूपण करते हुए मस्तिष्कमूलस्थ आज्ञाचक्र के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है—'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्।' घाणेकर जी ने सुश्रुत की टीका में स्पष्ट ही इस मत का विरोध करते हुए लिखा है कि : "हृदय में आत्मा का निवास होने के कारण आयुर्वेद हृदय को ही मन और बुद्धि का स्थान मानता है और हृदय से निकले हुए संज्ञावह, चेतनावह या मनोवह स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर को चैतन्य प्राप्त होता है। तथा दोषों के द्वारा हृदय अथवा संज्ञावह स्रोतसों की दुष्टि होने से संज्ञा के, मन के तथा चेतना के विकार उत्पन्न होते हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो सब जगह मूल का अर्थ सुसंगतिक होता है, एक ही शब्द के दो अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आधुनिक कल्पना के साथ मिलने वाली तथा भारतीय अन्य शास्त्रसम्मत वक्षस्थ और शिरस्थ दो हृदय मानने की कल्पना आयुर्वेद-सम्मत नहीं है। आयुर्वेद में केवल वक्षस्थ एक ही हृदय होता है और वही बुद्धि और मन का अधिष्ठान माना गया है।[6] इस सम्बन्ध में एक और मत ध्यान देने योग्य है। पंडित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ने लिखा है—"इतना सब होने पर भी सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठान मस्तिष्क माना गया है और मन भी अतिन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय है, अतएव उसका भी स्थान मस्तिष्क ही है।[7] इस तर्क की सत्यता की जाँच के लिए हमें आयुर्वेद द्वारा प्रस्तुत इन्द्रियों की विवेचना और दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों द्वारों प्रस्तुत इन्द्रियों की विवेचना की तुलना करनी होगी। ऐसा करने पर पाते हैं कि जहाँ कतिपय प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय जिन पर आयुर्वेद की अधिकाँश मान्यताएँ आधारित हैं। इन्द्रियों को अभौतिक मानते हैं वहीं आयुर्वेद उन्हें भौतिक मानता है। सांख्यसूत्र में तो इन्द्रियों को भौतिक मानने का स्पष्ट निषेध किया गया है। मन को आयुर्वेद भी अभौतिक मानता है। अतः स्पष्ट है कि मन को अन्य इन्द्रियों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।[8] और शायद यही कारण है कि आयुर्वेद में अन्यान्य इन्द्रियों का अधिष्ठान मस्तिष्क मानते हुए भी मन का अधिष्ठान हृदय ही माना गया है। अतः उक्त तर्क भी इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। हाँ, इससे हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँच सकते हैं कि मन इन्द्रियों की सहायता के बिना अपने काम में सफल नहीं हो सकता। और इन्द्रियों का अधिष्ठान है मस्तिष्क अतएव मानसिक कार्यों में मस्तिष्क की सहायता अनिवार्य है।

उक्त विवेचन से हम निम्न महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

---

५. फ्रायड ऽ ऐन आउट लाइन आफ साइकोएनालिसिस, पृ० ३।
६. द्रष्टव्य गणनाथसेन : प्रत्यक्षशारीर, तृतीय भाग।
७. घाणेकर की टीका : सु० शा०, पृ० १२९।
८. मानसिक रोग विज्ञान, पृ० ६।

१. मन की क्रियाएँ भौतिक सत्ता पर आधारित हैं। यदि पाश्चात्य विद्वान् उसे स्नायु-संस्थान पर आधारित मानते हैं तो आयुर्वेद शास्त्री उसका अधिष्ठान हृदय मानते हैं।

२. मन की कार्य-प्रणाली में विशेष प्रकार के स्नायुओं का उपयोग होता है। पाश्चात्य विद्वान् उन्हें ज्ञानवाही, क्रियावाही तथा संयोजक नाड़ियों आदि की संज्ञा देते हैं और भारतीय चिन्तक उन्हें मनोवह, ज्ञानवह, संज्ञावह, चेष्टावह स्रोत आदि के नामों से पुकारते हैं।

मन का स्वरूप

भारतीय चिन्तकों द्वारा मन के स्वरूप पर विचार करते हुए प्रायः निम्न प्रश्न उठाए जाते हैं:

१. मन अणु है अथवा विभु ?
२. मन एक है अथवा अनेक ?
३. मन मूर्त है अथवा अमूर्त ?
४. मन नित्य है अथवा अनित्य ?
५. मन उत्पादी है अथवा अनुत्पादी ?

इनमें से सबसे पहला प्रश्न ही मनोविज्ञान और चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्न को हम यों भी रख सकते हैं कि मन किसी काल विशेष में शरीर से किसी एक ही स्थान में रहता है और वहीं से शरीर के जिस भाग में आवश्यकता होती है जाता है अथवा मन सब कालों में समग्र शरीर में वर्तमान रहता है। इसके समाधान में अधिकाँश भारतीय चिन्तक मन को अणु-रूप में ही स्वीकार करते हैं और उनका कहना है कि मन अणु, एक और सर्व शरीरचर है। वह जब जहाँ आवश्यकता होती है पहुँच जाता है और इन्द्रियों को अर्थ के ग्रहण में सहायता पहुँचाता है। चरक ने भी मन को अणु-रूप और एक माना है। उनके अनुसार भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्त होने के कारण, चिन्तन, अहं, संकल्प आदि भिन्न-भिन्न मानसिक क्रियाओं में लगने के कारण तथा सत्त्व, रज और तम के प्रभाव से यद्यपि मन अनेक अथवा अनेक प्रकार का मालूम होता है पर है, वह एक ही और एक समय में केवल एक ही विषय को ग्रहण कर सकता है, अनेक विषयों को नहीं।[१] इससे स्पष्ट है कि मन एक समय में केवल एक ही काम कर सकता है। इस बात की पुष्टि में भारतीय चिन्तकों ने एक से एक सबल प्रमाण दिए हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी अनेकानेक प्रयोगों द्वारा इसी बात का समर्थन किया है।

---

१. न्याय सू० ३२।५६, च० शा० १।१६, च० सू० ८।५।

दूसरे और तीसरे प्रश्न के समाधान के रूप में यह कहा जा सकता है कि मन प्रति शरीर में भिन्न होने के कारण अनेक और क्रियाकारिता रखने के कारण मूर्त है।

चौथे और पाँचवें प्रश्नों को लेकर चिन्तकों में पर्याप्त मतभेद है। दूसरे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनका विशेष महत्त्व भी नहीं।

मन के कार्य

मन के प्रायः दो रूप हमारे सामने आते हैं—एक तो वाह्येन्द्रियानुग्राहक और दूसरा अन्तरीन्द्रिय। वाह्येन्द्रियानुग्राहक के रूप में वह इन्द्रियों को अर्थ के ग्रहण में सहायता पहुँचाता है और अन्तरीन्द्रिय के रूप में वह अपनी ही विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करने में आत्मा को सहायता पहुँचाता है, यथा—"साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।" शास्त्रकारों के अनुसार आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ का सानिध्य होने पर भी ज्ञानोपलब्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक मन का वहाँ भाव न हो। मन की वहाँ उपस्थिति या अनुपस्थिति ही ज्ञान की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति का नियमन करती है। चरक ने स्पष्ट कहा है—"ज्ञान का अभाव तथा भाव मन का लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और अर्थों का संयोग होने पर भी जब तक मन का सान्निध्य न हो तब तक ज्ञान नहीं होता। उसका सान्निध्य होने पर ही ज्ञान होता है।"[१०] अतः मन के दो प्रमुख कार्य हुए। एक तो वाह्य संसार और आत्मा के बीच में सम्पर्क स्थापित करना अर्थात् ज्ञानोपलब्धि में आत्मा का सहायक होना और दूसरे अपनी अणुता के कारण स्वयं अपनी ही क्रियाओं का नियन्त्रण करना। मन के कार्यों पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए चरक ने कहा है—"इन्द्रियों में अधिष्ठित होकर उनका संचालन करना, स्वयं अपने को ही अपने से अहित अर्थों की ओर जाने से रोकना, ऊह तथा विचार करना—ये मन के कर्म हैं।"[११]

मन और शरीर

आयुर्वेद शरीर और मन के द्वैत को स्वीकार करते हुए भी इनमें से किसी को भी मूल सत्ता नहीं मानता। वह इन दोनों को ही जड़ प्रकृति से प्रसूत मानता है। उसके अनुसार दोनों ही त्रिगुणात्मक प्रकृति के विकार हैं। मन अपेक्षाकृत सूक्ष्म है और शरीर स्थूल। मन में सत्त्व की प्रधानता अधिक है और शरीर में रज और तम की। मन की गति सूक्ष्म है और शरीर की स्थूल।

अपनी कार्यकारिता के लिए अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होते हुए भी शरीर को मन के सहारे की और मन को शरीर के सहारे की जरूरत है। चरक ने इन दोनों के सम्बन्ध को

---

१०. च० शा० १।१८।
११. च० शा० १।२१।

अनादि माना है। उन्हीं के शब्दों में —"शरीर और मन के सम्बन्ध की परम्परा का आदि नहीं कहा गया है, इसका आदि शायद है भी नहीं।"[१२]

आयुर्वेदीय दृष्टि से आत्मा, इन्द्रिय और शरीर का सान्निध्य होते हुए भी जब तक इनको मन का सान्निध्य प्राप्त नहीं होता कोई क्रिया नहीं हो सकती। क्रिया का होना अथवा न होना मात्र मन के भाव अथवा अभाव पर निर्भर है। दूसरी ओर मन का अधिष्ठान शरीर (हृदय तथा मस्तिष्क[१३]) है। वह मनोवह, ज्ञानवह, चेतनावह अथवा चेष्टावह स्रोतों के आश्रय से ही अपना काम करता है।

व्याधिकीय दृष्टि से देखें तो मन और शरीर का गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है। मानसिक विकृतियाँ शारीरिक रोगों को (यथा कामज्वर, भयज अतिसार आदि) और शारीरिक विकृतियाँ मानसिक रोगों को (यथा वातज उन्माद, कफज अपस्मार आदि) उत्पन्न करती हैं। मानसिक रोगों में शारीरिक लक्षण और शारीरिक रोगों में मानसिक लक्षण देखने को मिलते हैं। मानसिक रोगों में दैहिक उपचार और दैहिक रोगों में मानसिक उपचार की आवश्यकता पड़ती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मन और शरीर के सम्बन्ध के प्रति आयुर्वेद की वही दृष्टि है जो आज की मनोवैकारिकी में आंगिक अथवा मनोदैहिक दृष्टि (Organic or psychosomatic) कहलाती है और जिसे पाश्चात्य जगत् आधुनिक युग की बहुत बड़ी उपलब्धि मानता है।

मन और इन्द्रिय

मन और इन्द्रियों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। आयुर्वेद ने दर्शन की परम्परा का पालन करते हुए मन को भी उभयात्मक आभ्यान्तरिक इन्द्रिय ही माना है। वह एक ओर जहाँ आन्तरिक स्थितियों का बोध कराने में सहायक होता है वहीं दूसरी ओर कार्य के सम्पादन में भी। वह सब विषयों में जा सकता है। अन्य इन्द्रियाँ सब विषयों में नहीं जा सकती हैं। उनका क्षेत्र सीमित होता है। सूक्ष्मता की दृष्टि से मन और इन्द्रियाँ दोनों एक-दूसरे के अधिक निकट हैं। चरक ने मन के कामों में सबसे पहला काम 'इन्द्रियाभिग्रह' अर्थात् इन्द्रियों पर अधिकार रखना, उन्हें किसी काम के लिए प्रेरित करना, उनके कामों का नियमन-नियंत्रण करना आदि बतलाया है। इन्द्रियाँ मन की गति से ही गतिशील होती हैं। उसी के सहारे चलती हैं। दूसरी ओर मन अगर चूका तो इन्द्रियाँ भी उसे प्रभावित करने से नहीं चूकतीं। उनका विकृत प्रभाव मन में भी विकार उत्पन्न करता

---

१२. च० शा० २।४२।
१३. च० सू० १२।८।

है। असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग स्वयं अपने-आप में कई प्रकार के मानसिक रोगों को जन्म देने में समर्थ है।

मन और त्रिदोष

मन का त्रिदोषों के साथ भी गहरा सम्बन्ध है। आयुर्वेद के अनुसार वायु ही मन का प्रवर्तक है।[1] वही उसे गति देता है। उसकी क्रियाओं को नियंत्रित करता है। योगियों ने भी इन्द्रियों का स्वामी मन और मन का स्वामी वायु को माना है—इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।' हृदय में स्थित साधक पित्त मन को बल प्रदान करता है। कफ उसे शान्ति देता है, प्रसन्नता देता है। त्रिदोषों की साम्यावस्था शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ मानसिक स्वास्थ्य की भी जननी है और उनकी विकृति शारीरिक रोगों के साथ-साथ मानसिक रोगों को भी उत्पन्न करती है। वात रजोबहुल है और कफ तमोबहुल। स्थूलता की दृष्टि से वात-विकृति रज की विकृति का और कफकी विकृति तम की विकृति की सूचक है। और, रज और तम मन के प्रमुख दोष माने गए हैं।

मन और बुद्धि

भारतीय दर्शन में बुद्धि के प्रायः दो स्वरूप देखने को मिलते हैं। एक तो सांख्य में और दूसरा न्यायवैशेषिक में। सांख्याचार्यों के मतानुसार पुरुष के सान्निध्य से जड़ात्मिका प्रकृति में जो सर्वप्रथम विकार उत्पन्न होता है वही बुद्धि अथवा महत् तत्त्व है। यह जगत् की उत्पत्ति में मद्बीजरूप है। इसका कार्य अध्यवसाय या कार्याकार्य के विषय में निश्चय करना है। न्यायवैशेषिक के अनुसार सर्व व्यवहार का हेतु ज्ञान ही बुद्धि कहलाता है। ये बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि और प्रत्यय को एकार्थक मानते हैं। आयुर्वेद में बुद्धि को इसी दूसरे अर्थ में ग्रहण किया गया है और उसे मन तथा जीव के एक गुण विशेष के रूप में ही स्वीकार किया गया है। इससे अधिक आयुर्वेद साहित्य में बुद्धि शब्द का कोई महत्त्व नहीं। चरक संहिता में तो प्रायः इसी अर्थ में प्रज्ञा शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

मन और चित्त

चित्त शब्द का प्रयोग योग-सूत्रों में ही विशेष रूप से मिलता है। यहाँ इस शब्द से प्रायः वही अभिप्राय है जो अन्यान्य दर्शनों में अन्तःकरण अथवा मन, बुद्धि और अहंकार से है। वेदान्त में चित्त को बुद्धि का पर्यायवाची माना गया है। आयुर्वेद में इसका प्रयोग बहुत ही कम हुआ है और यदि कहीं हुआ भी है तो मन के पर्याय के रूप में ही।

अतः हम देखते हैं कि आयुर्वेद ने दर्शन को आधार बनाते हुए भी जैसे अन्य

बातों में जहाँ कहीं भी दार्शनिकों में किसी विषय-विशेष को लेकर मतभेद पाया है वहाँ या तो अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त स्थिर किया है या अपने दृष्टिकोण से अपनी योजना में जिससे सबसे अधिक उपयुक्त पाया है उसे ग्रहण किया है। ठीक उसी प्रकार उसने यहाँ भी सत्त्व अथवा मन को प्रधानता देकर बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि को उसके गुण अथवा धर्म-विशेष के रूप में ही स्वीकार किया है।

भारत की प्राचीन शिक्षण-पद्धतियाँ

रामनरेश मिश्र

किसी भी देश की आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक उन्नति के लिए, उसकी सभ्यता एवं संस्कृति के उत्थान के लिए तथा वहाँ के नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षण-पद्धति ही मूल आधार होती है। यह तथ्य हमारे वैदिक ऋषियों को अनवगत नहीं था। यही कारण है कि गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, मनु से लेकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् तक भारत में मौलिक चिन्तकों, विचारकों एवं शिक्षा-मनीषियों की एक अविच्छिन्न शृंखला चली आ रही है जिससे अपनी दिव्य ज्ञान-ज्योति से सम्पूर्ण विश्व को आलोकित ही नहीं किया, अपितु उसे अपने जीवन-दर्शन द्वारा सच्चा मार्ग भी प्रदर्शित किया।

शिक्षा का उद्देश्य—प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य 'ब्रह्मवर्चस्' की प्राप्ति था और यह 'अमृतत्त्व' योग के द्वारा ही साध्य था, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी भगद्गीता में कहा है—'योगस्थः कुरु कर्माणि।' योग की परिभाषा पतंजलि ने 'चित्त-वृत्ति विरोध' बताया है। बालक के व्यक्तित्व का विकास तथा उसे योग्य नागरिक बनाना, ये लौकिक उद्देश्य मूल उद्देश्य में अन्तर्निहित थे। हर्बर्ट स्पेंसर का 'पूर्ण-जीवन' तथा डॉ० जॉन ड्यूवी का 'शिक्षा ही जीवन है?'—'यावज्जीवमधीते विप्रः' सिद्धान्त में गतार्थ है।

शैक्षिक सत्र—शैक्षिक सत्र श्रावण में 'श्रावण पूर्णिमा' (उपाकर्म) से आरम्भ होता था और पौष अथवा माघ में उसका सर्जन होता था।

उपनयन संस्कार—वर्णाश्रम धर्म के अनुसार द्विज-छात्रों के उपनयन संस्कार से अध्ययन प्रारम्भ होता था। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के अनुसार 'समित् पाणि' छात्र गुरु के पास जाता था :

गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च।
देवतानां समीपं वा येनाऽसौ नीयते द्विजः॥
तदुपानयनं प्रोक्तम्॥

अतएव छात्र 'अन्तेवासी' कहाता था। आचार्य छात्र का आध्यात्मिक एवं बौद्धिक पिता माना जाता था, जैसा कि अथर्ववेद (११) में कहा गया है—'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।' याज्ञवल्क्य ने आचार्य की परिभाषा—'उपनीय ददद्वेदमा-

चार्यः स उदाहृतः' बतायी है। यास्क ने 'आचार्य आचारानाचिनोति, अर्थादाचिनोति बुद्धि वा' व्युत्पत्ति की है। एक वेद का अध्ययन बारह वर्ष तक चलता था 'द्वादशवर्षाणि एकवेदे ब्रह्मचर्यं चरेत्, प्रति द्वादश वा' (गौतम धर्म सूत्र २।५२-५४)। जो चारों वेदों का अध्ययन करते थे उन्हें ४८ वर्ष लगते थे। कुछ लोग ऐसे भी होते थे जो यावज्जीवन वेदों का अध्ययन करते थे। यह अध्ययन-काल ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे लोगों को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था। मनु केवल त्रयी के अध्ययन के ही पक्ष में थे। अतः उन्होंने ३६ वर्ष की ही अवधि अध्ययन के लिए निर्धारित की थी—'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् (मनु ३।१)। यह अध्ययन-काल ८ वर्ष की अवस्था से २५ वर्ष की अवस्था तक चलता था। ब्रह्मचारी के भावी जीवन पर इस आश्रम का बड़ा प्रभाव पड़ता था। अतएव इसके अनुपालन पर अथर्ववेद ने बड़ा बल दिया है:

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत॥"

(११।५।१७-१९)

अध्ययन-काल—इस ब्रह्मचर्य व्रत का प्रारम्भ आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मणकुमार के लिए आठ वर्ष की आयु में वसन्त ऋतु में, क्षत्रियकुमार का ११ वर्ष की आयु में ग्रीष्म ऋतु में तथा वैश्यकुमार का १२ वर्ष की आयु में शरद् ऋतु में होता था—'वसन्ते ब्राह्मण-मुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यं—गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणम्, गर्भैकादशेषु राजन्यम्, गर्भ-द्वादशेषु वैश्यम्।' यदि किसी विशेष कारण से इस आयु में यह संस्कार न सम्पन्न हो सका तो इसकी अन्तिम अवधि इसकी द्विगुणित आयु तक निर्धारित की गई है। इसके उपरान्त वह कुमार शूद्रत्व को प्राप्त होता है—'नातिषोडशवर्षमुपनयीत प्रसृष्टवृषणो ह्येष वृष-लीभूतो भवति' (ज० गृ० सू० १-१२) और वह सावित्री वाचन के अधिकार से वंचित हो जाता था। कोई भी गृहस्थ उसे अपनी कन्या भी नहीं दे सकता था। इस कठोर सामा-जिक दण्ड के भय से बच्चों की शिक्षा प्रायः शत-प्रतिशत रहती थी और वर्तमान निर-क्षरता के लिए कोई अवसर ही नहीं हो सकता था।

उपनयन में वेदाध्ययन सावित्री व्रत तथा सावित्री वाचन से प्रारम्भ होता था। ब्राह्मण बालक को 'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचो-दयात् ॐ' विश्वामित्रीय गायत्री (ऋक्० ३, ६२, १०) में दीक्षित किया जाता था। क्षत्रिय बालक को मेधातिथि के अनुसार हिरण्यस्तूपीय गायत्री मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में—

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्येन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

(ऋक्० १, ३५, २)

दीक्षित किया जाता था। वैश्य बालक को आश्वलायन गृह्य सूत्र (३-७) के अनुसार गायत्री मन्त्र जगती छन्द में—

"विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
विनाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो विराजति॥"
(ऋक्० ५, ८१, २)

पारस्कर के अनुसार यह व्रत एक वर्ष, छः मास, २४ दिन, १२ दिन अथवा ३ दिन तक चलता था।

ब्रह्मचारी की वेषभूषा—ब्रह्मचारी के लिए एक विशिष्ट वेषभूषा निर्धारित थी जिससे वह सरलता से पहचाना जा सके। ब्राह्मण ब्रह्मचारी ऊर्ध्ववस्त्र के रूप में कृष्णमृग अथवा एण का अजिन धारण करता था, क्षत्रिय रुरु मृग का और वैश्य वस्त अथवा अज का। किन्तु पारस्कर के अनुसार सभी गोचर्म धारण कर सकते थे—(सर्वेषां वा गव्यम्) (कृष्णाजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य, रौरवंक्षत्रियस्य गव्यं वस्ताजिनं वा वैश्यस्य—वसिष्ठ धर्मसूत्र १।२।१४)।

अधोवस्त्र मनु के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी को सन का (शाण), क्षत्रिय को रेशमी (क्षौम) और वैश्य को अविक अथवा अजचर्म का धारण करना पड़ता था। (वासांसि शाण क्षौमचीरकुतपास्सर्वेषाम्—गौतम सूत्र १।१८-२३)। आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मण को काषाय रंग का, क्षत्रिय को मांजिष्ठ और वैश्य को हारिद्र रंग का वस्त्र धारण करना पड़ता था।

ब्रह्मचारी को वन में रहते हुए अपरार्क के अनुसार अपनी रक्षा के लिए, वराह के अनुसार वेदत्रयी की रक्षा के लिए और मनु के अनुसार इस सत्य की खोज करने वाले यात्री को अपनी सहायता के लिए दण्ड धारण करना पड़ता था। यह 'सत्वच' और अनुद्-वेगकर' होता था। गौतम के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए बिल्व अथवा पलाश का और अन्य वर्णों के लिए अश्वत्थ अथवा पिलु काष्ठ का होना चाहिए—'बैल्वपालाशौ ब्राह्मणदण्डौ, आश्वत्पैथलवौ शेषे' (गौतम धर्म सूत्र १।२४-२५)। वे क्रमशः मूर्धा, ललाट और नासिका तक ऊँचे होने चाहिए (मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणंः—गौतम धर्म सूत्र १।२७-२८)।

वेदत्रयी की रक्षा के लिए त्रिगुणित रस्सी की मेखला भी ब्रह्मचारी को धारण करनी पड़ती थी—ब्राह्मण को मूंज की, क्षत्रिय को ज्या की और वैश्य को शण की। (मौञ्जी ज्या मौर्वी सौत्र्यो मेखलाः क्रमेण— गौतम धर्म सूत्र १ : १७) :

ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत भी धारण करना पड़ता था। यह नव तन्तुओं का निर्मित होता था और नव देवशक्तियों का प्रतीक होता था जो धारण करने वाले को अपनी शक्ति प्रदान करते थे। ये थे—१. ओंकार, २. अग्नि, ३. नाग, ४. सोम, ५. पितृ,

६. प्रजापति, ७. वायु, ८. सूर्य, ९. सर्व देव । यह ब्राह्मण के लिए कपास का, क्षत्रिय के लिए सन का और वैश्य के लिए अज-चर्म का बना होता था ।

ब्रह्मचारी को अपने कुल अथवा गुरु के अनुरूप अपने केश मुँड़ाए हुए, जटा के साथ अथवा शिखा जटा के रूप में रखने होते थे—'मुण्डजटिलशिखाजटश्च—गौतम धर्म सूत्र १।२९) । प्राय: वे दीर्घश्मश्रु ही होते थे ।

ब्रह्मचारी को शिष्यत्व के लिए स्वीकार करने के पूर्व पारस्कर गृह्य सूत्र के अनुसार आचार्य उससे पूछता था—'कस्य त्वं ब्रह्मचार्यसि भवतः इत्युच्यमाने इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि अग्निराचार्यस्तव अहमाचार्यस्तव' । इसका अभिप्राय सम्भवत: इन्द्र और अग्नि दो सबसे शक्तिशाली आर्य देवताओं में छात्र की आस्था दृढ़ कराना था ।

विद्या के प्रकार—विद्या दो प्रकार की होती थी 'परा' एवं 'अपरा' । 'परा' सर्वोच्च विद्या होती थी जिससे ब्रह्म-ज्ञान होता था और वेदान्त के महावाक्य 'तत्त्वमसि' का बोध होता था । यह पारलौकिक विद्या थी । लौकिक विद्या को 'अपरा' कहते थे । इसमें १४ विद्यायें—चारों वेद और उनके छ: अंग—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, तथा व्याकरण, धर्मशास्त्र, मीमांसा, तर्क और पुराण थे । इसी अपरा विद्या में ६४ कलाएँ भी सम्मिलित थीं जिनमें १८ शिल्प भी थे ।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य—ब्रह्मचारी को ब्राह्ममुहूर्त में (पक्षियों की चहचहाट के पूर्व) ही उठना पड़ता था (पक्ष्यादीनां वाग्वादनात् प्राक्); आचार्य के नित्यकर्म की सामग्री (जलं, पुष्पादि) प्रस्तुत करने के अनन्तर पारस्कर के अनुसार वह वन में हवन करने के समिदाहरण के लिए जाता था । किन्तु ऐसा करने में उसे वृक्षों को क्षति से बचाना पड़ता था, प्रत्येक ब्रह्मचारी को आश्रम के लिए भिक्षा लाने गृहस्थों के यहाँ जाना पड़ता था । यह कार्य उसमें विनय लाने के लिए कराया जाता था । समावर्त्तन के बाद भिक्षा माँगना मना था—'समावृत्तस्य भिक्षा अशुचिकरा' (बौधायन २।१।६३), छात्र गुरु के समीप ही रहता था । अत: उसे आचार्य कुलवासी (शतपथ ३।६।२।१५) अथवा अन्तेवासी (छान्दोग्य ४।४।५) कहा जाता था । गुरु-सेवा से ही उसे ज्ञान प्राप्त होता था—'गुरु शुश्रूषया ज्ञानम् ।' गुरु के लिए उसे गोचारण भी करना पड़ता था । (छान्दोग्य ४।४।५)· शतपथ ब्राह्मण ३।६।२।१५) में उल्लेख आता है कि सत्यकाम जाबाल को अपने गुरु की गायों की सेवा तब तक करनी पड़ी जब तक कि उनकी संख्या ४०० से बढ़कर १,००० गायें न हो गयीं । उसके लिए दिन में सोना, जलक्रीड़ा, सुगन्ध, माल्य, लेप, अंजन, उपानत्, छाता, पालकी, गीत, वाद्य, नृत्य, मधु, माँस, काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्त्री-प्रेक्षण, द्यूत, हीन सेवादि सब वर्जित था (गौतम धर्म सूत्र २।१८।२३) ।

प्रत्येक मास के चार दिन नियमित अनध्याय के होते थे—प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा ।

"हन्त्यष्टमी ह्यु पाध्यायं हन्ति शिष्यं चतुर्दशी।
हन्ति पंचदशी विद्यां तस्मात्पर्वणि वर्जयेत्।"

प्रतिपदा पाठ के लिए परम निषिद्ध थी—'प्रतिपत्पाठ विवर्जिता।' 'प्रतिपत्पाठ-शीलस्य विद्येव तनुतां गता' (वाल्मीकीय रामायण, सुन्दर काण्ड)। वाह्य आक्रमण अथवा अशान्ति के समय, डाकुओं के उत्पात के समय, आकस्मिक निधन, असमय बादल, बिजली, भूकम्प, झंझावात, अतिवृष्टि, कुहरा, आँधी, शृगाल या वृक के गुर्राने, उलूक के चीखने, गधे के रेंकने, कुत्ते के भूँकने के समय, अनध्याय रहता था। यदि कोई छात्र अनुपस्थित रहता था तब भी उस कक्षा का अध्ययन स्थगित रहता था। अपवित्र वाता-धरण में वेदों का अध्ययन वर्जित था। स्वल्प वयस्क बालकों को जल्दी अवकाश दिया जाता था। आज की भाँति पहले भी बच्चों को अवकाश-प्राप्ति पर प्रसन्नता होती थी जैसा कि भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' में कहा है—'स्वागतमनेकप्रकाराणां जीर्णकूर्चा-नामनध्यायकारणानाम्'। किन्तु अवकाशों में वेदों को छोड़कर शेष विद्याओं का अध्ययन हो सकता था—

नानध्यायीऽस्ति चाङ्गेषु नेतिहास पुराणयोः।
न धर्मशास्त्रेष्वन्येषु पर्वाण्येतानि वर्जयेत्॥

—कर्मपुराण

अध्यापकों के प्रकार एवं कर्तव्य—अध्यापक तीन प्रकार के होते थे (१) गुरु, (२) आचार्य और (३) उपाध्याय। गुरु वह होता था जो बालक के गर्भाधान संस्कार से लेकर समस्त संस्कारों को करता था तथा उन्हें वेदाध्ययन भी कराता था—'स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।' प्रायः पिता गुरु होता था—'उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः।' (याज्ञवल्क्य १।३४) मनु के अनुसार आचार्य वह होता था जो छात्रों को वेदांगों एवं रहस्यों के सहित वेद पढ़ाता था 'उपनीय तु यः कृत्स्नं वेदमध्यापयेत् स आचार्यः (वसिष्ठ ३।२४)। वह 'अतिगुरु' कहाता था—त्रयः पुरुष स्यातिगुरवो भवन्ति। माता पिता आचार्यश्च (विष्णु० ३१।१।२)। आचार्य गुरुओं में श्रेष्ठ माना जाता था—'आचार्यः श्रेष्ठी गुरुणाम्' (गौतम धर्मसूत्र २।५७)। उपाध्याय वह होता था जो वेद का एक अंग मात्र पढ़ाता था—'एकदेशमुपाध्यायः' (याज्ञवल्क्य १।३५)। विष्णु के अनुसार जो सशुल्क वेदाध्ययन कराता था वह उपाध्याय कहाता था। 'मुण्डक उपनिषद्' के अनु-सार आचार्य वही हो सकता था जो श्रोत्रिय होता था; अभिजात होता था और जिसके यहाँ वेदाध्ययनाध्यापन की परम्परा होती थी—'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्डक० १।२।१२) 'तस्मिन्नभिजनविद्यासमुदेतं समाहितं संस्कर्त्तारमीप्सेत्' (आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१।१।१२)।

अब्राह्मण अध्यापक—आपत्काल में ब्राह्मण आचार्य की अप्राप्ति पर अब्राह्मण से

भी वेदाध्ययन हो सकता था। उपनिषत्काल में ऐसे कई राजर्षि थे जो अपने ब्रह्मज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे और ब्राह्मण ब्रह्मचारियों को भी वेद पढ़ाते थे। जैसे—विदेह के राजा जनक, मगध के अजातशत्रु, पांचाल देश के अश्वपति अथवा जयवालि। प्रोफेसर मैक्स-मूलर ने यह लिखा कि ब्राह्मण ही आचार्य हो सकते थे। उनकी यह भ्रान्ति है। बौधायन, आपस्तम्ब, गौतम और मनु सभी आचार्यों ने आपत्काल में अब्राह्मण आचार्य से वेद की शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति दी है—'अब्राह्मणादध्ययनमपादि।'

बौधा० धर्मसूत्र १।२।४०

किन्तु यह सत्य है कि सामान्य नियम ब्राह्मण आचार्य से ही शिक्षा प्राप्त करने का था। शिक्षार्थी को इस शिक्षाकाल में वही श्रद्धा एवं आदर उस अब्राह्मण आचार्य को देना पड़ता था जो वह ब्राह्मण आचार्य को देता था। इस ब्रह्मचारी को आचार्य के पीछे चलना पड़ता था, उसकी आज्ञा का पालन एवं शुश्रूषा करनी पड़ती थी।

"अनुव्रज्या च शुश्रूषां यावदध्ययनं गुरोः।"

मनु० २।२४१

इसी प्रकार ऐसे भी आचार्यों के उदाहरण प्राप्य हैं जो ब्राह्मण होते हुए भी धनुर्वेद जैसे अवैदिक विषयों का आचार्यत्व करते थे। जैसे—महाकाव्यकाल में द्रोणाचार्य ने कौरवों और पाण्डवों को धनुर्वेद की शिक्षा दी थी।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध—गुरु और शिष्य में पिता-पुत्र सा सम्बन्ध होता था—'पुत्रमिवैनमभिकाक्षति' (आप० धर्मसूत्र १।२।८।२४)। वैखानस धर्मसूत्र ने आचार्य को ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देने का अनिवार्य विधान किया है—'आयुष्मान् भव सौम्य', 'इत्येवं शंसेत्', 'अनाशीर्वादी नाभिवन्द्यः'। (२-१०-८-९)। पतंजलि ने भी 'पुत्रीयति' शब्द का प्रयोग किया है। गुरु ही विद्यार्थी का संरक्षक होता था, उसे मार्ग-प्रदर्शन करना पड़ता था। छात्र के अस्वस्थ होने पर उसकी चिकित्सा एवं परिचर्या का प्रबन्ध करना पड़ता था। गार्हस्थ्य में प्रविष्ट समावृत्त शिष्य भी गुरु के पास कुछ दिनों के लिए अपनी शंका-निवृत्ति अथवा अतिरिक्त-ज्ञान प्राप्त करने के लिए पुनः आश्रम में आते थे। गुरु भी विद्या-सम्बन्धी कोई रहस्य अपने छात्र से गोपनीय नहीं रखते थे जैसा कि 'प्रश्नोपनिषद्' में उनके शिष्य के प्रति भरद्वाज की उक्ति से स्पष्ट है—'नाहमिदं वेद। यद्यवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति'। अतएव श्रोत्रिय को पुत्र न होने पर भी पुत्रहीन नहीं कहा जाता था, क्योंकि उनके अनेक शिष्य पुत्र के समान ही होते थे। 'तस्माच्छ्रोत्रियमनूचानमप्रजोऽसीति न वदन्तीति' (वसिष्ठ धर्मसूत्र २।१०)। इसीलिए शिष्य को गुरु के लिए पितृवत् तर्पण एवं श्राद्ध का भी अधिकार धर्मशास्त्रों द्वारा दिया गया है। गुरु में वैदुष्य की ही अपेक्षा नहीं की जाती थी, अपितु व्याख्यातृशक्ति की भी। महाभारत ने अध्यापक के गुणों पर अच्छा प्रकाश डाला है :

प्रवृत्तवाक् चित्रकथः ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशुग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ।।

महाभारत ५।३३।३३

छात्र को अपनी विद्या के लिए प्रायः गुरु पर ही निर्भर रहना पड़ता था जैसा कि नारद की उक्ति से स्पष्ट है :

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः ।।

शिष्यों के लिए साधारणतः अध्यापक-परिवर्तन अच्छा नहीं समझा जाता था। ऐसे छात्रों को जो गुरुकुल में जाकर अधिक दिन उनसे विद्याग्रहण न करके अन्य आचार्य के पास चले जाते थे उन्हें 'तीर्थकाक' कहा जाता था। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में कहा है—'यो गुरुकुलं गत्वा न चिरंतिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति'।

आचार्य को भी अपने स्वार्थ के लिए शिष्य से व्यक्तिगत काम लेना मना था। वह वही काम ले सकता था जो शिष्य के विकास में सहायक होता था और उनमें सामाजिकता का संचार करता था, जैसा कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है—'न चैनमध्ययनविघ्नेन आत्मार्थेषूपरुन्ध्यादनापत्सु'। गुरुओं को छात्रों से इतना स्नेह हो जाता था कि कभी-कभी वे अपनी कन्याओं का विवाह भी उनसे कर देते थे। बौद्धकाल में भी यही प्रथा थी। यह 'सील विमन जातक सं० ३०५' से परिपुष्ट हो जाती है। बाद में स्मृतिकारों ने इस प्रथा के विरुद्ध अपना मत दिया, क्योंकि छात्र और गुरुकन्या में भाई-बहन का सम्बन्ध होता था। कच ने इसी कारण से देवयानी से विवाह करना मना कर दिया था।

निःशुल्क शिक्षा—आचार्य सामान्य रूप से निःशुल्क शिक्षा देते थे। ब्रह्मचारी समावर्तन के अनन्तर गुरु-दक्षिणा भी दे सकता था। 'रघुवंश' के वरतन्तु-कौत्स कथानक से स्पष्ट है कि छात्र को इसके लिए बाध्य नहीं किया जाता था। आचार्य 'अध्यापन' को अपना धर्म समझता था, यह आय का स्रोत नहीं समझा जाता था। इसी प्रकार वह अपने को ऋषि-ऋण से मुक्त करता था। समावर्त्तन के पूर्व दक्षिणा स्वीकार करना विष्णु के अनुसार 'उपपातक' था—३७।२०,२१,३४। मनु का भी यही मत है। कालिदास ने भी 'मालविकाग्निमित्र में इस वृत्ति की निन्दा की है।

'यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।'

दण्ड—प्राचीन काल में शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासनहीनता के उदाहरण आजकल के विपरीत बहुत कम देखने में आते हैं। ब्रह्मचारी को अविनय पर पहले उसे समझाया जाता था, डरवाया जाता था, धमकाया जाता था, व्रत कराया जाता था, शीतजल में जाड़े में स्नान कराया जाता था और कभी-कभी आश्रम से बाहर निकाल दिया जाता था। यदि इन बातों का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता था, तभी उसको शारीरिक दण्ड दिया जाता

था। शरीर के पृष्ठ भाग में रस्सी से अथवा बाँस की पतली छड़ी से उसे पीटा जाता था, कोमलांग में कभी नहीं। यदि कोई आचार्य कोमलांग में छात्र को ताड़ित करता, तो वह गौतम और मनु के अनुसार राजदण्ड का भागी होता था—'पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कदाचन' (मनु ८।३००), 'अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः' (गौतम धर्मसूत्र २।५१)। यदि कोई उद्दण्ड ब्रह्मचारी आजकल की भाँति अपने आचार्य से बदला लेने का प्रयास करता था और उसे चोट पहुँचाता था, तो वह याज्ञवल्क्य के अनुसार सामान्य अपराधी की भाँति कठोरतम राजदण्ड का भागी होता था।

अध्यापन-विधि—शिक्षा वैयक्तिक होती थी। प्रायः प्रत्येक ब्रह्मचारी को पृथक् शिक्षा दी जाती थी। अतएव एक आचार्य के पास छात्र-संख्या बारह से अधिक नहीं होती थी, साधारणतः छः होती थी। फलतः प्रत्येक छात्र के व्यक्तित्व के पूर्ण-विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। बालमनोरमाकार ने पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'अध्ययन' शब्द की व्याख्या 'गुरुमुखादक्षरानुपूर्वीग्रहणम्' किया है। पाठ्य-विषय वेद होता था। उसके पढ़ाने की विधि कण्ठस्थीकरण होती थी। यह पाणिनि के सूत्र 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' से स्पष्ट हो जाती है। पतंजलि ने अधीते की व्याख्या कण्ठाग्र पढ़ने से की है। किन्तु वेदातिरिक्त विषय मौन भी पढ़े जाते थे अर्थात् समझकर पढ़े जाते थे। बालमनोरमाकार ने पाणिनि के सूत्र 'तदधीते तद्वेद' में वेद की 'शब्दर्थज्ञानम्' व्याख्या की है। भाष्यकार ने पठन को इस तरह दो प्रकार का बताया है—'उच्चैः पठन एवं मौन पठन'। अतः पठन का यह विभाजन अति प्राचीन है, नवीन शिक्षाशास्त्रियों की देन नहीं है। आचार्य मन्त्र का सस्वर उच्चारण पाँच बार करता था जैसा कि काशिका के 'पञ्चकोऽधीतः' प्रयोग से स्पष्ट है। उसके अनन्तर छात्र से दुहरवाया जाता था। छात्र द्वारा 'ओम्' कहने पर यह समझा जाता था कि उसने उसे आत्मसात् कर लिया। श्रेणी का वर्गीकरण उच्चारण की अशुद्धियों पर निर्भर रहता था। एक अशुद्धि वाले छात्र को 'ऐकान्यिक' कहा जाता था। चौदह तक अशुद्धियाँ परिगणित की गयी हैं। अध्ययन के चार क्रम थे—श्रवण (सुनना), मनन (विचार करना), निदिध्यासन (ध्यान करना एवं उपासना, अभ्यास)। छात्र अपनी कठिनाई परिप्रश्न से दूर कर सकता था जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' वाचस्पति मिश्र ने हर्बार्ट के बहुत पूर्व पाँच क्रमों का निर्देश किया—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

महाभाष्यकार ने भी चार क्रमों का निर्देश किया है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार। वैदिक काल में लिपिज्ञान न होने के कारण ही कण्ठस्थीकरण पर इतना बल दिया गया था। वेद अशुद्धियों अथवा क्षेपकों से दूषित न हों अतः आठ विकृतियों का

विधान किया गया था—पद, क्रम, जटा, शिखा, माला, रेखा, रथ, दण्ड एवं घन। कहीं भी शंका होने पर दूसरी विकृति से मिला लिया जाता था। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण पर बड़ा बल दिया जाता था। अतएव प्रातिशाख्यों की रचना हुई। मन्त्रों को केवल कण्ठाग्र करना ही पर्याप्त नहीं माना जाता था, उनका अर्थ भी जानना आवश्यक था। अतः यास्क ने निरुक्त का प्रणयन किया। स्वाध्याय-काल साधना एवं तपश्चर्या का समय होता था। तभी ब्रह्मचारी विद्या में पारंगत होते थे। प्रत्येक ऋषिकुल, गुरुकुल अथवा आश्रम में आचार्य की अनुपस्थिति में आचार्य का पुत्र अथवा कोई वरिष्ठ छात्र यूरोप के मध्य-कालीन 'मानीटर' की तरह छोटे छात्रों का अध्यापन करता था।

परीक्षा—वैदिक-काल में परीक्षा मौखिक होती थी। पहले कहा जा चुका है कि अशुद्धियों के अनुसार श्रेणी-विभाजन होता था। प्रतिदिन गुरु नया पाठ तभी प्रारम्भ करता था, जब कि पूर्व दिन का पाठ छात्र को अभ्यस्त हो जाता था। प्रत्येक छात्र की प्रगति पृथक्-पृथक् होती थी, जैसा कि आधुनिक डाल्टन-योजना में होता है। जीवक के उदाहरण से स्पष्ट है कि अध्ययन की समाप्ति पर अन्तिम परीक्षा होती थी। जीवक ने तक्षशिला में सात वर्ष तक आयुर्वेद का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया। अन्त में उनके आचार्य ने उन्हें एक फावड़ा देकर तक्षशिला के चतुर्दिक् एक योजन की परिधि से ऐसा पौधा लाने को कहा जिसमें कोई औषधीय गुण न हों। जीवक ने सभी पौधों का विश्लेषण करके आख्या दी कि वहाँ कोई ऐसा पौधा नहीं है जिसमें कुछ न कुछ औषधीय गुण न हो। उन्हें विशेष योग्यता के साथ परीक्षा में सफलता मिली। प्रायः इसी प्रकार की प्रयोगात्मक परीक्षाएँ होती थीं। मध्य युग में शलाका परीक्षाओं का भी प्रचलन हुआ जिसमें पुस्तक में जहाँ तक शलाका पहुँचती थी उसके आगे से छात्र को आनुपूर्वी प्रति-पादन करना पड़ता था।

नारी शिक्षा—प्राचीन काल में बालिकाओं की शिक्षा बहुत ही उन्नति पर थी और समाज में उनका ऊँचा स्थान था। शिक्षा के विषय में बालक और बालिका में कोई भेद नहीं किया जाता था। प्रतीत होता है कि सह-शिक्षा का भी प्रचलन था, यद्यपि छात्राएँ छात्रों से पृथक् आवासों में रहती थीं। भवभूति के समय तक सह-शिक्षा का प्रचलन प्रतीत होता है। 'तभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्याम्' (उ० च०)। पति के साथ पत्नी को भी नियमपूर्वक यज्ञ करना पड़ता था। पाणिनि के अनुसार भार्या की संज्ञा पत्नी इसी कारण हुई 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'। जो पुरुष पत्नी-विहीन होता था वह यज्ञ का अधि-कारी नहीं होता था 'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः' (शतपथ ब्रा० ५-१-६-१०)। यज्ञ वही कर सकता था जो उपनीत होता था। अतः कन्याओं का भी उपनयन होता था और वे ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अथर्व० ११-६)। ऋषियों के समान ऋषिकायें भी वेदों के मन्त्रों की रचयित्री अथवा द्रष्टा थीं।

ऐसी २३ ऋषिकाओं के नाम ऋग्वेद और सामवेद में प्राप्य हैं जिनमें रोमशा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, घोषा, कद्रू, पौलोनी, सिक्ता, उर्वशी, सावित्री आदि प्रसिद्ध हैं। मनुस्मृति में कन्याओं के उपनयन एवं सावित्रीवाचन का उल्लेख है :

पुरा कल्पे तु नारीणां मौंजीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा।।

वैदिक काल में स्त्रियाँ बड़ी विदुषी होती थीं। जनक विदेह के सम्मेलन में गार्गी ने ऐसा गूढ़ दार्शनिक प्रश्न पूछा कि याज्ञवल्क्य को कहना पड़ा 'अनतिपृश्न्यां वैदेवतामति पृच्छसि'। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने धन, आभूषण आदि सभी सांसारिक वस्तुओं को हेय समझा और अपने पति से कहा—'येनाहं नामृतास्याम् किं तेनाहं कुर्यामिति।'

महाकाव्यों के समय में भी अथर्ववेद की पण्डिता कुन्ती, कौशल्या और तारा के नाम मिलते हैं। कौशल्या ने रामचन्द्र के यौवराज्याभिषेक के समय प्रातःकाल यज्ञ किया 'अग्निं जुहोतिस्म तदा मन्त्रवित् कृतमङ्गला' (वा० रामा० २, २०,१५)। तारा ने भी अपने पति बालि की विजय की इच्छा से 'स्वस्त्ययन' किया—'ततः स्वस्त्यायनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी'। (वा० रामा० ४, १६, १२)। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में एक पुरुष पण्डिता पुत्री के लिए प्रार्थना करता है। 'गोभिल गृह्यसूत्र' में कहा गया है—'न हि खलु अनधीत्य शयनोति पत्नी होतुमिति'। बिना वेदाध्ययन के पत्नी पति के साथ यज्ञ नहीं कर सकती थी।

ब्रह्मचारिणियों के दो वर्ग थे—१. सद्यो वधू, २. ब्रह्मवादिनी। सद्यो वधू वे होती थीं जो केवल गृह-कार्यों एवं संस्कारों के लिए आवश्यक मन्त्रों का अध्ययन करती थीं; नृत्य, गीत, वाद्य और गृहविज्ञान में कुशल होती थीं। वे १६वें वर्ष की आयु में विवाहित हो जाती थीं। ब्रह्मवादिनी वे होती थीं जो पूर्ण वेदाध्ययन के बाद विवाह करती थीं। कुछ ऐसी भी होती थीं जो यावज्जीवन अविवाहित रहती थीं। जैसे—कुशध्वजऋषि की कन्या वेदवती। वे अध्यापन का भी कार्य करती थीं, आचार्या, उपाध्याया, अध्यापिका शब्दों का प्रयोग पाणिनि ने किया है।

समावर्तन संस्कार—पच्चीस वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचर्य समाप्त होता था और छात्र शुभ मुहूर्त में गार्हस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। किन्तु प्रवेश के पूर्व उसका समावर्त्तन संस्कार होता था। मध्याह्न में अध्ययनकक्ष से बाहर निकलकर वह क्षौर कराता था और अपनी दाढ़ी और जटा का वपन कराता था। छात्र-जीवन के सभी वेषभूषा जैसे ऊर्ध्व एवं अधोवस्त्र, मेखला, दण्ड आदि का परित्याग करता था। सुगन्धित एवं पवित्र तीर्थ-जलों से वह स्नान करता था और नवीन वस्त्र, पगड़ी, कुण्डल, अंजन, छाता, जूता आदि आचार्य से प्राप्त कर धारण कर स्नातक कहा जाता था। उसे माला भी पहनाई जाती थी। अतएव वह मनु के अनुसार 'स्रग्वी' कहलाता था। स्नातक होना बड़ा महत्त्व-

पूर्ण समझा जाता था—'महद्वै एतद्भूतं यः स्नातकः।' इस परिधान के साथ बौधायन के अनुसार वह सभा-मण्डप में रथ या हाथी पर ले जाया जाता था जहाँ उसे आजकल की ही भाँति स्वाध्याय जारी रखने का दीक्षान्त उपदेश दिया जाता था। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में (१,११) यह अनुशासन प्राप्त होता है—'सत्यं वद, धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव···एष उपदेशः। एतद् अनुशासनम्।'

शिक्षा-प्रसार के साधन—इस शिक्षा के प्रसार के कई प्रमुख साधन थे। सबसे पहला ऋषिकुल अथवा आचार्य का घर था जहाँ पर एक अध्यापक और ६ से १२ विद्यार्थी होते थे। (२) दूसरा साधन भ्रमणशील विद्वानों का होता था जो घूम-घूमकर अपने मत का प्रतिपादन करते थे। ये चरक कहलाते थे। (३) तीसरा साधन परिषदें होती थीं जहाँ लगभग १० या १२ उत्कृष्ट विद्वान् शिक्षा की किसी जटिल समस्या पर विचार करते थे। आजकल की साहित्य या विज्ञान अकादेमी की भाँति ये परिषदें होती थीं। (४) चौथा साधन सम्मेलन होता था जो देश के किसी राजा द्वारा आयोजित होता था। इसमें देश के सभी मूर्धन्य विद्वान् विचार-विनिमय के लिए एकत्र होते थे। ऐसे एक सम्मेलन का उल्लेख 'बृहदारण्यकोपनिषद्' एवं 'शतपथ ब्राह्मण' में आया है। यह सम्मेलन विदेह के राजा जनक ने अपने अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर कुरु, पांचाल देश के सभी मनीषियों क आमन्त्रित कर किया था। उसमें दो विदुषियों गार्गी और मैत्रेयी ने भी भाग लिया था। इस सम्मेलन में महर्षि याज्ञवल्क्य विजेता हुए थे और राजा ने उन्हें १००० गौवों का उपहार दिया था। उनकी सींगें सोने से मढ़ी थीं। (५) उपरिलिखित साधनों के अतिरिक्त आश्रम, मठ, विहार अथवा संघारामों द्वारा भी शिक्षा का प्रसार होता था। आश्रम जैसे—कण्व, भरद्वाज, दिवाकर मित्र। विहार जैसे—नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला, वलभी, सारनाथ। इन विहारों में द्वारपण्डित होते थे। वे प्रवेश के पूर्व छात्रों की परीक्षा लेते थे। यह परीक्षा बड़ी उच्चकोटि की होती थी। जिसमें प्रायः ८० प्रतिशत छात्र अनुत्तीर्ण रहते थे। इन विहारों में शिक्षण की व्यवस्था एवं प्रशासन महास्थविर के हाथ होता था। उनकी सहायता के लिए शिक्षा-समितियाँ होती थीं। १६ वर्ष की आयु के नीचे वाले छात्र नहीं प्रविष्ट किये जाते थे। नालन्दा दर्शन तथा धर्म की शिक्षा के लिए और तक्षशिला आयुर्वेद तथा धनुर्वेद के लिए प्रसिद्ध था। ये विहार प्रायः विश्वविद्यालयों के समान थे। शिक्षण-प्रणाली विचारात्मक होती थी। इनके भरण-पोषण के लिए राजाओं ने गांव लगा दिये थे। ये विहार या संघाराम बौद्धविद्या के केन्द्र थे। ज्ञानार्जन के लिए विदेश से विद्वान् यहाँ आते थे और विदेशी राजा यहाँ के विद्वानों को अपने देशों में आमन्त्रित करते थे। बौद्धदर्शन एवं भारतीय संस्कृति का प्रसार दक्षिण-पूर्व एशिया, तिब्बत, चीन, जापान, मध्य-एशिया एवं लंका आदि देशों में इसी प्रकार हुआ था।

ब्राह्मण विद्या के केन्द्र—काशी, मिथिला, नदिया और कश्मीर। यहाँ अन्य विषयों के साथ वेद, दर्शन, व्याकरण आदि विषयों का अध्ययन होता था। काशी व्याकरण की शिक्षा के लिए, मिथिला न्याय एवं तन्त्र के लिए और नदिया तर्कशास्त्र के लिए प्रसिद्ध थे।

अग्रहार—वह गाँव होता था जो ब्राह्मणों को दान में दिया जाता था। उसकी आय विद्या के प्रसार में लगायी जाती थी। जैसे—कर्नाटक का कदियूरअग्रहार या मैसूर का सर्वज्ञपुर अग्रहार।

इन पद्धतियों द्वारा शिक्षित स्नातकों के बारे में ही मनु ने लिखा है :

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ।।

ਸਤਿਗੁਰ ਸੇਵਹਿ ਸੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਖ ਸੰਸਾਰੇ

ਗੁਰ ਸੇਵਾ ਜੁਗ ਚਾਰੇ ਹੋਈ ।
ਪੂਰਾ ਜਨ ਕਾਰ ਕਮਾਵੇ ਕੋਈ ।
ਅਖੁਟ, ਨਾਮ ਧਨ, ਹਰ ਤੋਟਿ ਨ ਹੋਈ ।
ਅਥ ਸਦਾ ਸੁਖ, ਦਰ ਸ਼ੋਭਾ ਹੋਈ ।
... ...
ਏਹ ਮਨ ਮੇਰੇ ਭਰਮ ਨ ਕੀਜੈ ।
ਗੁਰਮੁਖ ਸੇਵਾ, ਅੰਮ੍ਰਤ ਰਸ ਪੀਜੈ ।
ਸਤਿਗੁਰ ਸੇਵਹਿ ਸੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਖ ਸੰਸਾਰੇ ।
ਆਪ ਉਧਰੇ, ਕੁਲ ਸਗਲ ਨਿਸਤਾਰੇ ।

ਸ਼ਹੀਦਾਂ ਦੇ ਸਿਰਤਾਜ
ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਤੇਗ਼-ਬਹਾਦਰ ਜੀ
ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਇਤਿਹਾਸਕ ਯਾਦਗਾਰਾਂ
ਨੂੰ ਮੁੜ ਸੁਰਜੀਤ ਕਰਨ ਦੀ ਸੇਵਾ ਦਾ
ਅਵਸਰ ਮਹਾਰਾਜ ਨੇ ਆਪਣੇ ਸੇਵਕ
ਡਾਕਟਰ ਅਦਿਤਿਆ ਨਾਥ ਝਾਅ
ਨੂੰ ਬਖ਼ਸ਼ਿਆ

ਦਿਲੀ ਪਰਾਂਤ ਦੇ ਸੁਚੇ ਸੁਹਿਰਦ, ਸਨੇਹੀਆਂ ਤੇ ਸ਼ਹਿਰ-ਨਿਵਾਸੀਆਂ ਵਲੋਂ, ਡਾਕਟਰ ਅਦਿਤਿਆ ਨਾਥ ਝਾਅ, ਲਫਟੀਨੈਂਟ ਗਵਰਨਰ ਦਿਲੀ ਨੂੰ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਸਮਾਜ-ਸੇਵਾ ਤੇ ਗੁਰ-ਸੇਵਾ ਵਜੋਂ, ਸੁਚੀਆਂ ਮਨੋਂ-ਕਾਮਨਾਵਾਂ ਦਾ

ਅਭਿਨੰਦਨ ਪੱਤਰ

ਡਾਕਟਰ ਅਦਿਤਿਆ ਨਾਥ ਝਾਅ

* ਫ਼ਿਲਾਸਫਰ ਰਾਜ-ਅਧਿਕਾਰੀ
* ਸਮਾਜ-ਸੇਵਕ
* ਗੁਰ-ਸੇਵਕ

ਉਚ-ਕੋਟੀ ਦੇ ਸੰਸਾਰ-ਮਾਨੀਯ ਫ਼ਿਲਾਸਫ਼ਰ ਪਲੈਟੋ (Plato) ਨੇ ਆਪਣੀਆਂ ਵਿਚਾਰ-ਭਰਪੂਰ ਲੇਖਣੀਆਂ ਵਿਚ ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਕਿ ਜੇਕਰ ਸਰਕਾਰਾਂ ਦੇ ਪ੍ਰਮੁਖ ਅਧਿਕਾਰੀ ਫ਼ਿਲਾਸਫ਼ਰਾਂ ਨੂੰ ਨੀਯਤ ਕੀਤਾ ਜਾਵੇ, ਤਾਂ ਉਹ ਆਪਣੇ ਆਦਰਸ਼ਵਾਦੀ ਸੁਭਾ ਕਾਰਣ ਜਨਤਾ ਲਈ ਅਧਿਕ ਸੇਵਾ ਦਾ ਸ ਧਨ ਬਣ ਸਕਦੇ ਹਨ।

ਦਿਲੀ ਪਰਾਂਤ ਦੇ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਇਹ ਖੁਸ਼-ਕਿਸਮਤੀ ਹੈ, ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਇਸ ਰਾਜਯ ਦਾ ਪ੍ਰਮੁਖ ਅਧਿਕਾਰੀ ਸਮਾਜ-ਸੇਵਾ ਦੀ ਲੋਚਨਾ ਨਾਲ ਭਰਪੂਰ ਡਾਕਟਰ ਝਾਅ ਵਰਗਾ ਉੱਚੀ ਪੱਧਰ ਦਾ ਵਿਚਾਰਵਾਨ, ਵਧੇਰੇ ਸਮੇਂ, ਰਾਜ-ਸੇਵਾ ਲਈ ਪ੍ਰਾਪਤ ਹੋਇਆ ਹੈ।

ਡਾਕਟਰ ਅਦਿਤਿਆ ਨਾਥ ਝਾਅ ਜਿਥੇ ਉਚ ਵਿਦਿਆ ਤੇ ਰਚਨਾਤਮਿਕ ਮਾਨਸਿਕ ਰੁਚੀਆਂ ਦ ਭਾਗੀ ਹਨ, ਉਥੇ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨੀ ਸੰਸਕਰਿਤੀ, ਆਰਟ ਤੇ ਸਭਿਅ ਚਾਰਿਕ ਇਤਿਹਾਸ ਤੇ ਭਾਵਨਾਵਾਂ ਦੇ ਸੁਘੜ ਤੇ ਸੁਲਝੇ ਹੋਏ ਵਿਦਿਅਵਾਨ ਭੀ ਹਨ।

ਦੇਸ਼ ਦੀ ਪੁਰਾਤਨ ਸਭਯਤਾ ਦੀ ਘੋਖਣਾ ਤੇ ਸੂਝ-ਬੂਝ, ਇਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਇਕ ਖ਼ਾਨਦਾਨੀ ਦਾਤ ਹੈ ਤੇ ਰਾਸ਼ਟਰ ਦੀ ਮਾਂ-ਭਾਸ਼ਾ ਸੰਸਕਰਿਤ ਦੀ ਗੂੜ੍ਹ ਵਿਦਿਆ ਅਪਣੇ ਬਜ਼ੁਰਗਾਂ ਪਾਸੋਂ ਵਿਰਸੇ ਵਿਚ ਪ੍ਰਾਪਤ ਹੋਈ ਹੈ।

ਇਤਨੇ ਉਚੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਵਾਤਾ-ਵਰਨ ਵਿਚ ਵਸੇ-ਰਸੇ ਵਿਚਾਰਵਾਨ ਜਦੋਂ ਰਾਜ-ਸੇਵਾ ਤੇ ਨੀਯਤ ਕੀਤੇ ਜਾਣ ਤਾਂ ਇਹ ਅਵੱਸ਼ ਹੈ, ਕਿ ਜੀਵਨ ਦੇ ਇਸ ਭਾਗ ਵਿਚ

ਭੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੱਮਕ ਦੇ ਲਿਸ਼ਕਾਰੇ ਆਪਣਾ ਸਾਫ ਰੂਪ ਪ੍ਰਗਟਾਂਦੇ ਹਨ ।

... ...

ਦਿਲੀ ਰਾਜਯ ਦੇ ਪ੍ਰਮੁਖ ਅਧਿਕਾਰੀ ਹੋਣ ਨਾਤੇ, ਤੇ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਕਰਕੇ ਉਸ ਸਮੇਂ ਕਿ ਜਦੋਂ ਦਿਲੀ ਰਾਜ ਵਿਚ, ਬਹੁ-ਸੰਮਤੀ ਵਾਲੀ ਰਾਜਨੀਤਕ ਪਾਰਟੀ ਕੇਂਦਰੀ ਰਾਜ ਵਿਚ ਅਸਥਾਪਤ-ਰਾਜ ਪਾਰਟੀ ਤੋਂ ਭਿੰਨ ਹੋਵੇ—ਇਹੋ ਜਿਹੇ ਸਮੇਂ ਰਾਜ ਦੀ ਮਸ਼ੀਨਰੀ ਨੂੰ ਸੰਜਮ ਨਾਲ ਤੁਰਾਈ ਚਲਣਾ, ਬੜੇ ਅਸੂਲੀ ਟਿਕਾਅ ਵਾਲੇ, ਸੁਲਝੇ ਹੋਏ ਅਧਿਕਾਰੀ ਦਾ ਹੀ ਕਰਤੱਵਯ ਹੈ ।

ਸਮਾਜ-ਸੇਵਾ ਦੇ ਪਖ ਵਜੋਂ, ਅਪਣੀਆਂ ਰਚਨਾਤਮਿਕ ਰੁਚੀਆਂ ਕਾਰਣ ਜਿਥੇ ਰਾਜ-ਕਾਰਯਾਲੇ ਦੀ ਹਰ ਪਧਰ ਤੇ, ਕੰਮ ਦੇ ਲੈਵਲ ਨੂੰ ਉਚਿਆਉਣ ਲਈ ਹੰਭਲਾ ਮਾਰਿਆ ਹੈ, ਉਥੇ ਦਿਲੀ ਸ਼ਹਿਰ ਨੂੰ ਇਕ ਸਵੱਛ ਤੇ ਨਵੀਨ ਰੂਪ ਦੇਣ ਵਿਚ ਡਾਕਟਰ ਝਾਅ ਦੇ ਦ੍ਰਿੜ੍ਹਤਾ-ਭਰੇ ਮੰਨ ਦਾ ਇਕ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਹਿਸਾ ਹੈ ।

ਕਚਹਿਰੀਆਂ ਦੀ ਪੱਧਰ ਤੇ ਲੋਕ-ਰਾਜ ਦੇ ਬੁਨਿਆਦੀ ਅਸੂਲ, ਕਿ ਇਨਸਾਫ ਦੇਣ ਵਾਲੀ ਮਸ਼ੀਨਰੀ, ਰਾਜ-ਅਧਿਕਾਰ ਤੋਂ ਨਿਆਰੀ ਤੇ ਸਵਤੰਤਰ ਹੋਵੇ, ਦੀ ਅਸਲੋਂ ਪਾਲਨਾ, ਜਿਥੋਂ ਤਕ ਦਿਲੀ ਪ੍ਰਾਂਤ ਦਾ ਸਬੰਧ ਹੈ, ਡਾਕਟਰ ਝਾਅ ਦੇ ਯੁਗ ਵਿਚ ਹੀ ਆਰੰਭ ਹੋਈ ਹੈ ।

... ...

ਪਰ, ਡਾਕਟਰ ਅਦਿਤਿਆ ਨਾਥ ਝਾਅ ਦੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤਕ ਰੁਚੀਆਂ ਨੂੰ ਉਭਾਰਨ ਦੀ ਪਰਖ, ਇਕ ਹੋਰ ਇਹੋ ਜਿਹੇ ਮਸਲੇ ਤੇ ਹੋਈ ਹੈ, ਕਿ ਜਿਸ ਦੀ ਪੂਰਤੀ ਕਾਰਣ, ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਮੁਢਲੀਆਂ ਕੀਮਤਾਂ ਨੂੰ ਅਪਨਾਣ ਵਾਲੇ, ਸਾਰੇ ਸੁਹਿਰਦ ਇਨਸਾਨਾਂ ਦੇ ਮੰਨਾਂ ਅੰਦਰ ਡਾਕਟਰ ਅਦਿਤਿਆ ਨਾਥ ਝਾਅ ਦਾ ਪਿਆਰ ਤੇ ਸਤਕਾਰ ਇਕ ਸਿਖਰ ਤਕ ਪੁਜ ਗਿਆ ਹੈ ।

ਮੁਗਲ ਰਾਜ ਦੇ ਅੰਤਲੇ ਸਮੇਂ ਅੰਦਰ, ਔਰੰਗਜ਼ੇਬੀ ਰਾਜ ਨੇ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਤੇਗ਼ ਬਹਾਦਰ ਜੀ ਨੂੰ ਚਾਂਦਨੀ-ਚੌਕ ਦੇ ਚੁਰਾਹੇ ਵਿਚ, ਇਸ ਲਈ ਸ਼ਹੀਦ ਕੀਤਾ, ਕਿਉਂ ਜੋ ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਨੇਂ, ਵਿਸ਼ਵਾਸ਼ ਤੇ ਵਿਚਾਰ ਦੀ ਸਵਤੰਤਰਤਾ ਦੇ ਮੁਢਲੇ ਇਨਸਾਨੀ ਅਧਿਕਾਰਾਂ ਲਈ ਹਕ ਦਾ ਨਾਹਰਾ ਲਾਇਆ ।

ਗੁਰੂ ਤੇਗ਼ ਬਹਾਦਰ ਜੀ ਦੇ ਸ਼ਹੀਦੀ ਅਸਥਾਨ ਤੇ ਗੁਰਦਵਾਰਾ ਸੀਸ-ਗੰਜ ਅਸਥਾਪਨ ਹੈ । ਗੁਰਦਵਾਰਾ ਸੀਸ-ਗੰਜ ਦੇ ਨਾਲ ਉਹ ਇਤਿਹਾਸਕ ਕੋਤਵਾਲੀ ਹੈ, ਜਿਥੇ ਸ਼ਹਾਦਤ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਗੁਰੂ ਤੇਗ਼ ਬਹਾਦਰ ਜੀ ਨੂੰ ਕੈਦ ਰਖਿਆ ਗਿਆ ਸੀ । ਇਸ ਹੀ ਕੋਤਵਾਲੀ ਵਿਚ ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਦੇ ਸਿਦਕੀ ਸਿਖ ਭਾਈ ਮਤੀ ਦਾਸ ਤੇ ਭਾਈ ਦਿਆਲਾ ਜੀ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਸੁਚੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ਼ ਤੋਂ ਤਲੰਜਲੀ ਦਿਵਾਣ ਲਈ ਅਕਹਿ ਤੇ ਅਸਹਿ ਤਸੀਹੇ ਦਿਤੇ ਗਏ—ਪਰ ਇਨ੍ਹਾਂ ਸੱਚ ਦੇ ਸੇਵਕਾਂ ਦੀ ਦ੍ਰਿੜ੍ਹਤਾ ਅਖੀਰ ਤਕ ਕਾਇਮ ਰਹੀ ।

ਸਮਾਂ ਪਾ ਕੇ, ਇਸ ਹੀ ਕੋਤਵਾਲੀ ਵਿਚ ਬਾਬਾ ਬੰਦਾ ਸਿੰਘ ਬਹਾਦਰ ਤੇ ਉਸਦੇ ੭੬੦ ਸਾਥੀ ਸਿੰਘਾਂ ਨੂੰ ਸੰਨ ੧੭੧੬ ਵਿਚ ਕੈਦ ਰਖਿਆ ਗਿਆ ਤੇ ਇਥੇ ਹੀ ਇਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਸੁਚੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ਼ ਨੂੰ ਬਹਾਦਰੀ ਨਾਲ ਕਾਇਮ ਰਖਣ ਕਾਰਣ, ਮੌਤ ਦੇ ਫ਼ਤਵੇ ਸੁਣਾਏ ਗਏ।

ਡਾਕਟਰ ਅਦਿਤਿਆ ਨਾਥ ਝਾਅ ਦਾ, ਜਦੋਂ ਇਤਿਹਾਸ ਦੇ ਇਨ੍ਹਾਂ ਇਨਸਾਨੀ ਆਜ਼ਾਦੀ ਦੇ ਜਦੋ-ਜਹਿਦ ਲਈ ਸਿਦਕ-ਭਰਪੂਰ, ਖ਼ੂਨੀ ਪਤਰਿਆਂ ਵਲ ਧਿਆਨ ਦਿਵਾਇਆ ਗਿਆ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਪਾਰਖੂ ਅਖ ਨੇ ਅਵੱਸ਼ ਹੀ ਅਨੁਭਵ ਕੀਤਾ, ਕਿ ਇਨ੍ਹਾਂ ਸੁਚੇ ਜਜ਼ਬਾਤ ਨਾਲ ਸਬੰਧਤ ਇਤਿਹਾਸਕ ਕੋਤਵਾਲੀ ਨੂੰ, ਸ਼ਹੀਦਾਂ ਦੀ ਯਾਦ ਵਿਚ, ਕੋਈ ਅਦੁਤੀ ਯਾਦਗਾਰ ਕਾਇਮ ਕਰਨ ਲਈ, ਸਿਖ ਕੌਮ ਦੇ ਹਵਾਲੇ ਕਰਨਾ, ਸਰਕਾਰ ਦਾ ਇਕ ਇਖ਼ਲਾਕੀ ਫ਼ਰਜ਼ ਹੈ।

ਇਸ ਫ਼ਰਜ਼ ਦੀ ਪੂਰਤੀ ਲਈ, ਡਾਕਟਰ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਕੇਂਦਰੀ ਸਰਕਾਰ ਦੀ ਹਰ ਪੱਧਰ ਤੇ, ਇਕ ਗੁਰ-ਸੇਵਕ ਦੇ ਸੁਚੇ ਜਜ਼ਬਾਤ ਨਾਲ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ ਕਰਕੇ ਸਫ਼ਲਤਾ ਪਰਾਪਤ ਕੀਤੀ ਹੈ।

ਗੁਰੂ ਤੇਗ ਬਹਾਦਰ ਤੇ ਸਿਖ ਸ਼ਹੀਦਾਂ ਦੀ ਇਤਿਹਾਸਕ ਯਾਦ, ਕਿਸੇ ਨਵੀਨ ਯਾਦਗਾਰ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿਚ ਸੁਰਜੀਤ ਕਰਨ ਦੇ ਹਾਲਾਤ ਪੈਦਾ ਕਰਨ ਵਿਚ ਸਹਾਈ ਹੋਣਾ, ਕਿਸੇ ਇਕ ਧਰਮ ਦੀ ਸੇਵਾ ਨਹੀਂ। ਇਹ ਸ਼ਹੀਦੀਆਂ ਤਾਂ ਇਨਸਾਨੀ ਤਾਰੀਖ ਵਿਚ ਸਵਤੰਤਰਤਾ ਦੀ ਉਚੀ-ਸੁਚੀ ਰੂਹ ਨੂੰ ਸੁਰੱਖਸ਼ਤ ਰਖਣ ਲਈ, ਸਿਦਕੀ ਸੂਰਮਿਆਂ ਦੇ ਆਪਾ-ਨਿਵਾਰਨ ਦਾ ਇਕ ਸੁਨਹਿਰੀ ਕਾਂਡ ਹੈ ਤੇ ਇਸ ਯਾਦ ਨੂੰ ਮੁੜ ਕਾਇਮ ਕਰਨਾਂ, ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਦੀ ਆਜ਼ਾਦੀ ਦੇ ਇਤਿਹਾਸ ਦੇ ਇਕ ਹਿਸੇ ਨੂੰ ਮੁੜ ਜੀਵਨ ਦੇਣ ਦੇ ਤੁਲ ਹੈ।

ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਲਗਦਾ ਹੈ, ਕਿ ਜਿਸਤਰਾਂ ਕਿ ਪਟਨਾ ਸਾਹਿਬ ਵਿਚ ਜਨਮ ਲਣ ਵਾਲੇ ਦਸ਼ਮੇਸ਼ ਪਿਤਾ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਦੀ, ਕੁਝ ਕੁ ਸੁਚੀ ਭਾਵਨਾ ਤੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਅਵੱਧ ਦੇ ਇਸ ਗੁਰ-ਸੇਵਕ ਦੇ ਹਿਸੇ ਸੁਤੇ-ਸਿਧ ਹੀ ਆਇਆ ਹੈ, ਕਿਉਂ ਜੋ, ਸਿਖ-ਸਮਾਜ ਦੀ ਸੇਵਾ ਵਿਚ ਤੇ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਕਰਕੇ ਸਿਖ ਇਤਿਹਾਸਕ ਅਸਥਾਨਾਂ ਦੀ ਮੁੜ ਕਾਇਮੀ ਵਿਚ, ਡਾਕਟਰ ਝਾਅ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਇਕ ਖਾਸ ਦਿਲਚਸਪੀ ਲਈ ਹੈ।

ਗੁਰਦਵਾਰਾ ਮੋਤੀ ਬਾਗ਼ ਉਹ ਅਸਥਾਨ ਹੈ, ਕਿ ਜਿਥੇ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਜੀ ੧੭੦੭ ਵਿਚ ਔਰੰਗਜ਼ੇਬ ਦੀ ਮੌਤ ਪਿਛੋਂ ਬਹਾਦਰ ਸ਼ਾਹ, (ਕਿ ਜਿਸਨੇ ਨਾ-ਹਕ ਜ਼ੁਲਮ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਕਾਰਿੰਦਿਆ ਨੂੰ ਸਜ਼ਾ ਦੇਣ ਦਾ ਇਕਰਾਰ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨਾਲ ਕੀਤਾ ਸੀ) ਨੂੰ ਦਿਲੀ ਦੇ ਰਾਜ ਤੇ ਅਸਥਾਪਨ ਕਰਨ ਲਈ, ਸਹਾਇਤਾ ਦੇਣ ਲਈ ਦਿਲੀ ਆਏ, ਤਾਂ ਇਸ ਥਾਂ ਤੇ ਅਪਣਾ ਕੈਂਪ ਕਾਇਮ ਕੀਤਾ।

ਇਸ ਇਤਿਹਾਸਕ ਅਸਥਾਨ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਅਸਲੀ ਰੂਪ ਵਿਚ ਕਾਇਮ ਕਰਨ ਲਈ,

ਇਹ ਡਾਕਟਰ ਝਾਅ ਸਾਹਿਬ ਦੇ ਹੰਭਲਿਆਂ ਦਾ ਸਦਕਾ ਹੈ, ਕਿ ਨਾਲ ਦੀ ਲਗਦੀ ਜ਼ਮੀਨ ਵਿਚੋਂ ਸੰਵਰ ਕੇ ਉਭਰਦਾ ਹੋਇਆ ਇਕ ਉਚਾ-ਸੁਚ' ਮੁਨਾਰਾ ਸ਼ੀਘਰ ਹੀ ਦਿਲੀ ਦੀ ਧਰਤੀ 'ਚੋਂ ਗਗਨਾਂ ਨਾਲ ਗਲਾਂ ਕਰਦਾ ਨਜ਼ਰੀ ਆਵੇਗਾ ।

ਧਾਰਮਿਕ ਅਸਥਾਨਾਂ ਨੂੰ ਸਾਫ ਤੇ ਸਵੱਛ ਵਾਤਾ-ਵਰਨ ਵਿਚ ਵੇਖਣ ਦੀ ਭਾਵਨਾਂ ਡੈਕਟਰ ਝਾਅ ਸਾਹਿਬ ਦੀ ਸੰਸਕਰਿਤਕ ਆਤਮਾ ਦਾ ਇਕ ਸੁਚਾ ਹਿਸਾ ਹੈ । ਜਾਮਾਂ-ਮਸਜਿਦ, ਹਨੂਮਾਨ ਮੰਦਰ, ਤੇ ਬਿਰਲਾ ਮੰਦਰ ਦੇ ਆਸ-ਪਾਸ ਨੂੰ ਆਤਮਿਕ ਪ੍ਰਭਾਵਾਂ ਨਾਲ ਭਰਪੂਰ ਰਖਣ ਵਈ, ਨਾਲ ਲਗਦੇ ਵਾਤਾ-ਵਰਨ ਨੂੰ, ਆਰਟ ਤੇ ਸੁਚੱਜਤਾ ਨਾਲ, ਦਰਿਸ਼ਟੀਮਾਨ ਕਰਨ ਵਿਚ ਭੀ ਝਾਅ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਹੀ ਅਗਵਾਈ ਦਿਤੀ ਹੈ ।

ਖੁਲ੍ਹੀਆਂ ਡੁਲ੍ਹੀਆਂ ਸੜਕਾਂ, ਤੇ ਸੁੰਦਰ ਬਗੀਚੇ ਬਨਵਾਣ ਤੇ ਸ਼ਹਿਰ ਨੂੰ ਮੋਕਲਾ ਕਰਨ ਵਿਚ ਭੀ, ਡਾਕਟਰ ਝਾਅ ਸਾਹਿਬ ਦੀ ਆਪਣੀ ਮਾਨਸਿਕ ਰੁਚੀ ਨਜ਼ਰ ਆਂਵਦੀ ਹੈ ।

ਭਾਵ ਇਹ, ਕਿ ਜੀਵਨ ਦੇ ਹਰ ਕੇਂਦਰ ਵਿਚ ਇਸ ਸੁਲਝੇ ਹੋਏ, ਸੁਚੱਜੇ, ਵਿਚਾਰਵਾਨ-ਰਾਜ-ਅਧਿਕਾਰੀ ਨੇ ਆਪਣੀ ਵਿਦਿਆ, ਸਮਾਜ-ਸੇਵਾ ਦੀ ਭਾਵਨਾ ਤੇ ਸੰਜਮੀ ਟਿਕਾਅ ਵਾਲੇ ਸੁੱਭਾ ਨਾਲ, ਇਨ੍ਹਾਂ ਥੋੜੇ ਹੀ ਸਾਲਾਂ ਅੰਦਰ, ਸੁਚਾ ਪਭਾਵ ਕਾਇਮ ਕੀਤਾ ਹੈ।

ਇਸ ਫ਼ਿਲਾਸਫ਼ਰ ਰਾਜ-ਅਧਿਕਾਰੀ, ਸਮਾਜ-ਸੇਵਕ ਤੇ ਗੁਰੂ-ਸੇਵਕ, ਸੁਚੇ ਇਨਸਾਨ ਦੀ ਸੁਚੀ ਯਾਦ ਉਸਦੇ ਸੇਵਾ-ਭਰਪੂਰ ਆਚਾਰ ਕਾਰਣ, ਆਂਵਦੇ ਵਧੇਰੇ ਸਮੇਂ ਤਕ, ਦਿਲੀ ਪ੍ਰਾਂਤ ਦੇ ਨਿਵਾਸੀਆਂ ਦੇ ਮਨਾਂ ਅੰਦਰ ਇਕ ਮਿਠੀ ਸੁਗੰਧ ਵਾਂਗੂੰ ਕਾਇਮ ਰਹੇਗੀ ।

ਏਹ ਹਨ ਸ਼ਰਧਾ ਦੇ ਫੁੱਲ......

......ਵਲੋਂ :

ਗਿਆਨੀ ਗੁਰਮੁਖ ਸਿੰਘ ਮੁਸ਼ਾਫਰ ਮੈਂਬਰ ਰਾਜ ਸਭਾ ।
ਭਾਈ ਮੋਹਨ ਸਿੰਘ, ਉਪ-ਪਰਧਾਨ ਨਵੀਂ ਦਿਲੀ ਮਿਊਂਸਪਲ ਕਮੇਟੀ ।
ਮੇਹਰਬਾਨ ਸਿੰਘ ਧੂਪੀਆ ਜਨਰਲ ਸਕੱਤ੍ਰ ਯੰਗਮੈਨਜ਼ ਸਿਖ ਐਸੋਸੀਏਸ਼ਨ ਨਵੀਂ ਦਿਲੀ
ਗਿਆਨੀ ਦਲੀਪ ਸਿੰਘ ਜਰਨਲਿਸਟ ਨਵੀਂ ਦਿਲੀ (ਮੁਖ ਸੰਪਾਦਕ)

ਸੀਸ-ਗੰਜ ਦੀ ਅੰਤਰ-ਆਤਮਾ

......ਗਿਆਨੀ ਦਲੀਪ ਸਿੰਘ ਜਰਨਲਿਸਟ ਨਵੀਂ ਦਿਲੀ

ਇਤਿਹਾਸਿਕ ਯਾਦਗਾਰਾਂ, ਰੂਹਾਨੀ ਗਗਨਾਂ ਅੰਦਰ ਝਰੋਖੇ ਦਾ ਕੰਮ ਦੇਂਦੀਆਂ ਹਨ। ਸਦੀਆਂ ਦਾ ਇਤਿਹਾਸ ਅੰਤਰ-ਦਿਰਸ਼ਟੀ ਰਾਹੀਂ ਮੁੜ ਸੁਤੇ-ਸਿਧ ਅਖਾਂ ਸਾਂਹਵੇਂ ਆ ਪ੍ਰਗਟ ਹੋਂਦਾ ਏ। ਸ਼ਹੀਦ ਦਾ ਸੁਚਾ ਚਿਤ੍ਰ, ਧਰਤੀ ਤੋਂ ਅਕਾਸ਼ ਤਕ, ਸਾਹਮਣੇ ਦਰਿਸ਼ਟਮਾਨ ਹੁੰਦਾ ਤੇ ਦਿਲਾਂ ਅੰਦਰ ਸਦੀਵ-ਕਾਲ ਸੁਰਜੀਤ ਰਹਿਣ ਵਾਲੀਆਂ ਸਚਾਈਆਂ ਦੀ ਅਨੁਭਵਤਾ ਮੁੜ ਉਜਾਗਰ ਕਰਦਾ ਹੈ।

ਸੀਸ-ਗੰਜ ਦੀ ਸਾਖੀ ਦਾ ਆਤਮਕ ਸਾਰ, ਕਿਸੇ ਇਕ ਵਿਅਕਤੀ ਅਥਵਾ ਕੌਮ ਨਾਲ ਨਹੀਂ। ਸੀਸ-ਗੰਜ, ਚਾਰੇ ਯੁਗਾਂ ਅੰਦਰ, ਸਵਤੰਤਰਤਾ ਤੇ ਗ਼ੁਲਾਮੀਂ ਦੇ ਅਮੁਕਵੇਂ ਘੋਲ ਦਾ ਸਦੀਵ-ਕਾਇਮ ਸੁਚਾ ਚਿੱਤਰ ਹੈ।

ਇਸ ਆਤਮਿਕ ਵਾਤਾਵਰਨ ਵਿਚ, ਮਨੋ-ਬਿਰਤੀ ਦੀ ਇਕਾਗਰਤਾ ਸੁਭਾਵਕ ਹੀ ਮਹਿਸੂਸ ਕਰਦੀ ਹੈ—ਇਕ ਜੋਸ਼-ਭਰੀ ਆਵਾਜ਼—ਭੈ ਕਾਹੂ ਕੋ ਦੇਤ ਨਹਿ, ਨਹਿ ਭੈ ਮਾਨਤ ਆਨ।" "ਜੀਣ ਦਿਉ, ਅਪਣੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ਼ ਦੇ ਅਧਾਰ ਤੇ—ਵਧਣ-ਫੁਲਣ ਦਿਉ ਹਰੇਕ ਨੂੰ ਅਪਣੀ ਸਵਤੰਤਰਤਾ ਦੀ ਸਤਿਆ ਤੇ—ਵਿਚਾਰ ਤੇ ਪਰਚਾਰ ਦਾ ਪ੍ਰਭਾਵ ਬੜੀ ਖੁਸ਼ੀ ਨਾਲ ਪਾਉ—ਪਰ ਜੇ ਵਿਚਾਰ ਨੂੰ, ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਨੂੰ, ਰਾਜ-ਸਤੱਯ ਅਥਵਾ ਜ਼ੋਰ-ਜਬਰ, ਹਿਲਾਣਾ ਚਾਹੇ, ਤਾਂ ਜਾਗਰਿਤ ਆਤਮਾਵਾਂ, ਅਪਣਾ ਸ਼ਰੀਰ ਹਾਜ਼ਰ ਕਰ ਦੇਣਗੀਆਂ, ਪਰ ਕਿਸੇ ਨਿਆਸਰੇ ਦੀ ਅਜ਼ਾਦ ਹਸਤੀ ਨੂੰ ਸੇਕ ਲਗਣਾ ਸਵੀਕਾਰ ਨਹੀਂ ਕਰਨਗੀਆਂ।"

ਮੁਗ਼ਲ-ਰਾਜ ਸੀ, ਕਿ ਕੋਈ ਹੋਰ ਰਾਜ—ਕਸ਼ਮੀਰ ਦੇ ਪੰਡਤ ਅਰਜ਼ੋਈ ਸਨ ਕਿ ਦੇਸ਼ ਦਾ ਕੋਈ ਹੋਰ ਅਨਸਰ, ਜਾਂ ਜਨਤਾ ਦਾ ਕੋਈ ਹੋਰ ਹਿਸਾ। ਇਹ ਆਤਮਕ ਜਦੋ-ਜਹਿਦ ਸੀ, ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਮੁਢਲੀਆਂ ਕੀਮਤਾਂ ਦੀ—ਸਵਤੰਤਰਤਾ ਦੀਆਂ ਅਹਿਲ ਸਚਾਈਆਂ ਲਈ।

ਗੁਰੂ ਤੇਗ਼ ਬਹਾਦਰ ਦੇ ਦਰਬਾਰ, ਅਨੰਦਪੁਰ ਸਾਹਿਬ ਵਿਚ ਹਾਜ਼ਰ ਹੋਏ, ਹਿੰਦੂ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੇ ਪ੍ਰਮੁਖ ਵਿਚਾਰਵਾਨ—ਕਸ਼ਮੀਰ ਦੇ ਪੰਡਤ। "ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ! ਅਸਾਨੂੰ ਅਪਣੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ, ਅਪਣੇ ਵਿਚਾਰ, ਅਪਣੇ ਸਭਿਆਚਾਰ ਤੋਂ ਨਿਖੇੜਿਆ ਜਾ ਰਿਹਾ ਹੈ—ਮੁਗ਼ਲ-ਰਾਜ ਦੇ ਵਰਤਮਾਨ ਅਧਿਕਾਰੀ, ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਔਰੰਗਜ਼ੇਬ ਦੇ ਹੁਕਮਾਂ ਅਨੁਸਾਰ,

ਕਾਫ਼ਿਰ ਦੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ, ਕੇਵਲ ਮੋਮਨ ਬਣਾਕੇ ਹੀ ਕਾਇਮ ਰਹਿਣ ਦੀ ਆਗਿਆ ਦੇਂਦੇ ਹਨ—ਅਸਾਡੀ ਆਤਮਿਕ ਤੇ ਸਰੀਰਕ ਸਵਤੰਤਰਤਾ ਦਾ ਮੂਲੋਂ ਹੀ ਨਾਸ਼ ਕੀਤਾ ਜਾ ਰਿਹਾ ਹੈ।"

ਗੁਰੂ ਤੇਗ-ਬਹਾਦਰ ਜੀ ਨੇ ਗੰਭੀਰਤਾ ਨਾਲ ਵਿਚਾਰਿਆ—ਸਵਾਲ ਇਹ ਨਹੀਂ, ਕਿ ਏਹ ਧਰਮ ਚੰਗਾ, ਕਿ ਉਹ ਧਰਮ ਚੰਗਾ। ਸਵਾਲ ਹੈ, ਵਿਚਾਰ ਤੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ਼ ਦੀ ਆਜ਼ਾਦੀ ਦਾ—ਕਿਸੇ ਦੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ਼ ਅਥਵਾ ਵਿਚਾਰ ਨੂੰ, ਜ਼ੁਲਮ ਜ਼ਬਰ, ਧਕੇ ਨਾਲ ਨਾਸ ਕਰਨਾ, ਸ਼ੈਤਾਨੀ ਔਗੁਣ ਹੈ,—ਇਹ ਧਰਮ ਨਹੀਂ, ਕੁਧੱਰਮ ਹੈ, ਇਸਦਾ ਕਾਰਯਾ-ਕਰਮੀਂ ਸਵਾਬ ਦਾ ਨਹੀਂ ਸੱਜ਼ਾ ਦਾ ਭਾਗੀ ਹੈ। ਇਹ ਮਸਲਾ ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਮੁਢਲੀਆਂ ਕੀਮਤਾਂ ਦਾ ਉਲੰਘਣ ਹੈ—ਸਚਾਈ ਦਾ ਨਾਸ਼ ਹੈ। ਇਸਨੂੰ ਸਹਾਰਨਾਂ ਆਤਮਿਕ ਜੀਵਨ ਤੋਂ ਮੁਕਰਨ ਦੇ ਬਰਾਬਰ ਹੈ।

ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨੂੰ ਗੰਭੀਰਤਾ ਵਿਚ ਵੇਖ ਕੇ, ਮੇਰੇ ਬਾਲਾ ਪ੍ਰੀਤਮ, ਸਾਹਿਬ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਜੀ ਆ ਕੋਲ ਬਿਰਾਜੇ।

"ਕੀ ਸੋਚਣੀ ਹੈ, ਮੇਰੇ ਸੁਹਿਰਦ ਪਿਤਾ ਨੂੰ, ਕੀ ਅਤਿਆਚਾਰ ਹੋਇਆ ਹੈ, ਇਨ੍ਹਾਂ ਬਜ਼ੁਰਗ ਇਨਸਾਨਾਂ ਨਾਲ।"

"ਵਿਚਾਰ ਤੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ਼ ਦੀ ਆਜ਼ਾਦੀ ਦੀ ਖ਼ੁਦਾਈ ਭਾਵਨਾ ਨੂੰ, ਵਕਤ ਦੇ ਭੁਲੜ ਪਾਦਸ਼ਾਹ, ਅਪਣੇ ਜਬਰ ਨਾਲ, ਇਕ-ਸਾਰ ਕਰਨ ਲਈ ਅਨਿਆਏ ਦਾ ਤੂਫ਼ਾਨ ਲਿਆ ਰਹੇ ਹਨ—ਦਬੇ ਹੋਏ ਇਨਸਾਨਾਂ ਦੀਆਂ ਰੂਹਾਂ ਨੂੰ ਉਜਾਗਰ ਕਰਨ ਲਈ ਕਿਸੇ ਮਹਾਨ—ਆਤਮਾਂ ਦੀ ਕੁਰਬਾਨੀ ਦੀ ਮੰਗ, ਸਮੇਂ ਦੀ ਲੋੜ ਹੈ।"

"ਸਚੇ-ਪਿਤਾ, ਫਿਰ ਢਿਲ ਕਾਹਦੀ ਹੈ—ਇਸ ਕਾਲ ਵਿਚ ਸੁਚੀ-ਅਨੁਭਵੀ ਮਹਾਨ-ਆਤਮਾਂ, ਤੁਹਾਥੋਂ ਹੋਰ ਉਚੇਰੀ ਕੇਹੜੀ ਹੈ" ਦਿਰੱੜਤਾ ਨਾਲ, ਗੁਰੂ ਤੇਗ਼ ਬਹਾਦਰ ਜੀ ਨੇ ਕਿਹਾ, "ਜਾਉ, ਤੇ ਔਰੰਗਜ਼ੇਬ ਨੂੰ ਕਹਿ ਦਿਉ ਕਿ ਜੇ ਤੂੰ ਤੇਗ਼ ਬਹਾਦਰ ਨੂੰ ਅਪਣੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਤੋਂ ਬਦਲਵਾ ਲਵੇਂ, ਤਾਂ ਹਿੰਦ ਦੀ ਸਾਰੀ ਹਿੰਦੀ ਜਨਤਾ, ਤੇਰੇ ਦੀਨ ਨੂੰ ਕਬੂਲ ਲਵੇਗੀ।"

... ...

ਤੇ ਦਿਲੀ ਆ ਕੇ, ਗੁਰੂ ਤੇਗ਼ ਬਹਾਦਰ ਨੇ "ਸੀਸ ਦੀਆਂ ਪਰ ਸ੍ਰਿੜ ਨ ਦੀਆ।" ਨਾਸ਼ਵੰਤ ਸਰੀਰ, ਨੂੰ ਜਬਰ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਹਾਜ਼ਰ ਕੀਤਾ। ਪਰ, ਇਸ ਸੁਚੀ ਜਾਗਰਿਤ ਅੰਤਰ-ਆਤਮਾਂ ਨੇ, ਦਬੇ ਹੋਏ ਇਨਸਾਨਾਂ ਨੂੰ ਅਪਣੇ ਵਿਸ਼ਵਾਸ਼ ਤੇ ਵਿਚਾਰ ਤੇ ਕਾਇਮ ਰਹਿਣ ਦੀ ਜਦੋ-ਜਹਿਦ ਦਾ ਸੁਭਾਂ, ਮੁੜ ਸੁਰਜੀਤ ਕੀਤਾ।

... ...

ਸੀਸ-ਗੰਜ ਦੀ ਅੰਤਰ—ਆਤਮਾ ਸਦੀਵ-ਕਾਲ ਲਈ ਸਵਤੰਤਰਤਾ ਦੀ ਰੂਹ ਦਾ ਧਰਤੀ ਤੋਂ ਆਕਾਸ਼ ਤੁਕ ਉਭਰਦਾ ਹੋਇਆ ਇਕ ਸੁਚੇ ਚਾਨਣ-ਮੁਨਾਰੇ ਦਾ ਦਿਰਿਸ਼ਟਮਾਨ ਸਰੂਪ ਹੈ—ਇਕ ਸਦੀਵ ਕਾਇਮ ਰਹਿਣ ਵਾਲੀ ਮੁਢਲੀ ਸਚਾਈ ਦਾ ਜੀਂਵਦਾ-ਜਾਗਦਾ ਚਿਤਰ ਹੈ।

ਸਿਖ-ਸੰਸਕਰਿਤੀ ਤੇ ਜੀਵਨ-ਜਾਚ

ਸਿਦਕੀ ਅਲਬੇਲਿਆਂ ਦਾ ਇਹ ਪੰਥ, ਊਚ-ਨੀਚ ਤੋਂ ਉਚਾ ਤੇ ਛੂਤ-ਛਾਤ ਦੀ ਛੋਹ ਤੋਂ ਸਵੱਛ । "ਮਾਨੁਸ਼ ਕੀ ਜਾਤ ਸਭੇ ਏਕ ਪਹਿਚਾਨਬੋ" ਦੇ ਇਲਾਹੀ ਅਸੂਲ ਦੇ ਪੈਰੋਕਾਰ । "ਖਾਲਿਕ" ਨੂੰ "ਖ਼ਲਿਕ" ਅੰਦਰ, ਸਰਬ ਥਾਈ, ਪੂਰ ਰਿਹਾ, ਅਨੁਭਵ ਕਰਨ ਵਾਲੇ, ਸੂਚੀ ਦਿਰਿਸ਼ਟੀ ਵਾਲੇ ਇਨਸਾਨ, ਕਾਗਜ਼ੀ ਫਿਲਾਸਫ਼ੀ ਤੋਂ ਪਾਕ, ਇਹ ਕਰਮ-ਯੋਗੀਆਂ ਦਾ ਇਕ ਟੋਲਾ ਹੈ :

"ਰਹਿਣੀ ਰਹੇ, ਸੋਈ ਸਿਖ ਮੇਰਾ"— ਗੁਰੂ ਨੂੰ ਦੁਧ-ਪੀਣੇ ਮਜਨੂੰ ਨਹੀਂ ਚਾਹੀਦੇ । ਕਰਣੀ ਵਾਲੇ ਸੰਤ-ਸਿਪਾਹੀਆਂ ਦੀ ਲੋੜ ਹੈ । ਰਸਮਾਂ ਤੇ ਰਵਾਜ ਕੇਵਲ ਸਚਾਈ ਨੂੰ ਗਲੇਫ਼ਕੇ ਉਸਦਾ ਸਾਹ ਘੁਟਣ ਦਾ ਸਾਧਨ ਹਨ, ਸੱਚ ਨਿਰੰਤਰ ਹੈ, ਪਰ ਸਚਾ ਜੀਵਨ, ਸਚ ਦੀ ਪਰਖ ਤੋਂ ਭੀ ਉਚਾ ਹੈ, "ਸਚੋਂ ਔਰੇ, ਸਭਕੋ, ਊਪਰ ਸਚ ਆਚਾਰ"

ਪ੍ਰਿੰਟਰ : ਨੈਸ਼ਨਲ ਪ੍ਰੈਸ ਆਫ ਇੰਡੀਆ
ਚਾਂਦਨੀ ਚੌਕ ਦਿਲੀ
ਮੁਖ-ਸੰਪਾਦਕ
ਗਿਆਨੀ ਦਲੀਪ ਸਿੰਘ ਜਰਨਲਿਸਟ